श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला
(१२)

स्याद्वादमंजरी

परमश्रुत प्रभावक मण्डल
श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम
अगास

ॐ

नमः सर्वज्ञाय

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिताअन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकास्तवनटीका

श्रीमल्लिषेणसूरिप्रणीता

स्याद्वादमञ्जरी

•

'एम्. ए., पी-एच. डी' इत्युपपदधारिणा शास्त्रिणा

डॉ० जगदीशचन्द्र जैनेन

हिन्दीभाषायां अनुवादिता

उपोद्‌घात-परिशिष्टानुक्रमणादिभिः संयोज्य च

सम्पादिता

सा च

अगासस्थ-श्रीपरमश्रुतप्रभावकमण्डल-श्रीमद्राजचन्द्रजैनशास्त्रमाला

श्रीमद्राजचन्द्राश्रम-अगास-स्वत्वाधिकारिभिः

श्रीरावजीभाई देसाई इत्येतैः

प्रकाशिता

श्रीवीरनिर्वाण सं० २४९६ विक्रम सं० २०२६ ईस्वी सन् १९७०

मूल्य १०·००

प्रकाशक
रावजीभाई छगनभाई देसाई, ऑनरेरी व्यवस्थापक
परमश्रुतप्रभावकमण्डल (श्रीमद् राजचन्द्र जैनशास्त्रमाला)
श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम
स्टेशन–आगास, पोस्ट-बोरिया
वाया : आणंद (गुजरात)

प्रथमावृत्ति १०००
वीरनिर्वाण सं. २४३६–विक्रम सं. १९६६–ई० सन् १९१०
द्वितीयावृत्ति १०००
वीरनिर्वाण सं. २४६०–विक्रम सं. १९९१–ई० सन् १९३५

तृतीयावृत्ति
नवीन संशोधित-संस्करण
प्रतियाँ १०००

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी–१

प्रकाशकीय

आचार्य श्रीहेमचन्द्रने वर्द्धमान महावीरकी स्तुतिरूप बत्तीस-बत्तीस श्लोकप्रमाण दो स्तवनोंकी भावपूर्ण विशिष्ट रचना की—प्रथम 'अयोगव्यवच्छेदस्तवन' और द्वितीय 'अन्ययोगव्यवच्छेदस्तवन'। स्याद्वादकी उपयोगिता सिद्ध करनेका अभीष्ट-साधन दूसरे स्तवनको जानकर श्रीमल्लिषेणसूरिने उसपर महत्त्वपूर्ण विस्तृत टीका 'स्याद्वादमंजरी' लिखी है। श्रीहेमचन्द्राचार्यकी 'अयोगव्यवच्छेदिकास्तुति' नामक रचना भी इस ग्रन्थके साथ जोड़ दी गई है। ग्रन्थकी उपयोगिताका विशेष अनुभव तो विद्वज्जन स्वयं ही करेंगे।

परमश्रुतप्रभावकमण्डल (श्रीमद् राजचन्द्र जैनशास्त्रमाला) की ओरसे अनेक सत्श्रुतरूप ग्रन्थोंका प्रकाशन समय-समयपर होता रहा है, जिनमें 'स्याद्वादमंजरी' का प्रथम प्रकाशन इस संस्था द्वारा वीरनिर्वाण सं० २४३६ (ई० सन् १९१०) में श्री पं० जवाहिरलालजी शास्त्री तथा पं० वंशीधरजी शास्त्रीके सम्पादकत्वमें हुआ था। उसके बाद वीर सं० २४६० (ई० सन् १९३५) में श्री जगदीशचन्द्र जैनने बहुत सुन्दर ढंगसे नवीन सम्पादन प्रस्तुत किया। अब पुनः दूसरे संस्करणका यह नवीन संशोधित-संस्करण तीसरी आवृत्तिके रूपमें इस संस्थाको ओरसे प्रकाशित करते हुए हमें प्रसन्नता होती है। अबकी बार डॉ० जगदीशचन्द्र जैन एम्० ए०, पी-एच० डी० ने और भी अधिक परिश्रमपूर्वक इस ग्रन्थको सर्वाङ्गसुन्दर बनानेका प्रयास किया है। अतः हम उनका हृदयसे आभार मानते हैं।

इस ग्रन्थका मुद्रणकार्य प्रथम सन्मति मुद्रणालय, वाराणसीमें आरम्भ हुआ था, परन्तु कुछ पृष्ठ छपते ही कार्याधिक्यके कारण काम मंद हो गया; अतः इसका मुद्रणकार्य श्री बाबूलाल जैन फागुल्ल, महावीर प्रेस, वाराणसीको सौंपना पड़ा। हमें हर्ष है कि उन्होंने रुचिपूर्वक इस कार्यको यथासम्भव शीघ्र पूर्ण कर दिया है। संस्थाके प्रति उनका यह प्रेम हमें कृतज्ञता-ज्ञापन करनेको बाध्य करता है।

परमश्रुतप्रभावकमण्डलद्वारा जिन ग्रन्थोंका आजतक प्रकाशन हुआ है उनकी सूची इस ग्रन्थके साथ अन्यत्र संलग्न है। ग्रन्थोंका पुनर्मुद्रण व अन्य नवीन ग्रन्थोंका सम्पादन-प्रकाशन भी यथासमय होता रहेगा। विद्वान पाठकों और विद्यार्थियोंको अधिकाधिक लाभ मिले इसीमें हमारे प्रकाशनका श्रम सफल है।

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम,
स्टेशन; अगास, पोस्ट-बोरिया
वाया: आणंद (गुजरात)
ता० १-६-१९७०

निवेदक
रावजीभाई देसाई

विषयानुक्रमणिका

प्राक्कथन

•

आज मेरे लिए बड़े हर्ष और सौभाग्यका अवसर है कि मैं अपने सुयोग्य शिष्य तथा प्रिय मित्र जगदीशचन्द्र जैन एम. ए. द्वारा अनुवादित तथा संपादित स्याद्वादमञ्जरीके आदिमें कतिपय शब्द लिख रहा हूँ। ग्रन्थ, ग्रन्थकार, ग्रन्थके सिद्धान्तों और उनसे सम्बद्ध अनेक विषयोंका परिचय तो जगदीशचन्द्रजीने पाठकोंको सरल और निर्दोष राष्ट्रीय भाषामें भली भाँति दे ही दिया है। मुझे इस विषयमें यहाँपर अधिक कुछ नहीं कहना है। मेरे लिये तो एक ही विषय रह गया है। वह है पाठकोंको सम्पादक महोदयका परिचय देना।

जगदीशचन्द्र जैन सुप्रसिद्ध काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके अग्रगण्य स्नातकोंमेंसे हैं। उन्होंने वहाँसे सन् १९३२ में दर्शन (Philosophy) में एम. ए. की उपाधि प्राप्त की थी। विश्वविद्यालयके गर्भमें भारतीयदर्शन—विशेषतः जैन और बौद्ध—के साथ साथ उन्होंने पाश्चात्य दर्शनका गहरा और विस्तृत अध्ययन किया, और दार्शनिक समस्याओंपर निष्पक्ष भावसे स्वतंत्र विचार किया। मुझे उनके आचार-विचार और आदर्शोंसे खूब परिचिति है, क्योंकि वे कई वर्ष तक मेरी निरीक्षकता (Wardenship) में छात्रावासमें रहे हैं, और उन्होंने मेरे साथ मनोविज्ञान (Psychology) और भारतीयदर्शनका अध्ययन किया है। सायंकालके भ्रमणमें अवसर उनके साथ दार्शनिक विषयोंपर बातचीत हुआ करती थी। अपनी इस परिचितिके आधारपर मैं निःसंकोच यह कह सकता हूँ कि जगदीशचन्द्रजी एक बहुत होनहार दार्शनिक विद्वान् और लेखक हैं। दार्शनिकोंके दो सबसे बड़े गुण—निष्पक्ष और न्यायपूर्वक विचार और समन्वय बुद्धि—उनमें कूट कूट कर भरे हैं। वे केवल दार्शनिक ही नहीं हैं, सहृदय भी हैं। यही कारण है कि अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और अहिंसावादमें उनकी श्रद्धा है। स्याद्वादमञ्जरीमें इन सिद्धान्तोंका प्रतिपादन है, इसीलिये उन्होंने इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थका राष्ट्रभाषामें अनुवाद तथा सम्पादन किया है। अनुवाद और सम्पादन बहुत ही उत्तम रीतिसे हुए हैं। प्रत्येक श्लोक और उसकी टीकाके अनुवादके अन्तमें जो भावार्थ दिया गया है, उसमें विषयका बहुत सरलतासे प्रतिपादन हुआ है। कहीं कहीं जो टिप्पणियाँ दी गई हैं, वे भी बहुत उपयोगी हैं। अन्तमें सब दर्शनों सम्बन्धी—विशेषतः बौद्धदर्शन सम्बन्धी—परिशिष्टों और कई प्रकारकी अनुक्रमणिकाओंने पुस्तकको बहुमूल्य बना दिया है। गुणज्ञ पाठक स्वयं ही समझ जायँगे कि सम्पादक महोदयने कितना परिश्रम किया है।

मेरी यह हार्दिक इच्छा है कि इस पुस्तकका प्रचार खूब हो, और विशेषतः उन लोगोंमें हो जो जैनधर्मावलम्बी नहीं हैं। सत्य और उच्च भाव और विचार किसी एक जाति या मज़हबवालोंकी वस्तु नहीं हैं। इनपर मनुष्यमात्रका अधिकार है। मनुष्यमात्रको अनेकान्तवादी, स्याद्वादी और अहिंसावादी होनेकी आवश्यकता है। केवल दार्शनिक क्षेत्रमें ही नहीं, धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रमें, विशेषतः इस समय—जब कि समस्त भूमण्डलकी सभ्यताका एकीकरण हो रहा है और सब देशों, जातियों और मतोंके लोगोंका संपर्क दिन पर दिन अधिक होता जा रहा है—इन ही सिद्धान्तोंपर आरूढ़ होनेसे संसारका कल्याण हो सकता है। मनुष्यजीवनमें कितना ही वाञ्छनीय परिवर्तन हो जाय, यदि सभी मनुष्योंको प्रारम्भसे शिक्षा मिले कि सब ही मत सापेक्षक हैं; कोई भी मत सर्वथा सत्य अथवा असत्य नहीं है; पूर्ण सत्यमें सब मतोंका समन्वय होना चाहिये; और सबको दूसरोंके साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिये जैसा कि वे दूसरोंसे अपने प्रति चाहते हैं। मैं तो इस दृष्टिके प्राप्त कर लेनेको ही मनुष्यका सभ्य होना समझता हूँ। मैं आशा करता हूँ कि यह पुस्तक पाठकोंको इस प्रकारकी दृष्टि प्राप्त करनेमें सहायक होगी।

भिक्खनलाल आत्रेय एम. ए., डी. लिट्.,
दर्शनाध्यापक,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

आषाढ़ पूर्णिमा १९९२

•

प्रथम आवृत्तिकी भूमिका

स्याद्वादमंजरीके निम्नलिखित संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं—

१ संपादित, दामोदरलाल गोस्वामी, चौखंबा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९००

२ हीरालाल वी० हंसराज, मूल सहित गुजराती अनुवाद, जामनगर, १९०३

३ पंडित जवाहिरलाल शास्त्री व पंडित वंशीधर शास्त्री, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, वंबई, वि०सं० १९६६

४ संपादित, पंडित बेचरदास व पंडित हरगोविन्ददास, काशी, वीर संवत् २४३८

५ संपादित, मोतीलाल लाधाजी, पूना, वी. सं. २४५२

६ अगरचन्द्रजी भैंरोदानजी सेठिया, सेठिया जैन ग्रंथ माला, बीकानेर, १९२७

७ आनन्दशंकर बापूजी ध्रुव, मूल सहित अंग्रेजी अनुवाद, वम्बई संस्कृत एण्ड प्राकृत सीरीज, बंबई, १९३३

८ जगदीशचन्द्र जैन, मूल सहित हिन्दी अनुवाद, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बंबई, १९३५

९ एफ़ डबल्यू. थॉमस, अंग्रेजी अनुवाद, बर्लिन अकादमी बर्लिन, १९६०

१० उपर्युक्त पुनर्मुद्रण, मोतीलाल, बनारसीदास, १९६८

११ साध्वी सुलोचनाश्री, मूलसहित गुजराती अनुवाद, आत्मानन्द जैन गुजराती ग्रन्थमाला, ९८, भावनगर वि. सं. २०२४

प्रस्तुत संस्करणको अनेक दृष्टियोंसे परिपूर्ण बनानेका प्रयत्न किया गया है ।

प्रस्तुत संस्करणका संक्षिप्त परिचय

१ संशोधन—इस ग्रंथका संशोधन रायचन्द्रमालाकी एक प्राचीन और शुद्ध हस्तलिखित प्रतिके आधारसे किया गया है । इस प्रतिके आदि अथवा अन्तमें किसी संवत् आदिका निर्देश न होनेसे इस प्रतिका ठीक ठीक समय मालूम नहीं हो सका, परन्तु प्रति प्राचीन मालूम होती है ।

२ संस्कृतटिप्पणी—संस्कृतके अभ्यासियोंके लिये मूल पाठके कठिन स्थलोंको स्पष्ट करनेके लिये इस ग्रंथमें संस्कृतकी टिप्पणियां लगाई गई हैं। इन टिप्पणियोंमें सेठ मोतीलाल लाधाजीद्वारा संपादित स्याद्वादमंजरीकी संस्कृत टिप्पणियोंका भी उपयोग किया गया है । एतदर्थ हम सम्पादक महोदयके आभारी हैं ।

३ अनुवाद—अनुवादको यथाशक्य सरल और सुबोध बनानेका प्रयत्न किया गया है । इसके लिये अनुवाद करते समय बहुतसे शब्दोंको छूट भी लेनी पड़ी है । विषयका वर्गीकरण करनेके साथ विषयको सरल और स्पष्ट बनानेके लिये न्यायके कठिन विषयोंको 'शंका-समाधान,' 'वादी-प्रतिवादी,' 'स्पष्टार्थ' रूपमें उपस्थित किया गया है । प्रत्येक श्लोकके अंतमें श्लोकका संक्षिप्त भावार्थ दिया गया है । अनेक स्थलोंपर भावार्थ लिखते समय ग्रंथके मूल विषयके बाह्य विषयोंकी भी विस्तृत चर्चा की गई है । कहीं-कहीं हिन्दी अनुवाद करते समय और भावार्थ लिखते समय हिन्दीकी टिप्पणियां भी जोड़ी गई हैं ।

४ अयोगव्यवच्छेदिका—इस संस्करणमें हेमचन्द्रकी दूसरी कृति अयोगव्यवच्छेदिकाका अनुवाद भी दे दिया गया है । इसके साथ तुलनाके लिये सिद्धसेन और समंतभद्रकी कृतियोंमेंसे टिप्पणीमें अनेक श्लोक उद्धृत किये गये हैं ।

५ परिशिष्ट—इस संस्करणका महत्त्वपूर्ण भाग है । इसमें जैन, बौद्ध, न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, पूर्वमीमांसा, वेदान्त, चार्वाक और विविध नामके आठ परिशिष्ट हैं । जैन परिशिष्टमें तुलनात्मक दृष्टिसे जैन पारिभाषिक शब्दों और विचारोंका स्पष्टीकरण है । बौद्ध परिशिष्टमें बौद्धोंके विज्ञानवाद, शून्यवाद, अनात्मवाद आदि दार्शनिक सिद्धांतोंका पालि, संस्कृत और अंग्रेजी भाषाके ग्रंथोंके आधारसे प्रामाणिक विवेचन किया गया है । आशा है इसके पढ़नेसे पाठकोंकी बौद्धदर्शन संबंधी बहुतसी भ्रांतिपूर्ण धारणायें दूर होंगी ।

तीसरे न्याय-वैशेषिक परिशिष्टमें ईश्वर संबंधी चर्चा विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। चौथे सांख्य-योग परिशिष्टमें सांख्य, योग, जैन और बौद्ध-दर्शनोंकी तुलना करते समय जो ब्राह्मण और श्रमण संस्कृति संबंधी भेद दिखाया गया है, वह ऐतिहासिक दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। पांचवें परिशिष्टमें मीमांसक और जैनोंकी तुलना, छठेमें शंकरके मायावादकी विज्ञानवाद और शून्यवादसे तुलना, सातवेंमें चार्वाकमत और आनन्दघनजीका उसे जिनभगवानकी कूख वताना, और आठवें परिशिष्टमें आजीविक सम्प्रदाय—ध्यानपूर्वक पढ़ने योग्य हैं।

६ अनुक्रमणिका—इस संस्करणमें नीचे लिखी तेरह अनुक्रमणिकायें दी गई हैं—

(१) स्याद्वादमंजरीके अवतरण–इन अवतरणोंमें कई अनुपलब्ध अवतरणोंकी खोज पहली बार की गई है। अवतरण प्रायः सेठ मोतीलाल लाधाजी और प्रो. ध्रुवकी स्याद्वादमंजरीके आधारसे लिये गये हैं।

(२) स्याद्वादमंजरीमें निर्दिष्ट ग्रंथ और ग्रंथकार

(३) स्याद्वादमंजरी (अन्ययोगव्यवच्छेदिका) के श्लोकोंकी सूची

(४) स्याद्वादमंजरी (अन्ययोगव्यवच्छेदिका) के शब्दोंकी सूची

(५) स्याद्वादमंजरीके न्याय

(६) स्याद्वादमंजरीके श्लोकोंकी सूची

(७) स्याद्वादमंजरीकी संस्कृत, तथा हिन्दी टिप्पणियोंके ग्रंथ और ग्रंथकार

(८) अयोगव्यवच्छेदिकाके श्लोकोंकी सूची

(९) अयोगव्यवच्छेदिकाके शब्दोंकी सूची

(१०) अयोगव्यवच्छेदिकाकी टिप्पणीमें उपयुक्त ग्रंथ

(११) परिशिष्टके शब्दोंकी सूची

(१२) परिशिष्टमें उपयुक्त ग्रंथ

(१३) सम्पादनमें उपयुक्त ग्रंथ

उपसंहार

जिस समय मैं बनारस हिन्दू युनिवर्सिटीमें एम. ए. में आदरणीय प्रो. फणिभूषण अधिकारीसे स्याद्वादमंजरी पढ़ता था, उस समय मुझे उनके साथ दर्शनशास्त्रके अनेक विषयोंपर चर्चा करनेका अवसर प्राप्त हुआ था। उसी समयसे मेरी इच्छा थी कि मैं स्याद्वादमंजरीपर कुछ लिखकर जैनदर्शन तथा राष्ट्रभाषाकी सेवा करूँ। संयोगवश पिछले वर्ष मेरा बम्बईमें आना हुआ, और मैंने रायचन्द्र जैनशास्त्रमालाके व्यवस्थापक श्रीयुत मणीलाल रेवाशंकर जगजीवन झवेरीकी स्वीकृतिपूर्वक स्याद्वादमंजरीका काम आरंभ कर दिया। इस ग्रंथके आरंभसे इसकी समाप्तितक अनेक सज्जनोंने मुझे अनेक प्रकारसे सहयोग दिया है, उसके लिये मैं उन सबका आभार मानता हूँ। स्नेही श्रीयुत दलसुख डाह्याभाई मालवणियाने स्याद्वादमंजरीके संस्कृत और उसके अनुवादके बहुतसे प्रूफोंका संशोधन किया है। बंधु साहित्यरत्न पं. दरबारीलालजी न्यायतीर्थने इस ग्रंथ संबंधी अनेक प्रश्नोंकी चर्चामें रस लेकर अपना बहुमूल्य समय खर्च किया है। स्थानीय बुद्धिस्ट सोसायटीके मंत्री के. ए. पाध्ये बी. ए., एलएल. बी., वकील बम्बई हाईकोर्टने स्थानीय एशियाटिक लायब्ररीमें मुझे हरेक प्रकारकी सुविधा दिलवाकर, तथा एन. आर. फाटक बी. ए. ने अपनी लाइब्रेरीमेंसे बहुतसी पुस्तकें देकर सहायता की है। रायचन्द्रशास्त्रमालाके मैनेजर श्रीयुत कुन्दनलालजीने आवश्यकीय पुस्तकों आदिका प्रबन्ध किया है। पं. नाथूरामजी प्रेमी, मुनि हिमांशुविजयजी, मोहनलाल दलीचंद देसाई बी. ए., एलएल. बी., तथा मोहनलाल भगवानदास झवेरी एम. ए. सोलिसीटर आदि सज्जनोंने भी सहानुभूतिका प्रदर्शन किया है। मेरी पत्नी कमलश्रीने हिन्दीके प्रूफ पढ़वानेमें और अनुक्रमणिका बनानेमें सहायता की है। मैं इन सब महानुभावोंका हृदयसे आभार मानता हूँ। मुनि मोहनलाल सेंट्रल जैन लाइब्रेरी, हीराचन्द गुमानजी जैन बोर्डिंग लाइब्रेरी, ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन तथा न्यू भारत प्रिंटिंग प्रेसके अध्यक्षोंने अपना पूर्ण सहयोग

दिया है। इस संस्करणके तैयार करनेमें प्रो. आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुवकी स्याद्वादमंजरी तथा अन्य अनेक ग्रन्थोंसे जो मुझे सहायता मिली है, उसका यथास्थान उल्लेख किया गया है। इन सबका आभारी हूँ।

जुबेलीबाग,
तारदेव बम्बई
२०-६-३५

जगदीशचन्द्र जैन

द्वितीय आवृत्ति की भूमिका

स्याद्वादमंजरी संस्कृत एवं अंग्रेज़ी की विविध परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में अनेक वर्षों से नियत है। तरुण जैन साधु-साध्वियां भी जैन दर्शन का सरल एवं बोधगम्य भाषा में ज्ञान प्राप्त करने के लिये इस ग्रंथ का पारायण करते आये हैं।

किन्तु इधर अनेक वर्षोंसे इस ग्रंथके उपलब्ध न होनेके कारण विद्यार्थियोंको बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ रहा था। साहित्यप्रेमी डॉक्टर आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्येका ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। रायचन्द्र शास्त्रमालाके अधिकारियोंसे उन्होंने पत्रव्यवहार किया। इसका परिणाम है यह प्रस्तुत संस्करण जो पूर्व संस्करणके ३५ वर्ष बाद प्रकाशित हो रहा है।

अनुवादके संशोधित और परिमार्जिति करनेमें कोई कमी नहीं रखी गई है। फलटण (महाराष्ट्र)के वयोवृद्ध संस्कृत एवं जैन दर्शनके विद्वान् प्रोफेसर एम. जी. कोठारीका संशोधनमें हार्दिक सहयोग प्राप्त हुआ है। अस्वस्थ रहते हुए भी आपने इस कार्यमें रुचि दिखाई है।

२८ शिवाजी पार्क
बंबई २८
१-६-७०

जगदीशचन्द्र जैन

ग्रन्थ और ग्रंथकार

हेमचन्द्र

हेमचन्द्र आचार्य श्वेताम्बर परम्परामें महान प्रतिभाशाली असाधारण विद्वान हो गये हैं। हेमचन्द्राचार्यका जन्म ई. स. १०७८ में गुजरातके धन्धुका ग्राममें मोढ़ वणिक् जातिमें हुआ था। हेमचन्द्रके जन्मका नाम चंगदेव अथवा चांगोदेव था। इनके पिताका नाम चच्च, चाच अथवा चाचिग, और माताका पाहिनी अथवा चाहिणी था। एक बार देवचन्द्र नामके एक जैन साधु धंधुकामें आये। चंगदेवकी अवस्था केवल पांच वर्षकी थी। पाहिनी अपने पुत्रको लेकर जिनमंदिरके दर्शन करने गई। देवचन्द्र भी इसी मंदिरमें ठहरे थे। जिस समय पाहिनी जिन प्रतिबिम्बकी प्रदक्षिणा दे रही थी, चंगदेव देवचन्द्र महाराजके पास आकर बैठ गये। आचार्य चंगदेवके शरीरपर असाधारण चिह्न देखकर आश्चर्यचकित हुए और उन्होंने चंगदेवके घर जाकर पाहिनीसे उसके पुत्रको जैन साधुसंघमें दीक्षित करनेकी अनुमति मांगी[1]। पाहिनीने गुरुकी आज्ञा शिरोधार्य की और चंगदेवको देवचन्द्र आचार्यके सुपुर्द कर दिया। जब चंगदेवके पिता बाहरसे लौटे, इस घटनाको सुनकर बहुत क्रुद्ध हुए। अन्तमें सिद्धराजके तत्कालीन जैन मंत्री उदयनने चंगदेवके पिताको शान्त किया, तथा चंगदेवका विधि विधानपूर्वक दीक्षा-संस्कार हो गया। दीक्षाके पश्चात् चंगदेवका नाम सोमचन्द्र रक्खा गया। प्रतिभाशाली सोमचन्द्रने शीघ्र ही तर्क, लक्षण, साहित्य और आगम इन चारों विद्याओंका पाण्डित्य प्राप्त कर लिया। देवचन्द्रसूरिने अपने शिष्यका अगाध पांडित्य देख सोमचन्द्रको सूरिकी उपाधिसे विभूषित किया, और अब सोमचन्द्र हेमचन्द्रसूरिके नामसे कहे जाने लगे।

एक बार हेमचन्द्र आचार्य विहार करते करते गुजरातकी राजधानी अणहिल्लपुर पाटणमें पधारे। उस समय वहां महाराज सिद्धराज जयसिंह राज्य करते थे। सिद्धराजने हेमचन्द्र आचार्यको राजसभामें आमंत्रित किया, और हेमचन्द्रके अगाध पाण्डित्यको देखकर वे बहुत मुग्ध हुए। हेमचन्द्र अणहिल्लपुरमें ही रहने लगे। सिद्धराजने कोई अच्छा व्याकरण न देखकर हेमचन्द्रसे कोई व्याकरण लिखने का अनुरोध किया। तत्पश्चात् हेमचन्द्रने गुजरातके लिये सिद्धहैमशब्दानुशासन नामके व्याकरणकी रचना की। यह व्याकरण राजाके हाथीपर रखकर राज दरबारमें लाया गया। सिद्धराज शैवधर्मी थे। एक बार हेमचन्द्र सिद्धराजके साथ सोमनाथके मंदिरमें गये। हेमचन्द्रने निम्न श्लोकांसे शिवको नमस्कार कर अपने हृदयकी विशालताका परिचय दिया—

भवबीजांकुरजनना रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥
यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यया यया।
वीतदोषकलुषः स चेद्भवानेक एव भगवन्नमोऽस्तु ते॥

हेमचन्द्रके उपदेशसे सिद्धराजको जैनधर्मके प्रति प्रीति उत्पन्न हुई, और फलस्वरूप सिद्धराजने पाटणमें 'रायविहार' और सिद्धपुरमें 'सिद्धविहार' नामक चौबीस जिन प्रतिमावाले मंदिर बनवाये। सिद्धराजके समय हेमचन्द्र केवल अपने विद्या-वैभवके कारण सत्कारके पात्र हुए थे। परन्तु सिद्धराजके उत्तराधिकारी कुमारपाल हेमचन्द्रको राजगुरुकी तरह मानने लगे। हेमचन्द्रके उपदेशसे कुमारपालने अपने राज्यमें

---

१. सोमप्रभसूरिके अनुसार चंगदेवने स्वयं ही देवचन्द्रसूरिके उपदेश सुनकर उनका शिष्य होनेकी इच्छा प्रगट की, और वे देवचन्द्रसूरिके साथ-साथ भ्रमण करने लगे। देवचन्द्र भ्रमण करते-करते जब खंभात आये तो वहां चंगदेवके मामा नेमिचन्द्रने चंगदेवके माता-पिताको समझाया और देवचन्द्रसूरिने चंगदेवको दीक्षा दी।

देव-देवियोंके निमित्त से की जानेवाली प्राणियोंकी हिंसाको, और, मांस, मद्य, द्यूत, शिकार आदि दुर्व्यसनों-को रोकनेकी घोषणा कराई, और जैनधर्मके सिद्धांतोंका अधिकाधिक प्रचार किया।

हेमचन्द्र चारों विद्याओंके समुद्र थे, और अपने असामान्य विद्या-वैभवके कारण कलिकालसर्वज्ञके नाम-से प्रख्यात थे। मल्लिषेण हेमचन्द्रका पूज्य दृष्टिसे स्मरण करते हैं, और उन्हें चार विद्याओं संबंधी साहित्यके निर्माण करनेमें साक्षात् ब्रह्माकी उपमा देते हैं। सिद्धहैमशब्दानुशासनके अतिरिक्त हेमचन्द्रने तर्क, साहित्य, छन्द, योग, नीति, आदि विविध विषयोंपर अनेक ग्रंथोंकी रचना करके जैन साहित्यको पल्लवित बनाया। कहा जाता है कि कुल मिलाकर हेमचन्द्रने साढ़े तीन करोड़ श्लोकोंकी रचना की है। हेमचन्द्रके मुख्य ग्रंथ निम्न प्रकार हैं—

१ सिद्धहैमशब्दानुशासन : (अ) प्रथम सात अध्यायों में संस्कृत व्याकरण
(आ) आठवें अध्यायमें प्राकृत एवं अपभ्रंश व्याकरण

२ द्वयाश्रयमहाकाव्य (माघकृत भट्टिकाव्य के आदर्श पर)
(अ) संस्कृत द्वयाश्रय; (आ) प्राकृत द्वयाश्रय

३ कोष : (अ) अभिधानचिंतामणि–सवृत्ति (हैमीनाममाला); (आ) अनेकार्थसंग्रह; (इ) देशीनाममाला–सवृत्ति (रयणावलि); (ई) निघंटुशेष

४ अलंकार : काव्यानुशासन–सवृत्ति

५ छंद : छंदोनुशासन–सवृत्ति

६ न्याय : (अ) प्रमाणमीमांसा [अपूर्ण]; (आ) अन्योगव्यवच्छेदिका (स्याद्वादमंजरी); (इ) अयोगव्यवच्छेदिका

७ योग : योगशास्त्र-सवृत्ति (अध्यात्मोपनिषद्)

८ स्तुति : वीतरागस्तोत्र

९ चरित : त्रिषष्टिशलाकापुरुचरित

इन ग्रन्थोंके अतिरिक्त हेमचन्द्रने और भी ग्रंथोंका निर्माण किया है। हेमचन्द्र भारतके एक दैदीप्यमान रत्न थे; उनके बिना जैन साहित्य ही नहीं, गुजरातका साहित्य शून्य समझा जायेगा।[२]

अन्ययोग और अयोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिकायें

दार्शनिक विचारोंको संस्कृत पद्योंमें प्रस्तुत करनेकी पद्धति भारतवर्षमें बहुत समयसे चली जाती है। उपलब्ध भारतीय साहित्यमें सर्वप्रथम विज्ञानवादी बौद्ध आचार्य वसुबंधुद्वारा, विज्ञानवादकी सिद्धिके लिये बीस श्लोकप्रमाण विंशिका. और तीस श्लोकप्रप्राण त्रिंशिकाकी रचना देखनेमें आती है। जैन साहित्यमें सर्वप्रथम सुप्रसिद्ध जैन दार्शनिक सिद्धसेन दिवाकरने द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकाओंकी रचना की। हरिभद्रने भी विंश-तिविंशिकाओंको लिखा है। हेमचन्द्रने सिद्धसेनकी द्वात्रिंशिकाओंके अनुकरण पर सरल और मार्मिक भाषामें अन्ययोगव्यवच्छेद और अयोगव्यवच्छेद नामकी दो द्वात्रिंशिकाओंकी रचना की है।

---

१. एक विद्वान्ने इस व्याकरणकी प्रशंसा निम्न श्लोकसे की थी—

भ्रातः संवृणु पाणिनीप्रलपितं कातंत्रकंथा वृथा
मा कार्षीः कटुशाकटायनवचः क्षुद्रेण चान्द्रेण किम्।
किं कण्ठाभरणादिभिर्बठरयत्यात्मानमन्यैरपि
श्रूयन्ते यदि तावदर्थमधुराः श्रीसिद्धहेमोक्तयः॥ जैन साहित्यनो इतिहास पृ. २९४।

२. विशेषके लिये देखिये प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित होनेवाली 'भारतके सांस्कृतिक अग्रदूत' पुस्तकमें लेखक का 'आचार्य हेमचन्द्र' नामक निबंध।

हेमचन्द्रकी उक्त दोनों द्वात्रिंशिकायें महावीर भगवानकी स्तुतिरूप हैं। दोनोंमे बत्तीस-बत्तीस श्लोक हैं जिनमें इकतीस श्लोक उपजाति और अन्तका एक श्लोक शिखरिणी छन्दमें हैं। अन्ययोगव्यवच्छेदिकामें[1] अन्य दर्शनोंमें दूषणोंका प्रदर्शन किय गया है। इसमें आदिके तीन और अन्तके तीन श्लोकोंमें भगवानकी स्तुति; सतरह श्लोकोंमें न्याय-वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त, सांख्य, बौद्ध और चार्वाकदर्शनोंकी समीक्षा; तथा नौ श्लोकोंमें स्याद्वादकी सिद्धिकी गई हैं—

१—स्तुतिरूप छह श्लोकोंमें भगवानके अतिशय, उनके यथार्थवाद, नयमार्ग, और निष्पक्ष शासनका वर्णन करते हुए अन्तमें जिन भगवानके द्वारा ही अज्ञानांधकारमें पड़े हुए जगतकी रक्षाकी शक्यताका प्रतिपादन किया हैं।

२—(क) अन्य दर्शनोंके समीक्षात्मक रूप सतरह श्लोकोंमें से छह श्लोकोंमें (४-१०) न्याय-वैशेषिकोंके सामान्यविशेषवाद, नित्यानित्यवाद. ईश्वरकर्तृत्व, धर्म-धर्मिका भेद, सामान्यका भिन्नपदार्थत्व, आत्मा और ज्ञानका भिन्नत्व, बुद्धि आदि आत्माके गुणोंके उच्छेदसे मुक्ति, आत्माकी सर्वव्यापकता, तथा छल, जाति और निग्रहस्थानके ज्ञानसे मुक्ति मानना—इन सिद्धांतों की समीक्षा की गई है।

(ख) ११–१२ वें श्लोकमें मीमांसकोंकी,

(ग) १३ वें श्लोकमें वेदान्तियोंके मायावादकी,

(घ) १४ वें में एकान्त सामान्य और एकान्त विशेष रूप वाच्य-वाचक भावकी,

(ङ) १५ वें में सांख्यदर्शनके सिद्धांतोंकी, तथा

(च) १६–१९ में बौद्धोंके प्रमाण और प्रमितिकी अभिन्नता, ज्ञानाद्वैत, शून्यवाद और क्षणभंगवादकी, तथा

(छ) २० वें श्लोकमें चार्वाकदर्शनकी समीक्षा की गई है।

३—शेष नौ श्लोकोंमें वस्तुमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी सिद्धि, सकलादेश और विकलादेशसे सप्तभंगीका प्ररूपण, स्याद्वादमें विरोध आदि दोषोंका खंडन, एकान्तवादोंका खंडन, दुर्नय, नय और प्रमाणका स्वरूप, और सर्वज्ञनिर्दिष्ट जीवोंकी अनन्तताके प्ररूपणके साथ स्याद्वादकी सर्वोत्कृष्टता सिद्ध की गई है।

अयोगव्यवच्छेदिका द्वात्रिंशिकामें स्वपक्षकी सिद्धि की गई है। अन्ययोगव्यवच्छेदिका और अयोगव्यवच्छेदिकाके श्लोकोंका उल्लेख हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमांसावृत्ति, योगशास्त्रवृत्ति आदि ग्रंथोंमें मिलता हैं। इससे मालूम होता है इन ग्रंथोंके बननेसे पहले ही द्वात्रिंशिकाओंकी रचना हो चुकी थी। अयोगव्यवच्छेदिकामें हेमचन्द्र आचार्यने तीर्थिकोंके आगमको सदोष सिद्ध करके जिनशासनकी महत्ताका प्रतिपादन किया है। हेमचन्द्राचार्यकी मान्यता है कि जैनेतर शास्त्रोंमें हिंसा आदिका विधान पाया जाता है, अतएव पूर्वापरविरोध से रहित यथार्थवादी जिन भगवानका शासन ही प्रामाणिक हो सकता है। जिन शासनके सर्वोत्कृष्ट और कल्याणरूप होने पर भी जो लोग जिन शासनकी उपेक्षा करते हैं, वह उन लोगोंके दुष्कर्मका ही परिणाम समझना चाहिये। हेमचन्द्र घोषित करते हैं कि वीतरागको छोड़कर अन्य कोई देव, और अनेकान्तको छोड़कर अन्य कोई न्यायमार्ग नहीं है–

इमां समक्षं प्रतिपक्षसाक्षिणामुदारघोषामवघोषणां ब्रुवे।
न वीतरागात्परमस्ति दैवतं न चाप्यनेकान्तमृते नयस्थितिः॥

अन्तमें हेमचन्द्र जिनदर्शनके प्रति पक्षपात और जिनेतर दर्शनोंके प्रति द्वेषभावका निराकरण करते हुए अपने समदर्शीपनेका उद्घोष करते हुए जिनशासनकी ही महत्ता सिद्ध करते हैं—

न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु।
यथावदाप्तत्वपरीक्षया तु त्वामेव वीर प्रभुमाश्रिताः स्मः॥

---

1. अन्ययोगव्यवच्छेदिकाके कई श्लोंका उल्लेख माधवाचार्यने सर्वदर्शनसंग्रहमें किया है।

टीकाकार मल्लिषेण

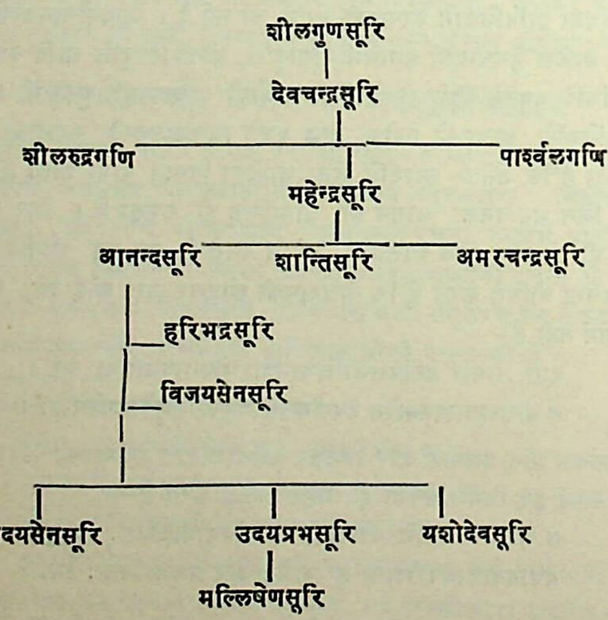
मल्लिषेण नामके अनेक जैन आचार्य हो गये हैं।[1] हेमचन्द्रकी अन्ययोगव्यवच्छेदिकाके ऊपर स्याद्वाद-मंजरी टीका लिखनेनेवाले प्रस्तुत मल्लिषेणसूरि श्वेताम्बर विद्वान हैं। मल्लिषेणने अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिकाकी टीकाके अतिरिक्त अन्य कौनसे ग्रन्थोंकी रचनाकी है, ये कहांके रहनेवाले थे, आदि बातोंके संबंधमें कुछ विशेष पता नहीं लगता। स्याद्वादमंजरीके अंतमें दी हुई प्रशस्तिसे[2] केवल इतना ही मालूम होता है कि नागेद्रगच्छीय[3] उदयप्रभसूरि[4] मल्लिषेणके गुरु थे, तथा शक संवत् १२१४ (ई. स. १२९३) में दीपमालिका

---

१. पं. नाथूराम प्रेमीजीने अपनी विद्वद्रत्नमाला (प्रथम भाग) में मल्लिषेण नामके दो दिगम्बर विद्वानोंका उल्लेख किया है। एक मल्लिषेण उभयभाषाचक्रवर्ती कहे जाते थे, जो संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओंके महाकवि थे। अब तक इनके महापुराण, नागकुमार महाकाव्य, और सज्जनचित्तवल्लभ नामके तीन ग्रन्थोंका पता लगा है। दूसरे मल्लिषेण 'मलधारिन्' नामसे प्रसिद्ध थे। ये शक संवत् १०५० में फाल्गुन कृष्ण तृतीयाके दिन श्रवणबेलगुलमें समाधिस्थ हुए थे। प्रवचनसारटीका, पंचास्तिकायटीका, ज्वालिनीकल्प, पद्मावतीकल्प, वज्रपंजरविधान, ब्रह्मविद्या और आदिपुराण नामक ग्रन्थ भी मल्लिषेण आचार्यके नामसे प्रसिद्ध हैं। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि ये ग्रन्थ कौनसे मल्लिषेणने रचे थे।

२. नागेन्द्रगच्छगोविन्दवक्षोऽलंकारकौस्तुभाः।
ते विश्ववन्द्या नन्द्यासुरुदयप्रभसूरयः॥
श्रीमल्लिषेणसूरिभिरकारि तत्पदगगनदिनमणिभिः।
वृत्तिरियं मनुरविमितशाकाब्दे दीपमहसि शनौ॥
श्रीजिनप्रभसूरिणां साहाय्योद्भिन्नसौरभा।
श्रुतावुत्तंसतु सतां वृत्तिः स्याद्वादमंजरी॥

३. मोतीलाल लाधाजीने आर्हतमतप्रभाकर पूनासे प्रकाशित स्याद्वादमंजरीकी प्रस्तावनामें नागेन्द्रगच्छके आचार्योंकी परम्परा निम्न प्रकारसे दी है—



४. उदयप्रभसूरिने धर्माभ्युदयमहाकाव्य, आरंभसिद्धि, उपदेशमालाकर्णिकावृत्ति आदि ग्रन्थोंकी रचनाकी है।

को शनिवारके दिन जिनप्रभसूरिकी[1] सहायतासे मल्लिषेणने स्याद्वादमंजरीको समाप्त किया ।

मल्लिषेणसूरि अपने समयके एक प्रतिभाशाली विद्वान् थे । मल्लिषेण न्याय, व्याकरण और साहित्यके प्रकाण्ड पण्डित थे । इन्होंने जैनन्याय और जैनसिद्धांतोंके गंभीर अध्ययन करनेके साथ न्याय-वैशेषिक, सांख्य, पूर्वमीमांसा, वेदान्त और बौद्धदर्शनके मौलिक ग्रन्थोंका विशाल अध्ययन किया था । मल्लिषेणकी विषय-वर्णन शैली सुस्पष्ट, प्रसाद गुणसे युक्त और हृदयस्पर्शी है । न्याय और दर्शनशास्त्रके कठिनसे कठिन विषयोंको सरल और हृदयग्राही भाषामें प्रस्तुत कर पाठकोंको मुग्ध करनेकी कलामें मल्लिषेण कुशल थे । इसीलिये स्याद्वादमंजरी–मल्लिषेणकी एक मात्र उपलब्धरचना—न्यायका ग्रन्थ कहे जानेकी अपेक्षा 'साहित्यका एक अंश' (piece of literature) कहा जाता है । यद्यपि रत्नप्रभसूरिकी स्याद्वादरत्नावतारिका भी साहित्यके ढंगपर ही लिखी गई है, परन्तु रत्नावतारिकामें समासोंकी दीर्घता और अर्थकाठिन्य होनेके कारण उसमें भाषाकी जटिलता आ गई है ।[2] इसलिये एक ओर सन्मतितर्क, अष्टसहस्री, प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि जैन न्यायके गहन वनमेंसे, और दूसरी ओर स्याद्वादरत्नाकर, स्याद्वादरत्नावतारिका जैसी विकट और घोर अटवीमेंसे निकलकर स्याद्वादमंजरीको विश्राम करनेका सर्वाङ्गसुन्दर आधुनिक पार्क कहा जा सकता है । यहाँ पर प्रत्येक दर्शनके महत्त्वपूर्ण सिद्धांतोंका संक्षेपमें सरल और स्पष्ट भाषामें वर्णन किया गया है। उपाध्याय यशोविजयजीने स्याद्वादमंजरीपर स्याद्वादमंजूषा नामकी वृत्ति लिखी है ।[3] स्याद्वादमंजरीका उल्लेख माधवाचार्यने सर्वदर्शनसंग्रहमें किया है ।[4]

---

१. जिनप्रभसूरि तीर्थकल्प, अजितशान्तिस्तव आदि ग्रन्थोंके कर्ता हैं ।

२. उदाहरणके लिये देखिए–इह हि लक्ष्यमाणाऽक्षोदीयोऽर्थाक्षूणाक्षरक्षीरनिरन्तरे, तत इतो दृश्यमानस्याद्वादमहामुद्रामुद्रितानिद्रप्रमेयसहस्रोत्तुङ्गतंगतरंगभंगिसंगसौभाग्यभाजने, अतुलफलभरभ्राजिष्णुभूयिष्ठागमाऽभिरामातुच्छपरिच्छेदसन्दोहशाद्वलासन्नकाननिकुंजे, निरुपममनीषामहायानपात्रव्यापारपरायणपूरुषप्राप्यमाणाप्राप्तपूर्वरत्नविशेषे, क्वचन वचनारचनाऽनवद्यगद्यपरम्पराप्रवालजालजटिले, क्वचन सुकुमारकान्तालोकनीयास्तोकश्लोकमौक्तिकप्रकरकरम्बिते, क्वचिदनेकान्तवादोपकल्पितानल्पविकल्पकल्लोलोल्लासितोद्दामदूषणाद्रिविद्राव्यमाणानेकतीर्थिकनक्रचक्रवाले, क्वचिदपगताशेषदोषानुमानाभिधानोद्वर्तमानासमानपाठीनपुच्छटाऽच्छोटनोच्छलदतुच्छशीकरश्लेषसंजायमानमार्तण्डमण्डलप्रचण्डच्छमत्कारे, क्वापि तीर्थिकग्रंथग्रन्थिसार्थसमर्थकदर्थनोपस्थापितार्थानवस्थितप्रदीपायमानप्लवमानज्वलन्मणिफणीन्द्रभीषणे, सहृदयसैद्धान्तिकतार्किकवैयाकरणकविचक्रचक्रवर्तिसुविहितसुगृहीतनामधेयास्मद्गुरुश्रीदेवसूरिभिर्विरचिते स्याद्वादरत्नाकरे........। स्याद्वादरत्नावतारिका पृ. २ ।

३. मोहनलाल दलीचंद देसाईने अपने 'जैनसाहित्यनो इतिहास' नामक पुस्तकके ६४५ पृष्ठपर उपाध्याय यशोविजयकी उपलब्ध अप्रकाशित कृतियोंमें इस वृत्तिका उल्लेख किया है ।

४. यदवोचदाचार्यः स्याद्वादमंजर्याम्—

वस्तुतः उक्त तीन श्लोकोंमें पहलेके दो श्लोक सिद्धसेनके न्यायावतारके, और अन्तिम श्लोक हेमचन्द्रकी अन्ययोगव्यवच्छेदिकाका है ।

अनेकान्तात्मकं वस्तु गोचरः सर्वसंविदाम् ।
एकदेशविशिष्टोऽर्थः नयस्य विषयो मतः ॥
न्यायानामेकनिष्ठानां प्रवृत्तौ श्रुतवर्त्मनि ।
सम्पूर्णार्थविनिश्चायि स्याद्वस्तु श्रुतमुच्यते ॥
अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद्
यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः ।
नयानशेषानविशेषमिच्छन्
न पक्षपाती समयस्तथार्हतः ॥ सर्वदर्शनसंग्रह, आर्हतदर्शन ।

मल्लिषेण हरिभद्रसूरिकी कोटिके सरल प्रकृतिके उदार और मध्यस्थ विचारोंके विद्वान थे । सिद्धसेन आदि जैन विद्वानोंकी तरह मल्लिषेण भी 'सम्पूर्ण जैनेतर दर्शनोंके समूहको जैनदर्शन' प्रतिपादित कर 'अन्ध-गजन्याय' का उपयोग करते हैं । अन्य दर्शनोंके विद्वानोंके लिये पशु, वृषभ आदि असभ्य शब्दोंका प्रयोग न कर वेदान्तियोंका सम्यग्दृष्टि, व्यासका ऋषि, कपिलका परमर्षि, उदयनका प्रामाणिकप्रकाण्ड रूपसे उल्लेख करना, तथा श्वेताम्बर परंपराके अनुयायी होते हुए भी समंतभद्र, विद्यानन्द आदि दिगम्बर विद्वानोंके उद्धरण निःसंकोच भावसे प्रस्तुत करना मल्लिषेणको धार्मिक सहिष्णुताके साथ उनके समदर्शीपनेको प्रमाणित करता है । स्याद्वादमंजरीमें सर्वज्ञसिद्धिकी चर्चाके प्रसंगपर भी मल्लिषेण स्त्रीमुक्ति और केवलिमुक्ति जैसे दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायके विवादस्थ प्रश्नोंके विषयमें मौन रहते हैं, इससे भी प्रतीत होता है कि अन्य दिग-म्बर एवं श्वेताम्बर आचार्योंकी तरह मल्लिषेणको साम्प्रदायिक चर्चाओंमें रस नहीं था । अनेक वृक्षोंसे पुष्पों-को चुनने के समान, अनेक दर्शन संबंधी शास्त्रोंसे प्रमेयोंको चुन-चुनकर, निस्सन्देह मल्लिषेणसूरिने 'अकृत्रिम-बहुमति' स्याद्वादमंजरी नामकी माला गूंथकर जैनन्यायको समलंकृत किया है ।

स्याद्वादमंजरीका विहंगावलोकन

श्लोक १–३

ये श्लोक स्तुतिरूप हैं । इनमें चार अतिशयों सहित भगवानके यथार्थवादका प्ररूपण करते हुए उनके शासनकी सर्वोत्कृष्टता बताई गई है ।

श्लोक ४–१०

इन छह श्लोकोंमें न्याय-वैशेषिकोंके निम्न सिद्धांतोंपर विचार किया गया है—

(१) सामान्य और विशेष भिन्न पदार्थ नहीं हैं ।

(२) वस्तुको एकान्त-नित्य अथवा एकान्त-अनित्य मानना न्यायसंगत नहीं है ।

(३) एक, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, स्वतंत्र और नित्य ईश्वर जगतका कर्ता नहीं हो सकता ।

(४) धर्म-धर्मीमें समवाय संबंध नहीं बन सकता ।

(५) सत्ता (सामान्य) भिन्न पदार्थ नहीं है ।

(६) ज्ञान आत्मासे भिन्न नहीं है ।

(७) आत्माके बुद्धि आदि गुणोंके नाश होनेको मोक्ष नहीं कह सकते ।

(८) आत्मा सर्वव्यापक नहीं हो सकती ।

(९) छल, जाति, निग्रहस्थान आदि तत्त्व मोक्षके कारण नहीं हो सकते ।

तथा—

(क) तम (अंधकार) अभावरूप नहीं है, वह आकाशकी तरह स्वतंत्र द्रव्य है, और पौद्गलिक है।

(ख) 'अप्रच्युत, अनुत्पन्न और सदास्थिरत्व' नित्यका लक्षण मानना ठीक नहीं । 'पदार्थके स्वरूप-का नाश नहीं होना' ही नित्यका लक्षण ठीक हो सकता है ।

(ग) किरणें गुणरूप नहीं हैं, उन्हें तैजस पुद्गलरूप मानना चाहिये ।

(घ) नैयायिकोंके प्रमाण, प्रमेय आदिके लक्षण दोषपूर्ण हैं ।

इसके अतिरिक्त इन श्लोकोंमें—

(अ) जैनदृष्टिसे आकाश आदिमें नित्यानित्यत्व,

(ब) पतंजलि, प्रशस्तकार और बौद्धोंके अनुसार वस्तुओंका नित्यानित्यत्व,

(स) अनित्यैकान्तवादी बौद्धोंके क्षणिकवादमें दूषण,

(ड) वैदिकसंहिता, स्मृति आदिके वाक्योंमें पूर्वापरविरोध, तथा

(ढ) केवलिसमुद्घात अवस्थामें जैनसिद्धांतके अनुसार आत्म-व्यापकताको संगतिका प्ररूपण किया गया है ।

श्लोक ११-१२

इन श्लोकोंमें पूर्वमीमांसकोंके निम्न सिद्धान्तोंपर विचार किया गया है—

(१) वेदोंमें प्रतिपादित हिंसा धर्मका कारण नहीं हो सकती ।

(२) श्राद्ध करनेसे पितरोंकी तृप्ति नहीं होती ।

(३) अपौरुषेय वेदको प्रमाण नहीं मान सकते ।

(४) ज्ञानको स्वपरप्रकाशक न माननेसे अनेक दूषण आते हैं, इसलिये ज्ञानको स्व और परका प्रकाशक मानना चाहिये ।

इसके अतिरिक्त इन श्लोकोंमें—

(क) जिनमंदिरके निर्माण करनेका विधान,

(ख) सांख्य, वेदान्त और व्यास ऋषि द्वारा याज्ञिक हिंसाका विरोध, तथा

(ग) ज्ञानको अनुव्यवसायगम्य माननेवाले न्याय-वैशेषिकोंका खंडन किया गया है ।

श्लोक १३

इस श्लोकमें ब्रह्माद्वैतवादियोंके मायावादका खंडन है । यहांपर प्रत्यक्ष प्रमाणको विधि और निषेध रूप प्रतिपादन किया है ।

श्लोक १४

इस श्लोकमें एकान्त-सामान्य और एकान्त-विशेष वाच्य-वाचक भावका खंडन करते हुए कथंचित् सामान्य और कथंचित् विशेष वाच्य-वाचक भावका समर्थन किया गया है । इस श्लोकमें निम्न महत्वपूर्ण विषयों का प्रतिपादन है—

(१) केवल द्रव्यास्तिकनय अथवा संग्रहनयको माननेवाले अद्वैतवादी, सांख्य और मीमांसकोंका सामान्यैकान्तवाद मानना युक्तियुक्त नहीं है ।

(२) केवल पर्यायास्तिकनयको माननेवाले बौद्धोंका विशेषैकान्तवाद ठीक नहीं है ।

(३) केवल नैगमनयको स्वीकार करनेवाले न्याय-वैशेषिकोंका स्वतन्त्र और परस्पर निरपेक्ष सामान्य-विशेषवाद मानना ठीक नहीं है ।

तथा—

(क) शब्द आकाशका गुण नहीं है, वह पौद्गलिक है, और सामान्य-विशेष दोनों रूप है ।

(ख) आत्मा भी कथंचित् पौद्गलिक है ।

(ग) अपोह, सामान्य अथवा विधिको शब्दार्थ नहीं मान सकते ।

श्लोक १५

इस श्लोकमें सांख्योंकी निम्न मान्यताओंकी समीक्षा की गई है—

(१) चित्शक्ति (पुरुष) को ज्ञानसे शून्य मानना परस्पर विरुद्ध है ।

(२) बुद्धि (महत्) का जड़ मानना ठीक नहीं है । अहंकारको भी आत्माका ही गुण मानना चाहिये, बुद्धिका नहीं ।

(३) सत्कार्यवाद माननेवाले सांख्य लोगोंका आकाश आदिका पांच तन्मात्राओंसे उत्पत्ति मानना असंगत है।

(४) बंध पुरुषके ही मानना चाहिये, प्रकृतिके नहीं।

(५) वाक्, पाणि आदिको पृथक् इन्द्रिय नहीं कह सकते, इसलिये पांच ही इन्द्रियां माननी चाहिये।

(६) केवल ज्ञानमात्रसे मोक्ष नहीं हो सकता।

श्लोक १६-१९

इन श्लोकोंमें बौद्धोंके निम्न मुख्य सिद्धांतोंपर विचार किया गया है—

(१) प्रमाण और प्रमाणके फलको सर्वथा अभिन्न न मानकर कथंचित् भिन्नाभिन्न मानना चाहिये।

(२) सम्पूर्ण पदार्थोंको एकान्त रूपसे क्षणध्वंसी न मानकर उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सहित स्वीकार करना चाहिये।

(३) पदार्थोंके ज्ञानमें तदुत्पत्ति और तदाकारताको कारण न मानकर क्षयोपशम रूप योग्यताको ही कारण मानना चाहिये।

(४) विज्ञानवादी बौद्धोंका विज्ञानाद्वैत मानना ठीक नहीं है।

(५) प्रमाता, प्रमेय आदि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे सिद्ध होते हैं, इसलिये माध्यमिक बौद्धोंका शून्यवाद युक्तिसंगत नहीं है।

(६) बौद्धोंके क्षणभंगवादमें अनेक दोष आते हैं, अतः क्षणभंगवादका सिद्धांत दोषपूर्ण है।

(७) क्षणभंगवादकी सिद्धिके लिये नाना क्षणोंकी परम्परारूप वासना अथवा संतानको मानना भी ठीक नहीं।

तथा—

(क) नैयायिकोंके प्रमाण और प्रमितिमें एकान्त-भेद नहीं बन सकता।

(ख) आत्माकी सिद्धि।

(ग) सर्वज्ञकी सिद्धि।

श्लोक २०

इस श्लोकमें चार्वाक मतके सिद्धांतोंका खण्डन किया गया है।

श्लोक २०—२९

इन श्लोकोंमें स्वपक्षका समर्थन करते हुए स्याद्वादकी सिद्धि की गई है। इन श्लोकोंमें निम्न सिद्धांतोंका प्रतिपादन किया गया है—

(१) प्रत्येक वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त है। द्रव्यकी अपेक्षा वस्तुमें ध्रौव्य और पर्यायकी अपेक्षा सदा उत्पाद और व्यय होता है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परस्पर सापेक्ष हैं।

(२) आत्मा, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि सम्पूर्ण द्रव्योंमें नाना अपेक्षाओंसे नाना धर्म रहते हैं, अतएव प्रत्येक वस्तुको अनन्तधर्मात्मक मानना चाहिये। जो वस्तु अनन्तधर्मात्मक नहीं होती, वह वस्तु सत् भी नहीं होती।

(३) प्रमाणवाक्य और नयवाक्यसे वस्तुमें अनन्त धर्मोंकी सिद्धि होती है। प्रमाणवाक्यको सकलादेश और नयवाक्यको विकलादेश कहते हैं। पदार्थके धर्मोंका काल, आत्मरूप, अर्थ, संबंध, उपकार गुणिदेश, संसर्ग और शब्दकी अपेक्षा अभेदरूप कथन करना सकलादेश; तथा काल, आत्मरूप आदिकी भेदविवक्षासे पदार्थोंके धर्मोंका प्रतिपादन करना विकलादेश है। स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्य, स्यादस्तिअवक्तव्य,

स्यान्नास्तिअवक्तव्य, और स्यादस्तिनास्तिअवक्तव्यके भेदसे सकलादेश और विकलादेश प्रमाणसप्तभंगी और नयसप्तभंगीके सात सात भेदोंमें विभक्त है।

(४) स्याद्वादियोंके मतमें स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा वस्तुमें अस्तित्व और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा नास्तित्व है। जिस अपेक्षासे वस्तुमें अस्तित्व है, उसी अपेक्षासे वस्तुमें नास्तित्व नहीं है। अतएव सप्तभंगी नयमें विरोध, वैयधिकरण्य, अनवस्था, संकर, व्यतिकर, संशय, अप्रतिपत्ति और अभाव नामक दोष नहीं आ सकते।

(५) द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा वस्तु नित्य, सामान्य, अवाच्य, और सत् है, तथा पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अनित्य, विशेष, वाच्य और असत् है। अतएव नित्यानित्यवाद, सामान्यविशेषवाद, अभिलाप्यानभिलाप्यवाद तथा सदसद्वाद इन चारों वादोंका स्याद्वादमें समावेश हो जाता है।

(६) नयरूप समस्त एकांतवादोंका समन्वय करनेवाला स्याद्वादका सिद्धांत ही सर्वमान्य हो सकता है।

(७) भावाभाव, द्वैताद्वैत, नित्यानित्य आदि एकांतवादोंमें सुख-दुख, पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष आदिकी व्यवस्था नहीं बनती।

(८) वस्तुके अनन्त धर्मोंमेंसे एक समयमें किसी एक धर्मकी अपेक्षा लेकर वस्तुके प्रतिपादन करनेको नय कहते हैं। इसलिये जितने तरहके वचन होते हैं, उतने ही नय हो सकते हैं। नयके एकसे लेकर संख्यात भेद तक हो सकते हैं। सामान्यसे नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ये सात भेद किये जाते हैं। न्याय-वैशेषिक केवल नैगमनयके, अद्वैतवादी और सांख्य केवल संग्रहनयके, चार्वाक केवल व्यवहारनयके, बौद्ध केवल ऋजुसूत्रनयके, और वैयाकरण केवल शब्दनयके माननेवाले हैं। प्रमाण सम्पूर्ण नयरूप होता है। नयवाक्योंमें स्यात् शब्द लगाकर बोलनेको प्रमाण कहते हैं। प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे प्रमाणके दो भेद होते हैं।

(९) जितने जीव व्यवहारराशिसे मोक्ष जाते हैं, उतने ही जीव अनादि निगोदकी अव्यवहारराशिसे निकलकर व्यवहारराशिमें आ जाते है, और यह अव्यवहारराशि आदिरहित है, इसलिये जीवोंके सतत मोक्ष जाते रहनेपर भी संसार जीवोंसे कभी खाली नहीं हो सकता।

(१०) पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिमें जीवत्वकी सिद्धि।

(११) प्रत्येक दर्शन नयवादमें गर्भित होता है। जिस समय नयरूप दर्शन परस्पर निरपेक्ष भावसे वस्तुका प्रतिपादन करते हैं, उस समय ये दर्शन परसमय कहे जाते हैं। जिस प्रकार सम्पूर्ण नदियां एक समुद्रमें जाकर मिलती है, उसी तरह अनेकांत दर्शनमें सम्पूर्ण जैनेतर दर्शनोंका समन्वय होता है, इसलिये जैनदर्शन स्वसमय है।

श्लोक ३०–३२

यहाँ महावीर भगवानकी स्तुतिका उपसंहार करते हुए अनेकांतवादसे ही जगतका उद्धार होनेकी शक्यताका प्रतिपादन किया गया है।

जैनदर्शनमें स्याद्वादका स्थान

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुत्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥ (अमृतचन्द्र)

स्याद्वादका मौलिक रूप और उसका रहस्य—विज्ञानने इस बातको भले प्रकार सिद्ध कर दिया है कि जिस पदार्थको हम नित्य और ठोस समझते हैं, वह पदार्थ बड़े वेगसे गति कर रहा है, जो हमें काले, पीले, लाल आदि रंग दिखाई पड़ते हैं, वे सब सफेद रंगके रूपान्तर हैं, जो सूर्य हमें छोटासा और बिलकुल पास दिखाई देता है, वह पृथिवी मंडलसे साढ़े बारह लाख गुना बड़ा और यहाँसे नौ करोड़ तीस लाख मीलकी ऊँचाईपर है ! इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि हम अनन्त समय बीत जानेपर भी ब्रह्माण्डकी छोटीसे छोटी वस्तुओंका भी यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं कर सके, तो जिसको हम दार्शनिक भाषामें पूर्ण सत्य (Absolute) कहते हैं, उसका साक्षात्कार करना कितना दुष्कर होना चाहिये। भारतके प्राचीन तत्त्ववेत्ताओंने तत्त्वज्ञान संबंधी इस रहस्यका ठीक-ठीक अनुभव किया था। इसीलिये जब कभी आत्मा, परब्रह्म, पूर्ण सत्य आदिके विषयमें पूर्वकालकी परिषदोंमें प्रश्नोंकी चर्चा उठती, तो 'नैषा तर्केण मतिरापनेया (कठ), 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन' (मुण्डक), 'सव्वे सरा नियट्टंति तक्का तत्थ न विज्जइ' (आचारांग), 'परमार्थो हि आर्याणां तूष्णींभावः (चन्द्रकीर्ति)—'वह केवल अनुभवगम्य है, वह वाणी और मनके अगोचर है, वहाँ जिह्वा रुक जाती है, और तर्क काम नहीं करती, वास्तवमें तूष्णींभाव ही परमार्थ सत्य है', आदि वाक्योंसे इन शंकाओंका समाधान किया जाता था[1]। इसका मतलब यह नहीं कि भारतीय ऋषि अज्ञानवादी थे, अथवा उनको पूर्ण सत्यका यथार्थ ज्ञान नहीं था। किन्तु इस प्रकारके समाधान प्रस्तुत करनेसे उनका अभिप्राय था कि पूर्ण सत्य तक पहुँचना तलवारकी धार पर चलने के समान है, अतएव इसकी प्राप्तिके लिये अधिकसे अधिक साधनाकी आवश्यकता है। वास्तवमें जितना-जितना हम पदार्थोंका विचार करते हैं, उतने ही पदार्थ विशीर्यमाण दृष्टिगोचर होते हैं। महर्षि सुकरातके शब्दोंमें, हम जितना-जितना शास्त्रोंका अवलोकन करते हैं, हमें उतना ही अपनी मूर्खताका अधिकाधिक आभास होता है।

जैनदर्शनका स्याद्वाद भी इसी तत्त्वका समर्थन करता है। जैन दार्शनिकोंका सिद्धांत है कि मनुष्यकी शक्ति बहुत अल्प है, और बुद्धि बहुत परिमित है। इसलिये हम अपनी छद्मस्थ दशामें हज़ारों-लाखों प्रयत्न करनेपर भी ब्रह्माण्डके असंख्य पदार्थोंका ज्ञान करनेमें असमर्थ रहते हैं। हम विज्ञानको ही लें। विज्ञान अनन्त समयसे विविध रूपमें प्रकृतिका अभ्यास करनेमें जुटा है, परन्तु हम अभी तक प्रकृतिके एक अंश मात्रको भी पूर्णतया नहीं जान सके। दर्शनशास्त्रकी की भी यही दशा है। सृष्टिके आरंभसे आज तक अनेक ऋषि-महर्षियोंने तत्त्वज्ञान संबंधी अनेक प्रकारके नये-नये विचारोंकी खोज की, परन्तु हमारी दार्शनिक गुत्थियां आज भी पहलेकी तरह उलझी पड़ी हुई हैं। स्याद्वाद यही प्रतिपादन करता है कि हमारा ज्ञान पूर्ण सत्य नहीं कहा जा सकता, वह पदार्थोंकी अमुक अपेक्षाको लेकर ही होता है, इसलिये हमारा ज्ञान आपेक्षिक सत्य है। प्रत्येक पदार्थमें अनन्त धर्म हैं। इन अनन्त धर्मोंमेंसे हम एक समयमें कुछ धर्मोंका ही ज्ञान कर सकते हैं, और दूसरोंको भी कुछ धर्मोंका ही प्रतिपादन कर सकते हैं। जैन तत्त्ववेत्ताओंका कथन है कि जिस प्रकार कई अंधे मनुष्य किसी हाथीके भिन्न भिन्न अवयवोंको हाथसे टटोलकर हाथीके उन भिन्न-भिन्न अवयवोंको ही पूर्ण हाथी समझकर परस्पर विवाद उत्पन्न करते हैं, इसी प्रकार संसारका प्रत्येक दार्शनिक सत्यके केवल अंशमात्रको ही जानता है, और सत्यके इस अंशमात्रको सम्पूर्ण सत्य समझकर परस्पर विवाद और वितण्डा खड़ा करता है। यदि संसारके दार्शनिक अपने एकान्त

---

१. पश्चिमके विचारक ब्रैडले (Bradley), बर्गसाँ (Bergson) आदि विद्वानोंने भी सत्यको बुद्धि और तर्कके बाह्य कहकर उसे Experience और Intution का विषय बताया है।

आग्रहको छोड़कर अनेकान्त अथवा स्याद्वाददृष्टिसे काम लेने लगें, तो हमारे जीवनके बहुतसे प्रश्न सहजमें ही हल हो सकते हैं। वास्तवमें सत्य एक है, केवल सत्यकी प्राप्तिके मार्ग जुदा-जुदा है। अल्प शक्तिवाले छद्मस्थ जीव इस सत्यका पूर्ण रूपसे ज्ञान करनेमें असमर्थ है, इसलिये उनका सम्पूर्ण ज्ञान आपेक्षिक सत्य ही कह जाता है। यही जैन दर्शनकी अनेकांत दृष्टिका गूढ़ रहस्य है।

यहाँ शंका हो सकती है कि इस सिद्धांतके अनुसार हमें केवल आपेक्षिक अथवा अर्ध सत्यका ही ज्ञान हो सकता है, स्याद्वादसे हम पूर्ण सत्य नहीं जान सकते। दूसरे शब्दोंमें कहा जा सकता है कि स्याद्वाद हमें अर्ध सत्योंके पास ले जाकर पटक देता है, और इन्हीं अर्ध सत्योंको पूर्ण सत्य मान लेनेकी हमें प्रेरणा करता है। परन्तु केवल निश्चित-अनिश्चित अर्ध सत्योंको मिलाकर एक साथ रख देनेसे वह पूर्ण सत्य नहीं कहा जा सकता। तथा किसी न किसी रूपमें पूर्ण सत्यको माने बिना कोई भी दर्शन पूर्ण कहे जानेका अधिकारी नहीं है। इस भावको भारतके प्रसिद्ध विचारक विद्वान् प्रो० राधाकिशनन्ने निम्न प्रकारसे उपस्थित किया है—

The theory of Relativity cannot be logically sustained without the hypothesis of an absolute...........The Jains admit that things are one in their universal aspect (Jati or Karana) and many in their partcular aspect (vyakti or karya). Both these, according to them, are partial points of view. A plurality of reals is admittedly a relative truth. We must rise to the complete point of view and took at the whole with all the wealth of its attitudes. If Jainism stops short with plurality, which is at best a relative and partial truth, and does not ask whether there is any higher truth pointing to a one which particularises itself in the objects of the world, connected with one another, vitally, essentially and imminently, it throws overboard its own logic and exalts a relative truth into an absolute one.[1]

इस शंकाका समाधान स्पष्ट है। वह यह है, जैसा कि ऊपर बताया गया है कि स्याद्वाद पदार्थोंके जाननेकी एक दृष्टि मात्र है। स्याद्वाद स्वयं अंतिम सत्य नहीं है। यह हमें अन्तिम सत्य तक पहुँचानेके लिये केवल मार्गदर्शकका काम करता है। स्याद्वादसे केवल व्यवहार सत्यके जाननेमें उपस्थित होनेवाले विरोधोंका ही समन्वय किया जा सकता है, इसीलिये जैन दर्शनकारोंने स्याद्वादको व्यवहार सत्य माना[2] है।

---

१. इन्डियन फिलासफी जि. १, पृ. ३०५-६। इसी प्रकारके विचार 'इन्डियन फिलॉसफिकल कांग्रेसके किसी अधिवेशनके समय Jain Instrumental theory of knowledge नामक लेखमें, संभवतः हनुमंतराव एम. ए. ने प्रगट किये हैं। लेखका कुछ अंश निम्न प्रकरसे है—

Its great defect lies in the fact that it (the doctrine of Syadvada) yields to the temptation of an easy compromise without overcoming the contradictions inherent in the opposed standpoints in a higher synthesis........ ....It takes care to show that the truths of science and of every day experience are relative and one-sided, but it leaves us in the end with the view that truth is a sum of relative truths. A mere putting together of half truths definite-indefinite cannot give us the whole truth.

२. स्याद्वादसे ही लोकव्यवहार चल सकता है, इस बातको सिद्धसेन दिवाकरने निम्न गाथामें व्यक्त किया है—

जेण विणा लोगस्सवि ववहारो सव्वहा न निव्वडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस ॥

व्यवहार सत्यके आगे भी जैनसिद्धांतमें निरपेक्ष सत्य माना गया है, जिसे जैन पारिभाषिक शब्दोंमें केवलज्ञान के नामसे कहा जाता है। स्याद्वादमें सम्पूर्ण पदार्थोंका क्रम-क्रमसे ज्ञान होता है, परन्तु केवलज्ञान सत्यप्राप्तिकी वह उत्कृष्ट दशा है, जिसमें सम्पूर्ण पदार्थ और उन पदार्थोंकी अनन्त पर्यायोंका एक साथ ज्ञान होता है। स्याद्वाद परोक्षज्ञानमें गर्भित होता है, इसलिये स्याद्वादसे केवल इन्द्रियजन्य पदार्थ ही जाने जा सकते हैं, किन्तु केवलज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष है, अतः केवलज्ञानमें भूत, भविष्य और वर्तमान सम्पूर्ण पदार्थ प्रतिभासित होते[1] हैं। अतएव स्याद्वाद हमें केवल जैसे-तैसे अर्ध सत्योंको ही पूर्ण सत्य मान लेनेके लिये बाध्य नहीं करता। किन्तु वह सत्यका दर्शन करनेके लिये अनेक मार्गोंकी खोज करता है। स्याद्वादका कहना है कि मनुष्यकी शक्ति सीमित है, इसलिये वह आपेक्षिक सत्यको ही जान सकता है। पहले हमें व्यावहारिक विरोधोंका समन्वय करके आपेक्षिक सत्यको प्राप्त करना चाहिये। आपेक्षिक सत्यके जानेके बाद हम पूर्ण सत्य–केवलज्ञान–का साक्षात्कार करनेके अधिकारी हैं।

स्याद्वादपर एक ऐतिहासिक दृष्टि—अहिंसा और अनेकान्त ये जैनधर्मके दो मूल सिद्धांत हैं। महावीर भगवानने इन्हीं दो मूल सिद्धांतोंपर अधिक भार दिया था। महावीर शारीरिक अहिंसाके पालन करनेके साथ मानसिक अहिंसा (intellectual toleration) के ऊपर भी उतना ही जोर देते हैं। महावीरका कहना था कि उपशम वृत्तिसे ही मनुष्यका कल्याण हो सकता है, और यही वृत्ति मोक्षका साधन है। भगवानका उपदेश था कि प्रत्येक महान् पुरुष भिन्न-भिन्न द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके अनुसार ही सत्यकी प्राप्ति करता है। इसलिये प्रत्येक दर्शनके सिद्धांत किसी अपेक्षासे सत्य हैं। हमारा कर्तव्य है कि हम व्यर्थके वाद-विवादमें न पड़कर अहिंसा और शांतिमय जीवन यापन करें। हम प्रत्येक वस्तुको प्रतिक्षण उत्पन्न होती हुई और नष्ट होती हुई देखते हैं, और साथ ही इस वस्तुके नित्यत्वका भी अनुभव करते हैं, अतएव प्रत्येक पदार्थ किसी अपेक्षासे नित्य और सत्, और किसी अपेक्षासे अनित्य और असत् आदि अनेक धर्मोंसे युक्त है। अनेकांतवाद सम्बन्धी इस प्रकारके विचार प्रायः प्राचीन आगम ग्रंथोंमें देखनेमें आते हैं। गौतम गणधर महावीर भगवान्से पूछते हैं—'आत्मा ज्ञान स्वरूप है, अथवा अज्ञान स्वरूप?' भगवान उत्तर देते हैं––'आत्मा नियमसे ज्ञान स्वरूप है। क्योंकि ज्ञानके बिना आत्माकी वृत्ति नहीं देखी जातीं। परन्तु आत्मा ज्ञान रूप भी है और अज्ञानरूप भी है[2]।

---

१. समंतभद्रने आप्तमीमांसामें स्याद्वाद और केवलज्ञानके भेदको स्पष्ट रूपसे निम्न श्लोकोंमें प्रतिपादन किया है—

तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनं।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतं॥ १०१॥
उपेक्षाफलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः।
पूर्वं वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य गोचरे॥ १०२॥
स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्॥ १०५॥

तथा देखिये अष्टसहस्री, पृ. २७५–२८८

२. सर्वनयानां जिनप्रवचनस्यैव निबंधनत्वात्। किमस्य निबंधनमिति चेत्। उच्यते। निबंधनं चास्य 'आर्य भन्ते णाणे अन्नाणे' इति स्वामी गौतमस्वामिना पृष्टो व्याकरोति––'गोदमा णाणे णियमा' अतो ज्ञानं नियमादात्मनि। ज्ञानस्यान्यव्यतिरेकेण वृत्त्यदर्शनात्। नयचक्र, हस्तलिखित।
(जैनसाहित्यसंशोधक १–४, पृ. १४६)

ज्ञातृधर्मकथा[1] और भगवतीसूत्र[2] भी एक ही वस्तुको द्रव्यकी अपेक्षा एक, ज्ञान और दर्शन की अपेक्षा अनेक, किसी अपेक्षासे अस्ति,किसीसे नास्ति,और किसी अपेक्षाके अवक्तव्य कहा गया है। प्राचीन आगमोंमें स्याद्वादके सात भंगोंका उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु यहाँ त्रिपदी (उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य), सिय अत्थि, सिय णत्थि, द्रव्य, गुण, पर्याय, नय आदि स्याद्वादके सूचक शब्दोंका अनेक स्थानोंपर उल्लेख पाया जाता है। आगम-ग्रन्थोंपर ईसाके पूर्व चौथी शताब्दीमें भद्रबाहुकी दश निर्युक्तियोंमें भी इन्हीं विचारोंको विशेष रूपसे प्रस्फुटित किया गया है। इसके पश्चात् ईसवी सन् प्रथम शताब्दीके आचार्य उमास्वातिके तत्त्वार्थाधिगमसूत्र और तत्त्वार्थभाष्यमें अनेकान्तवाद और विशेषकर नयवादकी चर्चा विस्तृत रूपमें पायी जाती है। यहाँ अर्पित, अनर्पित, नयोंके भेद और उपभेदोंका वर्णन विस्तारसे किया गया है। परन्तु यहाँ तक स्याद्वादके सात भंगोंके नामोंका उल्लेख नहीं मिलता।

इन सात भंगोंका नाम सर्वप्रथम हमें कुन्दकुन्दके पंचास्तिकाय और प्रवचनसारमें दिखाई पड़ता है। यहाँ सात भंगोंके केवल नाम एक गाथामें गिना दिये गये हैं। जान पड़ता है कि इस समय जैन आचार्य अपने सिद्धांतोंपर होनेवाले प्रतिपक्षियोंके कर्कश तर्कप्रहारसे सतर्क हो गये थे, और इसीलिये बौद्धोंके शून्यवादकी तरह जैन श्रमण अनेकांतवादको सप्तभंगीका तार्किकरूप देकर जैन सिद्धान्तोंकी रक्षाके लिये प्रवृत्तिशील होने लगे थे। इसके पूर्व सप्तभंगी नयवाद अथवा अधिकसे अधिक स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्य इन तीन मूल भंगोंके रूपमें ही पाया जाता है। स्याद्वादको प्रस्फुटित करनेवाले जैन आचार्योंमें ईसवी सन्की चौथी शताब्दीके विद्वान् सिद्धसेन दिवाकर और समंतभद्रका नाम सबसे महत्वपूर्ण है। ये दोनों अपूर्व प्रतिभाशाली उच्च कोटिके दार्शनिक विद्वान थे। इन विद्वानोंने जैन तर्कशास्त्रपर सन्मतितर्क, न्यायावतार, युक्त्यनुशासन, आप्तमीमांसा आदि स्वतंत्र ग्रन्थोंकी रचना की। सिद्धसेन और समंतभद्रने अनेक प्रकारके दृष्टांतोंसे और नयोंके सापेक्ष वर्णनसे स्याद्वादका अभूतपूर्व ढंगसे प्रतिपादन किया, तथा जैनेतर सम्पूर्ण दृष्टियोंको अनेकान्त दृष्टिके अंशमात्र प्रतिपादन कर[3] मिथ्यादर्शनोंके समूहको जैनदर्शन बताते हुए[4] अपनी सर्वसमन्वयात्मक उदार भावनाका परिचय दिया। इनके बाद ईसाकी चौथी-पाँचवी शताब्दीमें मल्लवादि और जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण नामके श्वेताम्बर विद्वानोंका प्रादुर्भाव हुआ। मल्लवादि अपने समयके महान तार्किक विदान

---

१. सुया, एगे वि अहं दुवे वि अहं जाव अणेगभूयभावभविए वि अहं।
से केणट्ठाणं भंते, एगे वि अहं जाव।
सुया, दव्वट्ठाए एगे अहं, नाणदंसणट्ठाए दुवे वि अहं, पाएसट्ठाए अक्खए वि अहं अव्वए वि अहं, अव्वट्ठिए वि अहं उपओगट्ठाए अणेगभूयभावभविए वि अहं। ज्ञातृधर्मकथा ५–४६, पृ० १०७।
उ. यशोविजयजीने इसी भावको निम्न रूपसे व्यक्त किया है—
यथाह सोमिलप्रश्ने जिनः स्याद्वादसिद्धये।
द्रव्यार्थादहमेकोऽस्मि दृग्ज्ञानार्थाद्उभावपि॥
अक्षयश्चाव्ययश्चास्मि प्रदेशार्थविचारतः।
अनेकभूतभावात्मा पर्यायार्थपरिग्रहात्॥ अध्यात्मसार।

२. आया भंते, रयणप्पभा पुढवी अन्ना रयणप्पभा पुढवी?
गोयमा, रयणप्पभा सिय आया, सिय नो आया,
सिय अवत्तव्वं आया तिय नो आया तिय। भगवती १२–१०, पृ. ५९२।

३. उदधाविव सर्वसिंधवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः॥ द्वा० द्वात्रिंशिका ०-१५।

४. भद्दं मिच्छादंसणसमूहमइयस अमयसारस्स।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहादिमग्गस्स॥ सन्मतितर्क, ३-६५।

समझे जाते थे। इन्होंने अनेकांतवादका प्रतिपादन करनेके लिये नयचक्र आदि ग्रन्थोंकी रचना की। जिनभद्रगणि श्वेताम्बर आगमोंके मर्मज्ञ पण्डित थे, इन्होंने विशेषावश्यकभाष्य आदि शास्त्रोंकी रचना की। जिनभद्रने प्रायः सिद्धसेन दिवाकरकी शैलीका ही अनुसरण किया। इन विद्वानोंके पश्चात् ईसाकी आठवीं-नौवीं शताब्दीमें अकलंक और हरिभद्रका नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। इन विद्वानोंने स्याद्वादका नाना प्रकारसे ऊहापोहात्मक सूक्ष्मातिसूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन कर स्याद्वादको सांगोपांग परिपूर्ण बनाया।[1] इस समय प्रतिपक्षी लोग अनेकांतवादपर अनेक प्रहार करने करने लगे थे। कोई लोग अनेकांतको संशय कहते थे, कोई केवल छलका रूपान्तर कहते थे, और कोई इसमें विरोध, अनवस्था आदि दोषोंका प्रतिपादन इसका खंडन करते थे। ऐसे समयमें अकलंक और हरिभद्रने तत्त्वार्थराजवार्तिक, सिद्धविनिश्चय, अनेकांतजयपताका, शास्त्रवार्तासमुच्चय आदि ग्रन्थोंका निर्माण कर योग्यतापूर्वक उक्त दोषोंका निवारण किया, और अनेकांतकी जयपताका फहराई। ईसाकी नौवीं शताब्दीमें विद्यानन्द और माणक्यनन्दि सुविख्यात दिगम्बर विद्वान् हो गये हैं। विद्यानन्द अपने समयके बड़े भारी नैयायिक थे। इन्होंने कुमारिल आदि वैदिक विद्वानोंके जैनदर्शनपर होनेवाले आक्षेपोंका बड़ी योग्यतासे परिहार किया है। विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री, आप्तपरीक्षा आदि ग्रन्थोंको लिखकर अनेक प्रकारसे तार्किक शैलीद्वारा स्याद्वादका प्रतिपादन और समर्थन किया है। माणिक्यनन्दिने सर्वप्रथम जैन न्यायको परीक्षामुखके सूत्रोंमें गूंथ अपनी अलौकिक प्रतिभाका परिचय देकर जैनन्यायको समुन्नत बनाया है। ईसाकी दसवीं-ग्यारहवी शताब्दीमें होनेवाले प्रभाचन्द्र और अभयदेव महान तार्किक विद्वान थे। इन विद्वानोंने सन्मतितर्कटीका (वादमहार्णव), प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्रोदय आदि जैनन्यायके ग्रन्थोंकी रचना कर जैनदर्शनकी महान सेवा की है। इन विद्वानोंने सौत्रांतिक, वैभाषिक, विज्ञानवाद, शून्यवाद, ब्रह्माद्वैत, शब्दादैत आदि वादोंका समन्वय करके स्याद्वादका नैयायिक पद्धतिसे प्रतिपादन किया है। इनके पश्चात् ईसाकी बारहवीं शताब्दीमें वादिदेवसूरि और कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्रका नाम आता है। वादिदेव वादशक्तिमें असाधारण माने जाते थे। वादिदेवने स्याद्वादका स्पष्ट विवेचन करनेके लिए प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार, स्याद्वादरत्नाकर आदि ग्रन्थ लिखे हैं। हेमचन्द्र अपने समयके असाधारण पुरुष थे। इन्होंने अन्ययोगव्यवच्छेदिका, अयोगव्यवच्छेदिका, प्रमाणमीमांसा आदि ग्रन्थ लिखकर अपूर्व ढंगसे स्याद्वादकी सिद्धिकर जैनदर्शनके सिद्धातोंको पल्लवित किया है। ईसवी सन्‌की सतरहवीं-अठारहवीं शताब्दीमें उपाध्याय यशोविजय और पंडित विमलदास जैनदर्शनके अन्तिम विद्वान हो गये हैं। उपाध्याय यशोविजयजी जैन परम्परामें लोकोत्तर प्रतिभाके धारक असाधारण विद्वान थे। इन्होंने योग, साहित्य, प्राचीन न्याय आदिका गंभीर पांडित्य प्राप्त करनेके साथ नव्य न्यायका भी पारायण किया था। स्याद्वादके द्वारा अभूतपूर्व ढंगसे सम्पूर्ण दर्शनोंका समन्वय करके स्याद्वादको 'सार्वतांत्रिक' सिद्ध करना, यह उपाध्यायजीकी ही प्रतिभाका सूचक है।[2] यशोविजयजीने शास्त्रवार्तासमुच्चयकी स्याद्वादकल्पलताटीका, नयोपदेश, नयरहस्य, नयप्रदीप, न्यायखंडखाद्य, न्यायालोक, अष्टसहस्रीटीका आदि अनेक ग्रंथोंकी रचना की है। पं. विमलदास दिगम्बर विद्वान थे। इन्होंने नव्य न्यायको अनुकरण करनेवाली भाषामें सप्तभंगीतरंगिणी नामक स्वतंत्र ग्रंथकी संक्षिप्त और सरल भाषामें रचना करके एक महान क्षतिकी पूर्ति की है।

स्याद्वादका जैनेतर साहित्यमें स्थान—किसी वस्तुको भिन्न भिन्न अपेक्षाओंसे विविध रूपमें दर्शन करनेके स्याद्वादसे मिलते जुलते सिद्धांत जैन साहित्यके अतिरिक अन्यत्र भी उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेदमें कहा

---

१. देखिये तत्त्वार्थराजवार्तिकमें 'प्रमाणनयैरधिगमः' सूत्रकी व्याख्या, तथा अनेकांतजयपताका।

२. तुलनीय—ब्रुवाणा भिन्नभिन्नार्थान्नयभेदव्यपेक्षया।
प्रतिक्षिपेयुर्नो वेदाः स्याद्वादं सार्वतांत्रिकम् ॥ ५१ ॥ अध्यात्मसार।

गया है, 'उस समय सत् भी नहीं था और असत् भी नहीं था'[1]। ईशावास्य, कठ, प्रश्न, श्वेताश्वतर आदि प्राचीन उपनिषदोंमें भी 'वह हिलता है और हिलता भी नहीं है, वह अणुसे छोटा है और बड़ेसे बड़ा है, सत् भी है, असत् भी है[2]' आदि प्रकारसे विरुद्ध नाना गुणोंकी अपेक्षा ब्रह्मका वर्णन किया गया है। भारतीय षट्दर्शनकारोंने भी इस प्रकारके विचारोंका प्रतिपादन किया है। उदाहरणके लिये, वेदान्तमें अनिर्वचनीयवाद[3], कुमारिलका सापेक्षवाद, बौद्धका मध्यममार्ग[4] आदि सिद्धांत स्याद्वादसे मिलते जुलते विचारोंका ही समर्थन करते है[5]। ग्रीक दर्शनमें भी एम्पीडोक्लीज़ (Empedocles), एटोमिस्ट्स (Atomists) और अनैक्सागोरस (Anaxagoras) दार्शनिकोंने इलिअटिक्स (Eleatics) के नित्यत्ववाद और हेरेक्लिटस (Hereclitus) के क्षणिकवादका समन्वय करते हुए पदार्थोंके नित्य दशामें रहते हुए भी आपेक्षिक

---

१. नासदासीन्न सदासीत्तदानीम्। ऋग्वेद। १०-१२९-१।
यद्यपि सदसदात्मकं प्रत्येकं विलक्षणं भवति तथापि भावाभावयोः सहवस्थानमपि संभवति। सायण भाष्य।

उ. यशोविजयजीका कथन है कि वेदोंमें भी स्याद्वादका विरोध नहीं किया गया है। देखिये इसी पृष्ठकी टि. १।

२. तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तदन्तिके। ईशो ५। अणोरणीयान् महतो महीयान्। कठ. २-२०। सदसद्वरेण्यं-मृतं च यत्। प्रश्न २-५।

३. प्रो. ध्रुवने वेदान्त और जैन दर्शनकी तुलना करते हुए लिखा है--While the Vedantin sees intellectual peace in the absolute by transcending the antinomies of intellect, the Jain finds it in the fact of the relativity of knowledge and the consequent revelation of the many-sidedness of reality—the one leading to religious mysticism, the other to intellectual toleration.

प्रो. ध्रुव, स्याद्वादमंजरी, प्रस्तावना, पृ. XII.

४. तुलनीय—अस्तीति काश्यपो अयं एकोऽन्तः नास्तीति काश्यपो अयं एकोऽन्तः यदनयोर्द्वयोः अन्तयोर्मध्यं तदरूप्यं अनिदर्शनं अप्रतिष्ठं अनाभासं अनिकेतं अविज्ञप्तिकं यमुच्यते काश्यपः मध्यमप्रतिपदधर्माणां। काश्यपपरिवर्तन महायानसूत्र।

५. नैयायिक आदि दार्शनिकोंने किस प्रकारसे स्याद्वादके सिद्धांतको स्वीकार किया है, इसके विशेष जाननेके लिये देखिये षड्दर्शनसमुच्चय, गुणरत्नटीका, पृ. ९६-९८; दर्शन और अनेकांतवाद। तथा—

इच्छन् प्रधानं सत्वाद्यैर्विरुद्धैर्गुंफितं गुणैः।
सांख्यः संख्यावतां मुख्यो नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत्॥
चित्रमेकमनेकं च रूपं प्रामाणिकं वदन्।
योगो वैशेषिको वाऽपि नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत्॥
प्रत्यक्षं भिन्नमात्रंशे मेयांशो तद्विलक्षणम्।
गुरुर्ज्ञानं वदन्नेकं नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत्॥
जातिव्यक्त्यात्मकं वस्तु वदन्ननुभवोचिम्४।
भट्टो वापि मुरारिर्वा नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत्॥
अबद्धं परमार्थेन बद्धं च व्यवहारतः।
ब्रुवाणो ब्रह्मवेदान्ती नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत्॥
ब्रुवाणा भिन्नभिन्नार्थान्नयभेदव्यपेक्षया।
प्रतिक्षिपेयुर्नो वेदाः स्याद्वादं सार्वतांत्रिकम्।

अध्यात्मसार ४५-५१।

परिवर्तन (relative change) स्वीकार किया है।[१] ग्रीकके महान् विचारक प्लेटोने भी इसी प्रकारके विचार प्रगट किये है[२]। पश्चिमके आधुनिक दर्शनमें भी इस प्रकारके समान विचारोंकी कमी नहीं है। उदाहरणके लिये, जर्मनीके प्रकाण्ड तत्ववेत्ता हेगेल (Hegel) का कथन है कि विरुद्धधर्मात्मकता ही संसारका मूल है। किसी वस्तुका यथार्थ वर्णन करनेके लिये हमें उस वस्तु संबंधी संपूर्ण सत्य कहनेके साथ उस वस्तुके विरुद्ध धर्मोका किस प्रकार समन्वय हो सकता है, यह प्रतिपादन करना चाहिये[3]। नये विज्ञानवाद (New Idealism) के प्रतिपादक ब्रैडलेके अनुसार, प्रत्येक वस्तु दूसरी वस्तुओंसे तुलना किये जानेपर आवश्यक और अनावश्यक दोनों सिद्ध होती है। संसार कोई भी पदार्थ नगण्य अथवा अकिंचित्कर नहीं कहा जा सकता। अतएव प्रत्येक तुच्छसे तुच्छ विचारमें और छोटीसे छोटी सत्तामें सत्यता विद्यमान है[४]। आधुनिक दार्शनिक जोअचिम (Joachim) का कहना है कि कोई भी विचार स्वतः ही, दूसरे विचारसे सर्वथा अनपेक्षित होकर केवल अपनी ही अपेक्षासे सत्य नहीं कहा जा सकता। उदाहरणके लिये, तीनसे तीनको गुणा करनेपर नौ होता है (३ × ३ = ९), यह सिद्धान्त एक बालकके लिये सर्वथा निष्प्रयोजन है, परन्तु इसे पढ़कर एक विज्ञानवेत्ताके सामने गणितशास्त्रके विज्ञानका सारा नक्शा सामने आ जाता है[५]। मानसशास्त्र

१. There are beings or particles of rerlity that are permanent, original, imperishable, underived, and these can not change into anything else. They are what they are and must remain so, just as the Eleatic school maintains. These beings, of particles of realies howeveer, can be combined, and separatu, that is, form bodies that can again be resolved into their elements. The original bits of reality can not be created or destroyed or ehange thejr nature, but they can change their relations in respect to each other. And that is what we mean by change.

Thilly : History of Philosophy, पृ. ३२।

२. When we speak of not being, we speak, I suppose not of something opposed to being, but only different.—Dialogues of Plato.

३. Reality is now this, now that; in this sense it is full of negations, contradictions, and oppositons : the plant germinates, blooms, withers and dies; man is young mature and old. To do a thing justice, we must tell the whole truth about it, predicate all those contradictions of it, and show how they are reconciled and preserved in the articulated whole which we call the life of the thing.

Thilly : History of Philosophy, पृ. ४६७।

४. Everything is essentiral and everything worthless in comparison with other. Now where is there even a slngle fact so fragmentary and so poor that to the univeres it does not matter. There is truth in every idea however false, there is reality in every existence however slight.

Appearance and Reality पृ. ४८७।

५. No judgment is true in itself and by itself. Every judgment as a piece of concrete thinking is informed, conditioned to some extent, constituted by the apperceipient character of the mind. Nature of Truth, अ. ३., पृ. ९२–३।

वेत्ता प्रो. विलियम जेम्स (W. James) ने भी लिखा है, हमारी अनेक दुनिया हैं। साधारण मनुष्य इन सब दुनियाओंका एक दूसरेसे असम्बद्ध तथा अनपेक्षित रूपसे ज्ञान करता है। पूर्ण तत्त्ववेत्ता वही है, जो सम्पूर्ण दुनियाओंसे एक दूसरेसे सम्बन्ध और अपेक्षित रूपमें जानता है[1]। इसी प्रकारके विचार पेरी[2] (Perry), नैयायिक जोसेफ (Joseph), एडमन्ड होम्स[3] (Edmund Holms) प्रभृति विद्वानोंने प्रकट किये हैं[4]।

स्याद्वाद और समन्वय दृष्टि—स्याद्वाद सम्पूर्ण जैनेतर दर्शनोंका समन्वय करता है। जैन दर्शनकारोंका कथन है कि सम्पूर्ण दर्शन नयवादमें गर्भित हो जाते हैं, अतएव सम्पूर्ण दर्शन नयकी अपेक्षासे सत्य हैं। उदाहरणके लिये, ऋजूसूत्रनयकी अपेक्षा बौद्ध, संग्रहनयकी अपेक्षा वेदान्त, नैगमनयकी अपेक्षा न्याय-वैशेषिक, शब्दनयकी अपेक्षा शब्दब्रह्मवादी, तथा व्यवहारनयकी अपेक्षा चार्वाक दर्शनोंको सत्य कहा जा सकता[5] है। ये नयरूप समस्त दर्शन परस्पर विरुद्ध होकर भी समुदित होकर सम्यक्त्व रूप कहे जाते हैं। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न मणियोंके एकत्र गूंथे जानेसे सुन्दर माला तैयार हो जाती है, उसी तरह जिस सयय भिन्न-भिन्न दर्शन सापेक्ष वृत्ति धारण कर एक होते हैं,-उस समय ये जैन दर्शन कहे जाते हैं। अतएव जिस प्रकार धन, धान्य आदि वस्तुओंके लिए विवाद करनेवाले पुरुषोंको कोई साधु पुरुष समझा बुझाकर शांत कर देता है, उसी तरह स्याद्वाद परस्पर एक दूसरेके ऊपर आक्रमण करनेवाले दर्शनोंको सापेक्ष सत्य मानकर सबका समन्वय करता है। इसीलिये जैन विद्वानोंने जिन भगवानके वचनोंको 'मिथ्यादर्शनोंका समूह मानकर' अमृतका सार बताया हैं। उपाध्याय यशोविजयजीके शब्दोंमें, "सच्चा अनेकांतवादी किसी भी दर्शनसे द्वेष नहीं करता। वह सम्पूर्ण नयरूप दर्शनोंको इस प्रकारसे वात्सल्य दृष्टिसे देखता है, जैसे कोई पिता अपने पुत्रोंको देखता है। क्योंकि अनेकान्तवादीको न्यूनाधिक बुद्धि नहीं हो सकती। वास्तव में सच्चा शास्त्रज्ञ कहे जानेका अधिकारी वही है, जो स्याद्वादका अवलंबन लेकर सम्पूर्ण दर्शनोंमें समान भाव रखता है। वास्तवमें माध्यस्थ भाव ही शास्त्रोंका गूढ़ रहस्य है, यही धर्मवाद है। माध्यस्थ भाव रहनेपर शास्त्रोंके एक पदका ज्ञान भी सफल है, अन्यथा करोड़ों

---

१. The Principles of Psychology, vol. 1, अ. २०, पृ. २६१।

२. Present Philosophical Tendencies, Chipter on Realism.

३. Introduction to Logic, पृ. १७२-३१

४. Let us take the antithesis of the swift and the slow. It would be nonsense to say that every movement is either swift or slow. It would be nearer the truth to say that every movement is both swift and slow, swift by comparison with what is slower than itself, slow by comparison with what is swifter than itself. In tht Quest of Ideal, पृ. २१।
'स्याद्वादपर एक ऐतिहासिक दृष्टि' तथा 'स्याद्वादका जैनेतर साहित्यमें स्थान' ये दोनों शीर्षक लेखक के विशालभारत, मार्च १९३३ के अंकमें प्रकाशित 'जैनदर्शनमें अनेकान्तपद्धतिका विकासक्रम' नामक लेखके आधारसे लिखे गये हैं। वह लेख The Hisory and Development of Anekahtaveda in Jain philosophy के नामसे पूनासे प्रकाशित होनेवाले Review of Philosophy and Religion, मार्च १९३५ के अंकमें अंग्रेजीमें भी प्रकाशित हुआ है।

५. बौद्धानामृजुसूत्रतो मतमभूद्वेदान्तिनां संग्रहात्।
सांख्यानां तत एव नैगमनयाद् योगश्च वैशेषिकः॥
शब्दब्रह्मविदोऽपि शब्दनयतः सर्वैर्नयैर्गुंफिता।
जैनी दृष्टिरितीह सारतरता प्रत्यक्षमुद्वीक्ष्यते॥ अध्यात्मसार, जिनमतिस्तुति।

शास्त्रोंके पढ़ जानेसे भी कोई लाभ नहीं।"[1] निस्सन्देह सच्चा स्याद्वादी सहिष्णु होता है, वह राग-द्वेषरूप आत्माके विकारों पर विजय प्राप्त करनेका सतत प्रयत्न करता है। वह दूसरोंके सिद्धांतोंको आदरकी दृष्टिसे देखता है, और मध्यस्थ भावसे सम्पूर्ण विरोधोंका समन्वय करता है। सिद्धसेन दिवाकरने वेद, सांख्य, न्याय-वैशेषिक, बौद्ध आदि दर्शनोंपर द्वात्रिंशिकाओंकी रचना करके, और हरिभद्रसूरिने षड्दर्शनसमुच्चयमें छह दर्शनोंकी निष्पक्ष समालोचना करके इसी उदार वृत्तिका परिचय दिया है। मल्लवादि, हरिभद्रसूरि, 'रमशेखर, पं० आशाधर, उ. यशोविजय आदि अनेक जैन विद्वानोंने वैदिक और बौद्ध ग्रंथोंपर टीकाटिप्पणियां लिखकर अपनी गुणग्राहिता, समन्वयवृत्ति और हृदयकी विशालताको स्पष्टरूपसे प्रमाणित किया है[2]।

वास्तवमें देखा जाय तो सत्य एक है तथा वैदिक, जैन और बौद्ध दर्शनोंमें कोई परस्पर विरोध नहीं। प्रत्येक दार्शनिक भिन्न-भिन्न देश और कालकी परिस्थितिके अनुसार सत्यके केवल अंश मात्रको ग्रहण करता है। वैदिक धर्म व्यवहारप्रधान है, बौद्ध धर्मको श्रवणप्रधान, और जैनधर्मको कर्तव्यप्रधान कहा जा सकता है।[3] एक दर्शन कर्म, उपासना और ज्ञानको मोक्षका प्रधान कारण कहता है; दूसरा शील, समाधि और प्रज्ञाको; तथा तीसरा सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रको मोक्ष प्रधानका कारण मानता है, परन्तु ध्येय सबका एक ही है। जिस प्रकार सरल और टेढ़े मार्गसे जानेवाली भिन्न-भिन्न नदियाँ अन्तमें जाकर एक ही समुद्रमें मिलती हैं, उसी तरह भिन्न-भिन्न रुचियोंके कारण उद्भव होनेवाले समस्त दर्शन एक ही पूर्ण सत्यमें समाविष्ट हो जाते हैं।[4] षड्दर्शनोंको जिनेन्द्रके अंग कहकर परमयोगी आनंदघनजीने आनन्दघनचौबीसीमें इस भावको निम्न रूप में व्यक्त किया है—

षट्दरसण जिन अंग भणीजे। न्याय षडंग जो साधे रे।
नमिजिनवरना चरण उपासक। षट्दर्शन आराधे रे॥ १॥

जिनसुर पादप पाय बखाणुं। सांख्यजोग दोय भेदें रे।
आतम सत्ता विवरण करता। लहो दुग अंग अखेदें रे॥ २॥

---

१. यस्य सर्वत्र समता नयेषु तनयेष्विव।
तस्यानेकान्तवादस्य क्व न्यूनाधिकशेमुषी॥ ६१॥
तेन स्याद्वादमालंब्य सर्वदर्शनतुल्यतां।
मोक्षोद्देशाविशेषेण यः पश्यति सः शास्त्रवित्॥ ७०॥
माध्यस्थमेव शास्त्रार्थो येन तच्चारु सिध्यति।
स एव धर्मवादः स्यादन्यद्बालिशवल्गनम्॥ ७२॥
माध्यस्थसहितं ह्येकपदज्ञानमपि प्रमा।
शास्त्रकोटिः वृथैवान्या तथा चोक्तं महात्मना॥ ७३॥ अध्यात्मसार।

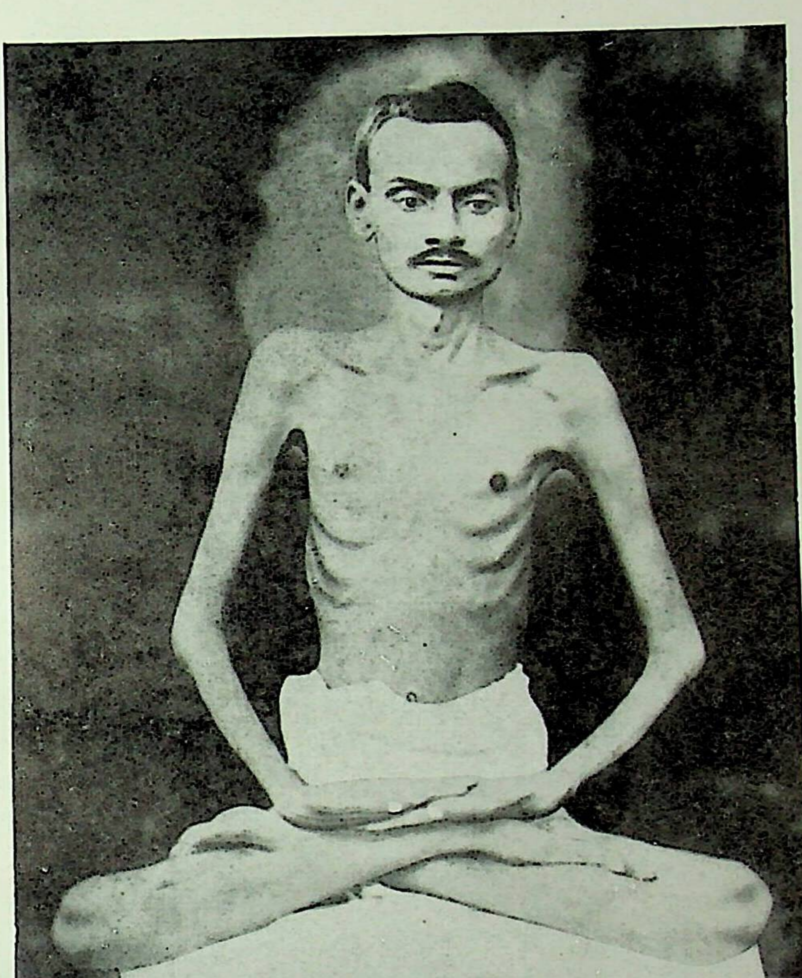
२. सुना गया है कि गुजरातमें जैन विद्वानोंकी ओरसे ब्राह्मणोंके वेदको अपनानेका भी प्रयत्न हुआ था।

३. श्रोतव्यो सौगतो धर्मः कर्तव्यः पुनरार्हतः।
वैदिको व्यवहर्तव्यो ध्यातव्यः परमः शिवः॥ हरिभद्र॥

४. त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति।
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमतः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यात् ऋजुकुटिलनानापथजुषां।
नृणामेको गमयत् त्वमसि पयसामर्णव इव॥ शिवमहिम्न स्तोत्र।

भेद अभेद सुगत मीमांसक । जिनवर दोय कर भारी रे ।
लोकालोक अवलंबन भजिये । गुरुगमथी अवधारी रे ॥ ३ ॥
लोकायतिक कूख जिनवरनी । अंशविचार जो कीजे ।
तत्त्वविचार सुधारस धारा । गुरुगम विण केम पीजे ॥ ४ ॥
जैन जिनेश्वर उत्तम अंग । अंतरंग बहिरंगे रे ।
अक्षरन्यास धरा आराधक । आराधे धरी संगे रे ॥ ५ ॥

इस प्रकार एकतामें विविधता और विविधतामें एकताका दर्शन कर जैन आचार्योंने भारतीय संस्कृतिको समुन्नत बनाया है।



श्रीमद् राजचंद्र ।

जन्म – ववाणीआ
संवत १९२४ कारतक सुद १५

देहोत्सर्ग – राजकोट
संवत १९५७ चैत्र वद ५

अलौकिक अध्यात्मज्ञानी परमतत्त्ववेत्ता

श्रीमद् राजचन्द्र

'खद्योतवत्सुदेष्टारो हा द्योतन्ते क्वचित्क्वचित्'

हा ! सम्यक्तत्त्वोपदेष्टा जुगनूंकी भाँति कहीं-कहीं चमकते हैं, दृष्टिगोचर होते हैं ।

—आशाधर ।

महान् तत्त्वज्ञानियोंको परम्परारूप इस भारतभूमिके गुजरात प्रदेशान्तर्गत ववाणिया ग्राम (सौराष्ट्र) में श्रीमद्राजचन्द्रका जन्म विक्रम सं० १९२४ (सन् १८६७) की कार्तिकी पूर्णिमाके शुभदिन रविवारको रात्रिके २ बजे हुआ था । यह ववाणिया ग्राम सौराष्ट्रमें मोरवीके निकट है ।

इनके पिताका नाम श्रीरवजीभाई पंचाणभाई महेता और माताका नाम श्री देववाई था । आप लोग वहुत भक्तिशील और सेवा-भावी थे । साधु-सन्तोंके प्रति अनुराग; गरीबोंको अनाज कपड़ा देना; वृद्ध और रोगियोंकी सेवा करना इनका सहज-स्वभाव था ।

श्रीमद्जीका प्रेम-नाम 'लक्ष्मीनंदन' था । वादमें यह नाम वदलकर 'रायचन्द' रखा गया और भविष्यमें आप 'श्रीमद्राजचन्द्र' के नामसे प्रसिद्ध हुए ।

श्रीमद्राजचन्द्रका उज्ज्वल जीवन सचमुच किसी भी समझदार व्यक्तिके लिए यथार्थ मुक्तिमार्गकी दिशामें प्रवल प्रेरणाका स्रोत हो सकता है । वे तीव्र क्षयोपशमवान और आत्मज्ञानी सन्तपुरुष थे, ऐसा निस्संदेहरूपसे मानना ही पड़ता है । उनकी अत्यन्त उदासीन सहज वैराग्यमय परिणति तीव्र एवं निर्मल आत्मज्ञान-दशाकी सूचक है ।

श्रीमद्जीके पितामह श्रीकृष्णके भक्त थे, जव कि उनकी माताके जैन-संस्कार थे । श्रीमद्जीको जैन लोगोंके 'प्रतिक्रमणसूत्र' आदि पुस्तकें पढ़नेको मिलीं । इन धर्म-पुस्तकोंमें अत्यन्त विनयपूर्वक जगतके सर्व जीवोंसे मित्रताकी भावना व्यक्त की गई है । इस परसे श्रीमद्जीकी प्रीति जैनधर्मके प्रति बढ़ने लगी । यह वृत्तान्त उनकी तेरह वर्षकी वयका है । तत्पश्चात् वे अपने पिताकी दुकानपर बैठने लगे । अपने अक्षरोंकी छटाके कारण जव-जव उन्हें कच्छ दरवारके महलमें लिखनेके लिए बुलाया जाता था तव-तव वे वहाँ जाते थे । दुकान पर रहते हुए उन्होंने अनेक पुस्तकें पढ़ीं, राम आदिके चरित्रोंपर कविताएँ रचीं, सांसारिक तृष्णा की, फिर भी उन्होंने किसीको कम-अधिक भाव नहीं कहा अथवा किसीको कम-ज्यादा तौलकर नहीं दिया ।

जातिस्मरण और तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति

श्रीमद्जी जिस समय सात वर्षके थे उस समय एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग उनके जीवनमें वना । उन दिनों ववाणियामें अमीचन्द नामके एक गृहस्थ रहते थे जिनका श्रीमद्जीके प्रति बहुत ही प्रेम था । एक दिन अमीचन्दको साँपने काट लिया और तत्काल उनकी मृत्यु हो गई । उनके मरण-समाचार सुनते ही राजचन्द्रजी अपने घर दादाजीके पास दौड़े आये और उनसे पूछा : 'दादाजी, क्या अमीचन्द मर गये ?' वालक राजचन्द्रका ऐसा सीधा प्रश्न सुनकर दादाजीने विचार किया कि इस वातका वालकको पता चलेगा तो डर जायगा अतः उनका ध्यान दूसरी ओर आकर्षित करनेके लिए दादाजीने उन्हें भोजन कर लेनेको कहा और इधर-उधरकी दूसरी बातें करने लगे । परन्तु, वालक राजचन्द्रने मर जानेके बारेमें प्रथमवार ही सुना था इसलिए विशेष जिज्ञासापूर्वक वे पूछ बैठे : 'मर जानेका क्या अर्थ है ?' दादाजीने कहा—उसमेंसे जीव निकल गया है । अब वह चलना-फिरना, खाना-पीना कुछ नहीं कर सकता, इसलिए उसे तालावके पास

स्मशान भूमिमें जला देवेंगे।' इतना सुनकर राजचन्द्रजी थोड़ी देर तो घरमें इधर-उधर घूमते रहे, बादमें चुपचाप तालाबके पास गये और वहाँ बबूलके एक वृक्षपर चढ़कर देखा तो सचमुच कुटुम्बके लोग उसके शरीरको जला रहे हैं। इस प्रकार एक परिचित और सज्जन व्यक्तिको जलाता देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और वे विचारने लगे कि यह सब क्या है! उनके अन्तरमें विचारोंकी तीव्र खलबली-सी मच गई और वे गहन विचारमें डूब गये। इसी समय अचानक चित्तपरसे भारी आवरण हट गया और उन्हें पूर्व भवोंकी स्मृति हो आई। बाद में एक बार वे जूनागढ़का किला देखने गये तब पूर्व स्मृतिज्ञानकी विशेष वृद्धि हुई[1]। इस पूर्व-स्मृतिरूप-ज्ञानने उनके जीवनमें प्रेरणाका अपूर्व नवीन—अध्याय जोड़ा। श्रीमद्जीकी पढ़ाई विशेष नहीं हो पाई थी फिर भी, वे संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओंके ज्ञाता थे एवं जैन आगमोंके असाधारण वेत्ता और मर्मज्ञ थे। उनकी क्षयोपशम-शक्ति इतनी विशाल थी कि जिस काव्य या सूत्रका मर्म बड़े-बड़े विद्वान् लोग नहीं बता सकते थे उसका यथार्थ विश्लेषण उन्होंने सहजरूपमें किया है[2]। किसी भी विषयका सांगोपांग विवेचन करना उनके अधिकारकी बात थी[3]। उन्हें अल्प-वयमें ही तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो गई थी, जैसा कि उन्होंने स्वयं एक काव्यमें लिखा है—

लघुवयथी अद्भुत थयो, तत्त्वज्ञाननो बोध।
एज सूचवे एम के, गति आगति कां शोध?
जे संस्कार थवा घटे, अति अभ्यासे कांय,
विना परिश्रम ते थयो, भवशंका शी त्यांय?

—अर्थात् छोटी अवस्थामें मुझे अद्भुत तत्त्वज्ञानका बोध हुआ है, यही सूचित करता है कि अब पुनर्जन्मके शोधकी क्या आवश्यकता है? और जो संस्कार अत्यन्त अभ्यासके द्वारा उत्पन्न होते हैं वे मुझे बिना किसी परिश्रमके ही प्राप्त हो गये हैं, फिर वहाँ भव-शंकाका क्या काम? (पूर्वभवके ज्ञानसे आत्माकी श्रद्धा निश्चल हो गई है।)

अवधान-प्रयोग, स्पर्शनशक्ति

श्रीमद्जीकी स्मरणशक्ति अत्यन्त तीव्र थी। वे जो कुछ भी एक बार पढ़ लेते, उन्हें ज्यों का त्यों याद रह जाता था। इस स्मरणशक्तिके कारण वे छोटी अवस्थामें ही अवधान-प्रयोग करने लगे थे। धीरे-धीरे वे सौ अवधान तक पहुँच गये थे। वि० सं० १९४३ में १९ वर्षकी अवस्थामें उन्होंने बम्बईकी एक सार्वजनिक सभामें डॉ० पिटर्सनके सभापतित्वमें सौ अवधानोंका प्रयोग बताकर बड़े-बड़े लोगोंको आश्चर्यमें डाल दिया था। उस समय उपस्थित जनताने उन्हें 'सुवर्णचन्द्रक' प्रदान किया, साथही 'साक्षात् सरस्वती' के पदसे भी विभूषित किया था। ई० सन् १८८६–८७ में 'मुंबई समाचार' 'जामे जमशेद' 'गुजराती' 'पायोनियर' 'इण्डियन स्पॅक्टेटर' 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' आदि गुजराती एवं अंग्रेजी पत्रोंमें श्रीमद्जीकी अद्भुत शक्तियोंके बारेमें भारी प्रशंसात्मक लेख छपे थे। शतावधानमें शतरंज खेलते जाना, मालाके दाने गिनते जाना, जोड़ बाकी गुणा करते जाना, आठ भिन्न-भिन्न समस्याओंकी पूर्ति करते जाना, सोलह भाषाओंके भिन्न-भिन्न क्रमसे उलटे-सीधे नम्बरोंके साथ शब्दोंको याद रखकर वाक्य बनाते जाना, दो कोठोंमें लिखे हुए उल्टे-सीधे अक्षरोंसे कविता करते जाना, कितने ही अलंकारोंका विचार करते जाना, इत्यादि सौ कामोंको एक ही साथ कर सकते थे।

---

१. इस प्रसंगकी चर्चा कच्छके एक वणिक बंधु पदमशीभाई ठाकरशीके पूछनेपर बम्बईमें भूलेश्वरके दि० जैन मन्दिरमें सं० १९४२ में श्रीमद्जीने की।

२. देखिए पं० बनारसीदासजीके 'समता रमता उरधता०' पद्यका विवेचन 'श्रीमद्राजचन्द्र' (गुजराती) पत्रांक ४३८।

३. आनंदघन चौवीसीके कुछ पद्योंका विवेचन उपरोक्त ग्रन्थ में पत्रांक ७५३।

श्रीमद्‌जीकी स्पर्शनशक्ति भी अत्यन्त विलक्षण थी। उपरोक्त सभामें ही उन्हें भिन्न-भिन्न प्रकारके बारह ग्रन्थ दिये गये और उनके नाम भी उन्हें पढ़कर सुना दिये गये। बादमें उनकी आँखों पर पट्टी बाँधकर जो-जो ग्रन्थ उनके हाथ पर रखे गये उन सब ग्रन्थोंके नाम हाथोंसे टटोलकर उन्होंने बता दिये।

श्रीमद्‌जीकी इस अद्‌भुतशक्तिसे प्रभावित होकर उस समयके बम्बई हाइकोर्टके मुख्य न्यायाधीश सर चार्ल्स सारजंटने उन्हें विलायत चलकर अवधान-प्रयोग दिखानेकी इच्छा प्रगट की थी, परन्तु श्रीमद्‌जीने इसे स्वीकार नहीं किया। उन्हें कीर्तिकी इच्छा नहीं थी, बल्कि ऐसी प्रवृत्तियोंको आत्मकल्याणके मार्गमें बाधक जानकर फिर उन्होंने अवधान-प्रयोग नहीं किये।

महात्मा गाँधी ने कहा था—

महात्मा गांधीने उनकी स्मरणशक्ति और आत्मज्ञानसे जो अपूर्व प्रेरणा प्राप्त की वह संक्षेपमें उन्हींके शब्दोंमें—

"रायचन्द्रभाईके साथ मेरी भेंट जुलाई सन् १८९१ में उस दिन हुई जब मैं विलायतसे बम्बई वापिस लौटा। इन दिनों समुद्रमें तूफान आया करता है इस कारण जहाज रातको देरीसे पहुँचा। मैं डाक्टर बैरिस्टर और अब रंगूनके प्रख्यात जौहरी प्राणजीवनदास महेताके घर उतरा था। रायचन्द्रभाई उनके बड़े भाईके जमाई होते थे। डॉक्टर सा० (प्राणजीवनदास) ने ही परिचय कराया। उनके दूसरे बड़े भाई झवेरी रेवाशंकर जगजीवनदासकी पहचान भी उसी दिन हुई। डाक्टर सा० ने रायचन्दभाईका 'कवि' कहकर परिचय कराया और कहा, 'कवि' होते हुए भी आप हमारे साथ व्यापारमें हैं, आप ज्ञानी और शतावधानी हैं। किसीने सूचना की कि मैं उन्हें कुछ शब्द सुनाऊँ, और वे शब्द चाहे किसी भी भाषाके हों, जिस क्रमसे मैं बोलूँगा उसी क्रमसे वे दुहरा जावेंगे, मुझे यह सुनकर आश्चर्य हुआ। मैं तो उस समय जवान और विलायतसे लौटा था; मुझे भाषाज्ञानका भी अभिमान था। मुझे विलायतकी हवा भी कम नहीं लगी थी। उन दिनों विलायतसे आया मानों आकाशसे उतरा था! मैंने अपना समस्त ज्ञान उलट दिया और अलग-अलग भाषाओंके शब्द पहले तो मैंने लिख लिये, क्योंकि मुझे वह क्रम कहाँ याद रहने वाला था? और बादमें उन शब्दोंको मैं बाँच गया। उसी क्रमसे रायचंदभाईने धीरेसे एकके बाद एक सब शब्द कह सुनाये। मैं राजी हुआ, चकित हुआ और कविकी स्मरणशक्तिके विषयमें मेरा उच्च विचार हुआ। विलायतकी हवाका असर कम पड़नेके लिए यह सुन्दर अनुभव हुआ कहा जा सकता है।........कविके साथ यह परिचय बहुत आगे बढ़ा........कवि संस्कारी ज्ञानी थे।

मुझपर तीन पुरुषोंने गहरा प्रभाव डाला है—टाल्सटॉय, रस्किन और रायचंदभाई! टाल्सटॉयने अपनी पुस्तकों द्वारा और उनके साथ थोड़े पत्रव्यवहारसे, रस्किनने अपनी एक ही पुस्तक 'अन्टु दिस लास्ट' से—जिसका गुजराती नाम मैंने 'सर्वोदय' रखा है, और रायचन्दभाईने अपने गाढ़ परिचयसे। जब मुझे हिन्दूधर्ममें शंका पैदा हुई उस समय उसके निवारण करनेमें मदद करने वाले रायचन्दभाई थे। सन् १८९३ में दक्षिण अफ्रीकामें मैं कुछ क्रिश्चियन सज्जनोंके विशेष सम्पर्कमें आया। उनका जीवन स्वच्छ था। वे चुस्त धर्मात्मा थे। अन्य-धर्मियोंको क्रिश्चियन होनेके लिए समझाना उनका मुख्य व्यवसाय था। यद्यपि मेरा और उनका सम्बन्ध व्यावहारिक कार्यको लेकर ही हुआ था, तो भी उन्होंने मेरे आत्माके कल्याणके लिये चिन्ता करना शुरू कर दिया। उस समय मैं अपना एक ही कर्तव्य समझ सका कि जब तक मैं हिन्दूधर्मके रहस्यको पूरी तौरसे न जान लूँ और उससे मेरे आत्माको असंतोष न हो जाय, तबतक मुझे अपना कुलधर्म कभी नहीं छोड़ना चाहिये। इसलिये मैंने हिन्दूधर्म और अन्य धर्मोंकी पुस्तकें पढ़ना शुरू कर दीं। क्रिश्चियन और इस्लामधर्मकी पुस्तकें पढ़ीं। विलायतसे अंग्रेज मित्रोंके साथ पत्रव्यवहार किया। उनके समक्ष अपनी शंकायें रक्खीं तथा हिन्दुस्तानमें जिनके ऊपर मुझे कुछ भी श्रद्धा थी उनसे पत्रव्यवहार किया। उनमें रायचन्दभाई मुख्य थे। उनके साथ तो मेरा अच्छा सम्बन्ध हो चुका था, उनके प्रति मान भी था, इसलिए उनसे जो भी

मिल सके उसे लेनेका मैंने विचार किया। उसका फल यह हुआ कि मुझे शान्ति मिली। हिन्दूधर्ममें मुझे जो चाहिये वह मिल सकता है, ऐसा मनको विश्वास हुआ। मेरी इस स्थितिके जिम्मेदार रायचन्दभाई हुए, इससे मेरा उनके प्रति कितना अधिक मान होना चाहिये इसका पाठक लोग अनुमान कर सकते हैं।"

इस प्रकार उसके प्रबल आत्मज्ञानके प्रभावके कारण ही महात्मा गांधीको सन्तोष हुआ और उन्होंने धर्मपरिवर्तन नहीं किया[1]।

और भी वर्णन करते हुये गाँधीजीने उनके बारेमें लिखा है :

"श्रीमद्राजचन्द्र असाधारण व्यक्ति थे। उनके लेख उनके अनुभवके बिन्दु समान हैं। उन्हें पढ़ने-वाले, विचारनेवाले और उसके अनुसार आचरण करनेवालेको मोक्ष सुलभ होवे। उसकी कषायें मन्द पड़ें, उसे संसारमें उदासीनता आवे, वह देहका मोह छोड़कर आत्मार्थी बने।

इस परसे वांचक देखेंगे कि श्रीमद्के लेख अधिकारीके लिए उपयोगी हैं। सभी वांचक उसमें रस नहीं ले सकते। टीकाकारको उसकी टीकाका कारण मिलेगा परन्तु श्रद्धावान तो उसमें से रस ही लूटेगा। उनके लेखोंमें सत् निथर रहा है, ऐसा मुझे हमेशा भास हुआ है। उन्होंने अपना ज्ञान दिखानेके लिये एक भी अक्षर नहीं लिखा। लिखनेका अभिप्राय वांचकको अपने आत्मानन्दमें भागीदार बनानेका था। जिसे आत्मक्लेश टालना है, जो अपना कर्तव्य जाननेको उत्सुक है उसे श्रीमद्के लेखोंमेंसे बहुत मिल जायगा ऐसा मुझे विश्वास है, फिर भले वह हिन्दू हो या अन्य धर्मी।

....जो वैराग्य (अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ?) इस काव्यकी कड़ियोंमें झलक रहा है वह मैंने उनके दो वर्षके गाढ़ परिचयमें प्रतिक्षण उनमें देखा था। उनके लेखोंकी एक असाधारणता यह है कि स्वयं जो अनुभव किया वही लिखा है। उसमें कहीं भी कृत्रिमता नहीं है। दूसरे पर प्रभाव डालनेके लिये एक पंक्ति भी लिखी हो ऐसा मैंने नहीं देखा....।

खाते, बैठते, सोते, प्रत्येक क्रिया करते उनमें वैराग्य तो होता ही। किसी समय इस जगत्के किसी भी वैभवमें उन्हें मोह हुआ हो ऐसा मैंने नहीं देखा।

उनकी चाल धीमी थी और देखनेवाला भी समझ सकता कि चलते हुये भी ये अपने विचारमें ग्रस्त हैं। आँखोंमें चमत्कार था अत्यन्त तेजस्वी, विह्वलता जरा भी नहीं थी। दृष्टिमें एकाग्रता थी। चेहरा गोलाकार, होंठ पतले, नाक नोंकदार भी नहीं चपटी भी नहीं, शरीर इकहरा, कद मध्यम, वर्ण श्याम, देखाव शांत मूर्तिका-सा था। उनके कण्ठमें इतना अधिक माधुर्य था कि उन्हें सुनते हुए मनुष्य थके नहीं। चेहरा हँसमुख और प्रफुल्लित था, जिस पर अन्तरानन्दकी छाया थी। भाषा इतनी परिपूर्ण थी कि उन्हें अपने विचार प्रगट करनेके लिये कभी शब्द ढूँढ़ना पड़ा है, ऐसा मुझे याद नहीं। पत्र लिखने बैठें उस समय कदाचित् ही मैंने उन्हें शब्द बदलते देखा होगा, फिर भी पढ़ने वालेको ऐसा नहीं लगेगा कि कहीं भी विचार अपूर्ण है या वाक्य-रचना खंडित है, अथवा शब्दोंके चुनावमें कमी है।

यह वर्णन संयमीमें संभवित है। बाह्याडम्बरसे मनुष्य वीतरागी नहीं हो सकता। वीतरागता आत्मा-की प्रसादी है। अनेक जन्मके प्रयत्नसे वह प्राप्त होती है और प्रत्येक मनुष्य उसका अनुभव कर सकता है। रागभावको दूर करनेका पुरुषार्थ करनेवाला जानता है कि रागरहित होना कितना कठिन है। यह रागरहित दशा कवि (श्रीमद्) को स्वाभाविक थी, ऐसी मेरे ऊपर छाप पड़ी थी।

मोक्षकी प्रथम पैड़ी वीतरागता है। जबतक मन जगत्की किसी भी वस्तुमें फँसा हुआ है तबतक उसे मोक्षकी बात कैसे रुचे ? और यदि रुचे तो वह केवल कानको ही—अर्थात् जैसे हम लोगोंको अर्थ जाने या

१. श्रीमद्जी द्वारा म० गाँधीको उनके प्रश्नोंके उत्तरमें लिखे गये कुछ पत्र, क्र० ५३०, ५७०, ७१७ 'श्रीमद् राजचन्द्र'—ग्रंथ (गुजराती)

समझे विना किसो संगीतका स्वर रुच जाय वैसे । मात्र ऐसी कर्णप्रिय क्रीड़ामेंसे मोक्षका अनुसरण करनेवाले आचरण तक आनेमें तो वहुत समय निकल जाय । अंतरंग वैराग्यके विना मोक्षकी लगन नहीं होती । वैराग्यका तीव्र भाव कविमें था ।

"...व्यवहारकुशलता और धर्मपरायणताका जितना उत्तम मेल मैंने कविमें देखा उतना किसी अन्यमें नहीं देखा ।"

गृहस्थाश्रम

सं० १९४४ माघ सुदी १२ को १९ वर्षकी आयुमें उनका पाणिग्रहणसंस्कार, गांधीजीके परममित्र स्व० रेवाशंकर जगजीवनदास महेताके बड़े भाई पोपटलालकी पुत्री झवकवाईके साथ हुआ था । इसमें दूसरोंकी 'इच्छा' और 'अत्यन्त आग्रह' ही कारणरूप प्रतीत होते हैं[1] । पूर्वोपार्जित कर्मोंका भोग समझकर ही उन्होंने गृहस्थाश्रममें प्रवेश किया, परन्तु इससे भी दिन-पर-दिन उनकी उदासीनता और वैराग्यका वल वढ़ता ही गया । आत्मकल्याणके इच्छुक तत्त्वज्ञानी पुरुपके लिए विपम परिस्थितियाँ भी अनुकूल वन जाती हैं, अर्थात् विपमतामें उनका पुरुपार्थ और भी अधिक निखर उठता है । ऐसे ही महात्मा पुरुप दूसरोंके लिये भी मार्गप्रकाशक–दीपकका कार्य करते हैं ।

श्रीमद्‌जी गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी अत्यन्त उदासीन थे । उनकी दशा, छहढालाकार पं० दौलत-रामजी के शब्दोंमें 'गेही पै, गृहमें न रचै ज्यौं जलतैं भिन्न कमल है'––जैसी निर्लेप थी । उनकी इस अवस्थामें भी यही मान्यता रही कि "कुटुम्बरूपी काजलकी कोठड़ीमें निवास करनेसे संसार वढ़ता है । उसका कितना भी सुधार करो तो भी एकान्तवाससे जितना संसारका क्षय हो सकता है उसका शतांश भी उस काजलकी कोठड़ीमें रहनेसे नहीं हो सकता, क्योंकि वह कपायका निमित्त है और अनादिकालसे मोहके रहनेका पर्वत है[2] ।" फिर भी इस प्रतिकूलतामें वे अपने परिणामोंकी पूरी सँभाल रखकर चले । यहाँ उनके अन्तरके भाव एक मुमुक्षुको लिखे गये पत्रमें इसप्रकार व्यक्त हुए हैं––'संसार स्पष्ट प्रीतिसे करनेकी इच्छा होती हो तो उस पुरुपने ज्ञानीके वचन सुने नहीं अथवा ज्ञानीके दर्शन भी उसने किये नहीं ऐसा तीर्थंकर कहते हैं ।' 'ज्ञानी पुरुपके वचन सुननेके वाद स्त्रीका सजीवन शरीर अजीवनरूप भास्यमान हुए विना रहे नहीं[3] ।' इससे स्पष्ट प्रगट होता है कि वे अत्यन्त वैरागी महापुरुप थे ।

सफल व्यापारी

व्यापारिक झंझट और धर्मसाधनाका मेल प्रायः कम वैठता है, परन्तु आपका धर्म-आत्मचिन्तन तो साथमें ही चलता था । वे कहते थे कि धर्मका पालन कुछ एकादशीके दिन ही, पर्यूपणमें ही अथवा मंदिरोंमें ही हो और दुकान या दरवारमें न हो ऐसा कोई नियम नहीं, वल्कि ऐसा कहना धर्मतत्त्वको न पहचाननेके तुल्य है । श्रीमद्‌जीके पास दुकान पर कोई न कोई धार्मिक पुस्तक और दैनंदिनी (डायरी) अवश्य होती थी । व्यापारकी वात पूरी होते ही फौरन धार्मिक पुस्तक खुलती या फिर उनकी वह डायरी कि जिसमें कुछ न कुछ मनके विचार वे लिखते ही रहते थे । उनके लेखोंका जो संग्रह प्रकाशित हुआ है उसका अधिकांश भाग उनकी नोंधपोथीमेंसे लिया गया है ।

श्रीमद्‌जी सर्वाधिक विश्वासपात्र व्यापारीके रूपमें प्रसिद्ध थे । वे अपने प्रत्येक व्यवहारमें सम्पूर्ण प्रामाणिक थे । इतना वड़ा व्यापारिक काम करते हुये भी उसमें उनकी आसक्ति नहीं थी । वे वहुत ही

---

१. देखिये––'श्रीमद्‌राजचन्द्र' (गुजराती) पत्र क्र० ३०
२. 'श्रीमद्‌राजचन्द्र' (गुजराती) पत्र क्र० १०३,
३. 'श्रीमद्‌राजचन्द्र' (गुजराती) पत्र क्र० ४५४

संतोषी थे । रहन-सहन पहरवेश सादा रखते थे । धनको तो वे 'उच्च प्रकारके कंकर'[१] मात्र समझते थे ।

एक आरब व्यापारी अपने छोटे भाईके साथ बम्बईमें मोतियोंकी आढ़तका काम करता था । एक दिन छोटे भाईने सोचा कि मैं भी अपने बड़े भाईकी तरह मोतीका व्यापार करूँ । वह परदेशसे आया हुआ माल लेकर बाजारमें गया । वहाँ जाने पर एक दलाल उसे श्रीमद्‌जीकी दुकानपर लेकर पहुँचा । श्रीमद्‌जीने माल अच्छी तरह परखकर देखा और उसके कहे अनुसार रकम चुकाकर ज्योंका त्यों माल एक ओर उठाकर रख दिया । उधर घर पहुँचकर बड़े भाईके आनेपर छोटे भाईने व्यापारकी बात कह सुनाई । अब जिस व्यापारीका वह माल था उसका पत्र इस आरब व्यापारीके पास उसी दिन आया था कि अमुक भावसे नीचे माल मत बेचना । जो भाव उसने लिखा था वह चालू बाजार-भावसे बहुत ही ऊँचा था । अब यह व्यापारी तो घबरा गया क्योंकि इसे इस सौदेमें बहुत अधिक नुकसान था । वह क्रोधमें आकर बोल उठा—'अरे ! तूने यह क्या किया ? मुझे तो दिवाला ही निकालना पड़ेगा !'

आरब-व्यापारी हाँफता हुआ श्रीमद्‌जीके पास दौड़ा हुआ आया और उस व्यापारीका पत्र पढ़वाकर कहा—'साहब, मुझ पर दया करो, वरना मैं गरीब आदमी बरबाद हो जाऊँगा ।' श्रीमद्‌जीने एक ओर ज्यों का त्यों बंधा हुआ माल दिखाकर कहा—'भाई, तुम्हारा माल यह रक्खा है । तुम खुशीसे ले जाओ ।' यों कहकर उस व्यापारीका माल उसे दे दिया और अपने पैसे ले लिये । मानो कोई सौदा किया ही नहीं था, ऐसा सोचकर हजारोंके लाभकी भी कोई परवाह नहीं की । आरब-व्यापारी उनका उपकार मानता हुआ अपने घर चला गया । यह आरब व्यापारी श्रीमद्‌को खुदाके पैगम्बरके समान मानने लगा ।

व्यापारिक नियमानुसार सौदा निश्चित हो चुकने पर वह व्यापारी माल वापिस लेनेका अधिकारी नहीं था, परन्तु श्रीमद्‌जीका हृदय यह नहीं चाहता था कि किसीको उनके द्वारा हानि हो । सचमुच महात्माओंका जीवन उनकी कृतिमें व्यक्त होता ही है ।

इसीप्रकारका एक दूसरा प्रसंग उनके करुणामय और निस्पृही जीवनका ज्वलंत उदाहरण है :

एक बार एक व्यापारीके साथ श्रीमद्‌जीने हीरोंका सौदा किया । इसमें ऐसा तय हुआ कि अमुक समयमें निश्चित किये हुये भावसे वह व्यापारी श्रीमद्‌को अमुक हीरे दे । इस विषयकी चिट्ठी भी व्यापारीने लिख दी थी । परन्तु हुआ ऐसा कि मुद्दतके समय उन हीरोंकी कीमत बहुत अधिक बढ़ गई । यदि व्यापारी चिट्ठीके अनुसार श्रीमद्‌को हीरे दे, तो उस बेचारेको बड़ा भारी नुकसान सहन करना पड़े; अपनी सभी सम्पत्ति बेच देनी पड़े ! अब क्या हो ?

इधर जिस समय श्रीमद्‌जीको हीरोंका बाजार-भाव मालूम हुआ, उस समय वे शीघ्र ही उस व्यापारीकी दुकानपर जा पहुँचे । श्रीमद्‌जीको अपनी दुकानपर आये देखकर व्यापारी घबराहटमें पड़ गया । वह गिड़गिड़ाते हुए बोला—'रायचंदभाई, हम लोगोंके बीच हुए सौदेके सम्बन्धमें मैं खूब ही चिन्तामें पड़ गया हूँ । मेरा जो कुछ होना हो, वह भले हो, परन्तु आप विश्वास रखना कि मैं आपको आजके बाजार-भावसे सौदा चुका दूँगा । आप जरा भी चिन्ता न करें ।'

यह सुनकर राजचन्द्रजी करुणाभरी आवाजमें बोले : "वाह ! भाई, वाह ! मैं चिन्ता क्यों न करूं ? तुमको सौदेकी चिन्ता होती हो तो मुझे चिन्ता क्यों न होनी चाहिये ? परन्तु हम दोनोंकी चिन्ताका मूल कारण यह चिट्ठी ही है न ? यदि इसको ही फाड़कर फेंक दें तो हम दोनोंकी चिन्ता मिट जायगी ।"

यों कहकर श्रीमद् राजचन्द्रने सहजभावसे वह दस्तावेज फाड़ डाला । तत्पश्चात् श्रीमद्‌जी बोले : "भाई, इस चिट्ठीके कारण तुम्हारे हाथपाँव बंधे हुए थे । बाजारभाव बढ़ जानेसे तुमसे मेरे साठ सत्तर हजार

---

१. 'ऊँची जातना कांकरा'

रुपये लेना निकलते हैं, परन्तु मैं तुम्हारी स्थिति समझ सकता हूँ। इतने अधिक रुपये मैं तुमसे लूँ तो तुम्हारी क्या दशा हो ? परन्तु राजचन्द्र दूध पी सकता है, खून नहीं !"

वह व्यापारी कृतज्ञ-भावसे श्रीमद्की ओर स्तब्ध होकर देखता ही रहा।

भविष्यवक्ता, निमित्तज्ञानी

श्रीमद्जीका ज्योतिष-सम्बन्धी ज्ञान भी प्रखर था। वे जन्मकुंडली, वर्षफल एवं अन्य चिह्न देखकर भविष्यकी सूचना कर देते थे। श्रीजूठाभाई (एक मुमुक्षु) के मरणके बारेमें उन्होंने २। मास पूर्व स्पष्ट बता दिया था[1]। एक बार सं० १९५५ की चैत्र वदी ८ को मोरबीमें दोपहरके ४ बजे पूर्वदिशाके आकाशमें काले बादल देखे और उन्हें दुष्काल पड़नेका निमित्त जानकर उन्होंने कहा कि 'ऋतुको सन्निपात हुआ है।' इस वर्ष १९५५ का चौमासा कोरा रहा—वर्षा नहीं हुई और १९५६ में भयंकर दुष्काल पड़ा। वे दूसरेके मनकी बातको भी सरलतासे जान लेते थे। यह सब उनकी निर्मल आत्मशक्तिका प्रभाव था।

कवि-लेखक

श्रीमद्जीमें, अपने विचारोंकी अभिव्यक्ति पद्यरूपमें करनेकी सहज क्षमता थी। उन्होंने सामाजिक रचनाओंमें–'स्त्रीनीतिबोधक', 'सद्बोधशतक' 'आर्य प्रजानी पडती' 'हुन्नरकला वधारवा विषे' 'सद्गुण, सुनीति, सत्य विषे' आदि अनेक रचनाएं केवल ८ वर्षकी वयमें लिखी थीं, जिनका एक संग्रह प्रकाशित हुआ है। ९ वर्षकी आयुमें उन्होंने रामायण और महाभारतकी भी पद्य-रचना की थी जो प्राप्त नहीं हो सकी। इसके अतिरिक्त जो उनका मूल विषय आत्मज्ञान था उसमें उनकी अनेक रचनाएं हैं। प्रमुखरूपसे 'आत्म-सिद्धि' (१४२ दोहे) 'अमूल्य तत्त्वविचार' 'भक्तिना वीस दोहरा' 'ज्ञानमीमांसा' 'परमपदप्राप्तिनी भावना' (अपूर्व अवसर) 'मूळमार्ग रहस्य' 'जिनवाणीनी स्तुति' 'बारह भावना' और 'तृष्णानी विचित्रता' हैं। अन्य भी बहुत-सी रचनाएं हैं, जो भिन्न-भिन्न वर्षोंमें लिखी हैं।

'आत्मसिद्धि'–शास्त्रकी रचना तो आपने मात्र डेढ़ घंटेमें, श्री सौभागभाई, डूंगरभाई आदि मुमुक्षुओंके हितार्थ नडियादमें आश्विन वदी १ (गुजराती) गुरुवार सं० १९५२ को २९वें वर्षमें लिखी थी। यह एक, निस्संदेह धर्ममार्गकी प्राप्तिमें प्रकाशरूप अद्भुत रचना है। अंग्रेजीमें भी इसके गद्य-पद्यात्मक अनुवाद प्रगट हो चुके हैं[2]।

गद्य-लेखनमें श्रीमद्जीने 'पुष्पमाला' 'भावनाबोध' और 'मोक्षमाला'की रचना की। यह सभी सामग्री पठनीय-विचारणीय है। 'मोक्षमाला' उनकी अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है, जिसे उन्होंने केवल १६ वर्ष ५ मासकी आयुमें मात्र ३ दिनमें लिखी थी। इसमें १०८ पाठ हैं। कथनका प्रकार विशाल और तत्त्वपूर्ण है।

उनकी अर्थ करनेकी शक्ति भी बड़ी गहन थी। भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यके 'पंचास्तिकाय'–ग्रन्थकी मूल गाथाओंका उन्होंने अविकल गुजराती अनुवाद किया है[3]।

सहिष्णुता

विरोधमें भी सहनशील होना महापुरुषोंका स्वाभाविक गुण है। यह बात यहाँ घटित होती है। जैन समाजके कुछ लोगोंने उनका प्रबल विरोध किया, निन्दा की, फिर भी वे अटल शांत और मौन रहे। उन्होंने एक बार कहा था : 'दुनिया तो सदा ऐसी ही है। ज्ञानियोंको, जीवित हों तब कोई पहचानता नहीं, वह यहाँ

---

१. देखिये–दैनिक नोंधसे लिया गया कथन, पत्र क्र० ११६, ११७ ('श्रीमद्राजचन्द्र' गुजराती)

२. 'आत्मसिद्धि' के अंग्रेजी अनुवादमें Atmasiddhi, Self Realization, और Self Fulfilment प्रगट हुए हैं। संस्कृत-छाया भी छपी है।

३. देखिये-'श्रीमद्राजचन्द्र' गुज० पत्रांक ७६६। उनकी सभी प्रमुख–सामग्रीका संकलन 'श्रीमद्राजचन्द्र'–ग्रन्थमें किया गया है।

तक कि ज्ञानीके सिर पर लाठियोंकी मार पड़े वह भी कम; और ज्ञानीके मरनेके बाद उसके नामके पत्थरको भी पूजे !'

एकान्तचर्या

मोहमयी (वम्बई) नगरीमें व्यापारिक काम करते हुए भी श्रीमद्‌जी ज्ञानाराधना तो करते ही रहते थे। यह उनका प्रमुख और अनिवार्य कार्य था। उद्योग- रत जीवनमें शांत और स्वस्थ चित्तसे चुपचाप आत्म-साधना करना उनके लिये सहज हो चला था; फिर भी वीच-वीचमें विशेष अवकाश लेकर वे एकान्त स्थान, जंगल या पर्वतोंमें पहुँच जाते थे। वे किसी भी स्थानपर वहुत गुप्तरूपसे जाते थे। वे नहीं चाहते थे कि किसीके परिचयमें आया जाय, फिर भी उनकी सुगन्धी छिप नहीं पाती थी। अनेक जिज्ञासु-भ्रमर उनका उपदेश, धर्मवचन सुननेकी इच्छासे पीछे-पीछे कहीं भी पहुँच ही जाते थे और सत्समागमका लाभ प्राप्त कर लेते थे। गुजरातके चरोतर, ईडर आदि प्रदेशमें तथा सौराष्ट्र क्षेत्रके अनेक शान्तस्थानोंमें उनका गमन हुआ। आपके समागमका विशेष लाभ जिन्हें मिला उनमें मुनिश्री लल्लुजी (श्रीमद्‌लघुराजस्वामी), मुनिश्री देव-करणजी तथा सायलाके श्री सौभागभाई, अम्बालालभाई (खंभात), जूठाभाई (अमदावाद) एवं डूंगरभाई मुख्य थे।

एक वार श्रीमद्‌जी सं० १९५५ में जव कुछ दिन ईडरमें रहे तव उन्होंने डॉ० प्राणजीवनदास महेता (जो उस समय ईडर स्टेटके चीफ मेडिकल ऑफीसर थे और सम्बन्धकी दृष्टिसे उनके श्वसुरके भाई होते थे) से कह दिया था कि उनके आनेकी किसीको खवर न हो। उस समय वे नगरमें केवल भोजन लेने जितने समयके लिए ही रुकते, शेष समय ईडरके पहाड़ और जंगलोंमें विताते।

मुनिश्री लल्लुजी, श्रीमोहनलालजी तथा श्री नरसीरखको उनके वहाँ पहुँचनेके समाचार मिल गये। वे शीघ्रतासे ईडर पहुँचे। श्रीमद्‌जीको उनके आगमनका समाचार मिला। उन्होंने कहलवा दिया कि मुनिश्री वाहरसे वाहर जंगलमें पहुँचें—यहाँ न आवें। साधुगण जंगलमें चले गये। वादमें श्रीमद्‌जी भी वहाँ पहुँचे। उन्होंने मुनिश्री लल्लुजीसे एकांतमें अचानक ईडर आनेका कारण पूछा। मुनिश्रीने उत्तर में कहा कि 'हम लोग अमदावाद या खंभात जानेवाले थे, यहाँ निवृत्ति क्षेत्रमें आपके समागममें विशेष लाभकी इच्छासे इस ओर चले आये। मुनि देवकरणजी भी पीछे आते हैं।' इस पर श्रीमद्‌जीने कहा—'आप लोग कल यहाँसे विहार कर जावें, देवकरणजीको भी हम समाचार भिजवा देते हैं वे भी अन्यत्र विहार कर जावेंगे। हम यहाँ गुप्त-रूपसे रहते हैं—किसीके परिचयमें आनेकी इच्छा नहीं है।'

श्री लल्लुजी मुनिने नम्र-निवेदन किया—'आपकी आज्ञानुसार हम चले जावेंगे परन्तु मोहनलालजी और नरसीरख मुनियोंको आपके दर्शन नहीं हुये हैं, आप आज्ञा करें तो एक दिन रुककर चले जावें।' श्रीमद्‌जीने इसकी स्वीकृति दी। दूसरे दिन मुनियोंने देखा कि जंगलमें आम्रवृक्षके नीचे श्रीमद्‌जी प्राकृतभाषाकी *गाथाओंका तन्मय होकर उच्चारण कर रहे हैं। उनके पहुँचनेपर भी आधा घण्टे तक वे गाथायें वोलते ही रहे और ध्यानस्थ हो गए। यह वातावरण देखकर मुनिगण आत्मविभोर हो उठे। थोड़ी देर वाद श्रीमद्‌जी

---

* १. मां मुज्झह मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअत्थेसु।
थिरमिच्छह जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए ॥४८॥
२. जं किंचि वि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू।
लद्धूणय एयत्तं तदाहु तं णिच्चयं ज्झाणं ॥ ५५ ॥
३. मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किं वि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे ज्झाणं ॥ ५६ ॥
(द्रव्यसंग्रह)
—श्रीमद्‌जीने यह 'वृहद्‌द्रव्यसंग्रह'-ग्रन्थ ईडरके दि० जैन शास्त्र भण्डारमेंसे स्वयं निकलवाया था।

ध्यानसे उठे और 'विचारना' इतना कहकर चलते बने। मुनियोंने विचारा कि लघुशंकादि–निवृत्तिके लिए जाते होंगे परन्तु वे तो निस्पृहरूपसे चले ही गये। थोड़ी देर इधर-उधर ढूँढ़कर मुनिगण उपाश्रयमें आ गये।

उसी दिन शामको मुनि देवकरणजी भी वहाँ पहुँच गये। सभीको श्रीमद्‌जीने पहाड़के ऊपर स्थित दिगम्बर, श्वेताम्बर मन्दिरोंके दर्शन करनेकी आज्ञा दी। वीतराग–जिनप्रतिमाके दर्शनोंसे मुनियोंको परम उल्लास जाग्रत हुआ। इसके पश्चात् तीन दिन और भी श्रीमद्‌जीके सत्समागमका लाभ उन्होंने उठाया। जिसमें श्रीमद्‌जीने उन्हें 'द्रव्यसंग्रह' और 'आत्मानुशासन'–ग्रन्थ पूरे पढ़कर स्वाध्यायके रूपमें सुनाये एवं अन्य भी कल्याणकारी बोध दिया।

अत्यन्त जाग्रत आत्मा ही परमात्मा बनता है, परम वीतराग-दशाको प्राप्त होता है। इन्हीं अन्तर-भावोंके साथ आत्मस्वरूपकी ओर लक्ष कराते हुए एक बार श्रीमद्‌जीने अहमदाबादमें मुनिश्री लल्लुजी (पू० लघुराजस्वामी) तथा श्रीदेवकरणजीको कहा था कि 'हममें और वीतरागमें भेद गिनना नहीं' 'हममें और श्री महावीर भगवानमें कुछ भी अन्तर नहीं, केवल इस कुर्तेका फेर है।'

मत—मतान्तरके आग्रहसे दूर

उनका कहना था कि मत–मतान्तरके आग्रहसे दूर रहने पर ही जीवनमें रागद्वेषसे रहित हुआ जा सकता है। मतोंके आग्रहसे निजस्वभावरूप आत्मधर्मकी प्राप्ति नहीं हो सकती। किसी भी जाति या वेषके साथ भी धर्मका सम्बन्ध नहीं :

"जाति वेषनो भेद नहि, कह्यो मार्ग जो होय।
साधे ते मुक्ति लहे, एमां भेद न कोय॥"
(आत्मसिद्धि १०७)

—जो मोक्षका मार्ग कहा गया है वह हो तो किसी भी जाति या वेषसे मोक्ष होवे, इसमें कुछ भेद नही है। जो साधना करे वह मुक्तिपद पावे।

आपने लिखा है—"मूलतत्त्वमें कहीं भी भेद नहीं है। मात्र दृष्टिका भेद है ऐसा मानकर आशय समझकर पवित्र धर्ममें प्रवृत्ति करना।" (पुष्पमाला १४ पृ० ४)

"तू चाहे जिस धर्मको मानता हो इसका मुझे पक्षपात नहीं, मात्र कहनेका तात्पर्य यहो कि जिस मार्गसे संसारमलका नाश हो उस भक्ति, उस धर्म और उस सदाचारका तू सेवन कर[१]।" (पु०मा० १५ पृ०४)

"दुनिया मतभेदके बंधनसे तत्त्व नहीं पा सकी !" (पत्र क्र० २७)

उन्होंने प्रीतम, अखा, छोटम, कबीर, सुन्दरदास, सहजानन्द, मुक्तानन्द, नरसिह महेता आदि सन्तोंकी वाणीको जहाँ-तहाँ आदर दिया है और उन्हें मार्गानुसारी जीव (तत्त्वप्राप्तिके योग्य आत्मा) कहा है। इसलिए एक जगह उन्होंने अत्यन्त मध्यस्थतापूर्वक आध्यात्मिक-दृष्टि प्रगट की है कि 'मैं किसी गच्छमें नहीं, परन्तु आत्मामें हूँ।'

एक पत्रमें आपने दर्शाया है—"जब हम जैनशास्त्रोंको पढ़नेके लिए कहें तब जैनी होनेके लिए नहीं कहते; जब वेदान्तशास्त्र पढ़नेके लिए कहें तो वेदान्ती होनेके लिए नहीं कहते। इसीप्रकार अन्य शास्त्रोंको बांचनेके लिए कहें तब अन्य होनेके लिए नहीं कहते। जो कहते हैं वह केवल तुम सब लोगोंको उपदेश–ग्रहणके लिए ही कहते हैं। जैन और वेदान्ती आदिके भेदका त्याग करो। आत्मा वैसा नहीं है[२]।"

---

१. देखिए इसीप्रकारके विचार—
पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥ (हरिभद्रसूरि)

२. श्रीमद्‌राजचन्द्र' (गुज०) पत्र क्र० ३५८

फिर भी अनुभवपूर्वक उन्होंने निर्ग्रन्थशासनकी उत्कृष्टताको स्वीकार किया है[1]। अहो ! सर्वोत्कृष्ट शांतरसमय सन्मार्ग, अहो ! उस सर्वोत्कृष्ट शांतरसप्रधान मार्गके मूल सर्वज्ञदेव, अहो ! उस सर्वोत्कृष्ट शांतरसकी सुप्रतीति करानेवाले परमकृपालु सद्‌गुरुदेव—इस विश्वमें सर्वकाल तुम जयवंत वर्तो, जयववंत वर्तो[2]।'

दिनोंदिन और क्षण-क्षण उनकी वैराग्यवृत्ति वर्धमान हो चली। चैतन्यपुंज निखर उठा। वीतरागमार्गकी अविरल उपासना उनका ध्येय बन गई। वे बढ़ते गये और सहजभावसे कहते गये—"जहाँ-तहाँ से रागद्वेषसे रहित होना ही मेरा धर्म है[3]।"

निर्मल सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिमें उनके उद्‌गार इस प्रकार निकले हैं—

ओगणीससें ने सुडतालीसे,
समकित शुद्ध प्रकाश्युं रे,
श्रुत अनुभव वधती दशा,
निज स्वरूप अवभास्युं रे।
धन्य रे दिवस आ अहो !

(हा. नों. १।६३ क्र० ३२)

सोल्लास उपकार-प्रगटना

"हे सर्वोत्कृष्ट सुखके हेतुभूत सम्यग्दर्शन ! तुझे अत्यन्त भक्तिपूर्वक नमस्कार हो। इस अनादि अनन्त संसारमें अनन्त अनन्त जीव तेरे आश्रय विना अनन्त अनन्त दुःख अनुभवते हैं। तेरे परमानुग्रहसे स्वस्वरूपमें रुचि हुई। परमवीतराग स्वभावके प्रति परम निश्चय आया। कृतकृत्य होनेका मार्ग ग्रहण हुआ।

हे जिन वीतराग ! तुम्हें अत्यन्त भक्तिसे नमस्कार करता हूँ। तुमने इस पामर पर अनंत अनंत उपकार किया है।

हे कुन्दकुन्दादि आचार्यो ! तुम्हारे वचन भी स्वरूपानुसंधानमें इस पामरको परम उपकारभूत हुए हैं। इसके लिए मैं तुम्हें अतिशय भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।

हे श्री सोभाग ! तेरे सत्समागमके अनुग्रहसे आत्मदशाका स्मरण हुआ। अतः तुझे नमस्कार करता हूँ।" (हा. नों. २/४५ क्र० २०)

परमनिवृत्तिरूप कामना / चिंतना—

उनका अन्तरङ्ग, गृहस्थावास-व्यापारादि कार्यसे छूटकर सर्वसंगपरित्याग कर निर्ग्रन्थदशाके लिए छटपटाने लगा। उनका यह अन्तर आशय उनकी 'हाथनोंध' परसे स्पष्ट प्रगट होता है:—

"हे जीव ! असारभूत लगनेवाले ऐसे इस व्यवसायसे अब निवृत्त हो, निवृत्त ! उस व्यवसायके करनेमें चाहे जितना बलवान प्रारब्धोदय दीखता हो तो भी उससे निवृत्त हो, निवृत्त ! जो कि श्रीसर्वज्ञने कहा है कि चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीव भी प्रारब्ध भोगे विना मुक्त नहीं हो सकता, फिर भी तू उस उदयके आश्रयरूप होनेसे अपना दोष जानकर उसका अत्यन्त तीव्ररूपमें विचारकर उससे निवृत्त हो, निवृत्त ! (हा० नो० १।१०१ क्र० ४४)

"हे जीव ! अब तू संग-निवृत्तिरूप कालकी प्रतिज्ञा कर, प्रतिज्ञा कर ! केवलसंगनिवृत्तिरूप प्रतिज्ञाका विशेष अवकाश दिखाई न दे तो अंशसंगनिवृत्तिरूप इस व्यवसायका त्याग कर ! जिस ज्ञानदशामें त्यागात्याग कुछ

---

१. 'श्रीमद्‌राजचन्द्र' शिक्षापाठ ९५ (तत्त्वावबोध १४) तथा पत्र क्र० ५९६
२. हाथनोंध ५/५२ क्रम २३ 'श्रीमद्‌राजचन्द्र' (गुज०)
३. पत्र क्र० ३७ 'श्रीमद्‌राजचन्द्र'

सम्भावित नहीं उस ज्ञानदशाकी सिद्धि है जिसमें ऐसा तू, सर्वसंगत्याग दशा अल्पकाल भी भोगेगा तो सम्पूर्ण जगत प्रसंगमें वर्तते हुए भी तुझे बाधा नहीं होगी, ऐसा होते हुए भी सर्वज्ञने निवृत्तिको ही प्रशस्त कहा है; कारण कि ऋषभादि सर्व परमपुरुषोंने अन्तमें ऐसा ही किया है।" (हा. नों. १ । १०२ क्र० ४५)

"राग, द्वेष और अज्ञानका आत्यंतिक अभाव करके जो सहज शुद्ध आत्मस्वरूपमें स्थित हुए वही स्वरूप हमारे स्मरण, ध्यान और प्राप्त करने योग्य स्थान है।" (हा. नों. २ । ३ क्र० १)

"सर्व परभाव और विभावसे व्यावृत्त, निज स्वभावके भान सहित, अवधूतवत् विदेहीवत् जिनकल्पीवत् विचरते पुरुष भगवानके स्वरूपका ध्यान करते हैं।" (हा. नों. ३।३७ क्र० १४)

"मैं एक हूँ, असंग हूँ, सर्व परभावसे मुक्त हूँ, असंख्यप्रदेशात्मक निजअवगाहनाप्रमाण हूँ। अजन्म, अजर, अमर, शाश्वत हूँ। स्वपर्यायपरिणामी समयात्मक हूँ। शुद्ध चैतन्यमात्र निर्विकल्प दृष्टा हूँ। (हा. नों. ३ । २९ क्र० ११)

"मैं परमशुद्ध, अखंड चिद्धातु हूँ, अचिद्धातुके संयोगरसका यह आभास तो देखो! आश्चर्यवत्, आश्चर्यरूप, घटना है। कुछ भी अन्य विकल्पका अवकाश नहीं, स्थिति भी ऐसी ही है।" (हा. नों. २ । ३७ क्र० १७)

इसप्रकार अपनी आत्मदशाको संभालकर वे बढ़ते रहे। आपने सं० १९५६ में व्यवहार सम्बन्धी सर्व उपाधिसे निवृत्ति लेकर सर्वसंगपरित्यागरूप दीक्षा धारण करनेकी अपनी माताजीसे आज्ञा भी ले ली थी। परन्तु उनका शारीरिक स्वास्थ्य दिन-पर-दिन बिगड़ता गया। उदय बलवान है। शरीरको रोगने आ घेरा। अनेक उपचार करनेपर भी स्वास्थ्य ठीक नहीं हुआ। इसी विवशता में उनके हृदयकी गंभीरता बोल उठी : "अत्यन्त त्वरासे प्रवास पूरा करना था, वहाँ बीचमें सेहराका मरुस्थल आ गया। सिर पर बहुत बोझ था उसे आत्मवीर्यसे जिसप्रकार अल्पकालमें सहन कर लिया जाय उस प्रकार प्रयत्न करते हुए, पैरोंने निकाचित उदयरूप थकान ग्रहण की। जो स्वरूप है वह अन्यथा नहीं होता यही अद्भुत आश्चर्य है। अव्याबाध स्थिरता है[१]।"

अन्त समय

स्थिति और भी गिरती गई। शरीरका वजन १३२ पौंडसे घटकर मात्र ४३ पौंड रह गया। शायद उनका अधिक जीवन कालको पसन्द नहीं था। देहत्यागके पहले दिन शामको आपने अपने छोटेभाई मनसुखराम आदिसे कहा—"तुम निश्चित रहना, यह आत्मा शाश्वत है। अवश्य विशेष उत्तम गतिको प्राप्त होगा, तुम शान्ति और समाधिरूपसे प्रवर्तना। जो रत्नमय ज्ञानवाणी इस देहके द्वारा कही जा सकती थी, वह कहनेका समय नहीं। तुम पुरुषार्थ करना।" रात्रिको २।। बजे वे फिर बोले—'निश्चित रहना, भाईका समाधिमरण है। और अवसानके दिन प्रातः पौने नौ बजे कहा : 'मनसुख, दुखी न होना, मैं अपने आत्मस्वरूपमें लीन होता हूँ।' और अन्तमें उस दिन सं० १९५७ चैत्र वदी ५ (गुज०) मंगलवारको दोपहरके दो बजे राजकोटमें उनका आत्मा इस नश्वर देहको छोड़कर चला गया। भारतभूमि एक अनुपम तत्त्वज्ञानी-सन्तको खो बैठी।

उनके देहावसानके समाचार सुनकर मुमुक्षुओंके चित्त उदास हो गये। वसंत मुरझा गया। निस्संदेह श्रीमद्जी विश्वकी एक महान विभूति थे। उनका वीतरागमार्ग-प्रकाशक अनुपम वचनामृत आज भी जीवनको अमरत्व प्रदान करनेके लिए विद्यमान है। धर्मजिज्ञासु बन्धु उनके वचनोंका लाभ उठावें।

श्री लघुराजस्वामी (प्रभुश्री) ने उनके प्रति अपना हृदयोद्गार इन शब्दोंमें प्रगट किया है : "अपरमार्थमें परमार्थके दृढ़ आग्रहरूप अनेक सूक्ष्म भूलभुलैयाँके प्रसंग दिखाकर इस दासके दोष दूर करनेमें

---

१. 'श्रीमद् राजचन्द्र' (गुज०) पत्र क्र० ९५१।

इन आप्त पुरुषका परम सत्संग तथा उत्तम बोध प्रबल उपकारक बने हैं।" "संजीवनी औषध समान मृतको जीवित करे ऐसे उनके प्रबल पुरुषार्थ जागृत करनेवाले वचनोंका माहात्म्य विशेष विशेष भास्यमान होनेके साथ ठेठ मोक्षमें ले जाय ऐसी सम्यक् समझ (दर्शन) उस पुरुष और उसके बोधकी प्रतीतिसे प्राप्त होती हैं; वे इस दुषम कलिकालमें आश्चर्यकारी अवलंबन हैं।" "परम माहात्म्यवंत सद्‌गुरु श्रीमद् राजचन्द्रदेवके वचनोंमें तल्लीनता, श्रद्धा जिसे प्राप्त हुई है, या होगी उसका महद् भाग्य है। वह भव्य जीव अल्पकालमें मोक्ष पाने योग्य है।[१]

उनकी स्मृतिमें शास्त्रमालाकी स्थापना

सं० १९५६ में [२]सत्श्रुतके प्रचार हेतु बम्बईमें श्रीमद्‌जीने परमश्रुतप्रभावकमण्डलकी स्थापना की थी। उसीके तत्त्वावधानमें उनकी स्मृतिस्वरूप श्रीरायचन्द्र जैन शास्त्रमालाकी स्थापना हुई। जिसकी ओरसे अब तक समयसार, प्रवचनसार, गोम्मटसार, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, परमात्मप्रकाश और योगसार, पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय, इष्टोपदेश, प्रशमरतिप्रकरण, न्यायावतार, स्याद्वादमंजरी, अष्टप्राभृत, सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र, ज्ञानार्णव, बृहद्‌द्रव्यसंग्रह, पंचास्तिकाय, लब्धिसार–क्षपणासार, द्रव्यानुयोगतर्कणा, सप्तभंगीतरंगिणी, उपदेश-छाया और आत्मसिद्धि, भावना–बोध, श्रीमद्राजचन्द्र आदि ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। वर्तमानमें संस्थाके प्रकाशनका सब काम अगाससे ही होता है। विक्रयकेन्द्र बम्बईमें भी पूर्वस्थानपर ही है। श्रीमद्‌राजचन्द्र आश्रम, अगाससे गुजराती भाषामें अन्य भी उपयोगी ग्रन्थ छपे हैं।

वर्तमानमें निम्नलिखित स्थानोंपर श्रीमद्‌राजचन्द्र आश्रम व मन्दिर आदि संस्थाएँ स्थापित हैं, जहाँ पर मुमुक्षु-बन्धु मिलकर आत्मकल्याणार्थ वीतराग-तत्त्वज्ञानका लाभ उठाते हैं। वे स्थान हैं—अगास, ववाणिया, राजकोट, वड़वा, खंभात, काविठा, सीमरडा, भादरण, नार, सुणाव, नरोड़ा, सडोदरा, धामण, अहमदाबाद, ईडर, सुरेन्द्रनगर, वसो, वटामण, उत्तरसंडा, बोरसद, आहोर (राज०), हम्पी (दक्षिण भारत), इन्दौर (म० प्र०); बम्बई–घोटकोपर, देवलाली तथा मोम्बासा (आफ्रिका)।

अन्तमें, वीतराग-विज्ञानके निधान तीर्थंकरादि महापुरुषों द्वारा उपदिष्ट सर्वोपरि–आत्मधर्मका अविरल प्रवाह जन-जनके अन्तरमें प्रवाहित हो, यही भावना है।

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम
स्टे० अगास, पो० बोरीया
वाया : आणंद (गुजरात)

—बाबूलाल सिद्धसेन जैन

१. 'श्रीमद्‌गुरुप्रसाद' पृ० २, ३

२. श्रीमद्‌जीद्वारा निर्देशित सत्श्रुतरूप ग्रन्थोंकी सूचीके लिये देखिए 'श्रीमद्‌राजचन्द्र'–ग्रन्थ (गुज०) उपदेशनोंध क्र० १५।

ॐ

नमः सर्वज्ञाय

श्रीरायचन्द्रजैनशास्त्रमालायां

श्रीमल्लिषेणसूरिप्रणीता

स्याद्वादमञ्जरी

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिता

अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकास्तवनटीका
हिन्दीभाषानुवादसहिता ।

टीकाकारस्य मंगलाचरणम्

यस्य ज्ञानमनन्तवस्तुविषयं यः पूज्यते दैवतै-
र्नित्यं यस्य वचो न दुर्नयकृतैः कोलाहलैर्लुप्यते ।
रागद्वेषमुखद्विषां च परिषत् क्षिप्ता क्षणाद्येन सा
स श्रीवीरविभुर्विधूतकलुषां बुद्धिं विधत्तां मम ॥ १ ॥
निस्सीमप्रतिभैकजीवितधरौ निःशेषभूमिस्पृशां
पुण्यौघेन सरस्वतीसुरगुरू स्वाङ्गैकरूपौ दधत् ।
यः स्याद्वादमसाधयन् निजवपुर्दृष्टान्ततः सोऽस्तु मे
सद्बुद्ध्यम्बुनिधिप्रबोधविधये श्रीहेमचन्द्रः प्रभुः ॥ २ ॥
ये हेमचन्द्रं मुनिमेतदुक्तग्रन्थार्थसेवामिषतः श्रयन्ते ।
संप्राप्य ते गौरवमुज्ज्वलानां पदं कलानामुचितं भवन्ति ॥ ३ ॥

टीकाकारका मंगलाचरण

अर्थ—जो अनन्त वस्तुओंको जानते हैं, देवों द्वारा पूजे जाते हैं, जिनके वचन दुर्नयके कोलाहलसे लुप्त नहीं होते, तथा जिन्होंने रागद्वेष-प्रधान शत्रुओंकी सभाको क्षण-भरमें परास्त कर दिया है, ऐसे वीरप्रभु मेरी बुद्धि निर्मल करें ॥ १ ॥

समस्त मध्यलोकवर्ती प्राणियोंके पुण्य-प्रतापसे, असीम प्रतिभारूप प्राणोंके धारक, सरस्वती और बृहस्पतिको अपने शरीररूपमें धारण करते हुए, जिन्होंने अपने शरीरके दृष्टान्तसे ही स्याद्वादके सिद्धान्तको सिद्ध कर दिखाया है,—जिन्होंने एक ही शरीरमें परस्पर भिन्न सरस्वती और सुरगुरुके धारण करनेसे, एक ही पदार्थको परस्पर भिन्न अनेक धर्मोंका धारक सूचित किया है—ऐसे हेमचन्द्रप्रभु मेरे सद्बुद्धिरूपी समुद्रको अभिवृद्धि करें ॥ २ ॥

जो लोग इस ग्रन्थके अध्ययनके वहाने हेमचन्द्रमुनिका आश्रय लेते हैं, वे उज्ज्वल कलाओंके गौरव-को प्राप्त करने योग्य पदको प्राप्त करते हैं ॥ ३ ॥

मातर्भारति सन्निधेहि हृदि मे येनेयमाप्तस्तुते-
निर्मातुं विवृतिं प्रसिद्ध्यति जवादारम्भसम्भावना ।
यद्वा विस्मृतमोष्ठयोः स्फुरति यत् सारस्वतः शाश्वतो
मन्त्रः श्रीउदयप्रभेतिरचनारम्यो ममाहर्निशम् ॥ ४ ॥

अवतरणिका

इह हि विषमदुःषमारजनितिमिरतिरस्कारभास्करानुकारिणा वसुधातलावतीर्णसुधासारिणीदेश्यदेशनावितानपरमार्हतीकृतश्रीकुमारपालक्ष्मापालप्रवर्तिताभयदानाभिधानजीवातुसंजीवितनानाजीवप्रदत्ताशीर्वादमाहात्म्यकल्पावधिस्थायिविशदयशःशरीरेण निरवद्यचातुर्विद्यनिर्माणैकब्रह्मणा श्रीहेमचन्द्रसूरिणा जगत्प्रसिद्धश्रीसिद्धसेनदिवाकरविरचितद्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकानुसारि श्रीवर्धमानजिनस्तुतिरूपमयोगव्यवच्छेद[1]ान्ययोगव्यवच्छेद[2]ाभिधानं द्वात्रिंशिकाद्वितयं विद्वज्जनमनस्तत्त्वावबोधनिबन्धनं विदधे । तत्र च प्रथमद्वात्रिंशिकायाः सुखोन्नेयत्वाद् तद्व्याख्यानमुपेक्ष्य द्वितीयस्यास्तस्या निःशेषदुर्वादिपरिषदधिक्षेपदक्षायाः कतिपयपदार्थविवरणकरणेन स्वस्मृतिबीजप्रबोधविधिर्विधीयते । तस्याश्चेदमादिकाव्यम्—

हे सरस्वती माता ! तुम मेरे हृदयमें निवास करो, जिससे मैं आप्तस्तुति (द्वात्रिंशिका) की व्याख्या (स्याद्वादमंजरी) शीघ्र ही प्रारम्भ कर सकूँ । अथवा नहीं; मैं भूल गया, क्योंकि 'श्रीउदयप्रभ'— रचनासे मनोहर शाश्वत सरस्वतीका मन्त्र तो दिन-रात मेरे होठोंमें स्फुरित हो ही रहा है । (उदयप्रभ टीकाकारके गुरुका नाम है । यहाँ टीकाकार गुरुभक्तिके वश होकर कहते हैं कि गुरुस्मरणके प्रभावसे सरस्वती माता स्वयं मेरे हृदयमें विराजमान हैं, अतएव सरस्वती मातासे प्रार्थना करनेकी आवश्यकता ही नहीं रहती ।) ॥ ४ ॥

अवतरणिका

अर्थ—इस लोकमें दुषमा आरा (पंचमकाल; देखिये परिशिष्ट [क]) की रात्रिके अन्धकारको दूर करनेके लिए सूर्यके समान, तथा पृथ्वीतलपर उतरकर आयी हुई अमृत-नदीके समान धर्मोपदेश द्वारा परम आर्हत बनाये हुए कुमारपाल राजाकी अभयदानरूप जीवनौषधिसे जीवनको प्राप्त करनेवाले प्राणियोंके आशीर्वादके माहात्म्यसे कल्पकालपर्यन्त स्थायी निर्मल यशरूपी शरीरको धारण करनेवाले, तथा चार विद्याओं (लक्षण, आगम, साहित्य, तर्क) की निर्दोष रचना करनेके लिए ब्रह्माके समान, ऐसे श्रीहेमचन्द्रसूरिने, जगत्प्रसिद्ध श्रीसिद्धसेनदिवाकरद्वारा रचित द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका का अनुसरण करनेवाली श्रीवर्धमान जिनेन्द्रकी स्तुतिरूप, विद्वानोंको तत्त्वज्ञान प्रदान करनेवाली अयोगव्यवच्छेद तथा अन्ययोगव्यवच्छेद नामकी दो बत्तीसियोंकी रचना की है । तात्पर्य यह कि सिद्धसेनदिवाकरकी बत्तीस बत्तीसियोंकी रचनाका अनुसरण करके हेमचन्द्रसूरिने भी दो बत्तीसियाँ बनायी हैं । अयोगव्यवच्छेद नामक बत्तीसीमें जैनसिद्धान्तोंकी स्थापना करके 'स्वपक्ष-साधन' तथा अन्ययोगव्यवच्छेदिकामें परवादियोंके मतोंका खण्डन करते हुए 'परपक्षदूषण'का प्रदर्शन किया गया है । यहाँ टीकाकार मल्लिषेण अयोगव्यवच्छेदिका नामक पहली बत्तीसीके सरल होनेके कारण उसकी व्याख्याकी उपेक्षा करके, समस्त दुर्वादियोंकी सभाको परास्त करनेमें समर्थ अन्ययोगव्यवच्छेदिका नामकी दूसरी बत्तीसीके कतिपय पदार्थोंका विस्तृत विवरण कर अपनी स्मृतिको प्रवुद्ध करते हैं । दूसरी बत्तीसीका यह प्रथम श्लोक है—

---

१. विशेषणसङ्गतैवकारोऽयोगव्यवच्छेदबोधकः, यथा शङ्खः पाण्डुर एवेति । अयोगव्यवच्छेदस्य लक्षणं चोद्देश्यतावच्छेदकसमानाधिकरणाभावाप्रतियोगित्वम् । २. विशेष्यसङ्गतैवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदबोधकः, यथा पार्थ एव धनुर्धरः । अन्ययोगव्यवच्छेदो नाम विशेष्यभिन्नतादात्म्यादिव्यवच्छेदः ।

अनन्तविज्ञानमतीतदोषमबाध्यसिद्धान्तममर्त्यपूज्यम् ।
श्रीवर्धमानं जिनमाप्तमुख्यं स्वयम्भुवं स्तोतुमहं यतिष्ये ॥ १ ॥

श्रीवर्धमानं जिनमहं स्तोतुं यतिष्य इति क्रियासम्बन्धः । किंविशिष्टम् ? अनन्तम्—अप्रतिपाति, वि--विशिष्टं सर्वद्रव्यपर्यायविषयत्वेनोत्कृष्टं, ज्ञानं-केवलाख्यं विज्ञानम्, ततोऽनन्तं विज्ञानं यस्य सोऽनन्तविज्ञानस्तम् । तथा अतीताः—निःसत्ताकीभूतत्वेनातिक्रान्ताः, दोषाः-रागादयो यस्मात् स तथा तम् । तथा अबाध्यः—परैर्बाधितुमशक्यः, सिद्धान्तः—स्याद्वादश्रुतलक्षणो यस्य स तथा तम् । तथा अमर्त्याः—देवाः, तेषामपि पूज्यम्—आराध्यम् ॥

अत्र च श्रीवर्धमानस्वामिनो विशेषणद्वारेण चत्वारो मूलातिशयाः प्रतिपादिताः । तत्रानन्तविज्ञानमित्यनेन भगवतः केवलज्ञानलक्षणविशिष्टज्ञानानन्त्यप्रतिपादनाद् ज्ञानातिशयः । अतीतदोषमित्यनेनाष्टादशदोषसंक्षयाभिधानाद् अपायापगमातिशयः । अबाध्यसिद्धान्तमित्यनेन कुतीर्थिकोपन्यस्तकुहेतुसमूहाशक्यबाधस्याद्वादरूपसिद्धान्तप्रणयनभणनाद् वचनातिशयः । अमर्त्यपूज्यमित्यनेनाकृत्रिमभक्तिभरनिर्भरसुरासुरनिकायनायकनिर्मितमहाप्रातिहार्यसपर्यापरिज्ञानात् पूजातिशयः ॥

अत्राह परः । अनन्तविज्ञानमित्येतावदेवास्तु, नातीतदोषमिति । गतार्थत्वात् । दोषात्ययं विनाऽनन्तविज्ञानत्वस्यानुपपत्तेः ॥ अत्रोच्यते । कुनयमतानुसारिपरिकल्पिताप्तव्यवच्छेदार्थमिदम् । तथा चाहुराजीविकनयानुसारिणः—

श्लोकार्थ—अनन्तज्ञानके धारक, दोषोंसे रहित, अबाध्य सिद्धान्तसे युक्त, देवों द्वारा पूजनीय, यथार्थ वक्ताओं (आप्तों)में प्रधान, और स्वयम्भू, ऐसे श्रीवर्धमान जिनेन्द्रकी स्तुति करनेके लिए मैं प्रयत्न करूँगा ।

व्याख्यार्थ—मैं **वर्धमान** जिनेन्द्रकी स्तुति करनेका प्रयत्न करूँगा । **वर्धमान** जिनेन्द्र अनन्त केवलज्ञानके धारक, रागद्वेष आदि अठारह दोषोंसे रहित, प्रतिवादियों द्वारा अखण्डनीय ऐसे स्याद्वादरूप सिद्धान्तसे युक्त तथा देवोंसे पूजनीय हैं ।

यहाँ उपर्युक्त चार विशेषणोंसे वर्धमानस्वामीके चार मूल अतिशयोंका प्रतिपादन किया गया है । 'अनन्तज्ञान'से विशिष्टज्ञान—केवलज्ञानकी अनन्ततारूप ज्ञानातिशय, 'अतीतदोष'से अठारह दोषोंके क्षयरूप अपायापगम अतिशय, 'अबाध्यसिद्धान्त'से कुतीर्थिकोंके कुहेतुओं-द्वारा अखण्डनीय स्याद्वाद सिद्धान्तकी प्ररूपणारूप वचनातिशय, तथा 'अमर्त्यपूज्य' विशेषणसे सहजभक्तिभावसे परिपूरित देवों और असुरोंके नायक इन्द्र द्वारा की हुई महाप्रातिहार्य पूजारूप पूजातिशयका सूचन किया गया है ।

उपर्युक्त चार विशेषणोंकी सार्थकता

(क) शंका—वर्धमानस्वामीको 'अनन्तविज्ञान' विशेषण देना ही पर्याप्त है, 'अतीतदोष' विशेषणकी आवश्यकता नहीं । कारण कि विना दोषोंके नाश हुए अनन्तविज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती ? **समाधान**—कुवादियों द्वारा कल्पित आप्तके निराकरण करनेके लिये 'अतीतदोष' विशेषण दिया गया है । **आजीविक**-मतके अनुयायी कहते हैं—

---

१. पण्डा तत्त्वानुगा मोक्षे ज्ञानं विज्ञानमन्यतः । शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा ॥
—इत्यभिधानचिन्तामणौ द्वितीयकाण्डे २२४ श्लोकः ।

२. अन्तराया दानलाभवीर्यभोगोपभोगगाः । हासो रत्यरती भीतिर्जुगुप्सा शोक एव च ॥७२॥
कामो मिथ्यात्वमज्ञानं निद्रा चाविरतिस्तथा । रागो द्वेषश्च नो दोषास्तेषामष्टादशाप्यमी ॥७३॥
—अभिधानचिन्तामणौ प्रथमकाण्डे श्लोकौ ।

३. कंकिल्लि कुसुमवुट्ठि देवज्झुणि चामरासणाइं च । भावलयभेरिछत्तं जयन्ति जिणपाडिहेराइं ॥१॥
प्रवचनसारोद्धारे द्वार ३९ (गाथा ४४०) ।
छाया—१ अशोकवृक्षः, २ कुसुमवृष्टिः, ३ दिव्यध्वनिः, ४ चामरे, ५ आसनानि च, ६ भामण्डलं, ७ भेरी, ८ छत्रम् ।

"ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य कर्तारः परमं पदम् ।
गत्वाऽगच्छन्ति भूयोऽपि भवं तीर्थनिकारतः ।।"

इति । तन्नूनं न तेऽतीतदोषाः । कथमन्यथा तेषां तीर्थनिकारदर्शनेऽपि भवावतारः ।।

आह । यद्येवमतीतदोषमित्येवास्तु, अनन्तविज्ञानमित्यतिरिच्यते । दोषात्ययेऽवश्यंभावित्वादनन्तविज्ञानत्वस्य । न । कैश्चिद्दोषाभावेऽपि तदनभ्युपगमात् । तथा च वैशेषिकवचनम्—

"सर्वं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु ।
कीटसङ्ख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते ।।"

तथा— "तस्मादनुष्ठानगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम् ।
प्रमाणं दूरदर्शी चेदेते गृध्रानुपास्महे ।।"

तन्मतव्यपोहार्थमनन्तविज्ञानमित्यदुष्टमेव । विज्ञानानन्त्यं विना एकस्याप्यर्थस्य यथावत् परिज्ञानाभावात् । तथा चार्षम्—

"जे एगं जाणइ,से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ ।।[1]"

"धर्मतीर्थके प्रवर्तक ज्ञानी मोक्ष प्राप्त करते हैं, तथा अपने तीर्थका तिरस्कार होते देखकर वे फिर संसारमें चले आते हैं ।"

निश्चय ही ये ज्ञानी दोषोंसे रहित नहीं हैं । अन्यथा अपने तीर्थका तिरस्कार देख उन्हें संसारमें फिरसे आनेकी आवश्यकता न होती । आजीविकमतका निराकरण करनेके लिए यहाँ 'अतीतदोष' विशेषण दिया गया है ।

(ख) शंका—यदि ऐसा ही है, तो केवल 'अतीतदोष' विशेषण ही दिया जाय, 'अनन्तविज्ञान'की क्या आवश्यकता है ? कारण कि दोषोंके नष्ट होनेपर अनन्तविज्ञानकी प्राप्ति अवश्यंभावी है । समाधान—कितने ही वादी दोषोंके नाश होनेपर भी अनन्तविज्ञानकी प्राप्ति नहीं स्वीकार करते, अतएव 'अनन्तविज्ञान' विशेषण दिया गया है ।

वैशेषिकोंने कहा है—

"ईश्वर सब पदार्थोंको जाने अथवा न जाने, वह इष्ट पदार्थोंको जाने, इतना ही बस है । यदि ईश्वर कीड़ोंकी संख्या गिनने बैठे तो वह हमारे किस कामका ?"

तथा—"अतएव ईश्वरके उपयोगी ज्ञानकी ही प्रधानता है । क्योंकि यदि दूर तक देखनेवालेको ही प्रमाण माना जाय, तो फिर हमें गीध पक्षियोंकी पूजा करनी चाहिये ।"

तात्पर्य यह है, कि वैशेषिक लोग ईश्वरको अतीतदोष स्वीकार करके भी उसे सकल पदार्थोंका ज्ञाता नहीं मानते । इसलिए इस मतका निराकरण करनेके लिए ग्रन्थकारने अनन्तविज्ञान विशेषण दिया है, और यह विशेषण सार्थक ही है, क्योंकि अनन्तज्ञानके विना किसी वस्तुका भी ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो सकता । आगमका वचन है—

---

१ आचारांगसूत्रे प्रथमश्रुतस्कंधे तृतीयाध्ययने चतुर्थोद्देशे सूत्रम् १२२ ।

छाया—य एकं जानाति स सर्वं जानाति । यः सर्वं जानाति स एकं जानाति ।।

तुलनीय—जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे ।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा ।।
दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादीणि । ण विजाणदि जदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणादि ।।
(प्रवचनसार अ. १ गा. ४८,४९)

छाया—यो न विजानाति युगपदर्थान् त्रैकालिकान् त्रिभुवनस्थान् ।
ज्ञातुं तस्य न शक्यं सपर्ययं द्रव्यमेकं वा ।।
द्रव्यमनन्तपर्यायमेकमनन्तानि द्रव्यजातीनि । न विजानाति यदि युगपत् कथं स सर्वाणि जानाति ।।

तथा—" एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः ।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः ॥"

ननु तर्ह्यबाध्यसिद्धान्तमित्यपार्थकम् । यथोक्तगुणयुक्तस्याव्यभिचारिवचनत्वेन तदुक्त-सिद्धान्तस्य बाधाऽयोगात् । न । अभिप्रायाऽपरिज्ञानात् । निर्दोषपुरुषप्रणीत एवाबाध्यः सिद्धान्तः । नापरेऽपौरुषेयाद्याः असम्भवादिदोषाऽऽघ्रातत्वात्[1], इति ज्ञापनार्थम् । आत्ममात्र-तारकमूकान्तकृत्केवल्यादिरूपमुण्डकेवलिनो[2] यथोक्तसिद्धान्तप्रणयनाऽसमर्थस्य व्यवच्छेदार्थं वा विशेषणमेतत् ॥

"जो एकको जानता है, वह सबको जानता है, और जो सबको जानता है, वह एकको जानता है ।"

तथा—"जिसने एक पदार्थको सब प्रकारसे देखा है, उसने सब पदार्थोंको सब प्रकारसे देख लिया है । तथा जिसने सब पदार्थोंको सब प्रकारसे जान लिया है, उसने एक पदार्थको सब प्रकारसे जान लिया है ।"

(कहनेका भाव यह है कि जबतक हम एक पदार्थका पूर्ण रीतिसे ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेते, उस समय तक हमें सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता । अतएव 'एक' और 'अनेक' सापेक्ष हैं; अर्थात् 'एक' का ज्ञान प्राप्त करना, 'अनेक'को जानना है । इसलिए अतीतदोष विशेषणके समान अनन्तविज्ञान विशेषण भी उतना ही आवश्यक है । इसीलिए वैशेषिक मतका निराकरण करनेके लिए अतीतदोषके साथ अनन्तविज्ञान विशेषण दिया गया है ।)

(ग) शंका—'अबाध्यसिद्धान्त' विशेषण देना व्यर्थ है । कारण कि जो पुरुष 'अनन्तविज्ञान' और 'अतीतदोष' है, उसके वचनोंमें कोई दोष नहीं होता, इसलिए उसका सिद्धान्त अबाध्य होगा ही । **समाधान**—अबाध्यसिद्धान्त विशेषणका अभिप्राय है, कि निर्दोष पुरुष द्वारा निर्मित सिद्धान्त ही अबाध्य हैं; असम्भव आदि दोष युक्त होनेसे अपौरुषेय आदि —पुरुषके बिना निर्मित वेद आदि सिद्धान्त—दोषरहित नहीं हैं । अथवा, सिद्धान्तोंके रचनेमें असमर्थ, स्वयं अपना ही उद्धार करनेवाले मूक तथा अन्तकृत् मुण्डकेवलियोंके (देखिए परिशिष्ट [क]) निराकरण करनेके लिए अबाध्यसिद्धान्त विशेषण दिया गया है । अबाध्य-सिद्धान्त विशेषणकी सार्थकता यहाँ दो प्रकारसे बतायी गयी है : (अ) निर्दोष पुरुष द्वारा निर्मित सिद्धान्त ही बाधारहित हो सकता है, पुरुष बिना निर्मित (अपौरुषेय) वेद अबाधित नहीं हो सकता । क्योंकि तालु आदिसे उत्पन्न वर्णोंके समूहको वेद कहते हैं, तथा तालु आदि स्थान मनुष्यजन्य हैं, अतएव वेदोंका अपौरुषेय मानना असम्भव दोषसे दूषित है । (आ) मुण्डकेवलियोंका निराकरण उक्त विशेषणकी दूसरी सार्थकता है । बाह्य अतिशयोंसे रहित, संसारसे वैराग्यभावको प्राप्त होकर जो केवल अपनी ही आत्माके उद्धारका प्रयत्न करते हैं, वे मुण्ड-केवली कहे जाते हैं । ये केवली अन्तःकृत् और मूक दो प्रकारके होते हैं । दोनों ही केवली कर्मोंके नाश करनेवाले और सम्पूर्ण पदार्थोंके द्रष्टा होते हैं । अन्तर केवल इतना ही है कि अन्तःकृत् केवलीके संसारसे मुक्त होनेका समय बहुत नज़दीक रहता है, या कहना चाहिए कि मुक्त होनेके कुछ समय पहले ही अन्तःकृत् केवलीको केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है; तथा मूककेवली किसी शारीरिक दोषके कारण उपदेश देनेमें असमर्थ होते हैं, इसलिए वे मौन रहते हैं । उक्त दोनों केवली किसी सिद्धान्तकी रचना नहीं कर सकते हैं । यही कारण है, कि अतीतदोष और अनन्तविज्ञानके धारक होते हुए भी मुण्डकेवलियोंका निराकरण करनेके लिए ग्रन्थकारने

१. ताल्वादिजन्मा ननु वर्णवर्गो वर्णात्मको वेद इति स्फुटं च ।
पुंसश्च ताल्वादि ततः कथं स्यादपौरुषेयोऽयमिति प्रतीतिः ॥

२. (१) द्रव्यभावमुण्डनप्रधानस्तथाविधबाह्यातिशयशून्यः केवली ।
(२) संविग्नो भवनिर्वेदादात्मनिःसरणं तु यः ।
आत्मार्थं संप्रवृत्तोऽसौ सदा स्यान्मुण्डकेवली ॥
(३) यः पुनः सम्यक्त्वावाप्तौ भवनैर्गुण्यदर्शनतस्तन्निर्वेदादात्मनिःसरणमेव केवलमभिवाञ्छति तथैव चेष्टते स मुण्डकेवली भवति इति ।

अन्यस्त्वाह। अमर्त्यपूज्यमिति न वाच्यम्। यावता यथोद्दिष्टगुणगरिष्ठस्य त्रिभुवनविभोरमर्त्यपूज्यत्वं न कथञ्चन व्यभिचरतीति। सत्यम्। लौकिकानां हि अमर्त्याः पूज्यतया प्रसिद्धाः, तेषामपि भगवानेव पूज्य इति विशेषणेनानेन ज्ञापयन्नाचार्यः परमेश्वरस्य देवाधिदेवत्वमावेदयति ।। एवं पूर्वार्धे चत्वारोऽतिशया उक्ताः ।।

अनन्तविज्ञानत्वं च सामान्यकेवलिनामप्यवश्यंभावीत्यतस्तद्व्यवच्छेदाय श्रीवर्धमानमिति विशेष्यपदमपि विशेषणरूपतया व्याख्यायते। श्रिया चतुस्त्रिंशदतिशयसमृद्ध्यनुभवात्मकभावाऽर्हन्त्यरूपया वर्धमानं वर्धिष्णुम्। नन्वतिशयानां परिमितत्वयैव सिद्धान्ते प्रसिद्धत्वात्कथं वर्धमानतोपपत्तिः। इति चेत्, न। यथा निशीथचूर्णौ[1] भगवतां श्रीमदर्हतामष्टोत्तरसहस्रसङ्ख्यबाह्यलक्षणसङ्ख्यायाया उपलक्षणत्वेनान्तरङ्गलक्षणानां सत्त्वादीनामानन्त्यमुक्तम्। एवमतिशयानामधिकृतपरिगणनायोगेऽप्यपरिमितत्वमविरुद्धम्। ततो नातिशयश्रिया वर्धमानत्वं दोषाश्रय इति ।।

अतीतदोषता चोपशान्तमोहगुणस्थानवर्तिनामपि सम्भवतीत्यतः क्षीणमोहाख्याऽप्रतिपातिगुणस्थान[2]प्राप्तिप्रतिपत्त्यर्थं जिनमिति विशेषणम्। रागादिजेतृत्वाद् जिनः, समूलकाषङ्क-

---

अबाध्यसिद्धान्त विशेषण दिया है। मुण्डकेवली सिद्धान्तकी रचना करनेमें ही असमर्थ हैं, फिर उस सिद्धान्तके अबाध्य होनेकी बात ही नहीं।

(ध) शंका—'अमर्त्यपूज्य' विशेषणकी क्या आवश्यकता है? क्योंकि उक्त गुणोंसे युक्त भगवान् देवों द्वारा पूजनीय होते ही हैं। समाधान—लौकिक पुरुष देवोंको ही पूज्य दृष्टिसे देखते हैं। ये देव भी भगवान्को ही पूज्य मानते हैं, यही सूचित करनेके लिए आचार्यमहोदयने भगवान्को देवाधिदेव कहा है ।। इस प्रकार पूर्वार्धके श्लोकमें चार अतिशयोंका वर्णन किया गया है ।।

श्रीवर्धमान आदि विशेषणोंकी सार्थकता

अनन्तविज्ञान सामान्यकेवलियोंमें भी पाया जाता है, अतएव सामान्यकेवलियोंके परिहारके लिए 'श्रीवर्धमान' विशेष्य होनेपर भी इसकी विशेषणरूपसे व्याख्या की गयी है। श्रीवर्धमान अर्थात् चौंतीस अतिशयोंकी (देखिए परिशिष्ट [क]) समृद्धि भाव—अर्हन्तरूप लक्ष्मीसे बढ़े हुए। शंका—जैन-सिद्धान्तमें अतिशयोंकी संख्या सीमित (चौंतीस) है, फिर 'अतिशय समृद्धिसे बढ़े हुए' कहना ठीक नहीं है? समाधान—निशीथचूर्णि में श्रीअरहन्त भगवान्के एक हजार आठ बाह्य लक्षणोंको उपलक्षण मानकर सत्त्व आदि अन्तरंग लक्षणोंको अनन्त कहा गया है। इसी प्रकार उपलक्षणसे अतिशयोंको परिमित मानकर भी उन्हें अनन्त कहा जा सकता है, इसलिए कोई शास्त्रविरोध नहीं है। अतएव 'अतिशय लक्ष्मीसे बढ़े हुए' कहना दोषयुक्त नहीं है।

'अतीतदोषत्व' उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थानवालोंके भी सम्भव है, इसलिए अप्रतिपाति क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थानकी प्राप्ति बतानेके लिए 'जिन' विशेषण दिया गया है। जिसने रागादि

---

१. निशीथचूर्णिग्रन्थे १७ उद्देशे; उपाध्याय कविअमरमुनिना मुनिकन्हैयालालेन च सम्पादितः, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९५७-६०।

२. गुणस्थानस्य चतुर्दशभेदा :

१ मिच्छे २ सासण ३ मीसे ४ अविरय ५ देसे ६ पमत्त ७ अपमत्ते।

८ नियट्टि ९ अनियट्टि १० सुहुमु ११ वसम १२ खीण १३ सजोगि १४ अजोगिगुणा।

(द्वितीयकर्मग्रन्थे द्वितीय गाथा)।

छाया—मिथ्यात्वसासादनमिश्रमविरतदेशं प्रमत्ताप्रमत्तम्।

निवृत्त्यनिवृत्तिसूक्ष्मोपशमक्षीणसयोग्ययोगिगुणाः ।।

षितरागादिदोष इति। अबाध्यसिद्धान्तता च श्रुतकेवल्या[1]दिष्वपि दृश्यतेऽतस्तदपोहायाप्तमुख्यमिति विशेषणम्। आप्तिर्हि रागद्वेषमोहानामैकान्तिक आत्यन्तिकश्च[2] क्षयः, सा येषामस्ति ते खल्वाप्ताः। अभ्रादित्वाद्[3]मत्वर्थीयोऽच्प्रत्ययः। तेषु मध्ये मुखमिव सर्वाङ्गानां प्रधानत्वेन मुख्यम्। "शाखादेर्यः[4]" इति तुल्ये यः। अमर्त्यपूज्यता च तथाविधगुरूपदेशपरिचर्यापर्याप्तविद्याचरणसम्पन्नानां सामान्यमुनीनामपि न दुर्घटा। अतस्तन्निराकरणाय स्वयम्भुवमिति विशेषणम्। स्वयम्–आत्मनैव, परोपदेशनिरपेक्षतयाऽवगततत्त्वो भवतीति स्वयम्भूः–स्वयं संबुद्धः, तम्। एवंविधं चरमजिनेन्द्रं स्तोतुं–स्तुतिविषयीकर्तुम् अहं यतिष्ये–यत्नं करिष्यामि। अत्र चाचार्यो भविष्यत्कालप्रयोगेण योगिनामप्यशक्यानुष्ठानं भगवद्गुणस्तवनं मन्यमानः श्रद्धामेव स्तुतिकरणेऽसाधारणं कारणं ज्ञापयन् यत्नकरणमेव मदधीनं पुनर्यथाऽवस्थितभगवद्गुणस्तवनसिद्धिरिति सूचितवान्। अहमिति च गतार्थत्वेऽपि परोपदेशान्यानुवृत्त्यादिनिरपेक्षतया निजश्रद्धयैव स्तुतिप्रारम्भ इति ज्ञापनार्थम्॥

अथवा। श्रीवर्धमानादिविशेषणचतुष्टयमनन्तविज्ञानादिपदचतुष्टयेन सह हेतुहेतुमद्भावेन व्याख्यायते। यत एव श्रीवर्धमानम्, अत एवानन्तविज्ञानम्। श्रिया—कृत्स्नकर्म-

---

दोषोंको जीतकर उन्हें जड़मूलसे नष्ट कर दिया है, उसे जिन कहते हैं। 'अबाध्यसिद्धान्त' श्रुतकेवली आदिमें भी पाया जाता है, उसका निराकरण करनेके लिए 'आप्तमुख्य' विशेषण दिया गया है। जिसके राग, द्वेष और मोहका सर्वथा क्षय हो गया है, उसे आप्त कहते हैं। [यहाँ अभ्रादिगणमें मत्वर्थमें 'अच्' प्रत्यय हुआ है; ('अभ्रादिभ्यः' हेमशब्दानुशासन ७।२।४६)। जिस प्रकार सम्पूर्ण अंगोंमें मुख प्रधान है, इसी तरह जिनेन्द्रभगवान् आप्तोंमें प्रधान हैं, इसलिए उन्हें आप्तमुख्य कहा गया है। यहाँ 'शाखादेर्यः' (हेमशब्दानुशासन ७।१।११४) सूत्रसे तुल्य अर्थमें 'य' प्रत्यय हुआ है]। सद्गुरुओंके उपदेश और सेवासे पर्याप्त ज्ञान और चारित्रको प्राप्त करनेवाले सामान्य मुनि भी देवों द्वारा पूजे जाते हैं, इसलिए उनका निराकरण करनेके लिए 'स्वयम्भू' विशेषण दिया गया है। जिसने दूसरेके उपदेशके बिना स्वयं ही तत्त्वोंको जान लिया है, वह स्वयम्भू कहलाता है–जो स्वयं सम्बुद्ध हो। इन पूर्वोक्त विशेषणोंसे युक्त अन्तिम जिनेन्द्र (वर्धमानस्वामी) की स्तुति करनेका मैं (हेमचन्द्र) प्रयत्न करूँगा। भगवान्के गुणोंका स्तवन योगियों द्वारा भी अशक्य है, और असाधारण श्रद्धाके वश ही उन गुणोंकी स्तुति की जाती है, यह सूचित करनेके लिए आचार्यने 'यतिष्ये' भविष्यकालका प्रयोग किया है। अर्थात् प्रयत्न करना ही मेरे अधीन है, यथावस्थित भगवान्के गुणोंके स्तवनकी सिद्धि नहीं, यही इससे सूचित होता है। यद्यपि 'यतिष्ये' कहनेसे 'अहं' का स्वयं बोध हो जाता है, फिर भी दूसरोंके उपदेशके बिना; बिना किसीकी आज्ञाके, केवल अपनी ही भक्तिसे मैं इस स्तवनको आरम्भ करता हूँ, यह बतानेके लिए 'अहं' पद दिया गया है।

अथवा—(१) श्रीवर्धमानं, (२) जिनं, (३) आप्तमुख्यं, (४) स्वयम्भुवं–ये चारों विशेषण क्रमशः (१) अनन्तविज्ञानं, (२) अतीतदोषं, (३) अबाध्यसिद्धान्तं, (४) अमर्त्यपूज्यंके साथ कारण और कार्यरूपसे प्रतिपादित किये जा सकते हैं। भगवान् सम्पूर्ण कर्मोंके नाशसे उत्पन्न होनेवाली अनन्तचतुष्टय लक्ष्मीसे

---

१. श्रुतेन केवलिनः श्रुतकेवलिनः, चतुर्दशपूर्वधरत्वात्।
अथ प्रभवः प्रभुः। शय्यम्भवो यशोभद्रः सम्भूतविजयस्ततः॥३३॥
भद्रबाहुः स्थूलभद्रः श्रुतकेवलिनो हि षट्॥३४॥
इति अभिधानचिन्तामणौ प्रथमकाण्डे।

२. निःशेषीकृतेऽपि पुनरुद्भवमाशङ्क्यात्यन्तिकः, अभूयःसम्भवदोषविनाशः।

३. 'अभ्रादिभ्यः' हैमसूत्रम् ७।२।४६।

४. हैमसूत्रम् ७।१।११४।

क्षयाविर्भूतानन्तचतुष्क[1]सम्पद्रूपया वर्धमानम् । यद्यपि श्रीवर्धमानस्य परमेश्वरस्यानन्तचतुष्कसम्पत्तेरुत्पत्त्यनन्तरं सर्वकालं तुल्यत्वाच्चयापचयौ न स्तः, तथापि निरपचयत्वेन शाश्वतिकावस्थानयोगाद्वर्धमानत्वमुपचर्यते । यद्यपि च श्रीवर्धमानविशेषणेनानन्तचतुष्कान्तर्भावित्वेनानन्तविज्ञानत्वमपि सिद्धम्, तथाप्यनन्तविज्ञानस्यैव परोपकारसाधकतमत्वाद्, भगवत्प्रवृत्तेश्च परोपकारैकनिबन्धनत्वाद्, अनन्तविज्ञानत्वं शेषानन्तत्रयात् पृथग् निर्धार्याचार्येणोक्तम् ॥

ननु यथा जगन्नाथस्यानन्तविज्ञानं परार्थं, तथाऽनन्तदर्शनस्यापि केवलदर्शनापरपर्यायस्य पारार्थ्यमव्याहतमेव । केवलज्ञानकेवलदर्शनाभ्यामेव हि स्वामी क्रमप्रवृत्तिभ्यामुपलब्धं सामान्यविशेषात्मकं पदार्थसार्थं परेभ्यः प्ररूपयति । तत्किमर्थं तन्नोपात्तम् ? इति चेत्, उच्यते । विज्ञानशब्देन तस्यापि संग्रहाददोषः, ज्ञानमात्राया[2] उभयत्रापि समानत्वात् । य एव हि अभ्यन्तरीकृतसमता[3]ख्यधर्मा विषमताधर्मविशिष्टा ज्ञानेन गम्यन्तेऽर्थाः, त एव ह्यभ्यन्तरीकृतविषमताधर्माः समताधर्मविशिष्टा दर्शनेन गम्यन्ते; जीवस्वाभाव्यात् । सामान्यप्रधानमुपसर्जनीकृत[4]विशेषमर्थग्रहणं दर्शनमुच्यते । तथा प्रधानविशेषमुपसर्जनीकृतसामान्यं च ज्ञानमिति ॥

तथा यत एव जिनम्, अत एवातीतदोषम् । रागादिजेतृत्वाद्धि जिनः । न चाजिनस्यातीतदोषता । तथा यत एवाप्तमुख्यम्, अत एवाबाध्यसिद्धान्तम् । आप्तो हि प्रत्ययित उच्यते । तत आप्तेषु मुख्यं श्रेष्ठमाप्तमुख्यम् । आप्तमुख्यत्वं च प्रभोरविसंवादिवचनतया विश्वविश्वासभूमित्वात् । अत एवाबाध्यसिद्धान्तम् । न हि यथावज्ज्ञानावलोकितवस्तुवादी

वृद्धिगत हैं, अतएव अनन्तविज्ञानके धारक हैं । यद्यपि वर्धमानस्वामीके अनन्तचतुष्टय रूप लक्ष्मी सर्वदा एक समान रहती है, अतएव उसमें घटना-बढ़ना नहीं होता, फिर भी उस लक्ष्मीके सदा एक समान रहनेके कारण उसमें वर्धमानताका उपचारसे प्रतिपादन किया गया है । तथा, यद्यपि श्रीवर्धमान विशेषणसे अनन्तविज्ञान अनन्तचतुष्टयमें गर्भित हो जाता है, फिर भी अनन्तविज्ञानसे ही जीवोंका परोपकार होता है, और परोपकारके लिए ही भगवान्‌की प्रवृत्ति होती है, इसलिए अनन्तविज्ञानको अनन्तदर्शन, अनन्तचारित्र और अनन्तवीर्य इन तीनोंसे पृथक् कहा है ।

शंका—जिस प्रकार भगवान्‌का अनन्तज्ञान परोपकारके लिए कहा जाता है, उसी तरह अनन्तदर्शन—केवलदर्शन—भी परोपकारके लिए ही होता है । क्योंकि क्रमसे होनेवाले केवलज्ञान और केवलदर्शनसे जाने हुए सामान्य-विशेष पदार्थोंको ही भगवान् दूसरोंको प्रतिपादित करते हैं । फिर, यहाँ अनन्तदर्शनका उल्लेख क्यों नहीं किया है ? समाधान—अनन्तज्ञानमें ज्ञान शब्दसे दर्शनका भी सूचन होता है, क्योंकि केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनोंमें ज्ञानकी मात्रा समान है । कारण कि जो पदार्थ सामान्य धर्मोंको गौण करके विशेष धर्मों सहित ज्ञानसे जाने जाते हैं, वे ही पदार्थ विशेष धर्मोंको गौणतापूर्वक सामान्य धर्मों सहित दर्शनसे जाने जाते हैं; क्योंकि ज्ञान और दर्शन दोनों ही जीवके स्वभाव हैं । सामान्यकी मुख्यतापूर्वक विशेषको गौण करके पदार्थके जाननेको दर्शन कहते हैं । तथा विशेषकी मुख्यतापूर्वक सामान्यको गौण करके किसी वस्तुके जाननेको ज्ञान कहते हैं ।

अतएव भगवान् जिन हैं, इसी कारण दोषोंसे रहित हैं । रागादि जीतनेके कारण उन्हें जिन कहा गया है । जो जिन नहीं हैं, वे दोषोंसे रहित नहीं हैं । भगवान् आप्तोंमें मुख्य हैं, इसलिए उनका सिद्धान्त बाधारहित है । जो प्रतीति (विश्वास) के योग्य है, उसे आप्त कहते हैं । जो आप्तोंमें प्रधान अर्थात् श्रेष्ठ हो वह आप्तमुख्य है । भगवान् के वचनोंमें कोई विसंवाद न होनेसे तथा सब प्राणियोंकी विश्वासभूमि होनेसे

---

१. (१) अनन्तज्ञान (२) अनन्तदर्शन (३) अनन्तचारित्र (४) अनन्तवीर्य इति चतुष्कम् ।
२. ज्ञानेयत्तायाः । ३. समता—सामान्याख्यधर्मः । ४. उपसर्जनं—गौणम् ।

सिद्धान्तः कुनयैर्बाधितुं शक्यते। यत एव स्वयम्भुवम्, अत एवामर्त्यपूज्यम्। पूज्यते हि देवदेवो जगत्त्रयविलक्षणलक्षणेन स्वयंसम्बुद्धत्वगुणेन सौधर्मेन्द्रादिभिरमर्त्यैरिति। अत्र च श्रीवर्धमानमिति विशेषणतया यद् व्याख्यातं तदयोगव्यवच्छेदाभिधानप्रथमद्वात्रिंशिकाप्रथमकाव्यतृतीयपादवर्तमानं "श्रीवर्धमानाभिधमात्मरूपम्[१]" इति विशेष्यवर्तमानं बुद्धौ सम्प्रधार्य विज्ञेयम्। तत्र हि आत्मरूपमिति विशेष्यपदम्, प्रकृष्ट आत्मा आत्मरूपस्तं परमात्मानमिति यावत्। आवृत्त्या वा विशेषणमपि विशेष्यतया व्याख्येयम्॥ इति प्रथमवृत्तार्थः॥१॥

अस्यां च स्तुतावन्ययोगव्यवच्छेदोऽधिकृतस्तस्य च तीर्थान्तरीयपरिकल्पिततत्त्वाभासनिरासेन तेषामाप्तत्वव्यवच्छेदः स्वरूपम्। तच्च भगवतो यथावस्थितवस्तुतत्त्ववादित्वख्यापनेनैव प्रामाण्यमश्नुते। अतः स्तुतिकारस्त्रिजगद्गुरोर्निःशेषगुणस्तुतिश्रद्धालुरपि सद्भूतवस्तुवादित्वाख्यं गुणविशेषमेव वर्णयितुमात्मनोऽभिप्रायमाविष्कुर्वन्नाह—

अयं जनो नाथ! तव स्तवाय गुणान्तरेभ्यः स्पृहयालुरेव।
विगाहतां किन्तु यथार्थवादमेकं परीक्षाविधिदुर्विदग्धः॥२॥

भगवान् आप्तमुख्य हैं। अतएव भगवान्का सिद्धान्त अबाध्य है। क्योंकि जिस प्रकार पदार्थ ज्ञानमें झलकते हैं, उन्हें उसी प्रकार कथन करनेवाले सिद्धान्तमें बाधा नहीं आ सकती। भगवान् स्वयम्भू हैं, इसलिए देवोंसे वन्दनीय हैं। तीनों लोकोंमें विलक्षण स्वयम्भूसम्बुद्धत्व (स्वयं ज्ञानको प्राप्त) गुणके कारण देवोंके देव भगवान् सौधर्म इन्द्रादि देवोंसे पूजे जाते हैं। यहाँ 'श्रीवर्धमान' विशेषणका सम्बन्ध अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकाके प्रथम श्लोकके तृतीय चरण 'श्रीवर्धमानाभिधमात्मरूपम्' विशेष्यके साथ लगाना चाहिए। 'आत्मरूप' विशेष्य है; जिसकी आत्मा प्रकृष्ट हो उसे आत्मरूप—परमात्मा—कहते हैं। अथवा पुनः आवृत्ति करके, श्रीवर्धमान पदको पहले विशेषण बनाकर फिर विशेष्य रूपसे प्रतिपादन करना चाहिए॥ यह प्रथम श्लोकका अर्थ है॥१॥

भावार्थ—इस श्लोकमें ग्रन्थके आदिमें मंगलाचरण द्वारा भगवान्का स्तवन करते हुए, अनन्तविज्ञान, अतीतदोष, अबाध्यसिद्धान्त, अमर्त्यपूज्य विशेषणोंसे भगवानके ज्ञानातिशय, अपायापगमातिशय, वचनातिशय, पूजातिशय नामक चार अतिशयोंका प्रतिपादन किया गया है। तथा आजीवक और वैशेषिकमतके निराकरण करनेके लिए क्रमशः अनन्तविज्ञान और अतीतदोष, तथा अपौरुषेय वेदादिकी निवृत्तिके लिए और भगवान्का देवाधिदेवत्व सूचित करनेके लिए क्रमसे अबाध्यसिद्धान्त और अमर्त्यपूज्य विशेषण दिये गये हैं।

इस स्तुतिमें 'अन्ययोगव्यवच्छेद' अर्थात् 'दूसरे दर्शनोंका व्यवच्छेद' किया गया है। अन्य तीर्थिकों द्वारा मान्य तत्त्वाभासोंके खण्डन करनेसे ही उनके आप्तत्वका व्यवच्छेद किया जा सकता है। तथा यह कार्य भगवान्के यथार्थवादित्व गुणके विवेचनसे ही साध्य हो सकता है। अतएव स्तुतिकार आचार्य तीन लोकके अधिपति भगवान्के समस्त गुणोंकी स्तुतिमें श्रद्धा रखते हुए भी यथार्थवादित्व गुणका ही वर्णन करते हैं—

श्लोकार्थ—हे नाथ! परीक्षा करनेमें अपनेको पण्डित समझनेवाला, मैं (हेमचन्द्र), आपके दूसरे गुणोंके प्रति स्पृहाभाव रखते हुए भी, आपके स्तवनके लिए आपके यथार्थवाद गुणका प्रतिपादन करता हूँ।

---

१. अगम्यमध्यात्मविदामवाच्यं वचस्विनामक्षवतां परोक्षम्।
श्रीवर्धमानाभिधमात्मरूपमहं स्तुतेर्गोचरमानयामि॥१॥
इति अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकायां सम्पूर्णः श्लोकः।

हे नाथ ! अयं—मल्लक्षणो जनः; तव गुणान्तरेभ्यो—यथार्थवादव्यतिरिक्तेभ्योऽनन्य-साधारणशारीरलक्षणादिभ्यः, स्पृहयालुरेव—श्रद्धालुरेव । किमर्थम् ? स्तवाय—स्तुतिकरणाय । इयं "तादर्थ्ये चतुर्थी[1]" । पूर्वत्र तु "स्पृहेर्व्याप्यं वा[2]" इतिलक्षणा चतुर्थी । तव गुणान्तराण्यपि स्तोतुं स्पृहावानयं[3] जन इति भावः । ननु यदि गुणान्तरस्तुतावपि स्पृहयालुता तत्कि[4] तान्यपि स्तोष्यति स उत नेत्याशङ्कयोत्तरार्धमाह—किन्त्विति—अभ्युपगमपूर्वकविशेषद्योतने निपातः । एकम्—एकमेव । यथार्थवादं—यथावस्थितवस्तुतत्त्वप्रख्यापनाख्यं त्वदीयं गुणम्, अयं जनो विगाहतां—स्तुतिक्रियया समन्ताद्व्याप्नोतु । तस्मिन्नेकस्मिन्नपि हि गुणे वर्णिते तन्त्रान्तरीयदैवतेभ्यो वैशिष्टयख्यापनद्वारेण वस्तुतः सर्वगुणस्तवनसिद्धेः ।

अथ प्रस्तुतगुणस्तुतिः सम्यक्परीक्षाक्षमाणां दिव्यदृशामे[5]वौचिती[6]मञ्चति, नार्वाग्दृशां[7] भवादृशामित्याशङ्कां विशेषणद्वारेण निराकरोति । यतोऽयं जनः परीक्षाविधिदुर्विदग्धः—अधिकृतगुणविशेषपरीक्षणविधौ दुर्विदग्धः—पण्डितंमन्य इति यावत् । अयमाशयः । यद्यपि जगद्गुरोर्यथार्थवादित्वगुणपरीक्षा मादृशां मतेरगोचरः, तथापि भक्तिश्रद्धातिशयात् तस्यामहमात्मानं विदग्धमिव मन्य इति । विशुद्धश्रद्धाभक्तिव्यक्तिमात्रस्वरूपत्वात् स्तुतेः ॥ इति वृत्तार्थः ॥२॥

व्याख्यार्थ—हे नाथ ! मैं (हेमचन्द्र) आपके यथार्थवादके अतिरिक्त दूसरोंमें न पाये जानेवाले शरीरलक्षण आदि अन्य गुणोंके प्रति भी श्रद्धा रखता हूँ । ['स्तवाय' यहाँ 'तादर्थ्ये चतुर्थी' (२।२।५४) सूत्रसे तादर्थ्यमें चतुर्थी, तथा 'गुणान्तरेभ्यः' पदमें 'स्पृहेर्व्याप्यं वा' (२।२।२६) सूत्रसे स्पृह् धातुके कर्ममें विकल्पसे चतुर्थी विभक्तिका प्रयोग हुआ है] । तात्पर्य यह कि आपके अन्य गुणोंका स्तवन करनेकी भी मेरी इच्छा है । शंका—यदि अन्य गुणोंके स्तवन करनेमें भी आपकी श्रद्धा है तो उनकी उपेक्षा क्यों करते हैं ? समाधान—इसका उत्तर श्लोकके उत्तरार्धमें दिया गया है । 'किन्तु' शब्दका यहाँ स्वीकृतिपूर्वक विशेष अर्थमें निपात हुआ है । यथार्थवाद नामक एक ही गुणके वर्णनसे अन्यमतों द्वारा मान्य देवताओंसे भगवान्की विशिष्टता सिद्ध होती है इसलिए इस एक गुणके स्तवनसे भगवान्के सम्पूर्ण गुणोंका स्तवन हो जाता है ।

शंका—उत्तम रीतिसे परीक्षा करनेमें समर्थ दिव्य, नेत्रवाले मुनीश्वर ही भगवान्के गुणोंकी स्तुति कर सकते हैं, आप जैसे छद्मस्थोंमें स्तुति करनेकी योग्यता नहीं है । समाधान—प्रस्तुत गुणोंकी परीक्षामें अपनेको पण्डित मानकर मैं (हेमचन्द्र) स्तुति आरम्भ करता हूँ । तात्पर्य यह है कि यद्यपि भगवान्के यथार्थवादित्व गुणकी परीक्षा करना मेरी बुद्धिके बाहर है, फिर भी भक्ति और श्रद्धाके वश मैं उस परीक्षामें अपनेको पण्डित समझता हूँ । क्योंकि विशुद्ध श्रद्धा और भक्ति प्रकट करना ही स्तुति है ॥ यह श्लोकका अर्थ है ॥२॥

भावार्थ—यद्यपि भगवान् अनन्त गुणोंसे भूषित हैं, परन्तु अन्य मतों द्वारा मान्य आप्तोंसे भगवानकी असाधारणता दिखानेके लिये भगवान्के यथार्थवाद गुणका स्तवन करना ही पर्याप्त है । अतएव हेमचन्द्राचार्य दूसरे गुणोंके प्रति श्रद्धा रखते हुए भी यहाँपर भगवानके यथार्थवाद गुणकी ही स्तुति करते हैं ।

---

१. हैमसूत्रम् २।२।५४ । २. हैमसूत्रम् २।२।२६ । ३. 'स्पृहावानेवायम्' पाठान्तरम् । ४. 'तत्किमर्थं तत्रोपेक्षा इत्याशङ्क्योत्तरार्धमाह' पाठान्तरम् । ५. अतीन्द्रियज्ञानिनां । ६. योग्यतां । ७. छद्मस्थानां ।

अथ ये कुतीर्थ्याः कुशास्त्रवासनावासितस्वान्ततया त्रिभुवनस्वामिनं स्वामित्वेन न प्रतिपन्नाः, तानपि तत्त्वविचारणां प्रति शिक्षयन्नाह—

गुणेष्वसूयां दधतः परेऽमी मा शिश्रियन्नाम भवन्तमीशम् ।
तथापि संमील्य विलोचनानि विचारयन्तां नयवर्त्म सत्यम् ।।३।।

अमी इति--"अदसस्तु विप्रकृष्टे"[1] इति वचनात् तत्त्वातत्त्वविमर्शबाह्यतया दूरीकरणार्हत्वाद् विप्रकृष्टाः, परे--कुतीर्थिकाः, भवन्तं--त्वाम्, अनन्यसामान्यसकलगुणनिलयमपि; मा ईशं शिश्रियन्--मा स्वामित्वेन प्रतिपद्यन्ताम् । यतो गुणेष्वसूयां दधतः--गुणेषु दोषाविष्करणं ह्यसूया । यो हि यत्र मत्सरी भवति स तदाश्रयं नानुरुध्यते, यथा माधुर्यमत्सरी करभः पुण्ड्रेक्षुकाण्डम् । गुणाश्रयश्च भवान् । एवं परतीर्थिकानां भगवदाज्ञाप्रतिपत्तिं प्रतिषिध्य स्तुतिकारो माध्यस्थमिवास्थाय, तान्प्रति हितशिक्षामुत्तरार्धेनोपदिशति । तथापि--त्वदाज्ञाप्रतिपत्तेरभावेऽपि, लोचनानि नेत्राणि, संमील्य--मिलितपुटीकृत्य, सत्यं--युक्तियुक्तं, नयवर्त्म--न्यायमार्गं, विचारयन्तां--विमर्शविषयीकुर्वन्तु ।।

अत्र च विचारयन्तामित्यात्मनेपदेन फलवत्कर्तृविषयेणैवं ज्ञापयत्याचार्यो यदवितथनयपथविचारणया तेषामेव फलं, वयं केवलमुपदेष्टारः । किं तत्फलम् ? इति चेत्, प्रेक्षावत्तेति ब्रूमः । संमील्य विलोचनानीति च वदतः प्रायस्तत्त्वविचारणमेकाग्रताहेतुनयननिमीलनपूर्वकं लोके प्रसिद्धमित्यभिप्रायः । अथवा अयमुपदेशस्तेभ्योऽरोचमान एवाचार्येण वितीर्यते ततोऽस्वदमानोऽप्ययं कटुकौषधपानन्यायेनायतिसुखत्वाद् भवद्भिर्नेत्रे निमील्य पेय एवेत्याकूतम् ।।

मिथ्याशास्त्रोंकी वासनासे दूषित जो कुतीर्थिक तीन लोकके स्वामी जिनभगवान्‌को स्वामी नहीं मानते, उन्हें उपदेश देनेके लिए कहते हैं—

श्लोकार्थ—हे नाथ, यद्यपि आपके गुणोंमें ईर्ष्या रखनेवाले तीर्थिक आपको स्वामी नहीं मानते, परन्तु ये लोग आपके सत्य न्याय मार्गका जरा नेत्र बन्द करके विचार तो करें ।

व्याख्यार्थ—'अमी परे भवन्तं मां ईशं शिश्रियन्, यतः गुणेषु असूयां दधतः' तत्त्व और अतत्त्वका विचार न करनेवाले दूरस्थ परमतावलम्बी असाधारण गुणोंके समूह ऐसे आपको ईश्वर नहीं मानते, क्योंकि वे आपके गुणोंमें ईर्ष्या करते हैं । गुणोंके रहते हुए भी दोषान्वेषणको असूया (ईर्ष्या) कहते हैं । जो जिन गुणोंमें ईर्ष्या करता है, वह उन गुणोंको गुणरूपसे नहीं स्वीकार करता । जैसे माधुर्य रससे ईर्ष्या करनेवाला ऊँट पौण्डेको नहीं चाहता । परन्तु गुण आपमें मौजूद हैं । इस प्रकार भगवान्‌की आज्ञाकी स्वीकारोक्तिका प्रतिषेध करनेवाले तीर्थिकोंके प्रति उदासीन भाव रखते हुए आचार्य उपदेश करते हैं । 'तथापि'—आपकी आज्ञाको न मानकर भी, तैर्थिक लोग नेत्र बन्द करके आपके युक्तियुक्त न्यायमार्गका जरा विचार तो करें ।

यहाँ 'विचारयन्तां' आत्मनेपदका प्रयोग किया गया है, इसलिए क्रियाका फल कर्त्ताको ही मिलना चाहिए । अर्थात् सच्चे न्यायमार्गका विचार करनेसे तैर्थिक लोगोंको ही फल मिलेगा क्योंकि हम तो केवल उपदेश देनेवाले हैं । वह फल कौन-सा है ? प्रेक्षावान होना ही उस फलकी सार्थकता है । यहाँ किसी तत्त्वका विचार करते समय एकाग्रता प्राप्त करनेके लिए नेत्रोंको बन्द कर विचार करनेकी लौकिक विधिका सूचन किया गया है । अथवा उपदेशके रुचिकर नहीं होनेपर भी आचार्य इसका उपदेश देते हैं । अतएव 'कटुक औषध-पान' न्यायसे इस उपदेशके कटु होनेपर भी यह उपदेश आगामी कालमें सुखकर होगा, इसलिए इस उपदेशका नेत्र निमीलित करके पान करना चाहिए ।

---

१. इदमस्तु संनिकृष्टे समीपतरवर्ति चैतदो रूपम् । अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात् ।।१।। इति सम्पूर्णः श्लोकः ।

ननु यदि च पारमेश्वरे वचसि तेषामविवेकातिरेकादरोचकता, तत्किमर्थं तान् प्रत्युपदेशक्लेश इति ? नैवम्। परोपकारसारप्रवृत्तीनां महात्मनां प्रतिपाद्यगतां[1] रुचिमरुचिं वानपेक्ष्य हितोपदेशप्रवृत्तिदर्शनात् । तेषां हि परार्थस्यैव स्वार्थत्वेनाभिमतत्वात् । न च हितोपदेशादपरः पारमार्थिकः परार्थः। तथा चार्षम्—

"रूसउ वा परो मा वा, विसं वा परियत्तऊ।
भासियव्वा हिया भासा सपक्खगुणकारिया" ॥[2]

उवाच च वाचकमुख्यः[3]—

"न भवति धर्मः श्रोतुः सर्वस्यैकान्ततो हितश्रवणात्।
ब्रुवतोऽनुग्रहबुद्धया वक्तुस्त्वेकान्ततो भवति" ॥[4]

इति वृत्तार्थः ॥३॥

अथ यथावन्नयवर्त्मविचारमेव प्रपञ्चयितुं पराभिप्रेततत्त्वानां प्रामाण्यं निराकुर्वन्नादितस्तावत्काव्यषट्केनौलूक्यमताभिमततत्त्वानि दूषयितुकामस्तदन्तःपातिनौ प्रथमतरं सामान्यविशेषौ दूषयन्नाह—

शंका—यदि अविवेककी प्रचुरतासे किसीको जिनेन्द्र भगवान्के वचनोंमें रुचि नहीं होती, तो आप उसे क्यों उपदेश देनेका कष्ट उठाते हैं ? समाधान—यह बात नहीं है। परोपकार स्वभाववाले महात्मा पुरुष किसी पुरुषको रुचि और अरुचिको न देखकर हितका उपदेश करते हैं। क्योंकि महात्मा लोग दूसरेके उपकारको ही अपना उपकार समझते हैं। हितका उपदेश देनेके बराबर दूसरा कोई पारमार्थिक उपकार नहीं है। आर्षवाक्य है—

"उपदेश दिया जानेवाला पुरुष चाहे रोष करे, चाहे वह उपदेशको विषरूप समझे, परन्तु स्वपक्ष हितरूप वचन अवश्य कहने चाहिए"

उमास्वाति वाचकमुख्यने भी कहा है—

"सभी उपदेश सुननेवालोंको पुण्य नहीं होता है। परन्तु अनुग्रह बुद्धिसे हितका उपदेश देनेवालेको निश्चय ही पुण्य मिलता है॥"

यह श्लोकका अर्थ है ॥३॥

भावार्थ—एकान्तरूपसे वस्तु तत्त्वको स्वीकार करनेवाले अन्यमतावलम्बी आपके गुणोंमें ईर्ष्याबुद्धि रखते हुए आपको अपना इष्टदेव नहीं मानते। परन्तु यदि वे लोग एकान्तका आग्रह छोड़कर आप द्वारा प्रतिपादित न्यायमार्गका विचार करें, तो उन्हें आपकी महत्ता स्वयं ही प्रकट हो जायगी।

अब यथार्थ नयमार्गका विचार करनेके लिए परमतावलम्बियों द्वारा मान्य तत्त्वोंके प्रामाण्यका निराकरण करनेके हेतु छह श्लोकोंमें वैशेषिकमतके तत्त्वोंमें दूषण बताते हुए सर्वप्रथम 'सामान्य-विशेष'में दोष दिखाते हैं।

---

१. बोध्यछात्रविषयिणीम्।

२. छाया—रुषतु वा परो मा वा विषं वा परिवर्तयतु (विषवत् प्रतिभातु वा)।
भाषितव्या हिता भाषा स्वपक्षगुणकारिका ॥
एतदर्थक एव श्लोको श्रीहेमचन्द्रकृतश्रेणिकचरित्रे द्वितीयसर्गे ३२ उपलभ्यते। तथाहि—
परो रुष्यतु वा मा वा विषवत् प्रतिभातु वा।
भाषितव्या हिता भाषा स्वपक्षगुणकारिणी ॥३२॥

३. उमास्वातिः। अयमुमास्वामीत्यपि भण्यते। ४. तत्त्वार्थसूत्रसम्बन्धकारिकासु २९ श्लोकः।

स्वतोऽनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजो भावा न भावान्तरनेयरूपाः ।
परात्मतत्त्वादतथात्मतत्त्वाद् द्वयं वदन्तोऽकुशलाः स्खलन्ति ॥४॥

अभवन्, भवन्ति, भविष्यन्ति, चेति भावाः—पदार्थाः, आत्मपुद्गलादयस्ते स्वत इति—सर्वं हि वाक्यं सावधारणमामनन्ति इति, स्वत एव—आत्मीयस्वरूपादेव । अनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजः—एकाकारा प्रतीतिरेकशब्दवाच्यता चानुवृत्तिः; व्यतिवृत्तिः—व्यावृत्तिः, सजातीयविजातीयेभ्यः सर्वथा व्यवच्छेदः । ते उभे अपि संवलिते भजन्ते—आश्रयन्तीति अनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजः, सामान्यविशेषोभयात्मका इत्यर्थः ॥

अस्यैवार्थस्य व्यतिरेकमाह । न भावान्तरनेयरूपा इति । नेति निषेधे । भावान्तराभ्यां—पराभिमताभ्यां द्रव्यगुणकर्मसमवायेभ्यः पदार्थान्तराभ्यां भावव्यतिरिक्तसामान्यविशेषाभ्यां । नेयं—प्रतीतिविषयं प्रापणीयं । रूपं—यथासंख्यमनुवृत्तिव्यतिवृत्तिलक्षणं स्वरूपं येषां ते तथोक्ताः । स्वभाव एव ह्ययं सर्वभावानां यदनुवृत्तिव्यावृत्तिप्रत्ययौ स्वत एव जनयन्ति । तथाहि । घट एव तावत् पृथुबुध्नोदराद्याकारवान् प्रतीतिविषयीभवन् सन्नन्यानपि तदाकृतिभृतः पदार्थान् घटरूपतया घटैकशब्दवाच्यतया च प्रत्याययन् सामान्याख्यां लभते । स एव चेतरेभ्यः सजातीयविजातीयेभ्यो द्रव्यक्षेत्रकालभावैरात्मानं व्यावर्तयन् विशेषव्यपदेशमश्नुते[3] । इति न सामान्यविशेषयोः पृथक्पदार्थान्तरत्वकल्पनं न्याय्यम् । पदार्थधर्मत्वेनैव तयोः प्रतीयमानत्वात् । न

श्लोकार्थ—पदार्थ स्वभावसे ही सामान्य-विशेषरूप हैं, उनमें सामान्य-विशेषको प्रतीति करानेके लिए पदार्थान्तर माननेकी आवश्यकता नहीं । इसलिए जो अकुशलवादी पररूप और मिथ्यारूप सामान्य-विशेषको पदार्थसे भिन्नरूप कथन करते हैं, वे न्यायमार्गसे भ्रष्ट होते हैं ।

व्याख्यार्थ—आत्मा और पुद्गलादि पदार्थ अपने स्वरूपसे ही अर्थात् सामान्य और विशेष नामक पृथक् पदार्थोंकी बिना सहायताके ही सामान्य-विशेषरूप होते हैं । एकाकार और एक नामसे कही जानेवाली प्रतीतिको अनुवृत्ति अथवा सामान्य कहते हैं । सजातीय और विजातीय पदार्थोंसे सर्वथा अलग होनेवाली प्रतीतिको व्यावृत्ति अथवा विशेष कहते हैं । आत्मा और पुद्गल आदि पदार्थ स्वभावसे ही इन दोनों धर्मोंसे—सामान्य-विशेषसे—युक्त हैं ।

इसीको व्यतिरेक रूपसे कहते हैं । आत्मा और पुद्गलादि पदार्थ, वैशेषिकों द्वारा मान्य द्रव्य, गुण, कर्म और समवायसे पृथक्, सामान्य और विशेषसे भिन्न नहीं हैं । क्योंकि स्वयं ही सामान्य और विशेषरूप ज्ञानको उत्पन्न करना पदार्थोंका स्वभाव है । उदाहरणके लिए, मोटा, तलीयुक्त और उदर आदि आकारवाला घड़ा स्वयं ही उसी आकृतिवाले अन्य पदार्थोंको भी घटरूप और घटशब्दरूप जनाता हुआ 'सामान्य' कहा जाता है । इसलिए घटको छोड़कर घटसामान्य अथवा घटत्व कोई पृथक् वस्तु नहीं है । यही घड़ा दूसरे सजातीय और विजातीय पदार्थोंसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे अपनी व्यावृत्ति करता हुआ 'विशेष' कहा जाता है । अतएव सामान्य और विशेषको अलग पदार्थ मानना न्यायसंगत नहीं है । क्योंकि सामान्य-विशेषका ज्ञान पदार्थके धर्म (गुण) से ही होता है । तथा धर्मी (गुणी) से धर्म (गुण) सर्वथा भिन्न नहीं होते । क्योंकि धर्म और धर्मीको सर्वथा भिन्न माननेसे विशेषण-विशेष्यसम्बन्ध नहीं बन सकता । उदाहरणके लिए, ऊँट और गधा दोनों सर्वथा भिन्न हैं, इसलिए इनमें धर्म-धर्मी-सम्बन्ध नहीं हो सकता । यदि धर्मको धर्मीसे अलग पदार्थ माना जाय, तो एक ही वस्तुमें अनन्त पदार्थ प्रस्तुत हो जायेंगे कारण कि वस्तु अनन्त-

---

१. अनुवृत्तिः—अन्वयः । व्यतिवृत्तिः—व्यतिरेकः । २. पूरणगलनधर्माणः पुद्गला (दशवैकालिकवृत्ति प्रथमाध्ययने) । ३. विशेषसंज्ञाम् ।

च धर्मा धर्मिणः सकाशादत्यन्तं व्यतिरिक्ताः। एकान्तभेदे विशेषणविशेष्यभावानुपपत्तेः, करभरासभयोरिव धर्मधर्मिव्यपदेशाभावप्रसङ्गाच्च। धर्माणामपि च पृथक्पदार्थान्तरत्वकल्पने एकस्मिन्नेव वस्तुनि पदार्थानन्त्यप्रसङ्गः। अनन्तधर्मकत्वाद् वस्तुनः ॥

तदेवं सामान्यविशेषयोः स्वतत्त्वं यथावदनवबुध्यमाना अकुशलाः अतत्त्वाभिनिविष्टदृष्टयः[1] तीर्थान्तरीयाः स्खलन्ति—न्यायमार्गाद् भ्रश्यन्ति निरुत्तरीभवन्तीत्यर्थः। स्खलनेन चात्र प्रामाणिकजनोपहसनीयता ध्वन्यते। किं कुर्वाणाः, द्वयम्—अनुवृत्तिव्यावृत्तिलक्षणं प्रत्ययद्वयं वदन्तः। कस्मादेतत्प्रत्ययद्वयं वदन्तः? इत्याह। परात्मतत्त्वात्—परौ पदार्थेभ्यो व्यतिरिक्तत्वादन्यौ परस्परनिरपेक्षौ च यौ सामान्यविशेषौ तयोर्यदात्मतत्त्वं स्वरूपम् अनुवृत्तिव्यावृत्तिलक्षणं, तस्मात् तदाश्रित्येत्यर्थः। "गम्ययपः कर्माऽधारे[2]" इत्यनेन पञ्चमी। कथंभूतात् परात्मतत्त्वाद्? इत्याह। अतथात्मतत्त्वात् मा भूत् परात्मतत्त्वस्य सत्यरूपतेति विशेषणमिदम्। यथा येनैकान्तभेदलक्षणेन प्रकारेण परैः प्रकल्पितं, न तथा तेन प्रकारेणात्मतत्त्वं स्वरूपं यस्य तत्तथा। तस्मात् यतः पदार्थेष्वविष्वग्भावेन[3] सामान्यविशेषौ वर्तेते। तैश्च तौ तेभ्यः परत्वेन कल्पितौ। परत्वं चान्यत्वं तच्चैकान्तभेदाविनाभावि ॥

किञ्च, पदार्थेभ्यः सामान्यविशेषयोरेकान्तभिन्नत्वे स्वीक्रियमाणे एकवस्तुविषयमनुवृत्तिव्यावृत्तिरूपं प्रत्ययद्वयं नोपपद्येत। एकान्ताभेदे चान्यतरस्यासत्त्वप्रसङ्गः। सामान्यविशेषव्यवहाराभावश्च स्यात्। सामान्यविशेषोभयात्मकत्वेनैव वस्तुनः प्रमाणेन प्रतीतेः।

धर्मात्मक होती है। (भाव यह है कि वैशेषिक लोग द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छह पदार्थोंको स्वीकार करते हैं। इन छह पदार्थोंमें सामान्य और विशेष नामक पदार्थ द्रव्य, गुण, कर्म आदिसे भिन्न माने गये हैं। दूसरे शब्दोंमें, वैशेषिक मतके अनुसार, पदार्थोंमें 'सामान्य-विशेष'का ज्ञान पदार्थोंका गुण (धर्म) नहीं है, बल्कि यह ज्ञान सामान्य और विशेष नामके भिन्न पदार्थोंसे होता है। उदाहरणके लिए, घटत्व घटका गुण नहीं है, यह घटमें समवाय-सम्बन्धसे रहता है। इसी प्रकार नील-पीत आदि भी घटके गुण नहीं हैं, वे भी घटमें समवाय-सम्बन्धसे रहते हैं। जैनदर्शन अनेकान्तात्मक (सामान्यविशेषात्मक) है, इसलिए वह वैशेषिकोंके इस सिद्धान्तका खण्डन करता है। जैनदर्शनके अनुसार, पदार्थोंमें स्वभावसे ही सामान्य-विशेषकी प्रतीति होती है। क्योंकि सामान्य-विशेष पदार्थोंके ही गुण हैं, कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं। धर्मीसे धर्म भिन्न नहीं हो सकता, अतएव सामान्य-विशेषको भिन्न पदार्थ स्वीकार करना अयुक्तियुक्त है)।

इस प्रकार सामान्य-विशेषके स्वरूपको ठीक-ठीक न समझकर कदाग्रही तैर्थिक लोग न्यायमार्गसे भ्रष्ट हो जाते हैं—निरुत्तर होनेके कारण प्रामाणिक मनुष्योंके हास्यास्पद होते हैं। कारण कि ये लोग सामान्य-विशेषको पदार्थोंसे भिन्न और परस्पर निरपेक्ष स्वीकार करते हैं। परन्तु यह मान्यता सत्य नहीं है। क्योंकि सामान्य-विशेष पदार्थोंमें अभिन्न रूपसे रहते हैं, और वैशेषिकोंने सामान्य-विशेषको पदार्थोंसे एकान्त-भिन्न माना है। परन्तु जैनसिद्धान्तके अनुसार सामान्य-विशेष पदार्थोंके स्वभाव हैं, क्योंकि गुण-गुणीका एकान्त भेद नहीं बन सकता। जैनदर्शनमें सामान्य-विशेष पदार्थोंसे कथंचित् अभिन्न स्वीकार किये गये हैं।

तथा सामान्य-विशेषको पदार्थोंसे सर्वथा भिन्न माननेपर एक वस्तुमें सामान्य और विशेष सम्बन्ध नहीं बन सकते। क्योंकि पदार्थोंके सामान्य-विशेषसे एकान्त-भिन्न होनेके कारण पदार्थ और सामान्य-विशेषका सम्बन्ध ही नहीं हो सकता। यदि सामान्य-विशेषको पदार्थोंसे सर्वथा अभिन्न मानें, तो पदार्थ और सामान्य-विशेषके एकरूप हो जानेसे दोनोंमेंसे एकका अभाव हो जायेगा। तथा, इस तरह सामान्य-विशेषका

---

१. कुत्सिताग्रहवन्तः। २. हैमसूत्रम्। २।२।७४। ३. अपृथग्भावेन।

परस्परनिरपेक्षपक्षस्तु पुरस्तान्निर्लोठयिष्यते। अत एव तेषां वादिनां स्खलनक्रिययोपहसनीयत्वमभिव्यज्यते। यो हि अन्यथास्थितं वस्तुस्वरूपमन्यथैव प्रतिपद्यमानः परेभ्यश्च तथैव प्रज्ञापयन् स्वयं नष्टः परान्नाशयति न खलु तस्मादन्य उपहासपात्रम्॥ इति वृत्तार्थः॥४॥

अथ तदभिमतानेकान्तनित्यपक्षौ दूषयन्नाह—

आदीपमाव्योम समस्वभावं स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापाः॥५॥

आदीपं—दीपादारभ्य, आव्योम—व्योम मर्यादीकृत्य; सर्ववस्तुपदार्थस्वरूपं। समस्वभावं—समः तुल्यः, स्वभावः—स्वरूपं यस्य तत्तथा। किञ्च वस्तुनः स्वरूपं द्रव्यपर्यायात्मकत्वमिति ब्रूमः। तथा च वाचकमुख्यः—"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"[1] इति। समस्वभावत्वं कुतः। इति विशेषणद्वारेण हेतुमाह—स्याद्वादमुद्रानतिभेदि—स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकम्। ततः स्याद्वादः—अनेकान्तवादः, नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैकवस्त्वभ्युपगम इति यावत्। तस्य मुद्रा—मर्यादा, तां नातिभिनत्ति—नातिक्रामतीति स्याद्वादमुद्रानतिभेदि। यथा हि न्यायैकनिष्ठे राजनि राज्यश्रियं शासति सति सर्वाः प्रजास्तन्मुद्रां नातिवर्तितुमीशते, तदतिक्रमे तासां

व्यवहार भी न बन सकेगा, क्योंकि प्रमाणसे सामान्य-विशेष उभय रूप ही वस्तुकी प्रतीति होती है। सामान्य-विशेषकी परस्पर निरपेक्षताका आगे खण्डन किया जावेगा (देखिये १४ वीं कारिकाकी व्याख्या)। इसीलिए वादियोंके स्खलनसे यहाँ उनके हास्यास्पद होनेका सूचन किया गया है। जो पुरुष वस्तुके अमुक स्वरूपको उस रूपसे स्वीकार न करके अन्यथा रूपसे स्वीकार करता है, तथा दूसरोंको भी उसी तरह प्रतिपादन करता है, वह स्वयं नष्ट होता है, और दूसरोंको नष्ट करता है; ऐसा पुरुष हास्यका पात्र होता ही है॥ यह श्लोकका अर्थ है॥४॥

भावार्थ—इस श्लोकमें वैशेषिक दर्शनके द्वारा मान्य सामान्य-विशेषका खण्डन किया गया है। वैशेषिकोंका कहना है कि सामान्य-विशेष पदार्थोंसे भिन्न और एक दूसरेसे निरपेक्ष हैं। उदाहरणके लिए, वैशेषिक मतके अनुसार घटमें घटत्व समवाय सम्बन्धसे रहता है; तथा नील-पीतादि भी समवाय सम्बन्धसे रहता है। परन्तु जैनदर्शन अनेकान्तरूप है, इसलिए वह सामान्य-विशेषको पदार्थोंसे एकान्त-भिन्न स्वीकार नहीं करता। जैनदर्शनके अनुसार घटमें घटत्व अथवा नील-पीतादि किसी सम्बन्ध-विशेषसे नहीं रहते, ये स्वयं घटके ही गुण हैं। इसलिए पदार्थोंसे सर्वथा भिन्न सामान्य और विशेष नामके पदार्थोंको स्वीकार करनेकी आवश्यकता नहीं है।

अब वैशेषिकोंके एकान्त नित्य और एकान्त अनित्य पक्षमें दोष दिखाते हैं—

श्लोकार्थ—दीपकसे लेकर आकाश तक सभी पदार्थ नित्यानित्य स्वभाववाले हैं, क्योंकि कोई भी वस्तु स्याद्वादकी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करती। ऐसी स्थितिमें भी आपके विरोधी लोग दीपक आदिको सर्वथा अनित्य और आकाश आदिको सर्वथा नित्य स्वीकार करते हैं।

व्याख्यार्थ—दीपसे लेकर आकाशपर्यन्त सब पदार्थोंका स्वरूप एक-सा है। क्योंकि हम वस्तुके स्वभावको द्रव्य और पर्यायरूप मानते हैं। वाचकमुख्य कहते हैं—"जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त है वह सत् है।" अतएव वस्तुका स्वभाव नित्य, अनित्य आदि अनेक धर्मोंके धारक स्याद्वादकी मर्यादाको उल्लंघन नहीं करता। जिस प्रकार न्यायी राजाके शासन करनेपर उसकी प्रजा राज्यमुद्राका उल्लंघन नहीं

---

१. तत्त्वार्थाधिगमसूत्रे अ. ५ सू. २९।

सर्वार्थहानिभावात् एवं विजयिनि निष्कण्टके स्याद्वादमहानरेन्द्रे, तदीयमुद्रां सर्वेऽपि पदार्था नातिक्रामन्ति; तदुल्लङ्घने तेषां स्वरूपव्यवस्थाहानिप्रसक्तेः ।

सर्ववस्तूनां समस्वभावत्वकथनं च पराभीष्टस्यैकं वस्तु व्योमादि नित्यमेव, अन्यच्च प्रदीपादि अनित्यमेव इति वादस्य प्रतिक्षेपबीजम् । सर्वे हि भावा द्रव्यार्थिकनयापेक्षया नित्याः, पर्यायार्थिकनयादेशात् पुनरनित्याः । तत्रैकान्तानित्यतया परैरङ्गीकृतस्य प्रदीपस्य तावन्नित्यानित्यत्वव्यवस्थापने दिङ्मात्रमुच्यते ॥

तथाहि । प्रदीपपर्यायापन्नास्तैजसाः परमाणवः स्वरस[1]तस्तैलक्षयाद् वाताभिघाताद्वा ज्योतिष्पर्यायं परित्यज्य तमोरूपं पर्यायान्तरमाश्रयन्तोऽपि नैकान्तेनानित्याः ; पुद्गलद्रव्यरूपतयावस्थितत्वात् तेषाम् । नह्येतावतैवानित्यत्वं यावता पूर्वपर्यायस्य विनाशः, उत्तरपर्यायस्य चोत्पादः । न खलु मृद्द्रव्यं स्थास[2]ककोशकुशूलशिवकघटाद्यवस्थान्तराण्यापद्यमानमप्येकान्ततो विनष्टम् ; तेषु मृद्द्रव्यानुगमस्याबालगोपालं प्रतीतत्वात् । न च तमसः पौद्गलिकत्वमसिद्धम्; चाक्षुषत्वान्यथानुपपत्तेः, प्रदीपालोकवत् ॥

कर सकती, क्योंकि उसके उल्लंघन करनेपर प्रजाके सर्वस्वका नाश होता है। उसी प्रकार विजयी निष्कण्टक स्याद्वाद महाराजाके विद्यमान रहते हुए कोई भी पदार्थ स्याद्वादकी मर्यादाको अतिक्रमण नहीं करता। क्योंकि इस मर्यादाके उल्लंघन करनेपर पदार्थोंका स्वरूप नहीं बन सकता ।

यहाँ सब पदार्थोंके द्रव्य और पर्यायरूप कथन करनेसे आकाश आदिके सर्वथा नित्यत्व और प्रदीप आदिके सर्वथा अनित्यत्वका खण्डन हो जाता है । कारण कि सभी पदार्थ द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे नित्य और पर्यायार्थिककी अपेक्षासे अनित्य हैं । यहाँ परवादियों द्वारा मान्य दीपककी एकान्त-अनित्यतापर विचार करते हुए दीपकको नित्य-अनित्य सिद्ध करनेके लिए संक्षेपमें कुछ कहा जाता है ।

दीपककी पर्यायमें परिणत तैजस परमाणु तेलके समाप्त हो जानेसे अथवा हवाका झोंका लगनेसे प्रकाशरूप पर्याय छोड़कर तमरूप पर्यायको प्राप्त करनेपर भी सर्वथा अनित्य नहीं हैं । क्योंकि तेजके परमाणु तमरूप पर्यायमें भी पुद्गल द्रव्यरूपसे मौजूद हैं । तथा पूर्व पर्यायके नाश और उत्तर पर्यायके उत्पन्न होने मात्रसे ही दीपककी अनित्यता सिद्ध नहीं होती । उदाहरणके लिए, मिट्टी द्रव्यके स्थासक, कोश, कुशूल, शिवक, घट (मिट्टीके पिण्डसे घड़ा बनने तककी उत्तरोत्तर अवस्याएँ) आदि अवस्थाओंको प्राप्त कर लेनेपर भी मिट्टीका सर्वथा नाश नहीं होता । क्योंकि स्थासक आदि पर्यायोंमें प्रत्येक पुरुषको मिट्टीका ज्ञान होता है । अन्धकारको भी पुद्गलकी ही पर्याय मानना चाहिए, क्योंकि दीपकके प्रकाशकी भाँति वह भी चक्षुसे दिखाई देता है । जैनदर्शनके अनुसार संसारके समस्त पदार्थोंमें नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों धर्म विद्यमान हैं । इसलिए दीपकमें भी नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म पाये जाते हैं । दीपकका अनित्यत्व सर्व साधारणमें प्रसिद्ध ही है । इसलिए यहाँ दीपकमें केवल नित्यत्व सिद्ध किया जाता है । नैयायिक लोग अन्धकारको अभावरूप मानते हैं, इसलिए नैयायिकोंके अनुसार अन्धकार कोई स्वतन्त्र पदार्थ न होकर केवल प्रकाशका अभाव मात्र है । इसलिए तमको अभावरूप माननेसे नैयायिक दीपकको नित्य नहीं मानते । परन्तु जैनसिद्धान्तके अनुसार तम केवल प्रकाशका अभाव मात्र नहीं है, वह प्रकाशकी भाँति ही स्वतन्त्र द्रव्य है । जैनदर्शनमें प्रकाशकी भाँति अन्धकारको भी पुद्गलकी पर्याय माना है । तेजके परमाणु दीपकके प्रकाशकी पर्यायमें परिणत होते हैं । जब तेल आदि समाप्त हो जाता है, अथवा हवाका झोंका लगता है, उस समय ये ही परमाणु प्रकाशकी पर्याय छोड़कर तमकी पर्यायमें परिणत हो जाते हैं । जैनदर्शनके अनुसार केवल पर्यायान्तरको प्राप्त करना ही अनित्यत्वका लक्षण नहीं है । उदाहरणके लिए, मिट्टीका घड़ा बनाते समय मिट्टी अनेक पर्यायोंको धारण करती है, परन्तु इन अनेक पर्यायोंमें मिट्टीका नाश नहीं हो जाता, मिट्टी हरेक पर्यायमें

---

१. स्वभावतः । २. स्थासककोशादयो घटस्योत्पत्तेः प्राक् मृद एवावस्थाः ।

अथ यच्चाक्षुषं तत्सर्वं स्वप्रतिभासे आलोकमपेक्षते। न चैवं तमः। तत्कथं चाक्षुषम्? नैवम्। उलूकादीनामालोकमन्तरेणापि तत्प्रतिभासात्। यैस्त्वस्मदादिभिरन्यच्चाक्षुषं घटादिकमालोकं विना नोपलभ्यते तैरपि तिमिरमालोकयिष्यते। विचित्रत्वात् भावानाम्। कथमन्यथा पीतश्वेतादयोऽपि स्वर्णमुक्ताफलाद्या आलोकापेक्ष दर्शनाः। प्रदीपचन्द्रादयस्तु प्रकाशान्तरनिरपेक्षाः। इति सिद्धं तमश्चाक्षुषम्॥

रूपवत्त्वाच्च स्पर्शवत्त्वमपि प्रतीयते; शीतस्पर्शप्रत्ययजनकत्वात्। यानि त्वनिबिडावयवत्वमप्रतिघातित्वमनुद्भूतस्पर्शविशेषत्वमप्रतीयमानखण्डावयविद्रव्यप्रविभागत्वमित्यादीनि तमसः पौद्गलिकत्वनिषेधाय परैः साधनान्युपन्यस्तानि तानि प्रदीपप्रभादृष्टान्तेनैव प्रतिषेध्यानि; तुल्ययोगक्षेमत्वात्॥

सदा विद्यमान रहती है। इसी तरह दीपकके तेज-परमाणुओंका अन्धकार-परमाणुओंमें परिणमन होनेसे द्रव्यका नाश (अनित्यत्व) नहीं होता। यह केवल परमाणुओंका एक पर्यायसे दूसरी पर्यायमें परिणत हो जाना मात्र है। इसलिए हमें दीपकको सर्वथा अनित्य ही नहीं कहना चाहिए, क्योंकि तम अभावरूप नहीं है। पर्यायसे पर्यायान्तर होनेको ही तम कहते हैं। अन्धकारका पौद्गलिक होना असिद्ध नहीं क्योंकि वह प्रकाशकी तरह चक्षुका विषय है। जो जो चक्षुका विषय होता है, वह पौद्गलिक होता है। प्रकाशकी तरह अन्धकार भी चक्षुका विषय है, इसलिए वह पौद्गलिक है।

शंका—जो चाक्षुष पदार्थ है, वह प्रतिभासित होनेमें आलोककी अपेक्षा रखता है। परन्तु तमके प्रतिभासमें प्रकाशकी जरूरत नहीं, इसलिए तम चक्षुका विषय नहीं कहा जा सकता। समाधान—उक्त व्याप्ति ठीक नहीं है। क्योंकि उल्लू आदि बिना आलोकके भी तमको देखते हैं। यह ठीक है कि अन्य चाक्षुष घट, पट आदिको बिना प्रकाशके हम नहीं देखते, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि तमके देखनेमें भी हमें प्रकाशकी आवश्यकता पड़े। संसारमें पदार्थोंके विचित्र स्वभाव होते हैं। पीत सुवर्ण और श्वेत मोती आदि तैजस होनेपर भी बिना प्रकाशके प्रतिभासित नहीं होते जबकि दीपक, चन्द्र आदि प्रकाशके बिना ही दृष्टिगोचर होते हैं। अतएव तम चाक्षुष है, यद्यपि प्रकाशके अभावमें भी उसका ज्ञान होता है।

तथा अन्धकार रूपवान् होनेके कारण स्पर्शवान् भी है। क्योंकि इसमें शीत स्पर्शका ज्ञान होता है। वैशेषिक लोग तमका पौद्गलिकत्व निषेध करनेके लिए (१) कठोर अवयवोंका न होना, (२) अप्रतिघाति होना, (३) अनुद्भूत स्पर्शका न होना, (४) खण्डित अवयवीरूप द्रव्यविभागकी प्रतीति न होना—आदि हेतु देते हैं। इन हेतुओंको ग्रन्थकार प्रदीपकी प्रभाके दृष्टान्तसे खण्डित करते हैं। क्योंकि अन्धकार और प्रदीपप्रभा दोनों ही समान हैं। (तात्पर्य यह है कि जैनदर्शनमें प्रकाश और अन्धकारको पुद्गलकी पर्याय माना है, अतएव प्रकाशकी भाँति अन्धकार भी एक स्वतन्त्र वस्तु है; अन्धकार भी प्रकाशको भाँति चक्षुका विषय है। परन्तु वैशेषिकोंके मतमें प्रकाशका अभाव ही तम है, स्वतन्त्र द्रव्य वह नहीं। वैशेषिकोंका कहना है कि जो घट, पट पदार्थ चक्षुसे जाने जाते हैं, उन सबमें प्रकाशकी आवश्यकता होती है जबकि तमको जाननेमें प्रकाशकी जरूरत नहीं पड़ती, इसलिए तम चक्षुका विषय नहीं है, और इसलिए उसे पुद्गलकी पर्याय भी नहीं कहा जा सकता। इसके उत्तरमें जैनोंका कथन है कि वैशेषिकोंकी उपर्युक्त व्याप्ति ठीक नहीं कही जा सकती। कारण कि बिल्ली, उल्लू वगैरह प्रकाशके न रहते हुए भी तमका ज्ञान करते हैं। इसलिए यह व्याप्ति तर्कसंगत नहीं कि समस्त चाक्षुष पदार्थ आलोककी अपेक्षा रखते हैं। सुवर्ण, मोती आदि चाक्षुष होनेपर प्रकाशकी सहायतासे प्रतिभासित होते हुए देखे जाते हैं, परन्तु दीपक, चन्द्र आदि नहीं। इसलिए प्रकाशकी भाँति तमको भी चक्षुका विषय मानना युक्तियुक्त है। अन्धकार चाक्षुष होनेसे जैनदर्शनमें उसे स्पर्शवान् भी माना गया है। क्योंकि जैनदर्शनके अनुसार किसी पदार्थमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णमेंसे किसी एकके रहनेपर बाकीके तीन गुण उसमें अवश्य रहते हैं। यही पुद्गलका लक्षण भी है। परन्तु वैशेषिकोंको अन्धकारमें स्पर्शत्व स्वीकार करना अभीष्ट नहीं है। उनका कहना है कि अन्धकारमें कठोरता

न च वाच्यं तैजसाः परमाणवः कथं तमस्त्वेन परिणमन्त इति। पुद्गलानां तत्तत्सामग्रीसहकृतानां विसदृशकार्योत्पादकत्वस्यापि दर्शनात्। दृष्टो ह्यार्द्रेन्धनसंयोगवशाद् भास्वररूपस्यापि वह्नेरभास्वररूपधूमरूपकार्योत्पादः। इति सिद्धो नित्यानित्यः प्रदीपः। यदापि निर्वाणादर्वाग्देदीप्यमानो दीपस्तदापि नवनवपर्यायोत्पादविनाशभाक्त्वात् प्रदीपत्वान्वयाच्च नित्यानित्य एव ॥

एवं व्योमाप्युत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वाद् नित्यानित्यमेव। तथाहि। अवगाहकानां जीवपुद्गलानामवगाहदानोपग्रह[1] एव तल्लक्षणम्। "अवकाशदमाकाशम्[2]" इति वचनात्। यदा चावगाहका जीवपुद्गलाः प्रयोगतो[3] विस्रसातो[4] वा एकस्मान्नभःप्रदेशात् प्रदेशान्तरमुपसर्पन्ति तदा तस्य व्योम्नस्तैरवगाहकैः सममेकस्मिन् प्रदेशे विभागः उत्तरस्मिंश्च प्रदेशे संयोगः। संयोगविभागौ च परस्परं विरुद्धौ धर्मौ। तद्भेदे चावश्यं धर्मिणो भेदः। तथा चाहुः- "अयमेव हि भेदो[5] भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्चेति"। ततश्च तदाकाशं पूर्वसंयोगविनाशलक्षणपरिणामापत्त्या विनष्टम्, उत्तरसंयोगोत्पादाख्यपरिणामानुभवाच्चोत्पन्नम्। उभयत्राकाशद्रव्यस्यानुगतत्वाच्चोत्पादव्यययोरेकाधिकरणत्वम् ॥

नहीं है, वह अप्रतिघाति है, उसमें स्पर्श नहीं और उसका विभाग नहीं हो सकता, इसलिए अन्धकार पौद्गलिक नहीं कहा जा सकता। जैनदर्शन उक्त हेतुओंका प्रदीप-प्रभाके दृष्टान्तसे खण्डन करता है। जैनदर्शनके अनुसार अन्धकार और दीपकको प्रभामें पर्यायरूपसे कोई अन्तर नहीं। इसलिए यदि वैशेषिक लोग दीपककी प्रभाको पौद्गलिक मानते हैं, तो उन्हें अन्धकारको भी पुद्गलकी पर्याय मानना चाहिए। क्योंकि प्रकाशकी भाँति अन्धकार भी द्रव्यकी पर्याय है, फिर दोनोंमें असमानता क्यों ?)

दीपकके तेज-परमाणु तमरूपमें कैसे परिणत हो सकते हैं, यह शंका भी निर्मूल है। क्योंकि पुद्गलोंकी अमुक सामग्रीका सहकार मिलनेपर विसदृश कार्योंकी भी उत्पत्ति होती है। उदाहरणके लिए, प्रकाशमान अग्निसे, गीले ईंधनके सहयोगसे अप्रकाशमान धूमकी उत्पत्ति होती है। (इसलिए यह नियम नहीं है कि तेजके परमाणुओंसे तेजरूप कार्यकी ही उत्पत्ति हो, अन्धकाररूप कार्यकी नहीं; क्योंकि तेजरूप अग्निसे भी अन्धकाररूप धूमकी उत्पत्ति देखी जाती है। इसलिए सिद्ध होता है कि दीपककी पर्यायमें परिणत तेजके परमाणु तेल आदिके क्षय हो जानेसे ही अन्धकाररूप पर्यायान्तरको धारण करते हैं। वास्तवमें द्रव्यकी अपेक्षा दीपक नित्य है, केवल पर्यायकी अपेक्षासे ही वह अनित्य कहा जा सकता है।) तथा दीपकके बुझनेसे पहले देदीप्यमान दीपक अपनी नयी-नयी पर्यायोंके उत्पन्न और नाश होनेको अपेक्षा अनित्य है, परन्तु इन पर्यायोंके बदलते रहनेपर भी हमें यह भान होता रहता है कि एक ही दीपककी ये असंख्य पर्याय हैं, इसलिए दीपक नित्य है। अतः दीपकका नित्यानित्यत्व सिद्ध होता है।

इसी प्रकार आकाश भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप होनेसे नित्य और अनित्य दोनों है (देखिए परिशिष्ट [क])। जीव और पुद्गलोंको अवकाश-दान देना (स्थान देना) ही आकाशका लक्षण है। कहा भी है "अवकाश देनेवालेको आकाश कहते हैं।" जब आकाशमें रहनेवाले जीव और पुद्गल किसीकी प्रेरणासे अथवा अपने स्वभावसे आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें जाते हैं,

---

१. उपग्रहः—उपकार इति तत्त्वार्थभाष्ये।

२. उत्तराध्ययनसूत्रे अध्ययने २८ गाथा ९। अत्र वृत्तौ महोपाध्यायश्रीमद्भावविजयगणिकृतायामिदमुपलभ्यते।

३. पुरुषशक्त्या।

४. स्वभावेन।

५. वस्तूनि द्विविधानि लक्षणभेदात्कारणभेदाच्च। घटो जलाहरणादिगुणवान् पटश्च शीतत्राणादिगुणवान्। तथा घटस्य कारणं मृत्पिण्डादि। पटस्य कारणं तन्त्वादि।

तथा च यद् "अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपं नित्यम्" इति नित्यलक्षणमाचक्षते। तदपास्तम्। एवंविधस्य कस्यचिद्वस्तुनोऽभावात्। "तद्भावाव्ययं नित्यम्[1]" इति तु सत्यं नित्यलक्षणम्। उत्पादविनाशयोः सद्भावेऽपि तद्भावात् अन्वयिरूपात् यन्न व्येति तन्नित्यमिति तदर्थस्य घटमानत्वात्। यदि हि अप्रच्युतादिलक्षणं नित्यमिष्यते तदोत्पादव्यययोर्निराधारत्वप्रसङ्गः। न च तयोर्योगे नित्यत्वहानिः।

"द्रव्यं पर्यायवियुतं पर्याया द्रव्यवर्जिताः।
क्व कदा केन किंरूपा दृष्टा मानेन केन वा ? ॥"[2]

उस समय आकाशका जीव-पुद्गलोंके साथ एक प्रदेशमें विभाग और दूसरे प्रदेशमें संयोग होता है। ये संयोग और विभाग एक दूसरेके विरुद्ध हैं। इसलिए संयोग-विभागमें भेद होनेसे, संयोग-विभागको धारण करनेवाले आकाशमें भी भेद होना चाहिए। कहा भी है "विरुद्ध धर्मोंका रहना और भिन्न-भिन्न कारणोंका होना यही भेद और भेदका कारण है।" (यहाँपर लक्षण और कारणके भेदसे भेद दो प्रकारका बताया गया है। जैसे घट जल लाने और पट ठण्डसे बचानेके काममें आता है—यही घट और पटमें लक्षण-भेद है। तथा घट मृत्तिकाके पिण्ड और पट तन्तुसे उत्पन्न होता है—यही घट और पटका कारण-भेद है।) इसलिए यहाँ पुद्गलके एक प्रदेशमें संयोगके विनाशसे आकाशमें व्यय होता है, और दूसरे प्रदेशमें संयोगके होनेसे आकाशमें उत्पाद होता है। तथा उत्पाद और व्यय दोनों अवस्थाओंमें आकाश ही एक अधिकरण है, इसलिए आकाश ध्रौव्य है। (भाव यह है कि जैनदर्शनके अनुसार दीपकको तरह आकाश भी नित्यानित्य है। जैनसिद्धान्तमें आकाश एक अनन्त प्रदेशवाला अखण्ड द्रव्य माना गया है। आकाश द्रव्यका काम जीव और पुद्गलको अवकाश देना है। जिस समय जीव और पुद्गल द्रव्य आकाशके एक प्रदेशको छोड़कर दूसरे प्रदेशके साथ संयोग करते हैं, उस समय आकाशका जीव-पुद्गलके साथ विभाग और संयोग होता है। अर्थात् जीव-पुद्गलके आकाश-प्रदेशोंको छोड़नेके समय आकाशमें विभाग और जीव-पुद्गलके आकाश-प्रदेशोंके साथ संयोग करनेके समय आकाशमें संयोग होता है। दूसरे शब्दोंमें कहना चाहिए कि एक ही आकाशमें संयोग-विभाग नामके दो विरुद्ध धर्म पाये जाते हैं। क्योंकि संयोग-विभाग नामके धर्मोंमें भेद होनेसे संयोग-विभाग धर्मोंको धारण करनेवाले आकाश धर्मीमें भी भेद पाया जाता है। अतएव जीव-पुद्गलके आकाश-प्रदेशोंको छोड़कर अन्यत्र गमन करनेमें जीव-पुद्गलका आकाशके प्रदेशोंके साथ संयोगका विनाश होता है, अर्थात् आकाशमें विनाश (व्यय) होता है। तथा जीव-पुद्गलका आकाशके दूसरे प्रदेशोंके साथ संयोग होनेके समय आकाशमें उत्पाद होता है। तथा उक्त उत्पाद और व्यय दोनों दशाओंमें आकाश मौजूद रहता है, इसलिए आकाशमें ध्रौव्य भी है। अतएव आकाशमें उत्पाद-व्यय होनेसे अनित्यत्व और ध्रौव्य होनेसे नित्यत्वकी सिद्धि होती है।)

इस पूर्वोक्त कथनसे "जो नाश और उत्पन्न न होता हो, और एकरूपसे स्थिर रहे, उसे नित्य कहते हैं"—इस नित्यत्वके लक्षणका भी खण्डन हो जाता है। क्योंकि ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं, जो उत्पत्ति और नाशसे रहित हो, और सदा एकसा रहे। "पदार्थके स्वरूपका नाश नहीं होना नित्यत्व है"—जैनदर्शन द्वारा मान्य नित्यत्वका यही लक्षण ठीक है। क्योंकि उत्पाद और विनाशके रहते हुए भी जो अपने स्वरूपको नहीं छोड़ता वही नित्य है। यदि अप्रच्युत आदि पूर्वोक्त नित्यका लक्षण माना जाये, तो उत्पाद और व्ययका कोई भी आधार न रहेगा। जैनसिद्धान्तके अनुसार नित्य पदार्थमें जो उत्पाद और व्यय माना गया है, उससे पदार्थकी नित्यतामें कोई हानि नहीं आती। कहा भी है—

"पर्यायरहित द्रव्य और द्रव्यरहित पर्याय किसने, किस समय, कहाँपर, किस रूपमें, और कौनसे प्रमाणसे देखे हैं" ? अर्थात् द्रव्य बिना पर्याय और पर्याय बिना द्रव्य कहीं भी सम्भव नहीं।

---

१. तत्त्वार्थसूत्रम् अ. ५ सू. ३०।
२. एतदर्थका गाथा सन्मतितर्के प्रथमकाण्डे दृश्यते—
'दव्वं पज्जवविज्जुअं दव्वविउत्ता य पज्जवा नत्थि ॥१२॥

इति वचनात् ॥

लौकिकानामपि घटाकाशं पटाकाशमिति व्यवहारप्रसिद्धेराकाशस्य नित्यानित्यत्वम् । घटाकाशमपि हि यदा घटापगमे, पटेनाक्रान्तं, तदा पटाकाशमिति व्यवहारः । न चायमौपचारिकत्वादप्रमाणमेव । उपचारस्यापि किञ्चित्साधर्म्यद्वारेण मुख्यार्थस्पर्शित्वात् । नभसो हि यत्किल सर्वव्यापकत्वं मुख्यं परिमाणं तत् तदाधेयघटपटादिसम्बन्धिनियतपरिमाणवशात् कल्पितभेदं सत् प्रतिनियतदेशव्यापितया व्यवह्रियमाणं घटाकाशपटाकाशादि तत्तद्व्यपदेशनिबन्धनं भवति । तत्तत्घटादिसम्बन्धे च व्यापकत्वेनावस्थितस्य व्योम्नोऽवस्थान्तरापत्तिः । ततश्चावस्थाभेदेऽवस्थावतोऽपि भेदः । तासां ततोऽविष्वग्भावात् । इति सिद्धं नित्यानित्यत्वं व्योम्नः ॥

(भाव यह है कि जैनोंको वैशेषिकोंका नित्यत्व लक्षण मान्य नहीं है । वैशेषिकोंके अनुसार, जिसमें उत्पत्ति और नाश न हो और जो सदा एकसा रहे, वही नित्य है । जैन इस मान्यताको स्वीकार नहीं करते । उनके अनुसार, उत्पाद और व्ययके होते हुए भी पदार्थके स्वरूपका नाश नहीं होना ही नित्यत्व है । जैनसिद्धान्तके अनुसार वैशेषिकोंका नित्यत्व लक्षण स्वीकार करनेसे उत्पाद और व्ययको कोई स्थान नहीं मिलता । क्योंकि कूटस्थ नित्यत्वमें उत्पत्ति और नाशका होना सम्भव नहीं । तथा उत्पाद और व्ययके अभावसे कोई भी पदार्थ 'सत्' नहीं कहा जा सकता । इसलिए जैन लोग कहते हैं कि नित्यत्वको सर्वथा नित्य न मानकर उत्पाद-व्यय सहित नित्य अर्थात् आपेक्षिक-नित्य मानना चाहिए । क्योंकि कहीं भी द्रव्य और पर्याय अलग-अलग नहीं पाये जाते । द्रव्यको छोड़कर पर्यायका और पर्यायको छोड़कर द्रव्यका अस्तित्व सम्भव नहीं । अतएव द्रव्यकी अपेक्षासे पदार्थ नित्य है और पर्यायकी अपेक्षासे अनित्य; इस तरह नित्य-अनित्य दोनों साथ रहते हैं । इसीलिए आकाश भी नित्यानित्य है ।)

प्रकारान्तरसे भी आकाश नित्यानित्य है, क्योंकि सर्वसाधारणमें भी 'यह घटका आकाश है', 'यह पटका आकाश है' यह व्यवहार होता है । जिस समय घटका आकाश घटके दूर हो जानेपर पटसे संयुक्त होता है, उस समय वही घटका आकाश पटका आकाश कहा जाता है । यह 'घटका आकाश', 'पटका आकाश' का व्यवहार उपचारसे होता है, इसलिए अप्रमाण नहीं कहा जा सकता । क्योंकि उपचार भी किसी न किसी साधर्म्यसे ही मुख्य अर्थको द्योतित करनेवाला होता है । आकाशका सर्वव्यापकत्व मुख्य परिमाण आकाशमें रहनेवाले घट-पटादि सम्बन्धी नियत परिमाणसे भिन्न होकर, प्रतिनियत प्रदेशोंमें व्यापक होनेसे ही घटाकाश, पटाकाश आदि व्यवहारका कारण होता है । अर्थात् मुख्यरूपसे सर्वव्यापकत्व परिमाणवाला आकाश अपने आधेय घट पटादिके सम्बन्धसे प्रतिनियत देशव्यापित्व परिमाणरूप कहा जाता है । इसीसे यह घटाकाश है, यह पटाकाश है, यह व्यवहार होता है । तथा व्यापक आकाशके अमुक घट पट आदिके सम्बन्धसे एक अवस्थासे अवस्थान्तरकी उत्पत्ति होती है । अवस्थाभेद होनेपर अवस्थाके धारक आकाशमें भेद होता है । क्योंकि ये अवस्थायें आकाशसे अभिन्न हैं । (भाव यह है कि जिस समय घट एक स्थानसे (आकाशसे) अलग होता है, और उसकी जगह पट रखा जाता है, तो यह घटका आकाश है, यह पटका आकाश है, इस प्रकारका व्यवहार होता है । अर्थात् आकाशमें एक ही जगह घटाकाशका नाश होता है, और पटाकाशकी उत्पत्ति होती है । इसलिए आकाशमें नित्यानित्य दोनों धर्म विद्यमान हैं । यह घटाकाश और पटाकाशका व्यवहार औपचारिक है अर्थात् वास्तवमें आकाशमें उत्पाद-विनाश नहीं होता, केवल आकाशके आधेय घट पटादिके परिवर्तनसे ही आकाशमें परिवर्तन होनेका व्यवहार होता है, यह शंका ठीक नहीं । क्योंकि मुख्य अर्थके सम्बन्धके बिना उपचार नहीं हो सकता । प्रस्तुत प्रसंगमें आकाशका सर्वव्यापकत्व मुख्य परिमाण है । यही मुख्य परिमाण आकाशके आधेय घट पटादिके सम्बन्धसे प्रतिनियत देशपरिमाणरूप कहा जाता है । इसीसे घटाकाश, पटाकाश आदि व्यवहार होता है । अतएव

स्वायंभुवा[१] अपि हि नित्यानित्यमेव वस्तु प्रपन्नाः। तथा चाहुस्ते—"त्रिविधः खल्वयं धर्मिणः परिणामो धर्मलक्षणावस्थारूपः। सुवर्णं धर्मि। तस्य धर्मपरिणामो वर्धमानरुचकादिः। धर्मस्य तु लक्षणपरिणामोऽनागतत्वादिः। यदा खल्वयं हेमकारो वर्धमानकं भङ्क्त्वा रुचकमारचयति तदा वर्धमानको वर्तमानतालक्षणं हित्वा अतीततालक्षणमापद्यते। रुचकस्तु अनागततालक्षणं हित्वा वर्तमानतालक्षणमापद्यते। वर्तमानतापन्न एव तु रुचको नवपुराण-भावमापद्यमानोऽवस्थापरिणामवान् भवति। सोऽयं त्रिविधः परिणामो धर्मिणः। धर्मलक्षणा-वस्थाश्च धर्मिणो भिन्नाश्चाभिन्नाश्च। तथा च ते धर्म्यभेदात् तन्नित्यत्वेन नित्याः। भेदाच्चोत्प-त्तिविनाशविषयत्वम्। इत्युभयमुपपन्नमिति[२]।।"

अथोत्तरार्धं विव्रियते। एवं चोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वे सर्वभावानां सिद्धेऽपि तद्वस्तु एकमाकाशात्मादिकं नित्यमेव अन्यच्च प्रदीपघटादिकमनित्यमेव इत्येवकारोऽत्रापि सम्बध्यते। इत्थं हि दुर्नयवा[३]दापत्तिः। अनन्तधर्मात्मके वस्तुनि स्वाभिप्रेतनित्यत्वादिधर्मसमर्थनप्रवणाः शेषधर्मतिरस्कारेण प्रवर्त्तमाना दुर्नया इति तल्लक्षणात्। इत्यनेनोल्लेखेन त्वदाज्ञाद्विषतां—भवत्प्रणीतशासनविरोधिनां, प्रलापाः—प्रलपितानि, असम्बद्धवाक्यानीति यावत्।।

अत्र च प्रथममादीपमिति परप्रसिद्ध्यानित्यपक्षोल्लेखेऽपि यदुत्तरत्र यथासंख्यपरिहारेण पूर्वतरं नित्यमेवैकमित्युक्तम् तदेवं ज्ञापयति। यदनित्यं तदपि नित्यमेव कथञ्चित्। यच्च नित्यं तदप्यनित्यमेव कथञ्चित्। प्रक्रान्तवादिभिरप्येकस्यामेव पृथिव्यां नित्यानित्यत्वाभ्युपगमात्।

सर्वव्यापी आकाशके साथ घट पट आदिका सम्बन्ध होनेपर आकाशकी अवस्थाओंमें परिवर्तन होता है। आकाशकी अवस्थाओंमें परिवर्तन होनेसे आकाशमें परिवर्तन होता है। इसलिए आकाशको नित्य-अनित्य ही मानना चाहिए।)

पातंजलयोगको माननेवाले भी वस्तुको नित्यानित्य स्वीकार करते हैं। उनका कथन है—"धर्मीका परिणाम धर्म, लक्षण और अवस्थाके भेदसे तीन प्रकारका है। धर्मी सुवर्णका धर्म-परिणाम वर्धमान रुचक आदि है। धर्मके आगामी कालमें होनेको लक्षण-परिणाम कहते हैं। जिस समय सुनार वर्धमानकको तोड़कर रुचक बनाता है, उस समय वर्धमानक वर्तमान लक्षणको छोड़कर अतीत लक्षणको, तथा रुचक अनागत लक्षणको छोड़कर वर्तमान लक्षणको प्राप्त करता है। वर्तमान दशाको प्राप्त रुचक नये और पुरानेपनको धारण करता हुआ धर्मीका अवस्था-परिणाम कहा जाता है। धर्म, लक्षण और अवस्थाके भेदसे धर्मीका यह परिणाम धर्मीसे भिन्न भी है, और अभिन्न भी। धर्म, लक्षण और अवस्था धर्मीसे अभिन्न हैं, इसलिए धर्मीके नित्य होनेसे ये भी नित्य हैं, और धर्मीसे भिन्न होनेके कारण, उत्पन्न और नाश होनेवाले हैं इसलिए अनित्य हैं। इस प्रकार धर्म, लक्षण और अवस्था नित्य-अनित्य दोनों हैं।"

अब श्लोकके उत्तरार्धका विवेचन करते हैं। इस प्रकार सब पदार्थोंके उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप सिद्ध होनेपर आकाश, आत्मा आदि सर्वथा नित्य हैं और प्रदीप, घट आदि सर्वथा अनित्य—यह मानना दुर्नयवादको स्वीकार करना है। वस्तुके अनन्तधर्मात्मक होनेपर भी सब धर्मोंका तिरस्कार करके केवल अपने अभीष्ट नित्यत्व आदि धर्मोंका ही समर्थन करना दुर्नय है। इस उल्लेखसे यह प्रतिपादित किया है कि आपके द्वारा प्रणीत शासनके विरोधियोंके ये असंबद्ध वाक्य ही हैं।

इस श्लोकके पूर्वार्धमें ग्रन्थकारने अनित्य दीपक और नित्य व्योमका क्रमसे उल्लेख किया है। परन्तु उत्तरार्धमें इस क्रमका उल्लंघन करके पहले नित्य और बादमें अनित्यका उल्लेख है। इस तरह पूर्वार्धमें जो क्रमसे अनित्य और नित्य है, वही उत्तरार्धमें क्रमसे नित्य और अनित्य प्रतिपादित किया गया है। इस शंका-

---

१. पातञ्जलयोगानुसारिणः। २. पातञ्जलयोगसूत्र ३।१३ इत्यत्रैतदर्थकं वाक्यजातम्।

३. निःशेषांशजुषां प्रमाणविषयीभूयं समासेदुषां। वस्तूनां नियतांशकल्पनपराः सप्त श्रुतासंगिनः।। औदासीन्यपरायणास्तदपरे चांशे भवेयुर्नयाश्चेदेकांशकलङ्कपङ्ककलुषास्ते स्युस्तदा दुर्नयाः।।१।। इति नयदुर्नययोर्लक्षणं श्रीउमा-स्वातिकृतपञ्चाशतो ग्रन्थे।

तथा च प्रशस्तकारः–"सा तु द्विविधा नित्या चानित्या च। परमाणुलक्षणा नित्या; कार्यलक्षणा[1] त्वनित्या[2]" इति ॥

न चात्र परमाणुकार्यद्रव्यलक्षणविषयद्वयभेदाद् नैकाधिकरणं नित्यानित्यत्वमिति वाच्यम्; पृथिवीत्वस्योभयत्राप्यव्यभिचारात्। एवमबादिष्वपीति। आकाशेऽपि संयोगविभागाङ्गीकारात् तैरनित्यत्वं युक्त्या प्रतिपन्नमेव। तथा च स एवाह—"शब्दकारणत्ववचनात् संयोगविभागौ"[3] इति नित्यानित्यपक्षयोः संवलितत्वम्। एतच्च लेशतो भावितमेवेति ॥

प्रलापप्रायत्वं च परवचनानामित्थं समर्थनीयम्। वस्तुनस्तावदर्थक्रियाकारित्वं लक्षणम्। तच्चैकान्तनित्यानित्यपक्षयोर्न घटते। अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपो हि नित्यः। स च क्रमेणार्थक्रियां कुर्वीत, अक्रमेण वा ? अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणां प्रकारान्तरासम्भवात्। तत्र न तावत् क्रमेण, स हि कालान्तरभाविनीः क्रियाः प्रथमक्रियाकाल एव प्रसह्य कुर्यात्; समर्थस्य कालक्षेपायोगात्। कालक्षेपिणो वा असामर्थ्यप्राप्तेः। समर्थोऽपि तत्तत्सहकारिसमवधाने तं तमर्थं करोतीति चेत्, न तर्हि सामर्थ्यम्;अपरसहकारिसापेक्षवृत्तित्वात्। "सापेक्षमसमर्थम्[4]" इति न्यायात् ॥

का उत्तर है कि इस क्रमके उल्लंघन करनेका केवल यही अभिप्राय है कि कोई भी पदार्थ सर्वथा नित्य अथवा अनित्य नहीं कहा जा सकता—जो अनित्य है, वह भी कथंचित् नित्य है, और जो नित्य है, वह भी कथंचित् अनित्य है। वैशेषिकोंने भी एक ही पृथिवीमें नित्य और अनित्य दोनों धर्म माने हैं। प्रशस्तकारने कहा है "पृथिवी नित्य-अनित्य दो प्रकारकी है। परमाणुरूप पृथिवी नित्य और कार्यरूप पृथिवी अनित्य है।"

यहाँपर शंका हो सकती है, कि प्रशस्तकारके उक्त कथनमें पृथिवीका नित्यानित्यत्व सिद्ध नहीं होता। क्योंकि नित्यानित्य दोनों धर्मोंका अधिकरण एक पृथिवी नहीं है, किन्तु परमाणु और कार्य दो अलग-अलग पदार्थ हैं। परन्तु यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि पृथिवीत्व नित्य पृथिवी अर्थात् परमाणु पृथिवी अर्थात् कार्यरूप पृथिवी दोनोंमें रहता है, इसलिए पृथिवीत्वका नित्यत्व और अनित्यत्व दोनोंके साथ एकाधिकरण है। जल आदिमें भी वैशेषिकोंने नित्यानित्यरूप दोनों धर्म स्वीकार किये हैं। तथा संयोग-विभागके अंगीकार करनेसे आकाशमें भी उन्होंने युक्तिपूर्वक अनित्यत्व माना है। प्रशस्तभाष्यमें कहा भी है "आकाश शब्दका कारण है, इससे आकाशमें संयोग और विभाग होते हैं।" इस प्रकार भाष्यकारने आकाशको नित्य-अनित्य स्वीकार किया है।

अब यहाँपर वादियोंके वचनोंको प्रलापप्राय बताकर सामान्यरूपसे वस्तुके नित्यत्वानित्यत्वका समर्थन करते हैं। अर्थक्रियाकारित्व ही वस्तुका लक्षण है। वस्तुको एकान्त-नित्य अथवा एकान्त-अनित्य स्वीकार करनेसे यह लक्षण घटित नहीं होता। क्योंकि वैशेषिकोंके अनुसार जिसका कभी नाश न हो, जो उत्पन्न न हो, और जो सदा एकरूप रहे, वही नित्य है। अब यदि नित्य वस्तु वास्तवमें कोई वस्तु है, तो उसमें अर्थक्रियाकारित्व होना चाहिए। यहाँ प्रश्न होता है कि यह अर्थक्रिया नित्य पदार्थमें क्रमसे होती है, अथवा अक्रमसे ? अन्योन्यव्यवच्छेदकोंमें किसी अन्य प्रकारकी सम्भावना नहीं है। नित्य पदार्थमें क्रमसे अर्थक्रिया नहीं बन सकती। क्योंकि नित्य पदार्थ समर्थ है, इसलिए कालान्तरमें होनेवाली क्रियाओंको वह प्रथम क्षणमें होनेवाली क्रियाओंके समयमें ही एक साथ कर सकता है; क्योंकि जो समर्थ है, वह कार्य करनेमें विलम्ब करता है, तो वह सामर्थ्यवान नहीं कहा जा सकता। यदि कोई शंका करे कि पदार्थके समर्थ होनेपर भी अमुक सहकारी कारणोंके मिलनेपर ही पदार्थ अमुक कार्य करता है, तो इससे नित्य पदार्थकी असमर्थता ही सिद्ध होती है; क्योंकि वह नित्य पदार्थ दूसरोंके सहयोगकी अपेक्षा रखता है। न्यायका वचन भी है—"जो दूसरोंकी अपेक्षा रखता है, वह असमर्थ है।"

---

१. द्व्यणुकादिलक्षणा। २. वैशेषिकदर्शने प्रशस्तपादभाष्ये पृथिवीनिरूपणप्रकरणे। ३. प्रशस्तपादभाष्ये आकाशनिरूपणे। ४. हेमहंसगणिसमुच्चितहेमचन्द्रव्याकरणस्थन्यायः २८।

न तेन सहकारिणोऽपेक्ष्यन्ते अपि तु कार्यमेव सहकारिष्वसत्स्वभवत् तानपेक्षत इति चेत्, तत् किं स भावोऽसमर्थः, समर्थो वा? समर्थश्चेत्, किं सहकारिमुखप्रेक्षणदीनानि तान्यपेक्षते न पुनर्झटिति घटयति। ननु समर्थमपि बीजम् इलाजलानिलादिसहकारिसहितमेवाङ्कुरं करोति, नान्यथा। तत् किं तस्य सहकारिभिः किञ्चिदुपक्रियेत, न वा? यदि नोपक्रियेत, तदा सहकारिसन्निधानात् प्रागिव किं न तदाप्यर्थक्रियायामुदास्ते। उपक्रियेत चेत् सः, तर्हि तैरुपकारोऽभिन्नो, भिन्नो वा क्रियत इति वाच्यम्। अभेदे स एव क्रियते। इति लाभमिच्छतो मूलक्षतिरायाता कृतकत्वेन तस्यानित्यत्वापत्तेः॥

भेदे तु कथं तस्योपकारः, किं न सह्यविन्ध्याद्रेरपि। तत्सम्बन्धात् तस्यायमिति चेत्, उपकार्योपकारयोः कः सम्बन्धः? न तावत् संयोगः, द्रव्ययोरेव तस्य भावात्। अत्र तु उपकार्यं द्रव्यम्, उपकारश्च क्रियेति न संयोगः। नापि समवायः, तस्यैकत्वात् व्यापकत्वाच्च प्रत्यासत्तिविप्रकर्षाभावेन सर्वत्र तुल्यत्वाद् न नियतैः सम्बन्धिभिः सम्बन्धो युक्तः। नियतसम्बन्धि-सम्बन्धे चाङ्गीक्रियमाणे तत्कृत उपकारोऽस्य समवायस्याभ्युपगन्तव्यः। तथा च सति उपकारस्य

अब यदि कहा जाय कि नित्य पदार्थ स्वयं सहकारी कारणोंकी अपेक्षा नहीं करते, परन्तु सहकारी कारणोंके अभावमें नहीं होनेवाला कार्य ही सहकारी कारणोंकी अपेक्षा रखता है, तो प्रश्न होता है कि वह नित्य पदार्थ समर्थ है या असमर्थ? यदि वह समर्थ है तो वह सहकारी कारणोंके मुँहकी तरफ़ क्यों देखता है? क्यों झटपट कार्य नहीं कर डालता? यदि कहो कि जिस प्रकार बीजके समर्थ होते हुए भी बीज पृथिवी, जल, वायु आदिके सहयोगसे ही अंकुरको उत्पन्न करता है, अन्यथा नहीं; इसी प्रकार नित्य पदार्थ समर्थ होते हुए भी सहकारियोंके विना कार्य नहीं करता। तो प्रश्न होता है, कि सहकारी कारण नित्य पदार्थका कुछ उपकार करते हैं या नहीं? यदि सहकारी कारण नित्य पदार्थका कुछ उपकार नहीं करते हैं तो वह नित्य पदार्थ जैसे सहकारी कारणोंके सम्बन्धके पहले अर्थक्रिया करनेमें उदास था, वैसे ही सहकारियोंके संयोग होनेपर भी क्यों उदास नहीं रहता? यदि कहो कि सहकारी नित्य पदार्थका उपकार करते हैं, तो प्रश्न होता है कि यह उपकार पदार्थसे अभिन्न है या भिन्न? यदि सहकारी पदार्थसे अभिन्न ही उपकार करते हैं तो सिद्ध हुआ कि नित्य पदार्थ ही अर्थक्रियाको करता है। इस प्रकार लाभकी इच्छा रखनेवाले वादीके मूलका भी नाश हो जाता है। क्योंकि यदि नित्य पदार्थ सहकारियोंको अपेक्षा रखेगा तो वह कृतक हो जायेगा और कृतक होनेसे वह नित्य नहीं रह सकता।

यदि सहकारियोंका उपकार पदार्थसे भिन्न है, तो भेदत्व सामान्यसे सह्य-विन्ध्यके साथ भी उस भिन्न-उपकारका सम्बन्ध क्यों नहीं मानते? (अर्थात् यदि सहकारियोंके उपकारसे नित्य पदार्थ सर्वथा भिन्न है तो यह नहीं मालूम हो सकता कि वह उपकार नित्य पदार्थका ही है। ऐसी हालतमें सह्य और विन्ध्यका भी उपकार माना जा सकता है, क्योंकि सहकारियों तथा सह्य और विन्ध्यमें भी भेद है।) यदि कहो, कि नित्य पदार्थके साथ उपकारके सम्बन्धसे यह उपकार इस नित्य पदार्थका है—ऐसी प्रतीति होती है, तो प्रश्न होता है कि उपकार्य और उपकार दोनोंमें कौनसा सम्बन्ध है? उपकार और उपकार्यमें संयोग सम्बन्ध बन नहीं सकता, क्योंकि दो द्रव्योंमें ही संयोग-सम्बन्ध होता है। यहाँपर उपकार्य द्रव्य है, और उपकार क्रिया है, इसलिए संयोग-सम्बन्ध सम्भव नहीं। उपकार्य और उपकारमें समवाय-सम्बन्ध भी नहीं बन सकता। क्योंकि समवाय एक है और व्यापक है। इसलिए समवाय न किसी पदार्थसे दूर है और न समीप, वह सब पदार्थोंमें समान है। अतएव नियत सम्बन्धियोंके साथ समवायका सम्बन्ध मानना ठीक नहीं। यदि नियत-सम्बन्धियोंके साथ समवायका सम्बन्ध स्वीकार किया जाय तो सहकारियोंसे किये हुए उपकारको भी समवायका उपकार मानना चाहिए। तथा इस तरह उपकारके विषयमें जो भेद अभेद कल्पनाएँ की गयी थीं, वे

---

१. पृथिवी। २. यदा कश्चिद्वार्धुषिः स्वद्रव्यं कुसीदेच्छयाधमर्णाय प्रयच्छति। तेनाधमर्णेन न मूलद्रव्यं न वा कुसीदं प्रत्यावर्त्यते तदायं न्यायः समापतति। वृद्धिमिच्छतो मूलद्रव्यक्षतिरुत्पन्नेत्यर्थः।

भेदाभेदकल्पना तदवस्थैव। उपकारस्य समवायस्य समवायादभेदे समवाय एव कृतः स्यात्। भेदे पुनरपि समवायस्य न नियतसम्बन्धिसम्बन्धत्वम्। तन्नैकान्तनित्यो भावः क्रमेणार्थक्रियां कुरुते॥

नाप्यक्रमेण। नह्येको भावः सकलकालकलाकलापभाविनीर्युगपत् सर्वाः क्रियाः करोतीति प्रातीतिकम्। कुरुतां वा, तथापि द्वितीयक्षणे किं कुर्यात्। करणे वा, क्रमपक्षभावी दोषः। अकरणे त्वर्थक्रियाकारित्वाभावाद् अवस्तुत्वप्रसङ्गः। इत्येकान्तनित्यात् क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तार्थक्रिया व्यापकानुपलब्धिबलाद् व्यापकनिवृत्तौ निवर्तमाना स्वव्याप्यमर्थक्रियाकारित्वं निवर्तयति। अर्थक्रियाकारित्वं च निवर्तमानं स्वव्याप्यं सत्त्वं निवर्तयति। इति नैकान्तनित्यपक्षो युक्तिक्षमः॥

एकान्तानित्यपक्षोऽपि न कक्षीकरणार्हः। अनित्यो हि प्रतिक्षणविनाशी स च न क्रमेणार्थक्रियासमर्थः देशकृतस्य कालकृतस्य च क्रमस्यैवाभावात्। क्रमो हि पौर्वापर्यम्, तच्च क्षणिकस्यासम्भवि। अवस्थितस्यैव हि नानादेशकालव्याप्तिः देशक्रमः कालक्रमश्चाभिधीयते। न चैकान्तविनाशिनि सास्ति।

वैसी की वैसी ही रहीं। तथा उपकार और समवायका अभेद माननेपर समवाय और उपकार एक हो ठहरे, और फिर तो सहकारियोंने उपकार नहीं किया, किन्तु समवायने ही किया—ऐसा कहना चाहिए। यदि समवाय और उपकार भिन्न हैं, तो नियत सम्बन्धियोंके साथ समवायका सम्बन्ध नहीं हो सकता। (अभिप्राय यह है कि उपकार और समवायके भेद माननेमें दोनोंका संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि संयोग सम्बन्ध द्रव्योंमें ही होता है। यदि दोनोंमें समवाय सम्बन्ध माना जाय तो समवाय व्यापक है, इसलिए नियत सम्बन्धियोंके साथ समवाय सम्बन्ध भी नहीं बन सकता।) अतएव एकान्त नित्यमें क्रमसे अर्थक्रिया नहीं हो सकती।

नित्य पदार्थ अक्रमसे भी अर्थक्रिया नहीं करता है। क्योंकि एक पदार्थ समस्त कालमें होनेवाली अर्थक्रियाको एक ही समयमें कर डाले, यह अनुभवमें नहीं आता। अथवा यदि नित्य पदार्थ अक्रमसे अर्थक्रिया करे भी, तो वह दूसरे क्षणमें क्या करेगा? यदि कहो कि दूसरे क्षणमें भी वह अर्थक्रिया करता है तो जो दोष क्रमसे अर्थक्रिया करनेमें आते हैं, वे सब दोष यहाँ भी आयेंगे। यदि कहा जाय कि नित्य पदार्थ दूसरे क्षणमें कुछ भी नहीं करता, तो दूसरे क्षणमें अर्थक्रियाकारित्वका अभाव होनेसे नित्य पदार्थ अवस्तु ठहरेगा। इस प्रकार व्यापककी अनुपलब्धिके कारण व्यापककी निवृत्ति हो जानेसे विरत हो जानेवाली क्रम और अक्रमसे व्याप्त ऐसी अर्थक्रिया अपने व्याप्य अर्थक्रियाकारित्वको भी निवृत्ति कर देती है। तथा निवृत्त होनेवाला अर्थक्रियाकारित्व अपने व्याप्य पदार्थकी भी निवृत्ति कर देता है। अतः एकान्त-नित्य पदार्थमें क्रम और अक्रमसे अर्थक्रिया नहीं बनती। तथा वस्तुमें अर्थक्रियाकारित्वके नष्ट हो जानेपर वस्तुका अस्तित्व ही नहीं रहता। (तात्पर्य यह है कि पदार्थको सर्वथा-नित्य स्वीकार करनेमें नित्य पदार्थमें अर्थक्रियाकारित्व सम्भव नहीं है। और अर्थक्रियाकारित्व ही वस्तुका लक्षण कहा गया है। इसलिए नित्य पदार्थमें अर्थक्रियाकारित्वके अभाव होनेसे नित्य पदार्थ अवस्तु ठहरता है। क्रम और अक्रम दोनों ही तरहसे सर्वथा नित्य पदार्थमें अर्थक्रिया नहीं बन सकती। नित्य पदार्थमें क्रमसे अर्थक्रिया हो तो यह युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। क्योंकि नित्य पदार्थ सर्वदा समर्थ है, फिर वह दूसरे क्षणमें होनेवाली क्रियाओंको एक ही साथ न करके क्रम-क्रमसे क्यों करता है? नित्य पदार्थमें अक्रमसे अर्थक्रिया मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि नित्य पदार्थ समस्त कालमें होनेवाली क्रियाओंको एक ही समयमें कर डाले, ऐसी प्रतीति नहीं होती। थोड़ी देरके लिए यदि यह सम्भव भी हो, तो नित्य पदार्थ दूसरे क्षणमें क्या काम करेगा? इस प्रकार क्रम और अक्रम दोनों पक्ष दोषपूर्ण हैं।) अतएव वस्तुका एकान्त-नित्यत्व स्वीकार करना युक्तियुक्त नहीं है।

एकान्त-नित्यकी तरह पदार्थको एकान्त-अनित्य स्वीकार करना भी योग्य नहीं। क्योंकि अनित्य

यदाहुः—

"यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः।
न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावानामिह विद्यते" ॥

न च सन्तानापेक्षया पूर्वोत्तरक्षणानां क्रमः सम्भवति; सन्तानस्यावस्तुत्वात्। वस्तुत्वेऽपि तस्य यदि क्षणिकत्वं, न तर्हि क्षणेभ्यः कश्चिद्विशेषः। अथाक्षणिकत्वं, तर्हि समाप्तः क्षणभङ्गवादः ॥

नाप्यक्रमेणार्थक्रिया क्षणिके सम्भवति। स ह्येको बीजपूरादिक्षणो[1] युगपदनेकान् रसादिक्षणान् जनयन् एकेन स्वभावेन जनयेत्, नानास्वभावैर्वा ? यद्येकेन तदा तेषां रसादिक्षणानामेकत्वं स्यात्, एकस्वभावजन्यत्वात्। अथ नानास्वभावैर्जनयति किञ्चिद्रूपादिकमुपादानभावेन, किञ्चिद्रसादिकं सहकारित्वेन, इति चेत्, तर्हि ते स्वभावास्तस्यात्मभूता, अनात्मभूता वा ? अनात्मभूताश्चेत् स्वभावत्वहानिः। यद्यात्मभूताः तर्हि तस्यानेकत्वम्; अनेकस्वभावत्वात्। स्वभावानां वा एकत्वं प्रसज्येत; तदव्यतिरिक्तत्वात् तेषां तस्य चैकत्वात् ॥

पदार्थ क्षण-क्षणमें नष्ट होनेवाला है, इसलिए वह क्रमसे अर्थक्रिया नहीं कर सकता। कारण कि अनित्य पदार्थमें देश और कालकृत क्रम सम्भव नहीं। पूर्वक्रम और अपरक्रम क्षणिक पदार्थमें असम्भव है। क्योंकि नित्य पदार्थमें ही अनेक देशोंमें रहनेवाला देशक्रम और अनेक कालमें रहनेवाला कालक्रम सम्भव हो सकता है। सर्वथा अनित्य पदार्थोंमें देश और कालक्रम नहीं हो सकता। कहा भी है:—

'जो पदार्थ जिस स्थान (देश) और जिस क्षण (काल) में है, वह उसी स्थान और उसी क्षणमें है, क्षणिक भावोंके साथ देश और कालकी व्याप्ति नहीं बन सकती।"

यदि कहा जाय कि सन्तानकी अपेक्षासे पूर्व और उत्तर क्षणमें क्रम सम्भव हो सकता है तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि सन्तान कोई वस्तु ही नहीं। यदि सन्तानको वस्तु स्वीकार किया जाय, तो सन्तान क्षणिक है, अथवा अक्षणिक ? सन्तानको क्षणिक माननेपर सन्तानमें क्षणिक पदार्थोंसे कोई विशेषता न होगी। अर्थात् जिस प्रकार पदार्थोंके क्षणिक होनेपर उनमें क्रम नहीं होता, वैसे ही सन्तानमें भी क्रम न होगा। यदि सन्तान अक्षणिक है, तो क्षणभंगवाद ही नहीं बन सकता।

क्षणिक पदार्थमें अक्रमसे भी अर्थक्रिया सम्भव नहीं। क्योंकि एक बीजपूर (बिजौरा) आदि क्षण (बौद्ध लोग वस्तुओंको क्षण कहते हैं, क्योंकि उनके मतमें सब पदार्थ क्षणिक हैं) एक साथ अनेक रस आदि क्षण (वस्तु) को एक स्वभावसे उत्पन्न करता है, अथवा नाना स्वभावसे ? यदि एक स्वभावसे उत्पन्न करता है, तो एक स्वभावसे उत्पन्न होनेके कारण रस आदि पदार्थोंमें एकता हो जानी चाहिए। यदि बीजपूर क्षण रस आदि क्षणको नाना स्वभावोंसे उत्पन्न करता है—अर्थात् किसी रूप आदिको उपादानभावसे, और किसी रस आदिको सहकारीभावसे उत्पन्न करता है—तो प्रश्न होता है कि वे उपादान और सहकारीभाव बीजपूरके आत्मभूत (निजस्वभाव) हैं, या अनात्मभूत (परस्वभाव) ? यदि उपादानादि भाव बीजपूरके अनात्मभूत हैं तो उपादानादि भाव बीजपूरके स्वभाव ही नहीं कहे जा सकते। यदि उपादानादि भाव बीजपूरके आत्मभूत हैं तो अनेक स्वभावरूप होनेसे बीजपूर पदार्थमें अनेकता हो जायेगी, अर्थात् जितने स्वभाव होंगे, उतने ही उन स्वभावोंके धारक बीजपूर पदार्थ भी होंगे। अथवा उपादानादि बीजपूर पदार्थसे अभिन्न हैं, और बीजपूर एक है, इसलिए स्वभावोंका एकत्व हो जायेगा।

---

१. 'बीजपूरादिरूपादि' पाठान्तरम्। एते बौद्धाः क्षणशब्देन पदार्थान् गृह्णन्ति। यतः सर्वे पदार्थाः क्षणिकाः।

अथ य एव एकत्रोपादानभावः स एवान्यत्र सहकारिभाव इति न स्वभावभेद इष्यते। तर्हि नित्यस्यैकरूपस्यापि क्रमेण नानाकार्यकारिणः स्वभावभेदः कार्यसाङ्कर्यं च कथमिष्यते क्षणिकवादिना। अथ नित्यमेकरूपत्वादक्रमं; अक्रमाच्च क्रमिणां नानाकार्याणां कथमुत्पत्तिः इति चेत्, अहो स्वपक्षपाती देवानांप्रियः यः खलु स्वयमेकस्माद् निरंशाद् रूपादिक्षणात् कारणाद् युगपदनेककार्याण्यङ्गीकुर्वाणोऽपि परपक्षे नित्येऽपि वस्तुनि क्रमेण नानाकार्यकरणेऽपि विरोधमुद्भावयति। तस्माद् क्षणिकस्यापि भावस्याक्रमेणार्थक्रिया दुर्घटा। इत्यनित्यैकान्तादपि क्रमाक्रमयोर्व्यापकयोर्निवृत्त्यैव व्याप्यार्थक्रियापि व्यावर्तते। तद्व्यावृत्तौ च सत्त्वमपि व्यापकानुपलब्धिबलेनैव निवर्तते। इत्येकान्तानित्यवादोऽपि न रमणीयः॥

स्याद्वादे पूर्वोत्तराकारपरिहारस्वीकारस्थितिलक्षणपरिणामेन भावानामर्थक्रियोपपत्तिरविरुद्धा। न चैकत्र वस्तुनि परस्परविरुद्धधर्माध्यासायोगादसन् स्याद्वाद इति वाच्यम्, नित्यानित्यपक्षविलक्षणस्य पक्षान्तरस्याङ्गीक्रियमाणत्वात्। तथैव च सर्वैरनुभवात्। तथा च पठन्ति—

यदि कहो कि जो स्वभाव एक स्थानमें उपादानभाव होकर रहता है, वही दूसरे स्थानमें सहकारीभाव हो जाता है, इसलिए हम पदार्थमें स्वभावका भेद नहीं मानते, तो क्षणिकवादी नित्य और एकरूप क्रमसे नाना कार्य करनेवाले पदार्थका स्वभावभेद और कार्यसंकरत्व कैसे स्वीकार करते हैं? (तात्पर्य यह है कि बौद्ध लोग नित्य पदार्थके माननेमें जो दोष देते हैं कि 'यदि नित्य पदार्थ क्रमसे एक स्वभावसे अर्थक्रिया करे, तो वह एक ही समयमें अपने सब कार्य कर लेगा, इस कारण कार्यसंकरता (सब कार्योंकी अभिन्नता) हो जायेगी, और यदि अनेक स्वभावोंसे अर्थक्रिया करे, तो स्वभावका भेद हो जानेके कारण नित्य पदार्थ क्षणिक सिद्ध होगा', सो ठीक नहीं। क्योंकि बौद्ध भी एक क्षणिक पदार्थसे उपादान और सहकारी भावों द्वारा कार्यको उत्पत्ति मानकर स्वभावका भेद मानते हैं।) यदि कहा जाय कि नित्य पदार्थ एक रूप होनेसे क्रम रहित हैं, और अक्रम पदार्थसे अनेक क्रमसे होनेवाले पदार्थोंकी कैसे उत्पत्ति हो सकती है? तो यह बौद्धोंका पक्षपात मात्र है। क्योंकि बौद्ध लोग एक और अंश रहित रूप आदि क्षण कारणसे एक साथ अनेक कार्योंको स्वीकार करके भी, नित्य वस्तुमें क्रमसे नाना कार्योंकी उत्पत्तिमें विरोध खड़ा करते हैं। अर्थात् बौद्ध लोग निरंश पदार्थ हो-से अनेक कार्योंकी उत्पत्ति मानते हैं, फिर वे नित्य पदार्थमें क्रमसे अनेक कार्योंकी उत्पत्तिमें क्यों दोष देते हैं? अतएव क्षणिक पदार्थमें अक्रमसे भी अर्थक्रियाकारित्व सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए एकान्त-अनित्य पदार्थमें क्रम-अक्रम व्यापकोंकी निवृत्ति होनेसे व्याप्य अर्थक्रिया भी नहीं बन सकती। तथा अर्थक्रियाकी निवृत्ति होनेपर पदार्थमें व्यापककी अनुपलब्धि हो ही जाती है। इससे क्षणिक पदार्थके अस्तित्वका भी अभाव हो जाता है। (तात्पर्य यह है कि जैन लोग सर्वथा नित्यत्ववादकी तरह सर्वथा अनित्यत्ववादको भी नहीं मानते हैं। उनका कहना है, कि एकान्त-अनित्य पदार्थमें क्रम-अक्रमसे अर्थक्रिया नहीं हो सकती। एकान्त-अनित्यमें क्रमसे अर्थक्रिया इसलिए नहीं बन सकती, कि एकान्त-क्षणिक पदार्थ क्षण-क्षणमें नष्ट होनेवाला है। इसीलिए सर्वथा क्षणिक पदार्थोंमें देशकृत अथवा कालकृत क्रम सम्भव नहीं है। तथा क्षणिक पदार्थमें अक्रमसे भी अर्थक्रिया नहीं हो सकती। क्योंकि यदि क्षणिक पदार्थोंमें अक्रमसे अर्थक्रिया हो, तो एक ही क्षणमें समस्त कार्य हो जाया करेंगे, फिर दूसरे क्षणमें कुछ भी करनेको बाकी न रहेगा। अतएव दूसरे क्षणमें वस्तुके अर्थक्रियासे शून्य होनेके कारण वस्तुको अवस्तु मानना पड़ेगा।) अतएव एकान्त-अनित्यत्ववादको भी स्वीकार नहीं किया जा सकता।

स्याद्वाद सिद्धान्तके स्वीकार करनेमें पूर्व आकारका त्याग, उत्तर आकारका ग्रहण, और पूर्वोत्तर दोनों दशाओंमें पदार्थके ध्रुव रहनेके कारण पदार्थोंमें अर्थक्रिया माननेमें कोई विरोध नहीं आता। यदि कहो कि एक ही पदार्थमें परस्पर दो विरुद्ध धर्म कैसे सम्भव हैं, तो हमारा उत्तर है कि स्याद्वादमें एकान्त-नित्य और एकान्त-अनित्यसे विलक्षण तीसरा ही पक्ष स्वीकार किया गया है। क्योंकि स्याद्वादमें प्रत्येक वस्तु किसी अपेक्षासे नित्य और किसी अपेक्षासे अनित्य स्वीकार की गयी है। यह नित्यानित्यरूप सबके अनुभवमें भी आता है। कहा भी है—

"भागे सिंहो नरो भागे योऽर्थो भागद्वयात्मकः।
तमभागं विभागेन नरसिंहं प्रचक्षते" ॥ इति ॥

वैशेषिकैरपि चित्ररूपस्यैकस्यावयविनोऽभ्युपगमात् एकस्यैव पटादेश्चलाचलरक्तारक्तावृतानावृतत्वादिविरुद्धधर्माणामुपलब्धेः। सौगतैरप्येकत्र चित्रपटीज्ञाने नीलानीलयोर्विरोधानङ्गीकारात् ॥

अत्र च यद्यप्यधिकृतवादिनः प्रदीपादिकं कालान्तरावस्थायित्वात् क्षणिकं न मन्यन्ते तन्मते पूर्वापरान्तावच्छिन्नायाः सत्ताया एवानित्यतालक्षणात्, तथापि बुद्धिसुखादिकं तेऽपि क्षणिकतयैव प्रतिपन्नाः इति तदधिकारेऽपि क्षणिकवादचर्चा नानुपपन्ना। यदापि च कालान्तरावस्थायि वस्तु तदापि नित्यानित्यमेव। क्षणोऽपि न खलु सोऽस्ति यत्र वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं नास्ति ॥ इति काव्यार्थः ॥५॥

"एक भागमें सिंह दूसरे भागमें नर, इस प्रकार दो भागोंको धारण करनेसे भागरहित नृसिंहावतारको नरसिंह कहा जाता है।" (भाव यह है कि जिस प्रकार नृसिंहावतार एक भागमें नर है और दूसरेमें मनुष्य है, अर्थात् नर और सिंहकी दो विरुद्ध आकृतियोंको धारण करता है, और फिर भी नृसिंहावतार नृसिंह नामसे कहा जाता है, उसी तरह नित्य-अनित्य दो विरुद्ध धर्मोंके रहनेपर भी स्याद्वादके सिद्धान्तमें कोई विरोध नहीं आता है।)

इसी तरह वैशेषिक लोग भी एक अवयवीको ही चित्ररूप (परस्पर विरुद्धरूप) तथा एक ही पटको चल और अचल, रक्त और अरक्त, आवृत और अनावृत आदि विरुद्ध धर्मयुक्त स्वीकार करते हैं। बौद्धोंने भी एक ही चित्रपटी ज्ञानमें, नील और अनीलमें विरोधका होना स्वीकार नहीं किया है।

यद्यपि वैशेषिक लोगोंने दीपक आदिको एक क्षणके बाद कालान्तरमें स्थायी माना है, इसलिए उसे क्षणिक स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि उनके मतमें पूर्व और अपर अन्तसे अवच्छिन्न सत्ताको अनित्य कहा है (बौद्धोंकी तरह क्षण-क्षणमें होनेवाले अभावको नहीं), फिर भी वैशेषिक लोगोंने बुद्धि, सुख आदिको क्षणिक स्वीकार किया ही है। अतएव यहाँपर क्षणिकवादकी चर्चा अप्रासंगिक नहीं समझनी चाहिए। (नोट—वैशेषिक लोग बुद्धि, सुख आदिको क्षणिक मानते हैं, इससे मालूम होता है कि वैशेषिक लोग अर्ध-बौद्ध गिने जाते थे। इसीलिए शंकराचार्यने उन्हें अर्ध-वैनाशिक अर्थात् अर्ध-बौद्ध कहकर सम्बोधन किया है—प्रो० ए० बी० ध्रुव—स्याद्वादमञ्जरी, पृ० ५४)। वैशेषिक लोग जिस तरह बुद्धि, सुख आदिको सर्वथा क्षणिक मानते हैं वैसे ही वे लोग बहुतसे पदार्थोंको सर्वथा नित्य भी स्वीकार करते हैं; परन्तु वस्तुको नित्य-अनित्य मानना ही ठीक है। क्योंकि जो वस्तु एक क्षणसे दूसरे क्षणमें रहनेवाली है, वह नित्यानित्य ही होती है। इसी तरह ऐसा कोई भी क्षण नहीं जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य न होते हों॥ यह श्लोकका अर्थ है ॥५॥

भावार्थ—जैनदर्शनमें प्रत्येक पदार्थ कथंचित्-नित्य और कथंचित्-अनित्य माना गया है। साधारणतः दीपक अनित्य और आकाश नित्य माना जाता है। परन्तु जैनदर्शनके अनुसार दीपकसे लेकर आकाश तक, अर्थात् छोटेसे लेकर बड़े तक सब पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यस्वरूप हैं, और इसीलिए नित्य-अनित्य हैं। जिस समय दीपकके तेज परमाणु तमरूप पर्यायमें परिवर्तित होते हैं, उस समय तेज परमाणुओंका व्यय होता है, तमरूप पर्यायका उत्पाद होता है, तथा दोनों अवस्थाओंमें द्रव्यरूप दीपक मौजूद रहता है। इसलिए द्रव्यकी अपेक्षा दीपक नित्य है, और पर्यायकी अपेक्षा अनित्य। इसी प्रकार आकाश भी नित्य-अनित्य है। क्योंकि जिस समय आकाशमें रहनेवाले जीव-पुद्गल आकाशके एक प्रदेशको छोड़कर दूसरे प्रदेशके साथ संयुक्त होते हैं, उस समय आकाशके पूर्व प्रदेशोंसे जीव-पुद्गलोंके विभाग होनेकी अपेक्षासे आकाशमें व्यय,

अथ तदभिमतमीश्वरस्य जगत्कर्तृत्वाभ्युपगमं मिथ्याभिनिवेशरूपं निरूपयन्नाह—

कर्तास्ति कश्चिज्जगतः स चैकः स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः ।
इमाः कुहेवाकविडम्बनाः स्युस्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम् ॥६॥

जगतः—प्रत्यक्षादिप्रमाणोपलक्ष्यमाणचराचररूपस्य विश्वत्रयस्य, कश्चिद्—अनिर्वचनीयस्वरूपः पुरुषविशेषः, कर्ता—स्रष्टा, अस्ति—विद्यते । ते हि इत्थं प्रमाणयन्ति । उर्वीपर्वततर्वादिकं सर्वं, बुद्धिमत्कर्तृकं, कार्यत्वात्; यद् यत् कार्यं तत् तत्सर्वं बुद्धिमत्कर्तृकं, यथा घटः, तथा चेदं, तस्मात् तथा । व्यतिरेके व्योमादि । यश्च बुद्धिमांस्तत्कर्ता स भगवानीश्वर एवेति ॥

उत्तर प्रदेशोंके साथ संयोग होनेस उत्पाद, तथा पूर्वोत्तर दोनों पर्यायोंमें आकाश द्रव्यके मौजूद रहनेसे ध्रौव्य अवस्थाएँ पायी जाती हैं । इसलिए द्रव्यकी अपेक्षा आकाश नित्य है, और पर्यायकी अपेक्षा अनित्य । दूसरे शब्दोंमें, जैनसिद्धान्तके अनुसार, द्रव्य और पर्याय कथंचित्-भिन्न हैं और कथंचित्-अभिन्न । जिस प्रकार बिना द्रव्यके पर्याय नहीं रह सकती, उसी तरह बिना पर्यायके द्रव्य नहीं रह सकते । परन्तु वैशेषिक लोग कुछ पदार्थोंको सर्वथा नित्य मानते है और कुछको सर्वथा अनित्य । इसीलिए वैशेषिकों द्वारा मान्य 'अप्रच्युत, अनुत्पन्न और स्थिररूप' नित्यका लक्षण न स्वीकार करके जैन लोग 'पदार्थके भावका नष्ट नहीं होना' ही नित्यत्वका लक्षण मानते हैं ।

इस श्लोकको व्याख्यामें टीकाकार मल्लिषेणने निम्न विषयोंपर भी विचार किया है ।

(१) अन्धकार तेजकी ही एक पर्यायविशेष है, सर्वथा अभावरूप नहीं है । जैनदर्शनके अनुसार प्रकाशकी तरह तम भी चक्षुका विषय है । इसलिए जैनशास्त्रोंमें अन्धकारको पौद्गलिक—स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णयुक्त—स्वीकार किया गया है । जैन लोगोंका कहना है कि यदि वैशेषिक लोग दीपककी प्रभाको पौद्गलिक मानते हैं, तो उन्हें अन्धकारको पुद्गलकी पर्याय माननेमें क्या आपत्ति है ?

(२) पदार्थको एकान्त-नित्य अथवा एकान्त-अनित्य स्वीकार करनेसे उसमें अर्थक्रियाकारित्व अर्थात् वस्तुत्व ही सिद्ध नहीं होता । इस विषयको नाना ऊहापोहात्मक विकल्पोंके साथ टीकाकारने विस्तारपूर्वक प्रतिपादित किया है ।

(३) नित्यानित्यके सिद्धान्तको दूसरे वादी भी रूपान्तरसे स्वीकार करते हैं । उदाहरणके लिए, वैशेषिक लोग पृथ्वीको नित्य और अनित्य दोनों मानते हैं; तथा एक ही अवयवीके चित्ररूपकी कल्पना करते हैं । बौद्ध लोग भी एक ही चित्रपटमें नील-अनील धर्मोंको मानते हैं । इसी तरह पातंजलमतके अनुयायी धर्म, लक्षण और अवस्थाको धर्मोंसे भिन्न और अभिन्न मानते हैं ।

अब, वैशेषिकों द्वारा मान्य ईश्वरके जगत्कर्तृत्वमें दूषण देते हुए कहते हैं—

श्लोकार्थ—हे नाथ, जो अप्रामाणिक लोग 'जगत्का कोई कर्त्ता है (१) वह एक हैं, (२) सर्वव्यापी है, (३) स्वतन्त्र है और (४) नित्य है' आदि दुराग्रहसे परिपूर्ण सिद्धान्तोंको स्वीकार करते हैं, उनका तू अनुशास्ता नहीं हो सकता ।

व्याख्यार्थ—पूर्वपक्ष–'जगतः कश्चित् कर्ता अस्ति'–प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे जाने हुए स्थावर और जंगमरूप तीनों विश्वका अनिर्वचनीय स्वरूप कोई पुरुषविशेष सृष्टिकर्ता है । इसमें निम्नलिखित प्रमाण दिया गया है—'पृथिवी, पर्वत, वृक्ष आदि पदार्थ किसी बुद्धिमान कर्ताके बनाये हुए हैं, क्योंकि ये कार्य हैं; जो जो कार्य होते हैं वे सब किसी बुद्धिमान् कर्ताके बनाये हुए होते हैं, जैसे घट पृथिवी, पर्वत आदि भी कार्य हैं, इसलिए ये भी बुद्धिमान् कर्ताके बनाये हुए होने चाहिए' । व्यतिरेक रूपमें—'आकाश आदि कार्य नहीं हैं, इसलिए किसी बुद्धिमान् कर्ताका बनाया हुआ भी नहीं है ।' जो कोई इन पदार्थोंका बुद्धिमान् कर्ता है वह भगवान् ईश्वर ही है ।

न चायमसिद्धो[1] हेतुः। यतो भूभूधरादेः स्वस्वकारणकलापजन्यतया अवयवितया वा कार्यत्वं सर्ववादिनां प्रतीतमेव। नाप्यनैकान्तिको[2] विरुद्धो[3] वा। विपक्षादत्यन्तव्यावृत्तत्वात्। नापि कालात्ययापदिष्टः[4]। प्रत्यक्षानुमानागमाबाधितधर्मधर्म्यनन्तरप्रतिपादितत्वात्। नापि प्रकरणसमः[5] तत्प्रतिपन्थिधर्मोपपादनसमर्थप्रत्यनुमानाभावात्॥

न च वाच्यम् ईश्वरः पृथ्वीपृथ्वीधरादेर्विधाता न भवति; अशरीरत्वात्, निर्वृत्तात्मवत्, इति प्रत्यनुमानं तद्बाधकमिति। यतोऽत्रेश्वररूपो धर्मी प्रतीतोऽप्रतीतो वा प्ररूपितः? न तावदप्रतीतः, हेतोराश्रयासिद्धिप्रसङ्गात्। प्रतीतश्चेत्, येन प्रमाणेन स प्रतीतस्तेनैव किं स्वयमुत्पादितस्वतनुर्न प्रतीयते। इत्यतः कथमशरीरत्वम्। तस्मान्निरवद्य एवायं हेतुरिति॥

उक्त हेतु असिद्ध नहीं है। क्योंकि अपने-अपने कारणोंसे उत्पन्न होनेके और अवयवी होनेके कारण पृथिवी, पर्वत आदिका कार्यत्व सभी वादियोंने स्वीकार किया है। यह हेतु अनैकान्तिक (व्यभिचारी) अथवा विरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि इसकी विपक्षसे अत्यन्त व्यावृत्ति है। (जिस हेतुकी विपक्षमें भी अविरुद्ध वृत्ति हो, अर्थात् जो हेतु विपक्षमें भी चला जाय उसे अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं। जैसे घड़ा ठण्डा है, क्योंकि मूर्तिक है। यहाँ मूर्तित्वकी व्याप्ति ठण्डा और गरम दोनोंके साथ है, अर्थात् मूर्तित्व हेतु विपक्ष (गरम) में भी चला जाता है, इसलिए दूषित है। यहाँ कार्यत्व हेतुकी विपक्ष अर्थात् आकाश आदिसे व्यावृत्ति है, इसलिए यह हेतु अनैकान्तिक नहीं है। इसीलिए कार्यत्व हेतु विरुद्ध भी नहीं है। जिस हेतुका अविनाभावसम्बन्ध साध्यसे विरुद्धके साथ निश्चित हो उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं। जैसे शब्द परिवर्तनशील है, क्योंकि उत्पत्तिवाला है। यहाँ उत्पत्तिकी व्याप्ति परिवर्तनशीलताके साथ है, जो साध्यसे विरुद्ध है। प्रस्तुत कार्यत्व हेतु अपने साध्य बुद्धिमत्कर्तृत्वके साथ अविनाभावसम्बन्धसे रहता है, इसलिए विरुद्ध नहीं है।) कार्यत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट भी नहीं है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष अनुमान और आगमसे अबाधित, धर्म और धर्मीके सिद्ध हो जानेपर प्रतिपादन किया गया है—अर्थात् पहले प्रमाणसिद्ध धर्म-धर्मीका कथन करके बादमें हेतुका कथन किया गया है। यह हेतु प्रकरणसम भी नहीं है, क्योंकि यहाँ कोई बाधक प्रत्यनुमान नहीं है। (जहाँ साध्यके अभावका साधक कोई दूसरा अनुमान मौजूद हो उसे प्रकरणसम कहते हैं। यहाँ कार्यत्व हेतुके प्रतिकूल बुद्धिमत्अकर्तृकत्व धर्मको सिद्ध करनेवाला कोई प्रत्यनुमान नहीं है।)

प्रतिवादी—'ईश्वर पृथिवी, पर्वत आदिका कर्ता नहीं है, क्योंकि वह अशरीरी है, मुक्तात्माकी तरह'—यह प्रत्यनुमान उक्त कार्यत्व हेतुका बाधक है, इसलिए कार्यत्वहेतु प्रकरणसम हेत्वाभाससे दूषित है। वैशेषिक—यह शंका ठीक नहीं। क्योंकि 'ईश्वर पृथिवी, पर्वत आदिका कर्ता नहीं है'—इस वाक्यमें ईश्वररूप धर्मी प्रतीत है, अथवा अप्रतीत? यदि धर्मी अप्रतीत हो, तो हेतु आश्रयासिद्ध होगा; अर्थात् जब धर्मी ही अप्रतीत है तब अशरीरत्व हेतु कहाँ रहेगा? यदि कहो कि उक्त अनुमानमें ईश्वर प्रतीत है तो जिस प्रमाणसे ईश्वर प्रतीत है; उसी प्रमाणसे यह क्यों नहीं मानते कि ईश्वर स्वयं उत्पन्न किये हुए शरीरको ही धारण करता है। अर्थात् ईश्वरको प्रतीत (जाना हुआ) माननेसे क्या ऐसा प्रतीत नहीं होता कि ईश्वरने अपना शरीर स्वयं बनाया है, और वह जगत्‌को बनानेमें समर्थ है। इसलिए ईश्वरको शरीररहित नहीं कह सकते। अतएव ईश्वरके कर्तृत्वमें हमारा दिया हुआ कार्यत्व हेतु असिद्ध, विरुद्ध आदि दोषोंसे रहित होनेके कारण निर्दोष है।

---

१. अयं साध्यसमशब्देनाभिधीयते। 'साध्याविशिष्टः साध्यत्वात्साध्यसमः'। गौतमसूत्रे। १-२-८। २. 'अनैकान्तिकः सव्यभिचारः'। गौतमसूत्रे १-२-५। ३. 'सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः'। गौतमसूत्रे १-२-६। ४. 'कालात्ययापदिष्टः कालातीतः'। गौतमसूत्रे १-२-९। ५. 'यस्मात्प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः'। गौतमसूत्रे १-२-७।

स चैक इति। चः पुनरर्थे। स पुनः–पुरुषविशेषः; एकः–अद्वितीयः। बहूनां हि विश्वविधातृत्वस्वीकारे परस्परविमतिसम्भावनाया अनिवार्यत्वाद् एकैकस्य वस्तुनोऽन्यान्यरूपतया निर्माणे सर्वमसमञ्जसमापद्येत इति ॥

तथा स सर्वग इति। सर्वत्र गच्छतीति सर्वगः–सर्वव्यापी। तस्य हि प्रतिनियतदेशवर्तित्वेऽनियतदेशवृत्तीनां विश्वत्रयान्तर्वर्तिपदार्थसार्थानां यथावन्निर्माणानुपपत्तिः। कुम्भकारादिषु तथा दर्शनाद्। अथवा सर्वं गच्छति जानातीति सर्वगः–सर्वज्ञः "सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः[1]" इति वचनात्। सर्वज्ञत्वाभावे हि यथोचितोपादानकारणाद्यनभिज्ञत्वाद् अनुरूपकार्योत्पत्तिर्न स्यात् ॥

तथा स स्ववशः—स्वतन्त्रः, सकलप्राणिनां स्वेच्छया सुखदुःखयोरनुभावनसमर्थत्वात्। तथा चोक्तम्—

"ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा।
अन्यो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ॥"

पारतन्त्र्ये तु तस्य परमुखप्रेक्षितया मुख्यकर्तृत्वव्याघाताद् अनीश्वरत्वापत्तिः ॥

तथा स नित्य इति। अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपः। तस्य ह्यनित्यत्वे परोत्पाद्यतया कृतकत्वप्राप्तिः। अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः स्वभावनिष्पत्तौ कृतक इत्युच्यते। यश्चापरस्तत्कर्ता कल्प्यते, स नित्योऽनित्यो वा स्यात्? नित्यश्चेत् अधिकृतेश्वरेण किमपराद्धम्। अनित्यश्चेत्, तस्याप्युत्पादकान्तरेण भाव्यम्। तस्यापि नित्यानित्यत्वकल्पनायाम् अनवस्थादौस्थ्यमिति ॥

---

(१) वह पुरुषविशेष एक अर्थात् अद्वितीय ('एक') है। क्योंकि यदि बहुतसे ईश्वरोंको संसारका कर्ता स्वीकार किया जाय, तो एक दूसरेकी इच्छामें विरोध उत्पन्न होनेके कारण एक वस्तुके अन्य रूपमें निर्माण होनेसे संसारमें असमञ्जस उत्पन्न हो जायेगा।

(२) ईश्वर सर्वव्यापी ('सर्वग') है। यदि ईश्वरको नियत प्रदेशमें ही व्याप्त माना जाय, तो अनियत स्थानोंके तीनों लोकोंके समस्त पदार्थोंकी यथारीति उत्पत्ति सम्भव न होगी। जैसे कुम्भकार एक प्रदेशमें रहकर नियत प्रदेशके घटादिक पदार्थको ही बना सकता है, वैसे ही ईश्वर भी नियत प्रदेशमें रहकर अनियत प्रदेशके पदार्थोंकी रचना नहीं कर सकता। अथवा, ईश्वर सब पदार्थोंको जाननेवाला ('सर्वज्ञ') है। क्योंकि कहा है "गत्यर्थक धातु ज्ञानार्थक होती हैं"। यदि ईश्वरको सर्वज्ञ न मानें, तो यथायोग्य उपादान कारणोंके न जाननेके कारण वह ईश्वर अनुरूप कार्योंकी उत्पत्ति न कर सकेगा।

(३) ईश्वर स्वतन्त्र ('स्ववश') है, क्योंकि वह अपनी इच्छासे ही सम्पूर्ण प्राणियोंको सुख-दुखका अनुभव करानेमें समर्थ है। कहा भी है—

"ईश्वर द्वारा प्रेरित किया हुआ जीव स्वर्ग और नरकमें जाता है। ईश्वरकी सहायताके विना कोई अपने सुख-दुःख उत्पन्न करनेमें स्वतन्त्र नहीं है।"

ईश्वरको परतन्त्र स्वीकार करनेमें उसके परमुखापेक्षी होनेसे, मुख्य कर्तृत्वको बाधा पहुँचेगी जिससे कि उसका ईश्वरत्व ही नष्ट हो जायेगा।

(४) ईश्वर अविनाशी, अनुत्पन्न और स्थिररूप 'नित्य' है। ईश्वरको अनित्य माननेमें एक ईश्वर दूसरे ईश्वरसे उत्पन्न होगा, इसलिए वह कृतक—अपने स्वरूपकी सिद्धिमें दूसरेकी अपेक्षा रखनेवाला—हो जायगा। तथा ईश्वरका जो कोई दूसरा कर्ता मानोगे, वह नित्य है या अनित्य? यदि नित्य है तो एक ही ईश्वरको नित्य क्यों नहीं मान लेते। यदि ईश्वरका कर्ता अनित्य है, तो उस अनित्य कर्ताका कोई दूसरा उत्पादक होना चाहिए। फिर वह कर्ता नित्य होगा या अनित्य? इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न होगा।

---

१. 'गत्यर्था ज्ञानार्थाः' हेमहंसगणिसमुच्चितहेमचन्द्रव्याकरणस्थन्यायः ४४ इति।

तदेवमेकत्वादिविशेषणविशिष्टो भगवानीश्वरस्त्रिजगत्कर्तेति पराभ्युपगममुपदर्श्य उत्तरार्धेन तस्य दुष्टत्वमाचष्टे। इमाः—एताः, अनन्तरोक्ताः, कुहेवाकविडम्बनाः—कुत्सिता हेवाकाः—आग्रहविशेषाः कुहेवाकाः कदाग्रहा इत्यर्थः। त एव विडम्बनाः विचारचातुरीबाह्यत्वेन तिरस्काररूपत्वाद् विगोपकप्रकाराः। स्युः—भवेयुः। तेषां प्रामाणिकापसदानाम्। येषां हे स्वामिन् त्वं नानुशासकः—न शिक्षादाता॥

तदभिनिवेशानां विडम्बनारूपत्वज्ञापनार्थमेव पराभिप्रेतपुरुषविशेषणेषु प्रत्येकं तच्छब्दप्रयोगमसूयागर्भमाविर्भावयाञ्चकार स्तुतिकारः। तथा चैवमेव निन्दनीयं प्रति वक्तारो वदन्ति। स मूर्खः स पापीयान् स दरिद्र इत्यादि। त्वमित्येकवचनसंयुक्तयुष्मच्छब्दप्रयोगेण परमेशितुः परमकारुणिकतयानपेक्षितस्वपरपक्षविभागमद्वितीयं हितोपदेशकत्वं ध्वन्यते॥

अतोऽत्रायमाशयः। यद्यपि भगवानविशेषेण सकलजगज्जन्तुजातहितावहां सर्वेभ्य एव देशनावाचमाचष्टे, तथापि सैव केषाञ्चिद् निचितनिकाचितपापकर्मकलुषितात्मनां रुचिरूपतया न परिणमते। अपुनर्बन्धकादिव्यतिरिक्तत्वेनायोग्यत्वात्। तथा च [3]कादम्बर्यां बाणोऽपि बभाण—"अपगतमले हि मनसि स्फटिकमणाविव रजनिकरगभस्तयो विशन्ति सुखमुपदेशगुणाः। गुरुवचनममलमपि सलिलमिव महदुपजनयति श्रवणस्थितं शूलमभव्यस्य" इति। अतो वस्तुवृत्त्या न तेषां भगवाननुशासक इति॥

उत्तरपक्ष—'इमाः कुहेवाकविडम्बनाः'—इस प्रकारकी कुत्सित आग्रहरूप विडम्बनाएँ विचाररहित होनेके कारण तिरस्कारके योग्य हैं। अप्रामाणिक लोगोंकी ये विडम्बनाएँ अपने दोषोंको छिपानेके लिए ही हैं। ऐसे लोगोंके उपदेष्टा, हे स्वामिन्, आप नहीं हो सकते।

न्याय-वैशेषिकोंकी मान्यताको विडम्बना सिद्ध करनेके लिए ही श्लोकमें न्याय-वैशेषिकों द्वारा अभीष्ट ईश्वरके प्रत्येक विशेषणोंके साथ 'तत्' शब्दका प्रयोग किया गया है। जिस प्रकार वक्ता लोग किसी निन्दनीय पुरुषको कहते हैं कि वह मूर्ख है, वह पापी है, वह दरिद्र है, आदि; उसी प्रकार यहाँ भी ईश्वरके लिए कहा गया है, कि वह जगत्का कर्ता है, वह एक है, वह नित्य है, आदि। श्लोकमें युष्मत् (त्वं) शब्दके प्रयोगसे परम दयालु होनेके कारण पक्षपातकी भावना रहित जिनेन्द्र भगवान्का अद्वितीय हितोपदेशकत्व ध्वनित होता है।

भाव यह है कि यद्यपि भगवान् सामान्यरूपसे सम्पूर्ण प्राणियोंको हितोपदेश करते हैं, परन्तु वह उपदेश पूर्व जन्ममें उपार्जन किये हुए निकाचित (जिस कर्मकी उदारणा, संक्रमण, उत्कर्षण और अपकर्षणरूप अवस्थाएँ न हो सकें उसे निकाचित कर्म कहते हैं) पापकर्मोंसे मलिन आत्मावाले प्राणियोंको सुखकर नहीं लगता। कारण कि इस प्रकारके पापी जीव अपुनर्बन्धक (जो जीव तीव्र भावोंसे पाप नहीं करता है तथा जिसकी मुक्ति पुद्गलपरावर्तनमें हो जाती है। उसे अपुनर्बन्धक करते हैं।) (देखिए परिशिष्ट [क], आदि जीवोंसे भिन्न हैं, इसलिये उपदेशके पात्र नहीं हैं। बाणने भी कादम्बरीमें कहा है—"जिस प्रकार निर्मल स्फटिक मणिमें चन्द्रमाकी किरणोंका प्रवेश होता है, उसी तरह निर्मल चित्तमें उपदेश प्रवेश

---

१. उदये संकममुदये चउसुवि दादुं कमेण णो सक्कं। उवसंतं च णिधत्ति णिकाचिदं होदि जं कम्मं।
छाया—उदये संक्रमोदययोः चतुर्ष्वपि दातुं क्रमेण नो शक्यम्। उपशान्तं च निधत्तिः निकाचितं यत् कर्म॥
(गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा० ४४०)

२. 'पावं ण तिव्वभावा कुणइ ण बहुमन्नई भवं घोरम्।
उच्चिअट्ठिइं च सेवइ सव्वत्थ वि अपुणबन्धोत्ति'॥
छाया—पापं न तीव्रभावात् करोति न बहुमन्यते भवं घोरम्।
उचितार्थं च सेवते सर्वत्रापि अपुनर्बन्धक इति॥ इति धर्मसंग्रहे तृतीयाधिकरणे।

३. बाणभट्टकृतकादम्बरी पूर्वार्ध, पृ० १०३, पं० १०।

न चैतावता जगद्गुरोरसामर्थ्यसम्भावना। न हि कालदष्टमनुज्जीवयन् समुज्जीवितेतरदष्टको विषभिषगुपालम्भनीयः, अतिप्रसङ्गात्। स हि तेषामेव दोषः। न खलु निखिलभुवनाभोगमवभासयन्तोऽपि भावनीया भानवः[1] कौशिक[2]लोकस्यालोकहेतुतामभजमाना उपालम्भसम्भावनास्पदम्। तथा च श्रीसिद्धसेनः—

"सद्धर्मबीजवपनानघकौशलस्य यल्लोकबान्धव! तवापि खिला[3]न्यभूवन्।
तन्नाद्भुतं खगकुलेष्विह तामसेषु सूर्यांशवो मधुकरीचरणावदाताः॥[4]"

अथ कथमिव तत्कुहेवाकानां विडम्बनारूपत्वम् इति। ब्रूमः। यत्तावदुक्तं परैः 'क्षित्यादयो बुद्धिमत्कर्तृकाः, कार्यत्वाद् घटवदिति'। तदयुक्तम्। व्याप्तेरग्रहणात्। "साधनं हि सर्वत्र व्याप्तौ प्रमाणेन सिद्धायां साध्यं गमयेत्" इति सर्ववादिसम्वादः। स चायं जगन्ति सृजन् सशरीरोऽशरीरो वा स्यात्? सशरीरोऽपि किमस्मदादिवद् दृश्यशरीरविशिष्टः, उत पिशाचादिवददृश्यशरीरविशिष्टः? प्रथमपक्षे प्रत्यक्षबाधः; तमन्तरेणापि च जायमाने तृणतरुपुरन्दरधनुरभ्रादौ कार्यत्वस्य दर्शनात् प्रमेयत्वादिवत् साधारणानैकान्तिको हेतुः॥

करता है। तथा जैसे कानोंमें भरा हुआ निर्मल जल भी महान् पीड़ाको उत्पन्न करनेवाला होता है, वैसे ही गुरुओंके वचन भी अभव्य जीवको क्लेश उत्पन्न करनेवाले होते हैं।" इसलिये वास्तवमें भगवान् दुराग्रही पुरुषोंके उपदेष्टा हो नहीं सकते।

इस कथनसे तीन लोकके गुरु भगवान्की असमर्थता प्रगट नहीं होती, क्योंकि सामान्य सर्पोंसे डसे हुए प्राणियोंको जिलानेवाला विषवैद्य यदि कालसर्पसे डसे हुए प्राणीको न जिला सके, तो यह वैद्यका दोष नहीं है। यह दोष कालसर्पसे डसे हुए मनुष्यका ही है, क्योंकि कालसर्पके विषपर यंत्र-मंत्र आदि भी प्रभाव नहीं डाल सकते। इसी तरह यदि भगवान् अभव्योंको उपदेश न दे सकें, तो यह दोष भगवान्का नहीं है। यह दोष अभव्योंका ही है, क्योंकि तीव्र कषायसे मलिन अभव्योंकी आत्माओंपर उपदेशका कुछ असर नहीं होता। सम्पूर्ण विश्वमण्डलको प्रकाशित करनेवाली सूर्यकी किरणें यदि उल्लुओंके प्रकाशका कारण नहीं हो सकें, तो यह सूर्यकी किरणोंका दोष नहीं है। सिद्धसेन आचार्यने भी कहा है—

"हे लोकबान्धव, उत्तम धर्मके बीज बोनेमें आप अत्यन्त कुशल हैं, फिर भी आपका उपदेश बहुतसे लोगोंको नहीं लगता, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। क्योंकि अन्धकारमें फिरनेवाले उल्लू आदि पक्षियोंको सूर्यकी किरणें भौरोंके चरणोंके समान कृष्ण वर्णकी ही दिखाई पड़ती हैं।"

जैन—न्याय-वैशेषिकोंकी विडम्बनाओंको दुराग्रहरूप बताते हुए ग्रन्थकार न्याय-वैशेषिकोंके कार्यत्व हेतुका विस्तारसे खण्डन करते हैं। वैशेषिकोंने जो कहा है, 'पृथिवी आदि किसी बुद्धिमान् कर्ताके बनाये हुए हैं, कार्य होनेसे, घटकी तरह' यह अनुमान ठीक नहीं है। क्योंकि इस अनुमानमें व्याप्तिका ग्रहण नहीं होता। "प्रमाण द्वारा व्याप्तिके सिद्ध होनेपर ही साधनसे साध्यका ज्ञान होता है" यह सर्ववादियों-द्वारा सम्मत है। प्रश्न होता है, कि ईश्वरने शरीर धारण करके जगत्को बनाया है, अथवा शरीर रहित होकर? यदि ईश्वरने शरीर धारण करके जगत्को बनाया है, तो वह शरीर हम लोगोंकी तरह दृश्य था अथवा पिशाच आदिकी तरह अदृश्य? यदि वह शरीर हमारी तरह दृश्य था, तो इसमें प्रत्यक्षसे बाधा आती है। हमें ऐसा कोई दृश्य शरीरवाला ईश्वर दिखाई नहीं देता जो घास, वृक्ष, इन्द्रधनुष, बादल आदिकी सृष्टि करता हो। इसलिये 'जहाँ-जहाँ कार्यत्व है वहाँ-वहाँ सशरीरकर्तृत्व है' यह व्याप्ति नहीं बनती। कार्यत्व हेतु यहाँ साधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास है। (जो हेतु पक्ष, सपक्ष और विपक्षमें रहता है उसे साधारण अनैकान्तिक कहते हैं। जैसे 'पर्वत अग्निवाला है, प्रमेय होनेसे'। यहाँ प्रमेयत्व हेतु अग्निरूप साध्यके धारक पर्वत पक्षमें रहता है, महानसरूप सपक्षमें रहता है, और पर्वतसे भिन्न साध्यके अभावरूप जलाशय आदि विपक्षमें भी रहता है। इसलिये प्रमेयत्वहेतु

---

१. भानवः किरणाः। २. घूकसमुदायस्य। ३. अनुप्तं क्षेत्रं खिलशब्देनाभिधीयते। ४. द्वितीयद्वात्रिंशिका श्लोक १३।

द्वितीयविकल्पे पुनरदृश्यशरीरत्वे तस्य माहात्म्यविशेषः कारणम्, आहोस्विदस्मदाद्यदृष्टवैगुण्यम्? प्रथमप्रकारः कोशपानप्रत्यायनीयः,[1] तत्सिद्धौ प्रमाणाभावात्। इतरेतराश्रयदोषापत्तेश्च। सिद्धे हि माहात्म्यविशेषे तस्यादृश्यशरीरत्वं प्रत्येतव्यम्। तत्सिद्धौ च माहात्म्यविशेषसिद्धिरिति। द्वैतीयिकस्तु प्रकारो न संचरत्येव विचारगोचरे; संशयानिवृत्तेः। किं तस्यासत्त्वाद् अदृश्यशरीरत्वं वान्ध्येयादिवत् किं वास्मदाद्यदृष्टवैगुण्यात् पिशाचादिवदिति निश्चयाभावात्।

अशरीरश्चेत् तदा दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यम्। घटादयो हि कार्यरूपाः सशरीरकर्तृका दृष्टाः। अशरीरस्य च सतस्तस्य कार्यप्रवृत्तौ कुतः सामर्थ्यम्? आकाशादिवत्। तस्मात् सशरीराशरीरलक्षणे पक्षद्वयेऽपि कार्यत्वहेतोर्व्याप्त्यसिद्धिः।

किञ्च, त्वन्मतेन कालात्ययापदिष्टोऽप्ययं हेतुः। धर्म्येकदेशस्य तरुविद्युदभ्रादेरिदानीमप्युत्पद्यमानस्य विधातुरनुपलभ्यमानत्वेन प्रत्यक्षबाधितधर्म्यनन्तरं हेतुभणनात्। तदेवं न कश्चिद् जगतः कर्ता। एकत्वादीनि तु जगत्कर्तृत्वव्यवस्थापनायानीयमानानि तद्विशेषणानि षण्ढं प्रति कामिन्या रूपसंपन्निरूपणप्रायाण्येव। तथापि तेषां विचारासहत्वख्यापनार्थं किञ्चिदुच्यते।

अनैकांतिक हेत्वाभास है। इसी प्रकार यहाँ भी कार्यत्वहेतु पृथ्वी आदि पक्षमें घट आदि सपक्षमें तथा ईश्वरके शरीर-द्वारा नहीं बनाये हुए घास, वृक्ष आदि विपक्षमें भी कार्यत्वहेतु चला गया, इसलिये यह हेतु साधारण अनैकांतिक हेत्वाभास होनेसे दोषपूर्ण है।)

यदि कहो कि ईश्वर पिशाच आदिके समान अदृश्य शरीरसे जगत्की सृष्टि करता है तो इस शरीरके अदृश्य होनेमें ईश्वरका माहात्म्यविशेष कारण है, अथवा हम लोगोंका दुर्भाग्य? प्रथम पक्ष विश्वासके योग्य नहीं है। क्योंकि ईश्वरके अदृश्य शरीर सिद्ध करनेमें कोई प्रमाण नहीं है। तथा ईश्वरके माहात्म्यविशेष सिद्ध होनेपर उसके अदृश्य शरीर सिद्ध हो, और अदृश्य शरीर सिद्ध होनेपर माहात्म्यविशेष सिद्ध हो, इस प्रकार इतरेतराश्रय दोष भी आता है। यदि कहो कि हम लोगोंके दुर्भाग्यसे ईश्वरका शरीर दृष्टिगोचर नहीं होता तो यह भी ठीक नहीं जँचता। क्योंकि वंध्यापुत्रकी तरह ईश्वरका अभाव होनेसे उसका शरीर दिखाई नहीं देता, अथवा जिस प्रकार हमारे दुर्भाग्यवश पिशाच आदिका शरीर दिखाई नहीं देता, वैसे ही ईश्वरका शरीर भी अदृश्य है? इस तरह कुछ भी निश्चय नहीं होता।

तथा ईश्वरको अशरीरस्रष्टा माननेमें दृष्टांत और दार्ष्टान्तिक विषम हो जाते हैं। क्योंकि घटादिक कार्य शरीर सहित कर्ताके बनाये हुए ही देखे जाते हैं। फिर आकाशकी तरह अशरीर ईश्वर किस प्रकार कार्य करनेमें समर्थ हो सकता है? (तात्पर्य यह कि 'जगत् अशरीर ईश्वरका बनाया हुआ है, कार्य होनेसे घटकी तरह' इस अनुमानमें घट दृष्टान्त और जगत् दार्ष्टान्तिकमें समता नहीं है, क्योंकि घट सशरीरीका बनाया हुआ माना जाता है। तथा जिस तरह अशरीरी आकाश कोई कार्य आदि नहीं कर सकता, उसी तरह अशरीरी ईश्वर भी कार्य करनेमें असमर्थ है।) इस कारण सशरीर और अशरीर दोनों पक्षोंमें कार्यत्व हेतुकी सकर्तृकत्व साध्यके साथ व्याप्ति सिद्ध नहीं होती।

तथा, तुम्हारे मतसे कार्यत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट भी है। क्योंकि जगत्रूप धर्मी (साध्य) के एक देश, इस कालमें उत्पन्न वृक्ष, विद्युत्, मेघ आदि किसी कर्ताके बनाये हुए नहीं देखे जाते हैं, इसलिए यहाँ प्रत्यक्षसे बाधित धर्मीके अनन्तर हेतुका कथन किया गया है, अतएव यह हेतु दोषपूर्ण है। अतएव कोई जगत्का कर्ता नहीं है। तथा ईश्वरके जगत्कर्तृत्व साधनमें जो एकत्व आदि विशेषण दिये गये हैं वे सब नपुंसकके प्रति स्त्रियोंके रूप-लावण्य आदिका कथन करनेके समान हैं। फिर भी इन विशेषणोंपर कुछ विचार किया जाता है।

---

१. शपथेन विभावनीयः।

तत्रैकत्वचर्चस्तावत्। बहूनामेककार्यकरणे वैमत्यसम्भावना इति नायमेकान्तः। अनेककीटिकाशतनिष्पाद्यत्वेऽपि शक्रमूर्ध्नः, अनेकशिल्पिकल्पितत्वेऽपि प्रासादादीनां, नैकसरघानिर्वर्तितत्वेऽपि मधुच्छत्रादीनां चैकरूपताया अविगानेनोपलम्भात्। अथैतेष्वप्येक एवेश्वरः कर्तेति ब्रूषे। एवं चेद् भवतो भवानीपतिं प्रति निष्प्रतिमा वासना, तर्हि कुविन्दकुम्भकारादितिरस्कारेण पटघटादीनामपि कर्ता स एव किं न कल्प्यते। अथ तेषां प्रत्यक्षसिद्धं कर्तृत्वं कथमपह्नोतुं शक्यम्। तर्हि कीटिकादिभिः किं तव विराद्धं यत् तेषामसदृशतादृशप्रयाससाध्यं कर्तृत्वमेकहेलयैवापलप्यते। तस्माद् वैमत्यभयाद् महेशितुरेकत्वकल्पना भोजनादिव्ययभयात् कृपणस्यात्यन्तवल्लभपुत्रकलत्रादिपरित्यजनेन शून्यारण्यानीसेवनमिवाभासते।

तथा सर्वगतत्वमपि तस्य नोपपन्नम्। तद्धि शरीरात्मना, ज्ञानात्मना वा स्यात्? प्रथमपक्षे तदीयेनैव देहेन जगत्त्रयस्य व्याप्तत्वाद् इतरनिर्मेयपदार्थानामाश्रयानवकाशः। द्वितीयपक्षे तु सिद्धसाध्यता। अस्माभिरपि निरतिशयज्ञानात्मना परमपुरुषस्य जगत्त्रयक्रोडीकरणाभ्युपगमात्। यदि परमेवं भवत्प्रमाणीकृतेन वेदेन विरोधः। तत्र हि शरीरात्मना सर्वगतत्वमुक्तम्—"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतः पाणिरुत विश्वतः पात्"[1] इत्यादिश्रुतेः॥

यच्चोक्तं तस्य प्रतिनियतदेशवर्तित्वे त्रिभुवनगतपदार्थानामनियतदेशवृत्तीनां यथावन्निर्माणानुपपत्तिरिति। तत्रेदं पृच्छ्यते। स जगत्त्रयं निर्मिमाणस्तक्षादिवत् साक्षाद् देहव्यापारेण

---

(१) एकत्व—'बहुत-से ईश्वरोंद्वारा जगत्रूप एक कार्यके किये जानेपर ईश्वरोंमें मतिका भेद उत्पन्न होगा' यह कथन एकान्त-सत्य नहीं है। क्योंकि सैकड़ों कीड़ियाँ एक ही बमीको बनाती हैं, बहुत से शिल्पी एक ही महलको बनाते हैं, बहुत सी मधुमक्खी एक ही शहदके छत्तेका निर्माण करती हैं, फिर भी वस्तुओंकी एकरूपतामें कोई विरोध नहीं आता। यदि वादी कहे कि बमी, प्रासाद आदिका कर्ता भी ईश्वर ही है, तो इससे ईश्वरके प्रति आप लोगोंकी निरुपम श्रद्धा ही प्रगट होती है, और इस तरह तो जुलाहे और कुंभकार आदिको पट और घट आदिका कर्ता न मानकर ईश्वरको ही इनका भी कर्ता मानना चाहिये। यदि आप कहें कि पट घट आदिके कर्ता जुलाहा और कुंभकारके प्रत्यक्ष-सिद्ध कर्तृत्वका अपलाप कैसे किया जा सकता है? तो फिर कीटिका आदिको बमी आदिका कर्ता माननेमें क्या दोष है? कीटिका आदिने आप लोगोंका क्या अपराध किया है जो आप उनके असाधारण परिश्रमसे साध्य कर्तृत्वको एक चुटकीमें ही उड़ा देना चाहते हैं? इसलिए परस्पर मतिभेद होनेके भयसे जो एक ईश्वरकी कल्पना है, वह भोजन आदिके व्ययके डरसे कृपण पुरुषके अपने अत्यन्त प्रिय पुत्र और स्त्री आदिको छोड़कर शून्य जंगलमें वास करनेके समान है। (जैसे कोई कृपण पुरुष खर्चके भयसे अपने स्त्री-पुत्रादिको छोड़कर वनमें चला जाय, उसी तरह मतिभेदके भयसे आप लोग भी एक ईश्वरकी कल्पना करते हैं।)

(२) सर्वगतत्व—तथा ईश्वर सर्वगत भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि ईश्वरका सर्वगतत्व शरीरकी अपेक्षासे है, अथवा ज्ञानकी? प्रथम पक्षमें ईश्वरका अपना शरीर ही तीनों लोकोंमें व्याप्त हो जायेगा, फिर दूसरे बनाने योग्य (निर्मेय) पदार्थोंके लिए कोई स्थान ही न रहेगा। यदि आपलोग ज्ञानकी अपेक्षा ईश्वरको सर्वव्यापी मानें, तो इसमें हमारे साध्यकी सिद्धि है, क्योंकि हम लोग (जैन) भी परमात्माको निरतिशय ज्ञानकी अपेक्षा तीनों लोकोंमें व्यापी मानते हैं। परन्तु ईश्वरको ज्ञानकी अपेक्षा सर्वगत माननेसे आपके वेदसे विरोध आता है। वेदमें ईश्वरको शरीरकी अपेक्षासे सर्वव्यापी कहा है। श्रुति भी है—"ईश्वर सर्वत्र नेत्रोंका, मुखका, हाथोंका और पैरोंका धारक है।"

तथा ईश्वरको शरीरकी अपेक्षा सर्वव्यापक माननेमें वादीने हेतु दिया है कि यदि ईश्वरको नियत स्थानवर्ती माना जाय, तो तीनों लोकोंमें अनियत स्थानोंके पदार्थोंकी यथावत् उत्पत्ति नहीं हो सकेगी; तो

---

१. शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां सप्तदशेऽध्याये १९ मन्त्रे।

निर्मिमीते, यदि वा सङ्कल्पमात्रेण ? आद्ये पक्षे एकस्यैव भूभूधरादेर्विधानेऽक्षोदीयसः कालक्षेपस्य सम्भवाद् बंहीयसाप्यनेहसा न परिसमाप्तिः। द्वितीयपक्षे तु सङ्कल्पमात्रेणैव कार्यकल्पनायां नियतदेशस्थायित्वेऽपि न किञ्चिद् दूषणमुत्पश्यामः। नियतदेशस्थायिनां सामान्यदेवानामपि सङ्कल्पमात्रेणैव तत्तत्कार्यसम्पादनप्रतिपत्तेः॥

किञ्च, तस्य सर्वगतत्वेऽङ्गीक्रियमाणेऽशुचिषु निरन्तरसन्तमसेषु नरकादिस्थानेष्वपि तस्य वृत्तिः प्रसज्यते। तथा चानिष्टापत्तिः। अथ युष्मत्पक्षेऽपि यदा ज्ञानात्मना सर्वं जगत्त्रयं व्याप्नोतीत्युच्यते तदाशुचिरसास्वादादीनामप्युपलम्भसंभवात् नरकादिदुःखस्वरूपसंवेदनात्मकतया दुःखानुभवप्रसङ्गाच्च अनिष्टापत्तिस्तुल्यैवेति चेत्, तदेतदुपपत्तिभिः प्रतिकर्तुमशक्तस्य धूलिभिरिवावकिरणम्। यतो ज्ञानमप्राप्यकारि स्वस्थानस्थमेव विषयं परिच्छिनत्ति, न पुनस्तत्र गत्वा। तत्कुतो भवदुपालम्भः समीचीनः। नहि भवतोऽप्यशुचिज्ञानमात्रेण तद्रसास्वादानुभूतिः। तद्भावे हि स्रक्चन्दनाङ्गनारसवत्यादिचिन्तनमात्रेणैव तृप्तिसिद्धौ तत्प्राप्तिप्रयत्नवैफल्यप्रसक्तिरिति॥

यत्तु ज्ञानात्मना सर्वगतत्वे सिद्धसाधनं प्रागुक्तम् तच्छक्तिमात्रमपेक्ष्य मन्तव्यम्। तथा च वक्तारो भवन्ति। अस्य मतिः सर्वशास्त्रेषु प्रसरति इति। न च ज्ञानं प्राप्यकारि; तस्यात्मधर्मत्वेन बहिर्निर्गमाभावात्। बहिर्निर्गमे चात्मनोऽचैतन्यापत्त्या अजीवत्वप्रसङ्गः। न हि धर्मो धर्मिणमतिरिच्य क्वचन केवलो विलोकितः। यच्च परे दृष्टान्तयन्ति यथा सूर्यस्य किरणा गुणरूपा अपि सूर्याद् निष्क्रम्य भुवनं भासयन्ति, एवं ज्ञानमप्यात्मनः सकाशाद्

यहाँ प्रश्न होता है कि त्रैलोक्यकी सृष्टि करनेवाला ईश्वर बढ़ईकी तरह साक्षात् शरीरकी मददसे जगत्को बनाता है, अथवा संकल्पमात्रसे ? पहला पक्ष स्वीकार करनेमें पृथिवी, पर्वत आदिके निर्माण करनेमें अत्यन्त कालक्षेपकी सम्भावना होनेसे बहुत समय लगेगा, इसलिये बहुत समय तक भी तीनों लोकोंकी रचना न हो सकेगी। यदि कहो कि ईश्वर संकल्पमात्रसे ही सृष्टिको ही बनाता है, तो यदि एक स्थानमें रहकर भी ईश्वर जगत्को बनाये, तो उसमें भी कोई दोष दृष्टिगोचर नहीं होता, क्योंकि नियत देशमें रहनेवाले सामान्य देव भी संकल्पमात्रसे ही उन-उन कार्योंका सम्पादन करते हैं।

तथा ईश्वरको शरीरकी अपेक्षा सर्वव्यापी माननेसे वह ईश्वर अशुचि पदार्थोंमें और निरन्तर महा अंधकारसे व्याप्त नरक आदिमें भी रहा करेगा और यह मानना आप लोगोंको इष्ट नहीं है। **ईश्वरवादी—** ज्ञानकी अपेक्षा जिनभगवान्को जगत्त्रयमें व्यापी माननेसे आप लोगोंके भगवान्को भी अशुचि पदार्थोंके रसास्वादनका ज्ञान होता है तथा नरक आदि दुःखोंके स्वरूपका ज्ञान होनेसे दुःखका भी अनुभव होता है, इसलिए अनिष्टापत्ति दोनोंको समान है। **जैन—**यह कहना युक्तियों द्वारा प्रतिकार करनेमें असमर्थ होकर धूल फेंकनेके समान है। क्योंकि अप्राप्यकारी ज्ञान अपने स्थानमें स्थित होकर ही ज्ञेयको जानता है, ज्ञेयके स्थानको प्राप्त होकर नहीं, इसलिये वादीका दिया हुआ दूषण ठीक नहीं है। तथा दूसरी बात यह भी है कि केवल अशुचि पदार्थके ज्ञानसे ही आपको भी रसास्वादनकी अनुभूति नहीं होती है। यदि ऐसा होने लगे, तो माला, चन्दन, स्त्री, और मनोज्ञ पदार्थोंके चिन्तन मात्रसे ही तृप्ति हो जानी चाहिये, और इसलिये माला, चन्दन आदिके लिए प्रयत्न करना भी निष्फल हुआ करेगा।

तथा हमने जो ज्ञानकी अपेक्षा ईश्वरके सर्वव्यापी होनेके आपके पक्षमें सिद्धसाधन दोष प्रदर्शित किया था, वह परम पुरुष जिनेन्द्र भगवान्की ज्ञानकी शक्तिकी अपेक्षा प्रदर्शित किया था। (तात्पर्य यह कि जैसे न्याय-वैशेषिक ईश्वरका सर्वगतत्व ज्ञानकी अपेक्षा स्वीकार करते हैं; वैसे ही जैन लोग भी परम पुरुष जिनेन्द्रका सर्वगतत्व ज्ञानकी अपेक्षा स्वीकार करते हैं। अतएव जैन लोगोंने कहा था कि इससे तो हमारे साध्यकी ही सिद्धि होती है।) जैसे किसी मनुष्यको बुद्धिकी शक्तिको देखकर लोग कहते हैं कि इसकी बुद्धि सब शास्त्रोंमें

बहिर्निर्गत्य प्रमेयं परिच्छिनत्तीति। तत्रेदमुत्तरम्। किरणानां गुणत्वमसिद्धम्; तेषां तैजस-पुद्गलमयत्वेन द्रव्यत्वात्। यश्च तेषां प्रकाशात्मा गुणः स तेभ्यो न जातु पृथग् भवतीति। तथा च धर्मसङ्ग्रहिण्यां श्रीहरिभद्राचार्यपादाः—

"किरणा गुणा न दव्वं तेसिं पयासो गुणो न वा दव्वं।
जं नाणं आयगुणो कहमदव्वो स अन्नत्थ॥ १॥
गन्तूण न परिछिन्दइ नाणं णेयं तयम्मि देसम्मि।
आयत्थं चिय नवरं अचिंतसत्तीउ विण्णेयं॥२॥
लोहोवलस्स सत्ती आयत्था चेव भिन्नदेसंपि।
लोहं आगरिसंती दीसइ इह कज्जपच्चक्खा॥३॥
एवमिह नाणसत्ती आयत्था चेव हंदि लोगंतं।
जइ परिछिंदइ सम्मं को णु विरोहो भवे एत्थं"[1] ॥४॥
इत्यादि॥

चलती है, उसी तरह यहाँ भी हमने जिनेन्द्रके ज्ञानकी शक्तिको देखकर जिनेन्द्रको ज्ञानकी अपेक्षा सर्वव्यापक कहा है। तथा ज्ञान प्राप्यकारी नहीं है, क्योंकि वह आत्माका धर्म है, इसलिये ज्ञान आत्मासे बाहर निकल कर नहीं जा सकता। यदि ज्ञान आत्माके बाहर निकल कर जाने लगे तो आत्माके अचेतनत्वकी आपत्ति खड़ी हो जानेसे उसके अजीवत्वका प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। लेकिन यह संभव नहीं, क्योंकि धर्मीको छोड़कर केवल धर्म कहीं भी नहीं रहता। तथा वैशेषिक लोगोंने जो सूर्यका दृष्टांत दिया है कि जैसे सूर्यकी किरणें गुणरूप होकर भी सूर्यसे बाहर जाकर संसारको प्रकाशित करती हैं, उसी तरह ज्ञान आत्माका गुण होकर भी आत्मासे बाहर जाकर प्रमेय पदार्थको जानता है, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि किरणोंका गुणत्व ही असिद्ध है, कारण कि किरणें तैजस पुद्गलरूप हैं, इसलिये वे द्रव्य हैं। तथा किरणोंका प्रकाशात्मक गुण कभी किरणोंसे अलग नहीं होता। हरिभद्राचार्यने धर्मसंग्रहिणीमें भी कहा है—

"किरणें द्रव्य हैं, गुण नहीं हैं। किरणोंका प्रकाश गुण है। यह प्रकाशरूप गुण द्रव्यको छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता। इसी तरह ज्ञान आत्माका गुण है, वह आत्माको छोड़कर अन्यत्र नहीं जाता॥१॥

जिस देशमें ज्ञेय पदार्थ स्थित है उस प्रदेशमें ज्ञान जाकर ज्ञेयको नहीं जानता, किन्तु आत्मामें रहते हुए ही दूर देशमें स्थित ज्ञेयको जानता है; आत्माके ज्ञानमें अचिंत्य शक्ति है॥२॥

जिस प्रकार चुम्बक पत्थरकी शक्ति चुम्बकमें ही रहकर दूर रक्खे हुए लोहेको अपनी ओर खींचती है;॥३॥

इसी प्रकार ज्ञान शक्ति आत्मामें ही रहकर लोकके अंत तक रहनेवाले पदार्थोंको भलीभाँति जानती है, इसमें कोई विरोध नहीं है॥४॥" इत्यादि।

---

१. किरणा गुणा न द्रव्यं तेषां प्रकाशो गुणो न वा द्रव्यं।
यज्ज्ञानमात्मगुणः कथमद्रव्यः सः अन्यत्र॥
गत्वा न परिच्छिनत्ति ज्ञानं ज्ञेयं तस्मिन्देशे।
आत्मस्थमेव नवरं अचिन्त्यशक्त्या तु विज्ञेयम्॥
लोहोपलस्य शक्तिः आत्मस्थैव भिन्नदेशमपि।
लोहमाकर्षंती दृश्यते इह कार्यप्रत्यक्षा॥
एवमिह ज्ञानशक्तिः आत्मस्थैव हन्त लोकान्तम्।
यदि परिच्छिनत्ति सम्यक् को नु विरोधो भवेदत्र॥

अथ सर्वगः सर्वज्ञ इति व्याख्यातम्। तत्रापि प्रतिविधीयते। ननु तस्य सार्वज्ञ्यं केन प्रमाणेन गृहीतम्। प्रत्यक्षेण, परोक्षेण वा ? न तावत् प्रत्यक्षेण, तस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नतयातीन्द्रियग्रहणासामर्थ्यात्। नापि परोक्षेण। तद्धि अनुमानं, शाब्दं वा स्यात् ? न तावदनुमानम्, तस्य लिङ्गिलिङ्गसम्बन्धस्मरणपूर्वकत्वात्। न च तस्य सर्वज्ञत्वेऽनुमेये किञ्चिदव्यभिचारी लिङ्गं पश्यामः। तस्यात्यन्तविप्रकृष्टत्वेन तत्प्रतिबद्धलिङ्गसम्बन्धग्रहणाभावात्॥

अथ तस्य सर्वज्ञत्वं विना जगद्वैचित्र्यमनुपपद्यमानं सर्वज्ञत्वमर्थादापादयतीति चेत् न। अविनाभावाभावात्। न हि जगद्वैचित्री तत्सार्वज्ञ्यं विनान्यथा नोपपन्ना। द्विविधं हि जगत् स्थावरजङ्गमभेदात्। तत्र जङ्गमानां वैचित्र्यं स्वोपात्तशुभाशुभकर्मपरिपाकवशेनैव। स्थावराणां तु सचेतनानामियमेव गतिः। अचेतनानां तु तदुपभोगयोग्यतासाधनत्वेनानादिकालसिद्धमेव वैचित्र्यमिति॥

नाप्यागमस्तत्साधकः। स हि तत्कृतोऽन्यकृतो वा स्यात् ? तत्कृत एव चेत् तस्य सर्वज्ञतां साधयति तदा तस्य महत्त्वक्षतिः। स्वयमेव स्वगुणोत्कीर्तनस्य महतामनधिकृतत्वात्। अन्यच्च, तस्य शास्त्रकर्तृत्वमेव न युज्यते। शास्त्रं हि वर्णात्मकम्। ते च ताल्वादिव्यापार-

---

(३) सर्वज्ञत्व—वैशेषिकोंके ईश्वरका सर्वज्ञत्व प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता। प्रत्यक्ष प्रमाणसे ईश्वरका सर्वज्ञत्व इसलिये सिद्ध नहीं हो सकता कि प्रत्यक्ष इंद्रिय और मनके संयोगसे उत्पन्न होता है, इसलिये वह अतीन्द्रिय ज्ञानको नहीं जान सकता। परोक्ष ज्ञानसे भी ईश्वरके सर्वज्ञत्वकी सिद्धि नहीं होती। क्योंकि वह परोक्ष ज्ञान अनुमानसे सर्वज्ञत्वको जानता है, अथवा शब्दसे ? अनुमानसे ईश्वरके सर्वज्ञत्वका ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि लिंगी और लिंग (साध्य और हेतु) दोनोंके संबंधके स्मरणपूर्वक ही अनुमान होता है। (जैसे 'पर्वत अग्निवाला है, धूमवान् होनेसे—' यहाँ पहले धूमरूप लिंगका ग्रहण होता है और फिर अग्निरूप लिंगीके साथ लिंगके संबंधका स्मरण होता है। इसी तरह 'ईश्वर सर्वज्ञ है, क्योंकि वह अपनी इच्छासे ही संपूर्ण प्राणियोंको सुख-दुःखका अनुभव करानेमें समर्थ है—' इस अनुमानमें लिंगका ग्रहण और इस लिंगका सर्वज्ञत्वरूप लिंगीके साथ संबंधका स्मरण होना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता; इसलिये अनुमानसे ईश्वरके सर्वज्ञत्वका ज्ञान नहीं हो सकता।) तथा ईश्वरके सर्वज्ञत्वरूप अनुमेयमें हम कोई भी अव्यभिचारी लिंग नहीं देखते, क्योंकि वह ईश्वर अत्यन्त दूर है, इसलिये ईश्वरसे संबद्ध लिंगका सर्वज्ञत्वरूप लिंगीके साथ संबंधका ग्रहण नहीं हो सकता।

यदि वादी लोग कहें कि ईश्वरके सर्वज्ञत्वके बिना जगत्की विचित्रता नहीं बन सकती, इस कारण अर्थापत्तिसे ईश्वरके सर्वज्ञत्वकी सिद्धि होती है, तो यह कथन भी ठीक नहीं। क्योंकि जगत्की विचित्रता और सर्वज्ञताकी व्याप्तिका अभाव है। जगत्की विचित्रता ईश्वरकी सर्वज्ञताके विना अन्य प्रकारसे घटित नहीं होती, ऐसी बात नहीं है। जंगम (त्रस) और स्थावरके भेदसे संसार दो प्रकारका है। जंगम जीवोंकी विचित्रता स्वयं उपार्जित शुभ और अशुभ कर्मोंके उदयसे ही होती है और स्थावर जीवोंकी यही दशा होती है। अचेतन पदार्थोंका वैचित्र्य स्थावर और जंगमके उपभोगकी योग्यताके साधन रूपमें अनादिकालसे सिद्ध ही है।

आगमसे भी ईश्वरकी सिद्धि नहीं होती। क्योंकि ईश्वरको सिद्ध करनेवाला आगम ईश्वरका बनाया हुआ है, या किसी दूसरेका ? यदि वह आगम ईश्वरप्रणीत होकर ही ईश्वरकी सिद्धि करता है तो ईश्वरकी महान् क्षति होगी। क्योंकि महात्मा लोग स्वयं ही अपने गुणोंकी प्रशंसा नहीं करते हैं। तथा ईश्वरका शास्त्रकर्तृत्व ही सिद्ध नहीं होता। क्योंकि शास्त्र वर्णात्मक होता है। ये वर्ण तालु आदिकी क्रियासे उत्पन्न होते

जन्याः। स च शरीरे एव सम्भवी। शरीराभ्युपगमे च तस्य पूर्वोक्ता एव दोषाः। अन्यकृतश्चेत् सोऽन्यः सर्वज्ञोऽसर्वज्ञो वा ? सर्वज्ञत्वे तस्य द्वैतापत्त्या प्रागुक्तदेकत्वाभ्युपगमबाधः तत्साधकप्रमाणचर्यायामनवस्थापातश्च। असर्वज्ञश्चेत् कस्तस्य वचसि विश्वासः।

अपरं च भवदभीष्ट आगमः प्रत्युत तत्प्रणेतुरसर्वज्ञत्वमेव साधयति। पूर्वापरविरुद्धार्थवचनोपेतत्वात्। तथाहि "न हिंस्यात् सर्वभूतानि[1]" इति प्रथममुक्त्वा, पश्चात् तत्रैव पठितम्—

"षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि।
अश्वमेधस्य वचनान्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः"॥

तथा "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत[2]", "सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभेत[3]" इत्यादि वचनानि कथमिव न पूर्वापरविरोधमनुरुध्यन्ते। तथा "नानृतं ब्रूयात्" इत्यादिना अनृतभाषणं प्रथमं निषिध्य, पश्चात् "ब्राह्मणार्थेऽनृतं ब्रूयात्[4]" इत्यादि। तथा—

"न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे पञ्चानृतान्याहुरपातकानि[5]"॥

तथा "परद्रव्याणि लोष्ठवत्" इत्यादिना अदत्तादानमनेकधा निरस्य, पश्चादुक्तम् "यद्यपि ब्राह्मणो हठेन परकीयमादत्ते छलेन वा तथापि तस्य नादत्तादानम्। यतः सर्वमिदं ब्राह्मणेभ्यो दत्तम् ब्राह्मणानां तु दौर्बल्याद् वृषलाः परिभुञ्जते। तस्मादपहरन् ब्राह्मणः स्वमादत्ते स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति[6]" इति। तथा "अपुत्रस्य गतिर्नास्ति[7]" इति लपित्वा,

---

हैं। यह तालु आदिकी क्रिया शरीर होनेपर ही संभव है। यदि ईश्वरको शरीरी मानोगे तो ईश्वरमें पूर्वोक्त दोष मानने पड़ेंगे। यदि आप कहें कि ईश्वरको सिद्ध करनेवाला आगम दूसरेका बनाया हुआ है, तो वह दूसरा पुरुष सर्वज्ञ है, या असर्वज्ञ ? यदि सर्वज्ञ है तो ईश्वरके द्वैतका प्रसंग होनेसे आपने जो पहले ईश्वरको एक माना है, उसमें बाधा उपस्थित होगी। तथा अन्य पुरुषको सर्वज्ञ माननेपर बहुत-से पुरुषोंके सर्वज्ञ स्वीकार करनेमें अनवस्था दोष आयेगा। तथा यदि आगमका प्रणेता अन्य पुरुष असर्वज्ञ है, तो उसके वचनोंमें विश्वास कौन करेगा ?

इसके अतिरिक्त, आप लोगोंका आगम अपने प्रणेताको असर्वज्ञ ही सिद्ध करता है। क्योंकि वह आगम पूर्वापरविरुद्ध है। जैसे "किसी भी प्राणीकी हिंसा न करनी चाहिए"—यह कहकर तत्पश्चात्

"अश्वमेध यज्ञके मध्यम दिनमें ५९७ पशुओंका वध किया जाता है,"

तथा "अग्नि और सोम सम्बन्धी पशुका वध करना चाहिये", "प्रजापति सम्बन्धी सत्रह पशुओंको मारना चाहिए" आदि वचनोंका कथन करना शास्त्रोंके पूर्वापरविरोधको सिद्ध करता है। तथा "असत्य नहीं बोलना चाहिए" आदि वचनोंसे असत्यका निषेध करके, तत्पश्चात् "ब्राह्मणके लिए असत्य बोलनेमें दोष नहीं है", तथा—

"हास्यमें, स्त्रियोंके साथ संभोगके समय, विवाहके अवसरपर, प्राणोंका नाश होनेपर और सर्वधनके हरण होनेके समय असत्य बोलना पाप नहीं है।"

आदि वचनोंका कथन पूर्वापर विरुद्ध है। इसी प्रकार पहले "दूसरेकी सम्पत्ति मिट्टीके ढेलेके

---

१. छान्दोग्य उ. ८ अ.। २. ऐतरेय ६–३। ३. तैत्तरीयसंहिता १-४।

४. आपस्तंवसूत्रे।

५. "उद्वाहकाले रतिसम्प्रयोगे प्राणात्यये सर्वधनापहारे।
विप्रस्य चार्थे ह्यनृतं वदेयुः पञ्चानृतान्याहुरपातकानि॥ वसिष्ठधर्मसूत्रे १६-३६।

६. मनुस्मृतौ १-१०१ इत्यत्राल्पांशेनैतत्समम्। ७. देवीभागवते।

"अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम्।
दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम्"[1] ॥

इत्यादि। कियन्तो वा दधिमाषभोजनात् कृपणा विवेच्यन्ते। तदेवमागमोऽपि न तस्य सर्वज्ञतां वक्ति। किञ्च, सर्वज्ञः सन्नसौ चराचरं चेद् विरचयति, तदा जगदुपप्लवकरणवैरिणः पश्चादपि कर्तव्यनिग्रहान् सुरवैरिणः एतदधिक्षेपकारिणश्चास्मदादीन् किमर्थं सृजति इति, तन्नायं सर्वज्ञः।

तथा स्ववशत्वं-स्वातन्त्र्यं। तदपि तस्य न क्षोदक्षमम्। स हि यदि नाम स्वाधीनः सन् विश्वं विधत्ते, परमकारुणिकश्च त्वया वर्ण्यते, तत् कथं सुखितदुःखिताद्यवस्थाभेदवृन्दस्थपुटितं घटयति भुवनम् एकान्तशर्मसंपत्कान्तमेव तु किं न निर्मिमीते ? अथ जन्मान्तरोपार्जिततत्तत्तदीयशुभाशुभकर्मप्रेरितः सन् तथा करोतीति, दत्तस्तर्हि स्ववशत्वाय जलाञ्जलिः[2] ॥

कर्मजन्ये च त्रिभुवनवैचित्र्ये शिपिविष्टहेतुक[3]विष्टप[4]सृष्टिकल्पनायाः कष्टैकफलत्वात् अस्मन्मतमेवाङ्गीकृतं प्रेक्षावता। तथा चायातोऽयं "घटकुट्यां प्रभातम्"[5] इति न्यायः। किञ्च, प्राणिनां धर्माधर्मावपेक्षमाणश्चेदयं सृजति, प्राप्तं तर्हि यदयमपेक्षते तन्न करोतीति।

समान है" आदि वचनोंसे चोरीका निषेध करके, "यदि कोई ब्राह्मण हठसे या छलसे दूसरेके द्रव्यको हरण करता है, तो भी उसे चोरीका दोष नहीं लगता, क्योंकि जगत्‌की सर्वसंपत्ति ब्राह्मणोंको ही दी गयी है; ब्राह्मणोंकी दुर्बलतासे शूद्र लोग इस संपत्तिका उपभोग करते हैं। इसलिये यदि ब्राह्मण दूसरेके धनको छीनता है, तो भी वह अपने ही धनको लेता है, अपने ही का उपभोग करता है, अपना ही पहनता है और अपना ही देता है" आदि वाक्योंका उल्लेख पूर्वापरविरोधको सूचित करता है। इसीप्रकार "पुत्ररहितकी गति नहीं होती" कहकर,

हजारों कुमार ब्रह्मचारी ब्राह्मण अपने कुलकी संततिको उत्पन्न न करके स्वर्ग गये हैं।"

आदि वाक्योंका कथन आगमके पूर्वापरविरोधको स्पष्टरूपसे प्रगट करता है। दही और उड़दके भोजनसे कितने कृपणोंको सन्तुष्ट किया जाये ? इसलिये आगमसे भी ईश्वरकी सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होती। और कहाँतक कहा जाये, यदि सर्वज्ञ ईश्वर इस स्थावर-जंगमरूप जगत्‌को बनाता है, तो वह जगत्‌में उपद्रव करनेवाले, जिनका निग्रह करना आवश्यक है ऐसे दानवों को, तथा ईश्वरपर आक्षेप करनेवाले हम जैसे लोगोंको क्यों बनाता है ? इससे मालूम होता है कि ईश्वर सर्वज्ञ नहीं है।

(४) स्वतंत्र—तथा स्ववशत्वका अर्थ है स्वातन्त्र्य। ईश्वर स्वतंत्र भी नहीं है। यदि ईश्वर स्वाधीन होकर जगत्‌को रचता है, और वह परम दयालु है, तो वह सर्वथा सुख-सम्पदाओंसे परिपूर्ण जगत्‌को न बनाकर सुख-दुःखरूप जगत्‌का क्यों सर्जन करता है ? यदि कहो कि जीवोंके जन्मान्तरमें उपार्जन किये हुए शुभ-अशुभ कर्मोंसे प्रेरित ईश्वर जगत्‌को बनाता है, तो फिर ईश्वरके स्वाधीनत्वका ही लोप हो जाता है।

तथा, संसारकी विचित्रताको कर्मजन्य स्वीकार करनेपर सृष्टिको ईश्वरजन्य मानना केवल कष्टरूप ही है। इससे अच्छा तो आप हमारा ही मत स्वीकार कर लें। तथा हमारे मतको स्वीकार करनेपर आपको "घटकुट्यां प्रभातम्" न्यायका प्रसंग होगा। (अर्थात् जैसे कोई मनुष्य महसूली सामानका महसूल न देनेके विचारसे रास्तेमें आनेवाले चुंगीघरको छोड़कर किसी दूसरे रास्तेसे शहरके भीतर जानेके लिये रातभर इधर-उधर चक्कर मारकर प्रातःकाल फिरसे उसी चुंगीघरपर जा पहुँचता है (घटकुट्यां प्रभातम्), उसी प्रकार आप लोगोंने ईश्वरको जगत्‌का नियन्ता सिद्ध करनेमें बहुत कुछ प्रयत्न किया, पर आखिरमें हमारा ही मत

१. आपस्तंबसूत्रे। २. स्ववशत्वं नष्टमित्यर्थः। ३. महेश्वरः ४. विश्वं ५. उद्देश्यासिद्धिर्यत्र प्रतीयते तत्रायं उपयुज्यते। न्यायार्थः—कश्चित् शाकटिको मध्ये मार्गं राजदेयं द्रव्यं दातुमनिच्छन्मार्गान्तरं समासादयति परं रात्रौ भ्रष्टमार्गः प्रभाते राजग्राह्यद्रव्यग्राहिकुटीसविधावेवागच्छति। तेन तदुद्देश्यं न सिध्यतीति।

न हि कुलालो दण्डादि करोति । एवं कर्मापेक्षश्चेदीश्वरो जगत्कारणं स्यात् तर्हि कर्मणीश्वरत्वम्, ईश्वरोऽनीश्वरः स्यादिति ॥

तथा नित्यत्वमपि तस्य स्वगृह एव प्रणिगद्यमानं हृद्यम् । स खलु नित्यत्वेनैकरूपः सन्, त्रिभुवनसर्गस्वभावोऽतत्स्वभावो वा ? प्रथमविधायां जगन्निर्माणात् कदाचिदपि नोपरमेत । तदुपरमे तत्स्वभावत्वहानिः एवं च सर्गक्रियाया अपर्यवसानाद् एकस्यापि कार्यस्य न सृष्टिः । घटो हि स्वारम्भक्षणादारभ्य परिसमाप्तेरुपान्त्यक्षणं यावद् निश्चयनयाभिप्रायेण न घटव्यपदेशमासादयति । जलाहरणाद्यर्थक्रियायामसाधकतमत्वात् ॥

अतत्स्वभावपक्षे तु न जातु जगन्ति सृजेत् तत्स्वभावायोगाद् गगनवत् । अपि च तस्यैकान्तनित्यस्वरूपत्वे सृष्टिवत् संहारोऽपि न घटते । नानारूपकार्यकरणेऽनित्यत्वापत्तेः । स हि येनैव स्वभावेन जगन्ति सृजेत् तेनैव तानि संहरेत्, स्वभावान्तरेण वा ? तेनैव चेत् सृष्टि-संहारयोर्यौगपद्यप्रसङ्गः, स्वभावाभेदात् । एकस्वभावात् कारणादनेकस्वभावकार्योत्पत्तिविरोधात् । स्वभावान्तरेण चेद् नित्यत्वहानिः । स्वभावभेद एव हि लक्षणमनित्यतायाः । यथा पार्थिवशरीरस्याहारपरमाणुसहकृतस्य प्रत्यहमपूर्वापूर्वोत्पादेन स्वभावभेदादनित्यत्वम् । इष्टश्च

स्वीकार करना पड़ा ।) तथा, ईश्वर जीवोंके पुण्य-पापकी अपेक्षा रखता हुआ जगत्को बनाता है तो वह जिसकी अपेक्षा रखता है उसको नहीं बनाता । जैसे कुम्हार घटके बनानेमें दण्डकी सहायता लेता है, इसलिये वह दण्डको नहीं बनाता, उसी तरह यदि ईश्वर जगत्के बनानेमें जीवोंके पुण्य-पापकी अपेक्षा रखता है, तो वह पुण्य-पापकी सृष्टि नहीं करता है, इसलिये यदि ईश्वर जगत्के बनानेमें कर्मोंकी अपेक्षा रखता है, तो वह कर्मोंके बनानेवाला नहीं कहा जा सकता । अतएव ईश्वर अनीश्वर (असमर्थ) है, स्वतंत्र नहीं ।

(५) नित्यत्व—तथा ईश्वर नित्य भी नहीं है । क्योंकि नित्य होनेसे एकरूपके धारक उस ईश्वरके त्रिभुवनकी रचना करनेका स्वभाव है, या बिना स्वभावके भी वह त्रिभुवनकी रचना करता है ? यदि ईश्वरका त्रिभुवनकी रचना करनेका स्वभाव है, तो वह रचनासे कभी विश्राम ही न लेगा । यदि विश्राम लेगा तो ईश्वरके स्वभावकी हानि होगी । इस प्रकार जगत्की रचनाका कभी अन्त न होगा, और फिर एक भी कार्यकी रचना न हो सकेगी । क्योंकि वास्तवमें घटकी रचनाके आरंभ होनेके प्रथम क्षणसे लगाकर घटकी रचनाकी समाप्तिके अंतिम क्षण तक निश्चयकी दृष्टिसे घट व्यवहार नहीं होता । कारण कि उत्पद्यमान घट जल लाना आदि प्रयोजनभूत क्रियाका साधकतम नहीं होता—जबतक घट बन कर तैयार न हो जाय, उस समय तक घटमें जल लाने आदिकी क्रिया नहीं हो सकती । (भाव यह है कि यदि ईश्वर नित्य है, तो उसका जगत् बनानेका स्वभाव भी नित्य होना चाहिये । इसलिये उसे सदा जगत्को बनाते ही रहना चाहिये । जगत्के इस अविराम निर्माणसे एक भी कार्यकी रचना समाप्त न हो सकेगी । तथा, जब तक किसी कार्यको रचना समाप्त न हो, उस समय तक हम ईश्वरको स्रष्टा नहीं कह सकते) ।

यदि ईश्वरका जगत्के रचनेका स्वभाव नहीं है, तो ईश्वर कभी भी जगत्को नहीं बना सकता । जैसे आकाशका स्वभाव जगत्को बनानेका नहीं है, वैसे ही ईश्वरका स्वभाव भी जगत्को बनानेका न रहेगा । तथा, ईश्वरको एकान्त-नित्य माननेपर सृष्टिकी तरह संहार भी न बन सकेगा । क्योंकि यदि ईश्वर सृष्टि और संहार आदि अनेक कार्योंको करेगा, तो वह अनित्य हो जायगा । तथा, जिस स्वभावसे ईश्वर सृष्टिको रचना करता है, उसी स्वभावसे वह सृष्टिका संहार करता है, अथवा दूसरे स्वभावसे ? यदि ईश्वर उसी स्वभावसे संहार करता है, तो सृष्टि और संहार एककालीन हो जायेंगे, क्योंकि ईश्वरके स्वभावमें भेद नहीं है । एक स्वभावरूप कारणसे अनेक स्वभावरूप कार्योंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । यदि कहो कि जिस स्वभावसे ईश्वर सृष्टिको बनाता है, उस स्वभावके अतिरिक्त

भवतां सृष्टिसंहारयोः शम्भौ स्वभावभेदः। रजोगुणात्मकतया सृष्टौ, तमोगुणात्मकतया संह-रणे, सात्त्विकतया च स्थितौ, तस्य व्यापारस्वीकारात्। एवं चावस्थाभेदः, तद्भेदे, चावस्था-वतोऽपि भेदाद् नित्यत्वक्षतिः ॥

अथास्तु नित्यः, तथापि कथं सततमेव सृष्टौ न चेष्टते। इच्छावशात् चेत्, ननु ता अपीच्छाः स्वसत्तामात्रनिबन्धनात्मलाभाः सदैव किं न प्रवर्तयन्तीति स एवोपालम्भः। तथा शम्भोरष्टगुणाधिकरणत्वे, कार्यभेदानुमेयानां तदिच्छानामपि विषमरूपत्वाद् नित्यत्वहानिः केन वार्यते ॥

किञ्च, प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः स्वार्थकरुणाभ्यां व्याप्ता। ततश्चायं जगत्सर्गे व्याप्रियते स्वार्थात्, कारुण्याद् वा ? न तावत् स्वार्थात् तस्य कृतकृत्यत्वात्। न च कारुण्यात्, परदुःख-प्रहाणेच्छा हि कारुण्यम्। ततः प्राक् सर्गाज्जीवानामिन्द्रियशरीरविषयानुत्पत्तौ दुःखाभावेन कस्य प्रहाणेच्छा कारुण्यम् ? सर्गोत्तरकाले तु दुःखिनोऽवलोक्य कारुण्याभ्युपगमे दुरुत्तर-मितरेतराश्रयम्। कारुण्येन सृष्टिः सृष्ट्या च कारुण्यम्। इति नास्य जगत्कर्तृत्वं कथमपि सिद्ध्यति ॥

दूसरे स्वभावसे वह संहार करता है, तो यह माननेमें ईश्वर नित्य नहीं कहा जा सकता। क्योंकि स्वभावका भेद होना ही अनित्यताका लक्षण है। जिस प्रकार आहारके परमाणुओंसे युक्त पार्थिव शरीरमें प्रतिदिन नवीन-नवीन उत्पत्ति होनेके कारण स्वभावभेद होता है, इसलिए पार्थिव शरीर अनित्य है, उसी तरह ईश्वरके स्वभावका भेद माननेपर ईश्वर भी अनित्य होगा। परन्तु आप लोग जगत्की सृष्टि और संहारमें ईश्वरके स्वभाव-भेदको स्वीकार करते हैं। क्योंकि आपके अनुसार ईश्वर सृष्टिमें रजोगुणरूप, संहारमें तमोगुणरूप, और स्थितिमें सत्त्वगुणरूप प्रवृत्ति करता है। इस प्रकार अनेक अवस्थाओंके भेद होनेसे ईश्वर नित्य नहीं कहा जा सकता।

यदि ईश्वरको नित्य मान भी लिया जाय, तो वह जगतके बनानेमें सदा ही प्रयत्नवान् क्यों नहीं रहता ? यदि कहो कि अपनी इच्छाके कारण ईश्वर जगत्को बनानेमें सदा ही प्रयत्नवान् नहीं होता तो अपनी सत्तामात्रसे उत्पन्न हुई इच्छाएँ भी ईश्वरको सदा काल प्रवृत्त क्यों नहीं करतीं ? इस प्रकार पूर्वोक्त दोष ही आता है। तथा आप लोग ईश्वरमें बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग-नामके आठ गुणोंको स्वीकार करते हैं। परन्तु कार्य-भेदसे अनुमेय ईश्वरकी इच्छाओंके विषमरूप होनेसे ईश्वरके नित्यत्वकी हानिको कौन दूर कर सकता है ? (अर्थात् यदि ईश्वर नित्य है, तो उसकी इच्छायें भी सदा समान ही रहनी चाहिए। परन्तु संसारके नाना कार्योंको देखकर अनुमान होता है कि ईश्वरकी इच्छाएँ भी नाना प्रकारकी (विषम) हैं, और ईश्वरकी इच्छाओंके विषम होनेसे ईश्वरको भी अनित्य मानना चाहिए।)

तथा, बुद्धिमान् पुरुषोंकी प्रवृत्ति स्वार्थ (किसी प्रयोजनसे) अथवा करुणाबुद्धिपूर्वक ही होती है। यहाँ प्रश्न होता है कि जगत्को सृष्टिमें ईश्वर स्वार्थसे प्रवृत्त होता है अथवा करुणासे ? स्वार्थसे ईश्वरकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वह कृतकृत्य है। यह प्रवृत्ति करुणासे भी सम्भव नहीं, क्योंकि दूसरेके दुखों-को दूर करनेकी इच्छाको करुणा कहते हैं। परन्तु ईश्वरके सृष्टि रचनेसे पहले जीवोंके इन्द्रिय, शरीर और विषयोंका अभाव था, इसलिये जीवोंके दुःख भी नहीं था, फिर किस दुखको दूर करनेकी इच्छासे ईश्वरके करुणाका भाव उत्पन्न हुआ ? यदि कहो कि सृष्टिके बाद दुखी जीवोंको देखकर ईश्वरके करुणाका भाव उत्पन्न होता है, तो इतरेतराश्रय नामका दोष आता है। क्योंकि करुणासे जगत्की रचना हुई, और जगत्की रचनासे करुणा हुई। इस प्रकार ईश्वरके किसी भी तरह जगत्का कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता।

---

१. बुद्धीच्छाप्रयत्नसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाख्या अष्टौ गुणाः।

तदेवमेवंविधदोषकलुषिते पुरुषविशेषे यस्तेषां सेवाहेवाकः स खलु केवलं बलवन्मोहविडम्बनापरिपाक इति। अत्र च यद्यपि मध्यवर्तिनो नकारस्य "घण्टालालान्यायेन"[1] योजनादर्थान्तरमपि स्फुरति यथा इमाः कुहेवाकविडम्बनास्तेषां न स्युर्येषां त्वमनुशासक इति तथापि सोऽर्थः सहृदयैर्न हृदये धारणीयः, अन्ययोगव्यवच्छेदस्याधिकृतत्वात् ॥ इति काव्यार्थः ॥ ६ ॥

इस प्रकार अनेक दोषोंसे दूषित पुरुषविशेष ईश्वर को जगत्के कर्ता माननेका आग्रह केवल बलवान् मोहकी विडम्बनाका ही फल है। 'इमाः कुहेवाकविडम्बनाः स्युस्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम्', यहाँ मध्यवर्ती नकारका 'घण्टालालान्याय' से (मध्यमणिन्याय अथवा देहलीदीपकन्याय या घण्टालालान्याय एक ही अर्थको सूचित करते हैं। जैसे एक ही मणि, अथवा दीपक घरकी देहलीपर रखनेसे दोनों ओरकी वस्तुओंको प्रकाशित करते हैं, अथवा एक ही घण्टा अपनी दोनों तरफ बजता है, उसी तरह यहाँ भी एक ही 'नकार' का दो तरहसे अन्वय होता है) श्लोकका दूसरा अर्थ भी निकलता है कि जिनके आप अनुशासक हैं, उनके कदाग्रहरूप विडम्बनायें नहीं हैं। परन्तु यह अर्थ विद्वानोंको नहीं लेना चाहिये। क्योंकि यहाँ स्तुतिकारने अन्ययोगव्यवच्छेदका अवलम्बन लिया है॥ यह श्लोकका अर्थ है ॥६॥

भावार्थ—इस श्लोकमें वैशेषिकोंके ईश्वरके स्वरूपका खण्डन किया गया है। वैशेषिकोंके अनुसार ईश्वर (१) जगत्का कर्ता है, (२) एक है, (३) सर्वव्यापी है, (४) स्वतन्त्र है, और (५) नित्य है।

(१) वैशेषिक—'पृथिवी, पर्वत आदि किसी बुद्धिमान् कर्ताके बनाये हुए हैं, क्योंकि ये कार्य हैं; जो-जो कार्य होता है, वह किसी बुद्धिमान् कर्ताका बनाया हुआ देखा जाता है, जैसे घर। पृथिवी, पर्वत आदि भी कार्य हैं, इसलिये ये भी किसी कर्ताके बनाये हुए हैं; जो किसी कर्ताका बनाया हुआ नहीं होता, वह कार्य भी नहीं होता, जैसे आकाश'। **जैन**—(क) उक्त अनुमान प्रत्यक्षसे बाधित है, क्योंकि हमें पृथिवी, पर्वत आदिका कोई कर्ता दृष्टिगोचर नहीं होता। (ख) घटका दृष्टान्त विषम है। क्योंकि घटादि कार्य सशरीर कर्ताके ही बनाये हुए देखे जाते हैं, तथा ईश्वरको अशरीर कर्ता माना गया है। तथा ईश्वरको सशरीर माननेमें इतरेतराश्रय आदि अनेक दोष आते हैं।

(२) वैशेषिक—ईश्वर एक है, क्योंकि अनेक ईश्वर होनेसे जगत्में एकरूपता और क्रम नहीं रह सकता। **जैन**—उक्त मान्यता एकान्तरूपसे सत्य नहीं है। क्योंकि शहदके छत्ते आदि पदार्थोंको अनेक मधुमक्खियाँ तैयार करती हैं, फिर भी छत्तेमें क्रम और एकरूपता देखी जाती है।

(३) वैशेषिक—ईश्वर सर्वव्यापी और सर्वज्ञ है। **जैन**—ईश्वर सर्वव्यापी नहीं हो सकता, क्योंकि उसके सर्वव्यापी होनेसे प्रमेय पदार्थोंके लिये कोई स्थान न रहेगा। ईश्वरका सर्वज्ञत्व भी किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि स्वयं सर्वज्ञत्व प्राप्त किये बिना हम प्रत्यक्षसे ईश्वरका साक्षात् ज्ञान नहीं कर सकते। अनुमानसे भी हम ईश्वरको नहीं जान सकते, क्योंकि वह बहुत दूर है, इसलिए सर्वज्ञत्वसे सम्बद्ध किसी हेतुसे उसका ग्रहण नहीं हो सकता। 'सर्वज्ञत्वके बिना जगत्की विचित्र रचना नहीं हो सकती'—इस अर्थापत्ति प्रमाणसे भी सर्वज्ञत्व सिद्ध नहीं होता। क्योंकि जगत्की विचित्रताकी व्याप्ति सर्वज्ञत्वके साथ नहीं है। आगम प्रमाणसे भी हम सर्वज्ञको नहीं जान सकते, क्योंकि वेद आदि आगम पूर्वापरविरोध आदि दोषोंसे युक्त हैं, इसलिए आगम विश्वनीय नहीं है।

(४) वैशेषिक—ईश्वर स्वतन्त्र है। **जैन**—यदि ईश्वर स्वतन्त्र है, तो वह दुःखोंसे परिपूर्ण विश्वकी क्यों रचना करता है? अन्यथा ईश्वरको क्रूर और निर्दय मानना चाहिये। यदि कहा जाय कि

---

१. मध्यमणिन्यायः, देहलीदीपकन्यायस्तद्वदेवायं घण्टालालान्याय उपयुज्यते।

अथ चैतन्यादयो रूपादयश्च धर्मा आत्मादेर्घटादेश्च धर्मिणोऽत्यन्तं व्यतिरिक्ता[1] अपि समवायसम्बन्धेन[2] संबद्धाः सन्तो धर्मधर्मिव्यपदेशमश्नुवते तन्मतं दूषयन्नाह—

न धर्मधर्मित्वमतीवभेदे वृत्त्यास्ति चेन्न त्रितयं चकास्ति ।
इहेदमित्यस्ति मतिश्च वृत्तौ न गौणभेदोऽपि च लोकबाधः ॥७॥

धर्मधर्मिणोरतीवभेदे [अतीवेत्यत्र इवशब्दो वाक्यालंकारे तं च प्रायोऽतिशब्दात् किं वृत्ते च प्रयुञ्जते शाब्दिकाः, यथा–"आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्याम्[3]", "उद्वृत्तः क इव सुखावहः परेषाम्[4]" इत्यादि] ततश्च धर्मधर्मिणोः अतीवभेदे–एकान्तभिन्नत्वेऽङ्गीक्रियमाणे, स्वभावहानेर्धर्मधर्मित्वं न स्यात् । अस्य धर्मिण इमे धर्माः, एषां च धर्माणामयमाश्रयभूतो धर्मी इत्येवं सर्वप्रसिद्धो धर्मधर्मिव्यपदेशो न प्राप्नोति । तयोरत्यन्तभिन्नत्वेऽपि तत्कल्पनायां पदार्थान्तरधर्माणामपि विवक्षितधर्मधर्मित्वापत्तेः ॥

प्राणियोंके अदृष्टबलसे ही ईश्वर जीवोंको सुख-दुःख देता है, तो फिर कर्म-प्रधान ही सृष्टि माननी चाहिए, ईश्वरको कर्ता माननेकी आवश्यकता नहीं ।

(५) वैशेषिक—ईश्वर नित्य है । जैन—सर्वथा नित्य ईश्वर सतत क्रियाशील है, अथवा अक्रियाशील ? ईश्वरको सतत क्रियाशील माननेपर कोई कार्य कभी समाप्त ही नहीं हो सकेगा । तथा अक्रियाशील माननेपर ईश्वर जगत्का निर्माण नहीं कर सकता ।

'चैतन्य तथा रूप आदि धर्म, आत्मा तथा घट आदि धर्मियोंसे सर्वथा भिन्न हैं, तथा धर्म-धर्मीका सम्बन्ध समवाय सम्बन्धसे होता है'–वैशेषिकोंकी इस मान्यताको सदोष सिद्ध करते हैं—

श्लोकार्थ—धर्म और धर्मीके सर्वथा भिन्न माननेपर 'यह धर्मी है', 'ये इस धर्मीके धर्म हैं' और 'यह धर्म-धर्मीमें सम्बन्ध करानेवाला समवाय है'—इस प्रकार तीन बातोंका अलग-अलग ज्ञान नहीं हो सकता । यदि कहो कि समवाय सम्बन्धसे परस्पर भिन्न धर्म और धर्मीका सम्बन्ध होता है, तो यह ठीक नहीं । क्योंकि जिस तरह हमें धर्म और धर्मीका ज्ञान होता है, वैसे समवायका ज्ञान नहीं होता । यदि कहो कि एक समवायको मुख्य मानकर समवायमें समवायत्वको गौणरूपसे स्वीकार करेंगे, तो यह कल्पना मात्र है । तथा इसे माननेमें लोकविरोध आता है ।

व्याख्यार्थ—'धर्मधर्मिणोरतीवभेदे' [यहाँ अतीवमें 'इव' शब्द वाक्यके अलंकारमें प्रयुक्त हुआ है, इसका कोई अर्थ नहीं है । शाब्दिक लोग 'इव' शब्दका 'अति' और 'किम्' शब्दके साथ प्रयोग करते हैं; जैसे—"आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्यां", "उद्वृत्तः क इव सुखावहः परेषाम्"] धर्म और धर्मीका एकान्त भेद माननेपर, स्वभावका अभाव हो जाने से धर्मत्व और धर्मित्व नहीं बनता, इसलिये इस धर्मीके ये धर्म हैं, और इन धर्मोंका आश्रय यह धर्मी है, इस प्रकारका व्यवहार नहीं हो सकता । धर्म-धर्मीको सर्वथा भिन्न मानकर भी यदि धर्म-धर्मी भावकी कल्पना की जायगी, तो एक पदार्थके धर्म दूसरे पदार्थके धर्म हो जाया करेंगे । (वैशेषिक लोग द्रव्य (धर्मी) और गुण (धर्म) को सर्वथा भिन्न मानते हैं । उनके अनुसार उत्पन्न होनेके प्रथम क्षणमें द्रव्य गुणोंसे रहित होता है । जैनदर्शनके अनुसार, धर्म और धर्मीका एकान्त-भेद सम्भव नहीं है, क्योंकि एकान्त-भेद माननेमें एक पदार्थका धर्म दूसरे पदार्थका धर्म हो जाना चाहिये । जैसे अग्निका उष्णत्व धर्म अग्निसे और जलका शीतत्व धर्म जलसे सर्वथा भिन्न हो तो अग्निके उष्णत्व धर्मका जलके साथ और जलके शीतत्व धर्मका अग्निके साथ सम्बन्ध हो जाना चाहिये, क्योंकि धर्म और धर्मी सर्वथा भिन्न हैं ।)

१. उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणं निष्क्रियं च तिष्ठतीति समयात् गुणानां गुणिनो व्यतिरिक्तत्वम् ।
२. 'अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः संबन्ध इहप्रत्ययेहेतुः स समवायः' इति प्रशस्तपादभाष्ये समवायप्रकरणे । ३. कुमारसम्भवमहाकाव्ये ३–५४ । ४. शिशुपालवधमहाकाव्ये ।

एवमुक्ते सति परः प्रत्यवतिष्ठते। वृत्त्यास्तीति–अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिह-प्रत्ययहेतुतः सम्बन्धः समवायः। स च समवयनात् समवाय इति द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषेषु पञ्चसु पदार्थेषु वर्तनाद् वृत्तिरिति चाख्यायते। तया वृत्त्या समवायसम्बन्धेन, तयोर्धर्म-धर्मिणोः इतरेतरविनिर्लुण्ठितत्त्वेऽपि धर्मधर्मिव्यपदेश इष्यते। इति नानन्तरोक्तो दोष इति ॥

अत्राचार्यः समाधत्ते। चेदिति। यद्येवं तव मतिः सा प्रत्यक्षप्रतिक्षिप्ता। यतो न त्रितयं चकास्ति। अयं धर्मी, इमे चास्य धर्माः, अयं चैतत्सम्बन्धनिबन्धनं समवाय इत्येतत् त्रितयं–वस्तुत्रयं, न चकास्ति–ज्ञानविषयतया न प्रतिभासते। यथा किल शिलाशकलयुगलस्य मिथोऽनु-सन्धायकं रालादिद्रव्यं तस्मात् पृथक् तृतीयतया प्रतिभासते, नैवमत्र समवायस्यापि प्रतिभा-सनम्, किन्तु द्वयोरेव धर्मधर्मिणोः इति शपथप्रत्यायनीयोऽयं समवाय इति भावार्थः ॥

किञ्च, अयं तेन वादिना एको नित्यः सर्वव्यापकोऽमूर्तश्च परिकल्पते। ततो यथा घटाश्रिताः पाकजरूपादयो धर्माः समवायसम्बन्धेन घटे समवेतास्तथा किं न पटेऽपि। तस्यैकत्वनित्यत्वव्यापकत्वैः सर्वत्र तुल्यत्वात् ॥

यथाकाश एको नित्यो व्यापकोऽमूर्तश्च सन् सर्वैः सम्बन्धिभिर्युगपदविशेषेण सम्बध्यते, तथा किं नायमपीति। विनश्यदेकवस्तुसमवायाभावे च समस्तवस्तुसमवायाभावः प्रसज्यते। तत्तदवच्छेदकभेदाद् नायं दोष इति चेत्, एवमनित्यत्वापत्तिः। प्रतिवस्तुस्वभावभेदादिति।

वैशेषिक—हम वृत्ति (समवाय) से धर्म और धर्मीमें सम्बन्ध मानते हैं। अयुतसिद्ध (एक दूसरेके विना न रहनेवाले) आधार्य (पट) और आधार (तन्तु) पदार्थोंका इहप्रत्यय हेतु (इन तन्तुओंमें पट है) सम्बन्ध 'समवाय' है। समवायसे पदार्थोंमें सम्बन्ध होता है, इसलिये इसे समवाय कहते हैं। यह समवाय द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष इन पाँच पदार्थोंमें रहता है, इसलिये इसे वृत्ति भी कहते हैं। समवाय सम्बन्धसे सर्वथा भिन्न धर्म और धर्मीमें धर्म-धर्मीका व्यवहार होता है। (यह समवाय अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, जाति-व्यक्ति, नित्यद्रव्य और विशेषमें रहता है।)

जैन—उक्त मान्यता प्रत्यक्षसे बाधित है। क्योंकि हमें 'यह धर्मी है', 'ये इस धर्मीके धर्म' और 'यह धर्म-धर्मीमें सम्बन्ध करानेवाला समवाय है'—इस प्रकार तीन पदार्थोंका अलग-अलग ज्ञान नहीं होता। जिस प्रकार एक पत्थरके दो टुकड़ोंको परस्पर जोड़नेवाले राल आदि पदार्थ पत्थर के दो टुकड़ोंसे अलग दिखाई देते हैं, उस तरह धर्म और धर्मीका सम्बन्ध करानेवाला समवाय कोई अलग पदार्थ प्रत्यक्षसे दृष्टिगोचर नहीं होता। हमें केवल धर्म और धर्मीका ही प्रतिभास होता है। इसलिये धर्म-धर्मी सम्बन्ध करानेवाला समवाय कोई अलग पदार्थ नहीं है।

तथा, वैशेषिक लोग समवायको एक, नित्य, सर्वव्यापक और अमूर्त स्वीकार करते हैं। इसलिये घटके अग्निमें पकानेसे उत्पन्न होनेवाले रूप आदि धर्म यदि समवाय सम्बन्धसे घटमें रहते हैं, तो ये रूप आदि पटमें भी क्यों नहीं रहते ? क्योंकि समवाय एक, नित्य और व्यापक होनेसे सर्वत्र विद्यमान है। अतएव समवाय-सम्बन्धसे घटमें रहनेवाले धर्म पटमें भी रहने चाहिए; क्योंकि घटधर्म समवाय और पटधर्म समवाय दोनों ही एक, नित्य, व्यापक और अमूर्त हैं।

जैसे एक, नित्य, व्यापक और अमूर्त आकाश एक ही साथ सब सम्बन्धियोंसे समानरूपसे सम्बद्ध होता है, उसी तरह समवाय भी सब सम्बन्धियोंसे समानरूपसे ही क्यों सम्बद्ध नहीं होता ? तथा, घटके नष्ट होने-पर घटके समवायका अभाव हो जाता है, इसलिए समवायका ही सर्वथा अभाव मानना चाहिए। क्योंकि समवाय एक है, इसलिए घटके नष्ट होनेसे नष्ट होनेवाले घट-समवायका फिर कभी सद्भाव ही नहीं होगा। यदि वैशेषिक लोग कहें कि समवाय वास्तवमें एक ही है, लेकिन वह घटत्वावच्छेदक-समवाय, पटत्वावच्छेदक-समवाय आदि भिन्न-भिन्न अवच्छेदकोंके भेदसे घट, पट आदि भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें रहता है, इसलिए घट-

अथ कथं समवायस्य न ज्ञाने प्रतिभासनम् यतस्तस्येहेतिप्रत्ययः सावधानं साधनम्। इह प्रत्ययाश्चानुभवसिद्ध एव। इह तन्तुषु पटः, इहात्मनि ज्ञानम्, इह घटे रूपादय इति प्रतीतेरुपलम्भात्। अस्य च प्रत्ययस्य केवलधर्मधर्म्यनालम्बनत्वादस्ति समवायाख्यं पदार्थान्तरं तद्धेतुरिति पराशङ्कामभिसन्धाय पुनराह। 'इहेदमित्यस्ति मतिश्च वृत्ताविति।' इहेदमिति–इहेदमिति आश्रयाश्रयिभावहेतुक इहप्रत्ययो वृत्तावप्यस्ति––समवायसंबन्धेऽपि विद्यते। चशब्दोऽपिशब्दार्थः। तस्य च व्यवहितः सम्बन्धस्तथैव च व्याख्यातम्॥

इदमत्र हृदयम्। यथा त्वन्मते पृथिवीत्वाभिसंबन्धात् पृथिवी, तत्र पृथिवीत्वं पृथिव्या एव स्वरूपमस्तित्वाख्यं नापरं वस्त्वन्तरम्। तेन स्वरूपेणैव समं योऽसावभिसम्बन्धः पृथिव्याः स एव समवाय इत्युच्यते। "प्राप्तानामेव प्राप्तिः समवायः" इति वचनात्। एवं समवायत्वाभिसम्बन्धात् समवाय इत्यपि किं न कल्प्यते। यतस्तस्यापि यत् समवायत्वं स्वस्वरूपं, तेन सार्धं सम्बन्धोऽस्त्येव। अन्यथा निःस्वभावत्वात् शशविषाणवदवस्तुत्वमेव भवेत्। ततश्च इह समवाये समवायत्वमित्युल्लेखेन इहप्रत्ययः समवायेऽपि युक्त्या घटत एव। ततो यथा पृथिव्यां पृथिवीत्वं समवायेन समवेतं, एवं समवायेऽपि समवायत्वं समवायान्तरेण सम्बन्धनीयम्, तदप्यपरेण, इत्येवं दुस्तरानवस्थामहानदी॥

एवं समवायस्यापि समवायत्वाभिसम्बन्धे युक्त्या उपपादिते साहसिक्यमालम्ब्य पुनः पूर्वपक्षवादी वदति। ननु पृथिव्यादीनां पृथिवीत्वाद्यभिसम्बन्धनिबन्धनं समवायो मुख्यः।

त्वावच्छेदक-समवायके नाश होनेसे पटत्वावच्छेदक-समवायका नाश नहीं होता, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि इस तरह प्रत्येक वस्तुके साथ समवायके स्वभावका भेद होनेसे समवाय अनित्य ठहरेगा।

वैशेषिक—आप कैसे कह सकते हैं कि समवायका ज्ञान नहीं होता? 'इहप्रत्य' (इन तन्तुओंमें पट है) समवायके ज्ञान करानेमें प्रबल साधन है 'इन तन्तुओंमें पट है,' 'इस आत्मामें ज्ञान है,' 'इस घटमें रूप आदि हैं'—यह 'इहप्रत्यय' अनुभवसे सिद्ध है। यह 'इहप्रत्यय' केवल धर्म और धर्मीके आधारसे नहीं होता, इस कारण धर्म-धर्मीसे भिन्न 'इहप्रत्यय'का हेतु समवाय अवश्य मानना चाहिए। इस प्रकार दूसरोंकी शंकाको लक्ष्य करके यहाँ फिरसे कहा गया है—'यहाँ यह है, इस प्रकारकी बुद्धि समवायमें होती है।' 'यहाँ यह है'—इस प्रकारके आश्रयाश्रियभावके कारण व्यक्त होनेवाला इहप्रत्यय समवायमें भी होता है। 'च' शब्दका अर्थ 'अपि' है। इसका सम्बन्ध व्यवहित है।

जैन—धर्म (आश्रयी) और धर्मी (आश्रय) में 'इहप्रत्यय' हेतु समवाय सम्बन्ध ठीक नहीं बनता। क्योंकि धर्म और धर्मीका हेतु 'इहप्रत्यय' समवाय सम्बन्धमें भी रहता है। वैशेषिकोंके मतमें पृथिवीत्वके सम्बन्धसे पृथिवीका ज्ञान होता है, तथा पृथिवीत्व ही पृथिवीका अस्तित्व नामक स्वभाव है। इसी पृथिवीत्वके साथ पृथिवीके सम्बन्धको समवाय कहते हैं। कहा भी है—"प्राप्त पदार्थोंकी प्राप्ति ही समवाय है।" इसी तरह वैशेषिक लोग समवायत्वके सम्बन्धसे ही समवाय क्यों नहीं मानते? क्योंकि समवायत्व समवायका स्वभाव है, और समवायका समवायत्वके साथ सम्बन्ध है। अन्यथा यदि समवायत्वको समवायका स्वभाव नहीं मानोगे, तो समवायको स्वभावरहित मानना होगा, और स्वभावरहित होनेसे खरगोशके सींगकी तरह समवाय अवस्तु ठहरेगा। इसलिए 'समवायमें समवायत्व है'—यह 'इहप्रत्यय' समवायमें भी युक्तिसे सिद्ध होता है। अतएव जिस प्रकार पृथिवीमें पृथिवीत्व समवाय सम्बन्धसे है, वैसे ही समवायमें समवायत्व दूसरे समवायसे, दूसरेमें तीसरेसे—इस प्रकार एक समवायकी सिद्धिमें अनन्त समवाय माननेसे अनवस्था दोष आता है।

इस प्रकार समवायका भी समवायत्वके साथ होने वाले सम्बन्धकी युक्तिसे सिद्धि की जानेपर साहसका अवलम्बन करके पूर्वपक्षवादी (वैशिषक) पुनः कहता है : समवाय मुख्य और गौणके भेदसे दो प्रकारका है। पृथिवीमें पृथिवीत्व मुख्य-समवाय सम्बन्धसे रहता है। इस मुख्य-समवायका ज्ञान 'त्व', 'तल' आदि प्रत्ययोंसे

तत्र त्वतलादिप्रत्ययाभिव्यङ्ग्यस्य सङ्गृहीतसकलावान्तरजातिलक्षणव्यक्तिभेदस्य सामान्यस्योद्भवात्। इह तु समवायस्यैकत्वेन व्यक्तिभेदाभावे जातेरनुद्भूतत्वाद् गौणोऽयं युष्मत्परिकल्पित इहेतिप्रत्ययसाध्यः समवायत्वाभिसम्बन्धः तत्साध्यश्च समवाय इति ॥

तदेतद् न विपश्चिच्चमत्कारकारणम्। यतोऽत्रापि जातिरुद्भवन्ती केन निरुध्यते। व्यक्तेरभेदेनेति[1] चेत्। न। तत्तदवच्छेदकवशात् तत्तद्भेदोपपत्तौ व्यक्तिभेदकल्पनाया दुर्निवारत्वात्। अन्यो घटसमवायोऽन्यश्च पटसमवाय इति व्यक्त एव समवायस्यापि व्यक्तिभेद इति, तत्सिद्धौ सिद्ध एव जात्युद्भवः। तस्मादन्यत्रापि मुख्य एव समवायः इहप्रत्ययस्योभयत्राप्यव्यभिचारात्॥

तदेतत्सकलं सपूर्वपक्षं समाधानं मनसि निधाय सिद्धान्तवादी प्राह। न गौणभेद इति। गौण इति योऽयं भेदः स नास्ति। गौणलक्षणाभावात्। तल्लक्षणं चेत्थमाचक्षते—

" अव्यभिचारी मुख्योऽविकलोऽसाधारणोऽन्तरङ्गश्च।
विपरीतो गौणोऽर्थः सति मुख्ये धीः कथं गौणे "॥

तस्माद् धर्मधर्मिणोः सम्बन्धेन मुख्यः समवायः, समवाये च समवायत्वाभिसम्बन्धे गौण इत्ययं भेदो नानात्वं नास्तीति भावार्थः॥

किञ्च, योऽयमिह तन्तुषु पट इत्यादिप्रत्ययात् समवायसाधनमनोरथः स खल्वनुहरते नपुंसकादपत्यप्रसवमनोरथम्। इह तन्तुषु पट इत्यादेर्व्यवहारस्यालौकिकत्वात्। पांशुलपादा-

होता है, और यह समवाय पृथिवी आदिकी सम्पूर्ण अवान्तर जातिरूप व्यक्तिभेदको सामान्यसे ग्रहण करता है। परन्तु समवायत्वमें समवाय एक है, इसलिए उसमें व्यक्तियोंके भेदका अभाव है, अतएव वह सामान्यका उत्पादक नहीं। अतएव आप लोगोंने जो कहा था कि 'इन समवायियोंमें समवाय रहते हैं, क्योंकि इन समवायियोंमें समवाय है ऐसा ज्ञान होता है'—सो यह गौण समवाय है।

जैन—यह मान्यता ठीक नहीं। क्योंकि जिस प्रकार आप लोग पृथिवीमें मुख्य समवायसे रहनेवाले पृथिवीत्वको सामान्य (जाति) का ग्राहक मानते हैं, उसी प्रकार समवायमें रहनेवाले समवायत्वको भी सामान्यका ग्राहक क्यों नहीं मानते ? यदि आप लोग कहें कि यहाँ व्यक्तिका भेद नहीं है—अर्थात् समवाय एक ही है, इस कारण समवायमें जातिका अभाव है—तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि यहाँ भी अमुक अवच्छेदकोंसे यह घट-समवाय है, यह पट-समवाय है, इस प्रकार समवायके भी व्यक्तिभेद सिद्ध हैं। क्योंकि घटत्वावच्छेदकसे होनेवाला घटसमवाय पटत्वावच्छेदकसे होनेवाले पटसमवायसे भिन्न है। इसलिए समवायमें भी व्यक्तिका भेद सिद्ध होता है। अतएव जिस प्रकार पृथिवीमें पृथिवीत्व मुख्य-समवाय सम्बन्धसे रहता है, उसी तरह समवायमें समवायत्व भी मुख्य-समवाय सम्बन्धसे मानना चाहिए, क्योंकि इहप्रत्ययकी दोनों जगह समानता है।

तथा, वैशेषिकोंद्वारा समवायमें गौणरूपसे स्वीकृत समवायत्व भी नहीं बन सकता। क्योंकि यहाँ गौणका लक्षण ही ठीक नहीं बैठता, कारण कि,

"व्यभिचारी, विकल, साधारण और बहिरंग अर्थको गौण कहते हैं। मुख्य अर्थके रहनेपर गौण बुद्धि नहीं हो सकती।"

समवायमें समवायत्व माननेमें मुख्य अर्थ मौजूद है, इसलिए समवायका गौणरूप नहीं बन सकता। अतएव धर्म और धर्मीका सम्बन्ध मुख्य-समवायसे होता है, तथा समवाय और समवायत्वका सम्बन्ध गौण-समवाय है—समवायका यह मुख्य और गौण भेद मानना ठीक नहीं है।

तथा 'इन तन्तुओंमें पट है'—इस प्रत्ययसे समवायकी सिद्धि करना नपुंसकसे पुत्र उत्पन्न करनेकी इच्छाके समान है। क्योंकि 'इन तन्तुओंमें पट है' यह व्यवहार लोकसे बाधित है, कारण कि साधारणसे साधारण

१. व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः। रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः ॥— इति किरणावल्यामुदयनाचार्यकृतायाम्।

नामपि इह पटे तन्तव इत्येव प्रतीतिदर्शनात्। इह भूतले घटाभाव इत्यत्रापि समवायप्रसङ्गात्। अत एवाह 'अपि च लोकबाध' इति। अपि चेति—दूषणाभ्युच्चये, लोकः—प्रामाणिकलोकः, सामान्यलोकश्च; तेन बाधो—विरोधः; लोकबाधः। तदप्रतीतव्यवहारसाधनात् बाधशब्दस्य "ईहाद्याः प्रत्ययभेदतः[1]" इति पुंस्त्रीलिङ्गता। तस्माद्धर्मधर्मिणोरविष्वग्भावलक्षण एव सम्बन्धः प्रतिपत्तव्यो नान्यः समवायादिः॥ इति काव्यार्थः॥ ७॥

अथ सत्ताभिधानं पदार्थान्तरम्, आत्मनश्च व्यतिरिक्तं ज्ञानाख्यं गुणम्, आत्मविशेषगुणोच्छेदस्वरूपां च मुक्तिम्, अज्ञानादङ्गीकृतवतः परानुपहसन्नाह—

सतामपि स्यात् क्वचिदेव सत्ता चैतन्यमौपाधिकमात्मनोऽन्यत्।
न संविदानन्दमयी च मुक्तिः सुसूत्रमासूत्रितमत्वदीयैः॥८॥

पुरुषको भी 'इन तन्तुओंमें पट है' यह प्रतीति न होकर 'इस पटमें तन्तु हैं' ऐसी प्रतीति होती है। अन्यथा इस भूतलमें घटका अभाव है, यहाँ भी समवाय मानना चाहिए क्योंकि यहाँ भी इहप्रत्यय होता है। इसीलिए ग्रन्थकारने कहा है 'अपि च लोकबाधः'—यह अप्रतीत व्यवहार साधारण लोगोंके भी अनुभवके विरुद्ध है [बाध शब्द 'ईहाद्याः प्रत्ययभेदतः' इस सूत्रसे पुलिंग और स्त्रीलिंग दोनोंमें प्रयुक्त होता है]। इसलिए धर्म और धर्मीमें तादात्म्य सम्बन्ध ही स्वीकार करना चाहिए, समवाय सम्बन्ध नहीं॥ यह श्लोकका अर्थ है॥ ७॥

भावार्थ—इस श्लोकमें वैशेषिकोंके समवाय पदार्थका खण्डन किया गया है। वैशेषिकोंकी मान्यता है कि धर्म और धर्मी सर्वथा भिन्न हैं। इन दोनों भिन्न पदार्थोंका सम्बन्ध समवायसे होता है। जैनोंका कथन है कि जिस प्रकार दो पत्थरके टुकड़ोंको जोड़नेवाले लाख आदि पदार्थका हमें प्रत्यक्षसे ज्ञान होता है, वैसे धर्म और धर्मीका सम्बन्ध करानेवाले समवाय सम्बन्धको हम प्रत्यक्षसे नहीं जानते, इसलिए समवायको धर्म-धर्मीसे पृथक् तीसरा पदार्थ मानना प्रत्यक्षसे बाधित है। इसके अतिरिक्त, वैशेषिक लोग समवायको एक, नित्य और सर्वव्यापक मानते हैं, अतएव एक पदार्थमें समवायके नष्ट हो जानेपर संसारके समस्त पदार्थोंमें रहनेवाला समवाय नष्ट हो जाना चाहिए। क्योंकि समवाय एक और सर्वव्यापक है। तथा, वैशेषिक लोग इहप्रत्यय (इन तन्तुओंमें पट है) से समवाय सम्बन्धका ज्ञान करते हैं, परन्तु जैसे पटमें पटत्व समवाय सम्बन्धसे स्वीकार करते हैं, वैसे ही वे लोग समवायमें भी समवायत्व दूसरे समवायसे और दूसरेमें तीसरे समवायसे, क्यों नहीं मानते ? तथा समवायमें समवायान्तर माननेसे अनवस्था दोष आता है।

यदि वैशेषिक लोग पृथिवी आदिके अनेक होनेसे पृथिवीमें पृथिवीत्व मुख्य-समवायसे, तथा समवायके एक होनेसे समवायमें समवायत्व गौण-समवायसे मानकर मुख्य और गौणके भेदसे समवाय सम्बन्ध स्वीकार करते हैं, तो यह भी कल्पना मात्र है। क्योंकि समवाय-बहुत्व भी अनुभवसे सिद्ध है। कारण कि घट और घटरूपका समवाय पट और पटरूपके समवायसे भिन्न है। तथा इहप्रत्यय हेतु समवाय माननेसे लोक-बाधा भी आती है। क्योंकि जनसाधारण को 'इन तन्तुओंमें पट है' यह प्रतीति न होकर 'इस पटमें तन्तु हैं'—यही ज्ञान होता है। अतएव धर्म-धर्मीमें समवाय सम्बन्ध मानना ठीक नहीं, इसलिए धर्म और धर्मीमें अत्यन्त भेद मानना भी युक्तियुक्त नहीं है।

---

(१) सत्ता भिन्न पदार्थ है, (२) आत्मासे ज्ञान भिन्न है, (३) आत्माके विशेष गुणोंका नष्ट हो जाना मोक्ष है—इन मान्यताओंको अज्ञानसे स्वीकार करनेवाले वादियोंका उपहास करते हुए कहते हैं—

श्लोकार्थ—सत् पदार्थोंमें भी सब पदार्थोंमें सत्ता नहीं रहती; ज्ञान उपाधिजन्य है, इसलिए ज्ञान

---

१. हैमलिंगानुशासने पुंस्त्रीलिंगप्रकरणे श्लोक ५.

वैशेषिकाणां द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाख्याः षट्पदार्थास्तत्त्वतयाभिप्रेताः। तत्र "पृथीव्यापस्तेजो वायुराकाशः कालो दिगात्मा मन"[1] इति नव द्रव्याणि। गुणाश्चतुर्विंशतिः। तद्यथा "रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धिः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नश्च"[2] इति सूत्रोक्ताः सप्तदश। चशब्दसमुच्चिताश्च सप्त[3]–द्रवत्वं गुरुत्वं संस्कारः स्नेहो धर्माधर्मौ शब्दश्च इत्येवं चतुर्विंशतिगुणाः। संस्कारस्य वेगभावनास्थितिस्थापकभेदाद् त्रैविध्येऽपि संस्कारत्वजात्यपेक्षया एकत्वात्, शौर्यौदार्यादीनां चात्रैवान्तर्भावाद् नाधिक्यम्। कर्माणि पञ्च। तद्यथा–उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति[4]। गमनग्रहणाद् भ्रमणरेचनस्यन्दनाद्यविरोधः॥

अत्यन्तव्यावृत्तानां पिण्डानां यतः कारणाद् अन्योऽन्यस्वरूपानुगमः प्रतीयते, तदनुवृत्तिप्रत्यहेतुः सामान्यम्। तच्च द्विविधं परमपरं च। तत्र परं सत्ता[5] भावो महासामान्यमिति चोच्यते। द्रव्यत्वाद्यवान्तरसामान्यापेक्षया महाविषयत्वात्। अपरसामान्यं च द्रव्यत्वादि। एतच्च सामान्यविशेष इत्यपि व्यपदिश्यते। तथाहि। द्रव्यत्वं नवसु द्रव्येषु वर्तमानत्वात् सामान्यम्, गुणकर्मभ्यो व्यावृत्तत्वाद् विशेषः। ततः कर्मधारये सामान्यविशेष इति। एवं द्रव्यत्वाद्यपेक्षया पृथिवीत्वादिकमपरं, तदपेक्षया घटत्वादिकम्। एवं चतुर्विंशतौ गुणेषु वृत्तेर्गुणत्वं सामान्यम्, द्रव्यकर्मभ्यो व्यावृत्तेश्च विशेषः। एवं गुणत्वापेक्षया रूपत्वादिकं, तदपेक्षया नीलत्वादिकम्। एवं पञ्चसु कर्मसु वर्तनात् कर्मत्वं सामान्यम्, द्रव्यगुणेभ्यो व्यावृत्तत्वाद् विशेषः। एवं कर्मत्वापेक्षया उत्क्षेपणत्वादिकं ज्ञेयम्॥

आत्मासे भिन्न है; मोक्ष ज्ञान और आनन्दरूप नहीं है–इस प्रकारकी मान्यताओंको प्रतिपादन करनेवाले शास्त्र, हे भगवन्, आपकी आज्ञासे वाह्य वैशेषिक लोगोंके रचे हुए हैं।

व्याख्यार्थ—वैशेषिकोंने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय–इन छह पदार्थोंको तत्त्वरूपसे स्वीकार किया है। "पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन"–ये नौ द्रव्य हैं। "रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न," तथा (च शब्दसे) द्रवत्व, गुरुत्व, संस्कार, स्नेह, धर्म, अधर्म, और शब्द–ये चौवीस गुण हैं। इन गुणोंमें वेग, भावना, और स्थितिस्थापकसे भेदसे संस्कार तीन प्रकारका है, परन्तु वह संस्कारत्व जातिकी अपेक्षासे एक ही है; शौर्य, औदार्य आदिका इसीमें अन्तर्भाव हो जाता है। कर्म उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमनके भेदसे पाँच प्रकारका है। गमनके साथ भ्रमण, रेचन, स्यन्दन आदिका विरोध नहीं है।

जिस कारण एक-दूसरेसे अत्यन्त व्यावृत्त पदार्थोंमें से अन्य पदार्थके स्वरूपका उससे भिन्न पदार्थमें अन्वय प्रतीत होता है, उस कारण जो अनुवृत्तिके अन्वयके ज्ञानका कारण होता है, वह सामान्य है। यह सामान्य दो प्रकारका है–पर सामान्य और अपर सामान्य। पर सामान्यको सत्ता, भाव अथवा महासामान्य भी कहते हैं: क्योंकि यह पर सामान्य द्रव्यत्व आदि अपर सामान्यकी अपेक्षा महद् विषयवाला है; परन्तु पर सामान्य द्रव्य, गुण और कर्म तीनोंमें रहता है। द्रव्यत्व आदि अपर सामान्य है, इसे सामान्य विशेष भी कहते है। जैसे; द्रव्यत्व नौ द्रव्योंमें रहनेसे सामान्य; तथा गुण और कर्ममें न रहनेसे विशेष कहा जाता है। इससे 'सामान्यं च तद्विशेषश्च' इस प्रकार कर्मधारय समासमें 'जो सामान्य होता है वही विशेष होता है' ऐसा 'सामान्य विशेषः' इस सामासिक पदका अर्थ है। इस प्रकार द्रव्यत्व आदिकी अपेक्षा पृथिवीत्व आदि, और पृथिवीत्व आदिकी अपेक्षा घटत्व आदि जो अपर सामान्य है, वह सामान्य

---

१. वैशेषिकदर्शने १-१-५। २. वैशेषिकदर्शने १-१-६। ३. प्रशस्तपादभाष्ये उद्देशप्रकरणे। ९-१०।
४. ऊर्ध्वदेशसंयोगकारणं कर्मोत्क्षेपणम्। अधोदेशसंयोगकारणं कर्मापक्षेपणम्। वक्रत्वापादकं कर्माकुञ्चनम्। ऋजुत्वापादकं कर्म प्रसारणम्। अनियतदेशसंयोगकारणं कर्म गमनम्। प्रशस्तपादभाष्ये उद्देशप्रकरणे। ५. 'द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते'। कारिकावली प्रत्यक्षखण्डे का. ८।

तत्र सत्ता द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं कया युक्त्या इति चेद्, उच्यते। न द्रव्यं सत्ता, द्रव्यादन्येत्यर्थः, एकद्रव्यवत्त्वाद्—एकैकस्मिन् द्रव्ये वर्तमानत्वादित्यर्थः; द्रव्यत्ववत्। यथा द्रव्यत्वं नवसु द्रव्येषु प्रत्येकं वर्तमानं द्रव्यं न भवति, किन्तु सामान्यविशेषलक्षणं द्रव्यत्वमेव। एवं सत्तापि। वैशेषिकाणां हि अद्रव्यं वा द्रव्यम्, अनेकद्रव्यं वा द्रव्यम्[1]। तत्राद्रव्यं आकाशः कालो दिग् आत्मा मनः परमाणवः। अनेकद्रव्यं तु द्व्यणुकादिस्कन्धाः। एकद्रव्यं तु द्रव्यमेव न भवति; एकद्रव्यवती च सत्ता। इति द्रव्यलक्षणविलक्षणत्वाद् न द्रव्यम्। एवं न गुणः सत्ता, गुणेषु भावाद्, गुणत्ववत्। यदि हि सत्ता गुणः स्याद् न तर्हि गुणेषु वर्तते, निर्गुणत्वाद् गुणानाम्। वर्तते च गुणेषु सत्ता। सन् गुण इति प्रतीतेः। तथा न सत्ता कर्म, कर्मसु भावात्,

---

विशेष रूप है। इसी तरह गुणत्व चौबीस गुणोंमें रहनेसे सामान्य रूप; तथा द्रव्य और कर्ममें न रहनेसे विशेष रूप है। अतएव गुणत्वकी अपेक्षा रूपत्व आदि, और रूपत्व आदिकी अपेक्षा नीलत्व आदि अपर सामान्य है। इसी प्रकार कर्मत्व पाँच कर्मोंमें रहता है, इसलिए सामान्य, तथा द्रव्य और गुणोंमें नहीं रहता, इसलिए विशेष है, तथा कर्मत्वकी अपेक्षा उत्क्षेपण आदि अपर सामान्य है। (वैशेषिक लोग सामान्यको पर सामान्य और अपर सामान्यके भेदसे दो प्रकारका मानते हैं। इनके मतानुसार पर सामान्य केवल द्रव्य, गुण और कर्म तीन पदार्थोंमें ही रहता है, अन्यत्र नहीं। पर सामान्यको महासामान्य भी कहते हैं। पर सामान्यका विषय अपर सामान्यसे अधिक है। द्रव्यत्व, गुणत्व आदि अपर सामान्यके विषय हैं; 'पदार्थत्व' (द्रव्य, गुण आदि पदार्थोंमें रहनेवाला) पर सामान्यका विषय कहा जा सकता है। अपर सामान्यको सामान्य-विशेष भी कहते हैं। क्योंकि यह अपर सामान्य अपने विशेषोंको सामान्यरूपसे ग्रहण करनेके साथ उनकी अन्य पदार्थोंसे व्यावृत्ति भी करता है। द्रव्यत्व द्रव्योंमें रहता है, इसलिए सामान्य, तथा गुण और कर्मसे व्यावृत्त होता है, इसलिए विशेष कहा जाता है। इसीलिए अपर सामान्यको सामान्य-विशेष भी कहा है।)

पूर्वपक्ष—(१) सत्ता द्रव्य, गुण और कर्मसे भिन्न है (द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता—वैशेषिक-सूत्र १—२—४)—सत्ता द्रव्यत्वकी तरह द्रव्यसे भिन्न है, क्योंकि वह प्रत्येक द्रव्यमें रहती है। जैसे द्रव्यत्व नौ द्रव्योंमें प्रत्येक द्रव्यमें रहता है, इसलिए द्रव्य नहीं कहा जाता, किन्तु सामान्य-विशेषरूप द्रव्यत्व कहा जाता है, इसी तरह सत्ता भी प्रत्येक द्रव्यमें रहनेके कारण द्रव्य नहीं कही जाती। वैशेषिकोंके मतमें अद्रव्यत्व अथवा अनेकद्रव्यत्व ही द्रव्यका लक्षण है। आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन और परमाणु अद्रव्यत्व (जो द्रव्योंसे उत्पन्न नहीं हुआ हो, अथवा द्रव्योंका उत्पादक न हो) के उदाहरण है, क्योंकि न तो आकाश आदि किसी द्रव्यसे बनाये गये हैं, और न किसी द्रव्यके उत्पादक हैं। तथा द्व्यणुकादिस्कंध अनेकद्रव्यत्व (जो अनेक द्रव्योंसे उत्पन्न हुए हों, अथवा अनेक द्रव्यों के उत्पादक हों) के उदाहरण है। एक द्रव्यमें रहनेवाला द्रव्य नहीं होता। सत्ता एक द्रव्यमें रहती है, इसलिए सत्तामें द्रव्यका लक्षण नहीं घटता, अतएव वह द्रव्य नहीं है। इसी प्रकार सत्ता गुण भी नहीं है, क्योंकि वह गुणत्वकी तरह गुणोंमें रहती है। यदि सत्ता गुण होती, तो वह गुणोंमें न रहती, क्योंकि गुणोंमें गुण नहीं रहते। सत्ता गुणोंमें रहती है, और गुण सत् है—ऐसी प्रतीति होती है, इसलिए सत्ता गुणोंमें विद्यमान है। इसी तरह सत्ता कर्म भी नहीं है, क्योंकि वह कर्मत्वकी तरह कर्ममें रहती है। यदि सत्ता कर्म हो, तो कर्ममें न रहे, क्योंकि कर्ममें कर्म नहीं रहते। सत्ता कर्ममें रहती है। अतएव सत्ताको पदार्थान्तर ही मानना चाहिए। (भाव यह है कि वैशेषिक सिद्धान्तके अनुसार सत्ता द्रव्य, गुण और कर्मसे भिन्न पदार्थ है। सत्ताको द्रव्यसे पृथक् बतानेके लिए वैशेषिक लोग 'एकद्रव्यवत्त्व' हेतु देते हैं। उनके मतानुसार द्रव्य 'अद्रव्य' और 'अनेकद्रव्य' के भेदसे दो प्रकारका माना गया है। आकाश, काल आदि द्रव्योंसे उत्पन्न नहीं होते, और न द्रव्योंको उत्पन्न करते हैं, अतएव वे अद्रव्य-द्रव्य हैं। तथा द्व्यणुकादि अनेक द्रव्योंसे उत्पन्न

---

१ द्रव्यं द्विधा। अद्रव्यमनेकद्रव्यं च। न विद्यते द्रव्यं जन्यतया जनकतया च यस्य तद्द्रव्यं द्रव्यम्। यथाकाशकालादि। अनेकं द्रव्यं जन्यतया च जनकतया च यस्य तदनेकद्रव्यं द्रव्यम्।

कर्मत्ववत्। यदि च सत्ता कर्म स्याद् न तर्हि कर्मसु वर्तेत, निष्कर्मत्वात् कर्मणाम्। वर्तते च कर्मसु भावः; सत् कर्मेति प्रतीतेः। तस्मात् पदार्थान्तरं सत्ता॥

तथा विशेषा नित्यद्रव्यवृत्तयः अन्त्याः[१]—अत्यन्तव्यावृत्तिहेतवः, ते द्रव्यादिवैलक्षण्यात् पदार्थान्तरम्। तथा च प्रशस्तकारः—"अन्तेषु भवा अन्त्याः; स्वाश्रयविशेषकत्वाद् विशेषाः। विनाशारम्भरहितेषु नित्यद्रव्येष्वण्वाकाशकालादिगात्ममनस्सु प्रतिद्रव्यमेकैकशो वर्तमाना अत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतवः। यथास्मदादीनां गवादिष्वश्वादिभ्यस्तुल्याकृतिगुणक्रियावयवोपचयावयवविशेषसंयोगनिमित्ता प्रत्ययव्यावृत्तिर्दृष्टा। गौः शुक्लः शीघ्रगतिः पीनः ककुद्मान् महाघण्ट इति; तथास्मद्विशिष्टानां योगिनां नित्येषु तुल्याकृतिगुणक्रियेषु परमाणुषु, मुक्तात्ममनस्सु चान्यनिमित्तासम्भवाद् येभ्यो निमित्तेभ्यः प्रत्याधारं विलक्षणोऽयं विलक्षणोऽयमिति प्रत्ययव्यावृत्तिः देशकालविप्रकृष्टे च परमाणौ स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानं च भवति, तेऽन्त्या विशेषाः" [२]इति। अमी च विशेषरूपा एव न तु द्रव्यत्वादिवत् सामान्यविशेषोभयरूपाः, व्यावृत्तेरेव हेतुत्वात्॥

तथा अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहप्रत्ययहेतुः सम्बन्धः समवाय इति। अयुतसिद्धयोः परस्परपरिहारेण पृथगाश्रयानाश्रितयोराश्रयाश्रयिभावः इह तन्तुषु पटः इत्यादेः प्रत्ययस्यासाधारणं कारणं समवायः। यद्वशात् स्वकारणसामर्थ्यादुपजायमानं पटाद्याधार्यं तन्त्वाद्याधारे सम्बध्यते, यथा छिदिक्रिया छेद्येनेति सोऽपि द्रव्यादिलक्षणवैधर्म्यात् पदार्थान्तरम्। इति षट् पदार्थाः॥

होते हैं, और अनेक द्रव्योंको उत्पन्न करनेवाले हैं, इसलिए वे अनेकद्रव्य-द्रव्य हैं। सत्ता न 'अद्रव्य' है और न 'अनेकद्रव्य'; वह द्रव्यत्वकी तरह प्रत्येक पदार्थमें रहनेवाली है, इसलिए सत्ताका द्रव्यमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता। इसी प्रकार सत्ता गुण और कर्म भी नहीं है, क्योंकि वह गुणत्व और कर्मत्वकी तरह क्रमसे प्रत्येक गुण और कर्ममें रहती है। अतएव सत्ता द्रव्य, गुण और कर्म तीनोंसे भिन्न है।)

तथा, नित्य द्रव्योंमें रहनेवाले अत्यन्त व्यावृत्ति रूप 'विशेष' भी द्रव्यादिसे विलक्षण होनेके कारण पदार्थान्तर हैं। प्रशस्तकारने कहा है "अन्तमें होनेके कारण ये अन्त्य हैं, और अपने आश्रयके नियामक हैं, इसलिये विशेष हैं। ये विशेष आदि और अन्त रहित अणु, आकाश, काल, दिक्. आत्मा और मन—इन नित्य द्रव्योंमें रहते हैं, और अत्यन्त व्यावृत्ति रूप ज्ञानके कारण हैं। जैसे गौ और घोड़े आदिमें तुल्य आकृति, गुण, क्रिया, अवयवोंकी वृद्धि, अवयवोंका संयोग देखकर यह गौ सफेद है, शीघ्र चलनेवाली है, मोटी है, कुब्बेवाली है, महान् घण्टेवाली है आदि रूपसे व्यावृत्तिप्रत्यय (विशेषज्ञान) होता है; वैसे ही हमसे विशिष्ट योगी लोगों को नित्य, तुल्य आकृति, गुण और क्रियायुक्त परमाणुओं में, तथा मुक्त आत्मा और मनमें जिन निमित्तोंके कारण पदार्थोंकी विलक्षणताका ज्ञान होता है, तथा देश और कालकी दूरी होनेपर भी यह वही परमाणु है, यह प्रत्यभिज्ञान होता है, वे विशेष हैं।" ये विशेष विशेष रूप ही हैं, द्रव्यत्व आदिकी तरह सामान्य-विशेष रूप नहीं हैं, क्योंकि ये केवल व्यावृत्तिप्रत्ययके ही हेतु हैं। (भाव यह है कि विशेष सजातीय और विजातीय पदार्थोंके व्यवच्छेद करनेवाले अत्यन्त व्यावृत्ति रूप होते हैं। दो पदार्थोंमें तुल्य आकृति, गुण, क्रिया आदि देखकर उनमें से अन्य पदार्थोंको अलग करके एक पदार्थको जानना विशेष है। ये विशेष विशेष रूप होते हैं,सामान्य-विशेष रूप नहीं।)

अयुतसिद्ध आधार्य, और आधार पदार्थोंका इहप्रत्यय हेतु समवाय सम्बन्ध है। एक दूसरेको छोड़कर भिन्न आश्रयोंमें न रहनेवाले गुण, गुणी आदि अयुतसिद्धोंके 'इन तन्तुओंमें पट है' इत्यादि ज्ञानका असाधारण कारण समवाय है। जैसे छेदन क्रियाका छेद्य (छेदने योग्य) के साथ सम्बन्ध है, वैसे ही जिसके

---

१ अन्तेऽवसाने वर्तन्त इत्यन्त्या यदपेक्षया विशेषो नास्तीत्यर्थः। एकमात्रवृत्तय इति भावः।
२ विशेषप्रकरणे प्रशस्तपादभाष्ये पृ० १६८।

साम्प्रतमक्षरार्थो व्याक्रियते। सतामपीत्यादि। सतामपि—सद्बुद्धिवेद्यतया साधारणानामपि, षण्णां पदार्थानां मध्ये क्वचिदेव केषुचिदेव पदार्थेषु सत्ता—सामान्ययोगः, स्याद्—भवेत्, न सर्वेषु। तेषामेषा वाचोयुक्तिः सदिति। यतो "द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता" इति वचनाद् यत्रैव सत्प्रत्ययस्तत्रैव सत्ता। सत्प्रत्ययश्च द्रव्यगुणकर्मस्वेव, अतस्तेष्वेव, सत्तायोगः। सामान्यादिपदार्थत्रये तु न, तदभावात्। इदमुक्तं भवति। यद्यपि वस्तुस्वरूपं अस्तित्वं सामान्यादित्रयेऽपि विद्यते तथापि तदनुवृत्तिप्रत्ययहेतुर्न भवति। य एव चानुवृत्तिप्रत्ययः स एव सदितिप्रत्यय इति, तदभावाद् न सत्तायोगस्तत्र। द्रव्यादीनां पुनस्त्रयाणां षट्पदार्थसाधारणं वस्तुस्वरूपम् अस्तित्वमपि विद्यते। अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सत्तासम्बन्धोऽप्यस्ति। निःस्वरूपे शशविषाणादौ सत्तायाः समवायाभावात्॥

सामान्यादित्रिके कथं नानुवृत्तिप्रत्ययः इति चेद्, बाधकसद्भावादिति ब्रूमः। तथाहि। सत्तायामपि सत्तायोगाङ्गीकारे अनवस्था। विशेषेषु पुनस्तदभ्युपगमे व्यावृत्तिहेतुत्वलक्षणतत्स्वरूपहानिः। समवाये तु तत्कल्पनायां सम्बन्धाभावः। केन हि सम्बन्धेन तत्र सत्ता सम्बध्यते, समवायान्तराभावात्। तथा च प्रामाणिकप्रकाण्डमुदयनः—

"व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसङ्ग्रहः"[1]॥

द्वारा अपने कारणोंसे उत्पन्न हुआ पटादि आधार्य तन्तु आदिके आधार से रहता है, वह समवाय सम्बन्ध है। अतएव समवाय भी द्रव्य आदिसे विलक्षण होनेके कारण भिन्न पदार्थ है।

'सतामपि क्वचिदेव सत्ता स्यात्'—सत् बुद्धिसे जानने योग्य छह पदार्थोंमें-से कुछ पदार्थोंमें ही सत्ता सामान्य रहता है, सब पदार्थोंमें नहीं। कहा भी है, "द्रव्य, गुण और कर्ममें सत् प्रत्यय होता है", इसलिए द्रव्य, गुण, और कर्ममें ही सत्ता रहती है; सामान्य, विशेष और समवायमें सत्ता नहीं रहती, इसलिए उनमें सत् प्रत्ययका भी अभाव है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि वस्तुका स्वरूप अस्तित्व सामान्य, विशेष और समवायमें रहता है, तथापि वह सामान्य, विशेष और समवायके अनुवृत्तिप्रत्यय (सामान्यज्ञान) का कारण नहीं है। तथा अनुवृत्तिप्रत्ययको ही सत्प्रत्यय कहते हैं। सामान्य आदिमें सत्प्रत्यय नहीं है, इसलिए इनमें सत्ता नहीं रहती। द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन पदार्थोंमें समान रूपसे रहनेवाला वस्तुका स्वरूप अस्तित्व विद्यमान है, तथा अनुवृत्तिप्रत्ययका हेतु सत्तासम्बन्ध भी है, क्योंकि अस्तित्व स्वरूपसे रहित पदार्थोंमें शशविषाणकी तरह सत्ताका समवायन हीं बन सकता, इसलिए द्रव्य, गुण और कर्ममें अस्तित्व और सत्तासम्बन्ध दोनों रहते हैं।

प्रतिवादी—सामान्य, विशेष और समवायमें अनुवृत्तिप्रत्यय (सामान्य ज्ञान) क्यों नहीं होता है? वैशेषिक—सामान्य आदिमें सामान्यज्ञान माननेमें बाधक प्रमाण हैं। क्योंकि 'सामान्य' में सत्ता स्वीकार करनेसे अनवस्था दोष आता है; अर्थात् एक सामान्यमें दूसरा और दूसरेमें तीसरा, इस तरह अनेक सामान्य मानने पड़ते हैं। तथा यदि 'विशेष' पदार्थमें सत्ता मानें, तो विशेषको व्यावृत्तिका कारण नहीं कह सकते। इसी तरह समवायमें सत्ता माननेसे सम्बन्धका अभाव होता है। क्योंकि समवायमें सत्ता कौनसे सम्बन्धसे रहेगी, दूसरा कोई समवाय हम मानते नहीं। प्रकाण्ड नैयायिक उदयनाचार्यने भी कहा है—

"व्यक्तिका अभेद, तुल्यत्व, संकर, अनवस्था, रूपहानि और असम्बन्ध — ये छह जाति (सामान्य) के बाधक हैं।"

(भाव यह है कि (१) सामान्य एक व्यक्तिमें नहीं रहता। जैसे आकाशमें आकाशत्व-सामान्य नहीं

---

१. उदयनाचार्यविरचितकिरणावल्यां द्रव्यप्रकरणे पृष्ठ १६१। अस्य व्याख्या—(१) आकाशत्वं न जातिः। व्यक्त्यैक्यात्। (२) घटकलशत्वे न जातिः। व्यक्तितुल्यत्वात्। (३) भूतत्वमूर्तत्वे न जातिः।

इति । ततः स्थितमेतत्सतामपि स्यात् कचिदेव सत्तेति ॥

तथा, चैतन्यमित्यादि । चैतन्यं–ज्ञानम्, आत्मनः–क्षेत्रज्ञाद्, अन्यद्–अत्यन्तव्यतिरिक्तम्, असमासकरणादत्यन्तमिति लभ्यते । अत्यन्तभेदे सति कथमात्मनः सम्बन्धि ज्ञानमिति व्यपदेशः, इति पराशङ्कापरिहारार्थं औपाधिकमिति विशेषणद्वारेण हेत्वभिधानम् । उपाधेरागतमौपाधिकम्–समवायसम्बन्धलक्षणेनोपाधिना आत्मनि समवेतम्, आत्मनः स्वयं जडरूपत्वात् समवायसम्बन्धोपढौकितमिति यावत् । यद्यात्मनो ज्ञानादव्यतिरिक्तत्वमिष्यते, तदा दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये[1] तदनन्तराभावाद् बुद्धयादीनां नवानामात्मविशेषगुणानामुच्छेदावसर आत्मनोऽप्युच्छेदः स्यात्, तदव्यतिरिक्तत्वात् । अतो भिन्नमेवात्मनो ज्ञानं यौक्तिकमिति ॥

तथा न संविदित्यादि । मुक्तिः–मोक्षः, न संविदानन्दमयी–न ज्ञानसुखस्वरूपा । संविद्–ज्ञानं, आनन्दः–सौख्यम्, ततो द्वन्द्वः, संविदानन्दौ प्रकृतौ यस्यां सा संविदानन्दमयी । एतादृशी न भवति बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काररूपाणां नवानामात्मनो वैशेषिक-

---

रहता, क्योंकि आकाश एक व्यक्ति रूप है । (२) घटत्व और कलशत्व में भी सामान्य नहीं रहता, क्योंकि घटत्व और कलशत्व दोनों एक ही पदार्थमें रहते हैं (तुल्यत्व) । (३) भूतत्व और मूर्तत्वमें भी सामान्य नहीं रहता, क्योंकि इसमें संकर दोष आता है । अर्थात् भूतत्व केवल आकाशमें और मूर्तत्व केवल मनमें रहता है; लेकिन पृथिवी, अप्, तेज और वायुमें भूतत्व और मूर्तत्व दोनों रहते हैं, इसलिए संकर दोप आनेसे भूतत्व और मूर्तत्वमें भी सामान्य नहीं रहता । (४) अनवस्था दोष आनेसे सामान्य में भी सामान्य नहीं रहता । (५) विशेष में भी सामान्य नहीं है, क्योंकि विशेषमें सामान्य माननेसे विशेषके स्वरूपकी हानि होती है । (६) समवायमें भी सामान्य नहीं रहता, क्योंकि समवाय एक है, समवायमें समवायत्वका सम्बन्ध करनेवाला दूसरा समवाय नहीं है ।)

अतएव सिद्ध है कि सत् पदार्थोंमें भी सबमें सत्ता नहीं रहती ।

(२) ज्ञान आत्मासे अत्यन्त भिन्न है । समास न करनेसे 'अत्यन्त' अर्थ प्राप्त होता है । 'ज्ञान के आत्मासे सर्वथा भिन्न होनेपर, ज्ञान और आत्माका सम्बन्ध कैसे रहता है ?' जैनों की इस शंकाका परिहार करनेके लिए 'औपधिक' विशेषण-द्वारा हेतुका प्रतिपादन किया गया है । जो उपधिसे प्राप्त होता है, वह औपधिक है । समवाय सम्बन्ध रूप उपधि के कारण आत्मामें जो सम्बन्धको प्राप्त होता है वह औपधिक है; अर्थात् ज्ञान आत्मासे सर्वथा भिन्न होनेपर भी समवाय सम्बन्धसे आत्मासे सम्बद्ध है । ज्ञान आत्माका गुण नहीं है, वह उससे सर्वथा भिन्न है । आत्मा स्वयं जड़ है, इसलिए ज्ञान आत्मामें समवाय सम्बन्धसे रहता है । यदि आत्मा और ज्ञानको एक ही माना जाय, तो दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोप और मिथ्याज्ञानके नाश होनेपर आत्मा के विशेपगुण बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार का उच्छेद होनेसे आत्माका भी अभाव हो जाना चाहिए, क्योंकि जैनमतमें आत्मा इन गुणोंसे भिन्न नहीं है । अतएव आत्मा और ज्ञानका भिन्न मानना ही युक्तियुक्त है ।

(३) मोक्ष ज्ञान और आनन्द रूप नहीं है, क्योंकि आत्माके गुण बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार—आत्माके इन नौ विशेप गुणोंका अत्यंत उच्छेद हो जाना ही मुक्ति है, ऐसा कहा

आकाशे भूतत्वस्यैव मनसि च मूर्तत्वस्यैव सद्भावेऽपि पृथिव्यादिचतुष्टय उभयोः सद्भावात् संकरप्रसंगः । (४) जातेरपि जात्यन्तरांगीकारेऽनवस्थाप्रसंगः । (५) अन्त्यविशेषता न जातिः । तदंगीकारे तत्स्वरूपव्यावृत्तिहानिः स्यात् । (६) समवायत्वं न जातिः । सम्बन्धाभावात् । इत्येते जातिबाधकाः ॥

१. तत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञानापाये रागद्वेषमोहाख्या दोषा अपयान्ति, दोषापाये वाङ्मनःकायव्यापाररूपायाः शुभाशुभफलायाः प्रवृत्तेरपायः । प्रवृत्त्यपाये जन्मापायः । जन्मापाये एकविंशतिभेदस्य दुःखस्यापायः ।

गुणानामत्यन्तोच्छेदो मोक्ष इति वचनात्। चशब्दः पूर्वोक्ताभ्युपगमद्वयसमुच्चये। ज्ञानं हि क्षणिकत्वादनित्यं, सुखं च सप्रक्षयतया सातिशयतया च न विशिष्यते संसारावस्थातः। इति तदुच्छेदे आत्मस्वरूपेणावस्थानं मोक्ष इति। प्रयोगश्चात्र–नवानामात्मविशेषगुणानां सन्तानः अत्यन्तमुच्छिद्यते, सन्तानत्वात्, यो यः सन्तानः स सोऽत्यन्तमुच्छिद्यते, यथा प्रदीपसन्तानः। तथा चायम्, तस्मात्तदत्यन्तमुच्छिद्यते इति। तदुच्छेद एव महोदयः, न कृत्स्नकर्मक्षयलक्षण इति। "न हि वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः"[1]। इत्यादयोऽपि वेदान्तास्तादृशीमेव मुक्तिमादिशन्ति। अत्र हि प्रियाप्रिये सुखदुःखे, ते चाशरीरं मुक्तं न स्पृशतः। अपि च–

"यावदात्मगुणाः सर्वे नोच्छिन्ना वासनादयः।
तावदात्यन्तिकी दुःखव्यावृत्तिर्न विकल्प्यते॥ १॥
धर्माधर्मनिमित्तो हि सम्भवः सुखदुःखयोः।
मूलभूतौ च तावेव स्तम्भौ संसारसद्मनः॥ २॥
तदुच्छेदे च तत्कार्यशरीराद्यनुपप्लवात्।
नात्मनः सुखदुःखे स्त इत्यसौ मुक्त उच्यते॥ ३॥
इच्छाद्वेषप्रयत्नादि भोगायतनबन्धनम्।
उच्छिन्नभोगायतनो नात्मा तैरपि युज्यते॥ ४॥
तदेवं धिषणादीनां नवानामपि मूलतः।
गुणानामात्मनो ध्वंसः सोऽपवर्गः प्रतिष्ठितः॥ ५॥
ननु तस्यामवस्थायां कीदृगात्मावशिष्यते।
स्वरूपैकप्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः॥ ६॥

है। ज्ञान क्षणिक है, इसलिये वह अनित्य है, और सुखमें हानि, वृद्धि होती रहती है, इसलिये सुख संसारकी अवस्थासे भिन्न नहीं है। अतएव जिस समय अनित्य ज्ञान और अनित्य सुखका उच्छेद हो जाता है, उस समय आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित होता है, वही मोक्ष है। अनुमान प्रयोगसे यह सिद्ध है—'मोक्षमें बुद्धि आदि आत्माके नौ विशेष गुणोंका सर्वथा नाश हो जाता है, क्योंकि बुद्धि आदि सन्तान हैं। (अर्थात् आत्माके नित्य स्वभाव नहीं हैं)। जो जो सन्तान होते हैं, उनका सर्वथा नाश होता है, जैसे प्रदीपकी सन्तान। बुद्धि आदि विशेष गुण भी सन्तान हैं, इसलिए उनका भी नाश होता है। बुद्धि आदि गुणोंका अत्यन्त नाश ही मोक्ष है, सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय होना नहीं।' वेदान्तियोंने भी इसी प्रकारका मोक्ष माना है। उनका कथन है—"शरीरधारियोंके सुख-दुखका नाश नहीं होता, तथा अशरीरीको सुख-दुख स्पर्श नहीं करते।" तथा—

"जब तक वासना आदि आत्माके सम्पूर्ण गुण नष्ट नहीं होते तब तक दुःखकी अत्यन्त व्यावृत्ति नहीं होती॥ १॥

सुख-दुःख धर्म और अधर्मसे ही सम्भव है, इसलिये धर्म-अधर्म ही संसारके मूल भूत स्तम्भ हैं॥ २॥

धर्म और अधर्मके नाश हो जानेपर धर्म-अधर्मके कार्य शरीर आदिका नाश हो जाता है। उस समय सुख-दुःख भी नष्ट हो जाते हैं। यही मुक्तावस्था है॥ ३॥

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि शरीरके कारण हैं, अतएव शरीरके उच्छेद होनेपर आत्मा इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदिसे भी सम्बद्ध नहीं होती॥ ४॥

इसलिये बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार—आत्माके इन नौ गुणोंका जड़मूलसे नष्ट हो जाना ही मोक्ष है॥ ५॥

---

१. न हि वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति अशरीरं वा वसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः॥ इति छान्दोग्य० उ० ८-१२।

ऊर्मिषट्कातिगं रूपं तदस्याहुर्मनीषिणः
संसारबन्धनाधीनदुःखशोकाद्यदूषितम्[१] ॥ ७ ॥
-कामक्रोधलोभगर्वदम्भहर्षाः ऊर्मिषट्कमिति ।"

तदेतदभ्युपगमत्रयमित्थं समर्थयद्भिः अत्वदीयैः-त्वदाज्ञाबहिर्भूतैः कणादमतानुगामिभिः, सुसूत्रमासूत्रितम्-सम्यगागमः प्रपञ्चितः। अथवा सुसूत्रमिति क्रियाविशेषणम्। शोभनं सूत्रं वस्तुव्यवस्थाघटनाविज्ञानं यत्रैवमासूत्रितं-तत्तच्छास्त्रार्थोपनिबन्धः कृतः, इति हृदयम्। "सूत्रं तु सूचनाकारि ग्रन्थे तन्तुव्यवस्थयोः[२]"। इत्यनेकार्थवचनात्। अत्र च सुसूत्रमिति विपरीतलक्षणयोपहासगर्भं प्रशंसावचनम्। यथा-"उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता चिरम्[३]।" इत्यादि। उपहसनीयता च युक्तिरिक्तत्वात् तदङ्गीकरणम्। तथाहि। अविशेषेण सद्बुद्धिवेद्येष्वपि सर्वपदार्थेषु द्रव्यादिष्वेव त्रिषु सत्तासम्बन्धः स्वीक्रियते, न सामान्यादित्रये इति महतीयं पश्यतोहरता[४]। यतः परिभाव्यतां सत्ताशब्दार्थः। अस्तीति सन् सतो भावः सत्ता अस्तित्वं तद्वस्तुस्वरूपं। तच्च निर्विशेषमशेषेष्वपि पदार्थेषु त्वयाप्युक्तम्[५]। तत्किमिदमर्द्धजरतीयं[६] यद् द्रव्यादित्रय एव सत्तायोगो, नेतरत्र त्रये इति ॥

अनुवृत्तिप्रत्ययाभावाद् न सामान्यादित्रये सत्तायोग इति चेत्, न। तत्राप्यनुवृत्तिप्रत्ययस्यानिवार्यत्वात्। पृथिवीत्वगोत्वघटत्वादिसामान्येषु सामान्यं सामान्यमिति; विशेषेष्वपि बहुत्वाद् अयमपि विशेषोऽयमपि विशेष इति; समवाये च प्रागुक्तयुक्त्या तत्तदवच्छेदकभेदाद् एकाकारप्रतीतेरनुभवात् ॥

मोक्षावस्थामें आत्मा सम्पूर्ण गुणोंसे रहित होकर अपने ही स्वरूपमें अवस्थित रहता है ॥ ६ ॥

मुक्त जीव संसारके बन्धन दुःख, शोक आदिसे मुक्त होता हुआ काम, क्रोध, लोभ, गर्व, दम्भ और हर्ष (अथवा क्षुधा, पिपासा, शोक, मूढ़ता, जरा और मृत्यु) इन छह ऊर्मियोंसे निर्लिप्त रहता है ॥ ७ ॥"

उत्तरपक्ष—(१) इस प्रकार आपकी आज्ञासे बाह्य कणाद मतानुयायी वैशेषिक लोग उपर्युक्त सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करते हैं ('सुसूत्र' शब्द यहाँ पर कटाक्षसूचक है, जैसे "उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता चिरम्। विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व ततः शरदां शतम् ॥" इस श्लोकमें कटाक्ष किया गया है)। सब पदार्थोंके सत् बुद्धिसे ज्ञेय होने पर भी वैशेषिक लोग द्रव्य, गुण और कर्ममें, ही सत्ता-सम्बन्ध स्वीकार करते हैं, सामान्य, विशेष और समवायमें नहीं—यह उनका महान् साहस है। क्योंकि सत् (अस्तित्व) के भावको सत्ता कहते हैं, यह अस्तित्व वस्तुका स्वरूप है। अस्तित्वको आप लोगोंने भी सम्पूर्ण पदार्थोंमें स्वीकृत किया है, फिर आप लोग द्रव्य, गुण और कर्ममें ही सत्ता मानते हैं, और सामान्य विशेष और समवायमें नहीं, इसका क्या कारण है ? यह ऐसी ही बात है जैसे कोई स्त्री आधी वृद्धा हो और आधी युवती।

शंका—सामान्य आदिमें अनुवृत्तिप्रत्यय (सामान्य ज्ञान) नहीं होता, इसलिये इनमें सत्ता सम्बन्ध नहीं है। **समाधान**—सामान्य, विशेष और समवायमें अनुवृत्तिप्रत्यय अवश्य होता है। क्योंकि पृथिवीत्व, गोत्व, घटत्व आदि सामान्योंमें 'यह सामान्य है;' विशेषोंमें 'यह विशेष है,' 'वह विशेष है;' और समवायमें

---

१. जयन्तविरचितन्यायमञ्जर्यां पृ० ५०८। ऊर्मिषट्कं तत्र—
प्राणस्य क्षुत्पिपासे द्वे लोभमोहौ च चेतसः।
शीतातपौ शरीरस्य षडूर्मिरहितः शिवः ॥
२. हेमचन्द्रकृतेऽनेकार्थसंग्रहे २-४५८।
३. "विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व ततः शरदां शतम्" इत्युत्तरार्धम्।
४ पश्यतोहरता चौर्यम्।
५. 'षण्णां पदार्थानां साधर्म्यमस्तित्वं ज्ञेयत्वमभिधेयत्वं च' इति प्रशस्तकारवचनात्।
६. अर्धा जरती अर्धा युवतिरितिवत्।

स्वरूपसत्त्वसाधर्म्येण सत्ताध्यारोपात् सामान्यादिष्वपि सत्सदित्यनुगम इति चेत्, तर्हि मिथ्याप्रत्ययोऽयमापद्यते। अथ भिन्नस्वभावेष्वेकानुगमो मिथ्यैवेति चेद् द्रव्यादिष्वपि सत्ताध्यारोपकृत एवास्तु प्रत्ययानुगमः। असति मुख्येऽध्यारोपस्यासम्भवाद् द्रव्यादिषु मुख्योऽयमनुगतः प्रत्ययः, सामान्यादिषु तु गौण इति चेत्। न। विपर्ययस्यापि शक्यकल्पनत्वात्॥

सामान्यादिषु बाधकसम्भवाद् न मुख्योऽनुगतः प्रत्ययः, द्रव्यादिषु तु तदभावाद् मुख्य इति चेद्, ननु किमिदं बाधकम्। अथ सामान्येऽपि सत्ताऽभ्युपगमे अनवस्था, विशेषेषु पुनः सामान्यसद्भावे स्वरूपहानिः, समवायेऽपि सत्ताकल्पने तद्वृत्त्यर्थं सम्बन्धान्तराभाव इति बाधकानीति चेत्, न। सामान्येऽपि सत्ताकल्पने यद्यनवस्था, तर्हि कथं न सा द्रव्यादिषु। तेषामपि स्वरूपसत्तायाः प्रागेव विद्यमानत्वात्। विशेषेषु पुनः सत्ताभ्युपगमेऽपि न रूपहानिः, स्वरूपस्य प्रत्युतोत्तेजनात्। निःसामा[1]न्यस्य विशेषस्य क्वचिदप्यनुपलम्भात्। समवायेऽपि समवायत्वलक्षणायाः स्वरूपसत्तायाः स्वीकारे उपपद्यत एवाविष्वग्भावात्मकः सम्बन्धः, अन्यथा तस्य स्वरूपाभावप्रसङ्गः। इति बाधकाभावात् तेष्वपि द्रव्यादिवद् मुख्य एव सत्तासम्बन्ध इति व्यर्थं द्रव्यगुणकर्मस्वेव सत्ताकल्पनम्॥

'यह घट समवाय है,' 'यह पट समवाय है' यह सामान्य ज्ञान होता ही है।

शंका—जिस प्रकार द्रव्य आदिमें स्वरूप सत्ताके साधर्म्यसे सत्ता रहती है, उसी प्रकार सामान्य आदिमें भी उपचारसे सत्ता विद्यमान है, इसलिये सामान्य आदिमें 'यह सत् है' ऐसा ज्ञान होता है। **समाधान**—यदि सामान्य आदिमें सत्ताको उपचारसे स्वीकार करोगे, तो सामान्य आदिमें सत्का ज्ञान भी मिथ्या मानना चाहिये। यदि कहो कि भिन्न स्वभाववाले पदार्थोंमें एकताकी प्रतीति मिथ्या ही है, तो इस तरह द्रव्य, गुण और कर्ममें भी सत्ताको उपचारसे मानकर सत्का ज्ञान मिथ्या मानना चाहिये। यदि कहो कि मुख्यका अभाव होने पर उपचारका सम्भव होनेसे 'यह सत् है', इस प्रकारका अनुवृत्तिज्ञान द्रव्य, गुण और कर्ममें मुख्य रूपसे तथा सामान्य, विशेष और समवायमें गौण रूपसे होता है; अर्थात् द्रव्यादिमें मुख्य सत्ता स्वीकार करके ही सामान्य आदिमें उपचार सत्ता मानी जा सकती है, क्योंकि मुख्य अर्थके न होनेपर ही उपचार होता है, तो हमारा (जैनोंका) उत्तर है कि मुख्य और गौण सत्ताकी इससे उल्टी कल्पना भी की जा सकती है, अर्थात् सामान्य आदिमें मुख्य और द्रव्यादिमें गौण सत्ता भी मान सकते हैं।

शंका—द्रव्य आदिमें मुख्य सत्ता माननेसे कोई बाधा नहीं आती, लेकिन सामान्य आदिमें मुख्य सत्ता स्वीकार करनेसे बाधा आती है। ऊपर कहा भी है कि सामान्यमें सामान्य माननेसे अनवस्था, विशेषमें सामान्य माननेसे रूपहानि, और समवायमें सामान्य माननेसे समवायान्तरका असम्बन्ध—दोष आते हैं। **समाधान**—यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि सामान्यमें सत्ता माननेसे अनवस्था दोष आता है, तो द्रव्य, गुण, कर्ममें सत्ता माननेसे भी अनवस्था दोष क्यों नहीं आना चाहिए? क्योंकि सामान्यमें स्वरूप सत्ताकी तरह द्रव्य, गुण और कर्ममें भी पहलेसे ही स्वरूपसत्ता विद्यमान है। तथा, विशेषोंमें सत्ता अंगीकार करनेपर स्वरूपकी हानि नहीं होती, बल्कि विशेषोंमें सामान्य माननेपर उल्टी विशेषोंकी सिद्धि होती है; क्योंकि सामान्यरहित विशेष कहीं भी नहीं पाये जाते। इसी तरह समवायमें भी समवायरूप सत्ता स्वीकार करनेपर तादात्म्य सम्बन्ध सिद्ध होता है; क्योंकि यदि समवाय समवायत्वरूप स्वरूप सत्ता न मानें, तो समवायके स्वरूप का ही अभाव होगा। इसलिये सामान्य आदिमें भी द्रव्यादिकी तरह मुख्य सत्ता माननेसे कोई बाधा नहीं आती, अतएव इनमें भी मुख्य सत्ता ही माननी चाहिये। अतएव द्रव्य, गुण, कर्ममें ही सत्ता है और सामान्य, विशेष और समवायमें नहीं, यह कल्पना व्यर्थ है।

---

१. "निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत्खरविषाणवत्। सामान्यरहितत्वे तु विशेषास्तद्वदेव हि"॥

किञ्च, तर्वादिभिर्यो द्रव्यादित्रये मुख्यः सत्तासम्बन्धः कक्षीकृतः, सोऽपि विचार्यमाणो विशीर्येत। तथाहि। यदि द्रव्यादिभ्योऽत्यन्तविलक्षणा सत्ता, तदा द्रव्यादीन्यसद्रूपाणि स्युः। सत्तायोगात् सत्त्वमस्त्येवेति चेत्, असतां सत्तायोगेऽपि कुतः सत्त्वम्। सतां तु निष्फलः सत्तायोगः। स्वरूपसत्त्वं भावानामस्त्येवेति चेत्, तर्हि किं शिखण्डिना सत्तायोगेन। सत्तायोगात् प्राग् भावो न सन्, नाप्यसन्, सत्तायोगात् तु सन्निति चेद्, वाङ्मात्रमेतत्। सदसद्विलक्षणस्य प्रकारान्तरस्यासम्भवात्। तस्मात् 'सतामपि स्यात् कचिदेव सत्ते'ति तेषां वचनं विदुषां परिषदि कथमिव नोपहासाय जायते॥

ज्ञानमपि यद्येकान्तेनात्मनः सकाशाद् भिन्नमिष्यते, तदा तेन चैत्रज्ञानेन मैत्रस्येव नैव विषयपरिच्छेदः स्यादात्मनः। अथ यत्रैवात्मनि समवायसम्बन्धेन समवेतं ज्ञानं तत्रैव भावावभासं करोतीति चेत्, न। समवायस्यैकत्वाद् नित्यत्वाद् व्यापकत्वाच्च सर्वत्र वृत्तेरविशेषात् समवायवदात्मनामपि व्यापकत्वादेकज्ञानेन सर्वेषां विषयावबोधप्रसङ्गः। यथा च घटे रूपादयः समवायसम्बन्धेन समवेताः, तद्विनाशे च तदाश्रयस्य घटस्यापि विनाशः, एवं ज्ञानमप्यात्मनि समवेतं, तच्च क्षणिकं, ततस्तद्विनाशे आत्मनोऽपि विनाशापत्तेरनित्यत्वापत्तिः॥

अथास्तु समवायेन ज्ञानात्मनोः सम्बन्धः। किन्तु स एव समवायः केन तयोः सम्बध्यते? समवायान्तरेण चेद् अनवस्था। स्वेनैव चेत् किं न ज्ञानात्मनोरपि तथा। अथ यथा

तथा, वैशेषिकोंने द्रव्य, गुण और कर्ममें जो मुख्य सत्ता स्वीकार की है, वह भी विचार करनेसे युक्तियुक्त नहीं ठहरती। क्योंकि यदि सत्ता द्रव्य आदिसे अत्यन्त भिन्न है, तो द्रव्यादिको असत् मानना चाहिए। यदि द्रव्यादिको सत्ताके सम्बन्धसे सत् मानो तो स्वयं असत् द्रव्यादि सत्ताके सम्बन्धसे भी सत् कैसे हो सकते हैं? और यदि द्रव्यादि स्वयं सत् हैं, तो फिर उनमें सत्ताका सम्बन्ध मानना ही निष्प्रयोजन है। अर्थात् यदि पदार्थोंमें स्वरूपसत्त्व स्वीकार करनेपर भी सत्ता मानी जाये तो ऐसी अकार्यकारी सत्ताका सम्बन्ध माननेसे ही क्या प्रयोजन? यदि कहो कि सत्ताके सम्बन्धसे पहले द्रव्यादि पदार्थ न सत् थे, न असत्, किन्तु सत्ताके सम्बन्धसे सत्रूप होते हैं तो यह भी कथनमात्र है। क्योंकि सत् और असत्से विलक्षण कोई प्रकारान्तर आपके मतमें सम्भव नहीं जिससे आप लोग सत्ता सम्बन्धके पहले द्रव्यको 'न सत्' और 'न असत्' रूप मान सकें। अतएव 'सत् पदार्थोंमें भी सब पदार्थोंमें सत्ता नहीं रहती'—वैशेषिकोंका यह वचन उपहासके ही योग्य है।

(२) यदि ज्ञानको आत्मासे सर्वथा भिन्न मानो तो मैत्रसे भिन्न चैत्रके ज्ञानसे जिस प्रकार मैत्रको विषयोंका ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार आत्मासे सर्वथा भिन्न ज्ञानसे आत्माको (ज्ञेय) विषयोंका ज्ञान नहीं होगा। (अर्थात् जैसे मैत्रसे चैत्रका ज्ञान भिन्न है, इसलिए चैत्रके ज्ञानसे मैत्रकी आत्माको पदार्थका ज्ञान नहीं होता, वैसे ही चैत्रका ज्ञान भी चैत्रकी आत्मासे भिन्न है, इस कारण चैत्रके ज्ञानसे चैत्रकी आत्माको भी पदार्थका ज्ञान न होना चाहिए)। यदि कहो कि जिस आत्मामें ज्ञान समवाय सम्बन्धसे विद्यमान है, उसी आत्मामें ज्ञान पदार्थोंको जानता है, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि समवाय एक, नित्य और व्यापक है, इसलिए वह सब पदार्थोंमें समान रूपसे रहता है। तथा समवायकी तरह आत्मा भी व्यापक है, इसलिए एक आत्मामें ज्ञान होनेसे सब आत्माओंको पदार्थोंका ज्ञान होना चाहिये। तथा जिस प्रकार रूपादि घटमें समवाय सम्बन्धसे रहते हैं, उसी तरह ज्ञान भी आत्मामें समवाय सम्बन्धसे रहता है। और जैसे रूपादिका नाश होनेपर रूपादिके आश्रय घटादिका भी नाश होता है, वैसे ही क्षणिक ज्ञानके नाश होनेपर आत्माका भी नाश हो जाना चाहिये। इस तरह आत्मा अनित्य ठहरती है।

यदि समवायसे ज्ञान और आत्माका सम्बन्ध मान भी लिया जाय, तो वह समवाय आत्मा और ज्ञानमें कौनसे सम्बन्धसे रहता है? यदि ज्ञान और आत्मामें रहनेवाला समवाय दूसरे समवायसे रहता है तो इस प्रकार अनन्त समवाय माननेसे अनवस्था दोष आता है। यदि कहो कि समवायमें समवायान्तर मानने की

प्रदीपस्तत्स्वाभाव्याद् आत्मनं, परं च प्रकाशयति, तथा समवायस्येदृगेव स्वभावो यदात्मानं, ज्ञानात्मानौ च सम्बन्धयतीति चेत, ज्ञानात्मनोरपि किं न तथास्वभावता, येन स्वयमेवैतौ सम्बध्येते। किञ्च, प्रदीपदृष्टान्तोऽपि भवत्पक्षे न जाघटीति। यतः प्रदीपस्तावद् द्रव्यं, प्रकाशश्च तस्य धर्मः, धर्मधर्मिणोश्च त्वयात्यन्तं भेदोऽभ्युपगम्यते तत्कथं प्रदीपस्य प्रकाशात्मकता ? तदभावे च स्वपरप्रकाशस्वभावता भणितिर्निर्मूलैव ॥

यदि च प्रदीपात् प्रकाशस्यात्यन्तभेदेऽपि प्रदीपस्य स्वपरप्रकाशकत्वमिष्यते, तदा घटादीनामपि तदनुपज्यते, भेदाविशेषात्। अपि च तौ स्वपरसम्बन्धस्वभावौ समवायाद् भिन्नौ स्याताम्, अभिन्नौ वा ? यदि भिन्नौ, ततस्तस्यैतौ स्वभावाविति कथं सम्बन्धः। सम्बन्धनिबन्धनस्य समवायान्तरस्यानवस्थाभयादनभ्युपगमात्। अथाभिन्नौ, ततः समवायमात्रमेव। न तौ। तदव्यतिरिक्तत्वात् तत्स्वरूपवदिति। किञ्च, यथा इह समवायिषु समवाय इति मतिः समवायं विनाप्युपपन्ना, तथा इहात्मनि ज्ञानमित्ययमपि प्रत्ययस्तं विनैव चेदुच्यते तदा को दोषः ॥

अथात्मा कर्ता, ज्ञानं च करणं, कर्तृकरणयोश्च वर्धकिवासीव[1] भेद एव प्रतीतः, तत्कथं ज्ञानात्मनोरभेदः इति चेत्, न। दृष्टान्तस्य वैषम्यात्। वासी हि बाह्यं करणं, ज्ञानं चान्तरं,

---

आवश्यकता नहीं, समवाय अपने आप ही रहता है तो ज्ञान और आत्मामें भी वह अपने आप ही क्यों नहीं रहता ? यदि आप लोग कहें कि जैसे दीपक स्वप्रकाशन स्वभाववाला होनेसे अपने आपको और दूसरेको प्रकाशित करता है, वैसे ही समवायका इसी प्रकारका स्वभाव है कि जब वह ज्ञान और आत्माके साथ अपना सम्बन्ध कराता है तथा ज्ञान और आत्माका भी सम्बन्ध कराता है, तो फिर ज्ञान और आत्मा का उस प्रकारका स्वभाव क्यों नहीं मान लेते, जिसके कारण ये दोनों अपने-आप ही अन्योन्य सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं ? तथा, इस कथनकी पुष्टिमें दीपकका दृष्टान्त ही नहीं घटता; क्योंकि दीपक द्रव्य है, और प्रकाश उसका धर्म है। तथा, आप लोग धर्म और धर्मीका अत्यंन्त भेद मानते हैं, अतएव दीपक प्रकाश रूप कैसे हो सकता है ? दीपकके प्रकाश रूप न रहनेसे आपने जो दीपकको स्वपर-प्रकाशक कहा, वह निराधार ही सिद्ध होगा।

यदि दीपकसे प्रकाशके अत्यन्त भिन्न होनेपर भी दीपकको स्वपर-प्रकाशक कहो, तो घट आदिको भी स्वपर-प्रकाशक कहनेमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये, क्योंकि दीपककी तरह घट आदि भी प्रकाशसे अत्यन्त भिन्न हैं। तथा, समवायियोंके साथ अपना सम्बन्ध करानेका स्वभाव तथा समवायियोंका एक दूसरेसे सम्बन्ध करानेका स्वभाव—समवायके ये दोनों स्वभाव समवायसे भिन्न हैं या अभिन्न ? यदि ये दोनों स्वभाव समवायसे भिन्न हों तो समवायियोंके साथ अपना सम्बन्ध करानेका तथा समवायियोंका एक दूसरेके साथ सम्बन्ध करानेमें कारणभूत अन्य समवायको अनवस्थाके भयसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। फिर, ये दोनों स्वभाव समवायके हैं, इस प्रकार समवाय और उसके दोनों स्वभावोंका सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? यदि समवायके ये दोनों स्वभाव समवायसे अभिन्न हैं तो फिर उसे समवायमात्र ही कहना चाहिये। समवायका स्वरूप समवायत्व समवाय से भिन्न न होनेसे जिस प्रकार स्वतन्त्र नहीं होता, उसी प्रकार ये दोनों स्वभाव समवायसे भिन्न न होनेसे स्वतन्त्र नहीं हो सकते। तथा, जैसे 'इन समवायियोंमें समवाय है' यह बुद्धि प्रत्येक समवाय और समवायान्तरके बिना माने भी हो सकती है, इसी तरह 'इस आत्मामें ज्ञान है' यह ज्ञान भी समवायको भिन्न पदार्थ माने बिना ही क्यों नहीं होता ?

शंका—आत्मा कर्ता है, और ज्ञान करण है। जैसे, बढ़ई कर्ता है, और वह अपनेसे भिन्न कुठार रूप करणसे कार्यको करता है, वैसे ही आत्मा कर्ता है, और वह अपनेसे भिन्न ज्ञान रूप करणसे पदार्थको जानता है, अतएव ज्ञान और आत्मा भिन्न हैं। **समाधान**—यह ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ पर बढ़ई और

---

१. वर्धकिस्त्वष्टा, वासी तच्छस्त्रम्।

तत्कथमनयोः साधर्म्यम् । न चैवं करणस्य द्वैविध्यमप्रसिद्धम् । यदाहुर्लाक्षणिकाः—

"करणं द्विविधं ज्ञेयं बाह्यमाभ्यन्तरं बुधैः ।
यथा लुनाति दात्रेण मेरुं गच्छति चेतसा" ॥

यदि हि किञ्चित्करणमान्तरमेकान्तेन भिन्नमुपदर्श्यते, ततः स्याद् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साधर्म्यम्, न च तथाविधमस्ति । न च बाह्यकरणगतो धर्मः सर्वोऽप्यान्तरे योजयितुं शक्यते, अन्यथा दीपेन चक्षुषा देवदत्तः पश्यतीत्यत्रापि दीपादिवत् चक्षुषोऽप्येकान्तेन देवदत्तस्य भेदः स्यात् । तथा च सति लोकप्रतीतिविरोध इति ॥

अपि च, साध्यविकलोऽपि वासीवर्धकिदृष्टान्तः । तथाहि । नायं वर्धकिः 'काष्ठमिदमनया वास्या घटयिष्ये' इत्येवं वासीग्रहणपरिणामेनापरिणतः सन् तामगृहीत्वा घटयति, किन्तु तथा परिणतस्तां गृहीत्वा । तथा परिणामे च वासिरपि तस्य काष्ठस्य घटने व्याप्रियते पुरुषोऽपि । इत्येवंलक्षणैककार्थसाधकत्वात् वासीवर्धक्योरभेदोऽप्युपपद्यते । तत्कथमनयोर्भेद एव इत्युच्यते । एवमात्मापि 'विवक्षितमर्थमनेन ज्ञानेन ज्ञास्यामि' इति ज्ञानग्रहणपरिणामवान् ज्ञानं गृहीत्वार्थं व्यवस्यति । ततश्च ज्ञानात्मनोरुभयोरपि संवित्तिलक्षणैककार्यसाधकत्वादभेद एव । एवं कर्तृकरणयोरभेदे सिद्धे संवित्तिलक्षणं कार्यं किमात्मनि व्यवस्थितं, आहोस्विद् विषये इति वाच्यम् । आत्मनि चेत्, सिद्धं नः समीहितम् । विषये चेत्, कथमात्मनोऽनुभवः प्रतीयते ।

कुठारका दृष्टान्त विषम है । कारण कि कुठार बाह्य और ज्ञान आभ्यन्तर करण है, इसलिये दोनोंमें साधर्म्य नहीं हो सकता । इन बाह्य और अन्तरंग करणोंको वैयाकरणोंने भी स्वीकार किया है—

"बाह्य और अन्तरंगके भेदसे करण दो प्रकारका है । जैसे, वह कुठारसे काटता है, यहाँ कुठार बाह्य करण है; और वह मनसे मेरु पर्वतपर पहुँचता है, यहाँ मन अन्तरंग करण है ।"

अतएव जैसे कुठार रूप बाह्य करण बढ़ई रूप कर्तासे भिन्न है, वैसे ही यदि ज्ञान रूप अन्तरंग करण आत्मा रूप कर्तासे भिन्न होता, तो दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें साधर्म्य हो सकता था, लेकिन आत्मा और ज्ञान भिन्न नहीं हैं । तथा बाह्य करणका धर्म अन्तरंग करणसे सम्बद्ध नहीं हो सकता, अन्यथा देवदत्त दीपक और नेत्रसे देखता है, यहाँ दीपककी तरह नेत्र भी देवदत्तसे सर्वथा भिन्न होना चाहिये । परन्तु ऐसा माननेसे लोकविरोध आता है ।

तथा, बढ़ई और कुठारका दृष्टान्त साध्यविकल भी है । क्योंकि 'मैं इस कुठारसे इस लकड़ीको बनाऊँगा' इस प्रकार कुठार ग्रहण करनेके मनोगत परिणामसे अपरिणत हुआ बढ़ई, कुठारको ग्रहण न कर लकड़ीको नहीं बनाता; किन्तु मनोगत परिणामसे परिणत हुआ बढ़ई लकड़ीको बनाता है । बढ़ईका उस प्रकारका मनोगत परिणाम उत्पन्न होनेपर लकड़ीको बनानेकी क्रियामें कुठार भी संलग्न हो जाता है, और बढ़ई भी । इस प्रकार लकड़ीको बनानेकी क्रिया रूप एक कार्यके साधक होनेसे कुठार और बढ़ईमें भेद नहीं रहता । ऐसी दशामें बढ़ई और कुठारमें, अर्थात् कर्ता और करणमें भेद ही होता है, यह कैसे कहा जा सकता है ? इसी प्रकार आत्मा भी 'विवक्षित अर्थको मैं इस ज्ञानके द्वारा जान लूँगा', इस प्रकार अपने ज्ञानको करण रूपसे ग्रहण करनेके परिणामसे परिणत हुई आत्मा ज्ञानको करण रूपसे ग्रहण कर अर्थको जानती है । अतएव ज्ञान और आत्मा दोनोंमें ज्ञानलक्षण रूप एक ही कार्यके साधक होनेके कारण, भेद नहीं रहता । (इसलिए बढ़ई और कुठारका दृष्टान्त आत्मा और ज्ञानमें 'भेद' सिद्ध नहीं करता, अतएव साध्यविकल है । भाव यह है, कि जैसे काष्ठ कुठारसे बनाया जाता है, वैसे ही काष्ठ बढ़ईसे भी बनाया जाता है, इसलिये बढ़ई और कुठार दोनों एक ही क्रिया करते हैं, अतएव अभिन्न हैं । उसी प्रकार आत्मा और ज्ञान दोनों पदार्थके जानने रूप एक ही अर्थके साधक हैं, अतएव परस्पर अभिन्न हैं ।) इस प्रकार कर्ता और करणमें अभेदकी सिद्धि होनेपर प्रश्न होता है कि संवित्ति (ज्ञान) रूप कार्य आत्मामें (आत्माश्रित) होता है, या पदार्थमें (ज्ञेयाश्रित) ? यदि ज्ञान आत्मामें ही उत्पन्न होता है, तो यह सिद्धान्त हमारे अनुकूल ही है । क्योंकि

अथ विषयस्थितसंवित्तेः सकाशादात्मनोऽनुभवः, तर्हि किं न पुरुषान्तरस्यापि, तद्भेदाविशेषात् ॥

अथ ज्ञानात्मनोरभेदपक्षे कथं कर्तृकरणभावः इति चेत्, ननु यथा सर्प आत्मानमात्मना वेष्टयतीत्यत्र अभेदे यथा कर्तृकरणभावस्तथात्रापि। अथ परिकल्पितोऽयं कर्तृकरणभाव इति चेद्, वेष्टनावस्थायां प्रागवस्थाविलक्षणगतिनिरोधलक्षणार्थक्रियादर्शनात् कथं परिकल्पितत्वम्। न हि परिकल्पनाशतैरपि शैलस्तम्भ आत्मानमात्मना वेष्टयतीति वक्तुं शक्यम्। तस्मादभेदेऽपि कर्तृकरणभावः सिद्ध एव। किञ्च, चैतन्यमिति शब्दस्य चिन्त्यतामन्वर्थः। चेतनस्य भावश्चैतन्यम्। चेतनश्चात्मा त्वयापि कीर्त्यते। तस्य भावः स्वरूपं चैतन्यम्। यच्च यस्य स्वरूपं, न तत् ततो भिन्नं भवितुमर्हति, यथा वृक्षाद् वृक्षस्वरूपम् ॥

अथास्ति चेतन आत्मा, परं चेतनासमवायसम्बन्धात्, न स्वतः, तथाप्रतीतेः इति चेत्। तदयुक्तम्। यतः प्रतीतिश्चेत् प्रमाणीक्रियते, तर्हि निर्बाधमुपयोगात्मक एवात्मा प्रसिद्ध्यति। न हि जातुचित् स्वयमचेतनोऽहं चेतनायोगात् चेतनः, अचेतने वा मयि चेतनायाः समवाय इति प्रतीतिरस्ति। ज्ञाताहमिति समानाधिकरणतया प्रतीतेः। भेदे तथाप्रतीतिरिति चेत्, न। कथंचित् तादात्म्याभावे सामानाधिकरण्यप्रतीतेरदर्शनात्। यष्टिः पुरुष इत्यादिप्रतीतिस्तु भेदे सत्युपचाराद् दृष्टा, न पुनस्तात्त्विकी। उपचारस्य तु बीजं पुरुषस्य यष्टिगतस्तब्धत्वादिगुणैरभेदः, उपचारस्य मुख्यार्थस्पर्शित्वात्। तथा चात्मनि ज्ञाताहमिति प्रतीतिः कथञ्चित् चेतनात्मतां

हमलोग (जैन) भी ज्ञानको आत्मामें ही मानते हैं। यदि कहो कि संवित्तिलक्षण कार्य ज्ञेय पदार्थमें उत्पन्न होता है, तो अन्य पुरुषको—जिसने अपने ज्ञानको कारण रूपसे ग्रहण नहीं किया, उस पुरुषको—भी ज्ञेयका ज्ञान क्यों नहीं होता ? अपने ज्ञानको करण रूपसे ग्रहण करनेवाले पुरुषसे जिस प्रकार ज्ञेय भिन्न होता है, उसी प्रकार अन्य पुरुष से भी वह भिन्न होता है।

शंका—ज्ञान और आत्मामें अभेद माननेपर कर्ता और करण सम्बन्ध नहीं बन सकता। **समाधान**—जैसे, 'सर्प अपने आपको अपनेसे वेष्टित करता है'—यहाँ कर्ता और करणके अभेद होनेपर भी कर्ता और करण भाव बनता है, वैसे ही आत्मा और ज्ञानके अभिन्न होनेपर भी कर्ता और करण भावमें कोई बाधा नहीं आती। यदि कहो कि यह कर्ता और करण भाव कल्पना मात्र है, तो यह ठीक नहीं; क्योंकि सर्पकी वेष्टन अवस्थामें प्राक् अवस्थासे विलक्षण गतिनिरोध लक्षण रूप अर्थ क्रिया देखी जाती है। तथा, सैकड़ों कल्पनायें करनेसे भी पाषाणका स्तंभ अपने आपको अपनेसे वेष्टित नहीं कर सकता। इसलिए कर्ता और करण भावको कल्पित कहना ठीक नहीं है। अतएव ज्ञान और आत्मा में अभेद मानने पर भी कर्ता और करण भाव सिद्ध होता है। तथा, चेतनके भावको चैतन्य कहते हैं। आत्माको आप लोगोंने भी चेतन स्वीकार किया है। चैतन्य आत्माका स्वरूप है। जो जिसका स्वरूप होता है, वह उससे भिन्न नहीं होता; जैसे, वृक्षका स्वरूप वृक्षसे भिन्न नहीं है। इसलिए ज्ञान और आत्माको भिन्न मानना ठीक नहीं है।

यदि कहो कि आत्मा समवाय सम्बन्धसे चेतन है, स्वयं चेतन नहीं, क्योंकि इसी प्रकारका ज्ञान होता है, तो यह भी ठीक नहीं। कारण कि यदि आप लोग ज्ञान (प्रतीति) को ही प्रमाण मानते हैं, तो आत्माको निश्चयसे उपयोग रूप ही मानना चाहिये। क्योंकि कभी भी ऐसा ज्ञान नहीं होता कि मैं स्वयं अचेतन होकर चेतनाके सम्बन्धसे चेतन हूँ, अथवा मेरी अचेतन आत्मामें चेतनका समवाय होता है। इसके विपरीत, आत्मा और ज्ञानके एक-अधिकरणमें रहनेका ही ज्ञान होता है कि मैं ज्ञाता हूँ। यदि आप कहें कि आत्मा और ज्ञानका भेद माननेपर भी आत्मा और ज्ञानका एक-अधिकरण बन सकता है, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि कथंचित् तादात्म्य (अभिन्न) सम्बन्धके बिना एक-अधिकरणकी प्रतीति नहीं हो सकती। 'पुरुष यष्टि है' यह ज्ञान पुरुष और यष्टिके वास्तविक भेद होनेपर भी वास्तविक नहीं है, यह केवल उपचारसे होता है। 'पुरुष यष्टि है' इस उपचारका कारण यष्टिके स्तब्धता आदि गुणोंका पुरुषके स्तब्धता आदि गुणों के साथ अभेद है, क्योंकि उपचार मुख्य अर्थको स्पर्श करनेवाला होता है (यहाँ यष्टिका

गमयति तामन्तरेण ज्ञाताहमिति प्रतीतेरनुपपद्यमानत्वात् घटादिवत्। न हि घटादिरचेतनात्मको ज्ञाताहमिति प्रत्येति। चैतन्ययोगाभावात् असौ न तथा प्रत्येतीति चेत्, न। अचेतनस्यापि चैतन्ययोगात् चेतनोऽहमिति प्रतिपत्तेरनन्तरमेव निरस्तत्वात्। इत्यचेतनत्वं सिद्धमात्मनो जडस्यार्थपरिच्छेदं पराकरोति। तं पुनरिच्छता चैतन्यस्वरूपतास्य स्वीकरणीया॥

ननु ज्ञानवानहमिति प्रत्ययादात्मज्ञानयोर्भेदः, अन्यथा धनवानिति प्रत्ययादपि धनधनवतोर्भेदाभावानुषङ्गः। तदसत्। ज्ञानवानहमिति नात्मा भवन्मते प्रत्येति, जडैकान्तरूपत्वात्, घटवत्। सर्वथा जडश्च स्यादात्मा, ज्ञानवानहमिति प्रत्ययश्च स्याद् अस्य विरोधाभावात् इति मा निर्णैषीः। तस्य तथोत्पत्त्यसम्भवात्। ज्ञानवानहमिति हि प्रत्ययो नागृहीते ज्ञानाख्ये विशेषणे, विशेष्ये चात्मनि जातूत्पद्यते, स्वमतविरोधात्। "नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः" इति वचनात्॥

गृहीतयोस्तयोरुत्पद्यत इति चेत्, कुतस्तद्गृहीतिः। न तावत् स्वतः, स्वसंवेदनानभ्युपगमात्। स्वसंविदिते ह्यात्मनि ज्ञाने च स्वतः सा युज्यते, नान्यथा, सन्तानान्तरवत्। परतश्चेत्, तदपि ज्ञानान्तरं विशेष्यं नागृहीते ज्ञानत्वविशेषणे ग्रहीतुं शक्यम्। गृहीते हि घटत्वे घटग्रहणमिति ज्ञानान्तरात् तद्ग्रहणेन भाव्यम्, इत्यनवस्थानात् कुतः प्रकृतप्रत्ययः। तदेवं

स्तब्धता आदि गुण मुख्यार्थ है)। इसी तरह आत्मामें 'मैं ज्ञाता हूँ' यह प्रतीति आत्माके कथंचित् चैतन्य स्वभावको ही द्योतित करती है, क्योंकि बिना चैतन्य स्वभावके 'मैं ज्ञाता हूँ' ऐसी प्रतीति नहीं होती; जैसे, घटमें चैतन्य रूप नहीं है, इसलिए उसमें 'मैं ज्ञाता हूँ' यह प्रतीति भी नहीं होती। यदि कहो कि घटमें चैतन्यका सम्बन्ध नहीं होता है, इसलिए उसमें 'मैं ज्ञाता हूँ' ऐसी प्रतीति नहीं होती, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि अचेतनमें चैतन्यके सम्बन्धसे ही 'मैं चेतन हूं' यह प्रतीति होती है, इस मतका खण्डन हमने अभी किया है अतएव यदि आत्माको अचेतन माना जाय, तो उससे पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए आत्मासे पदार्थोंका ज्ञान करनेके लिये आत्माको चैतन्य स्वीकार करना चाहिए।

शंका—'मैं ज्ञानवान हूँ' इस ज्ञानसे ही आत्मा और ज्ञानमें भेद सिद्ध होता है, अन्यथा 'मैं धनवान हूँ' इस ज्ञानसे भी धन और धनवानमें भेद न होना चाहिये। समाधान—यह ठीक नहीं, क्योंकि वैशेपिकोंके मतमें घटकी तरह आत्मा सर्वथा जड़ है, इसलिये उसमें 'मै ज्ञानवान हूँ' यह ज्ञान ही नहीं हो सकता। यदि आप लोग कहें कि आत्माके सर्वथा जड़ होते हुए भी 'मैं ज्ञानवान हूँ' ऐसा प्रत्यय होता है, इसमें कोई विरोध नहीं है, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि 'मैं ज्ञानवान हूँ' यह प्रतीति ही आत्मामें नहीं हो सकती। कारण कि 'मैं ज्ञानवान हूँ' यह प्रत्यय ज्ञानरूप विशेषण और आत्मारूप विशेष्य ज्ञानके बिना कभी उत्पन्न नहीं हो सकता। ऐसा माननेसे आपके मतसे विरोध आयेगा, क्योंकि कहा है "बिना विशेषणको ग्रहण किये हुए विशेष्यका ज्ञान नहीं होता।"

शंका—जब आत्मा विशेषण (ज्ञान) और विशेष्य (आत्मा) को ग्रहण करता है, उस समय 'मैं ज्ञानवान हूँ' यह प्रतीति होती है। समाधान—यहाँ प्रश्न होता है कि यह प्रतीति स्वतः होती हैं, या परतः? यह प्रतीति स्वयं नहीं हो सकती, क्योंकि आप लोग आत्मामें स्वसंवेदन ज्ञान नहीं मानते हैं। तथा, दूसरी सन्तानोंकी तरह आत्मा और ज्ञानके स्वसंविदित होनेपर यह प्रतीति स्वयं हो सकती है, अन्यथा नहीं। (अर्थात् जैसे घट पटादि दूसरी संतानोंसे स्वसंविदित नहीं हैं, इसलिये उनमें 'मैं ज्ञाता हूँ' यह प्रतीति नहीं होती, वैसे ही आत्मामें भी यह प्रतीति नहीं होनी चाहिये।) यदि कहो कि आत्मा दूसरे ज्ञानके द्वारा अपने ज्ञानरूप विशेषणको ग्रहण करती है तो वह दूसरा ज्ञानरूप विशेष्य भी अपने ज्ञानत्व विशेषणको ग्रहण किये बिना आत्माके ज्ञानरूप विशेषणको ग्रहण नहीं कर सकता। अर्थात् जैसे घटत्वके ज्ञानके द्वारा घटत्वका ज्ञान होनेपर जो घटका ज्ञान होता है, उस ज्ञानका ज्ञान भी उस ज्ञानके ज्ञानत्वका ज्ञान होनेपर ज्ञानत्वके ज्ञानसे होना चाहिये। ज्ञानत्वका ज्ञान उस ज्ञानत्व के अन्य ज्ञानसे होगा। इस प्रकार अनवस्था

नात्मनो जडस्वरूपता संगच्छते। तदसङ्गतौ च चैतन्यमौपाधिकमात्मनोऽन्यदिति वाङ्मात्रम् ॥

तथा यदपि न संविदानन्दमयी च मुक्तिरिति व्यवस्थापनाय अनुमानमवादि सन्तानत्वादिति। तत्राभिधीयते। ननु किमिदं सन्तानत्वं स्वतन्त्रमपरापरपदार्थोत्पत्तिमात्रं वा, एकाश्रयापरापरोत्पत्तिर्वा ? तत्राद्यः पक्षः सव्यभिचारः। अपरापरेषामुत्पादकानां घटपटकटादीनां सन्तानत्वेऽप्यत्यन्तमनुच्छिद्यमानत्वात्। अथ द्वितीयः पक्षः, तर्हि तादृशं सन्तानत्वं प्रदीपे नास्तीति साधनविकलो दृष्टान्तः। परमाणुपाकजरूपादिभिश्च व्यभिचारी हेतुः। तथाविधसन्तानत्वस्य तत्र सद्भावेऽप्यत्यन्तोच्छेदाभावात्। अपि च सन्तानत्वमपि भविष्यति अत्यन्तानुच्छेदश्च भविष्यति विपर्यये बाधकप्रमाणाभावात्। इति संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादप्यनैकान्तिकोऽयम्। किञ्च, स्याद्वादवादिनां नास्ति क्वचिदत्यन्तमुच्छेदः, द्रव्यरूपतया

दोष आनेसे प्रकृत ज्ञानका ज्ञान कैसे हो सकता है ? इसलिये 'मैं ज्ञानवान हूँ' ऐसी प्रतीति किसी भी तरह आत्मामें न हो सकेगी। अतएव आत्माको जड़ स्वीकार करना ठीक नहीं है। तथा आत्माके जड़ न सिद्ध होनेपर आत्माके ज्ञानको उपाधिजन्य मानना भी केवल कथन मात्र है।

(३) मुक्ति ज्ञानमय और आनन्दमय नहीं है, यह सिद्ध करनेके लिये आप लोगोंने जो सन्तानत्व हेतु दिया है, वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि यह सन्तानत्व क्या है ? क्या वह भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र पदार्थोंकी उत्पत्ति मात्र है, अथवा एक पदार्थरूप आश्रयमें भिन्न-भिन्न परिणामोंकी उत्पत्ति मात्र (एकाश्रयापरापरोत्पत्ति) है ? पहला पक्ष सदोष है कारण कि भिन्न-भिन्न उत्पादक घट, पट, कट आदि पदार्थोंका सन्तानत्व विद्यमान होनेपर भी उनका आत्यन्तिक उच्छेद (नाश) नहीं देखा जाता (वैशेषिक मतमें जो जो सन्तान होता है उसका आत्यन्तिक रूपमें विनाश होता है)। यदि दूसरा पक्ष—अर्थात् एक पदार्थ रूप आश्रयमें भिन्न-भिन्न परिणामोंकी उत्पत्ति सन्तान है—स्वीकार किया जाये तो एकाश्रयापरापरोत्पत्ति रूप सन्तानत्व प्रदीप दृष्टान्तमें घटित न होनेसे प्रदीपका दृष्टान्त साधनविकल है। (प्रदीपकी सन्तानका एक आश्रय नहीं है, क्योंकि पूर्व अग्निकी ज्वाला रूप दीपक पूर्व अग्निकी ज्वालाके नष्ट होनेके क्षणमें नष्ट हो जाता है, इसलिये दीपकका दृष्टान्त साधनसे शून्य है।) तथा, एकाश्रयापरापरोत्पत्ति लक्षण सन्तानत्वका परमाणुपाकज रूप (अग्निके द्वारा परमाणुमें उत्पन्न किया हुआ रूप) आदिमें सद्भाव होनेपर भी परमाणुओंके पाकजरूप आदिका आत्यन्तिक नाश न होनेसे परमाणुओंके साथ सन्तानत्व हेतु व्यभिचारी है (परमाणुपाकज रूपादि का आत्यन्तिक नाश न होनेसे वह विपक्ष है, अतः उसमें उक्त हेतुका सद्भाव होनेसे वह हेतु व्यभिचारी है। वैशेषिक लोग 'पीलुपाक' सिद्धान्तको मानते हैं। उनके मतमें जिस समय कच्चा घड़ा अग्निमें पकानेके लिये रक्खा जाता है, उस समय यह कच्चा घड़ा नष्ट होकर परमाणु रूप हो जाता है। उसके बाद अग्निके संयोगसे परमाणुओंमें लाल रंग उत्पन्न होता है। ये परमाणु एकत्र होकर पक्के घड़ेके रूपमें बदलते हैं। यह परमाणुपाकज प्रक्रिया अत्यन्त शीघ्रतासे होती है, और नौ क्षणों में समाप्त हो जाती है। जैन लोगोंका कहना है, कि अग्निके द्वारा उत्पन्न किये हुए परमाणुमें रूप-सन्तान होनेपर भी उसका अत्यन्त उच्छेद नहीं होता, इसलिये उक्त हेतु व्यभिचारी है। क्योंकि कच्चे घड़ेके अग्निमें रखनेसे जब उस घटका परमाणुपर्यन्त विभाग होता है, तब उन परमाणुओंमें पूर्व घटकी रूप-सन्तान बदलकर दूसरे रूपमें उत्पन्न होती है, इसलिये यद्यपि पूर्व और अपर सन्तान परमाणुरूप एक आश्रयमें रहती है तो भी सन्तानका अत्यन्त नाश नहीं होता।) तथा, सन्तानत्वके रहनेपर भी आत्यन्तिक नाश रह सकता है, इसमें किसी बाधक प्रमाणका अभाव है। इस प्रकार विपक्षव्यावृत्ति सन्दिग्ध होनेसे यह हेतु अनैकान्तिक भी है। (अतएव 'मुक्तिमें बुद्धि आदि गुणोंका अत्यन्त उच्छेद हो जाता है, क्योंकि बुद्धि आदि सन्तान हैं' इस अनुमानमें सन्तानत्व हेतु विपक्ष घटादिमें उच्छेद्यत्व साध्यके अभाव अनुच्छेद्यत्वके साथ रहता है, इसलिये सन्दिग्ध विपक्षव्यावृत्ति होनेसे अनैकान्तिक हेत्वाभास है।) तथा, स्याद्वादियोंके किसी भी पदार्थका अत्यन्त उच्छेद नहीं होता, क्योंकि द्रव्य

स्थास्नूनामेव सतां भावानामुत्पादव्ययुक्तत्वात् इति विरुद्धश्च। इति नाधिकृतानुमानाद् बुद्ध्यादिगुणोच्छेदरूपा सिद्धिः सिद्ध्यति ॥

नापि "न हि वै सशरीरस्य" इत्यादेरागमात्। स हि शुभाशुभादृष्टपरिपाकजन्ये सांसारिकप्रियाप्रिये परस्परानुषक्ते अपेक्ष्य व्यवस्थितः। मुक्तिदशायां तु सकलादृष्टक्षयहेतुकमैकान्तिकमात्यन्तिकं च केवलं प्रियमेव, तत्कथं प्रतिषिध्यते। आगमस्य चायमर्थः, 'सशरीरस्य'—गतिचतुष्टयान्यतमस्थानवर्तिन आत्मनः, 'प्रियाप्रिययोः'—परस्परानुषक्तयोः सुखदुःखयोः 'अपहतिः'—अभावो, 'नास्ती'ति। अवश्यं हि तत्र सुखदुःखाभ्यां भाव्यम्। परस्परानुषक्तत्वं च समासकरणादभ्यूह्यते। 'अशरीरं'—मुक्तात्मानं, 'वा'शब्दस्यैवकारार्थत्वात् अशरीरमेव; 'वसन्तं'—सिद्धिक्षेत्रमध्यासीनं, 'प्रियाप्रिये'—परस्परानुषक्ते सुखदुःखे, 'न स्पृशतः' ॥

इदमत्र हृदयम्। यथा किल संसारिणः सुखदुःखे परस्परानुषक्ते स्यातां, न तथा मुक्तात्मनः किन्तु केवलं सुखमेव। दुःखमूलस्य शरीरस्यवाभावात्। सुखं त्वात्मस्वरूपत्वादवस्थितमेव। स्वस्वरूपावस्थानं हि मोक्षः। अत एव चाशरीरमित्युक्तम्। आगमार्थश्चायमित्थमेव समर्थनीयः। यत एतदर्थानुपातिन्येव स्मृतिरपि दृश्यते—

"सुखमात्यन्तिकं यत्र बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
तं वै मोक्षं विजानीयाद् दुष्प्रापमकृतात्मभिः ॥"

रूपसे ध्रुव रहनेवाले पदार्थोंके ही उत्पाद और व्यय होते हैं। आत्यन्तिक नाशका अभाव होनेपर भी एक ही पदार्थमें क्रमभावी परिणामोंकी उत्पत्ति होनेसे सन्तानत्व हेतु जैनों द्वारा स्वीकृत पदार्थके साथ अविनाभावी होनेसे विरुद्ध है। इस प्रकार सन्तानत्व हेतुसे बुद्धि आदिके उच्छेदरूप मोक्षकी सिद्धि नहीं होती।

तथा, मोक्ष अवस्थामें सुखका अभाव सिद्ध करनेके लिए आप लोगोंने "न हि वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति" जो आगमका प्रमाण दिया है, वह भी साध्यकी सिद्धि नहीं करता। क्योंकि यहाँ जो मोक्षमें प्रिय-अप्रिय (सुख-दुःख) का प्रतिषेध किया गया है, वह केवल शुभ-अशुभ अदृष्टके परिणामसे उत्पन्न, एक दूसरेसे सम्बद्ध, सांसारिक सुख-दुःख की अपेक्षासे ही किया गया है। मुक्तावस्थाका सुख समस्त पुण्य-पापके क्षयसे उत्पन्न होता है, इसलिए यह सुख ऐकान्तिक (एकरूप) और आत्यन्तिक (नाश न होनेवाला) होता है; इस नित्य सुखका प्रतिषेध कैसे किया जा सकता है ? अतएव उक्त आगममें प्रिय-अप्रिय शब्दोंसे पुण्य-पापसे उत्पन्न होनेवाले सांसारिक सुख-दुःखका ही प्रतिषेध किया गया है, मुक्तावस्थाके अनन्त और अव्यावाध सुखका नहीं। इसलिये आगमका निम्नप्रकारसे अर्थ करना चाहियेः—'सशरीरस्य प्रियाप्रिययोः अपहतिः नास्ति'—संसारी आत्माके परस्पर अपेक्षित सुख-दुःखका अभाव नहीं होता। (यहाँ 'प्रियाप्रिय' में द्वंद्व समास करनेसे सुख-दुःखको परस्पर अपेक्षित समझना चाहिये)। 'अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः'—मुक्तावस्थामें रहनेवाले मुक्तात्माको परस्पर अपेक्षित सुख-दुःखका स्पर्श नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि जैसे संसारी जीवके सुख-दुःख परस्पर अपेक्षित होते हैं, वैसे मुक्त जीवके नहीं होते। मुक्त जीवोंके केवल सुख ही होता है, क्योंकि उनके दुःखके कारण शरीरका अभाव है। तथा मुक्त जीव अपने आत्मस्वरूपमें स्थित रहते हैं, इसलिये उनके सुख ही होता है। कारण कि अपने स्वरूपमें अवस्थित होना ही मोक्ष है। इसीलिये मुक्त जीव शरीर रहित हैं। आगमसे इसका समर्थन होता है। स्मृतिने इसका समर्थन किया है—

"जिस अवस्थामें इन्द्रियोंसे वाह्य केवल बुद्धिसे ग्रहण करने योग्य आत्यन्तिक सुख विद्यमान है, वही मोक्ष है। पापी आत्माओंके लिये वह दुष्प्राप्य है।"

न चायं सुखशब्दो दुःखाभावमात्रे वर्तते। मुख्यसुखवाच्यतायां बाधकाभावात्। अयं रोगाद् विप्रमुक्तः सुखी जात इत्यादिवाक्येषु च सुखीति प्रयोगस्य पौनरुक्त्यप्रसङ्गाच्च। दुःखाभावमात्रस्य रोगाद् विप्रमुक्त इतीयतैव गतत्वात्॥

न च भवदुदीरितो मोक्षः पुंसामुपादेयतया संमतः। को हि नाम शिलाकल्पमपगत-सकलसुखसंवेदनमात्मानमुपपादयितुं यतेत। दुःखसंवेदनरूपत्वादस्य सुखदुःखयोरेकस्या-भावेऽपरस्यावश्यम्भावात्। अत एव त्वदुपहासः श्रूयते—

"वरं वृन्दावने रम्ये क्रोष्टृत्वमभिवाञ्छितम्।
न तु वैशेषिकीं मुक्तिं गौतमो गन्तुमिच्छति॥"

सोपाधिकसावधिकपरिमितानन्दनिष्यन्दात् स्वर्गादप्यधिकं तद्विपरीतानन्दमम्लान-ज्ञानं च मोक्षमाचक्षते विचक्षणाः। यदि तु जडः पाषाणनिर्विशेष एव तस्यामवस्थायामात्मा भवेत्, तदलमपवर्गेण। संसार एव वरमस्तु। यत्र तावदन्तरान्तरापि दुःखकलुषितमपि कियदपि सुखमनुभुज्यते। चिन्त्यतां तावत् किमल्पसुखानुभवो भव्य उत सर्वसुखोच्छेद एव॥

अथास्ति तथाभूते मोक्षे लाभातिरेकः प्रेक्षादक्षाणाम्। ते ह्येवं विवेचयन्ति। संसारे तावद् दुःखास्पृष्टं सुखं न सम्भवति, दुःखं चावश्यं हेयम्, विवेकहानं चानयोरेकभाजन-पतितविषमधुनोरिव दुःशकम्, अत एव द्वे अपि त्यज्येते। अतश्च संसाराद् मोक्षः श्रेयान्। यतोऽत्र दुःखं सर्वथा न स्यात्। वरमियती कादाचित्कसुखमात्रापि त्यक्ता, न तु तस्याः दुःख-भार इयान् व्यूढ इति॥

यहाँपर सुखका अर्थ केवल दुःखका अभाव ही नहीं है। यदि सुखका अर्थ केवल दुःखका अभाव ही किया जाय, तो 'यह रोगी रोगरहित होकर सुखी हुआ है' आदि वाक्योंमें पुनरुक्ति दोष आना चाहिये। क्योंकि उक्त सम्पूर्ण वाक्य न कहकर 'यह रोगी रोगरहित हुआ है' इतना कहनेसे ही काम चल जाता है।

तथा, शिलाके समान सम्पूर्ण सुखोंके संवेदनसे रहित वैशेषिकों द्वारा प्रतिपादित मुक्तिको प्राप्त करनेका कौन प्रयत्न करेगा? क्योंकि वैशेषिकोंके अनुसार पाषाणकी तरह मुक्त जीव भी सुखके अनुभवसे रहित होते हैं, अतएव सुखका इच्छुक कोई भी प्राणी वैशेषिकोंकी मुक्तिकी इच्छा न करेगा। तथा, यदि मोक्षमें सुखका अभाव हो, तो मोक्ष दुःख रूप होना चाहिये, क्योंकि सुख और दुखमें एकका अभाव होनेपर दूसरेका सद्भाव अवश्य रहता है। वैशेषिकोंकी मुक्तिका उपहास करते हुए कहा गया है—

"गौतम ऋषि वैशेषिकोंकी मुक्ति प्राप्त करनेकी अपेक्षा रमणीय वृन्दावनमें शृगाल होकर रहना अच्छा समझते हैं।"

सोपाधिक और सावधिक परिमित आनन्दसे परिपूर्ण होनेके कारण स्वर्गसे भी अधिक अपरिमित आनन्द और निर्मल ज्ञानके प्राप्त करनेको विद्वान लोग मोक्ष कहते हैं। ऐसी अवस्थामें यदि आत्मा मोक्षमें पाषाणके समान जड़रूप ही रह जाता है, तो फिर ऐसे मोक्षकी ही क्या आवश्यकता है? इससे अच्छा संसार ही है, जहाँ बीच बीचमें दुःखसे परिपूर्ण कमसे कम थोड़ा बहुत सुख तो मिलता रहता है। अतएव यह विचारणीय है कि सम्पूर्ण सुखोंका उच्छेद करनेवाले मोक्षको प्राप्त करना श्रेष्ठ है, अथवा संसारमें रहकर थोड़े बहुत सुखका उपभोग करना अच्छा है।

शंका—मोक्षमें संसारकी अपेक्षा अधिक सुख है, इसलिये मोक्ष ही ग्राह्य है, क्योंकि संसारमें दुःख रहित सुख सम्भव नहीं है। जैसे, एक ही पात्रमें रक्खे हुए शहद और विषका अलग करना बहुत कठिन है, उसी तरह सांसारिक सुख दुःखमें विवेकपूर्वक दुःखका त्याग करना कष्टसाध्य है। अतएव सुख-दुःख दोनोंको ही छोड़ देना श्रेयस्कर है। इसलिये संसारसे मोक्ष अच्छा है, क्योंकि मोक्षमें दुःखका सर्वथा अभाव है। कारण कि क्षणिक सुखसे उत्पन्न होनेवाले महान दुःखको भोगनेकी अपेक्षा उस क्षणिक सुखका त्याग कर देना ही श्रेयस्कर है।

तदेतत्सत्यम्। सांसारिकसुखस्य मधुदग्धधाराकरालमण्डलाग्रग्रासवद् दुःखरूपत्वादेव युक्तैव मुमुक्षूणां तज्जिहासा, किन्त्वात्यन्तिकसुखविशेषलिप्सूनामेव। इहापि विषयनिवृत्तिजं सुखमनुभवसिद्धमेव, तद् यदि मोक्षे विशिष्टं नास्ति, ततो मोक्षो दुःखरूप एवापद्यत इत्यर्थः। ये अपि विषमधुनी एकत्र सम्पृक्ते त्यज्येते, ते अपि सुखविशेषलिप्सयैव। किञ्च, यथा प्राणिनां संसारावस्थायां सुखमिष्टं दुःखं चानिष्टम्, तथा मोक्षावस्थायां दुःखनिवृत्तिरिष्टा, सुखनिवृत्तिस्त्वनिष्टैव। ततो यदि त्वदभिमतो मोक्षः स्यात्, तदा न प्रेक्षावतामत्र प्रवृत्तिः स्यात्। भवति चेयम्। ततः सिद्धो मोक्षः सुखसंवेदनस्वभावः प्रेक्षावत्प्रवृत्तेरन्यथानुपपत्तेः॥

अथ यदि सुखसंवेदनैकस्वभावो मोक्षः स्यात् तदा तद्रागेण प्रवर्तमानो मुमुक्षुर्न मोक्षमधिगच्छेत्। न हि रागिणां मोक्षोऽस्ति रागस्य बन्धनात्मकत्वात्। नैवम्। सांसारिकसुखमेव रागो बन्धनात्मकः विषयादिप्रवृत्तिहेतुत्वात्। मोक्षसुखे तु रागः तन्निवृत्तिहेतुत्वाद् न बन्धनात्मकः। परां कोटिमारूढस्य च स्पृहामात्ररूपोऽप्यसौ निवर्तते "मोक्षे भवे च सर्वत्र निःस्पृहो मुनिसत्तमः" इति वचनात्। अन्यथा भवत्पक्षेऽपि दुःखनिवृत्त्यात्मकमोक्षाङ्गीकृतौ दुःखविषयं कषायकालुष्यं केन निषिध्येत। इति सिद्धं कृत्स्नकर्मक्षयात् परमसुखसंवेदनात्मको मोक्षो, न बुद्ध्यादिविशेषगुणोच्छेदरूप इति॥

अपि च भोस्तपस्विन्, कथञ्चिदेषामुच्छेदोऽस्माकमप्यभिमत एवेति मा विरूपं मनः कृथाः। तथाहि। बुद्धिशब्देन ज्ञानमुच्यते। तच्च मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलभेदात् पञ्चधा। तत्राद्यं ज्ञानचतुष्टयं क्षायोपशमिकत्वात् केवलज्ञानाविर्भावकाल एव प्रलीनम्।

समाधान—यह ठीक नहीं। क्योंकि सांसारिक सुख शहदसे लिपटी हुई तीक्ष्ण धारवाली तलवारकी नोकको चाटनेके समान है, इसलिये सांसारिक सुख दुःखरूप है, अतएव मुमुक्षु लोगोंको उसे त्यागना ही ठीक है। अविनाशी सुख चाहनेवालोंको सांसारिक दुःख छोड़ना ही चाहिये। तथा, संसारमें भी विषयोंकी निवृत्तिसे उत्पन्न होनेवाला सुख अनुभवसे सिद्ध है। वह यदि विशिष्टरूपसे मोक्षमें नहीं है, तो मोक्षके दुःखरूप होनेसे मोक्ष त्याज्य है। तथा, एक साथ सम्मिलित विष और शहदका त्याग भी विशेष सुखकी इच्छासे ही किया जाता है! तथा, जैसे प्राणियोंको सांसारिक अवस्थामें सुख इष्ट और दुःख अनिष्ट है, वैसे ही मोक्षावस्थामें दुःखकी निवृत्ति इष्ट और सुखकी निवृत्ति अनिष्ट है। अतएव यदि मोक्षमें ज्ञान और आनन्दका अभाव हैं, तो मोक्षमें किसी भी बुद्धिमानकी प्रवृत्ति न होनी चाहिये। अतएव मोक्ष सुख और ज्ञान रूप है।

शंका—यदि मोक्षको सुख और ज्ञानरूप माना जाय, तो मोक्षमें राग भावसे प्रवृत्ति करनेवाले मुमुक्षुको मोक्षकी प्राप्ति न होनी चाहिये। क्योंकि राग बन्ध करनेवाला है, इसलिये रागी पुरुषोंको मोक्ष नहीं मिलता। **समाधान**—यह ठीक नहीं। क्योंकि सांसारिक सुख हो रागबन्धका हेतु है, क्योंकि यह सांसारिक सुखरूप राग ही विषय आदिकी प्रवृत्तिमें कारण है। किन्तु मोक्षसुखका अनुराग विषय आदिकी प्रवृत्तिमें कारण नहीं है, इसलिये वह बन्धनका कारण नहीं। तथा, उत्कृष्ट दशाको प्राप्त हुए आत्माके इच्छामात्र भी यह राग नहीं रहता। कहा भी है—"उत्तम मुनि मोक्ष और संसार दोनोंमें निस्पृह रहते हैं।" अन्यथा रागका सद्भाव होनेपर दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति रूपवैशेषिकोंके मोक्षमें भी दुःखरूप कषायका उत्पन्न होना सम्भव है। अतएव सम्पूर्ण कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होनेवाला परम सुख और आनन्द स्वरूप ही मोक्ष मानना युक्तियुक्त है, बुद्धि आदि आत्माके विशेष गुणोंका उच्छेद होना नहीं।

तथा, हम लोग भी बुद्धि आदिका कथंचित् उच्छेद ही मानते हैं, अतएव हे तपस्वी, आप निराश न हों। बुद्धिका अर्थ ज्ञान होता है। यह ज्ञान मति, श्रुति, अवधि, मनपर्याय और केवलज्ञानके भेदसे पाँच प्रकारका है। इनमें आदिके चार ज्ञान क्षायोपशमिक (ज्ञानावरणीय कर्मके एकदेश क्षय और उपशमसे उत्पन्न होनेवाले) हैं, इसलिये केवलज्ञानके उत्पन्न होनेके समय नष्ट हो जाते हैं। आगममें कहा है—

"नट्ठंमि य छाउमत्थिए नाणे[1]" इत्यागमात्। केवलं तु सर्वद्रव्यपर्यायगतं क्षायिकत्वेन निष्कलङ्कात्मस्वरूपत्वाद् अस्त्येव मोक्षावस्थायाम्। सुखं तु वैषयिकं तत्र नास्ति, तद्धेतोर्वेदनीयकर्मणोऽभावात्। यत्तु निरतिशयक्षयमनपेक्षमनन्तं च सुखं तद् बाढं विद्यते। दुःखस्य चाधर्ममूलत्वात् तदुच्छेदादुच्छेदः॥

नन्वेवं सुखस्यापि धर्ममूलत्वाद् धर्मस्य चोच्छेदात् तदपि न युज्यते। "पुण्यपापक्षयो मोक्षः" इत्यागमवचनात्। नैवम्। वैषयिकसुखस्यैव धर्ममूलत्वाद् भवतु तदुच्छेदः न पुनरनपेक्षस्यापि सुखस्योच्छेदः। इच्छाद्वेषयोः पुनर्मोहभेदत्वात् तस्य च समूलकाषंकषितत्वादभावः। प्रयत्नश्च क्रियाव्यापारगोचरो नास्त्येव, कृतकृत्यत्वात्। वीर्यान्तराय[2]क्षयोपनतस्त्वस्त्येव प्रयत्नः, दानादिलब्धिवत्[3]। न च क्वचिदुपयुज्यते, कृतार्थत्वात्। धर्माधर्मयोस्तु पुण्यपापा-

"छाद्मस्थिक (केवलज्ञानके अतिरिक्त सब ज्ञानोंको छद्मस्थ ज्ञान कहते हैं) ज्ञानके नष्ट होनेपर (केवलज्ञान उत्पन्न होता है)"। केवलज्ञान सब द्रव्य और सब पर्यायोंको जानता है, और वह ज्ञानावरणीय कर्मके सर्वथा क्षयसे उत्पन्न होता है, इसलिये मोक्षावस्थामें निर्दोष केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है। वैषयिक सुख मोक्षमें नहीं है, क्योंकि वहाँ वैषयिक सुखके कारण वेदनीय कर्मका अभाव है। निरतिशय, अक्षय और अनन्त सुख मोक्षमें विद्यमान है। तथा दुःखके कारण अधर्मका नाश हो जानेसे मोक्षमें दुःखका भी अभाव हो जाता है।

शंका—सुखका कारण भी धर्म ही है, अतएव धर्मके उच्छेद हो जानेसे मुक्तात्माके सुख भी नहीं मानना चाहिये। आगममें कहा है—"पुण्य और पापके क्षय होनेपर मोक्ष होता है।" समाधान—यह ठीक नहीं है। क्योंकि वैषयिक सुख धर्मका कारण है, इसलिये मुक्त जीवके वैषयिक सुखका नाश हो जाता है, परन्तु उसके निरपेक्ष सुखका नाश नहीं होता। क्योंकि इच्छा और द्वेष मोहके भेद हैं, और मुक्त जीवके मोहका समूल नाश हो जाता है। तथा मुक्त जीवके कोई प्रयत्न भी नहीं होता, क्योंकि मुक्त जीव कृतकृत्य है। अथवा मुक्त जीवके दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य इन पाँच लब्धियों की तरह वीर्यान्तराय कर्म (जिस कर्मके उदयसे नीरोग बलवान युवक एक तृणके टुकड़ेको भी हिलानेमें असमर्थ होता है, उसे वीर्यान्तरायकर्म कहते हैं) के क्षयसे उत्पन्न वीर्यलब्धि रूप प्रयत्न मुक्त जीवके होता है। किन्तु मुक्त जीव कृतकृत्य रहते हैं, अतएव वे प्रयत्नका कभी उपयोग नहीं करते। तथा मुक्त जीवके धर्म-अधर्म अथवा पुण्य-पापका उच्छेद भी रहता ही है, क्योंकि धर्म-अधर्मके रहनेपर मोक्ष नहीं मिल सकता। संस्कार मतिज्ञानका ही भेद है, अतएव मतिज्ञानके क्षय होनेके बाद ही संस्कारका भी नाश हो जाता है। इसलिये मुक्त आत्माके संस्कार भी नहीं होता। अतएव मुक्त अवस्थामें ज्ञान और सुखका अभाव है, यह कहना युक्तियुक्त नहीं है। यह श्लोकका अर्थ है॥

भावार्थ—इस श्लोकमें वैशेषिक लोगोंके तीन सिद्धान्तोंपर विचार किया गया है—(१) सत्ता द्रव्य, गुण आदिसे भिन्न है; (२) आत्मा ज्ञानसे भिन्न है; (३) मुक्त अवस्थामें ज्ञान और सुखका अभाव हो जाता है।

वैशेषिक—(१) क—सत्ता द्रव्य, गुण और कर्ममें ही रहती है (द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता)—सत्ता (पर सामान्य अथवा महासामान्य) द्रव्य, गुण और कर्ममें ही रहती है, सामान्य, विशेष और समवायमें नहीं। वैशेषिकोंके अनुसार द्रव्य आदि तीन पदार्थोंमें ही सत्ता रहती है, क्योंकि इन तीनमें ही सत् प्रत्यय

१. उप्पण्णंमि अणंते नट्ठंमि य छाउमत्थिए नाणे। राईए संपत्तो महसेणवणंमि उज्जाणे॥
छाया—उत्पन्नेऽनन्ते नष्टे च छाद्मस्थिके ज्ञाने। रात्र्यां संप्रासो महसेनवनं उद्यानं॥५३९॥ आवश्यकपूर्वविभागः। २ बलवता यूना रोगरहितेनापि पुंसा यस्य कर्मण उदयात्तृणमपि न तिर्यक्कर्तुं पार्यते तत्कर्म वीर्यान्तरायाख्यम्। ३ लब्धयः पञ्च। तथाहि—दानलाभभोगोपभोगवीर्यभेदात्पञ्चधा। सूत्रकृताङ्ग १-१२; तत्त्वार्थसू. २-५।

परपर्याययोरुच्छेदोऽस्त्येव। तदभावे मोक्षस्यैवायोगात्। संस्कारश्च मतिज्ञानविशेष एव। तस्य च मोहक्षयानन्तरं क्षीणत्वादभाव इति। तदेवं न संविदानन्दमयी च मुक्तिरिति युक्तिरिक्तेयमुक्तिः। इति काव्यार्थः॥ ८॥

होता है। यद्यपि द्रव्य आदि छहों पदार्थोंमें 'अस्तित्व' रहता है, तथापि वह सामान्य आदि तीनमें अनुवृत्तिप्रत्यय (सामान्यज्ञान) का कारण नहीं है, और द्रव्यादि तीन पदार्थोंमें है, इसलिये द्रव्यादि तीन पदार्थोंमें ही सत्ता रहती है। यदि सामान्य, विशेष और समवायमें सत्तासम्बन्ध स्वीकार किया जाय, तो क्रमसे अनवस्था, रूपहानि और असम्बन्ध दोष आते हैं, अतएव सत्ताको सामान्य आदि तीन में स्वीकार न करके द्रव्य, गुण और कर्ममें ही स्वीकार करना चाहिये।

ख—सत्ता द्रव्य, गुण और कर्मसे भिन्न है (सत्ता द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं)। (अ) सत्ता द्रव्यसे भिन्न है। जो द्रव्योंसे उत्पन्न न हुआ हो, अथवा द्रव्योंका उत्पादक न हो (अद्रव्यत्व), तथा जो अनेक द्रव्योंसे उत्पन्न हुआ हो, अथवा अनेक द्रव्यों का उत्पादक हो (अनेकद्रव्यत्व), उसे द्रव्य कहते हैं। सत्तामें द्रव्यका उक्त लक्षण घटित नहीं होता। सत्ता द्रव्यत्वकी तरह प्रत्येक द्रव्यमें रहती है, इसलिये सत्ता द्रव्य नहीं है। (ब) सत्ता गुणसे भी भिन्न है। क्योंकि सत्ता गुणत्वकी तरह गुणोंमें रहती है। तथा गुण गुणोंमें नहीं रहते (निर्गुणत्वाद् गुणानाम्)। (स) सत्ता कर्मसे भी भिन्न है, क्योंकि वह कर्मत्वकी तरह कर्ममें रहती है। तथा कर्म कर्ममें नहीं रहते।

'सत्ता' (सामान्य) पर सामान्य और अपर सामान्यके भेदसे दो प्रकारकी है। 'पदार्थत्व' (द्रव्य, गुण आदि छह पदार्थोंमें रहनेवाले) को पर सामान्य अथवा महासामान्य कहते हैं। द्रव्यत्व, गुणत्व आदि अपर सामान्य है। द्रव्यत्व आदिकी अपेक्षासे पृथिवीत्व आदि, और पृथिवीत्व आदिकी अपेक्षासे घटत्व आदि अपर सामान्य कहे जाते हैं। अपर सामान्य एक पदार्थको जानते समय उस पदार्थकी दूसरे पदार्थसे व्यावृत्ति करता है, इसलिये इसे सामान्य-विशेष भी कहते हैं। सत्ता अथवा सामान्यकी तरह 'विशेष' भी भिन्न पदार्थ हैं। 'विशेष' सजातीय और विजातीय पदार्थोंसे अत्यन्त व्यावृत्ति कराते हैं, अतएव 'विशेष' विशेष रूप ही हैं, सामान्य-विशेष रूप ये नहीं हो सकते। आधार और आधार्य पदार्थोंमें इहप्रत्ययका कारण 'समवाय' भी भिन्न पदार्थ है। 'इन तंतुओंमें पट है' यह इहप्रत्यय हेतु तंतु और पटमें समवाय संबन्ध स्थापित करता है।

जैन—(१) क—सत्ता (अस्तित्व—वस्तुका स्वरूप) को सम्पूर्ण छहों पदार्थोंमें स्वीकार करके भी वैशेषिक लोग द्रव्य, गुण और कर्ममें ही 'अस्तित्व' (सत्ता) स्वीकार करते हैं, यह युक्तियुक्त नहीं है। तथा द्रव्य, गुण, कर्मकी तरह 'सामान्यप्रत्यय' (सत्ता) सामान्य, विशेष और समवायमें भी होता है, फिर कुछ पदार्थोंमें सामान्य (सत्ता) स्वीकार करना, और कुछमें नहीं, यह न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता। तथा सामान्य, विशेष और समवायमें सत्ता माननेसे अनवस्था, रूपहानि, और असंबन्ध नामक दोष आते हैं, यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि सामान्यकी तरह द्रव्य, गुण, कर्ममें सत्ता स्वीकार करनेसे भी अनवस्था दोष नहीं बच सकता। तथा विशेषमें सत्ता स्वीकार करनेपर उल्टी विशेषकी ही सिद्धि होती है, क्योंकि कहीं भी सामान्य रहित विशेषकी उपलब्धि नहीं होती। इसी प्रकार समवायमें भी सत्ता (स्वरूपसत्ता) माननी ही होगी।

ख—यदि सत्ताको द्रव्य, गुण और कर्मसे भिन्न माना जाय, तो द्रव्यादिको असत् मानना होगा। इसलिये सत्ता द्रव्य आदिसे भिन्न नहीं हो सकती।

वैशेषिक—(२)—ज्ञान आत्मासे भिन्न है, अर्थात् ज्ञान समवाय संबन्धसे आत्माके साथ रहता है। आत्मा स्वयं जड़ है। जिस समय हम किसी पदार्थका ज्ञान करते हैं, उस समय पहले पदार्थ और इन्द्रियका संयोग होता है, बादमें इन्द्रिय मनसे, और मन आत्मासे संबद्ध होता है। यदि आत्मा और ज्ञान

अथ ते वादिनः कायप्रमाणत्वमात्मनः स्वयं संवेद्यमानमपलप्य, तादृशकुशास्त्रशस्त्रसंपर्कविनष्टदृष्टयस्तस्य विभुत्वं मन्यन्ते । अतस्त्रोपालम्भमाह—

यत्रैव यो दृष्टगुणः स तत्र कुम्भादिवद् निष्प्रतिपक्षमेतत् ।
तथापि देहाद् बहिरात्मतत्त्वमतत्त्ववादोपहताः पठन्ति ॥ ९ ॥

यत्रव—देशे, यः पदार्थः; दृष्टगुणो, दृष्टाः—प्रत्यक्षादिप्रमाणतोऽनुभूताः, गुणा धर्मा यस्य स तथा; स पदार्थः, तत्रैव—विवक्षितदेश एव । उपपद्यते इति क्रियाध्याहारो गम्यः । पूर्वस्यैवकारस्यावधारणार्थस्यात्राप्यभिसम्बन्धात तत्रैव नान्यत्रेत्यन्ययोगव्यवच्छेदः । अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन द्रढयति । कुम्भादिवदिति—घटादिवत् । यथा कुम्भादेर्यत्रैव देशे रूपादयो गुणा उपलभ्यन्ते, तत्रैव तस्यास्तित्वं प्रतीयते नान्यत्र । एवमात्मनोऽपि गुणाश्चैतन्यादयो देह एव दृश्यन्ते न बहिः, तस्मात् तत्प्रमाण एवायमिति । यद्यपि पुष्पादीनामवस्थानदेशादन्यत्रापि गन्धादिगुण उपलभ्यते, तथापि तेन न व्यभिचारः । तदाश्रया हि गन्धादिपुद्गलाः तेषां च वैश्रसिक्या प्रायोगिक्या वा गत्या गतिमत्त्वेन तदुपलम्भकघ्राणादिदेशं यावदा-

---

एक हों, तो दुःख, जन्म आदि नाश होनेपर जिस समय मुक्तावस्थामें बुद्धि, सुख आदिका नाश हो जाता है, उस समय आत्माका भी नाश हो जाना चाहिये ।

जैन—(२) यदि आत्मा और ज्ञानको सर्वथा भिन्न माना जाय, तो हमें अपने ही ज्ञानसे अपनी ही आत्माका भी ज्ञान न हो सकेगा । तथा वैशेषिकोंके मतमें आत्मा व्यापक है, इसलिये एक आत्मामें ज्ञान होनेसे सब आत्माओंको पदार्थोंका ज्ञान होना चाहिये । तथा आत्मा और ज्ञानका समवाय संबन्ध भी नहीं बन सकता । आत्मा और ज्ञानमें कर्ता और करण संबन्ध मानकर भी दोनोंको भिन्न मानना युक्त नहीं है । क्योंकि करण हमेशा कर्तासे भिन्न नहीं होता । जैसे 'सर्प अपनेको अपने आपसे वेष्टित करता है'—यहाँ कर्ता और करण भिन्न नहीं हैं, इसी तरह आत्मा और ज्ञान अलग-अलग नहीं हो सकते । तथा, चैतन्यको वैशेषिकोंने भी आत्माका स्वरूप माना है; इसलिये जैसे वृक्षका स्वरूप वृक्षसे भिन्न नहीं हो सकता, वैसे ही चैतन्य आत्मासे भिन्न नहीं हो सकता । तथा, ज्ञान और आत्माको भिन्न माननेपर 'मैं ज्ञाता हूँ' ऐसा ज्ञान नहीं हो सकेगा । अतएव आत्मा और ज्ञान भिन्न नहीं हैं ।

वैशेषिक—(३) मोक्ष ज्ञान और आनन्द रूप नहीं है, क्योंकि दीपककी सन्तानकी तरह मोक्षमें बुद्धि, सुख, दुःख आदि गुणोंकी सन्तानका सर्वथा नाश हो जाता है । तथा, मुक्तावस्था में जीव अपने ही स्वरूपमें स्थित रहता है ।

जैन—(३) यहाँ संतानत्व हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभाससे दूषित है । ज्ञान और सुखके अनुभवसे सर्वथा शून्य वैशेषिकोंकी ऐसी मुक्तिके प्राप्त करनेके लिये कोई भी प्रयत्नवान न होगा । तथा, सांसारिक सुख ही रागका कारण है, मोक्षका अक्षय और अनंत सुख रागका कारण नहीं । अतएव मोक्षमें ज्ञान और सुखका आत्यन्तिक अभाव है, यह कहना ठीक नहीं है ।

अब आत्माको शरीरके प्रमाण न मानकर उसे सर्वव्यापक माननेवाले उस प्रकारके कुशास्त्ररूपी शास्त्रके संपर्कसे विनष्ट दृष्टि हुए वैशेषिकोंकी मान्यताका खंडन करते हैं—

श्लोकार्थ—यह निर्विवाद है कि जिस पदार्थके गुण जिस स्थानमें देखे जाते हैं, वह पदार्थ उसी स्थानमें रहता है; जैसे जहाँ घटके रूप आदि गुण रहते हैं, वहीं घट भी रहता है । तथापि कुवादी लोग देहके बाह्य आत्माको कुत्सित तत्त्ववादसे व्यामोहित होकर (सर्वव्यापक रूपसे) स्वीकार करते हैं ।

व्याख्यार्थ—'यत्रैव यः दृष्टगुणो तत्रैव'—जिस स्थानमें घट आदिके रूप आदि गुण पाये जाते हैं, उसी स्थानपर घटकी उपलब्धि होती है, अन्यत्र नहीं । इसी प्रकार आत्माके चैतन्य आदि गुण देहमें ही देखे

गमनोपपत्तेरिति। अत एवाह। निष्प्रतिपक्षमेतदिति। एतद् निष्प्रतिपक्षं—बाधकरहितम्। "न हि दृष्टेऽनुपपन्नं[1] नाम" इति न्यायात्॥

ननु मन्त्रादीनां भिन्नदेशस्थानामप्याकर्षणोच्चाटनादिको गुणो योजनशतादेः परतोऽपि दृश्यत इत्यस्ति बाधकमिति चेत्। मैवं वोचः। स हि न खलु मन्त्रादीनां गुणः, किन्तु तदधिष्ठातृदेवतानाम्। तासां चाकर्षणीयोच्चाटनीयादिदेशगमने कौतस्कुतोऽयमुपालम्भः। न जातु गुणा गुणिनमतिरिच्य वर्तन्त इति। अथोत्तरार्द्धं व्याख्यायते। तथापीत्यादि। तथापि—एवं निःसपत्नं[2] व्यवस्थितेऽपि तत्त्वे। अतत्त्ववादोपहताः। अनाचार इत्यत्रेव नञः कुत्सार्थत्वात्। कुत्सिततत्त्ववादेन तदभिमताप्ताभासपुरुषविशेषप्रणीतेन तत्त्वाभासप्ररूपणेनोपहताः—व्यामोहिताः। देहाद् बहिःशरीरव्यतिरिक्तेऽपि देशे, आत्मतत्त्वम्—आत्मरूपम्; पठन्ति शास्त्ररूपतया प्रणयन्ते। इत्यक्षरार्थः॥

भावार्थस्त्वयम्। आत्मा सर्वगतो न भवति, सर्वत्र तद्गुणानुपलब्धेः। यो यः सर्वत्रानुपलभ्यमानगुणः स स सर्वगतो न भवति, यथा घटः; तथा चायम्; तस्मात् तथा। व्यतिरेके व्योमादि। न चायमसिद्धो हेतुः, कायव्यतिरिक्तदेशे तद्गुणानां बुद्धयादीनां वादिना प्रतिवादिना वानभ्युपगमात्। तथा च भट्टः श्रीधरः[3]—"सर्वगतत्वेऽप्यात्मनो देहप्रदेशे ज्ञातृत्वम्। नान्यत्र। शरीरस्योपभोगायतनत्वात्। अन्यथा तस्य वैयर्थ्यादिति"॥

जाते हैं, देहके बाहर नहीं, अतएव आत्मा शरीरके ही परिमाण है। यद्यपि पुष्प आदिके एक स्थानमें रहते हुए भी उसके दूसरे स्थानमें गन्ध आदि गुण उपलब्ध होते हैं, परन्तु इससे हेतुमें व्यभिचार नहीं आता। क्योंकि पुष्प आदिमें रहनेवाले गन्ध आदि पुद्गल ही अपने स्वभाव अथवा वायुके प्रयोगसे गमन करते हैं, इसलिये पुष्प आदिमें रहनेवाले गन्ध-पुद्गल नासिका इन्द्रिय तक जाते हैं। अतएव उक्त कथन बाधा रहित है, क्योंकि "प्रत्यक्षसे देखे हुए पदार्थमें असिद्धकी सम्भावना नहीं होती।"

शंका—मन्त्र आदिके भिन्न देशमें रहते हुए भी सैकड़ों योजनकी दूरीपर उनके आकर्षण, उच्चाटन आदि गुण देखे जाते हैं, अतएव उक्त कथन बाधायुक्त है। **समाधान**—यह ठीक नहीं। क्योंकि आकर्षण, उच्चाटन आदि गुण मन्त्रके नहीं हैं, किन्तु ये गुण मन्त्र आदिके अधिष्ठाता देवताओंके हैं। मन्त्रके अधिष्ठाता देव ही आकर्षण उच्चाटन आदिसे प्रभावित स्थानमें स्वयं जाते हैं, इसलिये उक्त दोष ठीक नहीं है। क्योंकि कभी भी गुण गुणीको छोड़कर नहीं रहते। इस प्रकार हमारे सिद्धान्तके निर्विवाद सिद्ध होनेपर भी कुत्सित तत्त्ववाद (जैसे अनाचार शब्दमें कुत्सित अर्थमें नञ् समास किया गया है, उसी तरह 'अतत्त्ववाद' में भी नञ् समास कुत्सित अर्थमें है।) से व्यामोहित वैशेषिक लोग आत्माको शरीरके बाहर भी स्वीकार करते हैं।

भाव यह है कि आत्मा सर्वव्यापक नहीं है, क्योंकि सब जगह आत्माके गुण उपलब्ध नहीं होते। जिस वस्तुके गुण सर्वत्र उपलब्ध नहीं होते, वह सर्वव्यापक नहीं होती। जैसे घड़ेके रूप आदि गुण सर्वत्र नहीं दिखाई देते, इसलिये घड़ा सर्वव्यापक नहीं है। इसी तरह आत्माके गुण भी सर्वत्र उपलब्ध नहीं हैं, इसलिये आत्मा भी सर्वव्यापक नहीं है। व्यतिरेक दृष्टान्तमें—जो सर्वव्यापी होता है, उसके गुण सब जगह उपलब्ध होते हैं, जैसे आकाश। उक्त हेतु असिद्ध नहीं है, क्योंकि वादी अथवा प्रतिवादीने बुद्धि आदि आत्माके गुणोंको शरीरको छोड़कर अन्यत्र स्वीकार नहीं किया है। श्रीधर भट्टने कहा भी है "आत्माके सर्वव्यापक होनेपर भी शरीरमें रहकर ही आत्मा पदार्थोंको जानता है, दूसरी जगह नहीं। क्योंकि शरीर ही उपभोगका स्थान है, यदि शरीरको उपभोगका स्थान न माना जाय तो शरीर व्यर्थ हो जाये।" (इस प्रकार भट्टके कथनके अनुसार आत्माके बुद्धि आदि गुण शरीरसे बाहर नहीं रहते।)

---

१. दृष्टे वस्तुनि उपपत्तेरनपेक्षेत्यर्थः। २. निर्विवादमित्यर्थः। ३. न्यायकन्दल्यां।

अथास्त्यदृष्टमात्मनो विशेषगुणः। तच्च सर्वोत्पत्तिमतां निमित्तं सर्वव्यापकं च। कथमितरथा द्वीपान्तरादिष्वपि प्रतिनियतदेशवर्तिपुरुषोपभोग्यानि कनकरत्नचन्दनाङ्गनादीनि तेनोत्पाद्यन्ते। गुणश्च गुणिनं विहाय न वर्तते। अतोऽनुमीयते सर्वगत आत्मेति। नैवम्। अदृष्टस्य सर्वगतत्वसाधने प्रमाणाभावात्। अथास्त्येव प्रमाणं वह्नेरूर्ध्वज्वलनं, वायोस्तिर्यक्पवनं चादृष्टकारितमिति चेत्। न। तयोस्तत्स्वभावत्वादेव तत्सिद्धेः, दहनस्य दहनशक्तिवत्। साप्यदृष्टकारिता चेत्, तर्हि जगत्त्रयवैचित्रीसूत्रणेऽपि तदेव सूत्रधारायतां, किमीश्वरकल्पनया। तन्नायमसिद्धो हेतुः। न चानैकान्तिकः। साध्यसाधनयोर्व्याप्तिग्रहणेन व्यभिचाराभावात्। नापि विरुद्धः। अत्यन्तं विपक्षव्यावृत्तत्वात्। आत्मगुणाश्च बुद्ध्यादयः शरीर एवोपलभ्यन्ते, ततो गुणिनापि तत्रैव भाव्यम्। इति सिद्धः कायप्रमाण आत्मा॥

अन्यच्च, त्वयात्मनां बहुत्वमिष्यते "नानात्मानो व्यवस्थातः[1]" इति वचनात्। ते च व्यापकाः। ततस्तेषां प्रदीपप्रभामण्डलानामिव परस्परानुवेधे तदाश्रितशुभाशुभकर्मणामपि परस्परं सङ्करः स्यात्। तथा चैकस्य शुभकर्मणा अन्यः सुखी भवेद्, इतरस्याशुभकर्मणा चान्यो दुःखीत्यसमञ्जसमापद्येत। अन्यच्च, एकस्यैवात्मनः स्वोपात्तशुभकर्मविपाकेन सुखित्वं, परोपार्जिताशुभकर्मविपाकसम्बन्धेन च दुःखित्वमिति युगपत्सुखदुःखसंवेदनप्रसङ्गः। अथ स्वावष्टब्धं भोगायतनमाश्रित्यैव शुभाशुभयोर्भोगः, तर्हि स्वोपार्जितमप्यदृष्टं कथं भोगायतनाद् बहिर्निष्क्रम्य वह्नेरूर्ध्वज्वलनादिकं करोति इति चिन्त्यमेतत्॥

शंका—आत्माका अदृष्ट नामका एक विशेष गुण है। यह अदृष्ट उत्पन्न होनेवाले सब पदार्थोंमें निमित्त कारण है, और यह सर्वव्यापक है; अन्यथा इससे दूसरे द्वीपोंमें भी निश्चित स्थानमें रहनेवाले पुरुषोंके भोगने योग्य, सुवर्ण, रत्न, चन्दन तथा स्त्री आदि कैसे प्राप्त हो सकते हैं? यदि आत्मा सर्वव्यापक नहीं होता, तो आत्माका अदृष्ट गुण अन्यत्र प्रवृत्ति नहीं कर सकता था। गुण गुणीको छोड़कर नहीं रहते, अतएव आत्मा सर्वव्यापक ही है। इस प्रकार आत्माके अदृष्ट गुणको सर्वत्र देखनेसे आत्माकी सर्वव्यापकता सिद्ध होती है। समाधान—यह ठीक नहीं। क्योंकि अदृष्टके सर्वव्यापी होनेमें कोई प्रमाण नहीं है। यदि कहो कि अग्निकी शिखाका ऊँचा जाना, हवाका तिरछे बहना, यह सब अदृष्टसे ही होता है, अतएव अदृष्टका साधक प्रमाण अवश्य है, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि अग्निका ऊँचे जाना और वायुका तिरछे बहना अदृष्टके बलसे ही सिद्ध नहीं होता। कारण कि जैसे अग्निमें दहनशक्ति स्वभावसे ही है, उसी तरह अग्निका ऊँचा जाना भी स्वभावसे ही मानना चाहिये, अदृष्टके बलसे नहीं। यदि कहो कि अग्निमें दहनशक्ति भी अदृष्टके बलसे ही है, तो फिर तीनों लोकोंकी सृष्टिमें भी अदृष्टको कारण मानना चाहिए, फिर ईश्वरकी कल्पना करनेसे कोई लाभ नहीं। अतएव 'आत्मा सर्वगत नहीं है, क्योंकि आत्माके गुण सब जगह नहीं पाये जाते,' यह हेतु असिद्ध नहीं है, क्योंकि आत्माके गुण सब जगह नहीं उपलब्ध होते। तथा, यह हेतु अनैकान्तिक भी नहीं है, क्योंकि यहाँ 'असर्वगत' साध्यकी, 'आत्माके गुण सब जगह नहीं पाये जाते' साधनके साथ व्याप्ति ठीक बैठती है। यह हेतु विरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि 'आत्माके गुण सब जगह नहीं पाये जाते' हेतु, 'सर्वगतत्व' विपक्षसे अत्यंत व्यावृत्त है। तथा, आत्माके गुण बुद्धि आदि शरीरमें ही उपलब्ध होते हैं, अतएव गुणी (आत्मा) को भी उसी स्थानमें रहना चाहिये। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा शरीरके प्रमाण है।

तथा, वैशेषिकोंने आत्माका बहुत्व स्वीकार किया है। कहा भी है—"प्रत्येक शरीरमें भिन्न-भिन्न आत्मा होनेसे आत्मा नाना हैं!" अतएव यदि ये नाना आत्मा व्यापक हैं, तो दीपकोंको प्रभाओंके परस्पर सम्मिश्रणकी तरह आत्माके शुभ-अशुभ कर्मोंका भी परस्पर सम्मिश्रण हो जाना चाहिये। इसलिए आत्माको नाना और व्यापक माननेसे आत्माके भिन्न-भिन्न शुभ-अशुभ कर्मोंके एक दूसरेसे सम्मिलित हो जानेपर एकके

---

१. नानाभेदभिन्नानां सुखदुःखादीनां प्रत्यात्मप्रतिसंधानं व्यवस्था।

आत्मनां च सर्वगतत्वे एकैकस्य सृष्टिकर्तृत्वप्रसङ्गः। सर्वगतत्वेनेश्वरान्तरानुप्रवेशस्य सम्भावनीयत्वात्। ईश्वरस्य वा तदन्तरानुप्रवेशे तस्याप्यकर्तृत्वापत्तिः। न हि क्षीरनीरयोरन्योन्यसम्बन्धे, एकतरस्य पानादिक्रियान्यतरस्य न भवतीति युक्तं वक्तुम्। किञ्च, आत्मनः सर्वगतत्वे नरनारकादिपर्यायाणां युगपदनुभवानुषङ्गः। अथ भोगायतनाभ्युपगमाद् नायं दोष इति चेत्, ननु स भोगायतनं सर्वात्मना अवष्टभ्नीयाद्, एकदेशेन वा? सर्वात्मना चेद्, अस्मदभिमताङ्गीकारः। एकदेशेन चेत्, सावयवत्वप्रसङ्गः। परिपूर्णभोगाभावश्च॥

अथात्मनो व्यापकत्वाभावे दिग्देशान्तरवर्तिपरमाणुभिर्युगपत्संयोगाभावाद् आद्यकर्माभावः, तदभावाद् अन्त्यसंयोगस्य, तन्निर्मितशरीरस्य, तेन तत्सम्बन्धस्य चाभावाद् अनुपायसिद्धः सर्वदा सर्वेषां मोक्षः स्यात्। नैवम्। यद् येन संयुक्तं तदेव तं प्रत्युपसर्पतीति नियमासम्भवात्। अयस्कान्तं प्रति अयसस्तेनासंयुक्तस्याप्याकर्षणोपलब्धेः। अथासंयुक्तस्याप्याकर्षणे तच्छरीरारम्भं प्रत्येकमुखीभूतानां त्रिभुवनोदरविवरवर्तिपरमाणूनामुपसर्पणप्रसङ्गाद् न जाने तच्छरीरं कियत्प्रमाणं स्याद् इति चेत्, संयुक्तस्याप्याकर्षणे कथं स एव दोषो न भवेत्। आत्मनो व्यापकत्वेन सकलपरमाणूनां तेन संयोगात्। अथ तद्भावाविशेषेऽप्यदृष्टवशाद् विवक्षितशरीरोत्पादनानुगुणा नियता एव परमाणव उपसर्पन्ति। तदितरत्रापि तुल्यम्॥

शुभ कर्मसे दूसरा सुखी, और दूसरेके अशुभ कर्मसे दूसरा मनुष्य दुःखी हुआ करेगा। तथा, एक ही आत्माके स्वयं उपार्जित शुभ कर्मोंसे सुखी, और दूसरेसे उपार्जित अशुभ कर्मोंसे दुःखी होनेके कारण एक ही समयमें एक साथ सुख-दुःखका संवेदन होना चाहिये। यदि कहो कि आत्मा अपने शरीरके आश्रित रहकर ही अपने शुभ-अशुभ कर्मका फल भोगता है, तो स्वयं उपार्जन किया हुआ अदृष्ट शरीरसे बाहर निकल कर अग्निके ऊँचे ले जाने आदि कार्यको कैसे कर सकता है? यह विचारणीय है। (इसलिए आत्माको अपने शरीरके आश्रित रहकर ही सुख-दुःखका भोक्ता माननेसे आत्माका अदृष्ट, शरीरके बाहर निकलकर अग्निको ऊँचे जलाने आदि कार्यको नहीं कर सकता। क्योंकि सुख-दुःखकी तरह अदृष्ट भी आत्माका ही गुण है।)

तथा, आत्माको सर्वव्यापक माननेपर प्रत्येक आत्माको सृष्टिका कर्त्ता मानना चाहिये। फिर, ईश्वरके सर्वव्यापक होनेसे नाना आत्माओंमें भी ईश्वर व्यापक होकर रहेगा। अथवा, नाना आत्मायें सर्वव्यापक हैं, इसलिये वे ईश्वरमें भी व्यापक होकर रहेंगी, इसलिए ईश्वरके कर्तृत्वका अभाव हो जानेका प्रसंग खड़ा हो जायेगा। जैसे दूध और पानीके मिल जानेपर उनमेंसे एकका पान किया जा सकता है, दूसरेका पान नहीं किया जा सकता—ऐसा कहना युक्त नहीं है, उसी प्रकार ईश्वर आत्मा दोनोंको सर्वव्यापक माननेसे, दोनोंका परस्पर सम्मिश्रण होनेके कारण, या तो आत्मा स्वयं सृष्टिका कर्ता होना चाहिए, अथवा ईश्वर भी सृष्टिका कर्ता नहीं हो सकता। तथा, आत्माको सर्वव्यापक माननेपर मनुष्य, नरक आदि पर्यायोंका एक ही साथ अनुभव होना चाहिए। यदि कहो कि आत्मा शरीरमें रह कर ही उपभोग करता है, इसलिये उक्त दोष ठीक नहीं है, तो प्रश्न होता है कि आत्मा सम्पूर्ण रूपसे शरीरमें व्याप्त है, अथवा एक देशसे? प्रथम पक्ष स्वीकार करनेसे हमारे ही मतकी स्वीकृति होगी, क्योंकि हम भी आत्माको शरीरके परिमाण ही मानते हैं। यदि द्वितीय पक्ष स्वीकार करो तो सम्पूर्ण शरीरमें न रहनेसे आत्माको अवयव सहित मानना चाहिये, और आत्माके सावयव होनेसे वह पूर्ण रूपसे शरीरका भोग भी न कर सकेगी।

शंका—आत्मा यदि व्यापक न हो, तो अन्य स्थानोंमें रहनेवाले परमाणुओंके साथ एक समयमें उसका संयोग न हो सकेगा, अतएव आद्य-कर्मका अभाव होगा। आद्यकर्मके अभावसे अन्त्य-संयोगका भी अभाव होगा, अन्त्य-संयोगके अभावसे अंत्य-संयोगके निमित्त से उत्पन्न होनेवाले शरीरका अभाव होगा, तथा शरीरका अभाव होनेने शरीरका आत्माके साथ सम्वन्ध नहीं वन सकता, अतएव सब जीवोंको विना प्रयत्नके मोक्ष प्राप्त हो जायेगा। (भाव यह है कि वैशेषिक लोग अदृष्टसे युक्त आत्माके संयोगसे परमाणुओंमें क्रिया मानते हैं। परमाणुओंमें क्रिया होनेसे परमाणु आकाशके एक प्रदेशको छोड़ कर

अथास्तु यथाकथञ्चिच्छरीरोत्पत्तिः, तथापि सावयवं शरीरं प्रत्यवयवमनुप्रविशन्नात्मा सावयवः स्यात्। तथा चास्य पटादिवत् कार्यत्वप्रसङ्गः। कार्यत्वे चासौ विजातीयैः सजातीयैर्वा कारणैरारभ्येत। न तावद्विजातीयैः तेषामनारम्भकत्वात्। न हि तन्तवो घटमारभन्ते। न च सजातीयैः। यत आत्मत्वाभिसम्बन्धादेव तेषां कारणानां सजातीयत्वम्। पार्थिवादिपरमाणूनां विजातीयत्वात्। तथा चात्मभिरात्मा आरभ्यत इत्यायातम्। तच्चायुक्तम्। एकत्र शरीरेऽनेकात्मनामात्मारम्भकाणामसम्भवात्। सम्भवे वा प्रतिसन्धानानुपपत्तिः। न हि अन्येन दृष्टमन्यः प्रतिसन्धातुमर्हति, अतिप्रसङ्गात्। तदारभ्यत्वे चास्य घटवदवयवक्रियातो विभागात् संयोगविनाशाद् विनाशः स्यात्। तस्माद् व्यापक एवात्मा युज्यते। कायप्रमाणतायामुक्तदोषसद्भावादिति चेत्। न। सावयवत्वकार्यत्वयोः कथञ्चिदात्मन्यभ्युपगमात्। तत्र सावयवत्वं तावद् असंख्येयप्रदेशात्मकत्वात्। तथा च द्रव्यालङ्कारकारः—"आकाशोऽपि सदेशः, सकृत्सर्वमूर्ताभिसम्बन्धार्हत्वात्" इति। यद्यप्यवयवप्रदेशयोर्गन्धहस्त्यादिषु भेदोऽस्ति तथापि नात्र सूक्ष्मेक्षिका चिन्त्या। प्रदेशेष्ववयवव्यवहारात्। कार्यत्वं तु वक्ष्यामः॥

(विभाग) दूसरे प्रदेशसे संयुक्त (संयोग) होते हैं। इस तरह आकाशके प्रदेशमें परमाणुओंके इकट्ठे होनेसे द्वचणुक, त्र्यणुक आदि कार्य होते हैं। यदि आत्माको सर्वव्यापक न मानें, तो उसका परमाणुओंके साथ सम्बन्ध न हो सकेगा, इसलिए वह परमाणुओंमें कोई क्रिया नहीं कर सकती, अतः क्रियाका अभाव होगा। क्रियाका अभाव होनेसे परमाणुका आकाशके प्रदेशोंसे विभाग और संयोग नहीं बन सकता, इसलिये जिन द्वचणुक, त्र्यणुक आदि अवयवोंका संयोग होनेसे शरीर बनता है, उस अन्त्य-संयोगका भी अभाव होगा। अतएव अन्त्य-संयोगसे होनेवाले शरीरका भी अभाव हो जाना चाहिये। तथा शरीरका अभाव ही मोक्ष है, अतएव आत्माको सर्वव्यापक न माननेसे सब जीवोंको अनायास ही मोक्षकी प्राप्ति हो जायेगी।) **समाधान**—यह ठीक नहीं। क्योंकि यह नियम नहीं कि जो जिसके साथ संयुक्त हो, वह उसके प्रति आकर्षित होता ही हो। चुम्बक और लोहके परस्पर संयुक्त न होनेपर भी उनमें आकर्षण देखा जाता है। इसलिए जैसे लोहे और चुम्बकका संयोग नहीं है, फिर भी उनमें आकर्षण होता है, वैसे ही आत्मा और परमाणुओंका संयोग न होनेपर भी आत्मा परमाणुओंको आर्कषित कर सकता है, उसे सर्वव्यापक माननेकी आवश्यकता नहीं। **शंका**—यदि विना संयोगके भी आत्माका परमाणुओंके प्रति आकर्षण हो, तो आत्माको बनानेवाले प्रत्येक मुखीभूत त्रिभुवनके उदरवर्ती परमाणुओंके प्रति आत्माका आकर्षण होनेसे न जाने आत्माको कितने महत् परिमाणवाला मानना होगा। **समाधान**—वैशेषिक लोगोंके मतमें आत्माके साथ संयुक्त पदार्थोंका आकर्षण माननेपर भी उक्त दोष वैसा ही रहता है। क्योंकि आत्माके व्यापक होनेसे उसका सम्पूर्ण परमाणुओंके साथ सम्बन्ध रहता ही है। **शंका**—अदृष्टके बलसे शरीरके उत्पन्न करनेके अनुकूल नियत परमाणु ही आत्माके प्रति आर्कषित होते हैं। **समाधान**—लेकिन यही बात असंयुक्त परमाणुओंके साथ आत्माका सम्बन्ध माननेमें भी कही जा सकती है।

शंका—शरीरकी उत्पत्ति चाहे संयुक्त परमाणुओंसे हो, अथवा असंयुक्त परमाणुओंसे, परन्तु शरीर अवयव सहित है। अतएव शरीरके प्रत्येक अवयवमें प्रवेश करनेसे आत्माको भी सावयव मानना चाहिये। जैसे पट आदि सावयव होनेसे कार्य हैं, वैसे ही आत्माको भी सावयव होनेसे कार्य मानना चाहिये। तथा, यदि आत्मा कार्य है, तो वह सजातीय कारणोंसे बनती है, अथवा विजातीय कारणोंसे? आत्मा विजातीय कारणोंसे नहीं बन सकती, क्योंकि विजातीय कारणोंसे कोई भी कार्य नहीं होता है; उदाहरणके लिये, तन्तुओंसे घड़ा नहीं बन सकता। आत्मा सजातीय कारणोंसे भी उत्पन्न नहीं हो सकती। क्योंकि पार्थिव आदि परमाणु विजातीय हैं, इसलिये सजातीय कारण आत्माके सम्बन्धसे ही सजातीय कहे जा सकते हैं। अर्थात् जिन कारणोंसे आत्माका सम्बन्ध हो, वे ही कारण आत्माके सजातीय हो सकते हैं। अतएव यह अर्थ निकला कि आत्माओंसे आत्मा उत्पन्न किया जाता है। परन्तु जैन लोगोंको यह मान्य नहीं है। क्योंकि एक ही

नन्वात्मनां कार्यत्वे घटादिवत्प्राक्प्रसिद्धसमानजातीयावयवारभ्यत्वप्रसक्तिः। अवयवा ह्यवयविनमारभन्ते, यथा तन्तवः पटमिति चेत्। न वाच्यम्। न खलु घटादावपि कार्ये प्राक्प्रसिद्धसमानजातीयकपालसंयोगारभ्यत्वं दृष्टम्। कुम्भकारादिव्यापारान्विताद् मृत्पिण्डात् प्रथममेव पृथुबुध्नोदराद्याकारस्यास्योत्पत्तिप्रतीतेः। द्रव्यस्य हि पूर्वाकारपरित्यागेनोत्तराकारपरिणामः कार्यत्वम्। तच्च बहिरिवान्तरप्यनुभूयत एव ततश्चात्मापि स्यात् कार्यः। न च पटादौ स्वावयवसंयोगपूर्वककार्यत्वोपलम्भात् सर्वत्र तथाभावो युक्तः। काष्ठे लोहलेख्यत्वोपलम्भाद् वज्रेऽपि तथाभावप्रसङ्गात्। प्रमाणबाधनमुभयत्रापि तुल्यम्। न चोक्तलक्षणकार्यत्वाभ्युपगमेऽप्यात्मनोऽनित्यत्वानुषङ्गात् प्रतिसन्धानाभावोऽनुषज्यते। कथञ्चिदनित्यत्वे सत्येवास्योपपद्यमानत्वात्। प्रतिसन्धानं हि यमहमद्राक्षं तमहं स्मरामीत्यादिरूपम्। तच्चैकान्तनित्यत्वे कथमुपपद्यते। अवस्थाभेदात्। अन्या ह्यनुभवावस्था, अन्या च स्मरणावस्था। अवस्थाभेदे चावस्थावतोऽपि भेदादेकरूपत्वक्षतेः कथञ्चिदनित्यत्वं युक्त्यायातं केन वार्यताम् ॥

शरीरमें अनेक आत्मायें एक आत्माको उत्पन्न नहीं कर सकतीं। यदि अनेक आत्मायें एक आत्माको उत्पन्न करने लगें तो किसी पदार्थको स्मृति न हो सकेगी। क्योंकि एक आत्मासे देखे हुए पदार्थको दूसरा आत्मा स्मरण नहीं कर सकता। तथा, आत्मा रूप सजातीय कारणोंसे आत्माके उत्पन्न होनेपर घटकी तरह आत्माका अवयव-क्रियासे विभाग होगा, और इस प्रकार संयोगके नाश होनेसे आत्माका भी नाश हो जाना चाहिये। अर्थात् जैसे घट रूप कार्यका अवयव-क्रियासे विभाग होनेके कारण पूर्वसंयोगका नाश होता है, उसी तरह आत्मा रूप कार्यका भी अवयव-क्रियासे विभाग होनेपर संयोगका नाश हो जाना चाहिये। अतएव आत्माको शरीरके परिमाण माननेमें अनेक दोष आते हैं। **समाधान**—यह कथन ठीक नहीं। क्योंकि हम लोग सावयवत्व और कार्यत्वको कथंचित् रूपसे आत्मामें स्वीकार करते ही हैं। हम लोग आत्माको असंख्य प्रदेशी मानते हैं, इसलिये आत्माका सावयव है। **द्रव्यालंकार**के कर्त्ता कहते हैं—"आकाश भी प्रदेश सहित है, क्योंकि आकाशमें एक ही समयमें सम्पूर्ण मूर्त पदार्थ रहते हैं।" यद्यपि **गन्धहस्ति** आदि ग्रन्थोंमें अवयव और प्रदेशमें भेद बताया गया है, परन्तु यहाँ हम इस सूक्ष्म चर्चामें नहीं उतरते क्योंकि प्रदेशोंमें भी अवयवका व्यवहार होता है। आत्माके कार्यत्वका आगे प्ररूपण करेंगे।

शंका—आत्माको कार्य माननेपर घटादिकी तरह आत्माकी उत्पत्ति भी सजातीय अवयवोंसे माननी चाहिये। क्योंकि अवयव ही अवयवीको उत्पन्न करते हैं; जैसे तन्तु पटको उत्पन्न करते हैं, वैसे ही आत्माकी भी अपने सजातीय अवयवोंसे उत्पत्ति माननी चाहिये। **समाधान**—यह ठीक नहीं। क्योंकि सजातीय दो कपालोंके संयोगसे घट आदि कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती, कारण कि कुम्हारके व्यापारसे युक्त मिट्टीके पिण्डसे दोनों कपालोंके उत्पन्न होनेके पहले ही मोटे, गोल और उदर आकारवाले घटका ज्ञान होता है। जिस समय कुम्हार मिट्टीके पिण्डसे घड़ा बनानेको बैठता है, उस समय मिट्टीके पिण्डसे दो कपालोंकी उत्पत्ति हुए बिना ही मोटे, गोल आदि आकारवाले घटकी उत्पत्ति होती है। तथा, द्रव्यके पहले आकारको छोड़कर दूसरा आकार धारण करनेको कार्यत्व कहते हैं। यह कार्यत्व जैसे घट आदिमें बाह्य रूपमें देखा जाता है, वैसे ही आत्मामें अन्तरंग रूपमें देखा जाता है, अतएव आत्मा भी कथंचित् कार्य है। यदि कहो कि जैसे पटमें तन्तु रूप अवयवोंके संयोगसे पट आदि कार्य होते हैं, वैसे ही सब पदार्थोंमें अवयवोंके संयोगसे ही कार्य होते हैं, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि सब जगह एकसे नियम नहीं होते। उदाहरणके लिये, लकड़ी लोहेसे खोदी जाती है, परन्तु वज्र लोहेसे नहीं खोदा जा सकता। यदि कहो कि वज्रका लोहेसे खोदा जाना प्रत्यक्षसे बाधित है, तो इसी तरह कपालके संयोगसे घटका उत्पन्न होना भी प्रत्यक्षसे बाधित है। तथा, पूर्व आकार छोड़ कर उत्तर आकारको ग्रहण करने रूप कार्यत्वके माननेपर आत्माके अनित्य होनेसे स्मरणका अभाव नहीं हो सकता। क्योंकि आत्माके कथंचित् अनित्य माननेपर भी स्मरणकी सिद्धि होती है। 'जो मैंने देखा, उसे स्मरण

अथात्मनः शरीरपरिमाणत्वे मूर्तत्वानुषङ्गात् शरीरेऽनुप्रवेशो न स्याद्, मूर्ते मूर्तस्यानुप्रवेशविरोधात्। ततो निरात्मकमेवाखिलं शरीरं प्राप्नोतीति चेत्, किमिदं मूर्तत्वं नाम। असर्वगतद्रव्यपरिमाणत्वं, रूपादिमत्त्वं वा ? तत्र नाद्यः पक्षो दोषाय, संमतत्वात्। द्वितीयस्त्वयुक्तः, व्याप्त्यभावात्। नहि यदसर्वगतं तद् नियमेन रूपादिमदित्यविनाभावोऽस्ति। मनसोऽसर्वगतत्वेऽपि भवन्मते तदसम्भवात्। आकाशकालदिगात्मनां सर्वगतत्व परममहत्त्वं[२] सर्वसंयोगिसमानदेशत्वं[३] चेत्युक्तत्वाद् मनसो वैधर्म्यात्, सर्वगतत्वेन प्रतिषेधनात्। अतो नात्मनः शरीरेऽनुप्रवेशानुपपत्तिः, येन निरात्मकं तत् स्यात्। असर्वगतद्रव्यपरिमाणलक्षणमूर्तत्वस्य मनोवत् प्रवेशाप्रतिबन्धकत्वात्। रूपादिमत्त्वलक्षणमूर्तत्वोपेतस्यापि जलादेर्वालुकादावनुप्रवेशो न निषिध्यते आत्मनस्तु तद्रहितस्यापि तत्रासौ प्रतिषिध्यत इति महच्चित्रम्॥

अथात्मनः कायपरिमाणत्वे बालशरीरपरिमाणस्य सतो युवशरीरपरिमाणस्वीकारः कथं स्यात्। किं तत्परिमाणत्यागात्, तदपरित्यागाद् वा ? परित्यागात् चेत्, तदा शरीरवत् तस्यानित्यत्वप्रसङ्गात् परलोकाद्यभावानुषङ्गः। अथापरित्यागात्, तन्न। पूर्वपरिमाणापरित्यागे शरीरवत् तस्योत्तरपरिमाणोत्पत्त्यनुपपत्तेः। तदयुक्तम्। युवशरीरपरिमाणावस्थायामात्मनो बालशरीरपरिमाणपरित्यागे सर्वथा विनाशासम्भवात्, विफणावस्थोत्पादे सर्पवत्। इति कथं परलोकाभावोऽनुषज्यते। पर्यायतस्तस्यानित्यत्वेऽपि द्रव्यतो नित्यत्वात्॥

करता हूँ', यह स्मरण आत्माको एकान्त नित्य माननेपर नहीं बन सकता; क्योंकि अनुभवकी अवस्था स्मरणकी अवस्थासे भिन्न है। तथा अवस्थाके भिन्न होनेसे अवस्थावाले आत्मामें भी भेद मानना चाहिये। अतएव आत्माको एकान्त नित्य नहीं कहा जा सकता। उसे कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य मानना ही युक्तियुक्ति है।

शंका—आत्माको शरीरके परिणाम माननेपर आत्माको मूर्त मानना चाहिये, अतएव आत्मा मूर्त शरीरमें प्रवेश न कर सकेगी, क्योंकि मूर्त मूर्तमें प्रवेश नहीं कर सकता। अतएव समस्त शरीर आत्मासे रहित हो जायेगा। **समाधान**—आप शरीर-परिमाण को (असर्वगत) मूर्त कहते हैं, अथवा रूपादि धारण करनेको मूर्त कहते हैं ? प्रथम पक्ष हम स्वयं स्वीकार करते हैं। तथा रूपादि धारण करनेकी शरीर-परिमाणके साथ व्याप्ति नहीं है इसलिये दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं। क्योंकि जो असर्वगत है, अर्थात् शरीरके परिमाण है, वह रूपादिसे युक्त नहीं होता; क्योंकि मनके शरीर-परिमाण होनेपर भी वह आपके मतमें रूपादिसे युक्त नहीं है। आप लोगोंने आकाश, काल, दिक् और आत्माको सर्वगत, परम महान् और सब मूर्त द्रव्यों के संयोगका धारक कह कर मनको अव्यापक सिद्ध किया है। अतएव आत्माका शरीरमें प्रवेश करना असिद्ध नहीं है, जिससे शरीरको आत्मासे रहित कहा जा सके। क्योंकि असर्वगत मनकी तरह शरीर-परिमाण मूर्त आत्मा भी शरीरमें प्रवेश कर सकता है। अतएव जैसे वैशेषिकोंके अनुसार मूर्त मन मूर्त शरीरमें प्रवेश कर सकता है, वैसे ही हमारे मतमें मूर्त आत्मा भी मूर्त शरीरमें प्रवेश कर सकती है। तथा रूपादिसे युक्त जल आदि मूर्त पदार्थ मूर्त वालुका आदिमें प्रवेश करते देखे ही जाते हैं, फिर रूपादिसे रहित आत्मा मूर्त शरीरमें न प्रवेश कर सके, यह एक महान् आश्चर्य ही होगा।

शंका—आत्माको शरीरके परिमाण स्वीकार करनेमें बालकका शरीर युवाके शरीरमें कैसे बदल सकता हैं ? हम पूछते हैं कि बालकके शरीरके परिमाणको छोड़कर युवाका शरीर बनता है, अथवा पूर्व परिणामको बिना छोड़े ही उत्तर शरीरका परिमाण बन जाता है ? प्रथम पक्षमें, शरीरकी तरह आत्माको भी अनित्य होना चाहिये, तथा आत्माके अनित्य होनेपर परलोक आदि भी नहीं बन सकता। द्वितीय पक्षमें,

---

१. सर्वमूर्तसंयोगित्वम्। २. इयत्तारहितत्वम्। ३. सर्वेषां मूर्तद्रव्याणां आकाशं समानो देश एक आधार इत्यर्थः। एवं दिगादिष्वपि व्याख्येयं। यद्यपि आकाशादिकं सर्वसंयोगिनामाधारो न भवति, इहप्रत्ययविषयत्वेनावस्थानात्। तथापि सर्वसंयोगिसंयोगाधारभूतत्वादुपचारेण सर्वसंयोगिनामप्याधार उच्यते॥

अथात्मनः कायपरिमाणत्वे तत्खण्डने खण्डनप्रसङ्गः, इति चेत्, कः किमाह शरीरस्य खण्डने कथंचित् तत्खण्डनस्येष्टत्वात्। शरीरसम्बद्धात्मप्रदेशेभ्यो हि कतिपयात्मप्रदेशानां खण्डितशरीरप्रदेशेऽवस्थानादात्मनः खण्डनम्। तच्चात्र विद्यत एव। अन्यथा शरीरात् पृथगभूतावयवस्य कम्पोपलब्धिर्न स्यात्। न च खण्डितावयवानुप्रविष्टस्यात्मप्रदेशस्य पृथगात्मत्वप्रसङ्गः, तत्रैवानुप्रवेशात्। न चैकत्र सन्तानेऽनेके आत्मानः। अनेकार्थप्रतिभासिज्ञानानामेकप्रमात्राधारतया प्रतिभासाभावप्रसङ्गात्। शरीरान्तरव्यवस्थितानेकज्ञानावसेयार्थसंवित्तिवत्॥

कथं खण्डितावयवयोः संघट्टनं पश्चाद् इति चेत्, एकान्तेन छेदानभ्युपगमात्। पद्मनालतन्तुवत् छेदस्यापि स्वीकारात्। तथाभूतादृष्टवशात् तत्संघट्टनमविरुद्धमेवेति तनुपरिमाण एवात्माङ्गीकर्तव्यः, न व्यापकः। तथा च आत्मा व्यापको न भवति, चेतनत्वात्, यत्तु व्यापकं न तत् चेतनम्, यथा व्योम, चेतनश्चात्मा, तस्माद् न व्यापकः। अव्यापकत्वे चास्य तत्रैवोपल-

---

शरीरके पहले परिमाणको छोड़े विना उत्तर परिमाणकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है? **समाधान**—यह ठीक नहीं। क्योंकि बालकका शरीर छोड़ कर युवा शरीर प्राप्त करते समय आत्माका सर्वथा विनाश नहीं होता। जैसे फण सहित अवस्थाको छोड़कर फण रहित अवस्थाको प्राप्त करते समय सर्पकी आत्माका सर्वथा विनाश नहीं होता, उसी तरह बाल शरीरसे युवा शरीरकी अवस्था प्राप्त करते समय आत्माका नाश नहीं होता। अतएव आत्माको शरीर-परिमाण माननेपर परलोक आदिका अभाव नहीं हो सकता। क्योंकि पर्यायकी अपेक्षासे अनित्य होने पर भी द्रव्यकी अपेक्षासे आत्मा नित्य है।

शंका—आत्माको शरीर-परिमाण माननेपर शरीरके नाश होनेसे आत्माका भी नाश हो जाना चाहिये। **समाधान**—आप यह क्या कहते हैं, शरीरके नाश होनेपर आत्माका कथंचित् नाश हमने स्वयं स्वीकार किया है। क्योंकि शरीरसे सम्बद्ध आत्मप्रदेशोंमें कुछ आत्मप्रदेशोंके खण्डित शरीरमें रहनेकी अपेक्षासे आत्माका नाश होता ही है। यदि इस अपेक्षासे आत्माका नाश न माना जाय, तो शरीरके तलवार आदिसे काटे जानेपर शरीरसे भिन्न अवयवोंमें कम्पन की उपलब्धि नहीं होनी चाहिये। परन्तु जिस समय पूर्ण शरीरसे कुछ अवयव कट कर अलग हो जाते हैं, उस समय उन अवयवोंमें कम्पन आदि क्रिया होती है (जैन मान्यताके अनुसार, इन कटे हुए अवयवोंमें आत्माके कुछ प्रदेश रहते हैं, इसीलिये यह क्रिया होती है) अतएव आत्मा नाशमान भी है। **शंका**—शरीरके खण्डित अवयवोंमें आत्माके प्रदेशोंको स्वीकार करनेसे खण्डित अवयवोंमें भिन्न आत्मा मानना चाहिये। **समाधान**—यह बात नहीं है। क्योंकि खण्डित अवयवोंमें रहनेवाले आत्माके प्रदेश फिरसे पहले शरीरमें ही लौट आते हैं। तथा, एक स्थानमें अनेक आत्मा नहीं बन सकते, अन्यथा अनेक पदार्थोंका निश्चय करानेवाली नेत्र आदि इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानको एक ज्ञाता रूप आत्माके आधारसे पदार्थोंका निश्चय न हो सकेगा। इसलिये एक शरीरमें अनेक आत्मा माननेपर जिस रूपको शरीरके नेत्र रूप अवयवमें स्थित आत्मा देखता है, उसका निश्चय नेत्रस्थ आत्माको ही होना चाहिये, कानकी आत्माको नहीं। फिर, एक ज्ञाताके आधारसे प्रत्येक आत्मामें 'मैं देखता हूँ', 'मैं सूँघता हूँ' इस प्रकारका निश्चित ज्ञान नहीं हो सकता।

शंका—आत्माके अवयव खण्डित हो जानेपर वे बादमें एक कैसे हो जाते हैं? **समाधान**—हम लोग आत्माके प्रदेशोंका सर्वथा उच्छेद नहीं मानते। हमारे मतमें कमलकी डण्डीके तन्तुओंकी तरह आत्माका उच्छेद स्वीकार किया गया है। जिस प्रकार कमलकी नालके टुकड़े करनेपर टूटे हुए तन्तु फिरसे आकर मिल जाते हैं, वैसे ही शरीरके खण्डित होनेपर खण्डित आत्माके प्रदेश फिरसे पहले आत्माके प्रदेशोंसे आकर मिल जाते हैं। इन आत्माके प्रदेशोंका मिल जाना अदृष्टके बलसे सम्भव है, इसलिए आत्माको व्यापक न मानकर शरीर-परिमाण ही मानना चाहिये। तथा, चेतन होनेसे आत्मा व्यापक नहीं है। जो व्यापक है वह चेतन नहीं है, जैसे आकाश। आत्मा चेतन है, इसलिये वह व्यापक नहीं है। आत्माके अव्यापक होनेपर, 'जहां

भ्यमानगुणत्वेन सिद्धा कायप्रमाणता। यत्पुनरष्टसमयसाध्यकेवलिसमुद्घातदशायामार्हतानामपि चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकव्यापित्वेनात्मनः सर्वव्यापकत्वम्, तत् कादाचित्कम्, इति न तेन व्यभिचारः। स्याद्वादमन्त्रकवचावगुण्ठितानां च नेदृशविभीषिकाभ्यो भयम्॥ इति काव्यार्थः॥ ९॥

जिसके गुण पाये जाते हैं' हेतुसे आत्मा शरीर-परिमाण ही सिद्ध होती है। तथा केवलीके समुद्घात दशामें आठ समयमें चौदह राजू परिमाण तीन लोकमें व्याप्त होनेकी अपेक्षा जो अत्माको व्यापक कहा है, वह कभी-कभी होता है, नियमित रूपसे नहीं, इसलिये यहाँ पर समुद्घात दशामें आत्माके व्यापक होनेसे व्यभिचार नहीं आता। (मूल शरीरको न छोड़ कर आत्माके प्रदेशोंके बाहर निकलनेको समुद्घात कहते हैं। यह समुद्घात वेदना, कषाय, मारणांतिक, तैजस, विक्रिया, आहारक और केवलीके भेदसे सात प्रकारका है। (१) तीव्र वेदना होनेके समय मूल शरीरको न छोड़ कर आत्माके प्रदेशोंके बाहर जानेको वेदनासमुद्घात कहते हैं। (२) तीव्र कषायके उदयसे दूसरेका नाश करनेके लिये मूल शरीरको विना छोड़े आत्माके प्रदेशोंके बाहर निकलनेको कषायसमुद्घात कहते हैं। (३) जिस स्थानमें आयुका वन्ध किया हो, मरनेके अन्तिम समय उस स्थानके प्रदेशोंको स्पर्श करनेके लिये मूल शरीरको न छोड़ कर आत्माके प्रदेशोंके बाहर निकलनेको मारणांतिकसमुद्घात कहते हैं। (४) तैजससमुद्घात शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकारका होता है। जीवोंको किसी व्याधि अथवा दुर्भिक्षसे पीड़ित देखकर मूल शरीरको न छोड़ मुनियोंके शरीरसे बारह योजन लम्बे, मूलभागमें सूच्यंगुलके असंख्येयभाग, अग्रभागमें नौ योजन, शुभ आकृति वाले पुतलेके बाहर निकल कर जानेको शुभ-तैजससमुद्घात कहते हैं। यह पुतला, व्याधि, दुर्भिक्ष आदिको नष्ट करके वापिस लौट आता है। किसी प्रकारके अपने अनिष्टको देखकर क्रोधके कारण मूल शरीरके विना छोड़े ही मुनियोंके शरीरसे उक्त परिमाणवाले अशुभ पुतलेके बाहर निकल कर जानेको अशुभ-तैजससमुद्घात कहते हैं। यह अशुभ पुतला अपनी अनिष्ट वस्तुको नष्ट करके मुनिके साथ स्वयं भी भस्म हो जाता है। द्वीपायन मुनिने अशुभ-तैजससमुद्घात किया था। (५) मूल शरीरको न छोड़ कर किसी प्रकारकी विक्रिया करनेके लिये आत्माके प्रदेशोंके बाहर जानेको विक्रियासमुद्घात कहते हैं। (६) ऋद्धिधारी मुनियोंको किसी प्रकारकी तत्त्वसम्बन्धी शंका होनेपर उनके मूल शरीरको बिना छोड़े शुद्ध स्फटिकके आकार, एक हाथके बराबर पुतलेका मस्तकके बीचसे निकलकर शंकाकी निवृत्तिके लिये केवली भगवान्के पास जाना, आहारकसमुद्घात है। यह पुतला अन्तर्मुहूर्तमें केवलीके पास पहुँच जाता है, और शंकाकी निवृत्ति होनेपर अपने स्थानको लौट आता है। (७) वेदनीय कर्मके अधिक रहनेपर और आयु कर्मके कम रह जानेपर आयु कर्मको विना भोगे ही आयु और वेदनीय कर्मके बराबर करनेके लिये आत्मप्रदेशोंका समस्त लोकमें व्याप्त हो जाना केवलीसमुद्घात है। वेदना, कषाय, मारणांतिक, तैजस, वैक्रियक और आहारक समुद्घातमें छह समय (लोकप्रकाश आदि श्वेताम्बर शास्त्रोंमें इनका समय अन्तमुहूर्त

---

१. हंतेर्गमिक्रियात्वात्संभूयात्मप्रदेशानां च बहिरुद्गमनं समुद्घातः। स सप्तविधः। वेदनाकषायमारणांतिकतेजोविक्रियाऽऽहारककेवलिविषयभेदात्। वेदनीयस्य बहुत्वादल्पत्वाच्चायुषोऽनाभोगपूर्वकमायुःसमकरणार्थं द्रव्यस्वभावत्वात् सुराद्रव्यस्य फेनवेगबुद्बुदाविर्भावोपशमनवद्देहस्थात्मप्रदेशानां बहिःसमुद्घातनं केवलिसमुद्घातः। केवलिसमुद्घातः अष्टसमयिकः। दंडकपाटप्रतरलोकपूरणानि चतुर्षु समयेषु, पुनः प्रतरकपाटदण्डस्वशरीरानुप्रवेशाश्चतुर्षु इति। राजवार्तिके पृ० ५३

२. उब्भियदलेक्कमुरवद्धयसंचयसण्णिहो हवे लोगो।
अद्धुदयो मुरवसमो चोद्दसरज्जूदओ सव्वो॥
छाया–उद्भूतदलैकमुरजध्वजसंचयसन्निभो भवेत् लोकः।
अर्धोदयः मुरजसमः चतुर्दशरज्जूदयः सर्वः॥

त्रिलोकसारे १–६

बताया गया है) और केवलीसमुद्घातमें आठ समय लगते हैं। केवलीसमुद्घातमें पहले चार समयोंमें आत्माके प्रदेश क्रमसे दण्ड, कपाट, प्रतर (मन्थान—लोकप्रकाश) और लोकपूर्ण होते हैं, तथा बादमें प्रतर (मन्थान) कपाट और दण्ड-परिमाण होकर अपने स्थानको लौट जाते हैं। यहाँ केवलीसमुद्घात अवस्थामें ही आत्माको सर्वव्यापक कहा है।) स्याद्वाद रूपी मंत्रके कवचसे अवगुण्ठित हम लोगों को इस प्रकार की विभीषिकाओंका भय नहीं है। यह श्लोकका अर्थ है।

भावार्थ—इस श्लोकमें आत्माके सर्वव्यापकत्वका खंडन किया गया है। अनुमान—'जहाँ जिस वस्तुके गुण पाये जाते हैं, वह वस्तु उसी जगह उपलब्ध होती है, जैसे जहाँ घटके रूपादि गुण पाये जाते हैं, वहीं पर घट उपलब्ध होता है।'

शंका—पुष्पके एक स्थानमें रहनेपर भी उसकी गंध दूसरे स्थानमें भी देखी जाती है। **समाधान**—दूर देशमें पाये जानेवाली गंध पुष्पका गुण नहीं है, पुष्पमें रहनेवाले गंध पुद्गल ही उड़कर हमारी नाक तक आते हैं।

शंका—मंत्र आदि दूर स्थानसे भी मारण, उच्चाटन आदि क्रिया करते हैं। **समाधान**—मारण, उच्चाटन मंत्रका गुण नहीं हैं, परन्तु मंत्रके अधिष्ठाता देव ही मारण आदि क्रिया करनेमें समर्थ होते हैं। इसलिए 'आत्मा व्यापक नहीं है, क्योंकि आत्माके गुण सर्वत्र उपलब्ध नहीं होते। जिसके गुण सर्वत्र उपलब्ध नहीं होते, वह व्यापक नहीं होता, जैसे घटके गुण सर्वत्र उपलब्ध नहीं होते, इसलिए घट व्यापक नहीं है। आत्माके गुण भी सर्वत्र नहीं पाये जाते, इसलिए आत्मा भी व्यापक नहीं है। आकाश व्यापक है, इसलिये आकाशके गुण सर्वत्र पाये जाते हैं।'

शंका—अदृष्ट आत्माका गुण है। यह अदृष्ट दूर स्थानमें भी क्रिया करता है। यदि आत्माको सर्वव्यापक न मानें, तो अदृष्ट दूर देशमें क्रिया नहीं कर सकता। **समाधान**—अदृष्टके माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है। अदृष्टकी सिद्धिमें हमें कोई प्रमाण भी नहीं मिलता। अग्निकी शिखाका ऊँचा जाना आदि कार्य वस्तुओंके स्वभावसे ही होते हैं। यदि अदृष्टसे सब कार्य होने लगें, तो फिर ईश्वरकी भी कोई आवश्यकता न रहे। तथा, आत्माको सर्वव्यापक मानकर उसे नाना स्वीकार करनेमें आत्माओंमें परस्पर भिड़न्त हो जानी चाहिये, और एक आत्माका सुख दूसरी आत्माको उपभोग करना चाहिये। तथा, सर्वव्यापक आत्माको ईश्वरकी आत्मामें प्रवेश करना चाहिए, इसलिए या तो ईश्वर भी सृष्टिकर्ता न रहेगा, अथवा आत्मा भी सृष्टिकर्ता हो जायेगा।

शंका—यदि आत्माको व्यापक न मानें तो आत्मा अपने दूसरे जन्मके शरीरके योग्य परमाणुओंको अपनी ओर कैसे आकर्षित कर सकता है? यदि किसी तरह वह अपने शरीरके योग्य परमाणुओंको आकर्षित कर भी ले, तो भी आत्मा शरीर-परिमाण ही ठहरेगा, इसलिए आत्माको सावयव होनेसे कार्य (अनित्य) मानना चाहिये। **समाधान**—जैन लोग आत्माको सावयव मानते हैं, इसलिए आत्मामें परिमाण भी होता है। हम लोग किसी भी पदार्थको एकन्त नित्य नहीं मानते।

शंका—यदि आत्मा शरीर-परिमाण हैं, तो वह शरीरमें प्रवेश नहीं कर सकता, क्योंकि एक मूर्त पदार्थका दूसरे मूर्त पदार्थमें प्रवेश नहीं हो सकता। **समाधान**—मूर्तत्वसे यदि आप लोगोंका अभिप्राय रूपादिको धारण करनेवालेसे है, तो हम लोग आत्माको रूप आदिसे युक्त नहीं मानते। हाँ, यदि अव्यापकत्वको आप लोग मूर्त कहते हैं, तो हम आत्माको अवश्य शरीर-परिमाण मानते हैं। अतएव जैनसिद्धान्त के अनुसार आत्मा द्रव्यकी अपेक्षा नित्य है, और पर्यायकी अपेक्षा अनित्य।

वैशेषिकनैयायिकयोः प्रायः समानतन्त्रत्वादौलूक्यमते क्षिप्ते यौगमतमपि क्षिप्तमेवावसेयम्। पदार्थेषु च तयोरपि न तुल्या प्रतिपत्तिरिति सांप्रतमक्षपादप्रतिपादितपदार्थानां सर्वेषां चतुर्थपुरुषार्थं प्रत्यसाधकतमत्वे वाच्येऽपि, तदन्तःपातिनां छलजातिनिग्रहस्थानानां परोपन्यासनिराससमात्रफलतया अत्यन्तमनुपादेयत्वात् तदुपदेशदातुर्वैराग्यमुपहसन्नाह—

स्वयं विवादग्रहिले वितण्डापाण्डित्यकण्डूलमुखे जनेऽस्मिन्।
मायोपदेशात् परमर्म भिन्दन्नहो विरक्तो मुनिरन्यदीयः ॥१०॥

अन्ये—अविज्ञाततत्त्वदाज्ञासारतयाऽनुपादेयनामानः परे, तेषामयं शास्तृत्वेन सम्बन्धी अन्यदीयो मुनिः अक्षपादऋषिः, अहो विरक्तः—अहो वैराग्यवान्। अहो इत्युपहासगर्भमाश्चर्यं सूचयति। अन्यदीय इत्यत्र "ईयकारके",[1] इति दोऽन्तः। किं कुर्वन्नित्याह। परमर्म भिन्दन्—जातावेकवचनप्रयोगात् परमर्माणि व्यथयन्। "बहुभिरात्मप्रदेशैरधिष्ठिता देहावयवा मर्माणि" इति पारिभाषिकी संज्ञा। तत उपचारात् साध्यस्वतत्त्वसाधनाव्यभिचरितया प्राणभूतः साधनोपन्यासोऽपि मर्मेव मर्म। कस्मात् तद्भिन्दन्, मायोपदेशाद्धेतोः, माया—परवञ्चनम्, तस्या उपदेशः छलजातिनिग्रहस्थानलक्षणपदार्थत्रयप्ररूपणद्वारेण शिष्येभ्यः प्रतिपादनं, तस्मात् "गुणादस्त्रियां न वा"[2] इत्यनेन हेतौ तृतीयाप्रसङ्गे पञ्चमी। कस्मिन् विषये मायामयमुपदिष्टवान् इत्याह। अस्मिन् प्रत्यक्षोपलक्ष्यमाणे, जने—तत्त्वातत्त्वविमर्शबहिर्मुखतया प्राकृतप्राये लोके। कथम्भूते, स्वयम्—आत्मना परोपदेशनिरपेक्षमेव, विवादग्रहिले—विरुद्धः—परस्परलक्ष्यीकृतपक्षाधिक्षेपदक्षः, वादो—वचनोपन्यासो विवादः। तथा च भगवान् हरिभद्रसूरिः—

"लब्धिख्यात्यर्थिना तु स्याद् दुःस्थितेनामहात्मना।
छलजातिप्रधानो यः स विवाद इति स्मृतः"[3] ॥

तेन ग्रहिल इव—ग्रहगृहीत इव। तत्र यथा ग्रहाद्यपस्मारपरवशः पुरुषो यत्किञ्चनप्रलापी स्याद् एवमयमपि जन इति भावः। तथा, वितण्डा—प्रतिपक्षस्थापनाहीनं वाक्यम्। वितण्ड्यते आहन्यतेऽनया प्रतिपक्षसाधनमिति व्युत्पत्तेः। "अभ्युपेत्य पक्षं यो न स्थापयति स वैतण्डिक

वैशेषिक और नैयायिकोंके सिद्धान्त प्रायः एकसे ही हैं, इसलिये वैशेषिकोंके सिद्धान्तोंका खण्डन होनेसे नैयायिकोंके सिद्धान्तोंका भी खण्डन हो गया समझना चाहिये। वैशेषिक और नैयायिक लोग पदार्थोंको भिन्न प्रकारसे स्वीकार करते हैं। अतएव यद्यपि अक्षपादद्वारा प्रतिपादित सम्पूर्ण पदार्थ मोक्षके कारण नहीं हैं, फिर भी उन पदार्थोंमें गर्भित, केवल दूसरेके कथनका तिरस्कार करनेवाले छल, जाति और निग्रहस्थान नामक पदार्थ सर्वथा त्याज्य हैं, इसलिए छल जाति और निग्रहस्थानके उपदेष्टाके वैराग्यका उपहास करते हुए कहते हैं—

श्लोकार्थ—आश्चर्य है कि स्वयं ही विवाद रूपी पिशाचसे जकड़े हुए, वितण्डा रूप पाण्डित्यसे मुँहको खुजलाते हुए, तथा छल, जाति और निग्रहस्थानके उपदेशसे दूसरोंके निर्दोष हेतुओंका खण्डन करनेवाले मुनि, वीतराग समझे जाते हैं!

व्याख्यार्थ—'अस्मिन् स्वयं विवादग्रहिले वितण्डापाण्डित्यकण्डूलमुखे जने मायोपदेशात् परमर्म भिन्दन् अन्यदीयः मुनिः अहो विरक्तः'—भूत पिशाच आदिके वशीभूत हुए पुरुषकी तरह स्वयं दूसरोंके उपदेशके विना ही विवाद [दूसरेके मतको खण्डन करनेवाला वचन। हरिभद्रसूरिने कहा है—

"लाभ और ख्यातिके चाहनेवाले कलुषित और नीच लोग छल और जातिसे युक्त जो कुछ कथन करते हैं, वह विवाद है।"] से ग्रसित, तथा वितण्डा [जिससे प्रतिपक्ष, अर्थात् अपने पक्षमें प्रतिवादीद्वारा दिये हुए

---

१. हैमसू. ३-२-१२१। २. हैमसू. २-२२-७७। ३. हरिभद्रसूरिकृते अष्टके १२-४।

इत्युच्यते"[1] इति न्यायवार्तिकम् । वस्तुतस्त्वपरामृष्टतत्त्वातत्त्वविचारं मौखर्यं वितण्डा । तत्र यत्पाण्डित्यम्–अविकलं कौशलं, तेन कण्डूलं मुखं लपनं यस्य स तथा तस्मिन् । कण्डूः–खर्जूः, कण्डूरस्यास्तीति कण्डूलम्, सिध्मादित्वाद् मत्वर्थीयो लप्रत्ययः । यथा किलान्तरुत्पन्नकृमिकुलजनितां कण्डूतिं निरोद्धुमपारयन् पुरुषो व्याकुलतां कलयति, एवं तन्मुखमपि वितण्डापाण्डित्येनासंबद्धप्रलापचापलमाकलयत् कण्डूलमित्युपचर्यते ॥

एवं च स्वरसत एव स्वस्वाभिमतव्यवस्थापनाविसंस्थुलो वैतण्डिकलोकः । तत्र च तत्परमाप्तभूतपुरुषविशेषपरिकल्पितपरवञ्चनप्रचुरवचनरचनोपदेशश्चेत् सहायः समजनि, तदा स्वत एव ज्वालाकलापजटिले प्रज्वलति हुताशन इव कुतो घृताहुतिप्रक्षेप इति । तैश्च भवाभिनन्दिभिर्वादिभिरेतादृशोपदेशदानमपि तस्य मुनेः कारुणिकत्वकोटावारोपितम् । तथा चाहुः—

"दुःशिक्षितकुतर्कांशलेशवाचालिताननाः ।
शक्याः किमन्यथा जेतुं वितण्डाटोपमण्डिताः ॥१॥
गतानुगतिको लोकः कुमार्गं तत्प्रतारितः ।
मा गादिति छलादीनि प्राह कारुणिको मुनिः" ॥२॥

कारुणिकत्वं च वैराग्याद् न भिद्यते । ततो युक्तमुक्तम् अहो विरक्त इति स्तुतिकारेणोपहासवचनम् ॥

अथ मायोपदेशादिति सूचनासूत्रं वितन्यते । अक्षपादमते किल षोडशपदार्थाः । "प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासछलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानाद् निःश्रेयसाधिगमः"[3] इति वचनात् । न चैतेषां व्यस्तानां समस्तानां वा

दोषोंका खण्डन कर अपने पक्षका स्थापन न किया जा सके । न्यायवार्तिकमें कहा है—"अपने पक्षको स्वीकार कर के जो स्वपक्षको स्थापित नहीं कर सकता, उसे वैतण्डिक कहते हैं ।" वास्तवमें तत्त्व-अतत्त्वका विचार न कर मौखर्यको ही वितण्डा कहा है] रूप पाण्डित्यसे असम्बद्ध प्रलाप करनेवाले तत्त्व और अतत्त्वके विचारसे वहिर्मुख, छल जाति और निग्रहस्थानका उपदेश देकर दूसरोंके निर्दोष हेतुओंका खण्डन करनेवाले, आपकी आज्ञासे बाह्य, ऐसे अक्षपाद ऋषि, आश्चर्य है कि वीतराग कहे जाते हैं !

यदि अपने मतको स्थापित करनेके लिए आतुर वैतण्डिक लोगोंको परम आप्त कहे जानेवाले पुरुषोंके द्वारा दूसरोंकी वंचना करनेवाले वचनोंका उपदेश दिया जाय, तो वह जलती हुई अग्निमें घीकी आहुतिका काम देता है । संसारमें आनन्द माननेवाले वादियोंने इस प्रकारका उपदेश करनेवाले मुनि भी कारुणिक वताया है ! उन लोगोंने कहा है—

"कुतर्कसे वाचालित वितण्डावादी छल आदिके विना नहीं जीते जा सकते ॥१॥

लोग एक दूसरेके पीछे चलनेवाले होते हैं । इसलिये कुतार्किकोंसे ठगाये जाकर लोग उनका अनुकरण न करने लग जाँय, अतएव कारुणिक मुनि ने छल आदि का उपदेश किया है ।" ॥२॥

करुणा और वैराग्य अलग अलग नहीं हैं । अतएव स्तुतिकारने, 'अहो विरक्तः' ऐसा कह कर जो उपहासवचन का प्रयोग किया है, वह ठीक है ।

---

१ उद्योतकरविरचितन्यायवार्त्तिके १-१-१ ।

२ भवाभिनन्दी–

असारोऽप्येष संसारः सारवानिव लक्ष्यते ।
दधिदुग्धाम्बुताम्बूलपुण्यपण्याङ्गनादिभिः ॥
इत्यादिवचनैः संसाराभिनन्दनशीलः ।

३ गौतमसूत्रे १–१–१

अधिगमो निःश्रेयसावाप्तिहेतुः। न ह्येकेनैव क्रियाविरहितेन ज्ञानमात्रेण मुक्तिर्युक्तिमती। असमग्रसामग्रीकत्वात्। विघटितैकचक्ररथेन मनीषितनगरप्राप्तिवत्॥

न च वाच्यं न खलु वयं क्रियां प्रतिक्षिपामः, किन्तु तत्त्वज्ञानपूर्विकाया एव तस्या मुक्तिहेतुत्वमिति ज्ञापनार्थं तत्त्वज्ञानाद् निःश्रेयसाधिगम इति ब्रूम इति। न ह्यमीषां संहते अपि ज्ञानक्रिये मुक्तिप्राप्तिहेतुभूते। वितथत्वात् तज्ज्ञानक्रिययोः। न च वितथत्वमसिद्धम्। विचार्यमाणानां षोडशानामपि तत्त्वाभासत्वात्। तथाहि तैः प्रमाणस्य तावद् लक्षणमित्थं सूत्रितम्—"अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणम्"[1] इति। एतच्च न विचारसहम्। यतोऽर्थोपलब्धौ हेतुत्वं यदि निमित्तत्वमात्रं, तत्सर्वकारकसाधारणमिति कर्तृकर्मादेरपि प्रमाणत्वप्रसङ्गः। अथ कर्तृकर्मादिविलक्षणं हेतुशब्देन करणमेव विवक्षितं, तर्हि तज्ज्ञानमेव युक्तं, न चेन्द्रियसन्निकर्षादि। यस्मिन् हि सत्यर्थ उपलब्धो भवति, स तत्करणम्। न चेन्द्रियसन्निकर्षसामग्र्यादौ सत्यपि ज्ञानाभावेऽर्थोपलम्भः। साधकतमं हि करणम्। अव्यवहितफलं च तदिष्यते। व्यवहितफलस्यापि करणत्वे दुग्धभोजनादेरपि तथाप्रसङ्गः। तन्न ज्ञानादन्यत्र प्रमाणत्वम्। अन्यत्रोपचारात्। यदपि न्यायभूषणसूत्रकारेणोक्तम्—"सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम्"[2] इति, तत्रापि साधनग्रहणात् कर्तृकर्मनिरासेन करणस्यैव प्रमाणत्वं सिध्यति। तथाऽप्यव्यवहितफलत्वेन साधकतमत्वं ज्ञानस्यैव इति न तत् सम्यग्लक्षणम्। "स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्"[3] इति तु तात्त्विकं लक्षणम्॥

अक्षपादके (नैयायिकोंके) मतमें सोलह पदार्थ माने गये हैं। कहा भी है—"प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान के तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है।" किन्तु इन सोलह पदार्थोंमें एक-एकका अथवा समस्त पदार्थोंका जान लेना मोक्षकी प्राप्तिमें कारण नहीं है। क्योंकि क्रियाके विना केवल ज्ञानमात्रसे ही मुक्ति नहीं मिलती। जिस प्रकार रथके दो पहियोंके विना केवल एक पहियेसे नगरमें नहीं घूमा जा सकता, उसी तरह ज्ञान और क्रिया दोनोंके विना केवल ज्ञान-मात्रसे मोक्ष नहीं मिलता।

शंका—हम लोग क्रियाका निषेध नहीं करते, किन्तु सोलह पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे होनेवाली क्रिया ही मोक्षकी प्राप्तिमें कारण है, यह बतानेके लिये हमने कहा है "तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती हैं।" **समाधान**—आप लोगोंके द्वारा माने हुए ज्ञान और क्रिया दोनों मिल कर भी मोक्षके कारण नहीं हो सकते, क्योंकि वे ज्ञान और क्रिया दोनों मिथ्या हैं। ज्ञान और क्रियाका मिथ्या होना असिद्ध नहीं है, क्योंकि विचार करनेपर ये सोलह पदार्थ तत्त्वाभास सिद्ध होते हैं। आप लोगोंने जो "अर्थोपलब्धिमें हेतुको प्रमाण" स्वीकार किया है, वह ठीक नहीं। क्योंकि यदि निमित्त मात्रको ही अर्थोपलब्धिमें हेतु कहा जाय तो कर्ता, कर्म आदि कारकोंको भी प्रमाण मानना चाहिये। कर्ता, कर्म आदि भी पदार्थोंके ज्ञानमें निमित्त कारण हैं। यदि आप कर्ता, कर्म आदि कारकोंसे विलक्षण करण कारकको ही हेतु कहें, तो इन्द्रिय और पदार्थके सम्बन्धको पदार्थके ज्ञानमें करण न कह कर केवल ज्ञानको ही पदार्थोंके करण मानना चाहिये। क्योंकि इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध होनेपर भी ज्ञानका अभाव होनेसे पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता। जिसके होनेपर पदार्थका ज्ञान होता है, वह पदार्थके ज्ञानका करण है, परन्तु इन्द्रियसन्निकर्ष आदि सामग्रीके रहते हुए भी ज्ञानके अभावमें पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता। तथा, साधकतमको ही करण मानना चाहिये। इसी साधकतम ज्ञान रूप करणके होनेसे ही पदार्थोंके जानने रूप कार्यकी उत्पत्ति होती है। यदि करणको परम्परासे फल देनेवाला माना जाय, तो दुग्ध, भोजन आदि भी पदार्थके ज्ञानमें करण हो सकते हैं। अतएव ज्ञानको छोड़ कर और कोई प्रमाण नहीं मानना चाहिये। क्योंकि ज्ञान ही पदार्थोंके जाननेमें करण है, ज्ञानको छोड़कर

---

१. वात्स्यायनभाष्ये। २. न्यायसारे भासर्वज्ञप्रणीते १-१। ३. प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे १-२।

प्रमेयमपि तरात्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रत्यभावफलदुःखापवर्गभेदाद् द्वादशविधमुक्तम्। तच्च न सम्यग्। यतः शरीरेन्द्रियबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषफलदुखानाम् आत्मन्येवान्तर्भावो युक्तः। संसारिण आत्मनः कथञ्चित् तदविष्वग्भूतत्वात्। आत्मा च प्रमेय एव न भवति। तस्य प्रमातृत्वात्। इन्द्रियबुद्धिमनसां तु करणत्वात् प्रमेयत्वाभावः। दोषास्तु रागद्वेषमोहाः, ते च प्रवृत्तेर्न पृथग्भवितुमर्हन्ति। वाङ्मनःकायव्यापारस्य शुभाशुभफलस्य विंशतिविधस्य तन्मते प्रवृत्तिशब्दवाच्यत्वात्। रागादिदोषाणां। च मनोव्यापारात्मकत्वात्। दुःखस्य शब्दादीनामिन्द्रियार्थानां च फल एवान्तर्भावः। "प्रवृत्तिदोषजनितं सुखदुःखात्मकं मुख्यं फलं, तत्साधनं तु गौणम्"[1] इति जयन्तवचनात्। प्रेत्यभावापवर्गयोः पुनरात्मन एव परिणामान्तरापत्तिरूपत्वाद्, न पार्थक्यमात्मनः सकाशादुचितम्। तदेवं द्वादशविधं प्रमेयमिति वाग्विस्तरमात्रम् "द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु प्रमेयम्"[2] इति तु समीचीनं लक्षणम्। सर्वसंग्राहकत्वात्। एवं संशयादीनामपि तत्त्वाभासत्वं प्रेक्षावद्भिरनुपेक्षणीयम्। अत्र तु प्रतीतत्वाद्, ग्रन्थगौरवभयाच्च न प्रपञ्चितम्। न्यक्षेण ह्यत्र न्यायशास्त्रमवतारणीयम्, तच्चावतार्यमाणं पृथग्ग्रन्थान्तरतामवगाहत इत्यास्ताम्॥

तदेवं प्रमाणादिषोडशपदार्थानामविशिष्टेऽपि तत्त्वाभासत्वे प्रकटकपटनाटकसूत्रधाराणां त्रयाणामेव छलजातिनिग्रहस्थानानां मायोपदेशादिति पदेनोपक्षेपः कृतः तत्र परस्य वदतोऽर्थविकल्पोपपादनेन वचनविघातः छलम्। तत् त्रिधा—वाक्छलं, सामान्यछलम्, उपचारछलं

अन्यत्र (सन्निकर्ष आदिमें) उपचारके बिना अर्थात् अनुपचरित रूपसे प्रमाणत्व नहीं है। तथा न्यायभूषणकारने जो "सम्यक् प्रकारसे अनुभवका साधन करनेवाले" को प्रमाण कहा है, वहाँ भी साधनका ग्रहण किया जाने से कर्ता और कर्मका निरसन हो जानेसे करणका ही प्रमाणत्व सिद्ध होता है। तथा, अव्यवहित फलदायी होने से ज्ञान के साधकतम होने कारण प्रमाणका उक्त लक्षण समीचीन नहीं है, अतएव अपने और परको निश्चय करनेवाले ज्ञानको ही वास्तविक प्रमाण मानना चाहिये। (स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्)।

नैयायिकोंने आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुख, और अपवर्गके भेदसे जो बारह प्रकारका प्रमेय (मुमुक्षुद्वारा जानने योग्य विषय) स्वीकार किया है, वह भी ठीक नहीं। क्योंकि शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, फल और दुखका आत्मामें ही अन्तर्भाव हो जाता है। कारण कि शरीर, इन्द्रिय आदिसे संसारी पुरुषकी आत्मा किसी अपेक्षासे अभिन्न ही है। तथा, आत्मा प्रमाता है, वह प्रमेय नहीं हो सकता। इन्द्रिय, बुद्धि और मन करण हैं, अर्थात् इनके द्वारा प्रमाता प्रमिति क्रियाका कर्ता है, इसलिये ये भी प्रमेय नहीं कहे जा सकते। राग, द्वेष और मोह प्रवृत्तिसे भिन्न नहीं हैं क्योंकि नैयायिकोंके मतमें प्रवृत्ति शब्दसे शुभ अशुभ रूप बीस प्रकारका मन, वचन और कायका व्यापार लिया गया है। राग आदि दोष मनका व्यापार है। दुख और इन्द्रियोंके विषय शब्द आदि फलमें गर्भित हो जाते हैं। जयन्तने कहा भी है—"प्रवृत्ति और दोषसे उत्पन्न सुख-दुख मुख्य फल हैं, तथा सुख-दुख रूप फलका साधन गौण है।" प्रेत्यभाव और अपवर्ग ये दोनों आत्माके ही परिणाम हैं, अतएव इन्हें आत्मासे भिन्न नहीं मानना चाहिये। अतएव नैयायिकों द्वारा मान्य बारह प्रकारका प्रमेय केवल वचनोंका आडम्बर मात्र है। अतएव "द्रव्य और पर्याय रूप वस्तु ही प्रमेय है" (द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु प्रमेयं), यही प्रमेयका लक्षण सर्वसंग्राहक होनेसे समीचीन है। इसी प्रकार प्रमाण और प्रमेयकी तरह संशय आदि चौदह पदार्थोंको भी तत्त्वाभास ही समझना चाहिये। ग्रंथके गौरवके भयसे यहाँ विस्तारसे नहीं लिखा। किसी अन्य ग्रंथकी सहायतासे उसे समझ लेना चाहिये।

इस प्रकार प्रमाण आदि सोलह पदार्थोंके सामान्य रूपसे तत्त्वाभास सिद्ध हो जानेपर भी, यहाँ प्रकट कपट नाटकके सूत्रधार छल, जाति और निग्रहस्थानका ही खंडन किया जाता है। बोलनेवाले वादीके अर्थको

---

१. जयन्तन्यायमंजर्यां। २. प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकारे।

चेति। तत्र साधारणे शब्दे प्रयुक्ते वक्तुरभिप्रेतादर्थादर्थान्तरकल्पनया तन्निषेधो वाक्छलम्। यथा नवकम्बलोऽयं माणवक इति नूतनविवक्षया कथिते, परः संख्यामारोप्य निषेधति कुतोऽस्य नव कम्बलाः इति। संभावनयातिप्रसङ्गिनोऽपि सामान्यस्योपन्यासे हेतुत्वारोपणेन तन्निषेधः सामान्यछलम्। यथा अहो नु खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसंपन्न इति ब्राह्मणस्तुतिप्रसङ्गे, कश्चिद् वदति सम्भवति ब्राह्मणे, विद्याचरणसम्पदिति, तत् छलवादी ब्राह्मणत्वस्य हेतुतामारोप्य निराकुर्वन्नभियुङ्क्ते यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसंपद् भवति, व्रात्ये[1]ऽपि सा भवेद्, व्रात्योऽपि ब्राह्मण एवेति। औपचारिके प्रयोगे मुख्यप्रतिषेधेन प्रत्यवस्थानम् उपचारछलम्। यथा मञ्चाः क्रोशन्तीत्युक्ते, परः प्रत्यवतिष्ठते कथमचेतनाः मञ्चाः क्रोशन्ति मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्तीति॥

तथा सम्यग्हेतौ हेत्वाभासे वा वादिना प्रयुक्ते, झटिति तद्दोषतत्त्वाप्रतिभासे हेतुप्रतिबिम्बनप्रायं किमपि प्रत्यवस्थानं जातिः दूषणाभास इत्यर्थः। सा च चतुर्विंशतिभेदा। साधर्म्यादिप्रत्यवस्थानभेदेन यथा "साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षाऽपकर्षवर्ण्याऽवर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्ताऽनुत्पत्तिसंशयप्रकरणहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमाः"॥[2]

तत्र साधर्म्येण प्रत्यवस्थानं साधर्म्यसमा जातिर्भवति। अनित्यः शब्दः, कृतकत्वाद्, घटवदिति प्रयोगे कृते साधर्म्यप्रयोगेणैव प्रत्यवस्थानम् नित्य शब्दो, निरवयवत्वात्, आकाशवत्। न चास्ति विशेषहेतुः घटसाधर्म्यात् कृतकत्वादनित्यः शब्दः, न पुनराकाश-

---

बदल कर वादीके वचनोंके निषेध करनेको छल कहते हैं। यह छल वाक्, सामान्य और उपचारके भेदसे तीन प्रकारका है। (१) वक्ताके किसी साधारण शब्दके प्रयोग करनेपर उसके विवक्षित अर्थको जान बूझकर उपेक्षा कर अर्थान्तरकी कल्पना करके वक्ताके वचनके निषेध करनेको वाक्छल कहते हैं। जैसे वक्ताने कहा कि 'नवकम्बलोऽयं माणवकः'—यहाँ हम जानते हैं, कि 'नव' कहनेसे वक्ताका अभिप्राय 'नूतनसे' है फिर भी दुर्भावनासे उसके वचनोंका निषेध करनेके लिये हम 'नव' शब्दका अर्थ 'नौ' करके वक्तासे पूछते हैं कि इस माणवकके पास नौ कम्बल कहाँ हैं? (२) सम्भावना मात्रसे व्यापक सामान्य का कथन करने पर सामान्यके ऊपर हेतुका आरोप करके सामान्यका निषेध करना सामान्यछल है। जैसे 'आश्चर्य है कि यह ब्राह्मण विद्या और आचरणसे युक्त है,' यह कह कर कोई पुरुष ब्राह्मणकी स्तुति करता है। इस पर कोई दूसरा पुरुष कहता है कि विद्या और आचरणका तो ब्राह्मणमें होना स्वाभाविक है। यहाँ यद्यपि ब्राह्मणत्वका सम्भावना मात्रसे कथन किया गया है, फिर भी छलवादी ब्राह्मणमें विद्या और आचरणके होनेके सामान्य नियम बना कर कहता है कि यदि ब्राह्मणमें विद्या और आचरण का होना स्वाभाविक है, तो विद्या और आचरण व्रात्य (पतित) ब्राह्मणमें भी होना चाहिये, क्योंकि व्रात्य ब्राह्मण भो ब्राह्मण ही है। (३) उपचार अर्थमें मुख्य अर्थका निषेध करके वक्ताके वचनोंका निषेध करना, उपचारछल है। जैसे कोई कहे कि मंच रोते हैं, तो छलवादी उत्तर देता है कि कहीं मंच जैसे अचेतन पदार्थ भी रो सकते हैं, अतएव कहना चाहिये कि मंचपर बैठे हुए आदमी रोते हैं।

वादीके द्वारा सम्यक् हेतु अथवा हेत्वाभासके प्रयोग करनेपर, वादीके हेतुकी सदोषताकी बिना परीक्षा किये हुए, हेतुके समान मालूम होनेवाला शीघ्रतासे कुछ भी कह देना जाति है। अर्थात् दूषणाभास यह जाति "साधर्म्य, वैधर्म्य, उत्कर्ष, अपकर्ष, वर्ण्य, अवर्ण्य, विकल्प, साध्य, प्राप्ति, अप्राप्ति, प्रसंग, प्रतिदृष्टांत, अनुत्पत्ति, संशय, प्रकरण, हेतु, अर्थापत्ति, अविशेष, उपपत्ति, उपलब्धि, अनुपलब्धि, नित्य, अनित्य और कार्यसम" के भेदसे चौबीस प्रकारकी है।

(१) साधर्म्यसे उपसंहार करने पर दृष्टांत की समानता दिखला कर साध्यसे विपरीत कथन करनेको साधर्म्यसमा जाति कहते हैं। जैसे, वादीने कहा, 'शब्द अनित्य है, क्योंकि कृतक है; जो कृतक होता है, वह

---

१. सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः। २. गौतमसूत्रे ५-१-१।

साधर्म्याद् निरवयवत्वाद् नित्यः इति। वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं वैधर्म्यसमा जातिर्भवति। अनित्यः शब्दः, कृतकत्वाद्, घटवदित्यत्रैव प्रयोगे, स एव प्रतिहेतुर्वैधर्म्येण प्रयुज्यते नित्यः शब्दो निरवयवत्वात्। अनित्यं हि सावयवं दृष्टम् घटादीति। न चास्ति विशेषहेतुः घटसाधर्म्यात् कृतकत्वादनित्यः शब्दः, न पुनस्तद्वैधर्म्याद् निरवयवत्वाद् नित्य इति। उत्कर्षापकर्षाभ्यां प्रत्यवस्थानम् उत्कर्षापकर्षसमे जाती भवतः। तत्रैव प्रयोगे, दृष्टान्तधर्मं कञ्चित् साध्यधर्मिण्यापादयन् उत्कर्षसमां जातिं प्रयुङ्क्ते। यदि घटवत् कृतकत्वादनित्यः शब्दः घटवदेव मूर्तोऽपि भवतु, न चेद् मूर्तः, घटवदनित्योऽपि मा भूदिति शब्दे धर्मान्तरोत्कर्षमापादयति। अपकर्षस्तु घटः कृतकः सन् अश्रावणो दृष्टः, एवं शब्दोऽप्यस्तु, नो चेद् घटवदनित्योऽपि मा भूदिति शब्दे श्रावणत्वधर्ममपकर्षतीति। इत्येताश्चतस्रो दिङ्मात्रदर्शनार्थं जातय उक्ताः। एवं शेषा अपि विंशतिरक्षपादशास्त्रादवसेयाः। अत्र त्वनुपयोगित्वाद् न लिखिताः॥

अनित्य है, जैसे घड़ा'। इसमें दोष देनेके लिये प्रतिवादी कहता है, 'यदि कृतक रूप धर्मसे शब्द और घड़ेमें समानता है, तो निरवयव रूप धर्मसे शब्द और आकाशमें भी समानता है, अतएव शब्द आकाशके समान नित्य होना चाहिये'। यहाँ वादीद्वारा शब्दको अनित्य सिद्ध करनेमें कृतकत्व हेतुका प्रतिवादीने बिलकुल खण्डन नहीं किया। और केवल दृष्टान्तकी समानता दिखानेसे साध्यका खण्डन नहीं होता। उसके लिए हेतु देना चाहिए, या वादीके हेतुका खण्डन करना चाहिये। (२) वैधर्म्यके उपसंहार करनेपर वैधर्म्य दिखला कर खण्डन करना, वैधर्म्यसमा जाति है। जैसे, 'शब्द अनित्य है, कृतक होने से, घटकी तरह'। इसके खण्डन में प्रतिवादीका कथन है, 'शब्द नित्य है, निरवयव होनेसे, आकाशकी तरह'। यहाँ प्रतिवादीका कहना है कि यदि नित्य आकाशके वैधर्म्यसे शब्द अनित्य है, तो अनित्य घटके वैधर्म्यसे शब्दको अनित्य मानना चाहिये। परन्तु यहाँ कोई ऐसा नियामक नहीं है कि घटके रूप साधर्म्यसे कृतक होनेके कारण शब्द नित्य नहीं हो। अतएव इससे वादीके हेतुका कोई खण्डन नहीं होता। (३) दृष्टांतके धर्मको साध्यमें मिला कर वादीके खण्डन करनेको उत्कर्षसमा जाति कहते हैं। जैसे, वादी ने कहा, 'शब्द अनित्य है, कृतक होनेसे, घटकी तरह'। इस अनुमानमें दोष देनेके लिये प्रतिवादी कहता है, 'जैसे घटकी तरह शब्द अनित्य है, वैसे ही उसे घटकी तरह मूर्त भी मानना चाहिये। यदि शब्द मूर्त नहीं है, तो वह घटकी तरह अनित्य भी नहीं है।' यहाँ वादी घटका दृष्टान्त देकर शब्दमें अनित्यत्व सिद्ध करना चाहता है, परन्तु प्रतिवादी घटके दूसरे धर्म मूर्तत्वको शब्दमें सिद्ध करके वादीका खण्डन करता है। (४) उत्कर्षसमाकी उल्टी अपकर्षसमा जाति कही जाती है। साध्यधर्मीमें से दृष्टान्तमें नहीं रहनेवाले धर्मको निकाल कर वादीके प्रति विरुद्ध भाषण करनेको अपकर्षसमा जाति कहते हैं। जैसे, 'शब्द अनित्य है, कृतक होनेसे, घटकी तरह'। इस पर प्रतिवादीका कथन है, 'जैसे, घट कृतक होनेसे श्रवणका विषय नहीं है, इसी तरह शब्दको भी श्रवणका विषय नहीं होना चाहिए। यदि शब्द अश्रावण नहीं है, तो वह घटकी तरह अनित्य भी नहीं हो सकता। यहाँ केवल चार ही जातियोंका दिग्दर्शन कराया गया है।

[(५-६) "जिसका कथन किया जाता है, उसे वर्ण्य और जिसका कथन नहीं किया जाता, उसे अवर्ण्य कहते हैं। वर्ण्य या अवर्ण्यकी समानतासे जो असदुत्तर दिया जाता है, उसे वर्ण्यसमा या अवर्ण्यसमा कहते हैं। जैसे, यदि साध्यमें सिद्धिका अभाव है, तो दृष्टांतमें भी होना चाहिये (वर्ण्यसमा), और यदि दृष्टान्तमें सिद्धिका अभाव नहीं है, तो साध्यमें भी न होना चाहिये (अवर्ण्यसमा)। (७) दूसरे धर्मोंके विकल्प उठा कर मिथ्या उत्तर देना, विकल्पसमा जाति है। जैसे, कृत्रिमता और गुरुत्वका सम्बन्ध ठीक ठीक नहीं मिलता, गुरुत्व और अनित्यत्वका नहीं मिलता, अनित्यत्व और मूर्तत्वका नहीं मिलता, अतएव अनित्यत्व और कृत्रिमताका भी सम्बन्ध न मानना चाहिये, जिससे कृत्रिमतासे शब्द अनित्य सिद्ध किया जा सके। (८) वादीने जो साध्य बनाया है, उसीके समान दृष्टान्त आदिको प्रतिपादन कर मिथ्या उत्तर देना, साध्यसमा जाति है। जैसे, यदि मिट्टीके ढेलेके समान आत्मा है, तो आत्माके समान मिट्टीके ढेलेको भी मानना चाहिये। आत्मामें 'क्रिया' साध्य (सिद्ध करने योग्य, न कि सिद्ध) है, तो मिट्टीके ढेलेमें भी साध्य मानो। यदि ऐसा नहीं मानते हो तो आत्मा और

मिट्टीके ढेलेको समान मत मानो। ये सब मिथ्या उत्तर हैं, क्योंकि दृष्टान्तमें सब धर्मोंकी समानता नहीं देखी जाती; उसमें सिर्फ साध्य और साधनकी समानता देखी जाती है। विकल्पसमामें जो अनेक धर्मोंका व्यभिचार बतलाया है, उससे वादीका अनुमान खण्डित नहीं होता, क्योंकि साध्य-धर्मके सिवाय अन्य धर्मोंके साथ यदि साधनकी व्याप्ति न मिले, तो इससे साधनको व्यभिचारी नहीं कह सकते। हाँ, यदि साध्य-धर्मके साथ व्याप्ति न मिले, तो व्यभिचारी हो सकता है। दूसरे धर्मोंके साथ व्यभिचार आनेसे साध्यके साथ भी व्यभिचारकी कल्पना व्यर्थ है। धूमकी यदि पत्थरके साथ व्याप्ति नहीं मिलती, तो यह नहीं कहा जा सकता कि धूमकी व्याप्ति, अग्निके साथ भी नहीं है। (९-१०) प्राप्ति और अप्राप्तिका प्रश्न उठाकर सच्चे हेतुको खण्डित प्रतिपादन करना, प्राप्तिसमा और अप्राप्तिसमा जाति है। जैसे, हेतु साध्यके पास रहकर साध्यको सिद्ध करता है, या दूर रहकर ? यदि पास रहकर तो कैसे ज्ञात होगा कि यह साध्य है और यह हेतु है (प्राप्तिसमा)। यदि दूर रह कर तो यह साधन अमुक धर्मकी ही सिद्धि करता है, दूसरेकी नहीं यह कैसे ज्ञात हो (अप्राप्तिसमा)। ये असदुत्तर हैं, क्यों कि धूँआ आदि पास रह कर अग्निकी सिद्धि करते हैं तथा दूर रह कर भी पूर्वचर आदि साधन, साध्यकी सिद्धि करते हैं। जिनमें अविनाभाव सम्बन्ध है, उन्हीं में साध्य-साधकता हो सकती है, न कि सबमें। (११) जैसे साध्यके लिये साधनकी जरूरत है, उसी प्रकार दृष्टान्त के लिए भी साधनकी जरूरत है, यह कथन प्रसंगसमा जाति है। दृष्टान्तमें वादी और प्रतिवादीको विवाद नहीं होता, अतएव उसके लिए साधनकी आवश्यकता प्रतिपादन करना व्यर्थ है, अन्यथा वह दृष्टान्त ही न कहलायगा। (१२) विना व्याप्तिके केवल दूसरा दृष्टान्त देकर दोष लगाना प्रतिदृष्टान्तसमा जाति है। जैसे घड़ेके दृष्टान्तसे यदि शब्द अनित्य है, तो आकाशके दृष्टांतसे वह नित्य कहलाये। प्रतिदृष्टान्त देनेवाले ने कोई हेतु नहीं दिया है जिससे यह कहा जाय कि दृष्टान्त साधक नहीं है–प्रतिदृष्टान्त साधक है। किन्तु विना हेतु के खण्डन-मण्डन कैसे हो सकता है ? (१३) उत्पत्तिके पहले, कारणका अभाव दिखला कर मिथ्या खण्डन करना अनुत्पत्तिसमा हैं। जैसे उत्पत्तिके पहले शब्द कृत्रिम है, या नहीं ? यदि है तो उत्पत्तिके पहले मौजूद होनेसे शब्द नित्य हो गया; यदि नहीं है तो हेतु आश्रयासिद्ध हो गया। यह उत्तर ठीक नहीं है, क्योंकि उत्पत्तिके पहले शब्द ही नहीं था, फिर कृत्रिम-अकृत्रिमका प्रश्न ही क्या ? (१४) व्याप्तिमें मिथ्या सन्देह प्रतिपादन कर वादीके पक्षका खण्डन करना, संशयसमा जाति है। जैसे, कार्य होनेसे शब्द नित्य है—यहाँ यह कहना कि इन्द्रियका विषय होनेसे शब्दकी अनित्यतामें सन्देह है, क्योंकि इन्द्रियोंके विषय नित्य भी होते हैं (जैसे गोत्व घटत्व आदि सामान्य) और अनित्य भी (जैसे घट, पट आदि)। यह संशय ठीक नहीं, क्योंकि जब तक कार्यत्व और अनित्यत्वकी व्याप्ति खण्डित न की जाय, तब तक वहाँ संशयका प्रवेश नहीं हो सकता। कार्यत्वकी व्याप्ति यदि नित्यत्व और अनित्यत्व दोनोंके साथ हो तो संशय हो सकता है, अन्यथा नहीं। लेकिन कार्यत्वकी व्याप्ति दोनोंके साथ नहीं हो सकती। (१५) मिथ्या व्याप्तिके ऊपर अवलम्बित दूसरे अनुमानसे दोष देना, प्रकरणसमा जाति है। जैसे, यदि अनित्य (घट) साधर्म्यसे कार्यत्व हेतु शब्दकी अनित्यता सिद्ध करता है, तो गोत्व आदि सामान्यके साधर्म्यसे ऐन्द्रियकत्व (इन्द्रियका विषय होना) हेतु नित्यताको सिद्ध करे। अतएव दोनों पक्ष समान कहलाये। यह असत्य उत्तर है, क्योंकि अनित्य और कार्यत्वकी व्याप्ति है, लेकिन ऐन्द्रियकत्व और नित्यत्वकी व्याप्ति नहीं। (१६) भूत आदि कालकी असिद्धि प्रतिपादन कर हेतु मात्रको हेतु कहना, अहेतुसमा जाति है। जैसे, हेतु साध्यके पहले होता है, या पीछे होता है, या साथ होता है ? पहले तो हो नहीं सकता, क्योंकि जब साध्य ही नहीं, तब साधक किस का ? न पीछे हो सकता है, क्योंकि जब साध्य ही नहीं रहा, तब वह सिद्ध किसे करेगा ? अथवा जिस समय साध्य था, उस समय यदि साधन नहीं था, तो वह साध्य कैसे कहलायेगा ? दोनों एक साथ भी नहीं बन सकते, क्योंकि उस समय यह सन्देह हो सकता है कि कौन साध्य है, कौन साधक है ? जैसे, विंध्याचल से हिमालयकी और हिमालयसे विंध्याचलकी सिद्धि करना अनुचित है, उसी तरह एक कालमें होनेवाली वस्तुओंको साध्य-साधक ठहराना अनुचित है। यह असत्य उत्तर है, क्योंकि इस प्रकार त्रिकालकी असिद्धि प्रतिपादन करनेसे जिस हेतुके द्वारा जातिवादीने हेतुको अहेतु ठहराया है, वह हेतु (जातिवादीका त्रिकालसिद्धि हेतु) भी अहेतु ठहर

गया, जिससे जातिवादीका वक्तव्य स्वयं खण्डित हो गया। दूसरी बात यह है कि कालभेद होनेसे या अभेद होनेसे अविनाभाव सम्बन्ध बिगड़ता नहीं है, यह बात पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर, कार्य, कारण, आदि हेतुओंके स्वरूपसे स्पष्ट विदित हो जाती है। जब अविनाभाव सम्बन्ध नहीं बिगड़ता, तब हेतु, अहेतु कैसे कहा जा सकता है ? कालकी एकतासे साध्य-साधनमें सन्देह नहीं हो सकता, क्योंकि दो वस्तुओंके अविनाभावमें ही साध्य-साधनका निर्णय होता है। अथवा दोमेंसे जो असिद्ध हो वह साध्य, और जो सिद्ध हो, उसे हेतु मान लेनेसे संदेह मिट जाता है। (१७) अर्थापत्ति दिखलाकर मिथ्या दूषण देना, अर्थापत्तिसमा जाति है। जैसे, यदि अनित्यके साधर्म्य (कृत्रिमता) से शब्द अनित्य है, तो इसका मतलब हुआ कि नित्य (आकाश) के साधर्म्य (स्पर्श रहितता) से नित्य है। यह उत्तर असत्य है, क्योंकि स्पर्श रहित होनेसे ही कोई नित्य कहलाने लगे, तो सुख वगैरह भी नित्य कहलायेंगे। (१८) पक्ष और दृष्टान्तमें अविशेषता देख कर किसी अन्य धर्मसे सब जगह (विपक्षमें भी) अविशेषता दिखला कर साध्यका आरोप करना, अविशेषसमा जाति है। जैसे, शब्द और घटमें कृत्रिमतासे अविशेषता होनेसे अनित्यता है, वैसे ही सब पदार्थोंमें सत्त्व धर्मसे अविशेषता है, अतएव सभी (आकाशादि–विपक्ष भी) को अनित्य होना चाहिये। यह असत्य उत्तर है, क्योंकि कृत्रिमताका अनित्यताके साथ अविनाभाव सम्बन्ध है, लेकिन सत्त्वका अनित्यताके साथ नहीं। (१९) साध्य और साध्यविरुद्ध, इन दोनोंके कारण दिखला कर मिथ्या दोष देना, उपपत्तिसमा जाति है। जैसे, यदि शब्दके अनित्यत्वमें कृत्रिमता कारण है तो उसके नित्यत्वमें स्पर्शरहितता कारण है। यहाँ जातिवादी अपने ही शब्दोंसे अपने कथनका विरोध करता है। जब उसने शब्दके अनित्यत्वका कारण मान लिया तो नित्यत्वका कारण कैसे मिल सकता है ? फिर स्पर्शरहितताकी नित्यत्वके साथ व्याप्ति नहीं है। (२०) निर्दिष्ट कारण (साध्यकी सिद्धिका कारण–साधन) के अभावमें साध्यकी उपलब्धि बताकर दोष देना, उपलब्धिसमा जाति है। जैसे, प्रयत्नके बाद पैदा होनेसे शब्दका अनित्यत्व प्रतिपादन करना। लेकिन ऐसे बहुतसे शब्द हैं जो प्रयत्नके बाद न होने पर भी अनित्य हैं; उदाहरणके लिए, मेघ गर्जना आदिमें प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं है। यह दूषण मिथ्या है, क्योंकि साध्यके अभावमें साधनके अभावका नियम है, न कि साधनके अभावमें साध्यके अभावका। अग्निके अभावमें नियमसे धुँआ नहीं रहता, लेकिन धुँएके अभावमें नियमसे अग्निका अभाव नहीं कहा जा सकतता। (२१) उपलब्धिके अभावमें अनुपलब्धिका अभाव कथन कर दूषण देना, अनुपलब्धिसमा जाति है। जैसे, किसीने कहा कि उच्चारणके पहले शब्द नहीं था, क्योंकि उपलब्ध नहीं होता था। यदि कहा जाय कि उस समय शब्दपर आवरण था, इसलिए अनुपलब्ध था, तो उसका आवरण तो उपलब्ध होना चाहिये था। जैसे कपड़ेसे ढकी हुई कोई वस्तु भले ही दिखाई न दे लेकिन कपड़ा तो दिखाई देता है, उसी तरह शब्दका आवरण तो उपलब्ध होना चाहिये। इसके उत्तरमें जातिवादी कहता है, जैसे आवरण उपलब्ध नहीं होता, उसी तरह आवरणकी अनुपलब्धि (अभाव) भी तो उपलब्ध नहीं होती। यह उत्तर ठीक नहीं है, क्योंकि आवरणकी अनुपलब्धि नहीं होनेसे ही आवरणकी अनुपलब्धि उपलब्ध हो जाती है। (२२) एककी अनित्यतासे सबको अनित्य प्रतिपादन कर दूषण देना, अनित्यसमा जाति है। जैसे, यदि किसी धर्मकी समानतासे शब्दको अनित्य सिद्ध किया जाये, तो सत्त्वकी समानतासे सब वस्तुएँ अनित्य सिद्ध हो जायेंगी। यह उत्तर ठीक नहीं। क्योंकि वादी और प्रतिवादीके शब्दोंमें भी प्रतिज्ञा आदिकी समानता तो है ही, इसलिए जिस प्रकार प्रतिवादी (जातिका प्रयोग करनेवाला) के शब्दोंसे वादीका खण्डन होगा, उसी प्रकार प्रतिवादीका भी खण्डन हो जायगा। अतएव जहाँ जहाँ अविनाभाव हो, वहीं वहीं साध्यकी सिद्धि मानना चाहिए, न कि सब जगह। (२३) अनित्यत्वमें नित्यत्वका आरोप करके खण्डन करना, नित्यसमा जाति है। जैसे, शब्दको अनित्य सिद्ध करते हो, तो शब्दमें अनित्यत्व नित्य है, या अनित्य ? यदि अनित्यत्व नित्य है, तो शब्द भी नित्य कहलाया (धर्मके नित्य होनेपर धर्मीको नित्य मानना पड़ेगा)। यदि अनित्यत्व अनित्य है, तो शब्द नित्य कहलाया। यह असत्य उत्तर है, क्योंकि जब शब्दमें अनित्यत्व सिद्ध है, तो उसीका अभाव कैसे कहा जा सकता है। दूसरे, इस तरह कोई भी वस्तु अनित्य सिद्ध नहीं हो सकेगी। तीसरे अनित्यत्व एक धर्म है, यदि धर्ममें भी धर्मकी कल्पना की जायगी तो अनवस्था हो जायगी। (२४) कार्यको

तथा विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्। तत्र विप्रतिपत्तिः साधनाभासे साधनबुद्धिः, दूषणाभासे च दूषणबुद्धिरिति। अप्रतिपत्तिः साधनस्यादूषणं, दूषणस्य चानुद्धरणम्। तच्च निग्रहस्थानं द्वाविंशतिविधम्। तद्यथा—प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरम् प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासंन्यासः हेत्वन्तरम् अर्थान्तरम् निरर्थकम् अविज्ञातार्थम् अपार्थकम् अप्राप्तकालम् न्यूनम् अधिकम् पुनरुक्तम् अननुभाषणम् अज्ञानम् अप्रतिभा विक्षेपः मतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षणम् निरनुयोज्यानुयोगः अपसिद्धान्तः हेत्वाभासाश्च।

तत्र हेतावनैकान्तिकीकृते प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तेऽभ्युपगच्छतः प्रतिज्ञाहानिर्नाम निग्रहस्थानम्। यथा अनित्यः शब्दः, ऐन्द्रियकत्वाद्, घटवदिति प्रतिज्ञासाधनाय वादी वदन्, परेण सामान्यमैन्द्रियकमपि नित्यं दृष्टमिति हेतावनैकान्तिकीकृते, यद्येवं ब्रूयात् सामान्यवद् घटोऽपि नित्यो भवत्विति, स एवं ब्रुवाणः शब्दाऽनित्यत्वप्रतिज्ञां जह्यात्। प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे परेण कृते तत्रैव धर्मिणि धर्मान्तरं साधनीयमभिदधतः प्रतिज्ञान्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति। अनित्यः शब्दः, ऐन्द्रियकत्वादित्युक्ते, तथैव सामान्येन व्यभिचारे चोदिते, यदि ब्रूयाद् युक्तं यत् सामान्यमैन्द्रियकं नित्यम्, तद्धि सर्वगतम्, असर्वगतस्तु शब्द इति। तदिदं शब्देऽनित्यत्वलक्षणपूर्वप्रतिज्ञातः प्रतिज्ञान्तरमसर्वगतः शब्द इति निग्रहस्थानम् अनया दिशा शेषाण्यपि विंशतिर्ज्ञेयानि। इह तु न लिखितानि, पूर्वहेतोरेव। इत्येवं मायाशब्देनात्र छलादित्रयं सूचितम्। तदेवं परवञ्चनात्मकान्यपि छलजातिनिग्रहस्थानानि तत्त्वरूपतयोपदिशतो अक्षपादर्षेर्वैराग्यव्यावर्णनं तमसः प्रकाशात्मकत्वप्रख्यापनमिव कथमिव नोपहसनीयम्॥ इति काव्यार्थः॥ १०॥

अभिव्यक्तिके समान मानना (क्योंकि दोनोंमें प्रयत्नकी आवश्यकता होती है), और केवल इतनेसे ही सत्य हेतुका खण्डन करना, कार्यसमा जाति है। जैसे, प्रयत्नके बाद शब्दकी उत्पत्ति भी होती है, और अभिव्यक्ति (प्रगट होना) भी, फिर शब्द को अनित्य कैसे कहा जा सकता है ? यह उत्तर ठीक नहीं है, क्योंकि प्रयत्नके अनन्तर होनेका मतलब है, स्वरूप लाभ करना। और अभिव्यक्तिको स्वरूप लाभ नहीं कह सकते। प्रयत्नके पहले यदि शब्द उपलब्ध होता, या उसका आवरण उपलब्ध होता, तो अभिव्यक्ति कही जा सकती थी[1]।"]

विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्तिको निग्रहस्थान कहते है। साधनाभासमें साधनकी बुद्धि और दूषणाभासमें दूषणकी बुद्धिको विप्रतिपत्ति, अर्थात् विरुद्धप्रतिपत्ति कहते हैं। तथा प्रतिवादीके साधनको दोष रहित मान लेना, अथवा प्रतिवादीके दूषणको दूर न करना, अप्रतिपत्ति है। निग्रहस्थान बाईस प्रकार है—१ प्रतिज्ञाहानि २ प्रतिज्ञान्तर, ३ प्रतिज्ञाविरोध, ४ प्रतिज्ञासंन्यास, ५ हेत्वन्तर, ६ अर्थान्तर, ७ निरर्थक, ८ अविज्ञातार्थ, ९ अपार्थक, १० अप्राप्तकाल, ११ न्यून, १२ अधिक, १३ पुनरुक्त, १४ अननुभाषण, १५ अज्ञान, १६ अप्रतिभा, १७ विक्षेप, १८ मतानुज्ञा, १९ पर्यनुयोज्योपेक्षण, २० निरनुयोज्यानुयोग, २१ अपसिद्धान्त, २२ हेत्वाभास। (इनमें अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षण छह अप्रतिपत्तिसे, और शेष सोलह विप्रतिपत्तिसे होते हैं।)

(१) प्रतिवादीद्वारा हेतुके अनैकांतिक सिद्ध किये जानेपर वादीद्वारा विरोधीके दृष्टांतका धर्म अपने दृष्टांतमें स्वीकार किये जानेको प्रतिज्ञाहानि कहते है। जैसे, वादीने कहा, 'शब्द अनित्य है, क्योंकि वह इन्द्रियका विषय है, घटकी तरह'। इसपर प्रतिवादीका कथन है कि यह अनुमान अनैकांतिक हेत्वाभास है, क्योंकि सामान्य (जाति) भी इन्द्रियोंका विषय है, लेकिन वह नित्य है। इससे वादीके पक्षकी पराजय होती है, लेकिन वादी पराजय न मान कर उत्तर देता है कि 'सामान्यकी तरह घट भी नित्य रहे'। यहाँ वादी अपनी अनित्यत्वकी प्रतिज्ञाको छोड़ देता है। (२) प्रतिज्ञाके खण्डित होनेपर धर्मीमें दूसरे धर्मको स्वीकार करनेको,

---

१ दरबारीलाल न्यायतीर्थ, न्यायप्रदीप. पृ० ८०–८७

प्रतिज्ञान्तर कहते हैं। जैसे, 'शब्द अनित्य है, क्योंकि वह इन्द्रियका विषय है, घटकी तरह,' इस अनुमानमें प्रतिज्ञाके खण्डित होनेपर यह कथन करना कि सामान्य जो इन्द्रियोंका विषय होकर नित्य है, वह सर्वव्यापक है, परन्तु शब्द तो घटके समान असर्वगत है, इसलिये उसीके समान अनित्य भी है। यहाँ शब्दको असर्वगत कह कर दूसरी प्रतिज्ञा की गई, लेकिन इससे पूर्वोक्त व्यभिचार दोषका परिहार नहीं होता।

["(३) प्रतिज्ञा और हेतुका विरोध होना, प्रतिज्ञाविरोध है। जैसे, 'गुण, द्रव्यसे भिन्न है, क्योंकि द्रव्यसे पृथक् नहीं होता'। किन्तु पृथक् प्रतीत न होनेसे अभिन्नता सिद्ध होती है, न कि भिन्नता। इसे विरुद्ध हेत्वाभासमें भी सम्मिलित किया जा सकता है। (४) अपनी प्रतिज्ञाका त्याग कर देना, प्रतिज्ञासंन्यास है। जैसे 'मैंने ऐसा कब कहा!' इत्यादि। (५) हेतुके खण्डित हो जानेपर उसमें कुछ जोड़ देना, हेत्वन्तर है। जैसे, 'शब्द अनित्य है, क्योंकि इन्द्रियका विषय है'। यहाँ घटत्वमें दोष उपस्थित होने पर हेतुको बढ़ा दिया कि सामान्यवाला हो कर जो इन्द्रियका विषय है। किन्तु घटत्व स्वयं सामान्य तो है, परन्तु सामान्यवाला नहीं है। यदि इस तरह हेतुमें मनमानी वृद्धि होती रहे, तो व्यभिचारी हेतुमें व्यभिचार दोष न दिखलाया जा सकेगा। क्योंकि ज्योंही व्यभिचार दिखलाया गया कि एक विशेषण जोड़ दिया। (६) प्रकृत विषय (जिस विषयपर शास्त्रार्थ हो रहा है) से सम्बन्ध न रखनेवाला कथन, अर्थान्तर है। जैसे वादीने कोई हेतु दिया और उसका खण्डन न हो सका, तो कहने लगे 'हेतु किस भाषाका शब्द है, किस धातुसे निकला है?' इत्यादि। (७) अर्थ रहित शब्दोंका उच्चारण करने लगना, निरर्थक है। जैसे, 'शब्द अनित्य है क्योंकि क ख ग घ ङ हैं; जैसे, च छ ज झ ञ आदि'। (८) ऐसे शब्दोंका प्रयोग करना कि तीन तीन बार कहनेपर भी जिनका अर्थ न प्रतिवादी समझे, न कोई सभासद् समझे, अविज्ञातार्थ है। जैसे, 'जंगलके राजाके आकारवाले के खाद्यके शत्रुका शत्रु यहाँ है।' जंगलका राजा शेर, उसके आकारवाला बिलाव, उसका खाद्य मूषक, उसका शत्रु सर्प, उसका शत्रु मोर। (९) पूर्वापर सम्बन्धको छोड़ कर अंडवंड बकना, अपार्थक है। जैसे, 'कलकत्तेमें पानी बरसा, कौओंके दांत नहीं होते, बम्बई बड़ा शहर है, यहाँ दश वृक्ष लगे हैं, मेरा कोट बिगड़ गया' इत्यादि। इसे निरर्थक बकवास ही समझना चाहिये। (१०) प्रतिज्ञा आदिका बेसिलसिले प्रयोग करना, अप्राप्तकाल है। (११) बिना अनुवादके शब्द और अर्थको फिरसे कहना, पुनरुक्त है। (१२) वादीने तीन बार कहा, परिषदने भी समझ लिया, लेकिन प्रतिवादी उसका अनुवाद न कर पाया, इसे अननुभाषण कहते हैं। (१३) वादीके वक्तव्यको सभा समझ गई, किन्तु प्रतिवादी न समझा, यह अज्ञान है। (१४) उत्तर न सूझना, अप्रतिभा है। (१५) विपक्षी निग्रहस्थानमें पड़ गया हो, फिर भी यह न कहना कि तुम्हारा निग्रह हो गया है, पर्यनुयोज्योपेक्षण है। (१६) निग्रहस्थानमें न पड़ा हो, फिर भी उसका निग्रह बतलाना, निरनुयोज्यानुयोग है। (१७) स्व पक्षको कमजोर देखकर बात उड़ा देना, विक्षेप है। जैसे 'अभी मुझे यह काम करना है, फिर देखा जायगा' आदि। (१८) स्व पक्षमें दोष स्वीकार करके, पर पक्षमें भी वही दोष प्रतिपादन करना, मतानुज्ञा है। जैसे, 'यदि हमारे पक्षमें भी यह दोष है तो आपके पक्षमें भी है'। (१९-२०) पाँच अंगों (प्रतिज्ञा आदि) से कमका प्रयोग करना, न्यून है, और दो-दो तीन-तीन हेतु दृष्टांत आदि देना, अधिक है। (२१) स्वीकृत सिद्धांतके विरुद्ध कथन करना, अपसिद्धांत है। जैसे, 'सत्का उत्पाद नहीं, असत्का विनाश नहीं,' यह मान करके भी आत्माका नाश प्रतिपादन करना[१]।]" (२२) असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, कालात्ययापदिष्ट और प्रकरणसमके भेदसे हेत्वाभास पाँच प्रकारका है।

यहाँ माया शब्दसे छल, जाति और निग्रहस्थानका सूचन किया गया है। ये छल, जाति और निग्रहस्थान केवल दूसरोंका वंचन करनेके लिये हैं, फिर भी इनका तत्त्व रूपसे उपदेश किया गया है। इस प्रकारके उपदेश देनेवाले अक्षपाद ऋषिको वीतराग कहना अंधकारको प्रकाश कहनेके समान होनेसे हास्यास्पद है॥ यह श्लोकका अर्थ है॥ १०॥

भावार्थ—इस श्लोकमें योग नामसे कहे जानेवाले नैयायिकोंके प्रमाण, प्रमेय आदि पदार्थोंका खण्डन

१–पं० दरबारीलाल न्यायतीर्थ–न्यायप्रदीप, पृ० ८९-९३

अधुना मीमांसकभेदाभिमतं वेदविहितहिंसाया धर्महेतुत्वमुपपत्तिपुरःसरं निरस्यन्नाह-

न धर्महेतुर्विहितापि हिंसा नोत्सृष्टमन्यार्थमपोद्यते च ।
स्वपुत्रघाताद् नृपतित्वलिप्सा सब्रह्मचारि स्फुरितं परेषाम् ॥११॥

इह खल्वर्चिर्मार्गप्रतिपक्षधूममार्गाश्रिता जैमिनीया इत्थमाचक्षते । या हिंसा गार्द्ध्याद् व्यसनितया वा क्रियते सैवाधर्मानुबन्धहेतुः, प्रमादसंपादितत्वात् शौनिकलुब्धकादीनामिव । वेदविहिता तु हिंसा प्रत्युत धर्महेतुः, देवतातिथिपितॄणां प्रीतिसंपादकत्वात्, तथाविधपूजो-

---

किया गया है । ग्रन्थकारका कहना है कि नैयायिकोंके सोलह पदार्थोंमें गिने जानेवाले छल, जाति और निग्रहस्थान सर्वथा अनुपादेय हैं, इनके ज्ञानसे मुक्ति नहीं हो सकतो । तथा मुक्ति प्राप्त करनेके लिये ज्ञान और क्रिया दोनोंकी आवश्यकता होती है, केवल सोलह पदार्थोंके ज्ञान मात्रसे मुक्ति सम्भव नहीं ।

(१) क—जो पदार्थोंके ज्ञानमें हेतु हो, उसे प्रमाण कहते हैं (अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणम्-वात्स्यायनभाष्य) । ख—सम्यक् अनुभवको प्रमाण कहते हैं (सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम्— भासर्वज्ञकृत-न्यायसार) । नैयायिकोंके ये दोनों प्रमाणके लक्षण दोषपूर्ण हैं, क्योंकि नैयायिक लोग इन्द्रिय और पदार्थोंके संनिकर्षको ही प्रमाण मानते हैं, इन्द्रिय और पदार्थोंके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले प्रत्यक्षके करण ज्ञानको प्रमाण नहीं मानते । परन्तु इन्द्रिय और पदार्थका सन्निकर्ष होनेपर भी ज्ञानका अभाव होनेसे पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता । तथा 'पदार्थोंके ज्ञानमें हेतु' को प्रमाण माननेपर, यदि निमित्त मात्रको ही हेतु कहा जाय तो कर्ता, कर्म आदिको भी प्रमाण मानना चाहिये । यदि 'हेतु' का अर्थ करण हो, तो फिर ज्ञानको ही प्रमाण मानना चाहिये, क्योंकि ज्ञान ही पदार्थोंके जाननेमें साधकतम है । इसलिये 'स्वपरव्यवसायिज्ञानं प्रमाणं' ही प्रमाणका निर्दोष लक्षण है ।

(२) नैयायिकोंके आत्मा, शरीर आदिके भेदसे बारह प्रकारके प्रमेयकी मान्यता भी ठीक नहीं है । क्योंकि शरीर आदिका आत्मामें अन्तर्भाव हो जाता है, तथा प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म) और अपवर्ग (मोक्ष) भी आत्माकी ही अवस्था हैं । तथा आत्मा प्रमेय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह प्रमाता है । दोष मनकी क्रिया है, उसका प्रवृत्तिमें अन्तर्भाव हो जाता है । दुःख और इन्द्रियार्थ फलमें गर्भित हो जाते हैं, इसे जयन्तने भी स्वीकार किया है । अतएव 'द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु प्रमेयं' यही प्रमेयका निर्दोष लक्षण है ।

(३) छल, जाति और निग्रहस्थान दूसरोंको केवल वंचन करनेके साधन हैं, इसलिये इन्हें तत्त्व नहीं कहा जा सकता । अतएव इनके ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती है ।

अब मीमांसकसम्मत वेदमें कही हुई हिंसा धर्मका कारण नहीं होती, इसका युक्तिपूर्वक खण्डन करते हैं—

श्लोकार्थ—वेद विहित होने पर भी हिंसा धर्मका कारण नहीं है । अन्य कार्यके लिये प्रयुक्त उत्सर्ग वाक्य उस कार्य से भिन्न कार्यके लिये प्रयुक्त वाक्यके द्वारा अपवादका विषय नहीं बनाया जा सकता । दूसरों (अन्य मतानुयायी) का यह प्रयत्न अपने पुत्रको मार कर राजा बननेकी इच्छाके समान है ।

व्याख्यार्थ—अर्चि मार्गके प्रतिपक्षी धूममार्गको स्वीकार करने वाले जैमिनीयों (पूर्वमीमांसक)का कथन : हिंसाजीवी व्याध आदिकी हिंसाकी तरह लोभ अथवा किसी व्यसनसे की हुई हिंसा ही पापका कारण होती है, क्योंकि वह हिंसा प्रमादसे उत्पन्न होती है । वेदोंमें प्रतिपादित हिंसा धर्मका ही कारण है, क्योंकि वेदमें अभिहित पूजा-उपचारकी तरह वेदोक्त हिंसा भी देव, अतिथि

---

१. अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥
इत्यर्चिर्मार्गः । अयमेवोत्तरमार्ग इत्यभिधीयते । भगवद्गीता ८–२४ ।

२. धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् । तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥
इति धूममार्गः । अयमेव दक्षिणमार्ग इत्यप्यभिधीयते । भगवद्गीता ८–२५ ।

पचारवत्। न च तत्प्रीतिसंपादकत्वमसिद्धम्। कारीरी[1]प्रभृतियज्ञानां स्वसाध्ये वृष्ट्यादिफले यः खल्वव्यभिचारः, स तत्प्रीणितदेवताविशेषानुग्रहहेतुकः। एवं त्रिपुरार्णव[2]वर्णितच्छगलजाङ्गल होमात् परराष्ट्रवशीकृतिरपि तदनुकूलितदैवतप्रसादसंपाद्या। अतिथिप्रीतिस्तु मधुपर्क[3]संस्कारादिसमास्वादजा प्रत्यक्षोपलक्ष्यैव। पितॄणामपि तत्तदुपयाचितश्रद्धादिविधानेन प्रीणितात्मनां स्वसन्तानवृद्धिविधानं साक्षादेव वीक्ष्यते। आगमश्चात्र प्रमाणम्। स च देवप्रीत्यर्थमश्वमेधगोमेधनरमेधादिविधानाभिधायकः[4-5]प्रतीत एव। अतिथिविषयस्तु—"महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रिया[6]योपकल्पयेत्।"[7]इत्यादिः। पितृप्रीत्यर्थस्तु—

"द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन् मासान् हारिणेन तु।
औरभ्रेणाथ चतुरः शाकुनेनेह पञ्च तु"[8]॥ इत्यादिः।

एवं पराभिप्रायं हृदि संप्रधार्याचार्यः प्रतिविधत्ते न धर्मेत्यादि। विहितापि–वेदप्रतिपादितापि। आस्तां तावदविहिता हिंसा–प्राणिप्राणव्यपरोपणरूपा। न धर्महेतुः–न धर्मानुबन्धनिबन्धनम्। यतोऽत्र प्रकट एव स्ववचनविरोधः। तथाहि। 'हिंसा चेद् धर्महेतुः कथम्', 'धर्महेतुश्चेद् हिंसा कथम्।' "श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्"[9]इत्यादिः। न हि भवति माता च, वन्ध्या चेति। हिंसा कारणं, धर्मस्तु तत्कार्यमिति पराभिप्रायः। न चायं निरपायः। यतो यद् यस्यान्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते तत् तस्य कार्यम्, यथा मृत्पिण्डादेर्घटादिः। न च धर्मो हिंसात एव भवतीति प्रातीतिकम् तपोविधानदानध्यानादीनां तदकारणत्वप्रसङ्गात्॥

और पितरोंको आनन्द देनेवाली होती है। वेदोक्त हिंसाका आनन्ददायकपना असिद्ध नहीं है, क्योंकि कारीरी (जिस यज्ञके करनेसे वृष्टि होती है) आदि यज्ञोंके करनेसे वृष्टिका होना देखा जाता है। वृष्टि होना यज्ञोंसे प्रसन्न हुए देवता लोगोंके अनुग्रहका ही फल है। अतएव जिस प्रकार कारीरी यज्ञसे देवता लोग प्रसन्न होकर वृष्टि करते हैं, उसी तरह वेदोक्त हिंसा भी देवताओंको आनन्द देनेवाली है। इसी प्रकार त्रिपुरार्णव नामक मंत्रशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थमें कहे हुए बकरे और हरिणका मांस होम करनेसे आनन्दित देवताओंकी कृपासे ही दूसरे देश वशमें किये जाते हैं। तथा, मधुपर्क (दही, घी, जल, मधु और चीनीसे वना हुआ पदार्थ) से अतिथि लोग प्रसन्न होते हैं। इसी प्रकार पितर भी श्राद्धसे प्रसन्न होकर अपनी सन्तानकी वृद्धि करते हुए देखे जाते हैं। आगममें भी कहा है, देवताओंको प्रसन्न करनेके लिये अश्वमेध, गोमेध, नरमेध आदि यज्ञ करने चाहिये। "अतिथिको प्रसन्न करनेके लिए श्रोत्रिय (वेदपाठी) को बड़ा बैल अथवा घोड़ा मार कर देना चाहिये।" तथा,

"मछलीके मांससे दो, हरिणके मांससे तीन, मेढ़के मांससे चार, और पक्षीके मांससे पाँच मास तक पितरोंकी तृप्ति होती है।"

जैन—वेदोंमें प्रतिपादित प्राणियों के प्राणों की संहारकारक हिंसा धर्मका कारण नहीं हो सकती, क्योंकि हिंसाको धर्म प्रतिपादन करना साक्षात् अपने वचनोंका विरोध करना है। क्योंकि 'जो हिंसा है, वह धर्मका कारण नहीं हो सकती', और 'जो धर्मका कारण है, उसे हिंसा नहीं कह सकते'। कहा भी है—"धर्मका सार सुनकर उसे ग्रहण करना चाहिए। (अपने प्रतिकूल बातोंको कभी दूसरोंके लिए न करना चाहिये)।" जिस प्रकार कोई स्त्री एक ही समय माता और वंध्या दोनों नहीं हो सकती, उसी तरह हिंसाका हिंसारूप और धर्म रूप होना परस्पर विरुद्ध है। अतएव हिंसा और धर्मको कारण और कार्य रूपसे प्रतिपादन करनेवाले

---

१. कं जलमृच्छतीति कारो जलदस्तमीरयति प्रेरयतीति कारीरी। २. मन्त्रशास्त्रविषयको निबन्धः। ३. दधि सर्पिः जलं क्षौद्रं सितैताभिस्तु पंचभिः प्रोच्यते मधुपर्कस्तु सर्वदेवौघतुष्टये॥ कालिकापुराणे। ४. ऐतरेयब्राह्मणे ४; श्रौतसूत्रे। ५. मनुस्मृतौ पंचमाध्याये; आपस्तंबगृह्यसूत्रे। ६. एकां शाखां सकल्पां वा षड्भिरङ्गैरधीत्य वा। षट्कर्मनिरतो विप्रः श्रोत्रियो नाम धर्मवित्॥ ७. याज्ञवल्क्यस्मृतौ आचाराध्यायः १०९। ८. मनुस्मृतिः ३–२६८। ९. 'श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवोपधारयेत्'। चाणक्यराजनीतिशास्त्रे १–७।

अथ न वयं सामान्येन हिंसां धर्महेतुं ब्रूमः, किन्तु विशिष्टामेव। विशिष्टा च सैव या वेदविहिता इति चेत्, ननु तस्या धर्महेतुत्वं किं वध्यजीवानां मरणाभावेन, मरणेऽपि तेषामार्त्तध्यानाभावात् सुगतिलाभेन वा? नाद्यः पक्षः। प्राणत्यागस्य तेषां साक्षादवेक्ष्यमाणत्वात्। न द्वितीयः। परचेतोवृत्तीनां दुर्लक्षतयार्त्तध्यानाभावस्य वाङ्मात्रत्वात्। प्रत्युत हा कष्टमस्ति न कोऽपि कारुणिकः शरणम्, इति स्वभाषया विरसमारसत्सु तेषु वदनदैन्यनयनतरलतादीनां लिङ्गानां दर्शनाद् दुर्ध्यानस्य स्पष्टमेव निष्टङ्क्यमानत्वात्॥

अथेत्थमाचक्षीथाः यथा अयःपिण्डो गुरुतया मज्जनात्मकोऽपि तनुतरपत्रादिकरणेन संस्कृतः सन् जलोपरि प्लवते, यथा च मारणात्मकमपि विषं मन्त्रादिसंस्कारविशिष्टं सद्गुणाय जायते, यथा वा दहनस्वभावोऽप्यग्निः सत्यादिप्रभावप्रतिहतशक्तिः सन् न हि प्रदहति। एवं मन्त्रादिविधिसंस्काराद् न खलु वेदविहिता हिंसा दोषपोषाय। न च तस्याः कुत्सितत्वं शङ्कनीयम्। तत्कारिणां याज्ञिकानां लोके पूज्यत्वदर्शनादिति। तदेतद् न दक्षाणां क्षमते क्षोदम्। वैधर्म्येण दृष्टान्तानामसाधकतमत्वात्। अयःपिण्डादयो हि पत्रादिभावान्तरापन्नाः सन्तः सलिलतरणादिक्रियासमर्थाः। न च वैदिकमन्त्रसंस्कारविधिनापि विशस्यमानानां पशूनां काचिद् वेदनानुत्पादादिरूपा भावान्तरापत्तिः प्रतीयते। अथ तेषां वधानन्तरं देवत्वा-

---

मीमांसकोंका मत निर्दोष नहीं है। जो जिसके अन्वय और व्यतिरेकसे संबद्ध होता है, वह उसका कार्य होता है, जैसे मिट्टीका पिंड और घड़ा दोनोंमें अन्वय-व्यतिरेक संबंध है, इसलिये घड़ा मिट्टीके पिंडका कार्य है। परन्तु जिस प्रकार मिट्टीके पिंड होनेपर ही घट होता है, वैसे ही हिंसाके होनेपर धर्म होता है, ऐसा अनुभवमें नहीं आता। क्योंकि केवल हिंसाको धर्म माननेपर अहिंसा रूप तप, ध्यान, दान आदि धर्मके कारण नहीं कहे जा सकते।

शंका—हम लोग सामान्य हिंसाको धर्म नहीं मानते, किंतु विशिष्ट हिंसाको ही धर्म कहते हैं। वेदमें प्रतिपादित हिंसा विशिष्ट हिंसा है। समाधान—आप लोग हिंसाको धर्म क्यों कहते हैं? वध किये जानेवाले प्राणियोंका मरण नहीं होता, क्या इसलिये हिंसा धर्म है? अथवा प्राणियोंके मरणके समय उनके परिणामोंमें आर्तध्यान न होनेसे उन्हें स्वर्ग प्राप्त होता है, इसलिये हिंसा धर्म है? यदि कहो कि वेदोक्त विधिसे प्राणियोंको मारनेपर उनका मरण नहीं होता, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि प्राणियोंका मरण प्रत्यक्ष देखनेमें आता है। यदि कहो कि वेदोक्त विधिसे प्राणियोंके मारे जानेपर उनके आर्तध्यान नहीं होता, तो यह भी केवल कथन मात्र है। क्योंकि 'कोई भी करुणाशील व्यक्ति हमारा रक्षक नहीं', इस हृदयद्रावक भाषासे आक्रन्दन करते हुए प्राणियोंके मुखकी दीनता, नेत्रोंकी चंचलता आदिसे उनके दुर्ध्यानका स्पष्ट रूपसे पता लगता है।

शंका—जिस प्रकार भारी लोहपिंड पानीमें डूबनेवाला होनेपर भी हलके-हलके पत्तरोंके रूपमें परिणत होकर जहाजके रूपमें पानीके ऊपर तैरता है; अथवा जिस तरह मंत्रके प्रभावसे, मारक विष भी शरीरको आरोग्य प्रदान करता है; अथवा जिस तरह दहनशील अग्नि सत्य आदिके प्रभावसे दहन स्वभावको छोड़ देती है; उसी तरह मंत्रादि विधिसे वेदोक्त हिंसा भी पापबंधका कारण नहीं होती। यह वेदोक्त हिंसा निन्दनीय भी नहीं कही जा सकती, क्योंकि इस हिंसाके कर्त्ता याज्ञिक लोग संसारमें पूज्य दृष्टिसे देखे जाते हैं। समाधान—यह कथन परीक्षणकी कसौटीपर ठीक नहीं उतरता। क्योंकि पूर्वपक्ष द्वारा दिये गये दृष्टान्त, वैधर्म्यके कारण साधकतम नियमसे साध्य की सिद्धि करनेवाले नहीं होते। यहाँ लोहपिंड आदिके दृष्टांत विषम हैं, इसलिये इन दृष्टांतोंसे साध्यकी सिद्धि नहीं होती। क्योंकि जिस प्रकार लोहपिंड पत्र आदिरूप अवस्थान्तरको प्राप्त होकर ही जहाजके रूपमें पानीपर तैरने आदिकी क्रिया करनेमें समर्थ होता है, उस तरह वैदिक विधिसे मंत्रोंके संस्कार द्वारा मारे जाते हुए प्राणियोंकी वेदनाकी अनुत्पत्ति रूप परिणति देखनेमें नहीं आती। यदि आप कहें कि वेदोक्त विधिसे वध किये जानेवाले प्राणियोंको स्वर्गकी प्राप्ति रूप परिणति देखनेमें

पत्तिर्भावान्तरमस्त्येवेति चेत् किमत्र प्रमाणम्। न तावत् प्रत्यक्षम्। तस्य सम्बद्धवर्तमानार्थग्राहकत्वात्। "सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना।"[1] इति वचनात्। नाप्यनुमानम्। तत्प्रतिबद्धलिङ्गानुपलब्धेः। नाप्यागमः। तस्याद्यापि विवादास्पदत्वात्। अर्थापत्त्युपमानयोस्त्वनुमानान्तर्गततया तद्दूषणेनैव गतार्थत्वम्॥

अथ भवतामपि जिनायतनादिविधाने परिणामविशेषात् पृथिव्यादिजन्तुजातघातनमपि यथा पुण्याय कल्पते इति कल्पना, तथा अस्माकमपि किं नेष्यते। वेदोक्तविधिविधानरूपस्य परिणामविशेषस्य निर्विकल्पं तत्रापि भावात्। नैवम्। परिणामविशेषोऽपि स एव शुभफलो, यत्रानन्योपायत्वेन यतनयाप्रकृष्टप्रतनुचैतन्यानां पृथिव्यादिजीवानां वधेऽपि स्वल्पपुण्यव्ययेनापरिमितसुकृतसंप्राप्तिः, न पुनरितरः। भवत्पक्षे तु सत्स्वपि तत्तच्छ्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासप्रतिपादितेषु स्वर्गावाप्त्युपायेषु तांस्तान् देवानुद्दिश्य प्रतिप्रतीकं कर्तनकदर्थनया कान्दिशीकान् कृपणपञ्चेन्द्रियान् शौनिकाधिकं मारयतां कृत्स्नसुकृतव्ययेन दुर्गतिमेवानुकूलयतां दुर्लभः शुभपरिणामविशेषः। एवं च यं कञ्चन पदार्थं किञ्चित्साधर्म्यद्वारेणैव दृष्टान्तीकुर्वतां भवतामतिप्रसङ्गः सङ्गच्छते॥

न च जिनायतनविधापनादौ पृथिव्यादिजीववधेऽपि न गुणः। तथाहि तद्दर्शनाद् गुणानुरागितया भव्यानां[2] बोधिलाभः[3], पूजातिशयविलोकनादिना च मनःप्रसादः, ततः समाधिः,[4] ततश्च क्रमेण निःश्रेयसप्राप्तिरिति। तथा च भगवान् पञ्चलिङ्गीकारः—

आती है, तो इस कथनमें कोई प्रमाण नहीं है। प्राणियोंकी स्वर्ग-प्राप्ति प्रत्यक्ष प्रमाणसे नहीं जानी जा सकती, क्योंकि प्रत्यक्ष केवल चक्षु आदि इन्द्रियोंसे संबद्ध वर्तमान पदार्थको ही जानता है। कहा भी है "प्रत्यक्ष चक्षु आदिसे संबद्ध वर्तमान पदार्थको ही जानता है।" अनुमानसे भी प्राणियोंकी स्वर्ग-प्राप्ति सिद्ध नहीं होती, क्योंकि 'वधके अनंतर देवत्वकी प्राप्ति' साध्यके साथ अविनाभावी हेतुकी उपलब्धि नहीं होती। आगमके विवादास्पद होनेसे आगमसे भी इसकी सिद्धि नहीं हो सकती। अर्थापत्ति और उपमान अनुमानमें ही गर्भित हो जाते हैं (जैनोंकी दृष्टिमें), इसलिये अर्थापत्ति और उपमान प्रमाणसे भी वेदोक्त रीतिसे वध किये हुए प्राणियोंकी स्वर्ग-प्राप्ति सिद्ध नहीं की जा सकती।

शंका—जिस प्रकार जैनमतमें पृथिवी आदि जीवोंका घात होनेपर भी परिणाम विशेषके कारण जैन मन्दिरोंका निर्माण पुण्यरूप ही माना जाता है, उसी तरह वेदविहित हिंसामें वेदोंका विधि-विधानरूप विशिष्ट परिणामोंका सद्भाव होनेसे वह पुण्यका कारण होती है। समाधान—यह ठीक नहीं है। क्योंकि मंदिरोंके निर्माण करनेमें उपायांतर न होनेके कारण, सावधानीपूर्वक प्रवृत्त होते हुए भी अत्यंत अल्प ज्ञानके धारक पृथिवी आदि जीवोंका वध अनिवार्य है, तथा पृथिवी आदिके वध करनेपर अल्प पुण्यके नाश होनेसे अपरिमित पुण्यकी प्राप्ति होती है। परन्तु आप लोगोंके मतमें श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहासमें यम, नियमादिसे स्वर्गकी प्राप्तिका प्रतिपादन किया गया है, तथा उन उन देवी-देवताओंके उद्देश्यसे प्रत्येक मूर्तिके समक्ष अपने शरीरके काटे जानेके भयसे विह्वल, निस्सहाय पंचेन्द्रिय जीवोंको कसाईसे भी अधिक क्रूरतासे मारनेवाले पुरुषोंके समस्त पुण्यके नष्ट हो जानेके कारण दुर्गतिको ले जानेवाले परिणामोंको शुभ परिणाम कहना दुर्लभ है। अतएव थोड़ा-बहुत सादृश्य देखकर दृष्टांत बनानेसे आपके मतमें अतिप्रसंग उपस्थित होता है।

तथा पृथिवी आदि जीवोंके वध होनेपर भी जिनमंदिरके निर्माणमें पुण्य ही होता है। क्योंकि मंदिरमें जिनप्रतिमाके दर्शनसे गुणानुरागी होनेके कारण भव्य पुरुषोंको सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है, भगवान्‌के पूजातिशयके विलोकनसे मन प्रफु- ल्लित होता है, मनकी प्रफुल्लतासे समता भाव जागृत होता है, और समता भावसे क्रमशः मोक्षकी प्राप्ति होती है। पंचलिंगीकार भगवान् जिनेश्वरसूरिने कहा भी है—

---

१. मीमांसाश्लोकवार्तिके ४–८४। २. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामेन भविष्यतीति भव्यः। ३. बोधनं बोधिः सम्यक्त्वं प्रेत्यजिनधर्मावाप्तिर्वा। ४. सम्यग्दर्शनादिका मोक्षपद्धतिः।

"पुढवाइयाण जइवि हु होइ विणासो जिणालयाहिन्तो ।
तव्विसया वि सुदिट्ठिस्स णियमओ अत्थि अणुकंपा ॥१॥
एयाहिंतो बुद्धा विरया रक्खन्ति जेण पुढवाई ।
इत्तो निव्वाणगया अवाहिया आभवमिमाणं ॥२॥
रोगिसिरावेहो इव सुविज्जकिरिया व सुप्पउत्ताओ ।
परिणामसुंदरच्चिय चिट्ठा से बाहजोगे वि ॥३॥"[1]

इति । वैदिकवधविधाने तु न कञ्चित्पुण्यार्जनानुगुणं गुणं पश्यामः । अथ विप्रेभ्यः पुरोडाशो-[2]दिप्रदानेन पुण्यानुबन्धी गुणोऽस्त्येव इति चेत् । न । पवित्रसुवर्णादिप्रदानमात्रेणैव पुण्योपार्जन-सम्भवात् । कृपणपशुगणव्यपरोपणसमुत्थं मांसदानं केवलं निर्घृणत्वमेव व्यनक्ति । अथ न प्रदानमात्रं पशुवधक्रियायाः फलं, किन्तु भूत्यादिकम् । यदाह श्रुतिः—"श्वेतं वायव्यमजमालभेत भूतिकामः" [3]इत्यादि । एतदपि व्यभिचारपिशाचग्रस्तत्वादप्रमाणमेव । भूतेश्चौपयिकान्तरैरपि साध्यत्वात् । अथ तत्र सत्रे हन्यमानानां छागादीनां प्रेत्यसद्गतिप्राप्तिरूपोऽस्त्येवोपकार इति चेत् । वाङ्मात्रमेतत् । प्रमाणाभावात् । न हि ते निहताः पशवः सद्गतिलाभमुदितमनसः कस्मैचिदागत्य तथाभूतमात्मानं कथयन्ति । अथास्त्यागमाख्यं प्रमाणम् । यथा—

"यद्यपि जिनमंदिरके निर्माणमें ज़मीन खोदने, ईंट तैयार करने तथा जल सिंचन आदिके कारण पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस जीवोंका घात होता है, तो भी सम्यग्दृष्टी के पृथिवी आदि जीवोंके प्रति दयाका भाव रहता ही है ॥१॥

जिनप्रतिमा आदिके दर्शनसे तत्त्वज्ञानको प्राप्त करनेवाले जीव पृथिवी आदि जीवोंकी रक्षा करते हैं, मोक्षगमन करते हैं और यावज्जीवन अबाधित रहते हैं ॥२॥

जिस प्रकार किसी रोगीको अच्छा करनेके लिए रोगीकी नसका छेदना, उसे लंघन कराना, कटुक औषधि देना आदि प्रयोग शुभ परिणामोंसे ही किये जाते हैं, उसी प्रकार पृथिवी आदिका वध करके भी जिन-मंदिरके निर्माण करनेमें पुण्य ही होता है ॥३॥"

परन्तु वेदोक्त हिंसामें हम कोई पुण्योपार्जनका कारण नहीं देखते । यदि कहो कि वेदोक्त वधके अवसरपर ब्राह्मणोंको पुरोडाश (होमके बाद बचा हुआ द्रव्य) आदि देनेसे पुण्य होता है, तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि पवित्र सुवर्ण आदिके दान देनेसे ही पुण्य हो सकता है, मूक पशुओंके मांसका दान करना, केवल निर्दयताका ही द्योतक है । यदि कहो कि वेदोक्त रीतिसे पशुवध करनेका फल केवल ब्राह्मणोंको पशुओंके मांसका दान करना नहीं, किन्तु उससे विभूतिकी प्राप्ति होती है । क्योंकि श्रुतिमें भी कहा है, "ऐश्वर्य प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको वायु-देवताके लिये श्वेत बकरेका यज्ञ करना चाहिए," आदि—यह भी व्यभिचार-पिशाचसे ग्रस्त होनेके कारण ठीक नहीं है । क्योंकि ऐश्वर्यकी प्राप्ति अन्य उपायोंसे भी हो सकती है । यदि कहो कि यज्ञमें मारे जानेवाले बकरे आदि परलोकमें स्वर्ग प्राप्त करते हैं, इसलिये प्राणियोंका उपकार होता है; यह भी ठीक नहीं । क्योंकि बकरे आदि यज्ञमें वध किये जानेके बाद स्वर्गको प्राप्त करते हैं, इसमें कोई प्रमाण नहीं हैं । क्योंकि मरनेके बाद स्वर्गमें गये हुए पशु स्वर्गसे आकर प्रसन्न मनसे वहाँके समाचारों-को नहीं सुनाते । यदि आप कहें कि आगममें लिखा है—

---

१. छाया—पृथिव्यादीनां यद्यपि भवत्येव विनाशो जिनालयादिभ्यः । तद्विषयापि सुदृष्टेर्नियमतोऽस्त्यनुकम्पा ॥
एताभ्यो बुद्धा विरता रक्षन्ति येन पृथिव्यादीन् । अतो निर्वाणगता अबाधिता आभवमेषाम् ॥
रोगिशिरावेध इव सुवैद्यक्रिया इव सुप्रयुक्ता तु । परिणामसुन्दर इव चेष्टा सा बाधायोगेऽपि ॥
जिनेश्वरसूरिकृतपञ्चलिङ्गीग्रन्थे ५८–५९–६० ।

२. पुरो दाश्यते इति पुरोडाशो हुतद्रव्यावशिष्टम् । यवचूर्णनिर्मितरोटिकाविशेषः ।' ३. शतपथब्राह्मणे ।

"औषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा।
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युच्छ्रितं पुनः" ॥[1]

इत्यादि। नैवम्। तस्य पौरुषेयापौरुषेयविकल्पाभ्यां निराकरिष्यमाणत्वात्॥

न च श्रौतेन विधिना पशुविशसनविधायिनां स्वर्गावाप्तिरुपकार इति वाच्यम्। यदि हि हिंसयाऽपि स्वर्गप्राप्तिः स्यात्, तर्हि बाढं पिहिता नरकपुरप्रतोल्यः। शौनिकादीनामपि स्वर्गप्राप्तिप्रसङ्गात्। तथा च पठन्ति परमार्षाः[2]—

"यूपं छित्त्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम्।
यद्येवं गम्यते स्वर्गे नरके केन गम्यते" ॥

किञ्च, अपरिचितास्पष्टचैतन्यानुपकारिपशुहिंसनेनापि यदि त्रिदिवपदवीप्राप्तिः, तदा परिचितस्पष्टचैतन्यपरमोपकारिमातापित्रादिव्यापादनेन यज्ञकारिणामधिकतरपदप्राप्तिः प्रसज्यते। अथ "अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीनां प्रभावः" इति वचनाद् वैदिकमन्त्राणामचिन्त्यप्रभावत्वात् तत्संस्कृतपशुवधे संभवत्येव स्वर्गप्राप्तिः, इति चेत्। न। इह लोके विवाहगर्भाधानजातकर्मादिषु तन्मन्त्राणां व्यभिचारोपलम्भाद् अदृष्टे स्वर्गादावपि तद्व्यभिचारोऽनुमीयते। दृश्यन्ते हि वेदोक्तमन्त्रसंस्कारविशिष्टेभ्योऽपि विवाहादिभ्योऽनन्तरं वैधव्याल्पायुष्कतादारिद्र्याद्युपद्रवविधुराः परःशताः। अपरे च मन्त्रसंस्कारं विना कृतेभ्योऽपि तेभ्योऽनन्तरं तद्विपरीताः। अथ तत्र क्रियावैगुण्यं विसंवादहेतुः, इति चेत्। न। संशयानिवृत्तेः। किं तत्र क्रियावैगुण्यात् फले विसंवादः, किं वा मन्त्राणामसामर्थ्याद्, इति न निश्चयः। तेषां फलेनाविनाभावासिद्धेः॥

"औषधि, पशु, वृक्ष, तिर्यंच और पक्षी यज्ञमें निधनको प्राप्त होकर उच्च गतिको प्राप्त करते हैं।" इत्यादि।

अतएव, आगमसे इसकी प्रमाणता सिद्ध होती है; यह भी ठीक नहीं। क्योंकि 'आगम पौरुषेय है या अपौरुषेय'? इन विकल्पोंके द्वारा आपके द्वारा मान्य आगमका आगे निराकरण किया जायेगा। (देखिये इसी कारिकाकी व्याख्या)।

वेदोक्त विधिसे पशुओंको मारनेसे स्वर्गकी प्राप्ति रूप उपकार होता है, यह कथन सत्य नहीं है। क्योंकि यदि हिंसासे स्वर्गकी प्राप्ति होने लगे तो नरकद्वारके मुख्य मार्गको बन्द ही कर देना होगा, और संसारके सभी कसाई स्वर्गमें पहुँच जायेंगे। सांख्य लोगोंने कहा भी है—

"यदि यूप (यज्ञमें पशुओंको बाँधनेकी लकड़ी) को काट करके, पशुओंका वध करके, और रक्तसे पृथ्वीका सिंचन करके स्वर्गकी प्राप्ति हो सकती है, तो फिर नरक जानेके लिए कौन-सा मार्ग बचेगा?"

तथा, यदि अपरिचित और अस्पष्ट चेतनायुक्त तथा किसी प्रकारका उपकार न करनेवाले मूक प्राणियोंके वधसे भी स्वर्गकी प्राप्ति होना सम्भव है, तो परिचित और स्पष्ट चेतनायुक्त तथा महान् उपकार करनेवाले अपने माता-पिताके वध करनेसे याज्ञिक लोगोंको स्वर्गसे भी अधिक फल मिलना चाहिए। यदि आप कहें कि "मणि, मन्त्र और औषधका प्रभाव अचिंत्य होता है," इसलिए वैदिक मन्त्रोंका भी अचिंत्य प्रभाव है, अतएव मन्त्रोंसे संस्कृत पशुओंका वध करनेसे पशुओंको स्वर्ग मिलता है, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि इस लोकमें विवाह, गर्भाधान और जातकर्म आदिमें उन मंत्रोंका व्यभिचार पाया जाता है, तथा अदृष्ट स्वर्ग आदिमें उस व्यभिचारका अनुमान किया जाता है। देखा जाता है कि वैदिक विधिके अनुसार विवाह आदिके किये जानेपर भी स्त्रियाँ विधवा हो जाती हैं, तथा सैकड़ों मनुष्य अल्पायु, दरिद्रता आदि उपद्रवोंसे पीड़ित रहते हैं। तथा, विवाह आदिके वैदिक मंत्र-विधिसे सम्पादित न होनेपर भी अनेक स्त्री-पुरुष आनन्दसे जीवन यापन करते हैं, इसलिए वैदिक मन्त्रोंसे संस्कृत वध किये जानेवाले पशुओंको स्वर्गकी प्राप्ति स्वीकार करना ठीक नहीं है। यदि आप कहें कि मन्त्र अपना पूरा असर दिखाते हैं, लेकिन यदि मन्त्रोंकी ठीक-ठीक विधि नहीं

---

१. मनुस्मृतौ ५-४०। २. सांख्याः।

अथ यथा युष्मन्मते "आरोग्गवोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दिंतु"[1] इत्यादीनां वाक्यानां लोकान्तर एव फलमिष्यते, एवमस्मदभिमतवेदवाक्यानामपि नेह जन्मनि फलमिति किं न प्रतिपद्यते। अतश्च विवाहादौ नोपालम्भावकाशः, इति चेत्। अहो वचनवैचित्री। यथा वर्तमानजन्मनि विवाहादिषु प्रयुक्तैर्मन्त्रसंस्कारैरागामिनि जन्मनि तत्फलम्, एवं द्वितीयादिजन्मान्तरेष्वपि विवाहादीनामेव प्रवृत्तिधर्माणां पुण्यहेतुत्वाङ्गीकारेऽनन्तभवानुसन्धानं प्रसज्यते। एवं च न कदाचन संसारस्य परिसमाप्तिः। तथा च न कस्यचिदपवर्गप्राप्तिः। इति प्राप्तं भवदभिमतवेदस्यापर्यवसितसंसारवल्लरीमूलकन्दत्वम्। आरोग्यादिप्रार्थना तु असत्याऽमृषा[2] भाषा परिणामविशुद्धिकारणत्वाद् न दोषाय। तत्र हि भावारोग्यादिकमेव विवक्षितम्, तच्च चातुर्गतिकसंसारलक्षणभावरोगपरिक्षयस्वरूपत्वाद् उत्तमफलम्। तद्विषया च प्रार्थना कथमिव विवेकिनामनादरणीया। न च तज्जन्यपरिणामविशुद्धेस्तत्फलं न प्राप्यते। सर्ववादिनां भावशुद्धेरपवर्गफलसम्पादनेऽविप्रतिपत्तेरिति॥

की जाय, तो मन्त्रोंका असर नहीं रहता, यह कथन भी ठीक नहीं। इससे संशयकी निवृत्ति नहीं होती। क्योंकि मन्त्रोंकी विधिमें वैगुण्य होनेसे मन्त्रोंका प्रभाव नष्ट हो जाता है, अथवा स्वयं मन्त्रोंमें ही प्रभाव दिखानेकी असमर्थता है, यह कैसे निश्चय हो? मंत्रोंके फलसे अविनाभावकी सिद्धि नहीं होती।

शंका—जिस प्रकार जैनमतमें "आरोग्य, सम्यक्त्व तथा समाधिको प्रदान करो" इत्यादि स्तुतियोंसे दूसरे लोकमें फल प्राप्ति कही जाती हैं, उसी तरह हमारे माने हुए वेद-वाक्योंका और विवाह आदि मन्त्रोंका भी परलोकमें ही फल मिलता है। समाधान—यदि आप लोग इस जन्ममें विवाह आदिमें प्रयुक्त मन्त्रोंका फल आगामी भवमें स्वीकार करते हैं, तो यह आपके वचनोंको विचित्रता है, और इस तरह तो दूसरे, तीसरे आदि अनेक भवोंमें मन्त्रके संस्कारोंका फल मान लेनेसे अनन्त भवोंकी उत्पत्ति माननी होगी, और इस तरह कभी संसारका अन्त न होनेसे किसीको भी मोक्ष न मिलेगा। इस प्रकार आपके द्वारा मान्य वेदको अनन्त संसारवल्लरीका मूल मानना होगा। तथा, हम लोग जो आरोग्यलाभ आदिकी प्रार्थना करते हैं, वह असत्यअमृषा (व्यवहार) भाषा द्वारा परिणामोंकी विशुद्धि करनेके लिए है, दोषके लिए नहीं। (असत्यअमृषा भाषा आमन्त्रणी, आज्ञापनी, याचनी, प्रच्छनी, प्रज्ञापनी, प्रत्याख्यानी, इच्छानुकूलिका, अनभिगृहीता, अभिगृहीता, संदेहकारिणी, व्याकृता, अव्याकृताके भेदसे बारह प्रकारकी बताई गयी है। (१) 'हे देव, यहाँ आओ', इस प्रकारके वचनोंको आमन्त्रणी भाषा कहते हैं। (२) 'तुम यह करो' इस प्रकारके आज्ञासूचक वचन कहना, आज्ञापनी भाषा है। (३) 'यह दो' इस प्रकार याचनाके सूचक वचन बोलना, याचनी भाषा है। (४) अज्ञात अर्थको पूछना, प्रच्छनी भाषा है। (५) 'जीव हिंसासे निवृत्त होकर चिरायुका उपभोग करते हैं' इस प्रकार शिष्योंके उपदेशसूचक बचनोंका कहना, प्रज्ञापनी भाषा है। (६) माँगनेवालेको निषेध करनेवाले वचनोंका बोलना प्रत्याख्यानी भाषा है। (७) किसी कार्यमें अपनी अनुमति देनेको इच्छानुकूलिका भाषा कहते हैं। (८) 'बहुतसे कार्योंमें जो तुम्हें अच्छा लगे वह करो' इस प्रकारके वचनोंको अनभिगृहीता भाषा कहते हैं। (९) 'बहुतसे कार्योंमें अमुक कार्य करना चाहिए, और अमुक नहीं', इस प्रकार निश्चित वचनोंके बोलनेको अभिगृहीता भाषा कहते हैं। (१०) संशय उत्पन्न करनेवाली भाषाको संदेहकारिणी भाषा कहते हैं; जैसे 'सैंधव' कहनेपर सिंधा नमक और घोड़ा दोनों पदार्थोंमें संशय उत्पन्न होता है। (११) जिससे स्पष्ट अर्थका ज्ञान हो, वह व्याकृता भाषा है। (१२) गम्भीर अथवा अस्पष्ट अर्थको बतानेवाले वचनोंको अव्याकृता भाषा कहते हैं। गोम्मटसार आदि दिगम्बर ग्रन्थोंमें असत्यअमृषा भाषाके नौ

---

१. छाया—आरोग्यं वोधिलाभं सामाधिवरमुत्तमं ददतु। आवश्यके २४–६।

२. आमन्त्रणी, आज्ञापनी, याचनी, प्रच्छनी, प्रज्ञापनी, प्रत्याख्यानी, इच्छानुकूलिका, अनभिगृहीता, अभिगृहीता, संदेहकारिणी, ब्याकृता, अव्याकृता इति द्वादशविधा असत्याऽमृषाभाषा लोकप्रकाशे तृतीयसर्गे योगाधिकारे।

न च वेदनिवेदिता हिंसा न कुत्सिता। सम्यग्दर्शनज्ञानसम्पन्नैरर्चिमार्गप्रपन्नैर्वेदान्तवादिभिश्च गर्हितत्वात्। तथा च तत्त्वदर्शिनः पठन्ति—

"देवोपहारव्याजेन यज्ञव्याजेन येऽथवा।
घ्नन्ति जन्तून् गतघृणा घोरां ते यान्ति दुर्गतिम्"॥

वेदान्तिका अप्याहुः—

"अन्धे तमसि मज्जामः पशुभिर्ये यजामहे।
हिंसा नाम भवेद्धर्मो न भूतो न भविष्यति"॥

तथा "अग्निर्मामेतस्माद्धिंसाकृतादेनसो मुञ्चतु" छान्दसत्वाद् मोचयतु इत्यर्थः। इति। व्यासेनाप्युक्तम्—

"ज्ञानपालिपरिक्षिप्ते ब्रह्मचर्यदयाम्भसि।
स्नात्वाऽतिविमले तीर्थे पापपङ्कापहारिणि॥ १॥
ध्यानाग्नौ जीवकुण्डस्थे दममारुतदीपिते।
असत्कर्मसमित्क्षेपैरग्निहोत्रं कुरूत्तमम्॥ २॥
कषायपशुभिर्दुष्टैर्धर्मकामार्थनाशकैः।
शममन्त्रहुतैर्यज्ञं विधेहि विहितं बुधैः॥३॥
प्राणिघातात् तु यो धर्ममीहते मूढमानसः।
स वाञ्छति सुधावृष्टिं कृष्णाहिमुखकोटरात्॥४॥

भेद बताये गये हैं—देखिये, गोम्मटसार जीवकाण्ड, २२४–२२५)। आरोग्य आदिकी प्रार्थना करनेसे हमारा अभिप्राय केवल चतुर्गति रूप संसारके भाव-रोगोंको दूर करनेका है; वही उत्तम फल है। इस भाव-आरोग्यकी प्रार्थनासे परिमाणोंकी विशुद्धि होती है, अतएव विवेकीजन उसका अनादर नहीं कर सकते। ऐसी बात नहीं कि उससे उत्पन्न परिणामोंकी विशुद्धिसे उसका फल प्राप्त न हो। सभी वादी लोग भावोंकी शुद्धिसे ही मोक्ष फलकी प्राप्ति मानते हैं।

तथा, ऐसी बात नहीं है कि वेदोक्त हिंसा निंदनीय नहीं। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे सम्पन्न ज्ञानमार्गके अनुयायी वेदान्तियोंने भी हिंसाकी निंदा की है। तत्त्वदर्शी लोगोंने कहा है—

"जो निर्दय पुरुष देवताओंको प्रसन्न करनेके लिये अथवा यज्ञके बहाने पशुओंका वध करते हैं, वे लोग दुर्गतिमें पड़ते हैं।"

वेदान्तियोंने भी कहा है—

"यदि हम पशुओंसे यज्ञ करें तो घोर अंधकारमें पड़ें। अतएव हिंसा न कभी धर्म हुआ, न है, और न होगा।"

तथा—"अग्नि-देवता इस हिंसाजन्य पापसे मुझे मुक्त करो।" वैदिक प्रयोग होनेसे 'मुक्त करो' यह अर्थ किया गया है।

व्यासने कहा है—

"ज्ञानरूपी दीवारसे परिवेष्टित ब्रह्मचर्य और दयारूपी-जलसे पूर्ण, पापरूपी-कीचड़को नष्ट करनेवाले, अत्यन्त निर्मल तीर्थमें स्नान करके॥१॥

जीवरूपी-कुण्डमें दमरूपी-पवनसे उद्दीपित ध्यानरूपी-अग्निमें अशुभ कर्मरूपी काष्ठकी आहुति देकर उत्तम अग्निहोत्र यज्ञ करो॥२॥

धर्म, काम और अर्थको नष्ट करनेवाले, दुष्ट, कषायरूपी-पशुओंका शम-मंत्रोंसे यज्ञ करो, ऐसा पण्डितों ने कहा है॥३॥

जो मूढ़ पुरुष प्राणियोंका वध करके धर्मकी कामना करते हैं, वे काले सर्पकी खोहसे अमृतकी वर्षा चाहते हैं॥४॥"

इत्यादि[1] ॥

यच्च याज्ञिकानां लोकपूज्यत्वोपलम्भादित्युक्तम्। तदप्यसारम्। अबुधा एव पूजयन्ति तान् न तु विविक्तबुद्धयः। अबुधपूज्यता तु न प्रमाणम्। तस्याः सारमेयादिष्वप्युपलम्भात्। यदप्यभिहितं देवतातिथिपितृप्रीतिसंपादकत्वाद् वेदविहिता हिंसा न दोषायेति। तदपि वितथम्। यतो देवानां संकल्पमात्रोपनताभिमताहारपुद्गलरसास्वादसुहितानां वैक्रियशरीरत्वाद्[2], युष्मदावर्जितजुगुप्सितपशुमांसाद्याहुतिप्रगृहीतौ, इच्छैव दुःसंभवा। औदारिकशरीरिणामेव[3] तदुपादानयोग्यत्वात्। प्रक्षेपाहारस्वीकारे च देवानां मन्त्रमयदेहत्वाभ्युपगमबाधः। न च तेषां मन्त्रमयदेहत्वं भवत्पक्षे न सिद्धम्। "चतुर्थ्यन्तं पदमेव देवता" इति जैमिनिवचनप्रामाण्यात्। तथा च मृगेन्द्रः—

"शब्देतरत्वे युगपद् भिन्नदेशेषु यष्टृषु ।
न सा प्रयाति सांनिध्यं मूर्तत्वादस्मदादिवत्" ॥

सेति देवता। हूयमानस्य च वस्तुनो भस्मीभावमात्रोपलम्भात्, तदुपभोगजनिता देवानां प्रीतिः प्रलापमात्रम्। अपि च, योऽयं त्रेताग्निः[4] स त्रयस्त्रिंशत्कोटिदेवतानां मुखम्। "अग्निमुखा वै देवाः[5]" इति श्रुतेः। ततश्चोत्तममध्यमाधमदेवानामेकेनैव मुखेन भुञ्जानाना-

---

इत्यादि ।

तथा, आपने जो याज्ञिक पुरुषोंको लोकमें पूज्य बताया, वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि मूर्ख ही याज्ञिकोंकी पूजा करते हैं, पण्डित नहीं। तथा, मूर्खोंके द्वारा याज्ञिकोंका पूजा जाना प्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कुत्ते आदि भी लोकमें पूजे जाते हैं। तथा, आपने जो कहा, कि वेदोक्त हिंसा, देवता, अतिथि और पितरोंको प्रसन्न करती है, अतएव वह निर्दोष है, यह कथन भी निस्सार है। क्योंकि देव वैक्रियक शरीरके धारक होते हैं, अतएव वे अपने संकल्प मात्रसे किसी भी इष्ट पदार्थको उत्पन्न कर उसके पुद्गलोंका रसा-स्वादन कर सकते हैं। इसलिये ग्लानि युक्त आप लोगोंकी दी हुई पशुके मांस आदिकी आहुति ग्रहण करनेकी इच्छा भी वे नहीं कर सकते। औदारिक (स्थूल) शरीरवाले प्राणी ही इस आहुतिको ग्रहण कर सकते हैं। यदि आप देवोंको यज्ञकी अग्निमें आहुतिमें प्रक्षिप्त आहारका भक्षक स्वीकार करेंगे, तो देवोंको मंत्रमय शरीरके धारक नहीं कह सकते। परन्तु आपने देवोंको मंत्रमय शरीरके धारक स्वीकार किया है। जैमिनी ऋषिने कहा भी है—"देवताओंके लिए चतुर्थीका ही प्रयोग करना चाहिये।" (पूर्व मीमांसकोंने ईश्वरका अस्तित्व नहीं माना है। उनके मतमें आहुति दिये जानेवाले देवताओंको छोड़ कर दूसरे देवोंका अस्तित्व नहीं है)। मृगेन्द्रने भी कहा है—

"यदि देवता मंत्रमय शरीरके धारक न होकर हम लोंगोंकी तरह मूर्त शरीरके धारक हों, तो जैसे हम एक साथ बहुत स्थानोंमें नहीं जा सकते, उसी प्रकार देवता भी एक साथ सब यज्ञोंमें उपस्थित नहीं हो सकेंगे।"

उपर्युक्त श्लोकमें 'सा' का प्रयोग देवताके अर्थमें हुआ है। होम किये हुए पदार्थ भस्म हो जाते हैं, और उन पदार्थोंके उपभोगसे देव प्रसन्न होते हैं, यह कथन प्रलापमात्र है। तथा, आपने त्रेता अग्नि (दक्षिण अग्नि, आहवनीय अग्नि और गार्हपत्य अग्नि) को तैंतीस करोड़ देवताओंका मुख स्वीकार किया है। श्रुतिमें

---

१. अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव। छान्दोग्य. उ. ८-५-१; मुण्डक उ. १-२-६; बृहदारण्यक उ० ३-१; भ० गीता ४-३३; महाभारते शांतिपर्वणि।

२. अष्टगुणैश्वर्ययोगादेकानेकाणुमहच्छरीरविविधकरणं विक्रिया सा प्रयोजनमस्येति वैक्रियकं।

३. उदारं स्थूलं, उदारं प्रयोजनं अस्येति औदारिकं।

४. दक्षिणाग्निः, आहवनीयः, गार्हपत्य इति त्रयोऽग्नयः। 'अग्नित्रयमिदं त्रेता' इत्यमरः।

५. आश्व. गृ. सू. अ. ४

मन्योन्योच्छिष्टभुक्तिप्रसङ्गः। तथा च ते तुरुष्केभ्योऽप्यतिरिच्यन्ते। तेऽपि तावदेकत्रैवामत्रे भुञ्जते, न पुनरेकेनैव वदनेन। किञ्च, एकस्मिन् वपुषि वदनबाहुल्यं क्वचन श्रूयते, यत्पुनरनेकशरीरेष्वेकं मुखमिति महदाश्चर्यम्। सर्वेषां च देवानामेकस्मिन्नेव मुखेऽङ्गीकृते, यदा केनचिदेको देवः पूजादिनाऽऽराद्धोऽन्यश्च निन्दादिना विराद्धः, ततश्चेकेनैव मुखेन युगपदनुग्रहनिग्रहवाक्योच्चारणसङ्करः प्रसज्येत। अन्यच्च, मुखं देहस्य नवमो भागः, तदपि येषां दाहात्मकं, तेषामेकैकशः सकलदेहस्य दाहात्मकत्वं त्रिभुवनभस्मीकरणपर्यवसितमेव संभाव्यत इत्यलमतिचर्चया॥

यश्च कारीरीयज्ञादौ वृष्ट्यादिफलेऽव्यभिचारस्तत्प्रीणितदेवतानुग्रहहेतुक उक्तः सोऽप्यनैकान्तिकः। क्वचिद् व्यभिचारस्यापि दर्शनात्। यत्रापि न व्यभिचारस्तत्रापि न त्वदाहिताहुतिभोजनजन्मा तदनुग्रहः। किन्तु स देवताविशेषोऽतिशयज्ञानी स्वोद्देशनिर्वर्तितं पूजोपचारं यदा स्वस्थानावस्थितः सन् जानीते, तदा तत्कर्तारं प्रति प्रसन्नचेतोवृत्तिस्तत्तत्कार्याणीच्छावशात् साधयति। अनुपयोगादिना पुनरजानानोऽपि वा पूजाकर्तुरभाग्यसहकृतः सन् न साधयति। द्रव्यक्षेत्रकालभावादिसहकारिसाचिव्यापेक्षस्यैव कार्योत्पादस्योपलम्भात्। स च पूजोपचारः पशुविशसनव्यतिरिक्तैः प्रकारान्तरैरपि सुकरः, तत्किमनया पापैकफलया शौनिकवृत्त्या॥

यच्च छगलजाङ्गलहोमात् परराष्ट्रवशीकृतिसिद्ध्या देव्याः परितोषानुमानम्, तत्र कः किमाह। कासाञ्चित् क्षुद्रदेवतानां तथैव प्रत्यङ्गीकारात्। केवलं तत्रापि तद्वस्तुदर्शनज्ञानादि-

---

भी कहा है—"अग्नि ही देवोंका मुख है।" परन्तु इस तरह उत्तम, मध्यम और जघन्य श्रेणीके अनेक देवता एक ही मुखसे होम किये हुए पदार्थोंका भक्षण करेंगे, अतएव उच्छिष्ट पदार्थोंके भक्षण करनेमें वे तुरुष्कोंसे भी बढ़ जायेंगे। और तुरुष्क तो एक ही साथ एक पात्रमें भोजन करते हैं, जब कि देवता लोग एक ही मुखसे भोजन किया करेंगे। तथा, एक शरीरमें अनेक मुख तो कहीं सुननेमें आते हैं, परन्तु अनेक शरीरोंमें एक मुखका होना अत्यन्त आश्चर्यकी बात है। तथा, सब देवताओंके एक मुख माननेपर यदि कोई एक देवकी स्तुति और दूसरे देवकी निंदा करे, तो एक ही मुखसे देवता लोगोंको एक साथ अनुग्रह और निग्रह रूप वाक्योंको बोलना होगा। तथा, देहके नौंवे हिस्सेको मुख कहा गया है, यदि यह नवमां हिस्सा भी अग्नि रूप हो, तो फिर तैंतीस करोड़ देवता संसारको भस्म कर डालेंगे। इस संबंध में अधिक चर्चा करना व्यर्थ है।

आप जो कहते हैं कि कारीरी यज्ञ करनेसे देवतागण प्रसन्न होकर वृष्टि आदि फल प्रदान कर अनुग्रह करते हैं, यह भी अनैकांतिक है। क्योंकि बहुतसी जगह यज्ञके करनेपर भी वृष्टि नहीं होती। तथा जहाँ यज्ञके करनेपर वृष्टि होती है, वहाँ उस वृष्टिमें देवताओंको दी हुई आहुतिसे उत्पन्न अनुग्रहको कारण नहीं मान सकते। क्योंकि अतिशय ज्ञानी देवतागण अपने स्थानमें बैठे रह कर ही अपने पूजा सत्कार आदिको अवधिज्ञानसे जान, पूजा-सत्कार करनेवाले पुरुषसे प्रसन्न हो, उसकी इच्छानुसार फल देते हैं। यदि देवताका पूजा आदिको ओर उपयोग न हो, अथवा उपयोग होनेपर भी पूजकोंका भाग्य प्रबल न हो, तो पूजा करनेवाले पुरुषकी अभीष्ट सिद्धि नहीं होती। कारण कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, आदि सहकारी कारणोंसे कार्यकी उत्पत्ति होती है। तथा पशुओंका वध करनेकी अपेक्षा देवताओंको प्रसन्न करनेके अन्य बहुतसे उपाय हैं, फिर आप लोग हिंसक और निंद्य वृत्तिका ही क्यों प्रयोग करते हैं।

देवीके परितोषके लिये बकरे और हरिणके होम करनेसे दूसरे राष्ट्र वशमें हो जाते हैं, यह कथन भी असत्य है। क्योंकि पहले तो उत्तम देवी-देवता इस घृणित और हिंसात्मक कार्यसे प्रसन्न नहीं हो सकते। यदि कोई क्षुद्र देवता प्रसन्न भी हो, तो वह मांसादिके दर्शन अथवा ज्ञान मात्रसे ही संतुष्ट हो जाता है, उसे

नैव परितोषो, न पुनस्तद्भुक्त्या। निम्बपत्रकटुकतैलारनालधूमांशादीनां हूयमानद्रव्याणामपि तद्भोज्यत्वप्रसङ्गात्। परमार्थतस्तु तत्तत्सहकारिसमवधानसचिवाराधकानां भक्तिरेव तत्तत्फलं जनयति। अचेतने चिन्तामण्यादौ तथा दर्शनात्। अतिथीनां तु प्रीतिः संस्कारसम्पन्नपक्वान्नादिनापि साध्या। तदर्थं महोक्षमहाजादिप्रकल्पनं निर्विवेकतामेव ख्यापयति॥

पितॄणां पुनः प्रीतिरनैकान्तिकी। श्राद्धादिविधानेनापि भूयसां सन्तानवृद्धेरनुपलब्धेः। तदविधानेऽपि च केषाञ्चिद् गर्दभशूकराजादीनामिव सुतरां तद्दर्शनात्। ततश्च श्राद्धादिविधानं मुग्धजनविप्रतारणमात्रफलमेव। ये हि लोकान्तरं प्राप्तास्ते तावत् स्वकृतसुकृतदुष्कृतकर्मानुसारेण सुरनारकादिगतिषु सुखमसुखं वा भुञ्जाना एवासते ते कथमिव तनयादिभिरावर्जितं पिण्डमुपभोक्तुं स्पृहयालवोऽपि स्युः। तथा च युष्मद्यूथिनः पठन्ति—

"मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत् तृप्तिकारणम्।
तन्निर्वाणप्रदीपस्य स्नेहः संवर्धयेच्छिखाम्"॥

इति। कथं च श्राद्धविधानाद्यर्जितं पुण्यं तेषां समीपमुपैतु। तस्य तदन्यकृतत्वात् जडत्वात् निश्चरणत्वाच्च॥

अथ तेषामुद्देशेन श्राद्धादिविधानेऽपि पुण्यं दातुरेव तनयादेः स्यादिति चेत्। तन्न। तेन तज्जन्यपुण्यस्य स्वाध्यवसायादुत्तारितत्वात्। एवं च तत्पुण्यं नैकतरस्यापि इति विचाल एव विलोनं त्रिशङ्कुज्ञातेन। किन्तु पापानुबन्धिपुण्यत्वात् तत्त्वतः पापमेव। अथ विप्रोपभुक्तं तेभ्य उपतिष्ठत इति चेत्, क इवैतत्प्रत्येतु। विप्राणामेव मेदुरोदरतादर्शनात्। तद्वपुषि च तेषां संक्रमः

मांसादिके उपभोग करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। तथा, यदि अग्निमें आहूत मांसादि देवताओंके मुखमें पहुँच सकते हैं, तो होम किये हुए नीमके पत्ते, कड़वा तेल, मांड, धूमांश आदि क्यों नहीं पहुँच सकते? वास्तवमें सहकारी कारणोंसे युक्त आराधककी भक्ति ही वृष्टि, विजय आदि फल प्रदान करनेमें कारण होती है। जैसे चिन्तामणि रत्नके अचेतन होनेपर भी वह मनुष्यके पुण्योदयके कारण ही फलदायक होता है। तथा, हम संस्कारित और पके हुए अन्न आदिसे अतिथियोंका सत्कार कर उन्हें प्रसन्न कर सकते हैं, तो फिर बैल, बकरे आदिका मांस भक्षण कराना अविवेकताको ही द्योतित करता है।

श्राद्ध करनेसे पितर लोग प्रसन्न होते हैं, यह कथन भी दोषपूर्ण है। क्योंकि श्राद्ध आदिके करनेपर भी कितने ही लोगोंके संतानवृद्धि नहीं होती, और श्राद्ध न करनेपर भी गधे, सूअर, बकरे आदिके अपने आप ही बहुत-सी सन्तान हो जाती हैं। अतएव श्राद्ध आदिका विधान केवल मूर्ख लोगोंके ठगनेके लिये ही किया गया है। जो पितृजन परलोक चले जाते हैं, वे इस भव में किये हुए अपने शुभ और अशुभ कर्मोंके अनुसार देव, नरक आदि गतियोंमें सुख, दुखका उपभोग करते बैठते हैं, इसलिये वे अपने पुत्र आदि द्वारा दिये हुए पिण्डका उपभोग करनेकी इच्छा भी कैसे कर सकते हैं? आपके मतानुयायियोंने कहा भी है—

"यदि श्राद्ध मरे हुए प्राणियोंको तृप्तिका कारण हो सकता है, तो दीपकका निर्वाण होनेपर भी तेलको दीपककी ज्योतिके संवर्धनमें कारण मानना चाहिये।"

तथा, इस लोकमें श्राद्ध आदिसे उत्पन्न पुण्य, परलोक सिधारे हुए पितरोंके पास कैसे पहुँच सकता है? क्योंकि यह पुण्य पितरोंसे भिन्न पुत्र आदिसे किया हुआ रहता है, तथा यह पुण्य जड़ और गतिहीन है।

यदि कहो कि पितरोंके उद्देश्यसे श्राद्ध करनेपर दान देनेवाले पुत्र आदिको ही पुण्य होता है, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि श्राद्ध आदिसे उत्पन्न होनेवाले पुण्यसे पुत्रका कोई भी सम्बन्ध नहीं, वह तो निज अध्यवसायजन्य है। अतएव श्राद्धजन्य पुण्य न तो पितरोंका पुण्य कहा जा सकता है, और न पुत्रोंका, इस तरह यह पुण्य त्रिशंकुकी भाँति बीचमें ही लटका रह जाता है। (वशिष्ठ ऋषिके शापसे त्रिशंकु राजा चांडाल होकर, जब विश्वामित्रकी सहायतासे किये हुए यज्ञके माहात्म्यसे पृथ्वीको छोड़ स्वर्ग जाने लगा, और इन्द्रने कुपित होकर राजाको स्वर्गमें नहीं आने दिया, तब वह पृथिवी और स्वर्गके बीचमें लटका रह गया।

श्रद्धातुमपि न शक्यते। भोजनावसरे तत्सङ्क्रमलिङ्गस्य कस्याप्यनवलोकनात् विप्राणामेव च तृप्तेः साक्षात्करणात्। यदि परं त एव स्थूलकवलैराकुलतरमतिगार्द्ध्याद् भक्षयन्तः प्रेतप्रायाः, इति मुधैव श्राद्धादिविधानम्। यदपि च गयाश्राद्धादियाचनमुपलभ्यते, तदपि तादृशविप्रलम्भकविभङ्गज्ञानिव्यन्तरादिकृतमेव निश्चेयम्॥

यदप्युदितम् आगमश्चात्र प्रमाणमिति। तदप्यप्रमाणम्। स हि पौरुषेयो वा स्यात्, अपौरुषेयो वा? पौरुषेयश्चेत् सर्वज्ञकृतः, तदितरकृतो वा? आद्यपक्षे युष्मन्मतव्याहतिः। तथा च भवत्सिद्धान्तः।

"अतीन्द्रियाणामर्थानां साक्षाद् द्रष्टा न विद्यते।
नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्यो यथार्थत्वविनिश्चयः"॥१॥

द्वितीयपक्षे तु तत्र दोषवत्कर्तृत्वेनाश्वासप्रसङ्गः। अपौरुषेयश्चेत् न सम्भवत्येव। स्वरूपनिराकरणात्, तुरङ्गश्रृङ्गवत्। तथाहि। उक्तिर्वचनमुच्यते इति चेति पुरुषक्रियानुगतं रूपमस्य। एतत्क्रियाऽभावे कथं भवितुमर्हति। न चैतत् केवलं क्वचिद् ध्वनदुपलभ्यते। उपलब्धावप्यदृश्यवक्ताशङ्कासम्भवात्। तस्मात् यद् वचनं तत् पौरुषेयमेव, वर्णात्मकत्वात्, कुमारसम्भवादिवचनवत्। वचनात्मकश्च वेदः। तथा चाहुः—

उसी प्रकार श्राद्धसे उत्पन्न पुण्यके पिता और पुत्र दोनों हीके अनुपभोगके कारण यह पुण्य बीचमें ही लटका रह जाता है)। वस्तुतः यह पुण्य पापका कारण होनेसे पाप ही है। यदि कहें कि ब्राह्मणोंको खिलाया हुआ भोजन पितरोंके पास पहुँच जाता है, तो इसका कौन विश्वास करेगा? क्योंकि जो भोजन ब्राह्मणोंको खिलाया जाता है, उससे ब्राह्मणोंका ही पेट बड़ा होता देखा जाता है। पितरोंका ब्राह्मणोंके शरीरमें प्रविष्ट होना भी विश्वासके योग्य नहीं; क्योंकि ब्राह्मणोंको भोजन कराते समय उनके शरीरमें पितरोंके प्रवेश होनेका कोई भी चिह्न दिखाई नहीं पड़ता, और भोजन पाकर ब्राह्मणोंकी ही तृप्ति देखी जाती है। ये ब्राह्मण बड़े-बड़े ग्रासों-द्वारा अत्यन्त लोलुपतापूर्वक भोजन करते हुए साक्षात् प्रेतोंके समान मालूम होते हैं। अतएव श्राद्ध आदिमें विश्वास करना बिलकुल व्यर्थ है। तथा, गया आदि तीर्थ स्थानोंमें श्राद्ध करनेके लिए जो कहते हैं, वे कोई ठगनेवाले विभंगज्ञानके धारक व्यंतर आदि नीच जातिके देव ही होने चाहिए।

इस सम्बन्धमें आप लोगोंने जो आगमको प्रमाण कहा, वह आगम ही प्रमाण नहीं कहा जा सकता। वह आगम पौरुषेय है? अथवा अपौरुषेय है? यदि वह आगम पौरुषेय है तो वह सर्वज्ञकृत है? या असर्वज्ञकृत? यदि आगमका बनानेवाला पुरुष सर्वज्ञ है तो आप लोगोंके सिद्धान्तसे विरोध आता है। क्योंकि आपके सिद्धान्तमें कहा है—

अतीन्द्रिय पदार्थोंका कोई साक्षात् द्रष्टा नहीं है, अतएव नित्य वेद वाक्योंसे ही अतीन्द्रिय पदार्थोंकी यथार्थताका निश्चय होता है॥१॥"

यदि असर्वज्ञ पुरुषको आगम कर्ता मानो तो असर्वज्ञ पुरुषके सदोष होनेके कारण उस आगममें विश्वास नहीं किया जा सकता। यदि कहो कि आगम अपौरुषेय है तो यह सम्भव नहीं है। क्योंकि घोड़ेके सींगके समान उसके स्वरूपका ही निराकरण हो जाता है। कैसे? उक्तिको वचन कहते हैं—इस कथनके अनुसार, आगमका स्वरूप पुरुषकी क्रियाके अनुसार होता है। पुरुषकी क्रियाके अभावमें आगम सद्रूप नहीं हो सकता। यह वचन कहीं पर भी केवल ध्वनिके रूपमें नहीं पाया जाता। यदि कहीं ध्वनिके रूपमें पाया भी जाये तो उस स्थानमें किसी अदृश्य वक्ताकी कल्पना करनी होगी। अतएव जो 'वचन' है वह पौरुषेय ही है, वर्णात्मक होनेसे; कुमारसम्भव आदिकी तरह। जैसे कुमारसम्भव आदि वर्णात्मक होनेसे पौरुषेय हैं, वैसे वेद भी वचन रूप होनेसे वर्णात्मक है, इसलिये वेद पौरुषेय है। कहा भी है—

---

१. तत्त्वार्थसू० १-३२।

"ताल्वादिजन्मा ननु वर्णवर्गो वर्णात्मको वेद इति स्फुटं च।
पुंसश्च ताल्वादि ततः कथं स्यादपौरुषेयोऽयमिति प्रतीतिः"॥

श्रुतेरपौरुषेयत्वमुररीकृत्यापि तावद्भवद्भिरपि तदर्थव्याख्यानं पौरुषेयमेवाङ्गीक्रियते। अन्यथा "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः"[1] इत्यस्य श्वमांसं भक्षयेदिति किं नार्थः। नियामकाभावात्। ततो वरं सूत्रमपि पौरुषेयमभ्युपगतम्। अस्तु वा अपौरुषेयः, तथापि तस्य न प्रामाण्यम्। आप्तपुरुषाधीना हि वाचां प्रमाणतेति। एवं च तस्याप्रामाण्ये, तदुक्तस्तदनुपातिस्मृतिप्रतिपादितश्च हिंसात्मको यागश्राद्धादिविधिः प्रामाण्यविधुर एवेति॥

अथ योऽयं "न हिंस्यात् सर्वभूतानि"[2] इत्यादिना हिंसानिषेधः स औत्सर्गिको मार्गः, सामान्यतो विधिरित्यर्थः। वेदविहिता तु हिंसा अपवादपदम्, विशेषतो विधिरित्यर्थः। ततश्चापवादेनोत्सर्गस्य बाधितत्वाद् न श्रौतो हिंसाविधिर्दोषाय। "उत्सर्गापवादयोरपवादो विधिर्बलीयान्"[3] इति न्यायात्। भवतामपि हि न खल्वेकान्तेन हिंसानिषेधः। तत्तत्कारणे जाते पृथिव्यादिप्रतिसेवनानामनुज्ञानात्। ग्लानाद्यसंस्तरे[4] आधाकर्मादि[5]ग्रहणभणनाच्च। अपवादपदं च याज्ञिकी हिंसा, देवतादिप्रीते, पुष्टालम्बनत्वात्॥

"वर्णोंका समूह निश्चय ही तालु आदिसे उत्पन्न होता है, तथा वेद वर्णात्मक है। तालु आदि स्थान पुरुषके ही होते हैं, इसलिये वेद अपौरुषेय नहीं हो सकता।"

तथा, श्रुतिको अपौरुषेय मान कर भी आप लोगोंने श्रुतिके व्याख्यानको पौरुषेय ही माना है। यदि श्रुतिके अर्थका व्याख्यान पौरुषेय न मानो तो "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" (स्वर्गकी इच्छा रखनेवाला अग्निहोत्र यज्ञकी आहुति दे) इस श्रुतिका यह अर्थ भी किया जा सकता है कि "स्वर्गके इच्छुकको कुत्तेके मांसका भक्षण करना चाहिये" (अग्निहा श्वा तस्य उत्रं मांसं जुहुयात् भक्षयेत्)। क्योंकि यदि श्रुतिका व्याख्याता पुरुष नहीं है, तो अमुक श्रुतिका अमुक ही अर्थ होता है, अन्य नहीं, इसका कोई नियम न रह जायेगा। अतएव श्रुतिके अर्थकी तरह श्रुतिको भी पौरुषेय ही स्वीकार करना चाहिये। अथवा, वेदको यदि अपौरुषेय मान भी लें तो वह प्रमाण नहीं हो सकता। क्योंकि वेदका प्रामाण्य भी आप्त पुरुषोंके वचनोंके ऊपर ही अवलम्बित है। इस प्रकार वेदके अप्रामाण्य होनेपर वेद और स्मृति आदि द्वारा प्रतिपादित हिंसात्मक याग, श्राद्ध आदिका विधान भी अप्रामाण्य ही मानना होगा।

शंका--(उत्सर्ग—सामान्य—और अपवादके भेदसे विधि दो प्रकारकी होती है)। प्रस्तुत प्रसंगमें "किसी जीवकी हिंसा न करो (मा हिंस्यात् सर्वभूतानि)" यह सामान्य विधि है, तथा "वेदविहित हिंसा पापके लिये नहीं होती" यह अपवाद विधि है। अतएव सामान्य और अपवाद विधिमें अपवाद विधिके बलवान होनेके कारण वेदोक्त हिंसा दोषपूर्ण नहीं है। कहा भी है—"उत्सर्ग और अपवाद विधिमें अपवाद विधि ही बलवान् होती है।" तथा जैन भी हिंसाका सर्वथा निषेध नहीं करते, क्योंकि अमुक कारणोंके उपस्थित होनेपर पृथिवी आदिके वध करनेकी आज्ञा जैन शास्त्रोंमें भी दी गई हैं। तथा, सामान्य रूपसे साधुओंको उद्दिष्ट भोजनके त्यागकी आज्ञा होनेपर भी, रोग आदिके कारण संयमका पालन करनेमें असमर्थ मुनियोंके लिए उद्दिष्ट भोजन (आधाकर्म) ग्रहण करनेकी आज्ञा जैन शास्त्रोंने दी है। अतएव सामान्यसे हिंसाका निषेध करके भी देवता आदिको प्रसन्न करनेके लिये हमारे शास्त्रोंमें यज्ञ सम्बन्धी हिंसाका विधान अपवाद विधिसे ही किया गया समझना चाहिये।

---

१. तैत्तरीयसंहिता। २. छन्दोग्य उ. ८। ३. हेमहंसगणिसमुच्चितहेमव्याकरणस्थन्यायः। 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' इत्युत्सर्गस्य 'वायव्यं श्वेतमालभेत' इति शास्त्रमपवादः। ४. संयमानिर्वाहः। ५. आधाय साधूंश्चेतसि प्रणिधाय यत्क्रियते भक्तादि तदाधाकर्म। पृषोदरादित्वादिति यलोपः। आधानं साधुनिमित्तं चेतसः प्रणिधानं यथामुकस्य साधो कारणेन मया भक्तादि पचनीयमिति। आधया कर्म पाकादिक्रिया आधाकर्म। तद्योगाद् भक्ताद्यपि आधाकर्म।

इति परमाशङ्क्य स्तुतिकार आह। नोत्सृष्टमित्यादि। अन्यार्थमिति मध्यवर्ति पदं डमरुकमणिन्यायेनो[1] भयत्रापि सम्बन्धनीयम्। अन्यार्थमुत्सृष्टम्--अन्यस्मै कार्याय प्रयुक्तम्--उत्सर्गवाक्यम्, अन्यार्थप्रयुक्तेन वाक्येन नापोद्यते—नापवादगोचरीक्रियते। यमेवार्थमाश्रित्य शास्त्रेषूत्सर्गः प्रवर्तते, तमेवार्थमाश्रित्यापवादोऽपि प्रवर्तते तयोर्निम्नोन्नतादिव्यवहारवत् परस्परसापेक्षत्वेनैकार्थसाधनविषयत्वात्। यथा जैनानां संयमपरिपालनार्थं नवकोटिविशुद्धाहारग्रहणमुत्सर्गः। तथाविधद्रव्यक्षेत्रकालभावापत्सु च निपतितस्य गत्यन्तराभावे पंचकादियतनया अनेषणीयादिग्रहणमपवादः। सोऽपि च संयमपरिपालनार्थमेव। न च मरणैकशरणस्य गत्यन्तराभावोऽसिद्ध इति वाच्यम्।

"सव्वत्थ संजमं संजमाओ अप्पाणमेव रक्खिज्जा।
मुच्चइ अइवायाओ पुणो विसोही न याऽविरई"[2]॥

इत्यागमात्॥

तथा आयुर्वेदेऽपि यमेवैकं रोगमधिकृत्य कस्याञ्चिदवस्थायां किञ्चिद्वस्त्वपथ्यं, तदेवावस्थान्तरे तत्रैव रोगे पथ्यम्—

"उत्पद्यते हि सावस्था देशकालामयान् प्रति।
यस्यामकार्यं कार्यं स्यात् कर्म कार्यं तु वर्जयेत्॥"

समाधान—इस प्रकार अन्य वादियोंकी शंका उपस्थित कर स्तुतिकारने 'नोत्सृष्टमित्यादि' कहा है। 'अन्यार्थम्' इस मध्यवर्ती पदको डमरुकमणि न्यायसे दोनों वाक्योंके साथ जोड़ना चाहिये। किसी एक कार्यके लिये प्रयुक्त किया गया उत्सर्ग वाक्य उससे भिन्न कार्यके लिये प्रयुक्त किये गये वाक्यके द्वारा अपवादका विषय नहीं बनाया जा सकता। जिस कार्यके लिये शास्त्रोंमें उत्सर्ग (वाक्य) प्रवृत्त होता है, उसी कार्यके लिये अपवाद (वाक्य) भी प्रवृत्त होता है। क्योंकि अच्छे और बुरे आदि व्यवहारके समान परस्पर सापेक्ष रूपसे एक ही अर्थकी सिद्धि करना उनका विषय है। जिस प्रकार जैन मुनियोंके मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदन रूप नव कोटिसे विशुद्ध आहारग्रहण रूप उत्सर्ग संयमकी रक्षाके लिये होता है, उसी प्रकार द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव-जन्य आपदाओंसे ग्रस्त मुनिके यदि उसे अन्य कोई उपाय सूझ न पड़े, तो वह पंच कोटिसे विशुद्ध अभक्ष्य, उद्दिष्ट आदि आहारका ग्रहण कर सकता है, जो अपवाद है। वह भी केवल संयमकी रक्षाके लिये ही है। क्योंकि मरणासन्न मुनिके अपवाद मार्गका अवलम्बन करनेके सिवाय और कोई मार्ग नहीं है। यदि कहो, कि मरणासन्न मुनिके भी अन्य उपायका अभाव असिद्ध है तो यह ठीक नहीं है क्योंकि—

"मुनिको सर्वत्र संयमकी रक्षा करना चाहिए। संयमकी अपेक्षा अपनी ही रक्षा करनी चाहिए। इस तरह मुनि संयमभ्रष्टतासे मुक्त हो जाता है। वह फिरसे विशुद्ध हो सकता है, और वह अविरतिका भागी नहीं होता।"

ऐसा आगमका वचन है।

आयुर्वेदमें भी जो वस्तु रोगकी एक अवस्थामें अपथ्य है, वही दूसरी अवस्थामें पथ्य कही गयी है। कहा भी है—

"देश और कालसे उत्पन्न होनेवाले रोगोंमें न करने योग्य कार्योंको करना पड़ता है, और करने योग्य कार्योंको छोड़ना पड़ता है।"

---

१. डमरुमध्ये प्रतिवद्धो मणिरेक एव सन् डमरुविचाले तदुभयाङ्गसंबद्धो भवति तद्वदेकमेवान्यार्थमिति पदमुभयत्र संबध्यते। अयमेव न्यायो देहलीदीपन्याय इत्यप्यभिधीयते।

२. छाया—सर्वत्र संयमं संयमादात्मानमेव रक्षेत्। मुच्यतेऽतिपातात्पुनर्विशुद्धिर्न चाविरतिः॥ निशीथचूर्णीपीठिकायां ४५१ इत्यस्य चूर्णी।

इति वचनात्। यथा बलवदादेर्ज्वरिणो लङ्घनं, क्षीणधातोस्तु तद्विपर्ययः। एवं देशाद्यपेक्षया ज्वरिणोऽपि दधिपानादि योज्यम्। तथा च वैद्याः—

"कालाविरोधि निर्दिष्टं ज्वरादौ लङ्घनं हितम्।
ऋतेऽनिलश्रमक्रोधशोककामकृतज्वरान्॥"

एवं च यः पूर्वमपथ्यपरिहारो, यत्र तत्रैवावस्थान्तरे तस्यैव परिभोगः। स खलूभयोरपि तस्यैव रोगस्य शमनार्थः। इति सिद्धमेकविषयकत्वमुत्सर्गापवादयोरिति॥

भवतां चोत्सर्गोऽन्यार्थः अपवादश्चान्यार्थः "न हिंस्यात् सर्वभूतानि" इत्युत्सर्गो हि दुर्गतिनिषेधार्थः। अपवादस्तु वैदिकहिंसाविधिर्देवताऽतिथिपितृप्रीतिसंपादनार्थः। अतश्च परस्परनिरपेक्षत्वे कथमुत्सर्गोऽपवादेन बाध्यते। "तुल्यबलयोर्विरोध" इति न्यायात्। भिन्नार्थत्वेऽपि तेन तद्बाधने अतिप्रसङ्गात्। न च वाच्यं वैदिकहिंसाविधिरपि स्वर्गहेतुतया दुर्गतिनिषेधार्थ एवेति। तस्योक्तयुक्त्या स्वर्गहेतुत्वनिर्लोठनात्। तमन्तरेणापि च प्रकारान्तरैरपि तत्सिद्धिभावात् गत्यन्तराभावे ह्यपवादपक्षकक्षीकारः। न च वयमेव यागविधेः सुगतिहेतुत्वं नाङ्गीकुर्महे, किन्तु भवदाप्ता अपि। यदाह व्यासमहर्षिः—

"पूजया विपुलं राज्यमग्निकार्येण संपदः।
तपः पापविशुद्ध्यर्थं ज्ञानं ध्यानं च मुक्तिदम्॥"

जैसे बलवान ज्वरके रोगीको लंघन स्वास्थ्यप्रद है, परन्तु क्षीणधातु ज्वरके रोगीको वही लंघन घातक होता है, इसी तरह किसी देशमें ज्वरके रोगीको दही खिलाना पथ्य समझा जाता है, परन्तु वही दही दूसरे देशके ज्वरके रोगीके लिए अपथ्य है। वैद्योंने भी कहा है—

"वात, श्रम, क्रोध, शोक और कामजन्य ज्वरको छोड़कर दूसरे ज्वरोंमें ग्रीष्म, शीत आदि ऋतुओंके अनुकूल लंघन करना हितकारी कहा गया है।"

अतएव एक रोगमें जिस अपथ्यका त्याग किया जाता है, वही अपथ्य उसी रोगकी दूसरी अवस्थामें उपादेय होता है। परन्तु एक रोगकी दोनों अवस्थाओंमें अपथ्यका त्याग और अपथ्यका ग्रहण दोनों ही रोगको शमन करनेके लिए होते हैं। इसलिए उत्सर्ग और अपवाद दोनों ही विधि एक ही प्रयोजनको सिद्ध करती हैं, इसलिए अपवाद विधि उत्सर्ग विधिसे बलवान नहीं हो सकती।

आप लोगोंके वक्तव्यमें उत्सर्ग विधि और अपवाद विधि दोनों भिन्न-भिन्न प्रयोजनोंके साधक हैं। जैसे, "किसी भी प्राणीकी हिंसा न करनी चाहिए," यह उत्सर्ग विधि नरक आदि कुगतियोंका निषेध करनेके लिए बतायी गयी है। तथा, "वेदोक्त हिंसा हिंसा नहीं है," यह अपवाद विधि देवता, अतिथि और पितरोंको प्रसन्न करनेके लिए कही गयी है। इस प्रकार उत्सर्ग और अपवाद दोनों एक दूसरेसे निरपेक्ष हैं, अतएव उत्सर्ग विधि अपवाद विधिसे बाधित नहीं हो सकती। "तुल्य बल होनेपर ही विरोध होता है," इस न्यायसे उत्सर्ग और अपवादके भिन्न-भिन्न प्रयोजनोंके सिद्ध करनेपर भी उत्सर्ग और अपवादमें विरोध नहीं हो सकता। यदि आप लोग कहें कि वैदिक हिंसा भी स्वर्गका कारण है, उससे भी दुर्गतिका निषेध होता है, अतएव उत्सर्ग और अपवाद एक ही प्रयोजनके साधक हैं, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि वैदिक हिंसा स्वर्गका कारण नहीं हो सकती, इसका हम खण्डन कर आये हैं। वैदिक हिंसाके बिना अन्य साधनोंसे भी स्वर्गकी प्राप्ति होती है। यदि स्वर्गकी प्राप्तिके लिए अन्य साधन न होते, तो आप वैदिक हिंसासे स्वर्ग पानेके लिए अपवाद विधि स्वीकार कर सकते थे। परन्तु आपने स्वयं यम, नियम आदिको स्वर्गका कारण माना है (देखिये गौतमधर्मसूत्र, पातंजलयोगसूत्र, मनुस्मृति आदि)। तथा, केवल हम जैन लोग ही वेदोक्त यज्ञ विधानका निषेध नहीं करते, आप लोगोंके पूज्य व्यास जैसे ऋषियोंने भी कहा है—

"पूजासे विपुल राज्य, अग्निकार्य (यज्ञ) आदिसे सम्पदा, तपसे पापोंकी शुद्धि तथा ज्ञान और ध्यानसे मोक्ष मिलता है।"

अत्राग्निकार्यशब्दवाच्यस्य यागादिविधेरुपायान्तरैरपि लभ्यानां संपदामेव हेतुत्वं वदन्नाचार्यः तस्य सुगतिहेतुत्वमर्थात् कदर्थितवानेव। तथा च स एव भावाग्निहोत्रं ज्ञानपालीत्यादिश्लोकैः स्थापितवान् ॥

तदेवं स्थिते तेषां वादिनां चेष्टामुपमया दूषयति स्वपुत्रेत्यादि। परेषां भवत्प्रणीतवचनपराङ्मुखानां स्फुरितं—चेष्टितम्, स्वपुत्रघाताद् नृपतित्वलिप्सासब्रह्मचारिनिजसुतनिपातेन राज्यप्राप्तिमनोरथसदृशम्। यथा किल कश्चिदविपश्चित् पुरुषः परुषाशयतया निजमङ्गजं व्यापाद्य राज्यश्रियं प्राप्तुमीहते। न च तस्य तत्प्राप्तावपि पुत्रघातपातककलङ्कपङ्कः क्वचिदपयाति। एवं वेदविहितहिंसया देवतादिप्रीतिसिद्धावपि, हिंसासमुत्थं दुष्कृतं न खलु पराहन्यते। अत्र च लिप्साशब्दं प्रयुञ्जानः स्तुतिकारो ज्ञापयति यथा तस्य दुराशयस्यासदृशतादृशदुष्कर्मनिर्माणनिर्मूलितसत्कर्मणो राज्यप्राप्तौ केवलं समीहामात्रमेव, न पुनस्तत्सिद्धिः। एवं तेषां दुर्वादिनां वेदविहितां हिंसामनुतिष्ठतामपि देवतादिपरितोषणे मनोराज्यमेव, न पुनस्तेषामुत्तमजनपूज्यत्वमिन्द्रादिदिवौकसां च तृप्तिः, प्रागुक्तयुक्त्या निराकृतत्वात् ॥ इति काव्यार्थः ॥ ११ ॥

यहाँ व्यास ऋषिने 'अग्निकार्य' शब्दसे याग आदिके विधानको केवल सम्पदाओंका ही कारण माना है, सुगतिका कारण नहीं बताया। तथा 'ज्ञानपालि' आदि श्लोकोंसे व्यास ऋषि भाव-अग्निहोत्र (भावयज्ञ) का प्रतिपादन कर चुके हैं।

अतएव जैसे कोई मूर्ख पुरुष कठोर स्वभावके कारण अपने पुत्रका वध करके राज्यको प्राप्त करना चाहता है, और राज्य पानेपर वह पुत्रवधके पापसे मुक्त नहीं होता, इसी प्रकार याज्ञिक लोग वेदोक्त हिंसाके द्वारा देवता आदिको प्रसन्न करके स्वर्गको प्राप्त करना चाहते हैं, परंतु यदि हिंसाके द्वारा देवता आदि प्रसन्न होते भी हों, तो भी याज्ञिक लोग हिंसाजन्य पापसे मुक्त नहीं हो सकते। यहाँ 'लिप्सा' शब्दसे स्तुतिकार कहना चाहते हैं कि जिस प्रकार अपने पुत्रका वध करनेवाले पापी पुरुषको राज्यकी प्राप्ति नहीं होती, वह केवल राज्यको पानेकी इच्छा मात्र ही करता रहता है, उसी तरह वेदोक्त हिंसाका अनुष्ठान करते हुए भी हिंसासे देवता आदिको प्रसन्न करना केवल इच्छा मात्र है। वास्तवमें न तो हिंसासे देव लोग प्रसन्न होते हैं, और न हिंसक पुरुषोंकी जनसमाजमें कोई प्रतिष्ठा ही बढ़ती है, इसका युक्तिपूर्वक खंडन किया जा चुका है ॥ यह श्लोकका अर्थ है ॥ ११ ॥

भावार्थ—(१) इस श्लोकमें वैदिकों की हिंसाका खण्डन किया गया है। **वैदिक**—वेदमें प्रतिपादित हिंसा पुण्यका कारण है, क्योंकि उस हिंसासे प्रसन्न होकर देवता वृष्टि करते हैं, अतिथि दया दिखलाते हैं, और पितर संतानकी वृद्धि करते हैं। **जैन**—किसी भी प्रकारकी हिंसा धर्मका कारण नहीं हो सकती। यदि हिंसा धर्मका कारण हो, तो वह हिंसा नहीं कही जा सकती। तथा, वेदद्वारा प्रतिपादित हिंसा हिंसा नहीं है, यह कहनेमें भी प्रत्यक्ष विरोध आता है। मंत्र आदिके बलसे वेदोक्त हिंसा पापका कारण नहीं होती, और इस प्रकारकी हिंसासे स्वर्ग मिलता है, यह कहना भी असत्य है। क्योंकि मंत्रोंको पढ़-पढ़कर पशुओंके वध करनेमें भी मूक पशु अनन्त वेदनासे छटपटाते हुए देखे जाते हैं। वेदोक्त रीतिसे वध किये हुए पशुओंको स्वर्गकी प्राप्ति होती है, इसमें भी कोई प्रमाण न होनेसे यह बात विश्वसनीय नहीं है। तथा, जिस प्रकार विवाह, गर्भाधान आदि कार्योंमें वेदोक्त मंत्रविधिके प्रयोग करनेपर भी इष्टकी सिद्धि नहीं होती, उसी तरह मंत्रसे संस्कृत हिंसासे भी स्वर्ग नहीं मिलता।

शंका—जिस प्रकार जैन मन्दिरोंके निर्माण करनेमें त्रस और स्थावर जीवोंकी हिंसा होनेपर भी जैन लोग मन्दिरोंके बनानेमें पुण्य समझते हैं, उसी तरह वेदोंमें प्रतिपादित हिंसा भी पुण्यका ही कारण होती है। **समाधान**—जैन मन्दिरोंके निर्माणमें हिंसा अवश्य होती है, परन्तु मन्दिरमें जिनप्रतिमाके दर्शनसे उत्पन्न

सांप्रतं नित्यपरोक्षज्ञानवादिनां मीमांसकभेदभट्टानाम् एकात्मसमवायिज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवादिनां च यौगानां मतं विकुट्टयन्नाह—

स्वार्थावबोधक्षम एव बोधः प्रकाशते नार्थकथान्यथा तु ।
परे परेभ्यो भयतस्तथापि प्रपेदिरे ज्ञातमनात्मनिष्ठम् ॥ १२ ॥

बोधो—ज्ञानं, स च स्वार्थावबोधक्षम एव प्रकाशते । स्वस्य—आत्मस्वरूपस्य, अर्थस्य च पदार्थस्य योऽवबोधः—परिच्छेदस्तत्र, क्षम एव—समर्थ एव प्रतिभासते इत्ययोगव्यवच्छेदः । प्रकाशत इति क्रियया अवबोधस्य प्रकाशरूपत्वसिद्धेः सर्वप्रकाशानां स्वार्थप्रकाशकत्वेन,

---

होनेवाले सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति जैसे महान् पुण्यके सामने वह नगण्य है । जिस प्रकार कोई वैद्य रोगीको अच्छा करनेके लिये नश्तर लगाना, लंघन कराना आदि दुख रूप क्रियाओंको करता हुआ भी अपने शुभ परिणामोंके कारण पुण्यका ही भागी होता है, उसी तरह जिन मन्दिरोंका निर्माण शुभ परिणामोंसे अनन्त सुखकी प्राप्तिके लिये ही किया जाता है । तथा, वेदोक्त हिंसा स्वर्गकी प्राप्तिमें कारण नहीं होती । क्योंकि वध-स्थलपर ला कर इकट्ठे किये हुए पशुओंका करुणापूर्ण आक्रन्दन अशुभ गतिका ही कारण होता है । तथा, आप लोगोंने स्वयं यम, नियमादिको स्वर्ग पानेमें कारण बताया है । तथा, यदि यज्ञमें वध किये हुए सब पशुओंको स्वर्ग मिलने लगे, तो संसारके सभी हिंसकोंको स्वर्ग मिल जाना चाहिये । अतएव सांख्य मतके अनुयायियोंने कहा है—"यदि पशुओंको मारकर, उनके रक्तसे पृथ्वी मण्डलको सींचकर, स्वर्गकी प्राप्ति हो सकती है, तो फिर नरक जानेके लिये और भी महा भयंकर पाप करने चाहिये ।" तथा यदि छोटे-छोटे मूक पशुओंके वधसे स्वर्ग मिल सकता है, तो अपने प्रिय माता-पिताकी यज्ञमें आहुति देनेसे मोक्ष मिलना चाहिये ।

शंका—वाक्य सामान्य और अपवादके भेदसे दो प्रकारके होते हैं । जैसे, 'न हिंस्यात् सर्वभूतानि,' अर्थात् किसी प्राणीको मत मारो, यह सामान्य वाक्य है, और 'वेदोक्त हिंसा पुण्यका कारण होती है,' यह अपवाद वाक्य है । सामान्य और अपवाद वाक्योंमें अपवाद वाक्य विशेष बलवान् होता है, इसलिये वेदोक्त हिंसामें पाप नहीं है । समाधान—सामान्य और अपवाद दोनों वाक्य एक ही भावके द्योतक होने चाहिये, परन्तु प्रस्तुत प्रसंगमें अपवाद वाक्य देवता, अतिथि और पितरोंको प्रसन्न करनेके लिये है, और सामान्य वाक्य पाप और उसके फलको दूर करनेके लिये बताया गया है । तथा, देवता आदिको प्रसन्न करनेके लिये हिंसाके अतिरिक्त अन्य दूसरे उपाय आपके शस्त्रोंमें भी बतलाये हैं, फिर आप हिंसात्मक उपायोंका ही क्यों समर्थन करते हैं ।

(२) इस लोकमें ब्राह्मणोंको खिलाया हुआ भोजन किसी भी तरह मृत प्राणियोंको तृप्त नहीं कर सकता । इसलिये श्राद्ध करना भी धर्म नहीं है (देखिये व्याख्या) ।

(३) वर्णात्मक वेद तालु आदिसे उत्पन्न होता है, और तालु आदि स्थान पुरुषके ही संभव हैं । तथा, श्रुतिके तात्पर्यको समझानेके लिये भी किसी वक्ताकी आवश्यकता है, अतएव वेदको पौरुषेय मानना ही युक्तियुक्त है ।

अब ज्ञानको प्रत्यक्ष न मान कर उसे नित्य परोक्ष माननेवाले भट्ट मीमांसक, तथा एक ज्ञानको अन्य ज्ञानोंसे संवेद्य स्वीकार करनेवाले न्याय-वैशेषिक लोगोंके मतको दूषित सिद्ध करते हुए कहते हैं—

श्लोकार्थ—ज्ञान अपनेको और दूसरे पदार्थोंको जाननेमें समर्थ ही है । यदि वह स्वरूप-प्रकाशक न हो तो पदार्थ सम्बन्धी कथन प्रकट नहीं हो सकता । तथापि ज्ञानके स्वपर-प्रकाशक होने पर भी पूर्वपक्ष वादियोंके भयसे अन्य लोग ज्ञानको आत्मनिष्ठ स्वीकार नहीं करते ।

व्याख्यार्थ—जिस प्रकार दीपक अपने और दूसरे पदार्थोंको प्रकाशित करता है, वैसे ही ज्ञान निज और पर पदार्थोंको जानता है । यदि ज्ञानको स्वसंविदित न माना जाय, तो पदार्थोंकी अस्ति-नास्ति रूप व्यवस्था नहीं बन सकती । क्योंकि यदि ज्ञान स्वसंवेदन रूप नहीं हो, तो एक ज्ञानके जाननेके लिये दूसरा

बोधस्यापि तत्सिद्धिः। विपर्यये दूषणमाह। नार्थकथान्यथा त्विति। अन्यथेति—अर्थप्रकाशनेऽविवादाद्, ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वानभ्युपगमेऽर्थकथैव न स्यात्। अर्थकथा—पदार्थसम्बन्धिनी वार्ता, सदसद्रूपात्मकं स्वरूपमिति यावत्। तुशब्दोऽवधारणे भिन्नक्रमश्च स चार्थकथया सह योजित एव। यदि हि ज्ञानं स्वसंविदितं नेष्यते, तदा तेनात्मज्ञानाय ज्ञानान्तरमपेक्षणीयं तेनाप्यपरमित्याद्यनवस्था। ततो ज्ञानं तावत् स्वावबोधव्यग्रतामग्नम्। अर्थस्तु जडतया स्वरूपज्ञापनासमर्थ इति को नामार्थस्य कथामपि कथयेत्। तथापि एवं ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वे युक्त्या घटमानेऽपि, परे—तीर्थान्तरीयाः, ज्ञानं—कर्मतापन्नम्, अनात्मनिष्ठं—न विद्यते आत्मनः स्वस्य निष्ठा निश्चयो यस्य तदनात्मनिष्ठम्, अस्वसंविदितमित्यर्थः, प्रपेदिरे—प्रपन्नाः कुतः इत्याह। परेभ्यो भयतः, परे—पूर्वपक्षवादिनः, तेभ्यः सकाशात् ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वं नोपपद्यते, स्वात्मनि क्रियाविरोधादित्युपालम्भसम्भावनासम्भवं यद्भयं तस्मात् तदाश्रित्येत्यर्थः॥

इत्थमक्षरगमनिकां विधाय भावार्थः प्रपञ्च्यते। भाट्टास्तावदिदं वदन्ति। यत् ज्ञानं स्वसंविदितं न भवति, स्वात्मनि क्रियाविरोधात्। न हि सुशिक्षितोऽपि नटवटुः स्वस्कन्धमधिरोढुं पटुः, न च सुतीक्ष्णाप्यसिधारा स्वं छेत्तुमाहितव्यापारा। ततश्च परोक्षमेव ज्ञानमिति। तदेतन्न सम्यक्। यतः किमुत्पत्तिः स्वात्मनि विरुध्यते ज्ञप्तिर्वा ? यद्युत्पत्तिः सा विरुध्यताम्। नहि वयमपि ज्ञानमात्मानमुत्पादयतीति मन्यामहे। अथ ज्ञप्तिः नेयमात्मनि विरुद्धा। तदात्मनैव ज्ञानस्य स्वहेतुभ्य उत्पादात्। प्रकाशात्मनेव प्रदीपालोकस्य। अथ प्रकाशात्मैव प्रदीपालोक उत्पन्न इति परप्रकाशोऽस्तु। आत्मानमप्येतावन्मात्रेणैव प्रकाशयतीति कोऽयं न्यायः इति चेत्, तर्कि तेन वराकेणाप्रकाशितेनैव स्थातव्यम्, आलोकान्तराद् वास्य प्रकाशेन भवितव्यम्। प्रथमे प्रत्यक्षबाधः। द्वितीयेऽपि सैवानवस्थापत्तिश्च॥

और दूसरेके लिये तीसरे ज्ञानकी आवश्यकता होनेसे अनवस्था दोष मानना पड़ेगा। इसलिये जब ज्ञान ही अपने आपको नहीं जान सकता, तो फिर जड़ रूप पदार्थोंके ज्ञान कैसे हो सकता है ? अतएव पदार्थके विषयमें कोई बात करना भी असंभव हो जायगा। इस प्रकार युक्तिसे ज्ञानके स्वसंवेदन रूप सिद्ध होनेपर भी 'आत्मामें क्रियाके विरोध होनेसे ज्ञान स्वप्रकाशक नहीं हो सकता'—दूसरे वादियोंके इस उपालंभके भयसे भट्टमतके अनुयायी ज्ञानको स्वप्रकाशक नहीं मानते।

भट्ट मीमांसक—ज्ञान स्वप्रकाशक नहीं होता, वह पहले नहीं जाने हुए पदार्थोंको ही जानता है। प्रकाश होना क्रिया है, इसलिये कोई भी क्रिया स्वयं ही अपना विषय नहीं हो सकती। जैसे चतुरसे चतुर नट भी स्वयं अपने कंधेपर नहीं चढ़ सकता, तथा पैनीसे पैनी तलवारकी धार भी अपने आपको नहीं काट सकती, वैसे ही ज्ञानमें भी क्रिया होना संभव नहीं है, अतएव ज्ञान परोक्ष ही है। **जैन**—यह ठीक नहीं। हम पूछते हैं, ज्ञानमें ज्ञानकी उत्पत्ति होनेसे विरोध आता है ? अथवा ज्ञानमें जाननेकी क्रियाकी (ज्ञप्तिकी) उत्पत्ति होनेमें विरोध आता है ? यदि ज्ञानमें ज्ञानकी उत्पत्ति होनेमें विरोध आता है तो भले ही आ जाय। ज्ञान अपने आपको उत्पन्न करता है, ऐसा हम भी नहीं मानते। यदि ज्ञानमें जाननेकी क्रियाकी उत्पत्ति होनेमें विरोध आता है तो यह जाननेकी क्रियाकी ज्ञानमें उत्पत्ति होना विरुद्ध नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार प्रकाशात्मक रूपसे ही प्रदीपका प्रकाश उत्पन्न होता है, उसी प्रकार जाननेकी क्रिया रूपसे ही ज्ञान अपने हेतुओंसे उत्पन्न होता है। **शंका**—प्रकाशात्मक रूपसे उत्पन्न प्रदीपका आलोक दूसरे पदार्थोंको प्रकाशित करने वाला भले ही हो, लेकिन इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वह अपने आपको भी प्रकाशित करता है। **समाधान**—यदि ऐसी बात है तो उस विचारेको अप्रकाशित ही रहना चाहिये, अथवा किसी अन्य प्रकाशसे प्रकाशित होना चाहिये। प्रथम पक्षमें प्रत्यक्षसे बाधा आती है। द्वितीय पक्षमें वही अनवस्था दोष उपस्थित होता है।

अथ नासौ स्वमपेक्ष्य कर्मतया चकास्तीत्यस्वप्रकाशकः स्वीक्रियते, आत्मानं न प्रकाशयतीत्यर्थः। प्रकाशरूपतया तूत्पन्नत्वात् स्वयं प्रकाशत एवेति चेत्, चिरञ्जीव। न हि वयमपि ज्ञानं कर्मतयैव प्रतिभासमानं स्वसंवेद्यं ब्रूमः। ज्ञानं स्वयं प्रतिभासत इत्यादावकर्मकस्य तस्य चकासनात्। यथा तु ज्ञानं स्वं जानामीति कर्मतयापि तद्भाति, तथा प्रदीपः स्वं प्रकाशयतीत्ययमपि कर्मतया प्रथित एव॥

यस्तु स्वात्मनि क्रियाविरोधो दोष उद्भावितः सोऽयुक्तः। अनुभवसिद्धेऽर्थे विरोधासिद्धेः। घटमहं जानामीत्यादौ कर्तृकर्मवद् ज्ञप्तेरप्यवभासमानत्वात्। न चाप्रत्यक्षोपलम्भस्यार्थदृष्टिः प्रसिध्यति। न च ज्ञानान्तरात् तदुपलम्भसम्भावना, तस्याप्यनुपलब्धस्य प्रस्तुतोपलम्भप्रत्यक्षीकाराभावात्। उपलम्भान्तरसम्भावने चानवस्था। अर्थोपलम्भात् तस्योपलम्भे अन्योन्याश्रयदोषः॥

अथार्थप्राकट्यमन्यथा नोपपद्येत यदि ज्ञानं न स्यात्, इत्यर्थापत्त्या[2] तदुपलम्भ इति चेत्। न। तस्या अपि ज्ञापकत्वेनाज्ञाताया ज्ञापकत्वायोगात्। अर्थापत्त्यन्तरात् तज्ज्ञानेऽनवस्थेतरेतराश्रयदोषापत्तेः तदवस्थः परिभवः। तस्मादर्थोन्मुखतयेव स्वोन्मुखतयाऽपि ज्ञानस्य प्रतिभासात् स्वसंविदितत्वम्॥

शंका—अपनी अपेक्षा करके यह प्रदीप कर्म रूपसे प्रकाशमान नहीं होता, अतः अस्वप्रकाशक रूपसे स्वीकृत होता है, अर्थात् वह अपने आपको प्रकाशित नहीं कर सकता; प्रकाश रूपसे उत्पन्न होनेसे वह स्वयं प्रकाशमान होता ही है। **समाधान**—यदि ऐसी बात है तो ज्ञान कर्म रूपसे ही प्रकाशमान होनेसे स्वसंवेद्य होता है, ऐसा हम भी नहीं मानते। क्योंकि 'ज्ञान स्वयं प्रकाशमान होता है' इस वाक्यमें भी कर्मरूप न होनेवाला ज्ञानका प्रकाश होता है। जिस प्रकार 'ज्ञान अपने आपको जानता है' इस प्रकार कर्म रूपसे वह भासित होता है, वैसे ही 'प्रदीप अपने आपको प्रकाशित करता है' इस प्रकार प्रदीप भी कर्म रूपसे प्रकट होता है।

ज्ञानमें स्वसंवेदन क्रियाका सद्भाव होनेसे जो विरोध रूप दोष बताया गया है, वह भी ठीक नहीं। क्योंकि अनुभवसे सिद्ध पदार्थोंमें यह विरोध नहीं देखा जाता। जिस प्रकार 'मैं घटको जानता हूँ' इत्यादि प्रयोगोंमें कर्ता और कर्मका ज्ञान होता है, उसी तरह जाननेकी क्रियाका ज्ञान भी अवभासित होनेसे विरोध रहित है। जो ज्ञान स्वयंको नहीं जानता उस ज्ञान द्वारा ज्ञेयार्थको जानना सिद्ध नहीं होता। किसी अन्य ज्ञान द्वारा उस अज्ञात ज्ञानको जाननेकी संभावना नहीं, क्योंकि अज्ञात रूप अन्य ज्ञान प्रस्तुत अज्ञात ज्ञानको प्रत्यक्ष रूपसे नहीं जान सकता। उस अज्ञात रूप अन्य ज्ञानको जानने वाले अन्य ज्ञानकी कल्पना करने पर अनवस्था दोष आता है। ज्ञेयार्थका ज्ञान होने पर ज्ञातृज्ञानका ज्ञान होता है, इस सिद्धांतके माननेसे अन्योन्याश्रय दोष आता है। क्योंकि ज्ञेयार्थका ज्ञान होने पर ज्ञातृज्ञानका ज्ञान होगा और ज्ञातृज्ञान होने पर ज्ञेयार्थका ज्ञान हो सकेगा।

भट्टमीमांसक—यदि अर्थ (घट) का ज्ञान न हुआ तो उस अर्थज्ञान (घटज्ञान) के अभावमें अर्थ (घट) की प्रकटता नहीं होगी, अतएव अर्थापत्तिसे अर्थ-(घट) ज्ञातृज्ञान जाना जाता है। जैन—यह भी ठीक नहीं। क्योंकि जिसे अपना ज्ञापकत्व स्वरूप अज्ञात होता है, ऐसी अर्थापत्तिका ज्ञापकत्व (अर्थज्ञातृज्ञापकत्व ज्ञान) घटित नहीं होता। अन्य अर्थापत्ति ज्ञानसे प्रकृत अर्थापत्तिके ज्ञापकत्व स्वरूपका ज्ञान होने पर अनवस्था और इतरेतराश्रय दोष आ जानेसे दोषापत्ति जैसी की तैसी बनी रहती है। अतएव जिस प्रकार ज्ञान ज्ञेयार्थके उन्मुख होता है, उसी प्रकार स्वोन्मुख भी होनेसे उसका स्वसंविदितत्व सिद्ध होता है।

---

१. न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति न्यायात्।

२. 'पुष्टो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति वाक्ये पुष्टत्वान्यथानुपपत्त्या यथा रात्रिभोजनं कल्प्यते तथात्र घटज्ञानं विना घटप्राकट्यं नोपलभ्यत इति घटप्राकट्यान्यथानुपपत्त्या घटज्ञानं कल्प्यते।

नन्वनुभूतेरनुभाव्यत्वे घटादिवदननुभूतित्वप्रसङ्गः। प्रयोगस्तु ज्ञानमनुभवरूपमप्यनुभूतिर्न भवति, अनुभाव्यत्वाद्, घटवत्, अनुभाव्यं च भवद्भिरिष्यते ज्ञानं, स्वसंवेद्यत्वात्। नैवम्। ज्ञातुर्ज्ञातृत्वेनेवानुभूतेरनुभूतित्वेनैवानुभवात्। न चानुभूतेरनुभाव्यत्वं दोषः। अर्थापेक्षयानुभूतित्वात्[1] स्वापेक्षया चानुभाव्यत्वात्। स्वपितृपुत्रापेक्षयैकस्य पुत्रत्वपितृत्ववद् विरोधाभावात्॥

अनुमानाच्च स्वसंवेदनसिद्धिः। तथाहि। ज्ञानं स्वयं प्रकाशमानमेवार्थं प्रकाशयति, प्रकाशकत्वात्, प्रदीपवत्। संवेदनस्य प्रकाश्यत्वात् प्रकाशकत्वमसिद्धमिति चेत्। न। अज्ञाननिरासादिद्वारेण प्रकाशकत्वोपपत्तेः॥

ननु नेत्रादयः प्रकाशका अपि स्वं न प्रकाशयन्तीति प्रकाशकत्वहेतोरनैकान्तिकतेति चेत्, न नेत्रादिभिरनैकान्तिकता। तेषां लब्ध्युपयोग[2]लक्षणभावेन्द्रियरूपाणामेव प्रकाशकत्वात्। भावेन्द्रियाणां च स्वसंवेदनरूपतैवेति न व्यभिचारः। तथा संवित् स्वप्रकाशा, अर्थप्रतीतित्वात्, यः स्वप्रकाशो न भवति नासावर्थप्रतीतिः, यथा घटः॥

शंका—यदि अनुभूति (ज्ञानको) को अनुभाव्य (ज्ञेय) स्वीकार किया जाय, तो ज्ञेय घट-पटके समान ज्ञानको भी अज्ञान रूप मानना चाहिये। अतएव 'ज्ञान अनुभव रूप हो कर भी अनुभाव्य (ज्ञेय) होनेसे घटकी तरह अनुभूति (ज्ञान) नहीं हो सकता।' और आपने ज्ञानको अनुभाव्य माना है, स्वसंवेद्य होनेसे। **समाधान**—जैसे ज्ञाताका ज्ञातृत्व रूपसे अनुभव होता है, वैसे ही अनुभूति भी अनुभूति रूपसे ही अनुभवमें आती है। तथा, अनुभूतिको अनुभाव्य माननेमें दोष नहीं आता, क्योंकि अनुभूति पदार्थोंको जाननेकी अपेक्षा अनुभूति रूप है, परन्तु जब वही अनुभूति स्वसंवेदन करती है, तब वह अनुभाव्य कही जाती है। जिस प्रकार एक ही पुरुषको अपने पिताकी अपेक्षा पुत्र और अपने पुत्रोंकी अपेक्षा पिता कहा जाता है, उसी प्रकार एक ही अनुभूति भिन्न-भिन्न अपेक्षाओंसे अनुभूति और अनुभाव्य कही जाती है। इसलिये कोई विरोध नहीं है।

तथा, 'ज्ञान स्वयं प्रकाशित होता हुआ ही दूसरे पदार्थोंको जानता है, क्योंकि वह प्रकाशक है, दीपककी तरह' इस अनुमानसे ज्ञानके स्वसंवेदनकी सिद्धि होती है। यदि कहो कि ज्ञान प्रकाश्य है, इसलिये प्रकाशक नहीं हो सकता तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि ज्ञान अज्ञानको नाश करता है, इसलिये वह प्रकाशक ही है।

शंका—नेत्र आदि प्रकाशक होनेपर भी अपने आपको प्रकाशित नहीं करते, इसलिये प्रकाशकत्व हेतु अनैकान्तिक है। **समाधान**—यह ठीक नहीं, क्योंकि नेत्र आदि लब्धि और उपयोग रूप भावेन्द्रियद्वारा अपने आपको भी जानते हैं। (मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाली विशुद्धि, अथवा विशुद्धिसे उत्पन्न होनेवाले उपयोगात्मक ज्ञानको भावेन्द्रिय कहते हैं। लब्धि और उपयोग भावेन्द्रिय कही जाती हैं। स्पर्शन, रसना आदि पांच इन्द्रियोंके आवरणके क्षयोपशम होनेपर पदार्थोंके जाननेकी शक्तिविशेषको लब्धि, तथा अपनी अपनी लब्धिके अनुसार आत्माके पदार्थोंमें प्रवृत्ति करनेको उपयोग कहते हैं।) भावेन्द्रियां स्वसंवेदन रूप होती हैं, अतएव इसमें कोई विरोध नहीं है। अतएव ज्ञान स्वप्रकाशक है, क्योंकि वह पदार्थों को जानता है; जो स्वप्रकाशक नहीं होता, वह पदार्थोंको नहीं जानता, जैसे घट।

---

१. प्रदीपस्यार्थापेक्षया प्रकाशकत्वं स्वापेक्षया च प्रकाश्यप्रकाशकत्वम्।

२. जन्तोः श्रोत्रादिविषयस्तत्तदावरणस्य यः।
स्यात् क्षयोपशमो लब्धिरूपं भावेन्द्रियं हि तत्॥
स्वस्वलब्ध्यनुसारेण विषयेषु यः आत्मनः।
व्यापार उपयोगाख्यं भवेद्भावेन्द्रियं च तत्॥ लोकप्रकाशे ३॥

तदेवं सिद्धेऽपि प्रत्यक्षानुमानाभ्यां ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वे "सत्संप्रयोगे इन्द्रियबुद्धिजन्मलक्षणं ज्ञानं, ततोऽर्थप्राकट्यं, तस्मादर्थापत्तिः, तया प्रवर्तकज्ञानस्योपलम्भः"[1] इत्येवंरूपा त्रिपुटीप्रत्यक्षकल्पना भट्टानां प्रयासफलैव ॥

यौगास्त्वाहुः। ज्ञानं स्वान्यप्रकाश्यम्, ईश्वरज्ञानान्यत्वे सति प्रमेयत्वात्, घटवत् समुत्पन्नं हि ज्ञानमेकात्मसमवेतमनन्तरोद्भविष्णुमानसप्रत्यक्षेणैव लक्ष्यते, न पुनः स्वेन। न चैवमनवस्था। अर्थावसायिज्ञानोत्पादमात्रेणैवार्थसिद्धौ प्रमातुः कृतार्थत्वात्। अर्थज्ञानजिज्ञासायां तु तत्रापि ज्ञानमुत्पद्यत एवेति। तदयुक्तम्। पक्षस्य प्रत्यनुमानबाधितत्वेन हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वात्। तथाहि। विवादास्पदं ज्ञानं स्वसंविदितं, ज्ञानत्वात्, ईश्वरज्ञानवत्। न चायं वाद्यप्रतीतो दृष्टान्तः, पुरुषविशेषस्येश्वरतया जैनैरपि स्वीकृतत्वेन तज्ज्ञानस्य तेषां प्रसिद्धेः ॥

व्यर्थविशेष्यश्चात्र तव हेतुः, समर्थविशेषणोपादानेनैव साध्यसिद्धेः। अग्निसिद्धौ धूमवत्त्वे सति द्रव्यत्वादितिवद्, ईश्वरज्ञानान्यत्वादित्येतावतैव गतत्वात्। न हीश्वरज्ञानादन्यत् स्वसंविदितमप्रमेयं वा ज्ञानमस्ति, यद्व्यवच्छेदाय प्रमेयत्वादिति क्रियेत। भवन्मते तदन्यज्ञानस्य सर्वस्य प्रमेयत्वात् ॥

इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमानसे ज्ञानके स्वयं संवेदक सिद्ध हो जानेपर भाट्टोंकी त्रिपुटी प्रत्यक्षकी कल्पना करना भी बिलकुल व्यर्थ है। भाट्टोंके अनुसार, (१) विद्यमान पदार्थोंके साथ इन्द्रिय और बुद्धिका संयोग होनेसे ज्ञान उत्पन्न होता है, (२) इस ज्ञानसे अर्थप्राकट्य, अर्थात् पदार्थका ज्ञान होता है, (३) पदार्थके ज्ञानसे होनेवाली अर्थापत्तिसे प्रकाशक ज्ञानका संवेदन होता है। इसे भाट्ट मतमें त्रिपुटी प्रत्यक्ष कहा है।

न्यायवैशेषिक—घटसे भिन्न ज्ञानके द्वारा जिस प्रकार घट प्रकाशित किया जाता है, उसी प्रकार ईश्वरज्ञानसे भिन्नता होने पर प्रमेय रूप होनेसे ज्ञान अपनेसे भिन्न ज्ञानके द्वारा प्रकाश्य है। अपनी उत्पत्ति होनेके बाद जिसका एक आत्माके साथ समवाय संबंध होता है, ऐसे पदार्थका ज्ञान अपनी उत्पत्तिके बाद उत्पन्न होने वाले मानस प्रत्यक्षके द्वारा जाना जाता है, स्वयं अपने द्वारा नहीं जाना जाता। इस प्रकार ज्ञानको अन्य ज्ञान द्वारा प्रकाश्य मानने पर अनवस्था दोष नहीं आता। क्योंकि अर्थको जाननेवाले ज्ञानकी उत्पत्ति मात्रसे ज्ञातृज्ञानके प्रयोजनकी सिद्धि हो जाने पर ज्ञातृज्ञान कृतार्थ हो जाता है। जब प्रमाताको पदार्थोंको जानने की इच्छा होती है उस समय भी ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। जैन—यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि 'ज्ञान अपने से भिन्न ज्ञानके द्वारा जाना जाता है'—इस अनुमानका पक्ष 'विवादास्पद ज्ञान स्वसंविदित है, ज्ञान होनेसे, ईश्वरज्ञानकी भाँति'—इस प्रति अनुमानसे बाधित होनेके कारण हेतु कालात्ययापदिष्ट (हेत्वाभास) हो गया है (जो हेतु पक्षके प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि प्रमाणोंके द्वारा बाधित किये जाने पर उपस्थित किया जाता है, उसे कालात्ययापदिष्ट कहते हैं)। यहाँ ईश्वरज्ञानका दृष्टान्त अप्रतीत नहीं क्योंकि पुरुष विशेषको जैनोंने भी ईश्वररूपसे स्वीकार किया है।

इसके अतिरिक्त, उक्त हेतु व्यर्थविशेष्यसे दूषित है, क्योंकि यहाँ समर्थ विशेषणसे ही साध्यकी सिद्धि हो जाती है। 'ज्ञानं स्वान्यप्रकाश्यम् ईश्वरज्ञानान्यत्वे सति प्रमेयत्वात् घटवत्' (ज्ञान अपनेसे भिन्न ज्ञानके द्वारा प्रकाश्य है, ईश्वरज्ञानसे भिन्न होने पर, घटकी भाँति)—यहाँ 'ईश्वरज्ञानान्यत्वे सति' विशेषणको ग्रहण करनेसे ही 'ज्ञानं स्वान्यप्रकाश्यं'—साध्यकी सिद्धि हो जाती है, अतएव 'प्रमेयत्वात्' विशेष्य व्यर्थ है।

---

१. जैमिनिसूत्रे १-१-४५ सूत्रार्थानुगुणमेतत्। घटादिविषये ज्ञाने जाते 'मया ज्ञातोऽयं घटः' इति घटस्य ज्ञातत्वं प्रतिसंधीयते। तेन, ज्ञाने जाते सति 'ज्ञातता नाम कश्चिद्धर्मो जातः' इत्यनुमीयते। सा च (ज्ञातता) ज्ञानात्पूर्वमजातत्वात्, ज्ञाने जाते च जातत्वाच्च, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां 'ज्ञानेन जन्यते' इत्यवधार्यते (तर्कभाषा पृ. २२)। ज्ञानस्य मितिः माता मेयम् तद्विषयकत्वात् त्रिपुटी तत्प्रत्यक्षता।

अप्रयोजकश्चायं हेतुः। सोपाधित्वात्। साधनाव्यापकः साध्येन समव्याप्तिश्च खलु उपाधिरभिधीयते। तत्पुत्रत्वादिना श्यामत्वे साध्ये शाकाद्याहारपरिणामवत्। उपाधिश्चात्र जडत्वम्। तथाहि ईश्वरज्ञानान्यत्वे प्रमेयत्वे च सत्यपि यदेव जडं स्तम्भादि तदेव स्वस्मादन्येन प्रकाश्यते। स्वप्रकाशे परमुखप्रेक्षित्वं हि जडस्य लक्षणं। न च ज्ञानं जडस्वरूपम्। अतः साधनाव्यापकत्वं जडत्वस्य। साध्येन समव्याप्तिकत्वं[1] चास्य स्पष्टमेव। जाड्यं विहाय स्वप्रकाशाभावस्य तं च त्यक्त्वा जाड्यस्य क्वचिदप्यदर्शनात् इति॥

यच्चोक्तं समुत्पन्नं हि ज्ञानमेकात्मसमवेतम् इत्यादि। तदप्यसत्यम्। इत्थमर्थज्ञानतज्ज्ञानयोरुत्पद्यमानयोः क्रमानुपलक्षणत्वात्। आशूत्पादात्क्रमानुपलक्षणमुत्पलपत्रशतव्यतिभेदवद् इति चेत्, तन्न। जिज्ञासाव्यवहितस्यार्थज्ञानस्योत्पादप्रतिपादनात्। न च ज्ञानानां जिज्ञासास-

---

जैसे 'पर्वतोऽयं अग्निमान्, धूमवत्वे सति द्रव्यत्वात्'—इस अनुमानमें 'धूमवत्वे सति' विशेषणसे ही 'पर्वतोऽयं अग्निमान्' साध्य की सिद्धि हो जाती है, अतएव यहाँ 'द्रव्यत्वात्' विशेष्य व्यर्थ है। तथा, उक्त अनुमानमें जिसकी व्यावृत्ति करनेके लिये 'प्रमेयत्वात्' विशेष्यका प्रयोग किया जाता है, उस ईश्वरज्ञानसे भिन्न स्वसंविदित अथवा अप्रमेय ज्ञानका अस्तित्व नहीं है, क्योंकि आपके मतमें ईश्वरज्ञानसे भिन्न सभी ज्ञान प्रमेय हैं।

तथा, 'अप्रमेयत्व' हेतु सोपाधिक होनेसे अप्रयोजक भी है। साधनके साथ अव्याप्ति और साध्यके साथ समव्याप्ति होनेको उपाधि कहा जाता है। जैसे, 'जो स्त्री गर्भवती अवस्थामें शाक आदिका सेवन करती है, उसके श्याम वर्णका पुत्र होता है, और जो उसका सेवन नहीं करती, उसके श्याम वर्णका पुत्र नहीं होता'—यहाँ स्त्रीके पुत्रत्वरूप हेतुके द्वारा उस पुत्रका श्यामत्व साध्य होनेपर, शाक आदि आहारका परिणाम उसके पुत्रत्वरूप साधनके साथ व्याप्त नहीं है (उसके साथ उसका अविनाभाव संबंध नहीं है), तथा श्यामत्वरूप साध्यके साथ समव्याप्त है। अतएव सोपाधिक है। ('जो स्त्री गर्भवती अवस्थामें शाक आदिका आहार करती है, उसका पुत्र श्याम वर्णका होता है, और जिसका पुत्र श्याम वर्णका होता है, वह गर्भवती अवस्था में शाक आदिका आहार करती हैं'—यहाँ शाक आदि आहार-परिणामकी गर्भवती स्त्रीरूप साधनके साथ व्याप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि प्रत्येक गर्भवती स्त्री, जिसका गर्भोत्पन्न पुत्र श्याम वर्णका हो, शाक आदिका आहार करती ही हो, ऐसा नियम नहीं है; पुत्रके श्यामत्व रूप साध्यके साथ ही उसकी व्याप्ति है। अतएव तत्पुत्रत्व रूप हेतुको यहाँ सोपाधिक होनेसे अप्रयोजक (साध्यकी सिद्धि न करनेवाला कहा गया है)। इसी प्रकार 'ज्ञानं स्वान्यप्रकाश्यं ईश्वरज्ञानान्यत्वे सति प्रमेयत्वात्' इस अनुमानमें 'जडत्व' उपाधि होनेसे अप्रयोजक होनेके कारण यह 'स्वान्यप्रकाश्य' साध्यकी सिद्धि करनेमें असमर्थ है। ज्ञानके ईश्वरज्ञानसे भिन्नत्व और प्रमेयत्व होनेपर भी, जो जड़ (अचेतन) स्तंभ आदि हैं, वह अपनेसे भिन्न ज्ञानके द्वारा प्रकाशित किया जाता है। अपने प्रकाशमें दूसरेका अवलंबन ग्रहण करना जड़त्वका लक्षण है। ज्ञान जड़स्वरूप नहीं है। अतः जड़त्व ईश्वरज्ञानसे भिन्नरूप और प्रमेय रूप साधनमें व्याप्त नहीं है; स्वान्यप्रकाश रूप साध्यके साथ जड़त्वकी व्याप्ति स्पष्ट है। क्योंकि जड़त्वको छोड़कर स्वप्रकाशका अभाव (जड़त्वके अभावमें स्वप्रकाशका अभाव) और स्वप्रकाशकको छोड़कर जड़त्व नहीं रहता।

तथा आप लोगोंने जो कहा कि एक आत्माके साथ समवाय संबंधको प्राप्त ज्ञेय पदार्थके ज्ञानकी उत्पत्ति के बाद उत्पन्न होनेवाले मानस प्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा ही जाना जाता है, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि इस प्रकार उत्पन्न होनेवाले पदार्थका ज्ञान और ज्ञानके ज्ञानमें पदार्थका ज्ञान पहले होता है, और पदार्थके ज्ञानका ज्ञान पीछे होता है, ऐसा कोई क्रम नहीं देखा जाता। यदि आप कहें कि पदार्थका ज्ञान और पदार्थके ज्ञानका ज्ञान दोनों क्रमसे ही होते हैं, परन्तु यह क्रम इतनो शीघ्रतासे होता है, कि उसे हम नहीं देख सकते। जैसे कमल के

---

१. यत्र यत्र जाड्यं तत्र तत्र स्वप्रकाशाभावः। यत्र च स्वप्रकाशाभावस्तत्र तत्र जाड्यमिति सम्यग्हेतौ त्वेकविधैव व्याप्तिः। न हि भवति यत्र यत्राग्निस्तत्र तत्र धूम इति। अङ्गारावस्थायां धूमानुपलम्भनात्।

मुत्पाद्यत्वं घटते अजिज्ञासितेष्वपि योग्यदेशेषु विषयेषु तदुत्पादप्रतीतेः। न चार्थज्ञानमयोग्यदेशम्। आत्मसमवेतस्यास्य समुत्पादात्। इति जिज्ञासामन्तरेणैवार्थज्ञाने ज्ञानोत्पादप्रसङ्गः। अथोत्पद्यतां नामेदं को दोषः इति चेत्, नन्वेवमेव तज्ज्ञानज्ञानेऽप्यपरज्ञानोत्पादप्रसङ्गः। तत्रापि चैवमयम्। इत्यपरापरज्ञानोत्पादपरम्परायामेवात्मनो व्यापारात् न विषयान्तरसंचारः स्यादिति। तस्माद्यज्ज्ञानं तदात्मबोधं प्रत्यनपेक्षितज्ञानान्तरव्यापारम्, यथा गोचरान्तरग्राहिज्ञानात् प्राग्भावि गोचरान्तरग्राहिधारावाहिज्ञानं प्रबन्धस्यान्त्यज्ञानम्। ज्ञानं च विवादाध्यासितं रूपादिज्ञानम्, इति न ज्ञानस्य ज्ञानान्तरज्ञेयता युक्तिं सहते॥ इति काव्यार्थः॥ १२॥

पत्तोंके ढेरको सूईसे बींधते समय हमें ऐसा प्रतीत होता है कि हमने सभी पत्तोंका एक ही साथ वेधन किया है, परन्तु वास्तवमें इनके बींधनेमें सूक्ष्म क्रम रहता है, उसी तरह पदार्थके ज्ञान और ज्ञानके ज्ञानमें भी सूक्ष्म क्रम रहता है। यह ठीक नहीं। क्योंकि पदार्थज्ञानके ज्ञानकी उत्पत्ति, पदार्थज्ञानकी उत्पत्तिके बाद उत्पन्न होनेवाली जिज्ञासासे होती है, अतएव पदार्थका ज्ञान और पदार्थके ज्ञानका ज्ञान—इनमें जिज्ञासाका व्यवधान होनेपर ही पदार्थके ज्ञानका ज्ञान उत्पन्न होता है, ऐसा आपने कहा है। अतः आप यह नहीं कह सकते कि एक ज्ञानके बाद ही दूसरा ज्ञान उत्पन्न होता है, ऐसा कोई क्रम उनमें नहीं है। तथा, जिज्ञासाओंसे ज्ञानोंका उत्पन्न होना घटित नहीं होता, क्योंकि योग्य देशोंमें, इन्द्रियोंके विषयोंको जिज्ञासाका अभाव होनेपर भी, पदार्थोंका ज्ञान उत्पन्न हुआ देखा जाता है। पदार्थोंका ज्ञान पदार्थोंके अयोग्य देशमें स्थित होनेपर नहीं होता, क्योंकि ज्ञेय पदार्थके ज्ञाताके आत्माके साथ समवेत होनेपर ही पदार्थके ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार (पदार्थके ज्ञानके ज्ञानको) जाननेकी इच्छाका अभाव होनेपर भी पदार्थके ज्ञानके ज्ञानकी उत्पत्ति होनेका प्रसंग उपस्थित होता है। यदि कहो कि पदार्थके ज्ञानका ज्ञान उसकी जिज्ञासाका अभाव होनेपर भी उत्पन्न होता है तो भले ही हो जाये, उसमें कौन-सा दोष आता है? तो इसी प्रकार पदार्थके ज्ञानको जाननेके लिये अन्य ज्ञानकी उत्पत्तिका प्रसंग उपस्थित हो जायगा। फिर उस अन्य ज्ञानको जाननेके लिये भी अपर ज्ञानकी उत्पत्ति माननी पड़ेगी। इस प्रकार अपरापर ज्ञानकी उत्पत्तिकी परंपराको जाननेमें लगे रहनेके कारण, आत्मा अन्य विषयभूत पदार्थके ज्ञानके ज्ञानको जाननेके लिये उपयुक्त न हो सकेगी। अतएव ज्ञानका विषय बनने वाले पदार्थज्ञानसे भिन्न विषयभूत घट आदिका निश्चय करने वाले ज्ञानसे (अनंतर पूर्व-) समय में उत्पन्न, (तथा) घट आदि रूप अन्य ज्ञेय पदार्थोंको जानने वाले 'यह घट आदि हैं', 'यह घटादि हैं'—इस प्रकारके धारावाहिक[1] ज्ञानकी परंपराके अंत्य समयमें उत्पन्न होनेवाला अंत्य ज्ञान, अपने को जानने के लिये अपनेसे भिन्न अन्य ज्ञानको जाननेकी क्रियाकी अपेक्षा नहीं रखता। इसी प्रकार पदार्थका जो ज्ञान होता है, वह अपनेको जाननेके लिये अन्य ज्ञानके जाननेकी क्रियाकी अपेक्षा नहीं रखता। विवादास्पद रूपादिका ज्ञान ज्ञान रूप होता है, अतएव ज्ञानकी अन्य ज्ञान द्वारा ज्ञेयता युक्तियुक्त नहीं है॥ यह श्लोकका अर्थ है॥

भावार्थ—जैनसिद्धांतके अनुसार ज्ञान अपने आपको जानता है (स्वावबोधक्षम), और दूसरे पदार्थोंको भी जानता है (अर्थावबोधक्षम)।

कुमारिलभट्ट—ज्ञान अपने आपको नहीं जानता। अनुमान भी है—'ज्ञान स्वसंविदित नहीं है, क्योंकि ज्ञानमें क्रिया नहीं हो सकती। जैसे चतुरसे चतुर नट भी अपने कंधेपर नहीं चढ़ सकता, तथा पैनीसे पैनी तलवारकी धार भी अपने आपको नहीं काट सकती, वैसे ही ज्ञानमें भी क्रिया नहीं हो सकती' (ज्ञानं स्वसंविदितं न भवति स्वात्मनि क्रियाविरोधात्। न हि सुशिक्षितोऽपि नटबटुः स्वस्कंधमधिरोढुं क्षमः। न च सुतीक्ष्णाप्यसिधारा स्वं छेत्तुमाहितव्यापारः)। जैन—यह ठीक नहीं। जैसे दीपक अपने और दूसरेको प्रकाशित करता है, वैसे ही ज्ञान भी निज और पर पदार्थोंका प्रकाश करनेवाला है। तथा एक ही पदार्थमें

---

१. एकस्मिन्नेव घटे 'घटोऽयम्' 'घटोऽयम्' इत्येवमुत्पद्यमानान्युत्तरोत्तरज्ञानानि धारावाहिकज्ञानानि।

अथ ये ब्रह्माद्वैतवादिनोऽविद्या अपरपर्यायमायावशात् प्रतिभासमानत्वेन विश्वत्रय-वर्तिवस्तुप्रपञ्चमपारमार्थिकं समर्थयन्ते, तन्मतमुपहसन्नाह—

माया सती चेद् द्वयतत्त्वसिद्धिरथासती हन्त कुतः प्रपञ्चः ।
मायैव चेदर्थसहा च तत्किं माता च वन्ध्या च भवत्परेषाम् ॥ १३ ॥

कर्त्ता और कर्मका ज्ञान होना अनुभवसे सिद्ध है, इसलिये 'स्वयं ज्ञानमें क्रिया नहीं होती' (स्वात्मनि क्रिया-विरोधात्), यह हेतु भी दूषित है ।

कुमारिलभट्ट—हम लोगोंके अनुसार (१) पदार्थोंसे इन्द्रिय और बुद्धिका संबंध होनेपर इन्द्रिय और बुद्धिसे ज्ञान पैदा होता है; इसके बाद (२) पदार्थोंका प्राकटच होता है (अर्थप्राकटच); फिर (३) यह ज्ञान होता है कि पदार्थोंका ज्ञान हुआ है; जैसे घटसे इन्द्रिय और बुद्धिका संबंध होनेसे घटका ज्ञान होनेपर यह ज्ञान होता है कि मैंने घटको जाना है । बादमें घटका ज्ञान होनेपर घटका प्राकटच (ज्ञातृत्व) होता है । यह घटप्राकटच ज्ञानके पहले नहीं होता, ज्ञानके उत्पन्न होनेपर ही होता है, अतएव यह ज्ञानसे उत्पन्न हुआ कहा जाता है । यह अर्थका प्राकटच ज्ञानसे उत्पन्न होता है, अतएव हम अर्थप्राकटचकी अन्यथानुपपत्तिसे ज्ञानको जानते हैं (तस्माद्यार्थापत्तिस्तया प्रवर्तकज्ञानस्योपलंभः) । हम लोग इस त्रिपुटी प्रत्यक्षको मानते हैं, इसलिये ज्ञान स्वसंवेदक नहीं हो सकता । **जैन**—आप लोग अर्थप्राकटचको स्वतः सिद्ध नहीं कह सकते, जिससे अर्थप्राकटचकी अर्थापत्तिसे ज्ञानकी उपलब्धि स्वीकार की जा सके । ज्ञातृत्व स्वतः सिद्ध है, और ज्ञान स्वतः सिद्ध नहीं, इसमें कोई हेतु नहीं है । वास्तवमें ज्ञातृत्वकी अपेक्षा ज्ञानका स्वतः सिद्ध होना अधिक मान्य हो सकता है ।

कुमारिलभट्ट—यदि आप लोग ज्ञानको स्वसंवेद्य कहते हैं तो हम अनुमान बनाते हैं—'ज्ञान अनुभव रूप हो कर भी अनुभूति (ज्ञान) नहीं है, ज्ञेय होनेसे; घटकी तरह (ज्ञानं अनुभवरूपमपि अनुभूतिर्न भवति, अनुभाव्यत्वात्, घटवत्), इसलिये ज्ञान स्वसंवेद्य नहीं हो सकता । **जैन**—पदार्थोंको जाननेकी अपेक्षा ज्ञान अनुभूति रूप तथा स्वयंका संवेदन करनेकी अपेक्षा अनुभाव्य रूप है । अतएव ज्ञान अनुभूति और अनुभाव्य दोनों ही है ।

न्यायवैशेषिक—ज्ञान स्वसंविदित नहीं होता, क्योंकि वह अनुव्यवसायगम्य है । हमारे मतमें 'यह घट है' इस व्यवसाय रूप ज्ञानके पश्चात् यह यह मानस ज्ञान होता है कि 'मैं इस घटको घट रूपसे जानता हूँ', इस अनुव्यवसाय रूप ज्ञानसे ही पदार्थोंका ज्ञान होता है, अतएव 'ज्ञान दूसरेसे प्रकाशित होता है, क्योंकि वह ईश्वरज्ञानसे भिन्न होकर प्रमेय है, घटकी तरह' (ज्ञानं स्वान्यप्रकाश्यं ईश्वरज्ञानान्यत्वे सति प्रमेयत्वात्, घटवत्) । तथा, ज्ञानको दूसरेसे प्रकाशित माननेमें अनवस्था दोष नहीं आता, क्योंकि पदार्थको जानने मात्रसे ही प्रमाताका प्रयोजन सिद्ध हो जाता है । **जैन**—(१) उक्त अनुमान 'विवादाध्यासितं ज्ञानं स्वसंविदितम्, ज्ञानत्वात्, ईश्वरज्ञानवत्' इस प्रत्यनुमानसे बाधित है । इसलिये ज्ञानको स्वसंवेदक ही मानना चाहिये । (२) यह अनुमान व्यर्थविशेष्य भी है, क्योंकि यहां 'ईश्वरज्ञानान्यत्व' हेतुके विशेष्य 'प्रमेयत्व' हेतुके कहनेसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । (३) उक्त हेतु अप्रयोजक होनेसे सोपाधिक भी है । क्योंकि 'स्वान्य-प्रकाश्यं ईश्वरज्ञानान्यत्वे सति, प्रमेयत्वात्' यह तर्क ज्ञानके साथ व्याप्त न हो कर जड़ पदार्थोंके साथ व्याप्त है, क्योंकि ईश्वरज्ञानसे भिन्न हो कर प्रमेय होनेपर भी स्तंभ वगैरह जड़ पदार्थ ही अपनेको छोड़ कर दूसरेसे प्रकाशित होते हैं ।

अब अविद्या अथवा मायाके कारण तीनों लोकोंके वस्तु-प्रपंचको अपारमार्थिक स्वीकार करनेवाले ब्रह्माद्वैतवादियोंका उपहास करते हुए कहते हैं—

श्लोकार्थ—यदि माया सत् रूप है, तो ब्रह्म और माया दो पदार्थोंका सद्भाव होनेसे अद्वैतकी सिद्धि

तैर्वादिभिस्तात्त्विकात्मब्रह्मव्यतिरिक्ता या माया–अविद्या प्रपञ्चहेतुः परिकल्पिता, सा सद्रूपा असद्रूपा वा द्वयी गतिः। सती–सद्रूपा चेत् तदा द्वयतत्त्वसिद्धिः—द्वाववयवौ यस्य तद् द्वयं, तथाविधं यत् तत्त्वं परमार्थः, तस्य सिद्धिः। अयमर्थः। एकं तावत् त्वदभिमतं तात्त्विकमात्मब्रह्म, द्वितीया च माया तत्त्वरूपा सद्रूपतयाङ्गीक्रियमाणत्वात्। तथा चाद्वैतवादस्य मूले निहितः कुठारः। अथेति पक्षान्तरद्योतने। यदि असती–गगनाम्भोजवदवस्तुरूपा सा माया, ततः हन्त इत्युपदर्शने आश्चर्ये वा। कुतः प्रपञ्चः। अयं त्रिभुवनोदरविवरवर्तिपदार्थसार्थरूपः प्रपञ्चः कुतः ? न कुतोऽपि संभवतीत्यर्थः। मायाया अवस्तुत्वेनाभ्युपगमात् अवस्तुनश्च तुरङ्गशृङ्गस्येव सर्वोपाख्याविरहितस्य साक्षात्क्रियमाणेदृशविवर्तजननेऽसमर्थत्वात्। किलेन्द्रजालादौ मृगतृष्णादौ वा मायोपदर्शितार्थानामर्थक्रियायामसामर्थ्यं दृष्टम् अत्र तु तदुपलम्भात् कथं मायाव्यपदेशः श्रद्धीयताम्। अथ मायापि भविष्यति, अर्थक्रियासमर्थपदार्थोपदर्शनक्षमा च भविष्यति इति चेत्, तर्हि स्ववचनविरोधः। न हि भवति माता च वन्ध्या चेति। एनमेवार्थं हृदि निधायोत्तरार्धमाह। मायैव चेदित्यादि। अत्रैवकारोऽप्यर्थः। अपि च समुच्चयार्थः। अग्रेतनचकारश्च तथा। उभयोश्च समुच्चयार्थयोर्यौगपद्यद्योतकत्वं प्रतीतमेव। यथा रघुवंशे "ते च प्रापुरुदन्वन्तं बुबुधे चादिपूरुषः"[1]। इति तदयं वाक्यार्थः माया च भविष्यति अर्थसहा च भविष्यति। अर्थसहा–अर्थक्रियासमर्थपदार्थोपदर्शनक्षमा। चेच्छब्दोऽत्र योज्यते, इति चेत्, एवं परमाशङ्क्य तस्य स्ववचनविरोधमुद्भावयति। तत् किं भवत्परेषां माता च वन्ध्या च। किमिति–संभावने। संभाव्यत एतत्–भवतो ये परे–प्रतिपक्षाः, तेषां भवत्परेषां भवद्व्यतिरिक्तानां, भवदाज्ञापृथग्भूतत्वेन तेषां वादिनां, यन्माता च भविष्यति, वन्ध्या च भविष्यतीत्युपहासः। माता हि प्रसवधर्मिणी वनितोच्यते। वन्ध्या च तद्विपरीता। ततश्च माता चेत्कथं वन्ध्या, वन्ध्या चेत्कथं माता तदेवं। मायाया अवास्तव्या अप्यर्थसहत्वेऽङ्गीक्रियमाणे, प्रस्तुतवाक्यवत् स्पष्ट एव स्ववचनविरोधः। इति समासार्थः॥

व्यासार्थस्त्वयम्। ते वादिन इदं प्रणिगदन्ति। तात्त्विकमात्मब्रह्मैवास्ति—

नहीं हो सकती। यदि माया असत् है, तो तीनों लोकोंके पदार्थोंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि कहो कि माया माया भी होकर अर्थक्रिया करती है, तो जैसे एक ही स्त्री माता और वंध्या दोनों नहीं हो सकती, वैसे ही मायामें भी एक साथ दो विरोधी गुण नहीं रह सकते।

व्याख्यार्थ—ब्रह्माद्वैतवादियोंने जो तत्त्वरूप ब्रह्मात्मसे भिन्न माया (अविद्या) को प्रपंचका कारण स्वीकार किया है, वह माया सत् रूप है, या असत् रूप ? यदि माया सत् है, तो ब्रह्म और माया दो पदार्थोंके अस्तित्व होनेसे अद्वैतकी सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि अद्वैतवादियोंने एक आत्मा (ब्रह्म) को ही सत् पदार्थ स्वीकार किया है, इसलिये यदि माया भी सत् हो, तो अद्वैतके मूलमें ही कुठाराघात होता है। यदि मायाको आकाशके पुष्प की तरह अवस्तु स्वीकार करो, तो संसारके किसी भी पदार्थकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि मायाके अवस्तु होनेसे घोड़ेके सींगकी तरह वह प्रत्यक्षसे दृष्टिगोचर होनेवाले प्रपंचको उत्पन्न नहीं कर सकती। इन्द्रजाल तथा मृगतृष्णा आदिमें मायाद्वारा दिखाये जानेवाले पदार्थ अर्थक्रिया नहीं करते। परन्तु समस्त पदार्थोंमें अर्थक्रिया देखनेमें आती है, अतएव इन पदार्थोंमें मायाका व्यवहार नहीं हो सकता। यदि आप कहें कि माया माया भी है, और वह अर्थक्रिया भी करती है, यह ठीक नहीं। क्योंकि इसमें स्ववचन विरोध आता है। जिस प्रकार एक ही स्त्री माता और वंध्या दोनों नहीं हो सकती, वैसे ही माया भी माया (अवस्तु) होकर अर्थक्रिया (वस्तु) नहीं कर सकती। यह संक्षिप्त अर्थ है।

यहाँ विस्तृत अर्थ दिया जाता है।

वेदान्ती—हमारे मतसे तत्त्व रूप एक ब्रह्म ही सत् है। शास्त्रोंमें कहा भी है—

---

१ अव्याक्षेपो भविष्यन्त्याः कार्यसिद्धेर्हि लक्षणम्। इत्युत्तरार्धम्। रघुवंशे १०–६।

"सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन।
आरामं तस्य पश्यन्ति न तत्पश्यति कश्चन"[1] ॥

इति समयात्। अयं तु प्रपञ्चो मिथ्यारूपः, प्रतीयमानत्वात्। यदेवं तदेवम्। यथा शुक्तिशकले कलधौतम्। तथा चायं, तस्मात् तथा॥

तदेतद्वार्तम्। तथाहि। मिथ्यारूपत्वं तैः कीदृग् विवक्षितम्। किमत्यन्तासत्त्वम्, उतान्यस्यान्याकारतया प्रतीतत्वम्, आहोस्विदनिर्वाच्यत्वम्? प्रथमपक्षे असत्ख्यातिप्रसङ्गः। द्वितीये विपरीतख्यातिस्वीकृतिः। तृतीये तु किमिदमनिर्वाच्यत्वम्? निःस्वभावत्वं चेत्, निसः प्रतिषेधार्थत्वे, स्वभावशब्दस्यापि भावाभावयोरन्यतरार्थत्वे, असत्ख्यातिसत्ख्यात्यभ्युपगमप्रसंगः। भावप्रतिषेधे असत्ख्यातिः, अभावप्रतिषेधे सत्ख्यातिरिति। प्रतीत्यगोचरत्वं निःस्वभावत्वमिति चेत्। अत्र विरोधः। स प्रपञ्चो हि न प्रतीयते चेत् कथं धर्मितयोपात्तः। कथं च प्रतीयमानत्वं हेतुतयोपात्तम्। तथोपादाने वा कथं न प्रतीयते। यथा प्रतीयते न तथेति चेत्, तर्हि विपरीतख्यातिरियमभ्युपगता स्यात्॥

"यह सब ब्रह्मका ही स्वरूप है, इसमें नाना रूप नहीं हैं। ब्रह्मके प्रपंचको सब लोग देखते है, परन्तु ब्रह्मको कोई नहीं देखता।"

तथा, 'यह प्रपंच मिथ्या है, क्योंकि यह प्रतीतिका विषय है। जो प्रतीतिका विषय होता है, वह मिथ्या रूप होता है। जैसे सीपके टुकड़ेमें प्रतीत होनेवाला चाँदी मिथ्या रूप होती है। उसी तरह यह प्रपंच प्रतीत होता है, इसलिये यह मिथ्या रूप है।'

जैन—यह ठीक नहीं है। आप लोगोंने जो दृश्यमान प्रपंचको मिथ्या कहा है, सो आपका मिथ्यात्वसे क्या अभिप्राय है? (१) यदि बंध्या के पुत्रकी तरह अत्यंत असत्त्वको मिथ्यात्व कहते हो तो असत्ख्याति दोष आता है। (शून्यवादी बौद्धोंके अनुसार समस्त पदार्थोंका ज्ञान मिथ्या है, क्योंकि समस्त पदार्थ असत् हैं। अतएव जब हमें सीपमें चाँदीका ज्ञान होता है, उस समय असत् रूप चाँदी सत् रूपमें प्रतिभासित होती है। अतएव विपरीत ज्ञानका विषय सर्वथा असत् है। क्योंकि असत् पदार्थोंको सत् रूप देखना ही विपरीत ज्ञान है। असत्ख्याति-वादियोंके मतमें पदार्थ और पदार्थका ज्ञान दोनों ही असत् हैं। परन्तु वेदान्ती शून्यवादियोंकी असत्ख्यातिको स्वीकार नहीं करते।) (२) यदि एक पदार्थके दूसरे रूपमें प्रतिभासित होनेको मिथ्या कहो तो विपरीतख्याति दोष आता है। (नैयायिक आदि मतके अनुसार जब सीपमें चांदीका मिथ्या ज्ञान होता है, उस समय सीप चाँदीके रूपमें प्रतिभासित होती है, इसलिये एक पदार्थको दूसरे पदार्थके रूपमें जानना ही मिथ्या है, वास्तवमें सीप अथवा चाँदीमें कोई मिथ्यापन नहीं। इस विपरीत अथवा अन्यथाख्यातिमें दो पदार्थोंके सद्भाव (द्वैत) होनेके कारण वेदान्ती इसे भी स्वीकार नहीं करते)। (३) यदि अनिर्वचनीयत्व अर्थात् निस्स्वभावत्वको मिथ्यात्व कहो तो 'निस्स्वभावत्व' में स्वभाव शब्दका अर्थ (क) 'भाव' लिया जाय तो असत्ख्याति दोष आता है (परन्तु यह असत्ख्याति वेदान्तियों को मान्य नहीं है)। (ख) यदि स्वभावका अर्थ 'अभाव' किया जाय, तो सत्ख्याति दोष आता है। (रामानुजका सिद्धांत है कि जब सीपमें चांदीका मिथ्या ज्ञान होता है, उस समय इस मिथ्या ज्ञानका विषय मिथ्या नहीं होता, क्योंकि सीपमें चाँदीके परमाणु मिले रहते हैं, इसीलिये सीपमें चाँदीका ज्ञान होता है। परन्तु यह सत्ख्याति भी वेदान्तियोंको मान्य नहीं है)। (ग) यदि दृश्यमान प्रपंचके ज्ञानके विषय न होनेको निस्स्वभाव कहो तो 'अर्थप्रपंचः मिथ्यारूपः प्रतीयमानत्वात्' इस अनुमानमें जब प्रपंच प्रतीत ही नहीं होता तो 'प्रपंच' को पक्ष नहीं बना सकते। तथा प्रपंचके ज्ञानका विषय न होनेसे 'प्रतीयमानत्व' हेतु भी

१. छांदोग्य उ. ३–१४।

२. आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा।
तथानिर्वचनख्यातिरित्येतत्ख्यातिपञ्चकम्॥ षड्विधाः ख्यातिरित्यन्ये मन्यन्ते।

किञ्च, इयमनिर्वाच्यता प्रपञ्चस्य प्रत्यक्षबाधिता। घटोऽयमित्याद्याकारं हि प्रत्यक्षं प्रपञ्चस्य सत्यतामेव व्यवस्यति, घटादिप्रतिनियतपदार्थपरिच्छेदात्मनस्तस्योत्पादात्। इतरेतरविविक्तवस्तूनामेव च प्रपञ्चशब्दवाच्यत्वात्। अथ प्रत्यक्षस्य विधायकत्वात् कथं प्रतिषेधे सामर्थ्यम्। प्रत्यक्षं हि इदमिति वस्तुस्वरूपं गृह्णाति, नान्यत्स्वरूपं प्रतिषेधति।

"आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्धृ विपश्चितः।
नैकत्व आगमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते"॥

इति वचनात्। इति चेत्। न। अन्यरूपनिषेधमन्तरेण तत्स्वरूपपरिच्छेदस्याप्यसंपत्तेः। पीतादिव्यवच्छिन्नं हि नीलं नीलमिति गृहीतं भवति, नान्यथा। केवलवस्तुस्वरूपप्रतिपत्तेरेवान्यप्रतिषेधप्रतिपत्तिरूपत्वात्, मुण्डभूतलग्रहणे घटाभावग्रहणवत्। तस्माद् यथा प्रत्यक्षं विधायकं प्रतिपन्नं, तथा निषेधकमपि प्रतिपत्तव्यम्। अपि च, विधायकमेव प्रत्यक्षमित्यङ्गीकृते, यथा प्रत्यक्षेण विद्या विधीयते, तथा किं नाविद्यापीति। तथा च द्वैतापत्तिः। ततश्च सुव्यवस्थितः प्रपञ्चः। तदमी वादिनोऽविद्याविवेकेन सन्मात्रं प्रत्यक्षात् प्रतियन्तोऽपि न निषेधकं तदिति ब्रुवाणाः कथं नोन्मत्ताः। इति सिद्धं प्रत्यक्षबाधितः पक्ष इति॥

अनुमानबाधितश्च। प्रपञ्चो मिथ्या न भवति, असद्विलक्षणत्वात्, आत्मवत्। प्रतीयमानत्वं च हेतुर्ब्रह्मात्मना व्यभिचारी। स हि प्रतीयते, न च मिथ्या। अप्रतीयमानत्वे त्वस्य

नहीं बन सकता। तथा प्रतीयमानत्व हेतुके होनेसे प्रपंचको प्रतीयमान होना चाहिये। (घ) यदि कहो कि प्रपंच जैसा है, वैसा प्रतीत नहीं होता—यही निस्स्वभावत्वका अर्थ है, तो इसे स्वीकार करनेमें विपरीत ख्याति ही माननी पड़ेगी, जिसे मायावादी स्वीकार नहीं करते।

तथा प्रपंचकी यह अनिर्वाच्यता (निस्स्वभावता) प्रत्यक्षसे बाधित है। 'यह घट है' इत्यादि रूप प्रत्यक्ष, प्रपंच की सत्यताका निश्चय करता है, क्योंकि घटादि रूप निश्चित पदार्थको जाननेवाले के रूपमें उसकी उत्पत्ति होती है। तथा, इतरेतर भिन्न पदार्थ ही प्रपंच शब्दके वाच्य हैं। शंका—प्रत्यक्ष विधायक है, अतएव प्रतिषेध करनेकी सामर्थ्य उसमें कैसे हो सकती है? प्रत्यक्ष, 'यह है' इस प्रकार वस्तुके स्वरूप को जानता है, दूसरे स्वरूपका प्रतिषेध वह नहीं करता। कहा भी है—

"प्रत्यक्ष विधायक है, निषेधक नहीं, अतएव एकत्वका प्रतिपादन करनेवाला आगम प्रत्यक्षसे बाधित नहीं हो सकता।"

समाधान—यह ठीक नहीं है। क्योंकि अन्य स्वरूपके निषेधके विना, वस्तु-स्वरूपका ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे, पीत आदि वर्णवाले पदार्थसे भिन्न नील वर्णवाला पदार्थ, 'यह नील वर्ण है' इस प्रकार जाना जाता है, अन्य प्रकारसे नहीं। शून्य भूतलका ज्ञान होने पर जिस प्रकार घटके अभावका ज्ञान होता है, उसी प्रकार केवल वस्तुस्वरूपका ग्रहण ही अन्यका प्रतिषेध रूप ग्रहण होता है। अतएव जिस प्रकार प्रत्यक्षको विधायक माना है, उसी प्रकार उसे निषेधक भी मानना चाहिये। तथा, यदि प्रत्यक्षको केवल विधायक ही माना जाय तो जिस प्रकार प्रत्यक्ष द्वारा विद्याका विधान किया जाता है, वैसे ही उसीके द्वारा अविद्याका विधान भी क्यों नहीं माना जाता? यदि प्रत्यक्षको अविद्याका भी विधायक माना जाय, तो विद्या और अविद्या, ब्रह्म और जगत्—इन दो पदार्थोंके होनेसे द्वैतका प्रसंग उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार प्रपंच सुव्यवस्थित है। अतएव जब ब्रह्माद्वैतवादी, प्रत्यक्षसे अविद्याका निषेध करके प्रत्यक्षको सन्मात्रग्राही मानने पर भी, उसे निषेधक नहीं स्वीकार करते, तो उन्हें उन्मत्त क्यों न कहा जाये? इस प्रकार 'प्रपंच मिथ्यारूप है'—यह पक्ष प्रत्यक्षसे बाधित है, यह सिद्ध हो जाता है।

तथा, 'प्रपञ्चो मिथ्यारूपः प्रतीयमानत्वात्', यह पक्ष 'प्रपञ्चो मिथ्या न भवति असद्विलक्षणत्वात् आत्मवत्' इस अनुमानसे बाधित है। (अर्थात् जिस प्रकार ब्रह्मरूप आत्मा असत् से भिन्न होने से मिथ्यारूप नहीं है, उसी प्रकार प्रपंच भी असत् से भिन्न होने पर भी मिथ्यारूप नहीं)। यहाँ, प्रतीयमानत्व हेतु

तद्विषयवचसामप्रवृत्तेर्मूकतैव तेषां श्रेयसी। साध्यविकलश्च दृष्टान्तः। शुक्तिशकलकलधौतेऽपि प्रपञ्चान्तर्गतत्वेन अनिर्वचनीयतायाः साध्यमानत्वात्। किञ्च, इदमनुमानं प्रपञ्चाद् भिन्नम् अभिन्नं वा? यदि भिन्नं, तर्हि सत्यमसत्यं वा? यदि सत्यं, तर्हि तद्वदेव प्रपञ्चस्यापि सत्यत्वं स्यात्। अद्वैतवादप्राकारे खण्डिपातात्। अथासत्यम्, तर्हि न किञ्चित् तेन साधयितुं शक्यम्, अवस्तुत्वात्। अभिन्नं चेत्, प्रपञ्चस्वभावतया तस्यापि मिथ्यारूपत्वापत्तिः। मिथ्यारूपं च तत् कथं स्वसाध्यसाधनायालम्। एवं प्रपञ्चस्यापि मिथ्यारूपत्वासिद्धेः कथं परमब्रह्मणस्तात्त्विकत्वं स्यात् यतो बाह्यार्थाभावो भवेदिति ॥

अथवा प्रकारान्तरेण सन्मात्रलक्षणस्य परमब्रह्मणः साधनं दूषणं चोपन्यस्यते। ननु परमब्रह्मण एवैकस्य परमार्थसतो विधिरूपस्य विद्यमानत्वात् प्रमाणविषयत्वम्। अपरस्य द्वितीयस्य कस्यचिदप्यभावात्। तथाहि। प्रत्यक्षं तदावेदकमस्ति। प्रत्यक्षं द्विधा भिद्यते निर्विकल्पकसविकल्पकभेदात्। ततश्च निर्विकल्पकप्रत्यक्षात् सन्मात्रविषयात् तस्यैकस्यैव सिद्धिः। तथा चोक्तम्—

"अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्।
बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम्"[1] ॥

न च विधिवत् परस्परव्यावृत्तिरप्यध्यक्षत एव प्रतीयते इति द्वैतसिद्धिः। तस्य निषेधा-

---

ब्रह्मात्मरूप विपक्ष में रहता है, अतएव व्यभिचारी है। क्योंकि ब्रह्मात्मा प्रतीयमान है, परन्तु मिथ्या नहीं है। यदि ब्रह्मको अप्रतीयमान मानो तो ब्रह्मके विषयमें वचनोंकी प्रवृत्ति न होनेसे मौन रहना ही श्रेयस्कर होगा। तथा, 'सोपमें चाँदी' (शुक्तिशकले कलधौतं) का जो दृष्टान्त दिया गया है, वह 'प्रपंच मिथ्यारूप' साध्यमें नहीं रहता, इसलिये साध्यविकल है। क्योंकि सीप और चाँदी दोनों ही प्रपंचके अन्तर्भूत हैं, इसलिये उनका अनिर्वचनीयत्व (मिथ्यारूपता) साध्यमान ही है—सिद्ध नहीं है (जो दृष्टान्त दिया जाता है, वह सिद्ध होता है, असिद्ध नहीं। इसे अनुपसंहारी हेत्वाभास भी कहते हैं)। तथा, आपका अनुमान 'यह प्रपंच मिथ्यारूप है प्रतीयमान होनेसे' प्रपंचसे भिन्न है, या अभिन्न? यदि भिन्न है, तो सत्य है, या असत्य? यदि अनुमान प्रपंचसे भिन्न होकर सत्य है, तो अनुमानके समान प्रपंच भी सत्य होना चाहिये। तथा, प्रपंचकी सत्यता स्वीकार करनेमें अद्वैतरूपी प्राकारपर कुठाराघात होता है। यदि अनुमान असत्य है, तो वह अवस्तु होनेसे साध्यकी सिद्धि नहीं कर सकता। यदि अनुमान प्रपंचसे अभिन्न है, तो प्रपंचरूप होनेसे अनुमान भी मिथ्यारूप होना चाहिये, और मिथ्यारूप अनुमान साध्यकी सिद्धि नहीं कर सकता। इस प्रकार जब प्रपंच मिथ्यारूप सिद्ध नहीं हो सकता, तो परब्रह्मकी तात्त्विकता भी सिद्ध नहीं हो सकती, जिससे बाह्य पदार्थोंका अभाव सिद्ध हो सके।

अथवा प्रकारान्तरसे सत्तामात्र रूप परब्रह्मके साधन और दूषणका उपन्यास किया जाता है। **वेदान्ती**—वास्तवमें एकमात्र परमार्थ सत् विधिरूप ब्रह्म विद्यमान होनेसे प्रमाणका विषय है, क्योंकि वह परमार्थ सत् विधिरूप किसी भी दूसरे पदार्थका अभाव है। तथाहि—प्रत्यक्ष एक परमार्थ सत् विधिरूप ब्रह्मको जानता है। यह प्रत्यक्ष निर्विकल्पक और सविकल्पकके भेदसे दो प्रकारका है। सन्मात्रको जाननेवाले निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे एकमात्र ब्रह्मकी सिद्धि होती है। कहा भी है—

"चक्षुके सन्निपातके अनन्तरवर्ती और सविकल्पक ज्ञानके पूर्ववर्ती तथा शुद्ध वस्तु अर्थात् सामान्य-विशेष रहित वस्तुको जाननेवाला बालक और गूँगेके ज्ञानके समान, ऐसे इन्द्रियज्ञान का सद्भाव है।"

विधिके समान घट, पट पदार्थोंकी परस्पर व्यावृत्तिका ज्ञान भी प्रत्यक्षसे ही होता है, अतएव द्वैतकी

---

१. मीमांसाश्लोकवार्तिक ४ प्रत्यक्षसूत्रे ११२।

विषयत्वात्। "आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्धृ" इत्यादिवचनात्। यच्च सविकल्पकप्रत्यक्षं घटपटादिभेदसाधकं, तदपि सत्तारूपेणान्वितानामेव तेषां प्रकाशकत्वात् सत्ताऽद्वैतस्यैव साधकम्। सत्तायाश्च परब्रह्मरूपत्वात्। तदुक्तम्—"यदद्वैतं तद् ब्रह्मणो रूपम्" इति ॥

अनुमानादपि तत्सद्भावो विभाव्यत एव। तथाहि। विधिरेव तत्त्वं, प्रमेयत्वात्। यतः प्रमाणविषयभूतोऽर्थः प्रमेयः। प्रमाणानां च प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्तिसंज्ञकानां भावविषयत्वेनैव प्रवृत्तेः। तथा चोक्तम्—

"प्रत्यक्षाद्यवतारः स्याद् भावांशो गृह्यते यदा।
व्यापारस्तदनुत्पत्तेरभावांशे जिघृक्षिते" ॥

यच्चाभावाख्यं प्रमाणं तस्य प्रामाण्याभावाद् न तत् प्रमाणम्। तद्विषयस्य कस्यचिदप्यभावात्। यस्तु प्रमाणपञ्चकविषयः स विधिरेव। तेनैव च प्रमेयत्वस्य व्याप्तत्वात्। सिद्धं प्रमेयत्वेन विधिरेव तत्त्वम्, यत्तु न विधिरूपं, तद् न प्रमेयम्, यथा खरविषाणम्। प्रमेयं चेदं निखिलं वस्तुतत्त्वम्, तस्माद् विधिरूपमेव। अतो वा तत्सिद्धिः। ग्रामारामादयः पदार्थाः प्रतिभासान्तःप्रविष्टाः, प्रतिभासमानत्वात्, यत्प्रतिभासते तत्प्रतिभासान्तःप्रविष्टम्, यथा प्रतिभासस्वरूपम्। प्रतिभासन्ते च ग्रामारामादयः पदार्थाः, तस्मात् प्रतिभासान्तःप्रविष्टाः ॥

आगमोऽपि परमब्रह्मण एव प्रतिपादकः समुपलभ्यते—"पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं

सिद्धि नहीं होती। क्योंकि "प्रत्यक्षको विधायक कहते हैं, निषेधक नहीं"—इस वचनके अनुसार, निषेध प्रत्यक्षका विषय नहीं होता। तथा, घट, पट आदिके विकल्प (भेद) को ग्रहण करनेवाला सविकल्पक प्रत्यक्ष भी सत्तारूप से अन्वित घट, पट आदिको ही जानता है, इसलिये सविकल्पक प्रत्यक्ष भी सत्ता अद्वैतका ही साधक है। क्योंकि सत्ता परब्रह्म रूप है। कहा भी है—"जो अद्वैत है वही ब्रह्मका स्वरूप है"

अनुमान प्रमाणसे भी ब्रह्मका अस्तित्व सिद्ध होता ही है। तथाहि—'विधि (अर्थात् परब्रह्म) ही तत्त्व (परमार्थभूत पदार्थ) है, प्रमेय होनेसे'। प्रमाणके विषयभूत अर्थको प्रमेय कहते हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति नामसे कहे जानेवाले प्रमाण पदार्थोंको अपना विषय बनाकर प्रवृत्त होते हैं। कहा भी है—

"जब वस्तुके भावांशको ग्रहण किया जाता है, तब प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंकी उपस्थिति होती है, तथा वस्तुके अभाव अंशको जाननेकी इच्छा होनेपर प्रत्यक्ष आदिके अभावकी प्रवृत्ति होती है।" (मीमांसक वस्तुको सदसदात्मक मानते हैं, अर्थात् उनके अनुसार, वस्तु भावांश और अभाव-अंशसे युक्त होती है)।

तथा, अभाव नामक प्रमाणमें प्रामाण्यका अभाव होनेसे (प्रमितिका साधकतम साधन न होनेके कारण), वह प्रमाण नहीं है, क्योंकि उसके विषयभूत किसी भी पदार्थका अस्तित्व नहीं है, अर्थात् उसका कोई भी विषय नहीं है। प्रत्यक्ष आदि पांचों प्रमाणों का जो विषय है वह विधिरूप ही है। प्रमेयत्व उस विधि से व्याप्त है। अतएव प्रमेयत्व होनेसे विधि ही तत्त्वरूपसे सिद्ध है। जो विधिरूप नहीं है, वह प्रमेय भी नहीं है, जैसे गधेके सींग। यह सम्पूर्ण वस्तुतत्त्व प्रमेयरूप है, इसलिये वह विधिरूप ही है। अथवा, 'गांव, बगीचा आदि पदार्थ प्रतिभासमें गर्भित हो जाते हैं, प्रतिभासका विषय होनेसे। जो प्रतिभासका विषय है, वह प्रतिभासमें गर्भित हो जाता है, जैसे प्रतिभासका स्वरूप। गांव, बगीचे आदि प्रतिभासित होते हैं, इसलिये वे प्रतिभासके ही भीतर आ जाते हैं'—इस अनुमानसे भी ब्रह्मकी सिद्धि होती है।

आगम भी ब्रह्मका प्रतिपादन करता है। जैसे, "जो हुआ है, जो होगा; जो अमृतका अधिष्ठाता है, आहारसे वृद्धिको प्राप्त होता है।" "जो गतिमान है, स्थिर है, दूर है, पास है, चेतन और अचेतन सबमें

---

१. मीमांसाश्लोकवार्तिक ५ अभावपरिच्छेदे १७।

यच्च भाव्यम्। उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति।"[1] "यदेजति, यन्नैजति, यद् दूरे, यदन्तिके। यदन्तरस्य सर्वस्य यदुत सर्वस्यास्य बाह्यतः"[2] इत्यादिः। "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः अनुमन्तव्यः"[3] इत्यादिवेदवाक्यैरपि तत्सिद्धेः। कृत्रिमेणापि आगमेन तस्यैव प्रतिपादनात्। उक्तं च—

"सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म[4] नेह[5] नानाऽस्ति किञ्चन।
आरामं तस्य पश्यन्ति न तत् पश्यति कश्चन"[6]॥

इति प्रमाणतस्तस्यैव सिद्धेः। परमपुरुष एक एव तत्त्वम्, सकलभेदानां तद्विवर्तत्वात्। तथाहि। सर्वे भावा ब्रह्मविवर्ताः सत्त्वैकरूपेणान्वितत्वात्। यद् यद्रूपेणान्वितं तत् तदात्मकमेव। यथा घटघटीशरावोदञ्चनादयो मृद्रूपेणैकेनान्विता मृद्विवर्ताः। सत्त्वैकरूपेणान्वितं च सकलं वस्तु। इति सिद्धं ब्रह्मविवर्तित्वं निखिलभेदानामिति॥

तदेतत् सर्वं मदिरारसास्वादगद्गदोद्गदितमिवाभासते, विचारासहत्वात्। सर्वं हि वस्तु प्रमाणसिद्धं न तु वाङ्मात्रेण। अद्वैतमते च प्रमाणमेव नास्ति, तत्सद्भावे द्वैतप्रसङ्गात्। अद्वैतसाधकस्य प्रमाणस्य द्वितीयस्य सद्भावात्। अथ मतम् लोकप्रत्यायनाय तदपेक्षया प्रमाणमप्यभ्युपगम्यते। तदसत्। तन्मते लोकस्यैवासम्भवात्, एकस्यैव नित्यनिरंशस्य परब्रह्मण एव सत्त्वात्॥

अथास्तु यथाकथञ्चित् प्रमाणमपि तत्किं प्रत्यक्षमनुमानमागमो वा तत्साधकं प्रमाणमुररीक्रियते। न तावत् प्रत्यक्षम्। तस्य समस्तवस्तुजातगतभेदस्यैव प्रकाशकत्वात्।

व्याप्त है और सबके बाह्य है, वह सब ब्रह्म ही है" आदि। तथा, "अतएव ऐसे ब्रह्मको सुनना, मनन करना, निरन्तर स्मरण करना, और पुनः पुनः मनन करना चाहिये," आदि वेदके वाक्योंसे ब्रह्मकी सिद्धि होती है। स्मृति आदि पौरुषेय आगम भी ब्रह्मकी सिद्धि करते हैं। कहा भी है—

यह सब ब्रह्मका ही स्वरूप हैं, ब्रह्मको छोड़ कर नाना रूप कुछ नहीं है। ब्रह्मकी पर्यायोंको सब देखते हैं, परन्तु ब्रह्म किसीको दिखाई नहीं देता।

इस प्रकार परब्रह्मके प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमसे सिद्ध होनेपर परब्रह्म ही एक तत्त्व सिद्ध होता है; दृश्यमान सम्पूर्ण भेद इस ब्रह्मकी ही पर्याय हैं। अतएव 'सम्पूर्ण पदार्थ ब्रह्मकी पर्याय हैं, क्योंकि संपूर्ण पदार्थ सत्तात्मक एक रूप से अन्वित हैं। जो जिस रूपसे अन्वित होता है, वह उसी रूप होता है जैसे घट, घटी, शराव आदि मिट्टीके वर्तन मिट्टीके एक स्वरूपसे अन्वित हैं, इसलिये सब मिट्टी की पर्याय हैं। सम्पूर्ण पदार्थ एक सत्ता स्वरूपसे अन्वित हैं, इसलिये सम्पूर्ण पदार्थ एक ब्रह्मकी ही पर्याय हैं'।

जैन—यह कथन मद्यपायीके प्रलापके समान प्रतीत होता है, क्योंकि यह कथन विचार को सह्य नहीं है। सभी वस्तुओं की सिद्धि प्रमाणसे होती है, केवल कथनमात्रसे नहीं। तथा, अद्वैतवादियोंके मतमें कोई प्रमाण ही नहीं बन सकता, क्योंकि ब्रह्मसे भिन्न किसी प्रमाणके माननेपर द्वैत मानना पड़ता है। अद्वैतका साधक कोई अन्य प्रमाण नहीं है। यदि आप कहें कि लोगोंको समझानेके लिये उनकी अपेक्षासे प्रमाण स्वीकार किया जाता है; वास्तवमें एक ब्रह्म ही सत्य है, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि अद्वैतवादियोंके मतमें एक नित्य निरंश परब्रह्म ही सत्य है, इसलिये उनके मतमें लोक ही संभव नहीं।

यदि अद्वैत मत में किसी प्रकार प्रमाणका सद्भाव मान भी लिया जाय, तो अद्वैत के साधक जिस प्रमाण को स्वीकार किया जाता है, वह प्रमाण प्रत्यक्ष रूप है, या अनुमान रूप है अथवा आगम रूप?

---

१. ऋग्वेदपुरुषसूक्ते। २. ईशावास्योपनिषदि। ३. बृहदारण्यक० उ०। युक्तिभिरनुचिन्तनम् मननं। श्रुतस्यार्थस्य नैरन्तर्येण दीर्घकालमनुसंधानम् निदिध्यासनं। ४. मैत्र्युपनिषदि। ५. बृहदारण्यक उ० ४.४.१९; कठोपनिषदि ४.११। ६. बृहदारण्यक उ० ४.३.१४।

आबालगोपालं तथैव प्रतिभासनात्। यच्च निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं तदावेदकम् इत्युक्तम्। तदपि न सम्यक्। तस्य प्रामाण्यानभ्युपगमात्। सर्वस्यापि प्रमाणतत्त्वस्य व्यवसायात्मकस्यैवाविसंवादकत्वेन प्रामाण्योपपत्तेः। सविकल्पकेन तु प्रत्यक्षेण प्रमाणभूतेनैकस्यैव विधिरूपस्य परब्रह्मणः स्वप्नेऽप्यप्रतिभासनात्। यदप्युक्तं "आहुर्विधातृ प्रत्यक्षम्" इत्यादि। तदपि न पेशलम्। प्रत्यक्षेण ह्यनुवृत्तव्यावृत्ताकारात्मकवस्तुन एव प्रकाशनात्। एतच्च प्रागेव क्षुण्णम्। न ह्यनुस्यूतमेकमखण्डं सत्तामात्रं विशेषनिरपेक्षं सामान्यं प्रतिभासते। येन "यदद्वैतं तद्ब्रह्मणो रूपम्" इत्याद्युक्तं शोभेत। विशेषनिरपेक्षस्य सामान्यस्य खरविषाणवदप्रतिभासनात्। तदुक्तम्—

"निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवत्।
सामान्यरहितत्वेन विशेषास्तद्वदेव हि"[1] ॥

ततः सिद्धे सामान्यविशेषात्मन्यर्थे प्रमाणविषये कुत एवैकस्य परमब्रह्मणः प्रमाणविषयत्वम्। यच्च प्रमेयत्वादित्यनुमानमुक्तम्, तदप्येतेनैवापास्तं बोद्धव्यम्। पक्षस्य प्रत्यक्षबाधितत्वेन हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वात्। यच्च तत्सिद्धौ प्रतिभासमानत्वसाधनमुक्तम्, तदपि साधनाभासत्वेन न प्रकृतसाध्यसाधनायालम्। प्रतिभासमानत्वं हि निखिलभावानां स्वतः परतो वा? न तावत् स्वतः, घटपटमुकुटशकटादीनां स्वतः प्रतिभासमानत्वेनासिद्धेः। परतः प्रतिभासमानत्वं च परं विना नोपपद्यते इति। यच्च परब्रह्मविवर्तवर्तित्वमखिलभेदानामित्युक्तम्। तदप्यन्वेत्रन्वीयमानद्वयाविनाभावित्वेन पुरुषाद्वैतं प्रतिबध्नात्येव। न च घटादीनां

प्रत्यक्षसे अद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि वह संपूर्ण वस्तुसमूहमें विद्यमान होनेवाले भेदको ही अर्थात् व्यावर्तक विशेषको ही प्रकाशित करता है। इसी प्रकारसे सभी लोगोंको प्रत्यक्षका ज्ञान होता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष अद्वैत रूप ब्रह्मका ज्ञान कराता है, ऐसा जो कहा है, वह भी ठीक नहीं। क्योंकि निर्विकल्पक प्रत्यक्षको प्रमाण रूपसे स्वीकार ही नहीं किया गया। कारण कि व्यवसायात्मक (स्वपरको जाननेमें साधकतम होनेवाले) सभी प्रमाण अविसंवादी होनेसे प्रामाण्य माने जाते हैं (और निर्विकल्पक प्रत्यक्ष स्वपरको जाननेमें साधकतम नहीं है)। प्रमाणभूत सविकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा भी केवल एकरूप विधिरूप परब्रह्म स्वप्नमें भी प्रतिभासित नहीं हो सकता। तथा, "प्रत्यक्ष विधायक (सन्मात्रका ग्राहक) है"—ऐसा जो कहा है, वह भी ठीक नहीं। क्योंकि प्रत्यक्षके द्वारा सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ ही प्रकाशित किया जाता है—इसका पहले ही खण्डन किया जा चुका है। पदार्थोंमें अनुस्यूत, एकमात्र रूप, अखण्ड और सत्तामात्र रूप विशेषकी अपेक्षा न रखनेवाला सामान्य प्रतिभासित नहीं होता जिससे यह कहा जा सके कि "जो अद्वैत है वह ब्रह्मका स्वरूप है।" जिस प्रकार खरविषाण प्रतिभासित नहीं होता उसी तरह विशेष की अपेक्षा न रखनेवाला सामान्य प्रतिभासित नहीं होता। कहा भी है—

"विशेष रहित सामान्य खरविषाणकी तरह है, और सामान्य रहित होनेसे विशेष भी वैसा ही है।"

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाने पर कि सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ प्रमाणका विषय होता है, केवल एकरूप परब्रह्म प्रमाणका विषय कैसे बन सकता है? तथा, 'विधिरेव तत्त्वं प्रमेयत्वात्' यह अनुमान भी इसीसे खंडित हो जाता है। क्योंकि 'विधिरेव तत्त्वं' इस पक्षके प्रत्यक्षसे बाधित होनेके कारण प्रमेयत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट है। तथा, 'विधिरेव तत्त्वं' इस पक्षकी सिद्धिके लिए जो 'प्रतिभासमानत्व' हेतु दिया गया था, वह साधनाभास होनेसे प्रकृत साध्यकी सिद्धि करनेमें असमर्थ है। हम पूछते हैं कि सम्पूर्ण पदार्थोंका प्रतिभास स्वयं होता है, या दूसरेसे? सम्पूर्ण पदार्थ स्वयं प्रतिभासित नहीं हो सकते, क्योंकि घट, पट, मुकुट, शकट आदि पदार्थोंकी स्वतः प्रतिभासमानत्वके रूपसे सिद्धि नहीं होती। पदार्थोंका दूसरेसे प्रतिभासित होना भी नहीं बन सकता क्योंकि दूसरेसे प्रतिभासित होना दो पदार्थों (द्वैत) के विना संभव नहीं। तथा, 'संपूर्ण पदार्थ

---

१. मीमांसाश्लोकवार्तिक ५ आकृतिवादे १०।

चैतन्यान्वयोऽप्यस्ति मृदाद्यन्वयस्यैव तत्र दर्शनात्। ततो न किञ्चिदेतदपि। अतोऽनुमानादपि न तत्सिद्धिः। किञ्च, पक्षहेतुदृष्टान्ता अनुमानोपायभूताः परस्परं भिन्नाः अभिन्ना वा? भेदे द्वैतसिद्धिः। अभेदे त्वेकरूपतापत्तिः। तत् कथमेतेभ्योऽनुमानमात्मानमासादयति। यदि च हेतुमन्तरेणापि साध्यसिद्धिः स्यात्, तर्हि द्वैतस्यापि वाङ्मात्रतः कथं न सिद्धिः। तदुक्तम्—

"हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद् द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः।
हेतुना चेद् विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम्"[१]॥

"पुरुष एवेदं सर्वम्" इत्यादेः, "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म" इत्यादेश्चागमादपि न तत्सिद्धिः। तस्यापि द्वैताविनाभावित्वेन अद्वैतं प्रति प्रामाण्यासम्भवात्। वाच्यवाचकभावलक्षणस्य द्वैतस्यैव तत्रापि दर्शनात्। तदुक्तम्—

"कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं विरुध्यते।
विद्याऽविद्याद्वयं न स्याद्बन्धमोक्षद्वयं तथा"[२]॥

ततः कथमागमादपि तत्सिद्धिः। ततो न पुरुषाद्वैतलक्षणमेकमेव प्रमाणस्य विषयः। इति सुव्यवस्थितः प्रपञ्चः॥ इति काव्यार्थः॥१३॥

एक ब्रह्मकी ही पर्याय हैं' (सर्वे भावाः ब्रह्मविवर्ताः) इस अनुमानमें भी अन्वेतृ (अन्वित करनेवाला-ब्रह्म) और अन्वीयमान (जिसके साथ सम्बन्ध हो–पर्याय) इन दोनोंका अविनाभाव संबंध होनेसे पुरुषाद्वैतका विरोध उपस्थित होता है (क्योंकि दो भिन्न भिन्न पदार्थोंका ही संबंध होता है)। तथा, घट आदिमें (परब्रह्मके) चैतन्य का संबंध भी नहीं पाया जाता, क्योंकि घटका संबंध मिट्टी आदिके साथ है। इसलिये यह भी कुछ नहीं है। अतः अनुमानसे भी ब्रह्म सिद्ध नहीं होता। तथा, पक्ष, हेतु और दृष्टांतसे अनुमान बनता है; ये पक्ष, हेतु और दृष्टांत परस्पर भिन्न हैं, अथवा अभिन्न? भेद माननेसे द्वैत मानना चाहिये, और अभेद माननेसे पक्ष, हेतु और दृष्टांत एक हो जाते हैं, और पक्ष आदि तीनोंके एक होनेसे अनुमान अपने स्वरूपको कैसे प्राप्त कर सकता है (अनुमेय पदार्थको कैसे जान सकता है)? यदि आप अनुमानके विना ही साध्यकी सिद्धि मानें तो वचन मात्रसे भी द्वैतकी सिद्धि हो सकती है। कहा भी है—

"यदि अद्वैतकी सिद्धि हेतुसे होती हो तो हेतु और साध्यके होनेसे द्वैतकी सिद्धि हो जाती है। यदि हेतुके विना ही अद्वैतकी सिद्धि मानो तो वचन मात्रसे द्वैतकी सिद्धि क्यों नहीं हो जाती?"

तथा, "पुरुष एवेदं सर्वं", "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म" आदि आगमसे भी ब्रह्म सिद्ध नहीं होता। क्योंकि आगममें वाच्य-वाचक संबंध होनेसे द्वैतकी ही सिद्धि होती है। कहा भी है—

"लौकिक और वैदिक अथवा शुभ और अशुभ अथवा पुण्य और पाप रूप कर्मद्वैत, प्रशस्त और अप्रशस्त रूप फलद्वैत, इहलोक और परलोक रूप लोकद्वैत, विद्या और अविद्या तथा बंध और मोक्ष का अभाव हो जायेगा।"

अतएव आगमसे भी अद्वैत परब्रह्मकी सिद्धि नहीं होती। इसलिए पुरुषाद्वैतरूप केवल एक किसी भी प्रमाणका विषय नहीं हो सकता। अतएव इस दृश्यमान प्रपंचको तात्त्विक ही मानना चाहिये। यह श्लोकका अर्थ है॥१३॥

भावार्थ—इस श्लोकमें अद्वैतवादियोंके मायावादकी समीक्षा की गयी है। जैन लोगोंका कहना है कि यदि माया भावरूप है, तो ब्रह्म और माया दो वस्तुओंके होनेसे अद्वैतवादियोंका अद्वैत नहीं बनता। तथा, यदि माया अभावरूप है, तो मायासे जगत्की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि अद्वैतवादी मायाको मिथ्या रूप मान कर भी वस्तु (अर्थक्रियाकारी) स्वीकार करें तो स्ववचन विरोध आता है, क्योंकि मिथ्या रूप और वस्तु दोनों एक साथ नहीं रह सकते।

---

१. आप्तमीमांसा २–२६। २. आप्तमीमांसा २-२५।

अथ स्वाभिमतसामान्यविशेषोभयात्मकवाच्यवाचकभावसमर्थनपुरःसरं तीर्थान्तरीयप्रकल्पिततदेकान्तगोचरवाच्यवाचकभावनिरासद्वारेण तेषां प्रतिभावैभवाभावमाह—

वेदान्ती—'यह प्रपंच मिथ्या है, क्योंकि मिथ्या प्रतीत होता है, जैसे सीपमें चांदीका ज्ञान मिथ्या प्रतीत होनेसे मिथ्या है' (अयं प्रपञ्चो मिथ्यारूपः प्रतीयमानत्वात्, यदेवं तदेवं, यथा शुक्तिशकले कलधौतम्, तथा चायं तस्मात्तथा)—इस अनुमानसे जगत् मिथ्या सिद्ध होता है। जैन—मिथ्या रूपसे आपका क्या अभिप्राय है ? यदि (१) अत्यन्त असत्त्वको मिथ्या कहते हो तो शून्यवादियोंकी असत्ख्याति; (२) अन्य वस्तुके अन्य रूपमें प्रतिभासित होनेको मिथ्या कहते हो तो नैयायिकोंकी विपरीतख्याति स्वीकार करनी चाहिए। यदि (३) मिथ्या रूपका अर्थ अनिर्वाच्य, अर्थात् निस्स्वभावत्व, करते हो तो 'निस्स्वभाव' में स्वभाव शब्दका अर्थ 'भाव' अथवा 'अभाव' करनेपर क्रमसे असत्ख्याति और सत्ख्याति स्वीकार करनी पड़ेगी। यदि कहो कि ज्ञानके अगोचर होना ही निस्स्वभावत्व है, तो इस जगत्के प्रपंचका ज्ञान नहीं होना चाहिये। तथा प्रपंचके ज्ञानका विषय न होनेसे प्रतीयमानत्व हेतु भी नहीं बन सकता। यदि अर्थप्रपंचके जैसेके तैसे प्रतिभासित होनेको निस्स्वभावत्व कहो तो विपरीतख्याति माननी पड़ेगी। इसके अतिरिक्त, यह अनुमान प्रत्यक्षसे भी बाधित है। वेदान्ती—हमारा अनुमान प्रत्यक्षसे बाधित नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण केवल सामान्य रूप ही है, वह विधि रूप ही वस्तुओंका ज्ञान करता है, निषेध रूप नहीं। जैन—प्रत्यक्ष केवल सामान्य रूप नहीं हो सकता, क्योंकि किसी वस्तुका निषेध किये बिना उसका विधि रूप ज्ञान होना असंभव है, इसलिये प्रत्यक्षको सामान्यविशेषात्मक स्वीकार करके विधायक और निषेधक दोनों ही स्वीकार करना चाहिये। उक्त अनुमान 'प्रपञ्चो मिथ्या न भवति, असद्विलक्षणत्वात्, आत्मवत्' इस प्रत्यनुमानसे बाधित भी है। तथा प्रतीयमानत्व हेतु ब्रह्मके साथ व्यभिचारी है।

वेदान्ती—निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे ब्रह्मकी सिद्धि होती है, क्योंकि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सत्ता मात्रको जानता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे ब्रह्मका प्रतिषेध नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष विधि रूप ही होता है, निषेध रूप नहीं। तथा पदार्थोंके भेदको ग्रहण करनेवाला सविकल्पक प्रत्यक्ष भी पदार्थोंको सत्ता रूपसे जानता है, इसलिये सविकल्पक प्रत्यक्ष भी ब्रह्मका साधक है। क्योंकि सत्ता परब्रह्म रूप है। 'विधिरेव तत्त्वं प्रमेयत्वात्' इस अनुमानसे भी ब्रह्मकी सिद्धि होती है। इसी तरह आगम आदि भी ब्रह्मके अस्तित्वके साधक हैं। जैन—निश्चयात्मक और विसंवादसे रहित ज्ञान ही प्रमाण होता है, इसलिये निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं कहा जा सकता। सविकल्पक प्रत्यक्ष भी समस्त भेदोंसे रहित केवल विधि रूप ब्रह्मको नहीं जान सकता है। क्योंकि जिस प्रकार विशेष रहित सामान्य और सामान्य रहित विशेष वस्तुका ज्ञान असंभव है, उसी तरह विधिके बिना प्रतिषेध और प्रतिषेधके बिना विधि रूप ज्ञान नहीं हो सकता। अतएव प्रत्यक्ष भी सामान्य-विशेष रूप हो कर विधि और प्रतिषेध दोनों रूपसे ही पदार्थोंका ज्ञान करता है। 'विधिरेव तत्त्वं प्रमेयत्वात्' अनुमानमें भी प्रमेयत्व हेतु प्रत्यक्षसे बाधित है, क्योंकि प्रत्यक्ष विधि और निषेध दोनों तरहसे पदार्थोंका ज्ञान करता है, यह अनुभवगम्य है। तथा आगम प्रमाण माननेपर वाच्य-वाचक भाव माननेसे द्वैतकी ही सिद्धि होती है।

अब कथंचित् सामान्य और कथंचित् विशेषरूप वाच्य-वाचक भावका समर्थन करके प्रतिवादियोंद्वारा मान्य एकान्त सामान्य और एकान्त विशेष रूप वाच्य-वाचक भावका खंडन करते हुए उनके प्रतिभा वैभव के अभाव को सिद्ध करते हैं—

अनेकमेकात्मकमेव वाच्यं द्वयात्मकं वाचकमप्यवश्यम् ।
अतोऽन्यथा वाचकवाच्यक्लृप्तावतावकानां प्रतिभाप्रमादः ॥१४॥

वाच्यम्—अभिधेयं, चेतनमचेतनं च वस्तु, एवकारस्याप्यर्थत्वात्। सामान्यरूपतया एकात्मकमपि व्यक्तिभेदेनानेकम्—अनेकरूपम्। अथवानेकरूपमपि एकात्मकम्। अन्योऽन्यं संवलितत्वात्। इत्थमपि व्याख्याने न दोषः। तथा च वाचकम्—अभिधायकं, शब्दरूपम्। तदप्यवश्यम्—निश्चितं। द्वयात्मकं—सामान्यविशेषोभयात्मकत्वाद् एकानेकात्मकमित्यर्थः। उभयत्र वाच्यलिङ्गत्वेऽप्यव्यक्तत्वाद् नपुंसकत्वम्। अवश्यमिति पदं वाच्यवाचकयोरुभयोरप्येकानेकात्मकत्वं निश्चिन्वत् तदेकान्तं व्यवच्छिनत्ति। अतः—उपदर्शितप्रकारात्, अन्यथा—सामान्यविशेषैकान्तरूपेण प्रकारेण, वाचकवाच्यक्लृप्तौ वाच्यवाचकभावकल्पनायाम्, अतावकानाम्—अत्वदीयानाम्, अन्ययूथ्यानाम्। प्रतिभाप्रमादः—प्रज्ञास्खलितम्। इत्यक्षरार्थः। अत्र चाल्पस्वरत्वेन वाच्यपदस्य प्रागूनिपाते प्राप्तेऽपि यदादौ वाचकग्रहणं, तत्प्रायोऽर्थप्रतिपादनस्य शब्दाधीनत्वेन वाचकस्यार्च्यत्वज्ञापनार्थम्। तथा च शाब्दिकाः—

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते"[1]॥ इति॥

भावार्थस्त्वेवम्। एके तीर्थिकाः सामान्यरूपमेव वाच्यतयाभ्युपगच्छन्ति। ते च द्रव्यास्तिकनयानुपातिनो **मीमांसकभेदा अद्वैतवादिनः सांख्याश्च**। केचिच्च विशेषरूपमेव वाच्यं निर्वचन्ति। ते च पर्यायास्तिकनयानुसारिणः **सौगताः**। अपरे च परस्परनिरपेक्षपदार्थपृथग्भूतसामान्यविशेषयुक्तं वस्तु वाच्यत्वेन निश्चिन्वते। ते च नैगमनयानुरोधिनः **काणादाः, आक्षपादाश्च**॥

श्लोकार्थ—जिस प्रकार समस्त पदार्थ (वाच्य) अनेक हो कर भी एक हैं, और एक होकर भी अनेक हैं उसी तरह उन पदार्थोंको कहनेवाले शब्द (वाचक) भी एक होकर भी अनेक और अनेक होकर भी एक हैं। इससे भिन्न प्रकारसे आपको न माननेवालों की, वाच्य-वाचक विषयकल्पना में प्रज्ञाका दोष स्पष्ट हो जाता है।

व्याख्यार्थ—जैसे चेतन-अचेतन वस्तु (वाच्य) सामान्यसे एक हो कर भी व्यक्तिरूप से अनेक, और विशेषरूप से अनेक हो कर भी सामान्य से एक हैं, वैसे ही चेतन और अचेतन वस्तु का वाचक भी सामान्य और विशेष होनेसे एक रूप और अनेक रूप है। वाच्य-वाचकको सामान्य-विशेष रूप न स्वीकार करनेवाले अन्यमतावलम्बी प्रज्ञासे स्खलित होते हैं। वाच्य शब्द में अल्प स्वर होनेसे वाच्यका वाचक शब्दसे पहले निपात होना चाहिये था, परन्तु अर्थका प्रतिपादन करना शब्दके आधीन है, यह बतानेके लिये वाचक शब्दको ही पहले रक्खा है। वैयाकरणोंने कहा भी है—

"शब्दके सम्बन्धके बिना लोकमें कोई ज्ञान नहीं होता, सम्पूर्ण ज्ञान शब्दके साथ ही सम्बद्ध है।"

(१) केवल द्रव्यास्तिक नयको माननेवाले **अद्वैतवादी, मीमांसक** और **सांख्य** सामान्यको ही सत् (वाच्य) स्वीकार करते हैं। (२) केवल पर्यायास्तिक नयको माननेवाले **बौद्ध** लोग विशेषको ही सत् मानते हैं। (३) केवल नैगम नयका अनुकरण करनेवाले **न्याय-वैशेषिक** परस्पर भिन्न और निरपेक्ष सामान्य और विशेष दोनोंको स्वीकार करते हैं।

---

१. भर्तृहरिकृतवाक्यपदीये १–१२४।

एतच्च पक्षत्रयमपि किञ्चित् चर्च्यते। तथाहि। संग्रहनयावलम्बिनो वादिनः प्रतिपादयन्ति। सामान्यमेव तत्त्वम्। ततः पृथग्भूतानां विशेषाणामदर्शनात्। तथा सर्वमेकम्। अविशेषेण सदितिज्ञानाभिधानानुवृत्तिलिङ्गानुमितसत्ताकत्वात्। तथा द्रव्यत्वमेव तत्त्वम्। ततोऽर्थान्तरभूतानां धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवद्रव्याणामनुपलब्धेः। किञ्च, ये सामान्यात् पृथग्भूता अन्योऽन्यव्यावृत्त्यात्मका विशेषाः कल्प्यन्ते, तेषु विशेषत्वं विद्यते न वा? नो चेद् निःस्वभावताप्रसङ्गः। स्वरूपस्यैवाभावात्। अस्ति चेत् तर्हि तदेव सामान्यम्। यतः समानानां भावः सामान्यम्। विशेषरूपतया च सर्वेषां तेषामविशेषेण प्रतीतिः सिद्धैव॥

अपि च विशेषाणां व्यावृत्तिप्रत्ययहेतुत्वं लक्षणम्। व्यावृत्तिप्रत्यय एव विचार्यमाणो न घटते। व्यावृत्तिर्हि विवक्षितपदार्थे इतरपदार्थप्रतिषेधः। विवक्षितपदार्थश्च स्वस्वरूपव्यवस्थापनमात्रपर्यवसायी, कथं पदार्थान्तरप्रतिषेधे प्रगल्भते। न च स्वरूपसत्त्वादन्यत् तत्र किमपि, येन तन्निषेधः प्रवर्तते। न च व्यावृत्तौ क्रियमाणायां स्वात्मव्यतिरिक्ता विश्वत्रयवर्तिनोऽतीतवर्तमानानागताः पदार्थास्तस्माद् व्यावर्तनीयाः। ते च नाज्ञातस्वरूपा व्यावर्तयितुं शक्याः। ततश्चैकस्यापि विशेषस्य परिज्ञाने प्रमातुः सर्वज्ञत्वं स्यात्। न चैतत्प्रातीतिकं यौक्तिकं वा। व्यावृत्तिस्तु निषेधः। स चाभावरूपत्वात् तुच्छः कथं प्रतीतिगोचरमञ्चति खपुष्पवत्॥

तथा येभ्यो व्यावृत्तिः ते सद्रूपा असद्रूपा वा? असद्रूपाश्चेत् तर्हि खरविषाणात् किं न व्यावृत्तिः। सद्रूपाश्चेत् सामान्यमेव। या चेयं व्यावृत्तिर्विशेषैः क्रियते सा सर्वासु

इन तीनों पक्षोंकी यहाँ कुछ चर्चा की जाती है : (१) संग्रहनयको स्वीकार करनेवाले अद्वैतवादी–मीमांसक–सांख्य : सामान्य ही एक तत्त्व है, सामान्यसे भिन्न विशेष दृष्टिगोचर नहीं होते। सब पदार्थोंका सामान्य रीतिसे ज्ञान होता है, और सब पदार्थ 'सत्' कहे जाते हैं, अतएव समस्त पदार्थ एक हैं। अतएव द्रव्यत्व ही एक तत्त्व है, क्योंकि द्रव्यत्वको छोड़ कर धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव नहीं पाये जाते। तथा, सामान्यसे भिन्न और एक दूसरेकी व्यावृत्ति रूप 'विशेष' स्वीकार करनेवाले वादियोंसे हम पूछते हैं कि विशेषोंमें विशेषत्व रहता है, या नहीं? यदि विशेषोंमें विशेषत्व नहीं रहता तो इसका अर्थ यह हुआ कि विशेष निस्वभाव हैं, क्योंकि विशेषोंमें निजस्वरूप विशेषत्व नहीं रहता। यदि विशेषोंमें विशेषत्व रहता है, तो इसी विशेषत्वको हम सामान्य कहते हैं। क्योंकि समानके भावको ही सामान्य कहा है, और विशेषरूपत्वसे इन सभी भावोंकी समान रूपसे होनेवाली प्रतीति सिद्ध ही है।

तथा, विवक्षित पदार्थमें दूसरे पदार्थके निषेध करनेको व्यावृत्ति कहते हैं, इसी व्यावृत्ति प्रत्ययके हेतुको विशेष माना गया है (जैसे घटमें पटके निषेध करनेसे घटकी पटसे व्यावृत्ति होती है)। परन्तु यह विवक्षित पदार्थ (घट) अपने स्वरूपको ही सिद्ध कर सकता है, दूसरे पदार्थोंका निषेध नहीं कर सकता। स्वरूपके अस्तित्वको छोड़कर और कोई भी चीज़ नहीं है जिससे कि अन्य पदार्थोंके निषेधकी आवश्यकता हो। यदि विवक्षित पदार्थ दूसरे पदार्थोंके निषेध करनेमें भी समर्थ हो, तो उसे आत्मस्वरूप से भिन्न तीनों लोकोंके भूत, भविष्य, वर्तमान पदार्थोंसे भी अपनी व्यावृत्ति करनी चाहिये। और जब तक तीनों लोकोंके भूत, भविष्य, और वर्तमान पदार्थोंका ज्ञान न हो, उस समय तक इन पदार्थोंकी व्यावृत्ति नहीं की जा सकती। इसलिये एक विशेषके ज्ञान करनेमें तीनों लोकोंके समस्त पदार्थोंसे उसकी व्यावृत्ति करनेके लिये प्रमाताको सर्वज्ञ होना पड़ेगा। यह न तो अनुभवसिद्ध है, और न युक्तिसे ही सिद्ध है। तथा, निषेधको ही व्यावृत्ति कहा गया है; यह व्यावृत्ति अभाव रूप होनेसे तुच्छ है, इसलिये आकाश-कुसुमकी तरह विश्वास योग्य नहीं है।

तथा, जिन पदार्थोंसे दूसरे पदार्थोंकी व्यावृत्ति की जाती है, वे पदार्थ सत् हैं, या असत्? यदि असत् हैं, तो असत् खरविषाणसे भी घटकी व्यावृत्ति की जानी चाहिये। यदि व्यावृत्त पदार्थोंको सत् मानो तो फिर

विशेषव्यक्तिष्वेका अनेका वा ? अनेका चेत् तस्या अपि विशेषत्वापत्तिः, अनेकरूपत्वैकजीवितत्वाद् विशेषाणाम्। ततश्च तस्या अपि विशेषत्वान्यथानुपपत्तेर्व्यावृत्त्या भाव्यम्। व्यावृत्तेरपि च व्यावृत्तौ विशेषाणामभाव एव स्यात्। तत्स्वरूपभूताया व्यावृत्तेः प्रतिषिद्धत्वात्; अनवस्थापाताच्च। एका चेत् सामान्यमेव संज्ञान्तरेण प्रतिपन्नं स्यात्। अनुवृत्तिप्रत्ययलक्षणाव्यभिचारात्। किञ्च, अमी विशेषाः सामान्याद् भिन्ना अभिन्ना वा ? भिन्नाश्चेद् मण्डूकजटाभारानुकाराः। अभिन्नाश्चेत् तदेव तत्स्वरूपवत्। इति सामान्यैकान्तवादः॥

पर्यायनयान्वयिनस्तु भाषन्ते। विविक्ताः क्षणक्षयिणो विशेषा एव परमार्थः। ततो विष्वग्भूतस्य सामान्यस्याप्रतीयमानत्वात्। न हि गवादिव्यक्त्यनुभवकाले वर्णसंस्थानात्मकं व्यक्तिरूपमपहाय, अन्यत्किञ्चिदेकमनुयायि प्रत्यक्षे प्रतिभासते। तादृशस्यानुभवाभावात्। तथा च पठन्ति—

"एतासु पञ्चस्ववभासनीषु प्रत्यक्षबोधे स्फुटमङ्गुलीषु।
साधारणं रूपमवेक्षते यः शृङ्गं शिरस्यात्मन ईक्षते सः"[1]॥

एकाकारपरामर्शप्रत्ययस्तु स्वहेतुदत्तशक्तिभ्यो व्यक्तिभ्य एवोत्पद्यते। इति न तेन सामान्यसाधनं न्याय्यम्॥

किञ्च, यदिदं सामान्यं परिकल्प्यते तदेकमनेकं वा ? एकमपि सर्वगतमसर्वगतं वा ? सर्वगतं चेत्, किं न व्यक्त्यन्तरालेपूपलभ्यते। सर्वगतैकत्वाभ्युपगमे च तस्य यथा गोत्व-

---

उन पदार्थोंको सामान्य ही कहना चाहिये। तथा, विशेषोंके द्वारा की हुई व्यावृत्ति सब विशेषोंमें एक ही व्यावृत्ति होती है, अथवा सबमें अलग-अलग ? यदि व्यावृत्ति अनेक हैं, तो व्यावृत्तिको भी विशेष मानना चाहिये, क्योंकि अनेक रूपको ही विशेष कहते हैं। अतएव व्यावृत्तिके विशेष सिद्ध होने पर व्यावृत्तिमें भी व्यावृत्ति होनी चाहिये, क्योंकि विशेषकी व्यावृत्तिके साथ अन्यथानुपत्ति है। तथा, व्यावृत्तिमें व्यावृत्ति माननेपर, व्यावृत्ति व्यावृत्ति रूप सिद्ध नहीं हो सकती, अतएव विशेषोंका अभाव मानना होगा, और इस प्रकारकी व्यावृत्ति प्रतिषिद्ध है। तथा, एक व्यावृत्तिमें अनेक व्यावृत्ति माननेसे अनवस्था दोष आता है। यदि सब विशेषोंमें एक ही व्यावृत्ति स्वीकार करो, तो उसे सामान्य ही मानना चाहिये; क्योंकि अनुवृति प्रत्ययसे विरोध नहीं आता। तथा, ये विशेष सामान्यसे भिन्न हैं, या अभिन्न ? विशेषोंको सामान्यसे भिन्न मानना मण्डूकके जटाभारका ही अनुकरण करना है। यदि विशेष सामान्यसे अभिन्न हैं, तो उन्हें सामान्य ही कहना होगा। अतएव सामान्य एकान्त वाद मानना ही उचित है।

(२) पर्यायास्तिक नयको स्वीकार करने वाले बौद्ध : भिन्न और क्षण-क्षणमें नष्ट होनेवाले विशेष ही तत्त्व हैं, क्योंकि विशेषको छोड़ कर सामान्य कोई अलग वस्तु नहीं है। गौको जानते समय हमें गौके वर्ण, आकार आदिके विशेष ज्ञानको छोड़ कर गौका केवल सामान्य ज्ञान नहीं होता है। क्योंकि विशेष ज्ञानको छोड़ कर किसी पदार्थका सामान्य ज्ञान हमारे अनुभवके बाह्य है। कहा भी है—

"जो पुरुष प्रत्यक्षसे स्पष्ट अलग-अलग दिखाई देनेवाली पाँच उँगलियोंमें केवल सामान्य रूपको देखता है, वह पुरुष अपने सिरपर सींग ही देखता है, अतएव पदार्थोंके विशेष ज्ञानको छोड़ कर पदार्थोंका केवल सामान्य ज्ञान होना असम्भव है।"

तथा, एकरूप ज्ञान अपने कारणोंसे उत्पन्न होनेवाले व्यक्तियोंसे ही उत्पन्न होता है। अतएव सामान्य की सिद्धि न्यायसंगत नहीं।

तथा, सामान्य एक है, या अनेक ? यदि सामान्य एक है तो वह व्यापक है, या अव्यापक ? यदि सामान्य व्यापक है, तो वह दो व्यक्तियों (गौओं) के बीचमें क्यों नहीं रहता ? तथा, सामान्यको सर्वगत

---

१. अशोकविरचितसामान्यदूषणदिक्प्रन्थे।

सामान्यं गोव्यक्तीः क्रोडीकरोति, एवं किं न घटपटादिव्यक्तीरपि, अविशेषात्। असर्वगतं चेद् विशेषरूपापत्तिः अभ्युपगमबाधश्च ॥

अथानेकं गोत्वाश्वत्वघटत्वपटत्वादिभेदाभिन्नत्वात् तर्हि विशेषा एव स्वीकृताः। अन्योन्यव्यावृत्तिहेतुत्वात्। न हि यद्गोत्वं तदश्वत्वात्मकमिति। अर्थक्रियाकारित्वं च वस्तुनो लक्षणम्। तच्च विशेषेष्वेव स्फुटं प्रतीयते। न हि सामान्येन काचिदर्थक्रिया क्रियते। तस्य निष्क्रियत्वात्। वाहदोहादिकास्वर्थक्रियासु विशेषाणामेवोपयोगात्। तथेदं सामान्यं विशेषेभ्यो भिन्नमभिन्नं वा ? भिन्नं चेद् अवस्तु। विशेषविश्लेषेणार्थक्रियाकारित्वाभावात्। अभिन्नं चेद् विशेषा एव, तत्स्वरूपवत्। इति विशेषैकान्तवादः ॥

नैगमनयानुगामिनस्त्वाहुः। स्वतन्त्रौ सामान्यविशेषौ। तथैव प्रमाणेन प्रतीतत्वात्। तथाहि। सामान्यविशेषावत्यन्तभिन्नौ, विरुद्धधर्माध्यासितत्वात्। यावेवं तावेवं, यथा पाथःपावकौ, तथा चैतौ, तस्मात् तथा। सामान्यं हि गोत्वादि सर्वगतम्। तद्विपरीताश्च शबलशावलेयादयो विशेषाः। ततः कथमेषामैक्यं युक्तम् ॥

न सामान्यात् पृथग्विशेषस्योपलम्भ इति चेत्, कथं तर्हि तस्योपलम्भ इति वाच्यम्। सामान्यव्याप्तस्येति चेद्, न तर्हि स विशेषोपलम्भः। सामान्यस्यापि तेन ग्रहणात् ततश्च तेन बोधेन विविक्तविशेषग्रहणाभावात् तद्वाचकं ध्वनिं तत्साध्यं च व्यवहारं न प्रवर्तयेत् प्रमाता। न चैतदस्ति। विशेषाभिधानव्यवहारयोः प्रवृत्तिदर्शनात्। तस्माद् विशेषमभिलषता तस्य च

और एक माननेपर जैसे गोत्व सामान्य गौओंमें रहता है, वैसे ही वह घट, पट आदिमें भी रहना चाहिये; क्योंकि सामान्य एक है। यदि सामान्यको अव्यापक मानो तो वह विशेषरूप हो जायेगा और आपकी मान्यतामें बाधा उपस्थित होगी।

यदि कहो कि सामान्य गोत्व, अश्वत्व, घटत्व, पटत्व आदिके भेदसे अनेक प्रकारका है, तो इससे एक दूसरेकी व्यावृत्ति करनेवाला विशेष ही सिद्ध होता है। क्योंकि गोत्व और अश्वत्वके भिन्न-भिन्न होनेसे गोत्वकी अश्वत्वसे व्यावृत्ति होती है। तथा, अर्थक्रियाकारित्व वस्तुका लक्षण है। यह लक्षण विशेषमें ही स्पष्ट घटता है, क्योंकि सामान्य निष्क्रिय होनेसे अर्थक्रिया नहीं कर सकता। तथा, वाहन (खेंचना) दोहन (दुहना) आदि अर्थक्रियाओंमें भी अश्वत्व, गोत्व आदि सामान्य उपयोगी नहीं होते, बल्कि खींचने, दुहने आदिके समय विशेषरूप अश्व और गोसे ही हमारा प्रयोजन सिद्ध होता है। तथा, यह सामान्य विशेषोंसे भिन्न है, या अभिन्न ? यदि सामान्य विशेषोंसे भिन्न है तो सामान्य कोई पदार्थ हो नहीं ठहरता; क्योंकि विशेषसे भिन्न हो कर इसमें अर्थक्रिया नहीं हो सकती। यदि सामान्य विशेषसे अभिन्न है तो उसे विशेष ही मानना चाहिये, क्योंकि वह इसीका रूप है। अतएव विशेष एकान्तवाद मानना ही उचित है।

(३) नैगम नय को स्वीकार करनेवाले न्याय-वैशेषिक : सामान्य और विशेष स्वतन्त्र हैं, क्योंकि प्रमाणके द्वारा वे ऐसे ही प्रतीत होते हैं। तथाहि : 'सामान्य और विशेष अत्यन्त भिन्न हैं, क्योंकि वे विरोधी धर्मोंसे युक्त हैं; जो विरोधी धर्मोंसे युक्त होते हैं वे अत्यन्त भिन्न होते हैं, जैसे जल और अग्नि। ये सामान्य और विशेष विरोधी धर्मोंसे युक्त हैं, अतः अत्यन्त भिन्न हैं'। गोत्व आदि सामान्य सर्वव्यापक है, और शबल शावलेय आदि विशेष उसके विपरीत हैं, अतएव दोनोंका एकत्व कैसे सम्भव है ?

यदि कहो कि सामान्यसे पृथक् रूप में विशेषका ज्ञान नहीं होता तो कहिये कि विशेषका ज्ञान फिर कैसे होता है ? यदि कहो कि सामान्यसे व्याप्त विशेषका ज्ञान होता है, तो इसका मतलब हुआ कि विशेषका ज्ञान नहीं होता, क्योंकि उस सामान्यसे व्याप्त विशेषके ज्ञानसे सामान्यका भी ज्ञान होता है और इसलिए उस सामान्यसे व्याप्त विशेषके ज्ञानसे सामान्यके कारण भिन्न विशेषका ज्ञान न होनेके कारण प्रमाता, विशेषके वाचक शब्द तथा विशेषके द्वारा किये जानेवाला व्यवहार न कर सकेगा। किन्तु विशेष वाचक शब्दका और विशेषके

व्यवहारं प्रवर्तयता तद्ग्राहको बोधो विविक्तोऽभ्युपगन्तव्यः। एवं सामान्यस्थाने विशेषशब्दं, विशेषस्थाने च सामान्यशब्दं प्रयुञ्जानेन सामान्येऽपि तद्ग्राहको बोधो विविक्तोऽङ्गीकर्तव्यः। तस्मात् स्वस्वग्राहिणि ज्ञाने पृथक्प्रतिभासमानत्वाद् द्वावपीतरेतरविशकलितौ। ततो न सामान्यविशेषात्मकत्वं वस्तुनो घटते। इति स्वतन्त्रसामान्यविशेषवादः॥

तदेतत् पक्षत्रयमपि न क्षमते क्षोदम्। प्रमाणबाधितत्वात्। सामान्यविशेषोभयात्मकस्यैव वस्तुनो निर्विगानमनुभूयमानत्वात्। वस्तुनो हि लक्षणम् अर्थक्रियाकारित्वम्। तच्चानेकान्तवादे एवाविकलं कलयन्ति परीक्षकाः। तथाहि। यथा गौरित्युक्ते खुरककुत्सास्नालाङ्गूलविषाणाद्यवयवसम्पन्नं वस्तुरूपं सर्वव्यक्त्यनुयायि प्रतीयते, तथा महिष्यादिव्यावृत्तिरपि प्रतीयते॥

यत्रापि च शबला गौरित्युच्यते, तत्रापि यथा विशेषप्रतिभासः तथा गोत्वप्रतिभासोऽपि स्फुट एव। शबलेति केवलविशेषोच्चारणेऽपि, अर्थात् प्रकरणाद् वा गोत्वमनुवर्तते। अपि च, शबलत्वमपि नानारूपम्, तथा दर्शनात्। ततो वक्त्रा शबलेत्युक्ते क्रोडीकृतसकलशबलसामान्यं विवक्षितगोव्यक्तिगतमेव शबलत्वं व्यवस्थाप्यते। तदेवमाबालगोपालं प्रतीतिप्रसिद्धेऽपि वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वे तदुभयैकान्तवादः प्रलापमात्रम्। न हि क्वचित् कदाचित् केनचित् सामान्यं विशेषविनाकृतमनुभूयते, विशेषा वा तद्विनाकृताः। केवलं

द्वारा किये जानेवाले व्यवहारका अभाव तो है नहीं; क्योंकि विशेष शब्दकी और विशेषके द्वारा किये जानेवाले व्यवहारकी प्रवृत्ति देखी जाती है। अतएव विशेषकी अभिलाषा करनेवालेको और विशेषसाध्य व्यवहारकी प्रवृत्ति करनेवालेको सामान्य ज्ञानसे भिन्न विशेषको जाननेवाले ज्ञानको स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार सामान्यके वाचक शब्दके स्थानमें विशेषके वाचक शब्दका, और विशेषके वाचक शब्दके स्थानमें सामान्यके वाचक शब्दका प्रयोग करनेवालेको, सामान्यके विषयमें भी विशेषके ज्ञानसे भिन्न सामान्यके ज्ञानको स्वीकार करना चाहिए। अतएव सामान्यको जाननेवाले ज्ञानमें और विशेषको जाननेवाले ज्ञानमें पृथक् रूपसे प्रतिभासित होनेके कारण सामान्य और विशेष दोनों ही एक दूसरेसे भिन्न सिद्ध होते हैं। अतएव पदार्थका सामान्य-विशेषात्मक रूप घटित नहीं होता। इसलिए स्वतन्त्र सामान्य और स्वतन्त्र विशेषवाद ही ठीक है।

जैन—(१) उक्त तीनों पक्ष प्रमाणसे बाधित होनेसे परीक्षाकी कसौटी पर ठीक नहीं उतरते। क्योंकि सामान्य-विशेष रूप पदार्थ ही निर्दोष रूपसे अनुभवमें आते हैं। वस्तुका लक्षण अर्थक्रियाकारित्व है और यह लक्षण अनेकान्तवादमें ही ठीक-ठीक घटित हो सकता है। गौके कहनेपर जिस प्रकार खुर, ककुद्, सास्ना, पूँछ, सींग आदि अवयवोंवाले गो पदार्थका स्वरूप सभी गो व्यक्तियोंमें पाया जाता है, उसी प्रकार भैंस आदिकी व्यावृत्ति भी प्रतीत होती है। अतएव एकान्त सामान्यको न मान कर पदार्थोंको सामान्य-विशेष रूप ही मानना चाहिये।

(२) जहाँ 'शबला गो' कहा जाता है, वहाँ जिस प्रकार विशेषका ज्ञान होता है, उसी प्रकार गोत्व सामान्यका ज्ञान भी स्पष्ट ही है। 'शबला' केवल इस विशेषका उच्चारण करने पर भी अर्थ या प्रकरणकी दृष्टिसे गोत्व सामान्यकी अनुवृत्ति होती है (अर्थात् गोत्व सामान्यका ज्ञान होता है)। तथा, शबलत्व भी अनेक प्रकारका होता है, क्योंकि वैसा देखनेमें आता है। अतएव वक्ताके द्वारा 'शबला' कहा जानेपर, अपनेमें सभी शबल-सामान्यका अन्तर्भाव करनेवाले विवक्षित गोव्यक्तिमें विद्यमान रहनेवाले ही शबलत्वका निश्चय किया जाता है। इस प्रकार वस्तुका सामान्य-विशेषात्मकत्व सभी बाल-गोपालमें अनुभवसिद्ध है, फिर भी सामान्य ही सद्भूत है, विशेष नहीं, और विशेष ही सद्भूत है, सामान्य नहीं, इस प्रकारका ऐकान्तिक कथन प्रलापमात्र है। विशेषोंसे पृथक् किये गये सामान्यका और सामान्यसे पृथक् किये गये विशेषों-

दुर्नयप्रभावितमतिव्यामोहवशादेकमपलप्यान्यतरद् व्यवस्थापयन्ति बालिशाः । सोऽयमन्धगजन्यायः[1] ॥

येऽपि च तदेकान्तपक्षोपनिपातिनः प्रागुक्ता दोषास्तेऽप्यनेकान्तवादप्रचण्डमुद्गरप्रहारजर्जरितत्वाद् नोच्छ्वसितुमपि क्षमाः । स्वतन्त्रसामान्यविशेषवादिनस्त्वेवं प्रतिक्षेप्याः । सामान्यं प्रतिव्यक्ति कथञ्चिद्भिन्नं, कथंञ्चिदभिन्नं, कथञ्चित् तदात्मकत्वाद्, विसदृशपरिणामवत् । यथैव हि काचिद् व्यक्तिरुपलभ्यमानाद् व्यक्त्यन्तराद् विशिष्टा विसदृशपरिणामदर्शनादवतिष्ठते, तथा सदृशपरिणामात्मकसामान्यदर्शनात् समानेति । तेन समानो गौरयम्, सोऽनेन समान इति प्रतीतेः । न चास्य व्यक्तिस्वरूपादभिन्नत्वात् सामान्यरूपताव्याघातः । यतो रूपादीनामपि व्यक्तिस्वरूपादभिन्नत्वमस्ति, न च तेषां गुणरूपताव्याघातः । कथञ्चिद् व्यतिरेकस्तु रूपादीनामिव सदृशपरिणामस्याप्यस्त्येव । पृथग्व्यपदेशादिभाक्त्वात् ॥

विशेषा अपि नैकान्तेन सामान्यात् पृथग्भवितुमर्हन्ति । यतो यदि सामान्यं सर्वगतं सिद्धं भवेत् तदा तेषामसर्वगतत्वेन ततो विरुद्धधर्माध्यासः स्यात् । न च तस्य तत् सिद्धम् । प्रागुक्तयुक्त्या निराकृतत्वात् । सामान्यस्य विशेषाणां च कथञ्चित् परस्पराव्यतिरेकेणैकानेकरूपतया व्यवस्थितत्वात् । विशेषेभ्योऽव्यतिरिक्तत्वाद्धि सामान्यमप्यनेकमिष्यते । सामान्यात् तु विशेषाणामव्यतिरेकात्तेऽप्येकरूपा इति ।

का कहीं पर, किसी कालमें, किसीके द्वारा अनुभव नहीं किया जाता । अज्ञानी पुरुष केवल दुर्नयसे प्रभावित मतिके व्यामोहके कारण सामान्य और विशेष इन दोनोंमेंसे एकका अपलाप दूसरेकी सिद्धि करते हैं । यह अन्धगजन्याय ही है ।

(३) क—सामान्य-एकान्त और विशेष-एकान्त पक्षमें उपस्थित होने वाले पूर्वोक्त दोष भी अनेकान्तवाद रूप प्रचण्ड मुद्गरके प्रहारसे जर्जरित होनेके कारण श्वास लेनेमें भी समर्थ नहीं रह जाते । सामान्य और विशेषको परस्पर भिन्न स्वतन्त्र पदार्थ मानने वालों (वैशेषिक और नैयायिक) का निम्नलिखित रूपसे निराकरण करना चाहिये, 'सामान्य प्रत्येक व्यक्तिसे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है, कथंचित् तदात्मक होनेसे, विसदृश परिणामकी तरह ।' (विसदृश परिणामका जिस प्रकार अपने परिणामाभिभूत प्रत्येक व्यक्तिके साथ कथंचित् तादात्म्य होनेसे, वह प्रत्येक व्यक्तिसे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है, उसी प्रकार सामान्यका प्रत्येक व्यक्तिके साथ कथंचित् तादात्म्य होनेसे, वह प्रत्येक व्यक्तिसे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है) । जैसे किसी व्यक्तिका उपलभ्यमान अन्य व्यक्तिसे विसदृश परिणाम दिखाई देता है, उसी प्रकार वह सदृश परिणामस्वरूप सामान्य दिखाई देनेसे उपलभ्यमान अन्य व्यक्तिके समान (सदृश परिणाम) होता है; क्योंकि 'यह गाय उस गायके समान है', 'वह उसके समान है', इस प्रकारका ज्ञान होता है । व्यक्तिके स्वरूपसे अभिन्न होनेसे सामान्यकी सामान्यरूपतामें विरोध नहीं आता । क्योंकि रूप आदि अर्थ व्यक्ति (विशेष) के स्वरूपसे अभिन्न होने पर भी (रूप आदिके घट आदिसे अभिन्न होने पर भी) उनकी गुणरूपतामें विरोध नहीं आता । तथा, जिस प्रकार सामान्य व्यक्तिके स्वरूपसे कथंचित् भिन्न होता है, उसी प्रकार सदृशपरिणाम व्यक्तिके स्वरूपसे कथंचित् भिन्न है, क्योंकि व्यक्तिस्वरूप और सदृश परिणाम की संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि भिन्न-भिन्न हैं ।

ख—इसी प्रकार विशेष भी एकांत रूपसे सामान्यसे भिन्न होने योग्य नहीं है । क्योंकि यदि सामान्य सर्वव्यापक सिद्ध हो गया तो विशेषके सर्वव्यापक न होनेके कारण उनमें सामान्यसे विरुद्ध धर्मोका अध्यारोप उपस्थित होगा । और सामान्यका सर्वव्यापकत्व सिद्ध नहीं है; इसका हम पहले ही खण्डन कर आये हैं ।

---

१. जन्मान्धैर्दशभिर्यथाक्रमं पदचतुष्टयश्रोत्रद्वयशुण्डादन्तपुच्छरूपा गजावयवाः स्पृष्टाः । ततः तेऽन्धाः स्वस्पृष्टरूपं स्तम्भाद्याकारकं पूर्णतया गजस्वरूपं प्रतिपद्यमानास्तथैव स्थापयन्ति तदितरन्निषेधयन्ति तद्वत् ।

एकत्वं च सामान्यस्य संग्रहनयार्पणात् सर्वत्र विज्ञेयम्। प्रमाणार्पणात् तस्य कथञ्चिद् विरुद्धधर्माध्यासितत्वम्। सदृशपरिणामरूपस्य विसदृशपरिमाणवत् कथञ्चित् प्रतिव्यक्तिभेदात्। एवं चासिद्धं सामान्यविशेषयोः सर्वथाविरुद्धधर्माध्यासितत्वम्। कथञ्चिद्विरुद्धधर्माध्यासितत्वं चेद् विवक्षितम् तदास्मत्कक्षाप्रवेशः। कथञ्चिद् विरुद्धधर्माध्यासस्य कथञ्चिद्भेदाविनाभूतत्वात्। पाथःपावकदृष्टान्तोऽपि साध्यसाधनविकलः। तयोरपि कथञ्चिदेव विरुद्धधर्माध्यासितत्वेन भिन्नत्वेन च स्वीकरणात्। पयस्त्वपावकत्वादिना हि तयोर्विरुद्धधर्माध्यासः, भेदश्च। द्रव्यत्वादिना पुनस्तद्वैपरीत्यमिति। तथा च कथं न सामान्यविशेषात्मकत्वं वस्तुनो घटते इति। ततः सुष्ठूक्तं वाच्यमेकमनेकरूपम् इति ॥

एवं वाचकमपि शब्दाख्यं द्वयात्मकम् सामान्यविशेषात्मकम्। सर्वशब्दव्यक्तिष्वनुयायि शब्दत्वमेकम्। शाङ्खशार्ङ्गतीव्रमन्दोदात्तानुदात्तस्वरितादिविशेषभेदादनेकम्। शब्दस्य हि सामान्यविशेषात्मकत्वं पौद्गलिकत्वाद् व्यक्तमेव। तथाहि। पौद्गलिकः शब्दः, इन्द्रियार्थत्वात्, रूपादिवत् ॥

यच्चास्य पौद्गलिकत्वनिषेधाय स्पर्शशून्याश्रयत्वात्, अतिनिबिडप्रदेशे प्रवेशनिर्गमयोरप्रतिघातात्, पूर्वं पश्चाच्चावयवानुपलब्धेः, सूक्ष्ममूर्तद्रव्यान्तराप्रेरकत्वाद्, गगनगुणत्वात् चेति पञ्चहेतवो यौगैरुपन्यस्ताः, ते हेत्वाभासाः। तथाहि। शब्दपर्यायस्याश्रयो भाषावर्गणा,

---

तथा, सामान्य और विशेषका परस्पर कथंचित् अभेद होनेके कारण सामान्य-विशेष एक रूपसे और अनेक रूपसे व्यवस्थित हैं। विशेषोंसे भिन्न न होनेसे सामान्य भी अनेक रूपसे प्रतिव्यक्तिके भेदरूपसे इष्ट है और सामान्यसे विशेषोंका भेद न होनेसे विशेष भी एक रूपसे इष्ट है।

व्यक्तियोंमें पाया जाने वाला सामान्य संग्रह नयकी विवक्षासे एक रूप होता है। प्रमाणकी विवक्षा (मुख्यता) से सामान्यका कथंचित् विरुद्ध धर्माध्यासितत्व समझना चाहिये। जिस प्रकार विसदृश परिणाम (परिणामाभिभूत) प्रत्येक व्यक्तिसे कथंचित् भिन्न होता है, उसी प्रकार सदृश परिणाम रूप सामान्यका भी प्रत्येक व्यक्तिसे कथंचित् भेद होता है। इस प्रकार सामान्य और विशेषका सर्वथा विरुद्ध धर्मोंसे युक्त होना असिद्ध है। यदि सामान्य विशेषका कथंचित् विरुद्ध धर्मोंसे युक्त होना प्रतिवादीको विवक्षित हो तो यह हमारे ही मतकी स्वीकृति होगी। क्योंकि कथंचित् विरुद्ध धर्मोंसे युक्त होना कथंचित् भेदके साथ अविनाभाव रूप होना है। तथा, जल और अग्निका दृष्टान्त भी साध्यविकल (साध्यमें न रहनेवाला) और साधन-विकल (साधनमें न रहनेवाला) है। क्योंकि उन दोनोंको भी हमने कथंचित् विरुद्ध धर्माध्यासित और कथंचित् भिन्न रूपसे स्वीकार किया है। जलत्व और अग्नित्व आदिसे दोनों विरुद्ध धर्मोंसे युक्त हैं और दोनोंमें भेदका सद्भाव है। तथा, द्रव्यत्व आदिकी अपेक्षा दोनों विरुद्ध धर्मोंसे युक्त नहीं हैं और उनमें भेद भी नहीं है। इस प्रकार वस्तुका सामान्य विशेषात्मकत्व कैसे नहीं सिद्ध होता? अतएव हमने जो कहा है कि वाच्य एक और अनेक दोनों रूप हैं, हमारा यह कथन बिलकुल ठीक है।

इस प्रकार शब्दसंज्ञक वाचक भी सामान्य-विशेष दोनोंसे युक्त है। सभी शब्दरूप व्यक्तियोंमें अन्वित होने वाला शब्दत्व (सामान्य) एक रूप है और वह शब्दत्व शंख, धनुष, तीव्र, मन्द, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदिके शब्दभेदसे अनेक रूप है। तथा, शब्द पौद्गलिक होनेसे सामान्य और विशेष दोनों रूप है। तथाहि : 'शब्द पौद्गलिक है, क्योंकि रूप आदिकी तरह इन्द्रियका विषय है।'

शब्द पुद्गलकी पर्याय नहीं है, इसका निषेध करनेके लिए नैयायिकों और वैशेषिकोंने जो निम्नलिखित हेतु उपस्थित किये हैं, वे हेत्वाभास हैं : (१) स्पर्शसे शून्य पदार्थ उसका आश्रय है;

न पुनराकाशम् । तत्र च स्पर्शो निर्णीयत एव । यथा शब्दाश्रयः स्पर्शवान्, अनुवातप्रतिवातयोर्विप्रकृष्टनिकटशरीरिणोपलभ्यमानानुपलभ्यमानेन्द्रियार्थत्वात् तथाविधगन्धाधारद्रव्यपरमाणुवत् । इति असिद्धः प्रथमः । द्वितीयस्तु गन्धद्रव्येण व्यभिचारादनैकान्तिकः । वर्त्यमानजात्यकस्तूरिकादि गन्धद्रव्यं हि पिहितद्वारापवरकस्यान्तर्विशति बहिश्च निर्याति, न चापौद्गलिकम् । अथ तत्र सूक्ष्मरन्ध्रसंभवाद् नातिनिविडत्वम्, अतस्तत्र तत्प्रवेशनिष्क्रमौ । कथमन्यथोद्घाटितद्वारावस्थायामिव न तदेकार्णवत्वम् । सर्वथा नीरन्ध्रे तु प्रदेशे न तयोः संभवः इति चेत्, तर्हि शब्देऽप्येतत्समानम् इत्यसिद्धो हेतुः । तृतीयस्तु तडिल्लतोल्कादिभिरनैकान्तिकः । चतुर्थोऽपि तथैव । गन्धद्रव्यविशेषसूक्ष्मरजोधूमादिभिर्व्यभिचारात् । न हि गन्धद्रव्यादिकमपि नासायां निविशमानं तद्विवरद्वारदेशोद्भिन्नश्मश्रुप्रेरकं दृश्यते । पञ्चमः पुनः असिद्धः । तथाहि । न गगनगुणः शब्दः, अस्मदादिप्रत्यक्षत्वाद्, रूपादिवत् । इति सिद्धः पौद्गलिकत्वात् सामान्यविशेषात्मकः शब्द इति ॥

---

(२) अत्यन्त सघन प्रदेशमें प्रवेश करते और निकलते हुए नहीं रुकता है; (३) शब्दके पूर्व और पश्चात् उसके अवयव नहीं दिखाई देते; (४) वह सूक्ष्म मूर्त द्रव्योंका प्रेरक नहीं है; तथा (५) शब्द आकाशका गुण है। (१) उक्त हेतुओंमें प्रथम हेतु असिद्ध है। क्योंकि शब्द पर्यायका आश्रय भाषावर्गणा है (सजातीय वस्तुओंके समुदायको वर्गणा कहते हैं, जिन पुद्गल वर्गणाओंसे शब्द बनते हैं, उन्हें भाषावर्गणा कहते हैं), आकाश नहीं । तथा, शब्दका आश्रय यह भाषावर्गणा स्पर्श गुणसे निर्णीत किया जाता है । जैसे, शब्दका आश्रय भाषावर्गणा स्पर्शसे युक्त है; क्योंकि जिस प्रकार गन्धके आश्रित द्रव्यपरमाणु इन्द्रिय (घ्राणेन्द्रिय) का विषय होनेसे, वायुके अनुकूल होनेपर दूर खड़े हुए मनुष्यके पास पहुँच जाते हैं, और वायुके प्रतिकूल होनेपर पास बैठे हुए मनुष्य तक भी नहीं पहुँचते; उसी प्रकार शब्दके आश्रित द्रव्यपरमाणु भी इन्द्रिय (कर्णेन्द्रिय) का विषय होनेसे, वायुके अनुकूल होनेपर दूर देशमें खड़े हुए श्रोताके पास तक पहुँचते हैं, और वायुके प्रतिकूल होनेसे समीपमें बैठे हुए श्रोताके पास तक भी नहीं पहुँचते । अतएव जैसे गन्ध इन्द्रियका विषय होनेसे पौद्गलिक है, वैसे ही शब्द भी इन्द्रियका विषय होनेसे पौद्गलिक है । इसलिए वैशेषिकोंका प्रथम हेतु असिद्ध है। (२) दूसरे हेतुमें गन्ध द्रव्यरूप विपक्षमें रहनेके कारण गन्ध द्रव्यसे व्यभिचार आता है, इसलिए यह हेतु अनैकान्तिक है । वर्तनशील उत्कृष्ट कस्तूरिका आदि गन्ध द्रव्य बन्द द्वारवाले मकानमें प्रवेश करते और निकलते हुए नहीं रुकते फिर भी पौद्गलिक हैं। शंका—बन्द द्वारवाले मकानमें सूक्ष्म रन्ध्रोंका सद्भाव होनेसे उसमें अत्यन्त सघनता नहीं होती, अतः उस मकानमें गन्ध द्रव्यका प्रवेश होता है और उसमेंसे वह बाहर निकलता है । अन्यथा जिसका द्वार खुला हुआ है ऐसे मकानमें, जिस प्रकार गन्ध द्रव्य अखण्ड प्रवाह रूपमें प्रवेश करता है और उसमेंसे बाहर निकलता है, उसी प्रकार उस मकानमें सूक्ष्म रन्ध्रोंका अभाव होनेपर, गन्ध द्रव्य अखण्ड प्रवाहके रूपसे क्यों नहीं प्रवेश करता और बाहर निकल जाता ? सर्वथा रन्ध्र रहित प्रदेशमें गन्ध द्रव्यका निर्गम और प्रवेश संभव नहीं। समाधान—यह ठीक नहीं। क्योंकि शब्दके भी विषयमें भी यही सम्भव है, अतएव दूसरा हेतु भी असिद्ध है । (३) तीसरा हेतु विद्युत् और उल्कापात आदिसे व्यभिचारी है । क्योंकि विद्युत् आदिके अवयव विद्युत्के पहले और पीछे नहीं पाये जाते, फिर भी विद्युत् आदि पौद्गलिक माने जाते हैं। (४) इसी तरह चौथा हेतु भी व्यभिचारी है, क्योंकि विशिष्ट गन्ध द्रव्य, सूक्ष्म रज व धूम आदिके साथ उसका व्यभिचार है—विपक्षभूत गन्धद्रव्य, रज और धूल आदिमें वह रहता है। नासिकामें प्रवेश करनेवाला गन्ध द्रव्य आदि भी नासिकाके विवरद्वारमें फूटी हुई श्मश्रुका प्रेरक वह नहीं देखा जाता । तथा (५) पाँचवाँ हेतु असिद्ध है । शब्द आकाशका गुण नहीं है, क्योंकि वह रूपादिकी तरह हमारी इन्द्रियोंके प्रत्यक्ष है। इसलिए पौद्गलिक होनेसे शब्दको सामान्य और विशेष रूप ही मानना चाहिए ।

न च वाच्यम् आत्मन्यपौद्गलिकेऽपि कथं सामान्यविशेषात्मकत्वं निर्विवादमनुभूयत इति । यतः संसार्यात्मनः प्रतिप्रदेशमनन्तानन्ताकर्मपरमाणुभिः सह वह्नितापितघनकुट्टितनिर्विभागपिण्डीभूतसूचीकलापवल्लोलीभावमापन्नस्य कथञ्चित् पौद्गलिकत्वाभ्यनुज्ञानादिति । यद्यपि स्याद्वादिनां पौद्गलिकमपौद्गलिकं च सर्वं वस्तु सामान्यविशेषात्मकं, तथाप्यपौद्गलिकेषु धर्माधर्माकाशकालेषु तदात्मत्वमर्वाग्दृशां न तथाप्रतीतिविषयमायाति। पौद्गलिकेषु पुनस्तत् साध्यमानं तेषां सुश्रद्धानम्। इत्यप्रस्तुतमपि शब्दस्य पौद्गलिकत्वमत्र सामान्यविशेषात्मकत्वसाधनायोपन्यस्तमिति ॥

अत्रापि नित्यशब्दवादिसंमतः शब्दैकत्वैकान्तः, अनित्यशब्दवाद्यभिमतः शब्दानेकत्वैकान्तश्च प्राग्दर्शितदिशा प्रतिक्षेप्यः। अथवा वाच्यस्य घटादेरर्थस्य सामान्यविशेषात्मकत्वे तद्वाचकस्य ध्वनेरपि तत्त्वम्। शब्दार्थयोः कथञ्चित् तादात्म्याभ्युपगमात्। यदाहुर्भद्रबाहुस्वामिपादाः—

"अभिहाणं अभिहेयाउ होइ भिण्णं अभिण्णं च।
खुरअग्गिमोयगुच्चारणम्मि जम्हा उ वयणसवणाणं ॥ १ ॥

तथा, आत्माके अपौद्गलिक न होनेपर भी उसका सामान्य-विशेष रूपत्व निर्विवाद रूपसे अनुभवमें नहीं आता—ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि जिस प्रकार अग्निमें तपाया हुआ सूइओंका समूह घनसे कूटा जानेपर अविभागी एक पिण्डरूप बन जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक प्रदेशकी अपेक्षा, अनन्तानन्त कर्म परमाणुओंके साथ संश्लिष्ट एकीभावको प्राप्त संसारी आत्माको कथंचित् पौद्गलिक स्वीकार किया गया है। यद्यपि स्याद्वादको माननेवालोंके मतमें पौद्गलिक और अपौद्गलिक सभी वस्तु सामान्य-विशेष रूप हैं, फिर भी अल्पज्ञानी धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन अपौद्गलिक पदार्थोंके सामान्य-विशेषत्वको नहीं समझ सकते; शब्द आदि पौद्गलिक पदार्थोंमें सामान्य-विशेषत्वको अच्छी तरह समझ सकते हैं। अतएव यहाँ शब्दका पौद्गलिक प्रस्तुत न होनेपर भी उसके सामान्य-विशेष रूप सिद्ध करनेके लिये पुद्गलकी पर्याय बताया गया है।

नित्य शब्दवादी मीमांसकोंके मतके अनुसार शब्द सर्वथा एक है, और अनित्य शब्दवादी बौद्धोंके अनुसार शब्द सर्वथा अनेक है—इन दोनों मतोंका उक्त पद्धतिसे खण्डन करना चाहिये। अथवा, वाच्य घटादिके सामान्य-विशेष रूप सिद्ध होनेपर, वाचक शब्दोंको भी सामान्य-विशेष मानना चाहिये। क्योंकि शब्द (वाचक) और अर्थ (वाच्य) का कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध माना गया है। भद्रबाहु स्वामीने भी कहा है—

"वाचक वाच्यसे भिन्न भी है, और अभिन्न भी है। क्षुर (छुरा), अग्नि और मोदक शब्दोंका उच्चारण करते समय बोलनेवालोंके मुख और सुननेवालोंके कान 'क्षुर' से नहीं छिदते, 'अग्नि' से नहीं

१—नायमेकान्तः अमूर्तिरेवात्मेति। कर्मबन्धपर्यायापेक्षया तदावेशात्स्यान्मूर्तः। यद्येवं कर्मबन्धावेशादस्यैकत्वे सत्यविवेकः प्राप्नोति। नैष दोषः। बन्धं प्रत्येकत्वे सत्यपि लक्षणभेदादस्य नानात्वमवसीयते। उक्तं च—

बंधं पडि एयत्तं लक्खणदो हवइ तस्स णाणत्तं। तम्हा अमुत्तिभावो णेयंतो होइ जीवस्स ॥
छाया—बन्धं प्रत्येकत्वे लक्षणतः भवति तस्य नानात्वं। तस्मात् अमूर्तिभावः अनेकान्तं भवति जीवस्य ॥
सर्वार्थसिद्धौ पृ. ८८

नवि छेओ नवि दाहो ण पूरणं तेण भिन्नं तु ।
जम्हा य मोयगुच्चारणम्मि तत्थेव पच्चओ होइ ॥ २ ॥
न य होइ स अन्नत्थे तेण अभिन्नं तदत्थाओ ।"[1]

एतेन—"विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पाः शब्दयोनयः
कार्यकारणता तेषां नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यपि ॥"

इति प्रत्युक्तम् । "अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामधेया"[2] इति वचनात् । शब्दस्य ह्येतदेव तत्त्वं यदभिधेयं याथात्म्येनासौ प्रतिपादयति । स च तत् तथाप्रतिपादयन् वाच्यस्वरूपपरिणामपरिणत एव वक्तुं शक्यः, नान्यथा, अतिप्रसङ्गात् । घटाभिधानकाले पटाद्यभिधानस्यापि प्राप्तेरिति ।

अथवा भङ्ग्यन्तरेण सकलं काव्यमिदं व्याख्यायते । वाच्यं वस्तु घटादिकम् । एकात्मकमेव एकस्वरूपमपि सत्, अनेकम् अनेकस्वरूपम् । अयमर्थः । प्रमाता तावत् प्रमेयस्वरूपं लक्षणेन निश्चिनोति । तच्च सजातीयविजातीयव्यवच्छेदादात्मलाभं लभते । यथा घटस्य सजातीया मृन्मयपदार्थाः, विजातीयाश्च पटादयः । तेषां व्यवच्छेदस्तल्लक्षणम् । पृथुबुध्नोदराद्या-

---

जलते, और 'मोदक' से नहीं भर आते, अतएव वाचकसे वाच्य भिन्न है । तथा 'मोदक' शब्दसे मोदकका ही ज्ञान होता है, अग्निका नहीं, इसलिये वाचक (शब्द) और वाच्य (अर्थ) अभिन्न हैं ।"

इस कथनसे—

"विकल्पसे शब्द उत्पन्न होते हैं, और शब्दसे विकल्प उत्पन्न होते हैं, अतएव शब्द और विकल्प दोनोंमें कार्य-कारण संबंध हैं, परन्तु शब्द अपने अर्थसे भिन्न हैं (अतएव दोनों एक दूसरेसे भिन्न हैं)।"—

यह कथन भी खंडित हो जाता है। क्योंकि "अर्थ, अभिधान और प्रत्यय ये पर्यायवाची शब्द हैं", ऐसा कहा गया है । जब शब्द वाच्यार्थका यथार्थरूपसे प्रतिपादन करता है, तब वाच्यार्थका यथार्थरूपसे प्रतिपादन करना ही शब्दका स्वरूप है । वाच्यार्थका यथार्थरूपसे प्रतिपादन करनेवाले शब्दका, वाच्यका स्वरूप जिसमें अन्तर्निहित है ऐसे अपने परिणामके स्वरूपसे परिणत होनेपर ही उच्चारण करना शक्य है (जैसे घटके यथार्थ स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाला शब्द वाच्यभूत घटके स्वरूपका ज्ञान होनेके अनन्तर वाच्यके स्वरूपसे युक्त अपने घट स्वरूप शब्दके परिणामरूपसे परिणत होनेपर ही घट शब्दका उच्चारण शक्य है), अन्यथा नहीं । क्योंकि घट शब्दके उच्चारण कालमें पट आदि शब्दोंका उच्चारण होनेसे अतिप्रसंग उपस्थित होता है ।

अथवा, दूसरी तरहसे श्लोकका अर्थ किया जा सकता है । वाच्य घट आदि एक रूप होकर भी अनेक रूप हैं । भाव यह है कि प्रमाता प्रमेयभूत पदार्थके स्वरूपका उसके लक्षण द्वारा उसका निश्चय करता है । सजातीय और विजातीय पदार्थोंका व्यवच्छेद करनेसे लक्षण अस्तित्वरूपको प्राप्त करता है । उदाहरणके लिए, मिट्टीसे बने पदार्थ घटके सजातीय और पट आदि पदार्थ विजातीय होते हैं । इन सजातीय और विजा-

---

१. छाया—अभिधानमभिधेयाद् भवति भिन्नमभिन्नं च ।
क्षुराऽग्निमोदकोच्चारणे यस्मात् तु वदनश्रवणयोः ॥
नाऽपि च्छेदो नापि दाहो न पूरणं तेन भिन्नं तु ।
यस्माच्च मोदकोच्चारेण तत्रैव प्रत्ययो भवति ॥
न च भवति अन्यार्थे तेनाऽभिन्नं तदर्थात् ।

२. बाह्यः पृथुबुध्नोदराकारोऽर्थोऽपि घट इति व्यपदिश्यते । तद्वाचकमभिधानं घट इति । तद्ज्ञानरूपः प्रत्ययोऽपि घट इति । तथा च लोके वक्तारो भवन्ति । किमिदं पुरो दृश्यते घटः । किमसौ वक्ति घटं । किमस्य चेतसि स्फुरति घटः ।

कारः कम्बुग्रीवो जलधारणाहरणादिक्रियासमर्थः पदार्थविशेषो घट इत्युच्यते। तेषां च सजातीयविजातीयानां स्वरूपं तत्र बुद्धया आरोप्य व्यवच्छिद्यते। अन्यथा प्रतिनियततत्स्वरूपपरिच्छेदानुपपत्तेः। सर्वभावानां हि भावाभावात्मकं स्वरूपम्। एकान्तभावात्मकत्वे वस्तुनो वैश्वरूप्यं स्यात्। एकान्ताभावात्मकत्वे च निःस्वभावता स्यात्। तस्मात् स्वरूपेण सत्त्वात् पररूपेण चासत्त्वाद् भावाभावात्मकं वस्तु। यदाह—

"सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च।
अन्यथा सर्वसत्त्वं स्यात् स्वरूपस्याप्यसंभवः॥"

ततश्चैकस्मिन् घटे सर्वेषां घटव्यतिरिक्तपदार्थानामभावरूपेण वृत्तेरनेकात्मकत्वं घटस्य सूपपादम्। एवं चैकस्मिन्नर्थे ज्ञाते सर्वेषामर्थानां ज्ञानम्। सर्वपदार्थपरिच्छेदमन्तरेण तन्निषेधात्मन एकस्य वस्तुनो विविक्ततया परिच्छेदासंभवात्। आगमोऽप्येवमेव व्यवस्थितः—

"जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ।
जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ॥"

तथा—"एको भावः सर्वथा येन दृष्टः
सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टाः
एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः॥"

तीय पदार्थोंका व्यवच्छेद ही घटका लक्षण है। सजातीय और विजातीय पदार्थोंकी व्यावृत्ति हो जानेपर ही बड़े, मोटे उदरवाले, शंखकी ग्रीवाके सदृश ग्रीवावाले और जलके रखने और लाने आदि क्रियामें समर्थ विशिष्ट पदार्थ घट कहा जाता है। इन मृत्तिकोपादानक परिणाम होनेसे सजातीय और पटादिरूप विजातीय पदार्थोंके स्वरूपको बुद्धि द्वारा घटमें आरोपित कर उसका व्यवच्छेद किया जाता है; क्योंकि यदि घटका ज्ञान करते समय सजातीय और विजातीय पदार्थोंकी व्यावृत्ति न की जाय, तो घटके निश्चित रूपका ज्ञान नहीं हो सकता। समस्त पदार्थ भाव और अभाव रूप होते हैं। पदार्थको यदि एकान्तरूपसे, स्वचतुष्टयकी अपेक्षा, अस्तिरूप ही माना जाये—परचतुष्टयकी अपेक्षा नास्तिरूप न माना जाये—तो पदार्थ परचतुष्टयकी अपेक्षासे भी अस्तिरूप हो जानेसे अनेक रूप हो जायेगा। यदि उसे एकान्तरूपसे अभावात्मक माना जाय—स्वरूप चतुष्टय और पररूप चतुष्टयकी अपेक्षासे भी नास्तिरूप माना जाये—तो वह स्वभावशून्य हो जायेगा। अतएव प्रत्येक पदार्थ स्वरूपकी अपेक्षा सत्, और पररूपकी अपेक्षा असत् होनेके कारण भाव-अभाव रूप है। कहा भी है—

"सभी पदार्थ स्वरूपकी दृष्टिसे विद्यमान हैं, पररूपकी दृष्टिसे विद्यमान नहीं है। यदि पदार्थ स्वरूपसे अस्तिरूप और पररूपसे नास्तिरूप न हो—प्रत्येक पदार्थमें स्वरूपका अभाव और पररूपका सद्भाव माना जाये—तो सभी पदार्थ सत् मात्र रूपसे एक हो जायेंगे और पदार्थोंके स्वरूपका अस्तित्व नहीं रह जायेगा।"

इससे एक घटमें घटभिन्न सभी पदार्थोंकी अभावरूपसे विद्यमानता होनेसे घटका अनेकात्मकत्व (अस्तिनास्तिरूपत्वादि) सुसिद्ध किया जा सकता है। इस प्रकार एक पदार्थके जाननेसे सब पदार्थोंका ज्ञान होता है, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थोंके विना जाने, सर्व पदार्थ निषेधयुक्त एक पदार्थको अन्य सभी पदार्थोंसे भिन्न रूपसे जानना असंभव हो जाता है। आगममें भी कहा है—

"जो एकको जानता है, वह सबको जानता है, जो सबको जानता है, वह एकको जानता है।"

तथा—

"जिसने एक पदार्थको सम्पूर्ण रीतिसे जान लिया है, उसने सब पदार्थोंको सब प्रकारसे जान लिया है। जिसने सब पदार्थोंको सब प्रकारसे जान लिया है, उसने एक पदार्थको सब प्रकारसे जान लिया है।"

ये तु सौगताः परासत्त्वं नाङ्गीकुर्वते, तेषां घटादेः सर्वात्मकत्वप्रसङ्गः। तथाहि। यथा घटस्य स्वरूपादिना सत्त्वं, तथा यदि पररूपादिनापि स्यात्, तथा च सति स्वरूपादिसत्त्ववत् पररूपादिसत्त्वप्रसक्तेः कथं न सर्वात्मकत्वं भवेत्। परासत्त्वेन तु प्रतिनियतोऽसौ सिद्ध्यति। अथ न नाम नास्ति परासत्त्वं, किन्तु स्वसत्त्वमेव तदिति चेद्, अहो वैदग्धी। न खलु यदेव सत्त्वं तदेवासत्त्वं भवितुमर्हति। विधिप्रतिषेधरूपतया विरुद्धधर्माध्यासेनानयोरैक्यायोगात्। अथ युष्मत्पक्षेऽप्येवं विरोधस्तदवस्थ एवेति चेद्, अहो वाचाटता देवानांप्रियस्य। न हि वयं येनैव प्रकारेण सत्त्वं, तेनैवासत्त्वं, येनैव चासत्त्वं, तेनैव सत्त्वमभ्युपेमः। किन्तु स्वरूपद्रव्यक्षेत्रकालभावैः सत्त्वं, पररूपद्रव्यक्षेत्रकालभावैस्त्वसत्त्वम्। तदा क्व विरोधावकाशः॥

यौगास्तु प्रगल्भन्ते सर्वथा पृथग्भूतपरस्पराभावाभ्युपगममात्रेणैव पदार्थप्रतिनियमसिद्धेः, किं तेषामसत्त्वात्मकत्वकल्पनया इति। तदसत्। यदा हि पटाद्यभावरूपो घटो न भवति, तदा घटः पटादिरेव स्यात्। यथा च घटाभावाद् भिन्नत्वाद् घटस्य घटरूपता, तथा पटादेरपि स्यात्, घटाभावाद् भिन्नत्वादेव। इत्यलं विस्तरेण।

जो बौद्ध पररूप चतुष्टयकी अपेक्षासे नास्तित्वको स्वीकार नहीं करते, उनके मतमें घटादिको (घटादिभिन्न) सर्वपदार्थात्मक माननेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार स्वचतुष्टयकी अपेक्षासे घटका अस्तित्व होता है, उसी प्रकार परचतुष्टयकी अपेक्षासे भी यदि घटका अस्तित्व स्वीकार किया जाये, तो ऐसी स्थितिमें जिस प्रकार स्वरूप चतुष्टयकी अपेक्षासे (घटादिका) अस्तित्व होता है, उसी प्रकार परचतुष्टयकी अपेक्षा भी (घटादिका) अस्तित्व स्वीकार करनेका प्रसंग उपस्थित हो जानेसे घटका सर्वपदार्थरूपत्व कैसे सिद्ध न होगा ? अतएव परचतुष्टयकी अपेक्षासे घटके नास्तित्वरूप माननेसे ही निश्चितरूपसे उसकी सिद्धि होती है। यदि कहो कि 'परचतुष्टयकी अपेक्षासे घटका नास्तित्व सिद्ध नहीं होता, ऐसी बात नहीं है; किन्तु स्वचतुष्टयकी अपेक्षासे घटका अस्तित्व ही परचतुष्टयकी अपेक्षासे नास्तित्व है'—तो यह महान् पाडित्य है। वस्तुतः जो अस्तित्व है, वही नास्तित्वरूप नहीं हो सकता। क्योंकि विधि-प्रतिषेधरूप विरुद्धधर्माध्यासित होनेके कारण सत्त्व और असत्त्वकी एकरूपता घटित नहीं होती। यदि कहो कि जैन लोग भी एक ही जगह विधि और प्रतिषेध मानते हैं, तो यह कथन मूर्खजनोंकी वाचालता ही है। क्योंकि हम लोग (जैन) जिस प्रकारसे अस्तित्व मानते हैं, उसी प्रकारसे नास्तित्व नहीं मानते, तथा जिस प्रकारसे नास्तित्व मानते हैं, उसी प्रकारसे अस्तित्व नहीं मानते। हमारी मान्यता है कि प्रत्येक वस्तु अपने रूप, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा सत् है, और पर रूप, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा असत् है, अतएव हमारे मतमें विरोधके लिए कोई स्थान नहीं है।

वैशेषिक—पदार्थका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए पदार्थसे भिन्न अन्योन्याभाव माननेसे काम चल जाता है, इसलिये पदार्थोंको अभावात्मक माननेकी आवश्यकता नहीं है। जैन—यह ठीक नहीं। क्योंकि यदि पदार्थोंको पररूपसे अभावात्मक नहीं मानें, तो पट आदिके अभावको घट नहीं कह सकते, अतएव घटको पट रूप मानना चाहिये। क्योंकि जैसे घटाभावसे भिन्न होनेके कारण घटको घट कहते हैं, वैसे ही पटके घटाभावसे भिन्न होनेके कारण पटको भी घट मानना चाहिये। भाव यह है कि वैशेषिक लोग अन्योन्याभावको पदार्थकी स्थितिमें कारण मानते हैं। यह अन्योन्याभाव स्वयं पदार्थसे जुदा होता है। वैशेषिकोंके अनुसार जहाँ घटका अभाव नहीं होता, वहीं घटका निश्चय होता है। परन्तु यह मान्यता ठीक नहीं, क्योंकि वस्त्र आदि भी घटके अभाव रूप नहीं हैं, इसलिये वस्त्र आदिके घटके अभावसे भिन्न होनेपर वस्त्र आदिमें भी घटका ज्ञान होना चाहिये। जैनसिद्धांतके अनुसार घटको घटके अतिरिक्त सभी पदार्थोंके अभाव रूप स्वीकार किया है, इसलिये घटके वस्त्र आदिके भी अभाव स्वरूप होनेसे घटमें वस्त्रका ज्ञान नहीं हो सकता।

एवं वाचकमपि शब्दरूपं द्वयात्मकम्। एकात्मकमपि सदनेकमित्यर्थः। अर्थोक्तन्यायेन शब्दस्यापि भावाभावात्मकत्वात्। अथवा एकविषयस्यापि वाचकस्यानेकविषयत्वोपपत्तेः। यथा किल घटशब्दः संकेतवशात् पृथुबुध्नोदराद्याकारवति पदार्थे प्रवर्तते वाचकतया, तथा देशकालाद्यपेक्षया तद्वशादेव पदार्थान्तरेष्वपि तथा वर्तमानः केन वार्यते। भवन्ति हि वक्तारो योगिनः शरीरं प्रति घट इति। संकेतानां पुरुषेच्छाधीनतयाऽनियतत्वात्। यथा चौरशब्दोऽन्यत्र तस्करे रूढोऽपि दाक्षिणात्यानामोदने प्रसिद्धः। यथा च कुमारशब्दः पूर्वदेशे आश्विनमासे रूढः। एवं कर्कटीशब्दादयोऽपि तत्तद्देशापेक्षया योन्यादिवाचका ज्ञेयाः। कालापेक्षया पुनर्यथा जैनानां प्रायश्चित्तविधौ धृतिश्रद्धासंहनना[1]दिमति प्राचीनकाले षड्गुरुशब्देन शतमशीत्यधिकमुपवासानामुच्यते स्म, सांप्रतकाले तु तद्विपरीते तेनैव षड्गुरुशब्देन उपवासत्रयमेव सङ्केत्यते, जीतकल्प[2]व्यवहारानुसारात्। शास्त्रापेक्षया तु यथा पुराणेषु द्वादशीशब्देनैकादशी। त्रिपुरार्णवे[3] च अलिशब्देन मदिराभिषक्तम् च मैथुनशब्देन मधुसर्पिषोर्ग्रहणम् इत्यादि।

न चैवं सङ्केतस्यैवार्थप्रत्यायने प्राधान्यम्। स्वाभाविकसामर्थ्यसाचिव्यादेव तत्र तस्य प्रवृत्तेः। सर्वशब्दानां सर्वार्थप्रत्यायनशक्तियुक्तत्वात्। यत्र च देशकालादौ यदर्थप्रतिपादनशक्तिसहकारी संकेतस्तत्र तमर्थं प्रतिपादयति। तथा च निर्जितदुर्जयपरप्रवादाः श्रीदेवसूरिपादाः— "स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यामर्थबोधनिबन्धनं शब्दः।"[4] अत्र शक्तिपदार्थसमर्थनं ग्रन्थान्तरादवसेयम्[5]। अतोऽन्यथेत्यादि उत्तरार्द्धं पूर्ववत्। प्रतिभाप्रमादस्तु तेषां सदसदेकान्ते वाच्यस्य प्रतिनियतार्थविषयत्वे च वाचकस्य उक्तयुक्त्या दोषसद्भावाद् व्यवहारानुपपत्तेः। तदयं समुदायार्थः। सामान्यविशेषात्मकस्य, भावाभावात्मकस्य च वस्तुनः सामान्यविशेषात्मको,

---

वाच्यकी तरह वाचक भी एक होकर भी अनेक है। जैसे अर्थ भाव और अभाव रूप है, वैसे ही शब्द भी भाव और अभाव दोनों रूप है। अथवा, एक विषयका वाचक शब्द अनेक विषयोंका वाचक हो सकता है, इसलिये भी शब्द भाव और अभाव रूप है। जैसे बड़े और मोटे उदरवाले पदार्थमें घट शब्दका व्यवहार होता है, उसी प्रकार देश, काल आदिकी अपेक्षा उसी कारण अन्य पदार्थोंमें भी उसकी विद्यमानता कौन रोक सकता है! योगी लोग शरीरको ही घट कहते हैं। चौर शब्दका साधारण अर्थ चोर होता है, परन्तु दक्षिण जैसे देशमें चौर शब्दका अर्थ चावल होता है; कुमार शब्दका सामान्यसे युवराज अर्थ होनेपर भी पूर्व देशमें इसका अर्थ आश्विन मास किया जाता है; कर्कटी शब्दका प्रसिद्ध अर्थ ककड़ी होनेपर भी कहीं-कहीं इसका अर्थ योनि किया जाता है। तथा, जीतकल्पव्यवहार अनुसार प्रायश्चित्त विधिमें धृति, श्रद्धा और संहननवाले प्राचीन समयमें षड्गुरु शब्दका अर्थ एकसौ अस्सी उपवास किया जाता था, परन्तु आजकल षड्गुरुका अर्थ केवल तीन उपवास किया जाता है। पुराणोंमें उपवासके नियमोंका वर्णन करते समय द्वादशीका अर्थ एकादशी किया जाता है। त्रिपुरार्णवमें अलि शब्द मदिरा, और मधु शब्द शहद और घीके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं।

केवल संकेत मात्रसे अर्थका ज्ञान नहीं होता। स्वाभाविक शक्तिकी मुख्यतासे उनकी प्रवृत्ति होती है। क्योंकि शब्दोंमें ही सब अर्थोंको जनानेकी शक्ति होती है। संकेत केवल देश और काल आदिकी अपेक्षासे शब्दके ही अर्थको जाननेमें सहकारी होता है। परवादियोंको जीतनेवाले श्रीदेवसूरि आचार्यने कहा भी है—"स्वाभाविक शक्ति तथासंकेतसे अर्थके ज्ञान करनेको शब्द कहते हैं।" शब्दकी शक्तिके विषयमें विशेष

---

१. दृढीक्रियन्ते शरीरपुद्गला येन तत्संहननं तच्चास्थिनिचयः। तत्संहननं षट्प्रकारैर्भवति। वज्रऋषभनाराचं, ऋषभनाराचं, नाराचं, अर्धनाराचं, कीलिका, सेवार्तं (छेदस्पृष्टम्)। वज्रऋषभनाराचं, वज्रनाराचं, अर्धनाराचं, कीलिका (कीलितं), असंप्राप्तासृपाटिका इति षट्संहननानि दिगम्बरग्रन्थेषु।

२. जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणकृतो गाथाग्रन्थो जीतकल्पाख्यः। जीतमाचरितं तस्य कल्पो वर्णना प्ररूपणा जीतकल्पः।

३. शाक्तमार्गीयो ग्रन्थः।

४. प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे ४-११।

५. स्याद्वादरत्नाकरे २-१ इत्यादयः।

भावाभावात्मकश्च ध्वनिर्वाचक इति । अन्यथा प्रकारान्तरैः पुनर्वाच्यवाचकभावव्यवस्थामातिष्ठमानानां वादिनां प्रतिभैव प्रमाद्यति, न तु तद्भणितयो युक्तिस्पर्शमात्रमपि सहन्ते ।

कानि तानि वाच्यवाचकभावप्रकारान्तराणि परवादिनामिति चेत्, एते ब्रूमः । अपोह[1] एव शब्दार्थ इत्येके । "अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां न वस्तुविधिनोच्यते"[2] इति वचनात् । अपरे सामान्यमात्रमेव शब्दानां गोचरः । तस्य क्वचित् प्रतिपन्नस्य, एकरूपतया सर्वत्र संकेतविषयतोपपत्तेः । न पुनर्विशेषाः । तेषामानन्त्यतः कार्त्स्न्येनोपलब्धुमशक्यतया तद्विषयतानुपपत्तेः । विधिवादिनस्तु विधिरेव[3] वाक्यार्थः, अप्रवृत्तप्रवर्तनस्वभावत्वात् तस्येत्याचक्षते । विधिरपि तत्तद्वादिविप्रतिपत्त्यानेकप्रकारः ।[4] तथाहि । वाक्यरूपः[5] शब्द एव प्रवर्तकत्वाद् विधिरित्येके । तद्व्यापारो भावनापरपर्यायो[6] विधिरित्यन्ये । नियोग[7] इत्यपरे । प्रैषादर्य[8] इत्येके । तिरस्कृत-

जाननेके लिये स्याद्वादरत्नाकर (२-२) आदि ग्रन्थ देखने चाहिए । अतएव सामान्य-विशेष रूप और भावाभाव रूप वाचक (शब्द) से ही सामान्य-विशेष और भावाभाव रूप वाच्य (अर्थ) का ज्ञान हो सकता है ।

(१) बौद्ध लोग अपोह (इतरव्यावृत्ति—परस्परपरिहार) को ही शब्दार्थ मानते हैं । कहा भी है । "शब्द और लिंगसे अपोह कहा जाता है, वस्तुकी प्रेरणासे नहीं ।" (२) कुछ लोग सामान्य (जाति) को ही शब्दका अर्थ मानते हैं । क्योंकि सामान्यके किसी भी स्थानमें रहनेपर वह सब जगह संकेतसे जाना जा सकता है । विशेष अनंत हैं, इसलिए उनकी एक साथ शब्दसे प्रतीति नहीं हो सकती; अतएव सामान्य ही शब्दका विषय है । (३) विधिवादियोंके अनुसार विधि ही शब्दका अर्थ है, क्योंकि उससे प्रवृत्ति न करनेवाले मनुष्योंकी प्रवृत्ति होती है । (प्रवृत्तिके अनुकूल व्यापारको विधि कहते हैं; विधि, प्रेरणा, प्रवर्तना आदि शब्द एक ही अर्थके द्योतक हैं) । विधि अनेक प्रकारकी है । (सामान्यसे लौकिक और वैदिक विधिके दो भेद हैं । अपूर्व, नियम और परिसंख्याके भेदसे विधि तीन प्रकारकी बतायी गई है । उत्पत्ति, विनियोग, प्रयोग और अधिकार ये अपूर्व विधिके चार भेद हैं) । कोई विधिवादी वाक्यरूप शब्दको विधि कहते हैं । (जैसे 'स्वर्गकी इच्छा रखनेवालेको अग्निहोत्र करना चाहिये') । कोई वाक्यसे उत्पन्न व्यापार (भावना) को विधि कहते हैं । पुरुषकी प्रवृत्तिके अनुकूल प्रवर्तन करनेको व्यापार अथवा भावना कहते हैं । (यह भावना शब्दभावना और अर्थभावनाके भेदसे दो प्रकारकी है । 'स्वर्गकी इच्छा रखनेवालेको यज्ञ करना चाहिये' (यजेत स्वर्गकामः) आदि वाक्योंमें, ईश्वरके स्वीकार न करनेसे लिङ् (विधिरूप) शब्दके व्यापारको शब्दभावना कहते हैं । शब्दके व्यापारसे यज्ञ करनेवाले पुरुषकी प्रवृत्तिको अर्थभावना कहते हैं । भट्टमीमांसक भावनाको मानते हैं) । कोई नियोगको ही विधि मानते हैं । (जिसके द्वारा यज्ञमें नियुक्त हो, उसे नियोग कहते हैं । यह नियोग ग्यारह

१. अतद्व्यावृत्तिः । यथा विज्ञानवादिबौद्धमते नीलत्वादिधर्मोऽनीलव्यावृत्तिरूपः ।

२. दिङ्नागः ।

३. विधिप्रेरणाप्रवर्तनादिशब्दाभिधेयः प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारः ।

४. सामान्यतोऽयं विधिर्द्विविधः लौकिकः वैदिकश्च । प्रकारान्तरेण विधिः त्रिविधः अपूर्वविधिः नियमविधिः संख्याविधिश्च ।

५. यद्वाक्यं विधायकं चोदकं स विधिः यथा 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' ।

६. भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः । यथा यजेतेत्यादौ लिङाद्याख्यातार्थो भावना । भाट्टमते शाब्दीभावना आर्थीभावना चेति द्विविधा भावना । 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादिवैदिकवाक्ये पुरुषाभावात् शब्दनिष्ठत्वादेव शब्दभावना इत्युच्यते । अर्थभावना तु प्रवृत्त्यादिव्यापाररूपा ।

७. नियुक्तोऽहमनेनाग्निष्टोमादिवाक्येनेति निरवशेषो योगः । एकादशधा नियोगः विद्यानन्दिकृतअष्टसहस्र्यां व्याख्यातः पृ. ६ ।

८. न्यक्कारपूर्विका प्रेरणा प्रैषः ।

तदुपाधिप्रवर्तनामात्रमित्यन्ये। एवं फलतदभिलाषकर्मादयोऽपि वाच्याः। एतेषां निराकरणं सपूर्वोत्तरपक्षं न्यायकुमुदचन्द्राद्[1]वसेयम् ॥ इति काव्यार्थः ॥१४॥

इदानीं सांख्याभिमतप्रकृतिपुरुषादितत्त्वानां विरोधावरुद्धत्वं ख्यापयन्, तद्बालिशताविलसितानामपरिमितत्वं दर्शयति—

चिदर्थशून्या च जडा च बुद्धिः शब्दादितन्मात्रजमम्बरादि ।
न बन्धमोक्षौ पुरुषस्य चेति कियज्जडैर्न ग्रथितं विरोधि ॥१५॥

प्रकारका बताया गया है। प्रभाकर लोग नियोगवादी हैं। भट्टमीमांसक नियोगवादका खंडन करते हैं।) कोई प्रेरणा आदिको, और कोई तिरस्कार पूर्वक प्रेरणा करनेको ही विधि मानते हैं। इसी तरह विधिके फल, अभिलाषा और कर्म आदि भी विधिवादियोंने भिन्न भिन्न स्वीकार किये हैं। इन सब मतोंका निरूपण और उनका खंडन प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्रोदय नामक ग्रन्थमें देखना चाहिये ॥ यह श्लोकका अर्थ है ॥१४॥

भावार्थ—इस श्लोकमें प्रत्येक वस्तुको सामान्य-विशेष और एक-अनेक प्रतिपादन करते हुए सामान्य एकान्तवादी, विशेष एकान्तवादी, तथा परस्पर भिन्न निरपेक्ष सामान्य-विशेष वादियोंकी समीक्षा की गई है। (१) अद्वैतवेदांती, मीमांसक और सांख्योंका मत है कि वस्तु सर्वथा सामान्य है, क्योंकि विशेष सामान्यसे भिन्न प्रतिभासित नहीं होते। (२) क्षणिकवादी बौद्धोंकी मान्यता है कि प्रत्येक वस्तु सर्वथा विशेषरूप है, क्योंकि विशेषको छोड़कर सामान्य कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता, और वस्तुका अर्थक्रियाकारित्व लक्षण भी विशेषमें ही घटित होता है। (३) न्यायवैशेषिकोंका कथन है कि सामान्य-विशेष परस्पर भिन्न और निरपेक्ष हैं, अतएव सामान्य और विशेषको एक न मानकर परस्पर भिन्न स्वीकार करना चाहिये।

जैनसिद्धांतके अनुसार उक्त तीनों सिद्धांत कथंचित् सत्य हैं। वस्तुको सर्वथा-सामान्य माननेवाले वादी द्रव्यास्तिकनयकी अपेक्षासे, सर्वथा-विशेष माननेवाले वादी पर्यायास्तिकनयकी अपेक्षासे, तथा सामान्य-विशेषको परस्पर भिन्न और निरपेक्ष माननेवाले वादी नैगमनयकी अपेक्षासे सच्चे हैं। इसलिए सामान्य-विशेषको कथंचित् भिन्न-अभिन्न ही स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि पदार्थोंका ज्ञान करते समय सामान्य और विशेष दोनोंका ही एक साथ ज्ञान होता है, विना सामान्यके विशेष, और विना विशेषके सामान्यका कहीं भी ज्ञान नहीं होता। जैसे गौके देखनेपर हमें अनुवृत्तिरूप गौका ज्ञान होता है, वैसे ही भैंस आदिकी व्यावृत्तिरूप विशेषका भी ज्ञान होता है। इसी तरह शबला गौ कहनेपर जैसे विशेषरूप शबलत्वका ज्ञान होता है, वैसे ही गोत्वरूप सामान्यका भी ज्ञान होता है। अतएव सामान्य-विशेष कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न होनेसे सामान्य और विशेष दोनों रूप ही हैं।

इसी प्रकार वाच्य (अर्थकी) तरह वाचक (शब्द) भी सामान्य-विशेषरूप है। (यहाँ मल्लिषेणने शब्द को पौद्गलिक सिद्ध करके उसे भी सामान्य-विशेषरूप सिद्ध किया है।) तथा, प्रत्येक वस्तुको भाव और अभावरूप मानना चाहिये, क्योंकि यदि वस्तु सर्वथा अभावरूप हो, तो उसे सर्वात्मक माननी चाहिये, और ऐसी अवस्थामें उसका कोई भी स्वभाव नहीं मानना चाहिये। अतएव प्रत्येक वस्तुको अपने स्वरूपसे सत्, और पररूपसे असत् मानना चाहिये। अतएव प्रत्येक वस्तु सापेक्ष है; इसलिये वाच्य और वाचक दोनों सामान्य-विशेष और एक-अनेकरूप हैं।

अब सांख्योंके प्रकृति, पुरुष आदि तत्त्वोंका विरोध दिखलाते हुए उन लोगोंके मतका खंडन करते हैं—

श्लोकार्थ—चैतन्यस्वरूप अर्थसे रहित बुद्धि जड़रूप है; शब्द आदि पांच तन्मात्राओंसे आकाश, पृथिवी, जल, अग्नि और वायु उत्पन्न होते हैं; पुरुषके न बंध होता है और न मोक्ष—ये सब सांख्य लोगोंकी विरुद्ध कल्पनायें हैं।

---

१. भट्टाकलङ्कदेवकृतलघीयस्त्रयग्रन्थटीकात्मकः प्रभाचन्द्रेण प्रणीतः।

चित्—चैतन्यशक्तिः, आत्मस्वरूपभूता। अर्थशून्या—विषयपरिच्छेदविरहिता। अर्थाध्यवसायस्य बुद्धिव्यापारत्वाद् इत्येका कल्पना। बुद्धिश्च महत्तत्त्वाख्या। जडा अनवबोधस्वरूपा इति द्वितीया। अम्बरादि—व्योमप्रभृतिभूतपञ्चकं शब्दादितन्मात्रजम्—शब्दादीनि यानि पञ्चतन्मात्राणि सूक्ष्मसंज्ञानि, तेभ्यो जातमुत्पन्नं, शब्दादितन्मात्रजम् इति तृतीया। अत्र च शब्दो गम्यः। पुरुषस्य च प्रकृतिविकृत्यनात्मकस्यात्मनो न बन्धमोक्षौ, किन्तु प्रकृतेरेव। तथा च कापिलाः—

"तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥"[1]

तत्र बन्धः—प्राकृतिकादिः। मोक्षः—पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानपूर्वकोऽपवर्गः इति चतुर्थी। इतिशब्दस्य प्रकारार्थत्वाद्—एवंप्रकारमन्यदपि विरोधीति विरुद्धं, पूर्वापरविरोधादिदोषाघ्रातम्। जडैः—मूर्खैः, तत्त्वावबोधविधुरधीभिः कापिलैः। कियन्न ग्रथितं—कियद् न स्वशास्त्रेपूपनिबद्धम्। कियदित्यसूयागर्भम्। तत्प्ररूपितविरुद्धार्थानामानन्त्येनेयत्तानवधारणात्। इति संक्षेपार्थः॥

व्यासार्थस्त्वयम्। साङ्ख्यमते किल दुःखत्रयाभिहतस्य पुरुषस्य तदपघातहेतुतत्त्वजिज्ञासा उत्पद्यते। आध्यात्मिकमाधिदैविकमाधिभौतिकं चेति दुःखत्रयम्। तत्राध्यात्मिकं द्विविधम्—शारीरं मानसं च। शारीरं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तम्। मानसं कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याविषयादर्शननिबन्धनम्। सर्वं चैतदान्तरोपायसाध्यत्वादाध्यात्मिकं दुःखम्। बाह्योपायसाध्यं दुःखं द्वेधा आधिभौतिकमाधिदैविकं चेति। तत्राधिभौतिकं मानुषपशुपक्षिमृगसरीसृपस्थावरनिमित्तम्। आधिदैविकं यक्षराक्षसग्रहाद्यावेशहेतुकम्। अनेन दुःखत्रयेण रजःपरिणामबुद्धिवर्तिना चेतनाशक्तेः प्रतिकूलतया अभिसंबन्धो अभिघातः॥

तत्त्वानि पञ्चविंशतिः। तद्यथा अव्यक्तम् एकम्। महदहङ्कारपञ्चतन्मात्रैकादशेन्द्रियपञ्च-

---

व्याख्यार्थ—पूर्वपक्ष (१) चेतनशक्ति पदार्थोंका ज्ञान नहीं करती, बुद्धिसे ही पदार्थोंका ज्ञान होता है। (२) बुद्धि (महत्त्व) अज्ञान रूप है। (३) आकाश आदि शब्द आदि पांच तन्मात्राओंसे उत्पन्न होते हैं। (४) प्रकृति और विकृतिसे भिन्न पुरुषके बन्ध और मोक्ष नहीं होता, प्रकृतिके ही बन्ध और मोक्ष होता है। कहा भी है—

"न कोई बँधता है, न मुक्त होता है, और न कोई संसारमें परिभ्रमण करता है; बन्ध, मोक्ष और परिभ्रमण नाना आश्रयवाली प्रकृतिके ही होते हैं।"

(५) बन्ध प्रकृतिमें होता है, और पच्चीस तत्त्वोंके ज्ञानसे मोक्ष मिलता है।

आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुखोंसे पीडित पुरुष दुखोंके नष्ट करनेके कारणोंको जानना चाहता है। आध्यात्मिक दुख शारीर और मानसके भेदसे दो प्रकारका है। वात, पित्त, और कफकी विषमतासे उत्पन्न होनेवाले दुखोंको शारीर, तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या और विषयोंके प्राप्त न होनेसे उत्पन्न होनेवाले दुखोंको मानस दुख कहते हैं। शारीर और मानस दुख, दुखके अन्तरंग कारण मनसे उत्पन्न होते हैं, इसलिये इन्हें आध्यात्मिक दुख कहा है। आधिभौतिक और आधिदैविक दुख बाह्य कारणोंसे उत्पन्न होते हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी, सर्प और स्थावर आदिसे उत्पन्न होनेवाले दुखको आधिभौतिक, तथा यक्ष, राक्षस, ग्रह आदिसे पैदा होनेवाले दुखको आधिदैविक दुख कहते हैं। तीनों प्रकारके दुख रजोधर्मसे बुद्धिमें उत्पन्न होते हैं। जब इन दुखोंका चेतनाशक्तिके साथ विपरीत सम्बन्ध होता है, उस समय चेतनाशक्तिका अभिघात होता है।

तत्त्व पच्चीस होते हैं—१ अव्यक्त, २ महत् (बुद्धि), ३ अहंकार, ४-८ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और

---

१. ईश्वरकृष्णविरचितसांख्यकारिका ६२।

महाभूतभेदात् त्रयोविंशतिविधं व्यक्तम् । पुरुषश्चिद्रूप इति । तथा च ईश्वरकृष्णः—

"मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥"[१]

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकानां लाघवोपष्टम्भगौरवधर्माणां परस्परोपकारिणां त्रयाणां गुणानां सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः । प्रधानमव्यक्तमित्यनर्थान्तरम् । तच्च अनादिमध्यान्तमनवयवं साधारणमशब्दमस्पर्शमरूपमगन्धमव्ययम् । प्रधानाद् बुद्धिर्महदित्यपरपर्यायोत्पद्यते । योऽयमध्यवसायो गवादिषु प्रतिपत्तिः एवमेतद् नान्यथा, गौरेवायं नाश्वः, स्थाणुरेष नायं पुरुष इत्येषा बुद्धिः । तस्यास्त्वष्टौ रूपाणि धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यरूपाणि चत्वारि सात्त्विकानि । अधर्मादीनि तु तत्प्रतिपक्षभूतानि चत्वारि तामसानि ॥

बुद्धेः अहङ्कारः । स च अभिमानात्मकः । अहं शब्देऽहं स्पर्शेऽहं रूपेऽहं गन्धेऽहं रसेऽहं स्वामी अहमीश्वरः असौ मया हतः ससत्वोऽहममुं हनिष्यामीत्यादिप्रत्ययरूपः । तस्मात् पञ्चतन्मात्राणि शब्दतन्मात्रादीनि अविशेषरूपाणि सूक्ष्मपर्यायवाच्यानि । शब्दतन्मात्राद् हि शब्द एवोपलभ्यते, न पुनरुदात्तानुदात्तस्वरितकम्पितषड्जादिभेदाः[२] । षड्जादयः शब्दविशेषादुपलभ्यन्ते । एवं स्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्रेष्वपि योजनीयमिति । तत एव चाहङ्काराद् एकादशेन्द्रियाणि च । तत्र चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं रसनं त्वगिति पंचबुद्धीन्द्रियाणि । वाक्पाणिपादपायूपस्थाः पञ्चकर्मेन्द्रियाणि । एकादशं मन इति ॥

गन्ध (पाँच तन्मात्रा), ९-१९ घ्राण, रसना, चक्षु, स्पर्श और श्रोत्र (पाँच बुद्धीन्द्रिय), और वाक् (वचन) पाणि (हाथ), पाद (पाँव), पायु (गुदा), उपस्थ (लिंग) (पाँच कर्मेन्द्रिय), तथा मन, २०-२४ आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी (पाँच महाभूत), तथा २५ प्रकृति और विकृति रहित पुरुष (चित्) । ईश्वरकृष्णने कहा भी है—

"पच्चीस तत्त्वोंका मूल कारण प्रकृति (प्रधान—अव्यक्त) है, यह स्वयं किसीका विकार नहीं है (अविकृति) । महत्, अहंकार और पाँच तन्मात्रायें ये प्रकृति और विकृति दोनों हैं (महत्त्व अहंकारकी प्रकृति, और मूल प्रकृतिकी विकृति है । अहंकार पाँच तन्मात्रा और इन्द्रियोंकी प्रकृति, और महान्‌की विकृति है । पाँच तन्मात्रायें पंचभूतोंकी प्रकृति और अहंकारकी विकृति है) । तथा ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच महाभूत ये सोलह तत्त्व विकृति रूप ही हैं । पुरुष प्रकृति और विकृति दोनोंसे रहित है ।"

एक दूसरेका उपकार करनेवाले प्रीति और लाघव रूप सत्त्व, अप्रीति और उपष्टंभ रूप रज, और विषाद और गौरव रूप तम गुणोंकी साम्य अवस्थाको प्रकृति, प्रधान अथवा अव्यक्त कहते हैं । यह प्रधान आदि, मध्य, अन्त और अवयव रहित है, साधारण है, शब्द, स्पर्श, रूप और गन्धसे रहित, तथा अविनाशी है । प्रधानसे बुद्धि अथवा महान् उत्पन्न होता है । यह गौ ही है, घोड़ा नहीं; पुरुष ही है, ठूँठ नहीं, इस प्रकार किसी वस्तुके निश्चयरूप ज्ञानको बुद्धि कहते हैं । बुद्धिके धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य (सात्त्विक) और अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, और अनैश्वर्य (तामसिक) ये आठ गुण हैं ।

बुद्धिसे अहंकार होता है । यह अहंकार 'मैं सुनता हूँ, मैं स्पर्श करता हूँ, मैं देखता हूँ, मैं सूँघता हूँ, मैं चखता हूँ, मैं स्वामी हूँ, मैं ईश्वर हूँ, यह मैंने मारा है, मैं बलवान हूँ, मैं इसे मारूँगा' आदि अभिमानरूप होता है । अहंकारसे पाँच तन्मात्राएँ होती हैं । ये शब्द आदि पाँच तन्मात्राएँ सामान्यरूप और सूक्ष्म पर्याय रूप हैं । शब्द तन्मात्रासे केवल शब्दका ही ज्ञान होता है, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, कंपित और षड्ज आदि शब्दके विशेषरूपोंका नहीं, क्योंकि षड्ज आदिका ज्ञान विशेष शब्दसे ही होता है । इसी प्रकार स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि तन्मात्राओंसे सामान्यरूपसे स्पर्श, रूप, रस, गंध, आदिका ज्ञान होता है, विशेष स्पर्श

---

१. सांख्यकारिका ३ ।

२. षड्जऋषभगान्धारा मध्यमः पंचमस्तथा । धैवतो निषधः सप्त तन्त्रीकण्ठोद्भवाः स्वराः ॥ अभिधानचिन्तामणौ ६–३७ ।

पञ्चतन्मात्रेभ्यश्च पञ्चमहाभूतान्युत्पद्यन्ते। तद्यथा शब्दतन्मात्रादाकाशं शब्दगुणम्। शब्दतन्मात्रसहितात् स्पर्शतन्मात्राद् वायुः शब्दस्पर्शगुणः। शब्दस्पर्शतन्मात्रसहिताद् रूपतन्मात्रात् तेजः शब्दस्पर्शरूपगुणं। शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रसहिताद् रसतन्मात्रादापः शब्दस्पर्शरूपरसगुणाः। शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसहिताद् गन्धतन्मात्रात् शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा पृथिवी जायत इति॥

पुरुषस्तु—

"अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः।
अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कापिलदर्शने॥"

इति। अन्धपङ्गुवत् प्रकृतिपुरुषयोः संयोगः। चिच्छक्तिश्च विषयपरिच्छेदशून्या। यत इन्द्रियद्वारेण सुखदुःखादयो बुद्धौ प्रतिसंक्रामन्ति बुद्धिश्चोभयमुखदर्पणाकारा। ततस्तस्यां चैतन्यशक्तिः प्रतिबिम्बते। ततः सुख्यहं दुःख्यहमित्युपचारः। आत्मा हि स्वं बुद्धेरव्यतिरिक्तमभिमन्यते। आह च **पतञ्जलिः**—"शुद्धोऽपि पुरुषः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति तमनुपश्यन् अतदात्मापि तदात्मक इव प्रतिभासते"[1] इति। मुख्यतस्तु बुद्धेरेव विषयपरिच्छेदः। तथा च **वाचस्पतिः**—"सर्वो व्यवहर्ता आलोच्य नन्वहमत्राधिकृत इत्यभिमत्य कर्तव्यमेतन्मया इत्यध्यवस्यति। ततश्च प्रवर्तते इति लोकतः सिद्धम्। तत्र कर्तव्यमिति योऽयं निश्चयश्चितिसन्निधानापन्नचैतन्याया बुद्धेः सोऽध्यवसायो बुद्धेरसाधारणो व्यापारः"[2] इति। चिच्छक्तिसन्निधानाच्चाचेतनापि बुद्धिश्चेतनावतीवाभासते। **वादमहार्णवोऽप्या**[3]ह। "बुद्धिदर्पणसंक्रान्तमर्थप्रतिबि-

आदिका ज्ञान नहीं होता। अहंकारसे चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना, स्पर्श (बुद्धीन्द्रिय); वाक् पाणि, पाद, गुदा, लिंग (कर्मेंद्रिय) और मन ये ग्यारह इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं।

पाँच तन्मात्राओंसे पाँच महाभूत पैदा होते हैं। शब्द तन्मात्रासे आकाश पैदा होता है। शब्द और स्पर्श तन्मात्राओंसे शब्द और स्पर्शके गुणसे युक्त वायु; शब्द, स्पर्श और रूप तन्मात्राओंसे शब्द, स्पर्श और रूप गुणोंसे युक्त अग्नि; शब्द, स्पर्श, रूप और रस तन्मात्राओंसे शब्द, स्पर्श, रूप, और रससे युक्त जल; तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध तन्मात्राओंसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंधसे युक्त पृथिवी उत्पन्न होती है।

पुरुष तो—

"सांख्य दर्शनमें अमूर्त, चेतन, भोक्ता, नित्य, सर्वव्यापी, क्रिया रहित, अकर्ता, निर्गुण और सूक्ष्म" है।

अंधे और लंगड़े पुरुषकी तरह प्रकृति और पुरुषका संबंध होता है। चित् शक्ति (पुरुष) स्वयं पदार्थोंका ज्ञान नहीं कर सकती, क्योंकि सुख-दुख इन्द्रियों द्वारा ही बुद्धिमें प्रतिभासित होते हैं। बुद्धि दोनों तरफसे दर्पणकी तरह है, इसमें एक ओर चेतनाशक्ति और दूसरी ओर बाह्य जगत् झलकता है। बुद्धिमें चेतनाशक्तिके प्रतिबिम्ब पड़नेसे आत्मा (पुरुष) अपनेको बुद्धिसे अभिन्न समझता है, और इसलिये आत्मामें 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुखी हूँ', ऐसा ज्ञान होता है। **पतंजलिने** भी कहा है—"यद्यपि पुरुष स्वयं शुद्ध है, परन्तु वह बुद्धि सम्बन्धी अध्यवसायको देखकर, बुद्धिसे भिन्न होकर भी अपने आपको बुद्धिसे अभिन्न समझता है।" वास्तवमें वह ज्ञान बुद्धिका ही होता है। **वाचस्पतिने** भी कहा है—"लोकके कार्योंमें प्रवृत्ति करनेवाले सभी लोग यह मानते हैं कि इसमें हमारा अधिकार है, और यह हमारा कर्तव्य है, ऐसा समझकर निश्चय करते हैं। निश्चय करनेके पश्चात् कार्यमें प्रवृत्ति होती है, इस प्रकार लोगोंमें परिपाटी चलती है। यहाँ बुद्धिमें चेतनाशक्तिका प्रतिबिम्ब पड़नेसे ही कर्तव्य-बुद्धिका निश्चय होता है; यह निश्चय बुद्धिका असाधारण व्यापार है।" बुद्धिमें चेतनाशक्तिका प्रतिबिम्ब पड़नेसे अचेतन बुद्धि चेतनकी तरह प्रतिभासित होने लगती है। **वादमहार्णवमें** भी कहा है—"दर्पणके समान बुद्धिमें पड़नेवाला पदार्थोंका प्रतिबिम्ब पुरुषरूपी दर्पणमें

१. व्यासभाष्ये।	२. सांख्यतत्त्वकौमुद्यां।

३. सांख्यग्रन्थविशेषः। जैनाचार्यः अभयदेवसूरिरपि वादमहार्णवनामग्रन्थं कृतवान्।

म्बकं द्वितीयदर्पणकल्पे पुंस्यध्यारोहति। तदेव भोक्तृत्वमस्य न त्वात्मनो विकारापत्तिः।" इति। तथा चासुरि[1]:—

"विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि॥"

विन्ध्यवासी त्वेवं भोगमाचष्टे।

"पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम्।
मनः करोति सान्निध्यादुपाधिः स्फटिकं यथा॥"

न च वक्तव्यम् पुरुषश्चेदगुणोऽपरिणामी कथमस्य मोक्षः। मुचेर्बन्धनविश्लेषार्थत्वात् सवासनक्लेशकर्माशयानां च बन्धसमाम्नातानां पुरुषेऽपरिणामिन्यसम्भवात्। अत एव नास्य प्रेत्यभावापरनामा संसारोऽस्ति, निष्क्रियत्वादिति। यतः प्रकृतिरेव नानापुरुषाश्रया सती बध्यते संसरति मुच्यते च न पुरुष इति बन्धमोक्षसंसाराः पुरुषे उपचर्यन्ते। तथा जयपराजयौ भृत्यगतावपि स्वामिन्युपचर्येते, तत्फलस्य कोशलाभादेः स्वामिनि संबन्धात्, तथा भोगापवर्गयोः प्रकृतिगतयोरपि विवेकाग्रहात् पुरुषे संबन्ध इति॥

तदेतदखिलमालजालम्। चिच्छक्तिश्च विषयपरिच्छेदशून्या चेति परस्परविरुद्धं वचः। चिती संज्ञाने। चेतनं चित्यते वानयेति चित्। सा चेत् स्वपरपरिच्छेदात्मिका नेष्यते तदा चिच्छक्तिरेव सा न स्यात्, घटवत्। न चामूर्तायाश्चिच्छक्तेर्बुद्धौ प्रतिबिम्बोदयो युक्तः। तस्य मूर्तधर्मत्वात्। न च तथापरिणाममन्तरेण प्रतिसंक्रमोऽपि युक्तः। कथञ्चित् सक्रियात्मकता-

प्रतिविम्बित होता है। बुद्धिके प्रतिबिम्बका पुरुषमें झलकना ही पुरुषका भोग है, इसीसे पुरुषको भोक्ता कहते हैं। इससे आत्मामें कोई विकार नहीं आता।" आसुरिने भी कहा है—

"जिस प्रकार निर्मल जलमें पड़नेवाला चन्द्रमाका प्रतिविम्ब जलका ही विकार है, चन्द्रमाका नहीं, उसी तरह आत्मामें बुद्धिका प्रतिविम्ब पड़नेपर आत्मामें जो भोक्तृत्व है, वह केवल बुद्धिका विकार है, वास्तवमें पुरुष निर्लेप है।"

भोगके विषयमें विन्ध्यवासीने कहा है—

"जैसे भिन्न भिन्न रंगोंके संयोगसे निर्मल स्फटिक मणि काले, पीले आदि रूपका होता है, वैसे ही अविकारी चेतन पुरुष अचेतन मनको अपने समान चेतन बना लेता है। वास्तवमें विकारी होनेसे मन चेतन नहीं कहा जा सकता।"

प्रतिवादी—यदि पुरुष निर्गुण और अपरिणामी है तो उसे मोक्ष नहीं हो सकता। मुच् धातुका अर्थ बन्धनसे छूटना है। अपरिणामी आत्मामें वासना और क्लेशरूप कर्मोंके सम्बन्धसे बन्धनका उत्पन्न होना सम्भव नहीं, अतएव आत्माके निष्क्रिय होनेसे उसके परलोक (संसार) भी नहीं हो सकता। सांख्य—नाना पुरुषोंके आश्रित प्रकृतिके ही बन्ध होता है, वही संसारमें भ्रमण करती है, और प्रकृति ही को मोक्ष होता है, अतएव पुरुषके बन्ध, मोक्ष और संसारका व्यवहार उपचारसे होता है। जिस प्रकार भृत्यों द्वारा किसी सेनाकी जय, पराजय किये जानेपर वह जय, पराजय सेनाके स्वामीकी समझी जाती है, क्योंकि जय, पराजयसे होनेवाले लाभ और हानिका फल स्वामीको ही मिलता है, उसी तरह वास्तवमें संसार और मोक्ष दोनों प्रकृतिके होते हैं, परन्तु पुरुषके विवेकख्याति होनेसे, पुरुषके ही संसार और मोक्ष माना जाता है।

उत्तरपक्ष—(१) क—यह सब बड़ा भारी जाल है। एक ओर चैतन्यशक्ति है और दूसरी ओर वह ज्ञेय पदार्थके ज्ञानसे शून्य है—यह कथन परस्पर विरुद्ध है। चित् धातु जाननेके अर्थमें प्रयुक्त होती है। जाननेकी जो क्रिया होती है अथवा जिसके द्वारा जाना जाय, उसे चित् (चेतनं, चित्यते वा अनयेति चित्) कहते हैं। यदि यह शक्ति स्व और परको जाननेके स्वभाववाली न मानी गई तो उसे चेतनाशक्ति (चित्शक्ति) नहीं कह सकते; जैसे घट। ख—अमूर्त चेतनाशक्तिका बुद्धिमें प्रतिबिम्बित न होना युक्त नहीं है; क्योंकि

१. अयं सांख्याचार्य ईश्वरकृष्णगुरुपरम्परायामुपलभ्यते।

व्यतिरेकेण प्रकृत्युपधानेऽप्यन्यथात्वानुपपत्तेः, अप्रच्युतप्राचीनरूपस्य च सुखदुःखादिभोगव्यपदेशानर्हत्वात्। तत्प्रच्यवे च प्राक्तनरूपत्यागेनोत्तररूपाध्यासिततया सक्रियत्वापत्तिः। स्फटिकादावपि तथा परिणामेनैव प्रतिबिम्बोदयसमर्थनात्, अन्यथा कथमन्धोपलादौ न प्रतिबिम्बः। तथापरिणामाभ्युपगमे च बलादायातं चिच्छक्तेः कर्तृत्वं साक्षाद्भोक्तृत्वं च ॥

अथ "अपरिणामिनी भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्ते च तद्वृत्तिमनुभवति"[1] इति पतञ्जलिवचनादौपचारिक एवायं प्रतिसंक्रम इति चेत्, तर्हि "उपचारस्तत्त्वचिन्तायामनुपयोगी" इति प्रेक्षावतामनुपादेय एवायम्। तथा च प्रतिप्राणिप्रतीतं सुखदुःखादिसंवेदनं निराश्रयमेव स्यात्। न चेदं बुद्धेरुपपन्नम्। तस्या जडत्वेनाभ्युपगमात्।

अतएव जडा च बुद्धिः इत्यपि विरुद्धम्। न हि जडस्वरूपायां बुद्धौ विषयाध्यवसायः साध्यमानः साधीयस्तां दधाति। ननूक्तमचेतनापि बुद्धिश्चिच्छक्तिसान्निध्याच्चेतनावतीवावभासत इति। सत्यमुक्तम् अयुक्तं तूक्तम्। न हि चैतन्यवति पुरुषादौ प्रतिसंक्रान्ते दर्पणस्य चैतन्यापत्तिः। चैतन्याचैतन्ययोरपरावर्तिस्वभावत्वेन शक्रेणाप्यन्यथाकर्तुमशक्यत्वात्। किञ्च, अचेतनापि चेतनावतीव प्रतिभासत इति इवशब्देनारोपो ध्वन्यते। न चारोपोऽर्थक्रियासमर्थः।

प्रतिबिम्बित होना मूर्त पदार्थका स्वभाव है। तथा, (चित्शक्तिका) मूर्त पदार्थके रससे परिणमनका अभाव होनेपर उसका (बुद्धिमें) प्रतिबिम्बित होना भी युक्त नहीं। प्रकृतिरूप (बुद्धिरस) उपाधिमें भी—उपाधिके विषयमें भी—कथंचित् सक्रिय होनेके स्वभावके अभावमें, अन्यप्रकाररूपता अर्थात् चैतन्यशक्तिके प्रतिबिम्बसे युक्त होनेकी सिद्धिके अभावमें, प्राचीन—प्राक्तनरूपसे—प्रच्युत न हुआ उपाधि-सुख-दुःखादि भोक्तृसंज्ञाके योग्य न होनेसे, तथा प्राचीनरूपके त्यागसे, प्राक्तन रूपका त्याग करके, उत्तररूपसे अध्यासित होनेरूप क्रियारूपमें परिणत होनेसे सक्रियत्वकी सिद्धि होती है। स्फटिक आदिके भी प्राक्तनरूपके त्यागपूर्वक उत्तररूपसे अध्यासित होनेरूप क्रियारूपमें परिणत होनेसे ही (स्फटिकमें) प्रतिबिम्बके प्रादुर्भावका समर्थन किये जानेसे सक्रियत्वकी सिद्धि होती है। यदि ऐसा न होता अर्थात् प्राक्तनरूपके त्याग और उत्तररूपके ग्रहणके विना स्फटिकमें प्रतिबिम्बका प्रादुर्भाव होता तो अंध पाषाण आदिमें प्रतिबिम्बका प्रादुर्भाव क्यों न होता ? तथा परिणामको स्वीकार करनेपर चित्शक्तिका कर्तृत्व और साक्षात् भोक्तृत्व जबरन स्वीकार करना पड़ेगा।

शंका—"भोक्ता (पुरुष) की परिणाम और प्रतिबिंबसे रहित शक्तिमें परिणामी पदार्थके प्रतिबिंबित होने पर वह पदार्थजनित अवस्थाका अनुभव करती है"—पतंजलिके इस वचनके अनुसार प्रतिसंक्रमशून्य पुरुषमें होनेवाला प्रतिसंक्रम (प्रतिबिंबित होना) औपचारिक ही है। समाधान—"तत्त्वोंका निर्णय करनेमें उपचार अनुपयोगी होता है", इसलिये यह औपचारिक प्रतिसंक्रम बुद्धिमानोंको मान्य नहीं हो सकता। ऐसी अवस्थामें, अर्थात्, परिणामी पदार्थका प्रतिसंक्रम औपचारिक होनेसे प्रत्येक आत्मामें पाया जानेवाला सुख-दुखका अनुभव निराधार ही होना चाहियें, क्योंकि वास्तवमें सुख-दुखका आत्माके साथ संबंध नहीं है। यदि कहो कि सुख-दुखका ज्ञान बुद्धिजन्य है तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि सांख्यमतमें बुद्धि जड़ मानी गई है।

(२) सुख, दुख आदिका अनुभव करनेवाली होने पर बुद्धिको जड़ मानना भी विरुद्ध है। क्योंकि यदि बुद्धिको जड़ माना जाय तो बुद्धिसे ज्ञेय पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता। शंका—बुद्धि अचेतन होकर भी चेतनाशक्तिके सम्बन्धसे चेतनायुक्त जैसी प्रतिभासित होती है। समाधान—यह सत्य है, किन्तु अयुक्त है। चैतन्ययुक्त पुरुष आदिके दर्पणमें प्रतिबिम्बित होनेसे दर्पणकी चैतन्यस्वरूपसे परिणति नहीं होती। चेतना और अचेतनाका स्वभाव अपरिवर्तनीय है, उसमें इन्द्र द्वारा भी परिवर्तन नहीं हो सकता। तथा,

---

१. पातञ्जलयोगसूत्रोपरि व्यासभाष्ये ४–२२।

न खल्वतिकोपनत्वादिना समारोपिताग्नित्वो माणवकः कदाचिदपि मुख्याग्निसाध्यां दाहपाकाद्यर्थक्रियां कर्तुमीश्वरः। इति चिच्छक्तेरेव विषयाध्यवसायो घटते न जडरूपाया बुद्धेरिति। अत एव धर्माद्यष्टरूपतापि तस्या वाङ्मात्रमेव, धर्मादीनामात्मधर्मत्वात्। अत एव चाहङ्कारोऽपि न बुद्धिजन्यो युज्यते, तस्याभिमानात्मकत्वेनात्मधर्मस्याचेतनादुत्पादायोगात्॥

अम्बरादीनां च शब्दादितन्मात्रजत्वं प्रतीतिपराहतत्वेनैव विहितोत्तरम्। अपि च, सर्ववादिभिस्तावदविगानेन गगनस्य नित्यत्वमङ्गीक्रियते। अयं च शब्दतन्मात्रात् तस्याप्याविर्भावमुद्भावयन्नित्यैकान्तवादिनां च धुरि आसनं न्यासयन्नसंगतप्रलापीव प्रतिभाति। न च परिणामिकारणं स्वकार्यस्य गुणो भवितुमर्हतीति "शब्दगुणमाकाशम्"[1] इत्यादि वाङ्मात्रम्। वागादीनां चेन्द्रियत्वमेव न युज्यते। इतरासाध्यकार्यकारित्वाभावात्। परप्रतिपादनग्रहणविहरणमलोत्सर्गादिकार्याणामितरावयवैरपि साध्यत्वोपलब्धेः। तथापि तत्त्वकल्पने इन्द्रियसंख्या न व्यवतिष्ठते, अन्याङ्गोपाङ्गानामपीन्द्रियत्वप्रसङ्गात्।

यच्चोक्तं 'नानाश्रयायाः प्रकृतेरेव बन्धमोक्षौ संसारश्च न पुरुषस्य' इति। तदप्यसारम्। अनादिभवपरम्परानुबद्धया प्रकृत्या सह यः पुरुषस्य विवेकाग्रहणलक्षणोऽविष्वग्भावः स एव चेन्न बन्धः, तदा को नामान्यो बन्धः स्यात्। प्रकृतिः सर्वोत्पत्तिमतां निमित्तम् इति च

'अचेतन बुद्धि चेतना सहित जैसी प्रतिभासित होती है', यहाँ 'इव' (जैसी) शब्दसे अचेतन बुद्धिमें चेतनाका आरोप किया गया है। परन्तु आरोपसे अर्थक्रियाकी सिद्धि नहीं होती। जैसे यदि किसी बालकका अत्यन्त क्रोधी स्वभाव देख कर उसका अग्नि नाम रख दिया जाय, परन्तु वह अग्निकी जलाने, पकाने आदि क्रियाओंको नहीं कर सकता, इसी प्रकार विषयोंका—ज्ञेय पदार्थोंका-ज्ञान चेतनाशक्तिसे ही हो सकता है, अचेतन बुद्धिमें चेतनाका आरोप करने पर भी बुद्धिसे पदार्थोंका ज्ञान संभव नहीं। अतएव आप लोगोंने जो बुद्धिके धर्म आदि आठ गुण माने हैं, वे भी केवल वचनमात्र हैं, क्योंकि धर्म आदि आत्माके ही गुण हो सकते हैं, अचेतन बुद्धिके नहीं। इसीलिये अहंकारको भी बुद्धिजन्य नहीं मानना चाहिये, क्योंकि अहंकार अभिमान रूप है, इसलिये वह आत्मासे हो उत्पन्न होता है, अचेतन बुद्धिसे उत्पन्न नहीं हो सकता।

(३) आकाश आदिका शब्द आदि पाँच तन्मात्राओंसे उत्पन्न होना अनुभवके सर्वथा विरुद्ध है। तथा, सब लोगोंने आकाशको नित्य स्वीकार किया है; नित्य एकान्तवादको मानकर भी केवल सांख्य लोग ही उसकी शब्द तन्मात्रासे उत्पत्ति मान कर असंगत प्रलाप करते हैं। तथा, परिणामी (उपादान) वस्तुके परिणाममें कारण है, वह अपने कार्यका गुण नहीं हो सकता, इसलिये "शब्दको आकाशका गुण मानना" भी कथनमात्र है। तथा, वाक् आदि इन्द्रियाँ नहीं कही जा सकतीं, क्योंकि दूसरोंको प्रतिपादन करना, किसी वस्तुको ग्रहण करना, विहार करना, मल त्याग करना आदि, वाक्, पाणि, पाद, पायु आदि कर्मेन्द्रियोंसे होने वाले कार्य शरीरके अन्य अवयवोंसे भी किये जा सकते हैं; जैसे उंगलियों द्वारा भी दूसरोंको प्रतिपादित किया जा सकता है। अतएव वाक् आदि शरीरके अवयव हैं, इन्हें इन्द्रियाँ नहीं कह सकते। यदि इतर अवयवों द्वारा न किये जानेवाले कार्योंके कर्तृत्वका अभाव होने पर भी वाक् आदिको इन्द्रिय माना जाय, तो इन्द्रियोंकी ग्यारह संख्या ही नहीं बन सकती, क्योंकि शरीरके अन्य अंग-उपांगोंको भी इन्द्रियत्वका प्रसंग उपस्थित हो जाता है।

(४) तथा, 'अनेक पुरुषोंके आश्रय रहनेवाली प्रकृतिके ही बन्ध, मोक्ष और संसार होते हैं, पुरुषके नहीं', यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि आप लोगोंके मतमें यदि अनादि भव-परम्परासे बद्ध और पुरुषके विवेकको न समझने वाले अपृथग्भावको बन्ध नहीं कहते, तो फिर आपके मतमें बन्धका क्या लक्षण है?

---

१. वैशेषिकसूत्रे।

प्रतिपद्यमानेनायुष्मता संज्ञान्तरेण कर्मैव प्रतिपन्नं । तस्यैवंस्वरूपत्वात् अचेतनत्वाच्च ॥

यस्तु प्राकृतिकवैकारिकदाक्षिणभेदात् त्रिविधो बन्धः । तद्यथा प्रकृतावात्मज्ञानाद् ये प्रकृतिमुपासते तेषां प्राकृतिको बन्धः । ये विकारानेव भूतेन्द्रियाहङ्कारबुद्धीः पुरुषबुद्धयोपासते तेषां वैकारिकः । इष्टापूर्ते[1] दाक्षिणः । पुरुषतत्त्वानाभिज्ञो हीष्टापूर्तकारी कामोपहतमना बध्यत इति ।

"इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं
नान्यच्छ्रेयो येऽभिनन्दति मूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेन भूत्वा
इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥"[2]

इति वचनात् । स त्रिविधोऽपि कल्पनामात्रं कथञ्चिद् मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगे[3]भ्योऽभिन्नस्वरूपत्वेन कर्मबन्धहेतुष्वेवान्तर्भावात् । बन्धसिद्धौ च सिद्धस्तस्यैव निर्बाधः संसारः । बन्धमोक्षयोश्चैकाधिकरणत्वाद् य एव बद्धः स एव मुच्यत इति पुरुषस्यैव मोक्षः आबालगोपालं तथाप्रतीतेः ॥

प्रकृतिपुरुषविवेकदर्शनात् प्रवृत्तेरुपरतायां प्रकृतौ पुरुषस्य स्वरूपेणावस्थानं मोक्ष इति चेत् । न । प्रवृत्तिस्वभावायाः प्रकृतेरौदासीन्यायोगात् । अथ पुरुषार्थनिबन्धना तस्याः प्रवृत्तिः ।

यदि कहो कि उत्पन्न होनेवाले सभी पदार्थोंका कारण प्रकृति है तो आप लोगोंने नामान्तरसे कर्मको ही स्वीकार किया है; क्योंकि कर्मका यह स्वरूप है और वह अचेतन है । अतएव बन्ध पुरुषके ही मानना चाहिये, प्रकृतिके नहीं ।

सांख्य—प्राकृतिक, वैकारिक, और दाक्षिणके भेदसे बन्ध तीन प्रकारका होता है । प्रकृतिको आत्मा समझकर जो प्रकृतिकी उपासना करते हैं, उनके प्राकृतिक बन्ध होता है । जो पाँच भूत, इन्द्रिय, अहंकार, और बुद्धिरूप विकारोंको पुरुष मानकर उपासना करते हैं उनके वैकारिक बन्ध होता है । जो यज्ञ दान आदि कर्म करते हैं उनके दाक्षिण बन्ध होता है । आत्माको न जानकर, सांसारिक इच्छाओंसे यज्ञ, दान आदि कर्म करनेसे दाक्षिण बन्ध होता है । कहा भी है—

"जो मूढ़ पुरुष यज्ञ दान आदिको ही सबसे श्रेष्ठ मानते हैं, यज्ञ दान आदिके अतिरिक्त किसी भी शुभ कर्मकी प्रशंसा नहीं करते, वे लोग स्वर्गमें उत्पन्न होते हैं, और अन्तमें फिर मनुष्य लोकमें अथवा इससे भी हीन लोकमें जन्म लेते हैं ।"

जैन—उक्त तीनों प्रकारका बन्ध मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगमें गर्भित हो जाता है, अतएव उसे पृथक् स्वीकार करना ठीक नहीं । अतएव जीवके बन्ध सिद्ध होनेपर, जीवके ही संसारकी भी सिद्धि होती है । तथा, जो बँधता है, वह कभी मुक्त भी होता है, अतएव बन्ध और मोक्षका एक ही अधिकरण होनेसे पुरुषके मोक्ष भी सिद्ध होता है । अतएव 'पुरुषके न बन्ध होता है, न मोक्ष' यह कहना अयुक्तियुक्त है ।

शंका—जिस समय प्रकृति और पुरुषमें विवेकख्याति उत्पन्न होती है, प्रकृति प्रवृत्तिसे मुँह मोड़ लेती है, उस समय पुरुष अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जाता है, इसे ही मोक्ष कहते हैं । समाधान—प्रकृतिका स्वभाव प्रवृत्ति करना ही है, अतएव वह प्रकृति प्रवृत्तिसे उदासीन नहीं हो सकती । शंका—

---

१. एतल्लक्षणं—वापीकूपतडागादिदेवतायतनानि च । अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमर्थ्याः प्रचक्षते ।
एकाग्निकर्महवनं त्रेतायां यश्च हूयते । अन्तर्वेद्यां च यद्दानमिष्टं तदभिधीयते ॥

२. मुंडक उ० १-२-१० ।

३. मिथ्या विपरीतं दर्शनं मिथ्यादर्शनम् । सावद्ययोगेभ्यो निवृत्त्यभावः अविरतिः । प्रकर्षेण माद्यन्त्यनेनेति प्रमादः । विषयक्रीडाभिष्वङ्गः । कलुषयन्ति शुद्धस्वभावं सन्तं कर्ममलिनं कुर्वन्ति जीवमिति कषायाः । कायवाङ्मनसां कर्म योगः ।

विवेकख्यातिश्च पुरुषार्थः। तस्यां जातायां निवर्तते, कृतकार्यत्वात्।

"रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः॥"[1]

इति वचनादिति चेत्। नैवम्। तस्या अचेतनाया विमृश्यकारित्वाभावात्। यथेयं कृतेऽपि शब्दाद्युपलम्भे पुनस्तदर्थं प्रवर्तते, तथा विवेकख्यातौ कृतायामपि पुनस्तदर्थं प्रवर्तिष्यते। प्रवृत्तिलक्षणस्य स्वभावस्यानपेतत्वात्। नर्तकीदृष्टान्तस्तु स्वेष्टविघातकारी। यथा हि नर्तकी नृत्यं पारिषदेभ्यो दर्शयित्वा निवृत्तापि पुनस्तत्कुतूहलात् प्रवर्तते, तथा प्रकृतिरपि पुरुषायात्मानं दर्शयित्वा निवृत्तापि पुनः कथं न प्रवर्ततामिति। तस्मात् कृत्स्नकर्मक्षये पुरुषस्यैव मोक्ष इति प्रतिपत्तव्यम्॥

एवमन्यासामपि तत्कल्पनानां तमोमोहमहामोहतामिस्रान्धतामिस्रभेदात्[2] पञ्चधा अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशरूपो विपर्ययः। ब्राह्मप्राजापत्यसौम्येन्द्रगान्धर्वयक्षराक्षसपैशाचभेदादष्टविधो दैवः सर्गः। पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरभेदात् पञ्चविधस्तैर्यग्योनः। ब्राह्मणत्वाद्यवान्तरभेदाविवक्षया चैकविधो मानुषः। इति चतुर्दशधा भूतसर्गः। बाधिर्यकुण्ठतान्धत्वजड-

---

प्रकृतिकी प्रवृत्ति केवल पुरुषार्थके लिये उत्पन्न होती है, और पुरुष और प्रकृतिमें भेद-दृष्टि होना ही पुरुषार्थ है। इस भेद-दृष्टिके उत्पन्न होनेपर प्रकृति कृतकृत्य होकर विश्राम लेती है। कहा भी है—

"जिस प्रकार रंगभूमिमें अपना नृत्य दिखाकर नटी निवृत्त होती है उसी तरह प्रकृति पुरुषको अपना रूप दिखाकर निवृत्त होती है।"

समाधान—प्रकृति अचेतन है, अतएव वह विचारपूर्वक प्रवृत्ति नहीं कर सकती। तथा जिस प्रकार विषयका एक बार उपभोग करनेपर भी फिरसे उसी विषयके लिये प्रकृतिकी प्रवृत्ति होती है (क्योंकि प्रकृति प्रवृत्तिशील है), वैसे ही विवेकख्याति होनेपर भी फिरसे पुरुषमें प्रकृतिकी प्रवृत्ति होना चाहिये, क्योंकि प्रकृतिका स्वभाव प्रवृत्ति करनेका है। तथा, नटीका दृष्टांत उलटा आप लोगोंके सिद्धांतका घातक है। क्योंकि दर्शकोंको एक बार नृत्य दिखाकर चले जानेपर भी अच्छा नृत्य होनेसे दर्शक लोगोंके आग्रहसे नर्तकी फिरसे अपना नाच दिखाने लगती है, वैसे ही पुरुषको अपना स्वरूप दिखाकर प्रकृतिके निवृत्त हो जानेपर भी प्रकृतिको फिरसे प्रवृत्ति करना चाहिये। अतएव सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय होनेपर पुरुषको ही मोक्ष होता है, यह मानना चाहिये।

इसके अतिरिक्त, सांख्य लोगोंकी निम्न कल्पनायें भी विरुद्ध हैं : (क) अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश रूप तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अंधतामिस्र, यह पाँच प्रकारका विपर्यय है। (तम और मोहके आठ-आठ, महामोहके दस, तामिस्र और अंधतामिस्रके अठारह-अठारह भेद होनेसे यह विपर्यय कुल ६२ प्रकारका होता है)। (ख) ब्राह्म, प्राजापत्य, सौम्य, इन्द्र, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पैशाच ये आठ प्रकारके देव; पशु, मृग, पक्षी, सर्प, स्थावर ये पाँच प्रकारके तिर्यंच (अचेतन घट आदि भी स्थावरमें ही गर्भित होते

---

१. सांख्यकारिका ५९। २. सांख्यतत्त्वकौमुदी कारिका ४७।

३. अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता। सुखानुशयी रागः। दुःखानुशयी द्वेषः। स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः। पातंजलयोगसूत्रे २–५, ६, ७, ८, ९।

४. घटादयस्त्वशरीरत्वेऽपि स्थावरा एव। इति वाचस्पतिमिश्रः।

५. मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदाद्धि तद्भेदाः चातुर्विध्यमिहाश्नुते॥ जिनसेनकृत-आदिपुराणे ३२–४६

६. सांख्यकारिकागौडपादभाष्ये सांख्यतत्त्वकौमुद्यां च कारिका ५३।

ताऽजिघ्रतामूकताकौण्यपङ्गुत्वक्लैव्योदावर्तमत्ततारूपैकादशेन्द्रियवधतुष्टिनवकविपर्ययसिद्ध्य-ष्टकविपर्ययलक्षणसप्तदशबुद्धिवधभेदादष्टाविंशतिधा अशक्तिः । प्रकृत्युपादानकालभोगाख्या अम्भःसलिलौघवृष्ट्यपरपर्यायवाच्याश्चतस्र आध्यात्मिक्यः । शब्दादिविषयोपरतयश्चार्जनरक्ष-णक्षयभोगहिंसादोषदर्शनहेतुजन्मानः पञ्चबाह्यास्तुष्टयः । ताश्च पारसुपारपारापारानुत्तमाम्भ-उत्तमाम्भःशब्दव्यपदेश्याः । इति नवधा तुष्टिः । त्रयो दुःखविघाता इति मुख्यास्तिस्रः सिद्धयः प्रमोदमुदितमोदमानाख्याः । तथाध्ययनं शब्द ऊहः सुहृत्प्राप्तिर्दानमिति दुःखविघातोपायतया गौण्यः पञ्चतारसुतारतारताररम्यकसदामुदिताख्याः । इत्येवमष्टधा[1] सिद्धिः । धृतिश्रद्धासुखवि-विदिषाविज्ञप्तिभेदात् पञ्चकर्मयोनयः । इत्यादीनां संवरप्रतिसंवरादीनां[2] च तत्त्वकौमुदीगौडपाद-भाष्यादिप्रसिद्धानां विरुद्धत्वमुद्भावनीयम् ।। इति काव्यार्थः ।।१५।।

हैं—वाचस्पति मिश्र); तथा ब्राह्मण आदिके भेदोंकी अपेक्षा न करके एक प्रकारका मनुष्य—यह चौदह प्रकारका भौतिक सर्ग कहा जाता है । (भौतिक सर्ग ऊर्ध्व, अधः और मध्यलोकके भेदसे तीन प्रकारका है । आकाशसे लेकर सत्यलोक पर्यंत ऊर्ध्वलोकमें सत्त्व, पशुसे लेकर स्थावर पर्यंत अधोलोकमें तम, और ब्रह्मसे लेकर वृक्ष पर्यंत मध्यलोकमें रजकी बहुलता है । सात द्वीप और समुद्रोंका मध्य लोकमें अन्तर्भाव होता है) । (ग) ग्यारह प्रकारके इन्द्रियवध और सतरह प्रकारके बुद्धिवधको मिला कर २८ प्रकारकी अशक्ति होती हैं । बधिरता (श्रोत्र), कुंठता (वचन), अंधापन (चक्षु), जड़ता (स्पर्श), गंधका अभाव (घ्राण), गूंगापन (जिह्वा), लूलापन (हाथ), लंगड़ापन (पैर), नपुंसकता (लिंग), गुदग्रह (पायु), तथा उन्मत्तता (मन), यह ग्यारह इन्द्रियोंका वध है । नौ तुष्टि और आठ सिद्धिको उलटा करनेसे सतरह प्रकारका बुद्धिवध होता है । प्रकृति (अंभ), उपादान (सलिल), काल (ओघ), भोग (वृष्टि) इन चार आध्यात्मिक तुष्टि, और पाँच इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्तिरूप उपार्जन, रक्षण, क्षय, भोग और हिंसासे उत्पन्न होनेवाली पार, सुपार, पारापार, अनुत्तमांभ और उत्तमांभ नामक पांच बाह्य तुष्टियोंको मिला कर नौ तुष्टि होती हैं । तीन प्रकारके दुःखोंके नाशसे उत्पन्न होनेवाली प्रमोद मुदितमोद और मान नामक तीन मुख्य सिद्धि; अध्ययन, शब्द, तर्क, सच्चे मित्रोंकी प्राप्ति, और दानसे होनेवाली तार, सुतार, तारतार, रम्यक और सदामुदित नामक पांच गौण सिद्धियोंको मिला कर आठ सिद्धियां होती हैं । (घ) धृति, श्रद्धा, सुख, वाद करनेकी इच्छा तथा ज्ञान ये पाँच कर्मयोनि हैं । इसी प्रकार संवर, प्रतिसंवर आदिकी विरुद्ध कल्पनायें सांख्यतत्त्वकौमुदी, गौड़पादभाष्य आदि ग्रंथोंमें की गई हैं ।। यह श्लोकका अर्थ है ।।

भावार्थ—सांख्य (१) चित्शक्ति (पुरुष अथवा चेतनशक्ति) से पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता । अचेतन बुद्धिसे ही पदार्थ जाने जाते हैं । यह बुद्धि पुरुषका धर्म नहीं है, केवल प्रकृतिका विकार है । इस अचेतन बुद्धिमें चित्शक्तिका प्रतिविम्ब पड़नेसे चित्शक्ति अपने आपको बुद्धिसे अभिन्न समझती है, इसलिये पुरुषमें 'मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ' ऐसा ज्ञान होता है । चित्शक्तिके प्रतिविम्ब पड़नेसे यह अचेतन बुद्धि चेतनकी तरह प्रतिभासित होने लगती है । इस बुद्धिके प्रतिविम्बका पुरुषमें झलकना ही पुरुषका भोग है । वास्तवमें बंध और मोक्ष प्रकृतिके हो होता है, पुरुष और प्रकृतिका अभेद होनेसे पुरुषके संसार और मोक्षका सद्भाव माना जाता है । वास्तवमें पुरुष निष्क्रिय और निर्लेप है । जैन—(क) चेतनशक्तिको ज्ञानसे शून्य कहना परस्पर विरुद्ध है । यदि चेतनशक्ति स्व और परका ज्ञान करनेमें असमर्थ है, तो उसे चेतनशवित नहीं कह सकते । तथा, अमूर्त चेतनशक्तिका बुद्धिमें प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता । क्योंकि मूर्त पदार्थका ही

---

१. सांख्यकारिकागौडपादभाष्ये सांख्यतत्त्वकौमुद्यां च कारिका ५३ ।

२. 'संचारप्रतिसंचारादीनाम्' इति पाठान्तरं ।

इदानीं ये प्रमाणादेकान्तेनाभिन्नं प्रमाणफलमाहुः ये च बाह्यार्थप्रतिक्षेपेण ज्ञानाद्वैतमेवास्तीति ब्रुवते तन्मतस्य विचार्यमाणत्वे विशरारुतामाह—

न तुल्यकालः फलहेतुभावो हेतौ विलीने न फलस्य भावः।
न संविदद्वैतपथेऽर्थसंविद् विलूनशीर्णं सुगतेन्द्रजालम् ॥ १६ ॥

बौद्धाः किल प्रमाणात् तत्फलमेकान्तेनाभिन्नं मन्यन्ते। तथा च तत्सिद्धान्तः—"उभयत्र तदेव ज्ञानं प्रमाणफलमधिगमरूपत्वात्[1]।" "उभयत्रेति प्रत्यक्षेऽनुमाने च तदेव ज्ञानं प्रत्यक्षानुमानलक्षणं फलं कार्यम्। कुतः। अधिगमरूपत्वादिति परिच्छेदरूपत्वात्। तथाहि। परि-

प्रतिबिंब पड़ता है। चेतनशक्तिको परिणमनशील और कर्ता माने बिना चेतनशक्तिका बुद्धिमें परिवर्तन होना भी संभव नहीं है। पूर्व रूपके त्याग और उत्तर रूपके ग्रहण किये बिना पुरुष सुख-दुखका भोक्ता नहीं कहला सकता। इस पूर्वाकारके त्याग और उत्तराकारके ग्रहण माननेसे पुरुषको निष्क्रिय नहीं कह सकते। तथा, यह पुरुष अनादिकालसे अविवेकके कारण प्रकृतिसे बँध रहा है। परन्तु प्रकृति अचेतन है, इसलिये बंध पुरुषके ही मानना चाहिये। तथा, प्रकृतिका स्वभाव सदा प्रवृत्ति करना है, अतएव प्रकृति अपने स्वभावसे कभी निवृत्त नहीं हो सकती, इसलिये पुरुषको कभी मोक्ष नहीं हो सकता! (ख) बुद्धिको जड़ मानना भी विरुद्ध है, क्योंकि बुद्धिको जड़ माननेसे उससे पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता। जिस प्रकार दर्पणमें पुरुषका प्रतिबिम्ब पड़नेसे अचेतन दर्पण चेतन नहीं हो सकता, उसी तरह अचेतन बुद्धि चेतन पुरुषके प्रतिबिम्बसे चेतन नहीं कही जा सकती। अतएव धर्म आदि बुद्धिके आठ गुण मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि बुद्धि अचेतन है। इसी तरह अहंकारको भी आत्माका ही गुण मानना चाहिये, बुद्धिका नहीं।

सांख्य (२) (क) आकाश आदि पाँच तन्मात्राओंसे उत्पन्न होते हैं। **(ख)** ग्यारह इन्द्रियाँ होती हैं। **जैन (क)** आकाश आदिकी पाँच तन्मात्राओंसे उत्पत्ति मानना अनुभवके विरुद्ध है। सत्कार्यवाद (नित्यैकान्तवादके) माननेवाले सांख्य लोग भी आकाशको नित्य मानते हैं, यह आश्चर्य है। आकाशको सभी वादियोंने नित्य माना है। **(ख)** वाक्, पाणि आदिको अलग इन्द्रिय नहीं कह सकते। क्योंकि वाक्, पाणि आदि कर्म-इन्द्रियोंसे होनेवाले कार्य शरीरके अन्य अवयवोंसे भी किये जा सकते हैं। अतएव वाक् आदिको अलग इन्द्रिय मानना ठीक नहीं। यदि इन्हें इन्द्रिय माना जाय तो शरीरके अन्य अंगोपांगोंको भी इन्द्रिय कहना चाहिये।

अब, प्रमाणसे प्रमाणके फल (प्रमितिको) सर्वथा भिन्न माननेवाले, तथा बाह्य पदार्थोंका निषेध करके ज्ञानाद्वैतको स्वीकार करनेवाले बौद्धोंका खंडन करते हैं—

श्लोकार्थ—हेतु और हेतुका फल साथ साथ नहीं रह सकते, और हेतुके नाश हो जानेपर फलकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि जगत्को विज्ञानरूप माना जाय तो पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता। अतएव बुद्धका इन्द्रजाल विशीर्ण हो जाता है।

व्याख्यार्थ—(१) बौद्धपक्ष—प्रमाण और प्रमाणका फल दोनों एकान्तरूपसे अभिन्न हैं। सिद्धान्त भी है "जो ज्ञान प्रमिति और अनुमितिका कारण होता है वही ज्ञान दोनोंमें प्रमाण फलरूप है, क्योंकि ज्ञान अधिगम रूप है।" "उभयत्र अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणमें प्रत्यक्षरूप और अनुमानरूप ज्ञान ही फलरूप (कार्यरूप) है, क्योंकि वह अधिगम रूप—परिच्छेद रूप है। तथाहि—ज्ञप्ति रूप ही ज्ञान उत्पन्न होता है। पदार्थोंको जाननेकी क्रियाके अतिरिक्त ज्ञानका कोई दूसरा फल नहीं हो सकता, क्योंकि परिच्छेदका अधिकरण और परिच्छेदसे भिन्न ज्ञानके फलका अधिकरण भिन्न-भिन्न होते हैं। (हानोपादानादि

१. दिङ्नागविरचितन्यायप्रवेशे पृ० ७।

च्छेदरूपमेव ज्ञानमुत्पद्यते। न च परिच्छेदादृतेऽन्यद् ज्ञानफलम्, भिन्नाधिकरणत्वात्[1]। इति सर्वथा न प्रत्यक्षानुमानाभ्यां भिन्नं फलमस्तीति[2] ॥"

एतच्च न समीचीनम्। यतो यद्यस्मादेकान्तेनाभिन्नं, तत्तेन सहैवोत्पद्यते। यथा घटेन घटत्वम्। तैश्च प्रमाणफलयोः कार्यकारणभावोऽभ्युपगम्यते। प्रमाणं कारणं फलं कार्यमिति। स चैकान्ताभेदे न घटते। न हि युगपदुत्पद्यमानयोस्तयोः सव्येतरगोविषाणयोरिव कार्यकारणभावो युक्तः। नियतप्राक्कालभावित्वात् कारणस्य। नियतोत्तरकालभावित्वात् कार्यस्य। एतदेवाह न तुल्यकालः फलहेतुभाव इति। फलं कार्यं हेतुः कारणम् तयोर्भावः स्वरूपम्, कार्यकारणभावः। स तुल्यकालः समानकालो न युज्यत इत्यर्थः ॥

अथ क्षणान्तरितत्वात् तयोः क्रमभावित्वं भविष्यतीत्याशङ्क्याह। हेतौ विलीने न फलस्य भाव इति। हेतौ कारणे प्रमाणलक्षणे विलीने क्षणिकत्वादुत्पत्त्यनन्तरमेव निरन्वयं विनष्टे फलस्य प्रमाणकार्यस्य न भावः सत्ता, निर्मूलत्वात्। विद्यमाने हि फलहेतावस्येदं फलमिति प्रतीयते नान्यथा, अतिप्रसङ्गात्। किञ्च, हेतुफलभावः सम्बन्धः स च द्विष्ठ एव स्यात्। न चानयोः क्षणक्षयैकदीक्षितो भवान् सम्बन्धं क्षमते। ततः कथम् 'अयं हेतुरिदं

ज्ञानका फल—कार्य—नहीं है; क्योंकि ज्ञानफलका आश्रय ज्ञान होता है और हानोपादानका अधिकरण ज्ञानसे भिन्न पुरुष होता है)। इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणका फल प्रत्यक्ष और अनुमान रूप ज्ञानसे सर्वथा भिन्न नहीं होता।"

(१) **उत्तरपक्ष**—यह ठीक नहीं है। क्योंकि जो जिससे एकान्तरूपसे अर्थात् सर्वथा अभिन्न होता है वह उसीके साथ उत्पन्न होता है। जैसे, घटसे घटत्व सर्वथा अभिन्न होता है, इसलिये घटके साथ घटत्व, उत्पत्ति होती है। तथा, बौद्ध लोग प्रमाण और प्रमाणके फलमें कार्यकारण सम्बन्ध मानते हैं—प्रमाणको कारण और प्रमाणके फलको उसका कार्य कहते हैं। यह कार्य-कारण भाव प्रमाण और उसके फलको सर्वथा अभिन्न माननेमें नहीं बनता। जैसे एक साथ उत्पन्न होनेवाले गायके बांये और दाहिने सींगोंमें कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं हो सकता, उसी प्रकार एक साथ उत्पन्न होनेवाले प्रमाण और फलमें कार्य-कारणभाव उचित नहीं। क्योंकि कारण नियतरूपसे पहले, और कार्य नियतरूपसे कारणके उत्तरकालमें होता है। कार्य-कारण-भाव समान काल वाला नहीं होता। अतएव प्रमाण और प्रमाणका फल सर्वथा अभिन्न नहीं हो सकते।

शंका—प्रमाण और प्रमाणके फलमें क्षणमात्रका अन्तर पड़ता है, अतएव प्रमाण और प्रमाणका फल क्रमसे होते हैं। **समाधान**—यह ठीक नहीं। क्योंकि बौद्ध लोगोंके क्षणिकवादमें प्रत्येक वस्तु एक क्षणके लिये ठहर कर दूसरे क्षणमें नष्ट हो जाती है, अतएव प्रमाणके क्षणिक होनेके कारण प्रमाण (कारण) के उत्पन्न होते ही सर्वथा नष्ट हो जानेसे प्रमाणके फल (कार्य) की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि कारण रूप प्रमाणका सर्वथा (निरन्वय) विनाश हो जाता है। कार्यकी उत्पत्ति उसके कारणके रहने पर ही होती है, अन्यथा नहीं। यदि कारणके विना कार्य उत्पन्न होने लगे, तो अतिप्रसंग हो जायेगा—बीजके विना वृक्षकी उत्पत्ति माननी होगी। अतएव प्रमाण और प्रमाणके फलमें कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं हो सकता। तथा, प्रमाण और उसके फलका सम्बन्ध दो पदार्थोंमें ही रहता है। किन्तु क्षण-क्षणमें नाश होनेवाले प्रमाण और प्रमाणके फलमें कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतएव 'यह हेतु है, और यह उसका फल है' यह निश्चयात्मक ज्ञान

---

१. हरिभद्रसूरिकृता न्यायप्रवेशवृत्तिः पृ० ३६।

२. पार्श्वदेवकृतन्यायप्रवेशवृत्तिपञ्जिकायां—भिन्नमधिकरणमाश्रयो यस्य फलस्य तत्तथा....अयमर्थः। ज्ञानाद्व्यतिरिक्तं यद्युच्यते फलं हानोपानादिकं तदा तत्फलं प्रमातुरेव स्यान्न ज्ञानस्य। तथाहि ज्ञानेन प्रदर्शितेऽर्थे हानादिकं तद्विषये पुरुषस्यैवोपजायते अतो हानादिकस्य भिन्नाश्रयत्वान्न फलत्वं मन्तव्यं।

फलम्' इति प्रतिनियता प्रतीतिः। एकस्य ग्रहणेऽप्यन्यस्याग्रहणे तदसंभवात्।

"द्विष्ठसंबन्धसंवित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात्।
द्वयोः स्वरूपग्रहणे सति संबन्धवेदनम्॥"[1]

इति वचनात्॥

यद्यपि धर्मोत्तरेण "अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम्। तद्वशादर्थप्रतीतिसिद्धेः"[2] इति न्यायबिन्दुसूत्रं विवृण्वता भणितम्—"नीलनिर्भासं हि विज्ञानं, यतस्तस्माद् नीलस्य प्रतीतिरवसीयते। येभ्यो हि चक्षुरादिभ्यो ज्ञानमुत्पद्यते, न तद्वशात् तज्ज्ञानं नीलस्य संवेदनं शक्यतेऽवस्थापयितुं नीलसदृशं त्वनुभूयमानं नीलस्य संवेदनमवस्थाप्यते। न चात्र जन्यजनकभावनिबन्धनः साध्यसाधनभावः। येनैकस्मिन् वस्तुनि विरोधः स्यात्। अपि तु व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावेन तत एकस्य वस्तुनः किञ्चिद्रूपं प्रमाणं किञ्चित् प्रमाणफलं न विरुध्यते। व्यवस्थापनहेतुर्हि सारूप्यं तस्य ज्ञानस्य व्यवस्थाप्यं च नीलसंवेदनरूपम्"[3] इत्यादि॥

नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमाण और प्रमाणका फल दोनों क्षणिक होनेसे एक साथ नहीं रहते। इसलिये प्रमाणके फल, और फलके होनेसे प्रमाणका ज्ञान नहीं हो सकता। कहा भी है—

"दो वस्तुओंमें रहनेवाले सम्बन्धका ज्ञान दोनों वस्तुओंके ज्ञान होने पर ही हो सकता है। यदि दोनों वस्तुओंमेंसे एक वस्तु रहे, तो उस सम्बन्धका ज्ञान नहीं होता।"

बौद्ध—"अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम्। तद्वशादर्थप्रतीतिसिद्धेः"—अर्थके साथ होनेवाली समानरूपताके कारण अर्थनिर्णयकी सिद्धि हो जानेसे अर्थके साथ होनेवाली समानरूपता प्रमाण है—इस न्यायबिन्दुके सूत्रका विवरण करनेवाले धर्मोत्तरने कहा है—"जिस कारण विज्ञानमें नील (नील वर्ण पदार्थ) का प्रतिभास होता है, उस कारण नीलकी प्रतीति होती है। जिन चक्षु आदि इन्द्रियोंसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, उन इन्द्रियोंके अधीन होनेसे इन्द्रियजन्य वह ज्ञान 'नील पदार्थका यह ज्ञान है' इस प्रकार संवेदन नहीं कर सकता, किन्तु अनुभूयमान नील (पदार्थके) सदृश ज्ञान (नीलाकार ज्ञान) नील पदार्थका ज्ञान है, ऐसा संवेदन किया जाता है। यहाँ प्रमाण और प्रमाणके फलमें जन्य-जनकभाव (कार्य-कारणभाव) जिसका कारण है ऐसा साध्य-साधनभाव नहीं है, जिससे एक वस्तुमें विरोध उत्पन्न हो; किन्तु यहाँ व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक (निश्चय-निश्चायक) रूपसे साध्य-साधनभाव है। इसलिये एक वस्तुका किंचित् प्रमाणरूप होनेमें और किंचित् प्रमाणफलरूप होनेमें विरोध नहीं आता। सारूप्य उस ज्ञान (नील पदार्थका ज्ञान) का निश्चय करनेमें हेतु है और नील पदार्थका ज्ञान व्यवस्थाप्य (निश्चेय)।" स्पष्टार्थ—बौद्ध लोग प्रमाण और प्रमितिको अभिन्न मानते हैं। उनके मतमें जिस ज्ञानसे (प्रत्यक्ष, अनुमान) पदार्थ जाने जाते हैं, वही ज्ञान प्रमाण और प्रमिति दोनों रूप होता है। बौद्ध लोगोंने पदार्थोंमें प्रवृत्ति करनेवाले संशय और विपर्यय रहित प्रापक ज्ञानको प्रमाण माना है। जिस प्रापण शक्तिसे ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न होनेपर भी प्रापक होता है, वही प्रमाणका फल है। अतएव जिस ज्ञानसे अर्थकी प्रतीति होती है, उसी ज्ञानसे अर्थका दर्शन होता है, इसलिये ज्ञान प्रमाण और प्रमिति दोनों रूप हैं (तदेव च प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रमाणफलमर्थप्रतीतिरूपत्वात्)। शंका—यदि ज्ञान प्रमिति रूप होनेसे प्रमाणका फल है, तो प्रमाण किसे कहते हैं? उत्तर—ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न होता है, और पदार्थोंके आकार रूप होकर पदार्थोंको जानता है, इसलिये ज्ञान प्रमाण है। हमारे (बौद्ध) मतके अनुसार ज्ञान इन्द्रिय आदिकी सहायतासे पदार्थोंको नहीं जानता। किन्तु नील घटको जानते समय नील घटसे उत्पन्न

---

१. कारिकेयं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके, पृ० ४२१ उद्धृता।

२. न्यायबिन्दौ १–१९, २०।

३. न्यायबिन्दौ १–२० स्वोपज्ञटीकायां।

तदप्यसारम्। एकस्य निरंशस्य ज्ञानक्षणस्य व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकत्वलक्षणस्वभावद्वयायोगात्, व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावस्यापि च संबन्धत्वेन द्विष्ठत्वादेकस्मिन्नसंभवात्। किञ्च, अर्थसारूप्यमर्थाकारता। तच्च निश्चयरूपम्, अनिश्चयरूपं वा? निश्चयरूपं चेत्, तदेव व्यवस्थापकमस्तु, किमुभयकल्पनया? अनिश्चितं चेत्, स्वयमव्यवस्थितं कथं नीलादिसंवेदनव्यवस्थापने समर्थम्? अपि च केयमर्थाकारता? किमर्थग्रहणपरिणामः? अहोस्विदर्थाकारधारित्वम्? नाद्यः, सिद्धसाधनात्। द्वितीयस्तु ज्ञानस्य प्रमेयाकारानुकरणाज्जडत्वापत्त्यादिदोषाघ्रातः। तन्न प्रमाणादेकान्तेन फलस्याभेदः साधीयान्। सर्वथातादात्म्ये हि प्रमाणफलयोर्न व्यवस्था, तद्भावविरोधात्। न हि सारूप्यमस्य प्रमाणमधिगतिः फलमिति सर्वथातादात्म्ये सिद्ध्यति, अतिप्रसङ्गात्॥

ननु प्रमाणस्यासारूप्यव्यावृत्तिः सारूप्यम्, अनधिगतिव्यावृत्तिरधिगतिरिति व्यावृत्ति-

---

ज्ञान नील घटके आकार रूप होता है। नील घटके सदृश आकारको धारण करना ही ज्ञानका प्रामाण्य है (अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणं)। शंका—यदि ज्ञान सादृश्य (नील सादृश्य) से अभिन्न है, तो उसी ज्ञानको प्रमाण और प्रमिति दोनों रूप कहना चाहिये। एक ही वस्तुमें साध्य और साधन दोनों नहीं रह सकते। अतएव ज्ञान (प्रमाण) पदार्थोंके सदृश नहीं हो सकता। उत्तर—सारूप्य (सदृश आकार) से ही पदार्थोंकी प्रतीति होती है। क्योंकि पदार्थोंको जाननेवाला प्रत्यक्ष ज्ञान नील घटके आकारका हो कर ही नील घटका ज्ञान करता है। चक्षु आदिकी सहायतासे नील घटका ज्ञान नहीं हो सकता। अतएव हम (बौद्ध) लोग प्रमाण और प्रमितिमें कार्य-कारण सम्बन्ध न स्वीकार करके व्यवस्थाप्य और व्यवस्थापक सम्बन्ध मानते हैं। सारूप्य व्यवस्थापक है, और नील ज्ञान व्यवस्थाप्य है। अतएव प्रमाण और प्रमितिको अभिन्न माननेसे कोई विरोध नहीं आता।

जैन—धर्मोत्तरका यह कथन ठीक नहीं। क्योंकि निरंश ज्ञान-क्षण (बौद्धोंके अनुसार प्रत्येक वस्तु क्षणिक है, इसलिये वे लोग घटको घट न कहकर घट-क्षण कहते हैं। इसी प्रकार यहाँ भी ज्ञान-क्षणसे क्षणिक ज्ञान समझना चाहिये) में व्यवस्थाप्यरूप और व्यवस्थापकरूप दो स्वभाव नहीं बन सकते, और व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक भावका सम्बन्ध दो पदार्थोंमें ही रहनेवाला होनेसे एक निरंश ज्ञान-क्षणमें नहीं रह सकता। तथा, ज्ञानका जो अर्थके साथ सारूप्य है वह ज्ञानकी अर्थाकारता है। यह ज्ञानका अर्थसारूप्य निश्चयरूप है, या अनिश्चयरूप? यदि यह अर्थसारूप्य निश्चयरूप है, तो इस अर्थसारूप्यको ही व्यवस्थापक (निश्चयात्मक) मानना चाहिये, उसे व्यवस्थाप्यरूप और व्यवस्थापकरूपसे अलग-अलग माननेकी आवश्यकता नहीं। यदि ज्ञानका वह अर्थसारूप्य अनिश्चित है, तो स्वयं अनिश्चित अर्थसारूप्यसे नील आदि पदार्थका ज्ञान निश्चित नहीं हो सकता। तथा, ज्ञानकी अर्थाकारतासे आपका क्या अभिप्राय है? आप लोग ज्ञेय पदार्थको जाननेवाले ज्ञानके परिणामको अर्थाकारता कहते हैं, अथवा ज्ञानके अर्थके आकाररूप होनेको अर्थाकारता कहते हैं? प्रथम पक्ष माननेमें सिद्धसाधन है, क्योंकि हम भी ज्ञानका स्वभाव पदार्थोंको जानना मानते हैं। यदि आप लोग ज्ञानके पदार्थोंके आकार रूप होनेको अर्थाकारता कहते हैं, तो ज्ञानको जड़ प्रमेयके आकार माननेमें ज्ञानको भी जड़ मानना पड़ेगा। अतएव प्रमाण और प्रमाणके फलको एकान्त अभिन्न नहीं मान सकते। क्योंकि प्रमाण और प्रमाणके फलका सर्वथा तादात्म्य सम्बन्ध माननेसे प्रमाण और प्रमाणके फलकी व्यवस्था नहीं बनती; क्योंकि एक निरंश ज्ञान-क्षणमें व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक भाव होनेमें विरोध आता है। प्रमाण और प्रमाणके फलमें सर्वथा तादात्म्य मानने पर 'ज्ञानका अर्थके साथ होनेवाला सारूप्य प्रमाण है और अर्थ ज्ञानका फल है'—यह सिद्ध नहीं होता, क्योंकि इससे अतिप्रसंग उपस्थित हो जायेगा।

शंका—सारूप्यके असारूप्यव्यावृत्ति रूप और अधिगतिके अनधिगतिव्यावृत्तिरूप होनेसे व्यावृत्तियोंमें

भेदादेकस्यापि प्रमाणफलव्यवस्थेति चेत्, नैवम्। स्वभावभेदमन्तरेणान्यव्यावृत्तिभेदस्यानुपपत्तेः। कथं च प्रमाणस्य फलस्य चाप्रमाणाफलव्यावृत्त्या प्रमाणफलव्यवस्थावत् प्रमाणान्तरफलान्तरव्यावृत्त्याप्यप्रमाणत्वस्याफलत्वस्य च व्यवस्था न स्यात्? विजातीयादिव सजातीयादपि व्यावृत्तत्वाद् वस्तुनः। तस्मात् प्रमाणात् फलं कथञ्चिद्भिन्नमेवैष्टव्यं। साध्यसाधनभावेन प्रतीयमानत्वात्। ये हि साध्यसाधनभावेन प्रतीयते ते परस्परं भिद्यते यथा कुठारच्छिदिक्रिये इति ॥

एवं यौगाभिप्रेतः प्रमाणात् फलस्यैकान्तभेदोऽपि निराकर्तव्यः तस्यैकप्रमातृतादात्म्येन प्रमाणात् कथञ्चिदभेदव्यवस्थितेः प्रमाणतया परिणतस्यैवात्मनः फलतया परिणतिप्रतीतेः यः प्रमिमीते स एवोपादत्ते परित्यजति उपेक्षते चेति सर्वव्यवहारिभिरस्खलितमनुभवात्। इतरथा स्वपरयोः प्रमाणफलव्यवस्थाविप्लवः प्रसज्यत इत्यलम् ॥

अथवा पूर्वार्द्धमिदमन्यथा व्याख्येयं। सौगताः किलेत्थं प्रमाणयन्ति। सर्वं सत् क्षणिकम्। यतः सर्वं तावद् घटादिकं वस्तु मुद्गरादिसंनिधौ नाशं गच्छद् दृश्यते। तत्र येन स्वरूपेणान्त्यावस्थायां घटादिकं विनश्यति तच्चैतत्स्वरूपमुत्पन्नमात्रस्य विद्यते तदानीमुत्पादानन्तरमेव तेन विनष्टव्यम्, इति व्यक्तमस्य क्षणिकत्वम् ॥

भेद होनेके कारण, प्रमाणके एक रूप होनेपर भी उसके प्रमाणरूप होनेका और फलरूप होनेका निश्चय होता है। **समाधान**—यह ठीक नहीं। क्योंकि भिन्न-भिन्न स्वभावोंके अभावमें व्यावृत्तियोंमें भेदका होना नहीं बनता। तथा, जिस प्रकार अप्रमाणकी व्यावृत्तिसे प्रमाणकी प्रमाणरूपताका और अफलकी व्यावृत्तिसे फलकी फलरूपताका निश्चय होता है, वैसे ही प्रमाणान्तरकी व्यावृत्तिसे प्रमाणके अप्रमाणत्वका और फलान्तरकी व्यावृत्तिसे फलके अफलत्वका निश्चय मानना चाहिये। क्योंकि जैसे आप लोग विजातीय वस्तुसे व्यावृत्ति मानते हैं, वैसे ही सजातीय वस्तुसे भी व्यावृत्ति माननी चाहिये। अतएव प्रमाण और उसका फल कथंचित् भिन्न हैं, क्योंकि दोनों साध्य-साधन भावरूपसे प्रतीयमान होते हैं। जो साध्य-साधन भावसे प्रतीयमान होते हैं, वे परस्पर भिन्न होते हैं, जैसे कुठार और छेदनक्रिया।

इससे प्रमाण और प्रमाणके फलका एकान्त भेद माननेवाले यौगोंका भी निराकरण हो जाता है। क्योंकि जो आत्मा ज्ञेय पदार्थको यथार्थरूपसे जानती है वही आत्मा उस पदार्थको ग्रहण करती है, उसका त्याग करती है और उसकी उपेक्षा करती है यह सबको दृढ़ अनुभव होता है। इससे प्रमाणरूपसे परिणत हुई आत्माकी ही फलरूपसे जो परिणति होती है, उसका निर्णायक ज्ञान होनेके कारण, इस प्रमाणफलका एक प्रमाताके साथ तादात्म्य होनेसे, प्रमाण द्वारा उसके कथंचित् अभेदकी सिद्धि होती है। यदि प्रमाण और उसके फलमें कथंचित् अभेद न माना जाये—दोनोंमें सर्वथा अभेद माना जाये—तो अपना प्रमाण और अपना फल, तथा दूसरेका प्रमाण और दूसरेका फल—इस व्यवस्थाके नाशका ही प्रसंग उपस्थित हो जाता है। (विज्ञानाद्वैतमें स्व और पर दोनों विज्ञानरूप माने गये हैं, अतएव दोनोंमें भेदका अभाव होनेसे स्वप्रमाण और स्वफल, तथा परप्रमाण और परफलकी व्यवस्थाका अभाव हो जाता है)।

(२) **पूर्वपक्ष**—'सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिक हैं' (सर्वं सत् क्षणिकं)। क्योंकि सभी घट आदि पदार्थ मुद्गर आदिका संयोग होने पर नष्ट होते हुए देखे जाते हैं। घट आदि पदार्थ अन्त्य अवस्थामें जिस स्वरूपसे विनाशको प्राप्त होते हैं, वही स्वरूप उत्पन्नमात्र पदार्थोंका होता है। अतएव उत्पत्तिके बाद ही घट आदि पदार्थ नष्ट हो जाते हैं, इसलिये सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिक हैं। **स्पष्टार्थ**—बौद्धोंके अनुसार, प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है, क्योंकि नाश होना पदार्थोंका स्वभाव है। यदि नाश होना पदार्थोंका स्वभाव न हो, तो पदार्थ दूसरी वस्तुके संयोगसे भी नष्ट नहीं हो सकते। पदार्थोंका यह क्षणिक स्वभाव पदार्थोंकी आरम्भ और अन्त दोनों अवस्थाओंमें समान है। यदि पदार्थोंको उत्पन्न होनेके बाद नाशमान न माना जाय, तो

अथेदृश एव स्वभावस्तस्य हेतुतो जातो यत्कियन्तमपि कालं स्थित्वा विनश्यति। एवं तर्हि मुद्गरादिसंनिधानेऽपि एष एव तस्य स्वभावः इति पुनरप्येतेन तावन्तमेव कालं स्थातव्यम् इति नैव विनश्येदिति। सोऽयं "अदित्सोर्वणिजः प्रतिदिनं पत्रलिखितश्वस्तनदिनभणनन्यायः"[1]। तस्मात् क्षणद्वयस्थायित्वेनाप्युत्पत्तौ प्रथमक्षणवद् द्वितीयेऽपि क्षणे क्षणद्वयस्थायित्वात् पुनरपरक्षणद्वयमवतिष्ठेत। एवं तृतीयेऽपि क्षणे तत्स्वभावत्वान्नैव विनश्येदिति ॥

स्यादेतत्। स्थावरमेव तत् स्वहेतोर्जातम्, परं बलेन विरोधकेन मुद्गरादिना विनाश्यत इति। तदसत्। कथं पुनरेतद्घटिष्यते। न च तद् विनश्यति स्थावरत्वात्, विनाशश्च तस्य विरोधिना बलेन क्रियते इति। न ह्येतत्सम्भवति जीवति देवदत्तो मरणं चास्य भवतीति। अथ विनश्यति तर्हि कथमविनश्वरं तद् वस्तु स्वहेतोर्जातमिति। न हि म्रियते च अमरणधर्मा चेति युज्यते वक्तुम्। तस्मादविनश्वरत्वे कदाचिदपि नाशायोगात् दृष्टत्वाच्च नाशस्य नश्वरमेव तद्वस्तु स्वहेतोरुपजातमङ्गीकर्तव्यम्। तस्मादुत्पन्नमात्रमेव विनश्यति। तथा च क्षणक्षयित्वं सिद्धं भवति ॥

पदार्थोंका किसी भी कारणसे नाश नहीं हो सकता। इसलिये प्रत्येक पदार्थ क्षण-क्षणमें नष्ट होता है। शंका—यदि क्षण-क्षणमें नाशको प्राप्त होनेवाले परमाणु ही वास्तविक हैं, तो घट, पट आदि स्थूल पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता। उत्तर—वास्तवमें स्थूल पदार्थोंका ज्ञान स्वप्न-ज्ञान अथवा आकाशमें केश-ज्ञानकी तरह निर्विषय है। अनादि कालकी वासनाके कारण ही स्थूल पदार्थोंका प्रतिभास होता है। शंका—यदि सम्पूर्ण पदार्थ क्षण-क्षणमें नष्ट होनेवाले हैं, तो पदार्थोंका प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता। उत्तर—जिस प्रकार दीपककी लौमें परस्पर समानता रखनेवाले पहले और दूसरे क्षणोंमें, पहले क्षणके नष्ट होनेके समय ही पहले क्षणके समान दूसरे क्षणके उत्पन्न होनेसे यह वही दीपक है, यह ज्ञान होता है, उसी प्रकार समान आकारकी ज्ञान-परम्परासे पूर्व क्षणोंके अत्यन्त नष्ट हो जानेपर भी पदार्थोंमें प्रत्यभिज्ञान होता है।

प्रतिवादी—अपनी उत्पत्तिके कारणभूत सहायकोंसे उत्पन्न हुए (कार्यरूप) पदार्थका कुछ समय तक ठहर कर नष्ट हो जाना, यह प्रत्येक पदार्थका स्वभाव है। बौद्ध—यदि पदार्थका स्वभाव क्षण-क्षणमें नाशमान न माना जाय, तो घड़ेके साथ मुद्गरका संयोग होनेपर भी घड़ा नष्ट नहीं होना चाहिये, क्योंकि मुद्गरका संयोग होनेपर भी घड़ेका नाश नहीं होनेका स्वभाव मौजूद है। अतएव जिस प्रकार कोई कर्ज़दार साहुकारके कर्ज़को न चुकानेकी इच्छासे कर्ज़ चुका देनेका प्रतिदिन वायदा करनेपर भी कभी अपने कर्ज़को नहीं चुका पाता, उसी तरह मुद्गरका संयोग होनेपर भी प्रत्येक क्षणमें नष्ट न होनेवाला घट दूसरे, तीसरे आदि क्षणमें नष्ट न हो कर सर्वदा नित्य ही रहना चाहिये। अतएव पदार्थोंका स्वभाव क्षण-क्षणमें नष्ट होनेका है।

प्रतिवादी—प्रत्येक पदार्थ अपने उत्पत्तिके कारणोंसे स्थिर रहनेके लिये ही उत्पन्न होता है, बादमें अपने बलवान विरोधी मुद्गर आदिसे नष्ट हो जाता है। बौद्ध—यह ठीक नहीं। क्योंकि यदि पदार्थका स्वभाव नष्ट नहीं होनेका है, तो यह नहीं कहा जा सकता कि पदार्थ अपने बलवान विरोधीसे नष्ट हो जाता है, क्योंकि जिस पदार्थका स्वभाव नष्ट होना नहीं है, वह पदार्थ नष्ट नहीं हो सकता। अतएव जिस प्रकार देवदत्तके जीते हुए उसको मरा हुआ नहीं कह सकते, वैसे ही यदि पदार्थ नष्ट हो जाता है, तो यह नहीं कहा जा सकता कि पदार्थ अपने उत्पत्तिके कारणोंसे स्थिर रहनेके लिये उत्पन्न हुआ था। अतएव जैसे नाशमान देवदत्तको अनाशमान नहीं कहा जा सकता, वैसे ही नष्ट होनेवाले पदार्थको अविनश्वर नहीं कह सकते। तथा, पदार्थ नाशमान देखे जाते हैं, अतएव अपनी उत्पत्तिके कारणों द्वारा उत्पन्न वस्तुको

---

१. कश्चिद् वणिक् द्रव्यमदित्सुः पत्रद्वारा प्रत्यहमुत्तमर्णाय श्वस्तनदिनं दास्य इति बोधयति तद्वत्।

प्रयोगस्त्ववेवम्। यद्विनश्वरस्वरूपं तदुत्पत्तेरनन्तरानवस्थायि, यथान्त्यक्षणवर्तिघटस्य स्वरूपम्। विनश्वरस्वरूपं च रूपादिकमुदयकाले, इति स्वभावहेतुः[1]। यदि क्षणक्षयिणो भावाः कथं तर्हि स एवायमिति प्रत्यभिज्ञा स्यात्। उच्यते। निरन्तरसदृशापरापरोत्पादात्, अविद्यानुबन्धाच्च। पूर्वक्षणविनाशकाल एव तत्सदृशं क्षणान्तरमुदयते। तेनाकारविलक्षणत्वाभावादव्यवधानाच्चात्यन्तोच्छेदेऽपि स एवायमित्यभेदाध्यवसायी प्रत्ययः प्रसूयते। अत्यन्तभिन्नेष्वपि लूनपुनरुत्पन्नकुशकाशकेशादिषु[2] दृष्ट एवायं स एवायम् इति प्रत्ययः, तथेहापि किं न संभाव्यते। तस्मात् सर्वं सत् क्षणिकमिति सिद्धम्। अत्र च पूर्वक्षण उपादानकारणम् उत्तरक्षण उपादेयम्

नश्वर ही मानना चाहिये। अतएव प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न होनेके दूसरे क्षणमें ही नष्ट हो जाता है, इसलिये प्रत्येक पदार्थ क्षणविध्वंसी है।

जिस प्रकार अन्त्यक्षणवर्ति घटका—विनाशको प्राप्त होनेवाले घटका—स्वरूप विनश्वर होनेसे, उसके विनाशके अनन्तर घट स्वस्वरूपसे (अवस्थायी) विद्यमान नहीं रहता, उसी प्रकार जिस पदार्थका स्वरूप विनश्वर होता है, वह पदार्थ उत्पत्तिके बाद अवस्थायी–अक्षणिक–नहीं होता। (जो स्वभाव स्वभाववानका का नाश होने पर नष्ट हो जाता है, वह विनश्वर होता है। पदार्थका स्वभाव विनश्वर होने पर उसकी अभिव्यक्ति होते ही उसका नाश हो जाता है। जिस पदार्थका स्वभाव विनश्वर होता है उसकी उत्पत्तिके बाद उसका स्वभाव विनश्वर होनेसे वह अवस्थायी—अक्षणिक नहीं होता)। पदार्थकी उत्पत्तिके कालमें पदार्थके रूप आदिका स्वभाव विनश्वर होता है। इस प्रकार विनश्वरस्वरूपत्व रूप हेतु स्वभावहेतु रूप है। (बौद्ध लोगोंने स्वभावहेतु, कार्यहेतु और अनुपलब्धिहेतुके भेदसे हेतुके तीन भेद माने हैं। जैसे 'यह वृक्ष है, शिंशिपा (सीसम) होनेसे'—यहां वृक्षत्व और शिंशिपात्वका कार्य-कारण संबंध न हो कर स्वभाव सम्बन्ध है, अतएव यह स्वभावहेतु अनुमान है। 'यहाँ अग्नि है, धूम होनेसे'—यहाँ पर कार्य-कारण सम्बन्ध है, इसलिये यह कार्यहेतु अनुमान है। पदार्थके न मिलनेको अनुपलब्धि कहते हैं। जैसे 'देवदत्त घरमें नहीं है, क्योंकि वह वहाँ अनुपलब्ध है'। स्वभावहेतुमें एक स्वभावसे दूसरे स्वभावका, और कार्यहेतुमें कार्यसे कारण अनुमान होता है। स्वभाव और कार्यहेतु वस्तुकी उपस्थितिको, और अनुपलब्धिहेतु वस्तुकी अनुपस्थितिको सिद्ध करते हैं)। शंका—यदि पदार्थ क्षण-क्षणमें नष्ट होनेवाले हैं, तो प्रत्येक क्षणमें नष्ट होनेवाले घटकी उत्पत्तिके प्रथम क्षणसे लगा कर अन्तिम समय तक घटके एकत्वका प्रत्यभिज्ञान-'यह वही है' नहीं हो सकता। बौद्ध—समान रूप अपर-अपर क्रमवर्ती क्षणमात्र कालवर्ती पदार्थोंकी निरन्तर उत्पत्ति होनेके कारण तथा आत्माका अविद्यासे सम्बन्ध होनेके कारण, 'यह वही है'—इस प्रकार एकत्वका प्रत्यभिज्ञान होता है। (प्रत्येक उत्तरक्षण पूर्वक्षणसे भिन्न होने पर भी, पूर्वक्षणोंमें होनेवाली सदृशताके कारण, आत्माके साथ अविद्याका सम्बन्ध होनेसे, आत्मा उन क्षणोंको एक रूप समझती है जिससे आत्माको 'यह वही है'—यह प्रत्यभिज्ञान होता है)। पूर्वकालवर्ती क्षणिक पदार्थका विनाश होनेके कालमें ही पूर्वक्षणवर्ती क्षणिक पदार्थके सदृश उत्तरक्षणवर्ती क्षणिक पदार्थ उत्पन्न होता है। अतएव पूर्वक्षणवर्ती पदार्थके आकारसे उत्तर क्षणवर्ती क्षणिक पदार्थका आकार विलक्षण—विसदृश—न होनेसे, तथा पूर्वोत्तरकालवर्ती दोनों क्षणिक पदार्थोंमें व्यवधान न होनेसे, पूर्वकालीन क्षणिक पदार्थका आत्यंतिकरूपसे विनाश होने पर भी, 'यह वही है'—इस प्रकार पूर्वोत्तर क्षणवर्ती क्षणिक पदार्थोंमें अभेदका—एकत्वका—निश्चय करनेवाला ज्ञान उत्पन्न होता है। जिस प्रकार पहले काटे हुए और फिरसे उत्पन्न होनेवाले कुश (घास), काश और केश आदिके पूर्व और

---

१. त्रीण्येव च लिङ्गानि। अनुपलब्धिः स्वभावकार्ये चेति। तत्रानुपलब्धिर्यथा न प्रदेशविशेषे क्वचिद् घटोपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरिति। स्वभावः स्वसत्तामात्रभाविनि साध्यधर्मे हेतुः। यथा वृक्षोऽयं शिंशिपात्वादिति। कार्यं यथाग्निरत्र धूमादिति।

२. पूर्वं लूनाश्छिन्नाः कुशादयः पुनरुत्पद्यन्ते।

इति पराभिप्रायमङ्गीकृत्याह न तुल्यकालः इत्यादि ॥

ते विशकलितमुक्तावलीकल्पा[1] निरन्वयविनाशिनः पूर्वक्षणा उत्तरक्षणान् जनयन्तः किं स्वोत्पत्तिकाले एव जनयन्ति, उत क्षणान्तरे ? न तावदाद्यः । समकालभाविनोर्युवतिकुचयोरिवोपादानोपादेयभावाभावात् । अतः साधूक्तम् न तुल्यकालः फलहेतुभाव इति । न च द्वितीयः । तदानीं निरन्वयविनाशेन पूर्वक्षणस्य नष्टत्वादुत्तरक्षणजनने कुतः संभावनापि । न चानुपादानस्योत्पत्तिर्दृष्टा, अतिप्रसङ्गात् । इति सुष्ठु व्याहृतं हेतौ विलीने न फलस्य भाव इति । पदार्थस्त्वनयोः पादयोः प्रागेवोक्तः । केवलमत्र फलमुपादेयं हेतुरुपादानं तद्भाव उपादानोपादेयभाव इत्यर्थः ॥

यच्च क्षणिकत्वस्थापनाय मोक्षाकरगुप्तेनानन्तरमेव प्रलपितं तत् स्याद्वादवादे निरवकाशमेव । निरन्वयनाशवर्जं कथंचित्सिद्धसाधनात् । प्रतिक्षणं पर्यायनाशस्यानेकान्तवादिभिरभ्युपगमात् । यदप्यभिहितम् 'न ह्येतत् संभवति जीवति च देवदत्तो मरणं चास्य भवतीति,' तदपि संभवादेव न स्याद्वादिनां क्षतिमावहति । यतो जीवनं प्राणधारणं, मरणं चायुर्दलिकक्षयः । ततो जीवतोऽपि देवदत्तस्य प्रतिसमयमायुर्दलिकानामुदीर्णानां क्षयादुपपन्नमेव मरणम् । न च वाच्यमन्त्यावस्थायामेव कृत्स्नायुर्दलिकक्षयात् तत्रैव मरणव्यपदेशो युक्त इति । तस्यामप्य-

---

उत्तर क्षणोंमें अत्यन्त भेद होनेपर भी 'यह वही घास है, 'यह वही काश हैं', और 'यह वही केश हैं', ऐसा ज्ञान होता है, वैसे ही क्षण-क्षणमें नष्ट होनेवाले प्रत्येक पदार्थोंके पूर्व और उत्तर च्णोंमें सर्वथा भेद होनेपर भी उनमें एकत्वका प्रत्यभिज्ञान क्यों नहीं हो सकता है ? अतः यह सिद्ध हो जाता है कि समस्त पदार्थ क्षणिक हैं । यहाँ पूर्वकालवर्ती क्षणिक पदार्थ उपादानकारण और उत्तर च्णवर्ती क्षणिक पदार्थ उपादेय है । अतएव दूसरेके अभिप्रायको मानकर 'न तुल्यकालः' इत्यादि कहा है ।

(२) उत्तरपक्ष—आपके मतमें स्खलित मोतियोंकी मालाके समान, सर्वथा नाश होनेवाले पूर्वक्षण उत्तरक्षणोंको उत्पन्न करते समय अपनी उत्पत्तिके क्षणमें ही उत्तरक्षणोंको उत्पन्न करते हैं, अथवा दूसरे क्षणमें उत्पन्न करते हैं ? अर्थात् पूर्व और उत्तरक्षण एक साथ उत्पन्न होते हैं, या क्रमसे ? पूर्वक्षण और उत्तरक्षण एक साथ उत्पन्न नहीं हो सकते । क्योंकि जैसे एक हाथसे दूसरा हाथ पैदा नहीं होता, वैसे ही पूर्वच्ण उत्तर च्णको उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि एक ही कालमें होनेवाले दो पदार्थोंमें उपादान-उपादेय भाव नहीं बन सकता । इसलिये कहा है, 'हेतु और उसका फल दोनों एक साथ नहीं हो सकते' (न तुल्यकालः फलहेतुभावः ।) यदि कहो कि पूर्वक्षण उत्तरक्षणको दूसरे च्णमें उत्पन्न करता है, तो यह भी नहीं बन सकता । क्योंकि पूर्वच्ण सर्वथा विनाशी है, उसका सर्वथा नाश हो जानेसे उससे उत्तरक्षण उत्पन्न नहीं हो सकता । अतएव दूसरे क्षणमें उपादानकारण रूप पूर्वक्षणका सर्वथा नाश होनेके पूर्वक्षणसे उत्तरक्षणकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । यदि उपादानके विना भी उपादेयकी उत्पत्ति होने लगे, तो प्रत्येक पदार्थकी उत्पत्ति माननी चाहिये । अतएव 'हेतुके नष्ट हो जानेपर फलका भी अभाव हो जाता है' (हेतौ विलीने न फलस्य भावः)— यह हमने ठीक कहा है ।

तथा क्षणिकत्व सिद्ध करनेके लिये जो मोक्षाकरगुप्त नामक बौद्धाचार्यने नित्यत्वका खंडन किया है, उसे स्याद्वादमें अवकाश नहीं हैं । क्योंकि स्याद्वादी लोग 'निरन्वय विनाशको' छोड़कर बौद्ध मतका ही समर्थन करते हैं । क्योंकि अनेकान्तवादियोंने भी पर्यायोंकी अपेक्षा प्रतिक्षण नाश स्वीकार किया है । तथा, आपने जो कहा कि 'जीते हुए देवदत्तको मरा हुआ नहीं कह सकते' उससे भी स्याद्वादियोंको कोई क्षति नहीं होती । क्योंकि स्याद्वादियोंके अनुसार, प्राणोंके धारण करनेको जीवन, और आयुके अंशोंके नाश होनेको मरण कहते हैं । अतएव देवदत्तके जीवित दशामें भी प्रत्येक समय उदय आनेवाले आयुके निषेकोंका क्षय होनेसे मरण होता रहता है । यदि आप लोग कहें कि अन्त अवस्थामें सम्पूर्ण आयुके नाश हो जानेको ही

---

१. सूत्रविगलितमौक्तिकमालासदृशाः ।

वस्थायां न्यक्षेण¹ तत्क्षयाभावात्। तत्रापि ह्यवशिष्टानामेव तेषां क्षयो न पुनस्तत्क्षण एव युगपत्सर्वेषाम्। इति सिद्धं गर्भादारभ्य प्रतिक्षणं मरणम्। इत्यलं प्रसङ्गेन॥

अथवापरथा व्याख्या। सौगतानां किलार्थेन ज्ञानं जन्यते। तच्च ज्ञानं तमेव स्वोत्पादकमर्थं गृह्णातीति। "नाकारणं विषयः" इति वचनात्। ततश्चार्थः कारणं ज्ञानं च कार्यमिति॥

एतच्च न चारु। यतो यस्मिन् क्षणेऽर्थस्य स्वरूपसत्ता तस्मिन्नद्यापि ज्ञानं नोत्पद्यते, तस्य तदा स्वोत्पत्तिमात्रव्यग्रत्वात्। यत्र च क्षणे ज्ञानं समुत्पन्नं तत्रार्थोऽतीतः। पूर्वापरकालभावनियतश्च कार्यकारणभावः। क्षणातिरिक्तं चावस्थानं नास्ति। ततः कथं ज्ञानस्योत्पत्तिः, कारणस्य विलीनत्वात्। तद्विलये च ज्ञानस्य निर्विषयतानुषज्यते, कारणस्यैव युष्मन्मते तद्विषयत्वात्। निर्विषयं च ज्ञानमप्रमाणमेवाकाशकेशज्ञानवत्। ज्ञानसहभाविनश्चार्थक्षणस्य न ग्राह्यत्वम्, तस्याकारणत्वात्। अत आह न तुल्यकाल इत्यादि। ज्ञानार्थयोः फलहेतुभावः कार्यकारणभावस्तुल्यकालो न घटते, ज्ञानसहभाविनोऽर्थक्षणस्य ज्ञानानुत्पादकत्वात्, युगपद्भाविनोः कार्यकारणभावायोगात्। अथ प्राचोऽर्थक्षणस्य ज्ञानोत्पादकत्वं भविष्यति, तन्न। यत आह हेतौ इत्यादि। हेतावर्थरूपे ज्ञानकारणे विलीने क्षणिकत्वान्निरन्वयं विनष्टे न

मरण कहते हैं, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि अन्त अवस्थामें भी आयुके अवशिष्ट अंशोंका ही नाश होता है, एक ही क्षणमें आयुके सम्पूर्ण भागोंका नाश नहीं होता। अतएव गर्भके धारण करनेसे लेकर मृत्यु पर्यंत मनुष्यका मरण होता रहता है, यह निर्विवाद है।

(३) पूर्वपक्ष—ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न होकर उसी पदार्थको जानता है। कहा भी है "जो पदार्थ ज्ञानोत्पत्तिका कारण नहीं होता, वह ज्ञानका विषय भी नहीं होता।" अतएव पदार्थ कारण है और ज्ञान कार्य है।

(३) उत्तरपक्ष—यह ठीक नहीं। क्योंकि जिस क्षणमें पदार्थ स्वरूपसे विद्यमान रहता है, उस क्षणमें ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता; उस समय वह अपनी उत्पत्तिमें व्यग्र रहता है। बौद्धोंके क्षणिकवादके अनुसार जब तक एक पदार्थ बनकर पूर्ण न हो जाय, उस समय तक वह ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं कर सकता। तथा जिस क्षणमें ज्ञान उत्पन्न होता है, उस समय पदार्थ नष्ट हो जाता है (क्योंकि प्रत्येक पदार्थ क्षण-क्षणमें नष्ट होनेवाला है)। तथा क्रमसे पूर्व और उत्तर कालमें होनेवाले पदार्थोंमें ही कार्य-कारण भाव होता है। परन्तु बौद्ध मतमें कोई भी वस्तु क्षणमात्रसे अधिक नहीं ठहरती। अतएव ज्ञानकी उत्पत्तिके क्षणमें ज्ञानके कारण पदार्थके नाश हो जानेसे ज्ञानकी उत्पत्ति होनेके पहले ही ज्ञानका कारण पदार्थ नष्ट हो जाता है, परन्तु आप लोगोंके मतमें कारणको ही विषय माना है, इसलिये ज्ञानको निर्विषय मानना चाहिये। यह निर्विषय ज्ञान आकाशमें केश-ज्ञानकी तरह प्रमाण नहीं हो सकता। तथा यदि ज्ञान और पदार्थको सहभावी माना जाय, तो पदार्थ ज्ञानका विषय नहीं हो सकता, क्योंकि पदार्थ ज्ञानका कारण नहीं है; कारण कार्यसे पहले उत्पन्न होता है, अतः कारण कार्यका सहभावी नहीं होता। अतएव आपके सिद्धान्तके अनुसार पदार्थ ज्ञानका विषय (कारण) नहीं हो सकता। इसलिये हमने कहा है 'ज्ञान और पदार्थमें एक समयमें कार्य और कारण भाव नहीं बन सकता' (न तुल्यकालः फलहेतुभावो)। इसलिए ज्ञानके साथ उत्पन्न होनेवाला पदार्थ ज्ञानको उत्पन्न नहीं कर सकता। कारण कि एक साथ उत्पन्न होनेवाली दो वस्तुओंमें कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं होता। यदि कहो कि ज्ञानके पहले उत्पन्न होनेवाला पदार्थ ज्ञानको उत्पन्न करता है, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि हमने पहले कहा है—'क्षणिक होनेसे पदार्थका निरन्वय विनाश होनेके कारण, नष्ट हुए पदार्थसे ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो

---

१. साकल्येन।

फलस्य ज्ञानलक्षणकार्यस्य भाव आत्मलाभः स्यात्। जनकस्यार्थक्षणस्यातीतत्वाद् निर्मूलमेव ज्ञानोत्थानं स्यात्।

जनकस्यैव च ग्राह्यत्वे इन्द्रियाणामपि ग्राह्यत्वापत्तिः, तेषामपि ज्ञानजनकत्वात्। न चान्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थस्य ज्ञानहेतुत्वं दृष्टं, मृगतृष्णादौ जलाभावेऽपि जलज्ञानोत्पादात्, अन्यथा तत्प्रवृत्तेरसंभवात्। भ्रान्तं तज्ज्ञानमिति चेत्, ननु भ्रान्ताभ्रान्तविचारः स्थिरीभूय क्रियतां त्वया। सांप्रतं प्रतिपद्यस्व तावदनर्थजमपि ज्ञानम्। अन्वयेनार्थस्य ज्ञानहेतुत्वं दृष्टमेवेति चेत्। न। न हि तद्भावे भावलक्षणोऽन्वय एव हेतुफलभावनिश्चयनिमित्तम् अपि तु तदभावेऽभावलक्षणो व्यतिरेकोऽपि। स चोक्तयुक्त्या नास्त्येव। योगिनां चातीतानागतार्थग्रहणे किमर्थस्य निमित्तत्वम्, तयोरसत्त्वात्।

"ण णिहाणगया भग्गा पुंजो णत्थि अणागए।
णिव्वुया णेव चिट्ठंति आरग्गे सरिसवोवमा॥"[1]

इति वचनात्। निमित्तत्वे चार्थक्रियाकारित्वेन सत्त्वादतीतानागतत्वक्षतिः॥

सकती' (हेतौ विलीने न फलस्य भावः)। क्योंकि ज्ञानको उत्पन्न करनेवाले पदार्थके नष्ट होनेपर ज्ञान निर्विषय रह जाता है।

तथा, ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण भूत पदार्थको ज्ञानका विषय माननेसे इन्द्रियोंको भी ज्ञानका विषय स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि इन्द्रियाँ भी ज्ञानको उत्पन्न करती हैं। परन्तु आप लोगोंने पदार्थकी तरह इन्द्रियोंको ज्ञानका विषय नहीं माना है। शंका—पदार्थ ज्ञानका विषय (कारण) है, क्योंकि पदार्थका ज्ञानके साथ अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध है। जैसे अग्नि धूमका कारण है, क्योंकि 'जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है,' और 'जहाँ अग्नि नहीं होती, वहाँ धूम नहीं होता,' वैसे ही 'जहाँ ज्ञान होता है, वहाँ पदार्थ होता है,' और 'जहाँ पदार्थ नहीं होता, वहाँ ज्ञान भी नहीं होता' इसलिये ज्ञान और पदार्थमें अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध होनेसे पदार्थ ज्ञानका कारण है। समाधान—यह ठीक नहीं। क्योंकि जिस प्रकार धूमका होना अग्निके ऊपर अवलम्बित है, उस प्रकार ज्ञानका होना पदार्थके ऊपर अवलम्बित नहीं। कारण कि मृगतृष्णामें जल (अर्थ)के अभाव होनेपर भी जलको पानेके लिये मनुष्यकी प्रवृत्ति देखी जाती है। शंका—मृगतृष्णामें जलका ज्ञान होना भ्रमपूर्ण है, अतएव यहाँ पदार्थके विना भी ज्ञान हो जाता है। समाधान—यहाँ ज्ञानके भ्रमरूप या अभ्रमरूप होनेका प्रश्न नहीं है, प्रश्न है कि ज्ञान पदार्थके बिना भी उत्पन्न होता है। यदि कहो कि जहाँ ज्ञान होता है, वहीं पदार्थ होता है, इसलिये पदार्थ ज्ञानका कारण है, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि जब तक पदार्थोंमें अन्वय और व्यतिरेक दोनों सम्बन्ध न रहें, तब तक उनमें कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं बन सकता। अतएव जब तक पदार्थ और ज्ञानमें 'जहाँ पदार्थ न हो, वहाँ ज्ञान भी न हो' इस प्रकारका व्यतिरेक सम्बन्ध न बने, तब तक पदार्थको ज्ञानका हेतु नहीं कह सकते। यह व्यतिरेक सम्बन्ध पदार्थ और ज्ञानमें नहीं है, क्योंकि मृगतृष्णामें जलका अभाव होनेपर भी जलका ज्ञान होता है। तथा, अतीत और अनागत पदार्थोंको जाननेवाले योगियोंके ज्ञानमें पदार्थ कारण नहीं हो सकता। क्योंकि अतीत और अनागत पदार्थोंको जानते समय अतीत और अनागत पदार्थोंका अभाव रहता है। अतएव भूत, भविष्यत् पदार्थ ज्ञानमें कारण नहीं हो सकते। कहा भी है—

"जो पदार्थ नष्ट हो गये हैं, वे किसी खजानेमें जमा नहीं हैं, तथा जो पदार्थ आनेवाले हैं, उनका कहीं ढेर नहीं लगा है। जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं, वे सूईकी नोकपर रक्खी हुई सरसोंके समान स्थायी नहीं हैं।"

यदि अतीत और अनागत पदार्थोंको भी ज्ञानमें कारण माना जाय, तो अर्थक्रियाकारी होनेसे उनके अतीतत्व, और अनागतत्वका अभाव हो जाता है।

---

१. छाया–न निधानगता भग्नाः पुंजो नास्त्यनागते। निर्वृत्ता नैव तिष्ठन्ति आराग्रे सर्षपोपमाः॥

न च प्रकाश्यादात्मलाभ एव प्रकाशकस्य प्रकाशकत्वं, प्रदीपादेर्घटादिभ्योऽनुत्पन्नस्यापि तत्प्रकाशकत्वात्। जनकस्यैव च ग्राह्यत्वाभ्युपगमे स्मृत्यादेः प्रमाणस्याप्रामाण्यप्रसङ्गः तस्यार्था-जन्यत्वात्। न च स्मृतिर्न प्रमाणम्, अनुमानप्रमाणप्राणभूतत्वात् साध्यसाधनसम्बन्धस्मरण-पूर्वकत्वात् तस्य। जनकमेव च चेद् ग्राह्यम्, तदा स्वसंवेदनस्य कथं ग्राहकत्वम्। तस्य हि ग्राह्यं स्वरूपमेव। न च तेन तज्जन्यते, स्वात्मनि क्रियाविरोधात्। तस्मात् स्वसामग्रीप्रभव-योर्घटप्रदीपयोरिवार्थज्ञानयोः प्रकाश्यप्रकाशकभावसंभवाद् न ज्ञाननिमित्तत्वमर्थस्य ॥

नन्वर्थाजन्यत्वे ज्ञानस्य कथं प्रतिनियतकर्मव्यवस्था। तदुत्पत्तितदाकारताभ्यां हि सोपपद्यते। तस्मादनुत्पन्नस्यातदाकारस्य च ज्ञानस्य सर्वार्थान् प्रत्यविशेषात् सर्वग्रहणं प्रसज्येत। नैवम्। तदुत्पत्तिमन्तरेणाप्यावरणक्षयोपशमलक्षणया योग्यतयैव प्रतिनियतार्थ-प्रकाशकत्वोपपत्तेः। तदुत्पत्तावपि च योग्यतावश्यमेष्टव्या। अन्यथाऽशेषार्थसान्निध्ये तत्तदर्था-सांनिध्येऽपि कुतश्चिदेवार्थात् कस्यचिदेव ज्ञानस्य जन्मेति कौतस्कुतोऽयं विभागः ॥

तदाकारता त्वर्थाकारसंक्रान्त्या तावदनुपपन्ना, अर्थस्य निराकारत्वप्रसङ्गात् ज्ञानस्य

शंका—प्रकाश्य पदार्थ से उत्पन्न होकर पदार्थोंको प्रकाशित करना ही प्रकाशक (ज्ञान) का प्रकाशकपना है। **समाधान**—यह ठीक नहीं। क्योंकि घट आदिसे उत्पन्न न होनेवाले भी दीपक आदि घटको प्रकाशित करते हैं। अतएव प्रकाश्य (अर्थ) और प्रकाशक (ज्ञान) में कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं हो सकता। तथा, यदि ज्ञानको पदार्थसे उत्पन्न हुआ मान कर, ज्ञानको उसी पदार्थका जाननेवाला स्वीकार किया जाय, तो स्मृति आदिको अप्रमाणत्वका प्रसंग उपस्थित हो जाता है; क्योंकि स्मृति आदि प्रमाण किसी पदार्थसे उत्पन्न नहीं होते। तथा, स्मृति प्रमाण नहीं, ऐसी बात नहीं; क्योंकि स्मृति प्रमाण, साध्य-साधनके अविनाभाव रूप सम्बन्ध (व्याप्ति) के स्मरणपूर्वक होनेवाले अनुमान प्रमाणका प्राणभूत है। तथा, जो पदार्थ ज्ञानको उत्पन्न करनेवाला है, वही ज्ञानका विषय होता हो तो स्वसंवेदन ज्ञानके ग्राहकत्व की सिद्धि कैसे होगी? स्वसंवेदन ज्ञानका जानने योग्य विषय उसका अपना स्वरूप ही होता है। स्वसंवेदनसे स्वसंवेदन ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि स्वसंवेदन ज्ञानमें अपनी उत्पत्ति क्रिया होनेमें विरोध आता है। अतएव जैसे अपनी-अपनी उपादान और सहाकारीभूत सामग्रीसे उत्पन्न होनेवाले घट और प्रदीपमें प्रकाश्य-प्रकाशक भाव होता है, वैसे ही अपनी-अपनी उपादान और सहकारी भूत सामग्रीसे उत्पन्न होनेवाले अर्थ और ज्ञानमें प्रकाश्य-प्रकाशकभाव संभव होनेसे अर्थका ज्ञान निमित्तत्व अर्थात् अर्थके ज्ञान की उत्पत्तिमें कारण होना संभव नहीं।

बौद्ध—यदि ज्ञानकी उत्पत्ति पदार्थसे उत्पन्न नहीं होती, तो विवक्षित ज्ञेय पदार्थका निश्चित ज्ञान कैसे होगा? यह व्यवस्था ज्ञानको उस पदार्थसे उत्पन्न होनेवाला, और उस पदार्थके आकाररूप होकर उस पदार्थको जाननेवाला माननेसे ही बन सकती है। अन्यथा पदार्थसे उत्पन्न न होनेवाले और ज्ञेयाकार रूप न होनेवाले ज्ञानकी सभी पदार्थोंके विषयमें समानरूपता होनेसे एक पदार्थको जानते समय ज्ञानको प्रत्येक पदार्थको जानना पड़ जायेगा। **जैन**—यह ठीक नहीं। क्योंकि ज्ञानकी उत्पत्ति ज्ञेय पदार्थसे न होने पर भी ज्ञेय पदार्थके ज्ञानको आवृत करनेवाले कर्मके क्षयोपशमसे अभिव्यक्त विशिष्ट क्षायोपशमिक ज्ञानसे ही प्रतिनियत अर्थके विषयमें आत्माका प्रकाशकत्व घटित होता है। ज्ञेय पदार्थसे ज्ञानकी उत्पत्ति होनेमें भी ज्ञानकी क्षयोपशम रूप योग्यताको अवश्य स्वीकार करना होगा। यदि इस योग्यताको स्वीकार न किया जाये तो अनेक पदार्थोंका सांनिध्य होनेपर उस-उस अर्थका सांनिध्य न होनेपर भी, किसी भी अर्थसे किसी भी ज्ञानकी उत्पत्ति हो जाया करेगी, और फिर यह ज्ञान इसी पदार्थका है, यह विभाग नहीं बन सकेगा।

ज्ञानको पदार्थके आकारका मानना भी संगत नहीं है, अन्यथा पदार्थको ज्ञानके आकारका होनेसे

साकारत्वप्रसङ्गाच्च। अर्थेन च मूर्तेनामूर्तस्य ज्ञानस्य कीदृशं सादृश्यम्। इत्यर्थविशेषग्रहण-परिणाम एव साभ्युपेया। ततः—

"अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपताम्।
तस्मात् प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता" ॥[1]

इति यत्किञ्चिदेतत्॥

अपि च, व्यस्ते समस्ते वैते ग्रहणकारणं स्याताम्। यदि व्यस्ते, तदा कपालाद्यक्षणो घटान्त्यक्षणस्य, जलचन्द्रो वा नभश्चन्द्रस्य ग्राहकः प्राप्नोति, यथासंख्यं तदुत्पत्तेः तदाकारत्वाच्च। अथ समस्ते, तर्हि घटोत्तरक्षणः पूर्वघटक्षणस्य ग्राहकः प्रसजति, तयोरुभयोरपि सद्भावात्। ज्ञानरूपत्वे सत्येते ग्रहणकारणमिति चेत्, तर्हि समानजातीयज्ञानस्य समनन्तर-ज्ञानग्राहकत्वं प्रसज्येत, तयोर्जन्यजनकभावसद्भावात्। तन्न योग्यतामन्तरेणान्यद् ग्रहणकारणं पश्याम इति॥

पदार्थको निराकार, और ज्ञानको पदार्थके आकारका होनेसे ज्ञानको साकार मानना होगा। परन्तु मूर्त पदार्थोंके साथ अमूर्त ज्ञानकी समानता नहीं हो सकती। अतएव ज्ञानकी अर्थाकारताका कार्य प्रतिनियत पदार्थोंका ज्ञान ही मानना चाहिये। इसलिये—

"ज्ञानकी अर्थाकारताको छोड़कर पदार्थ और ज्ञानका कोई सम्बन्ध नहीं होता, अतएव ज्ञानका पदार्थोंके आकार होना ही ज्ञानकी प्रमाणता है," यह आप लोगोंका कथन खण्डित हो जाता है।

तथा, आप लोगोंका जो कहना है कि ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न होता है (तदुत्पत्ति), और पदार्थोंके आकार होकर पदार्थका ज्ञान करता है (तदाकार), सो यह ज्ञानकी तदुत्पत्ति और तदाकारता पदार्थोंके ज्ञानमें अलग-अलग रूपसे कारण हैं, अथवा मिलकर? यदि कहो कि कहीं तदुत्पत्ति और कहीं तदाकारता पदार्थोंके ज्ञानमें अलग-अलग कारण हैं, तो कपालके प्रथम क्षणको घटके अन्तिम क्षणका ज्ञान होता है, ऐसा मानना चाहिये, क्योंकि घटके अन्तिम क्षणसे कपालका प्रथम क्षण उत्पन्न होता है (तदुत्पत्ति); तथा चन्द्रमाके जलमें पड़नेवाले प्रतिविम्बको आकाशके चन्द्रमाका ज्ञान होता है, ऐसा मानना चाहिये, क्योंकि जल-चन्द्र आकाश-चन्द्रके आकारको धारण करता है (तदाकार)। परन्तु घटके अन्तिम क्षणसे कपालके प्रथम क्षणके उत्पन्न होनेपर भी कपालके प्रथम क्षणको घटके अन्तिम क्षणका ज्ञान नहीं होता; तथा जलमें पड़नेवाले चन्द्रमाके प्रतिबिम्बके आकाशके चन्द्रमाके आकारका होनेपर भी जल-चन्द्रको आकाश-चन्द्रका ज्ञान नहीं होता। अतएव तदुत्पत्ति और तदाकारता अलग-अलग पदार्थके ज्ञानमें कारण नहीं हैं। यदि कहो कि तदुत्पत्ति और तदाकारता दोनों मिलकर पदार्थोंके ज्ञानमें कारण हैं, तो यह ठीक नहीं; क्योंकि घटका उत्तर-क्षण घटके पूर्व-क्षणसे उत्पन्न भी होता है (तदुत्पत्ति), और पूर्व-क्षणवर्ती घटाकार भी है (तदाकारता), परन्तु उत्तर-क्षण घटको पूर्व-क्षणवर्ती घटका ज्ञान नहीं होता। **शंका**—जो ज्ञान जिस पदार्थसे उत्पन्न हुआ है, और जिस पदार्थके आकारको धारण करता है, वह ज्ञान उसी पदार्थको जानता है, इसलिये यह नियम नहीं है कि जो कोई वस्तु जिस किसी वस्तुसे उत्पन्न होती हो, और जिस वस्तुका आकार रखती हो, वह उस वस्तुको जाने (ज्ञानरूपत्वे सति तदुत्पत्ति तदाकारता)। **समाधान**—यह भी ठीक नहीं। क्योंकि पीछेसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञान (समनन्तर ज्ञान) के पूर्ववर्ती सजातीय ज्ञानसे उत्पन्न होने, और उसके आकार रूप होनेके कारण पूर्ववर्ती समानजातीय ज्ञानके ग्राहक होनेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा। अतएव प्रत्येक ज्ञानके प्रतिनियत पदार्थोंको जाननेमें कर्मोंके आवरणकी क्षयोपशम रूप योग्यताको ही कारण मानना चाहिये।

---

१. प्रमाणवार्तिके ३-३०५।

अथोत्तरार्द्धं व्याख्यातुमुपक्रम्यते। तत्र च बाह्यार्थनिरपेक्षं ज्ञानाद्वैतमेव ये बौद्धविशेषा मन्वते तेषां प्रतिक्षेपः। तन्मतं चेदम्। ग्राह्यग्राहकादिकलङ्कानङ्कितं निष्प्रपञ्चं ज्ञानमात्रं परमार्थसत्। बाह्यार्थस्तु विचारमेव न क्षमते। तथाहि। कोऽयं बाह्योऽर्थः? किं परमाणुरूपः स्थूलावयविरूपो वा? न तावत् परमाणुरूपः, प्रमाणाभावात्। प्रमाणं हि प्रत्यक्षमनुमानं वा? न तावत्प्रत्यक्षं तत्साधनबद्धकक्षम्। तद्धि योगिनां[1] स्यात् अस्मदादीनां वा? नाद्यम्, अत्यन्तविप्रकृष्टतया श्रद्धामात्रगम्यत्वात्। न द्वितीयम्, अनुभवबाधितत्वात्। न हि वयमयं परमाणुरयं परमाणुरिति स्वप्नेऽपि प्रतीमः, स्तम्भोऽयं कुम्भोऽयमित्येवमेव नः सदैव संवेदनोदयात्। नाप्यनुमानेन तत्सिद्धिः, अणूनामतीन्द्रियत्वेन तैः सहाविनाभावस्य क्वापि लिङ्गे ग्रहीतुमशक्यत्वात्॥

किञ्च, अमी नित्या अनित्या वा स्युः। नित्याश्चेत्, क्रमेणार्थक्रियाकारिणो युगपद्वा? न क्रमेण, स्वभावभेदेनानित्यत्वापत्तेः। न युगपत्, एकक्षण एव कृत्स्नार्थक्रियाकरणात् क्षणान्तरे तदभावादसत्त्वापत्तिः। अनित्याश्चेत्, क्षणिकाः कालान्तरस्थायिनो वा? क्षणिकाश्चेत्, सहेतुका निर्हेतुका वा? निर्हेतुकाश्चेत्, नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा स्यात्, निरपेक्षत्वात्। अपेक्षातो हि कादाचित्कत्वम्। सहेतुकाश्चेत्, किं तेषां स्थूलं किंचित् कारणं परमाणवो

---

(४) ज्ञानाद्वैतवादी (पूर्वपक्ष)—ग्राह्य, ग्राहक आदिसे रहित निष्प्रपंच ज्ञान मात्र ही परमार्थसत् है, क्योंकि बाह्य पदार्थोंका अभाव है। हम पूछते हैं कि परमाणुओंके समूहको बाह्य पदार्थ कहते हैं, अथवा स्थूल अवयवीरूप एक पिंडको ? यदि परमाणुओंके समूहको बाह्य अर्थ कहते हैं, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाणसे परमाणुरूप बाह्य पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता। योगिप्रत्यक्ष अत्यन्त परोक्ष है, और वह केवल श्रद्धाका ही विषय है, इसलिये योगिप्रत्यक्षसे परमाणुरूप बाह्य पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता। इन्द्रियप्रत्यक्षसे भी बाह्य पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता, क्योंकि इन्द्रियप्रत्यक्षसे परमाणुरूप सूक्ष्म पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता, उससे केवल स्तंभ (खंभा) और कुंभ (घड़ा) रूप स्थूल पदार्थोंका ही ज्ञान हो सकता है। अनुमानसे भी परमाणुरूप बाह्य पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता, क्योंकि परमाणु अतीन्द्रिय पदार्थ हैं, इसलिये परमाणुरूप साध्यका प्रत्यक्षसे ज्ञान न होनेके कारण, साध्यके अविनाभावी हेतुका भी ज्ञान नहीं हो सकता।

तथा, परमाणु नित्य हैं, या अनित्य ? यदि नित्य हैं तो क्रमसे अर्थक्रिया करते हैं, अथवा एक साथ ? यदि परमाणु नित्य होकर क्रमसे अर्थक्रिया करते हैं, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि परमाणुओंमें क्रमसे अर्थक्रिया माननेमें परमाणुओंमें स्वभावका भेद मानना पड़ेगा। तथा परमाणुओंमें स्वभाव-भेद माननेसे परमाणुओंको नित्य नहीं कह सकते। परमाणु एक साथ भी अर्थक्रिया नहीं कर सकते। क्योंकि यदि परमाणु एक साथ समस्त अर्थक्रिया करने लगें, तो विश्वमें जो क्रम-क्रमसे परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, वह नहीं होना चाहिये। तथा समस्त अर्थक्रियाके एक ही समयमें समाप्त हो जानेसे दूसरे क्षणमें अर्थक्रियाका अभाव होगा, इसलिये परमाणुओंका अस्तित्व ही नष्ट हो जायगा। यदि परमाणु अनित्य हैं, तो वे क्षणिक हैं, अथवा एक क्षणके बाद भी रहते हैं ? यदि परमाणु क्षणिक हैं, तो वे किसी कारणसे उत्पन्न हुए हैं ? या किसी कारणसे उत्पन्न नहीं हुए हैं ? यदि परमाणु किसी कारणसे उत्पन्न नहीं हुए हैं तो उन परमाणुओंका या तो नित्यकाल अस्तित्व होगा (विनश्वर न होनेसे वे क्षणिक नहीं होंगे) ? अथवा नित्यकाल उनका अभाव होगा (उत्पादक, उपादान और निमित्त कारणोंका सदा अभाव होनेसे उन परमाणुओंका सभी कालोंमें अभाव होगा) ? क्योंकि निर्हेतुक पदार्थ उत्पत्तिके कारणोंकी अपेक्षा नहीं रखते। कादाचित्कत्व—अनित्यत्व—उत्पादक कारणोंकी अपेक्षा रखने ही होता है। (तात्पर्य यह है कि परमाणुओंको अनित्य भी

---

१. भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानं चेति—न्यायबिन्दौ १-११.

वा ? न स्थूलं, परमाणुरूपस्यैव बाह्यार्थस्याङ्गीकृतत्वात्। न च परमाणवः ते हि सन्तोऽसन्तः सदसन्तो वा स्वकार्याणि कुर्युः। सन्तश्चेत्, किमुत्पत्तिक्षण एव क्षणान्तरे वा ? नोत्पत्तिक्षणे, तदानीमुत्पत्तिमात्रव्यग्रत्वात् तेषाम्। अथ "भूतिर्येषां क्रिया सैव कारणं सैव चोच्यते" इति वचनाद् भवनमेव तेषामपरोत्पत्तौ कारणमिति चेत्, एवं तर्हि रूपाणवो रसाणूनाम्, ते च तेषामुपादानं स्युः, उभयत्रभवनाविशेषात्। न च क्षणान्तरे, विनष्टत्वात्। अथासन्तस्ते तदुत्पादकाः, तर्हि एकं स्वसत्ताक्षणमपहाय सदा तदुत्पत्तिप्रसङ्गः, तदसत्त्वस्य सर्वदाऽविशेषात्। सदसत्पक्षस्तु "प्रत्येकं यो भवेद्दोषो द्वयोर्भावे कथं न सः" इति वचनाद्विरोधाघ्रात एव। तन्नाणवः क्षणिकाः॥

नापि कालान्तरस्थायिनः। क्षणिकपक्षसदृक्षयोगक्षेमत्वात्। किञ्च, अमी कियत्कालस्थायिनोऽपि किमर्थक्रियापराङ्मुखाः तत्कारिणो वा ? आद्ये खपुष्पवदसत्त्वापत्तिः। उदग्विकल्पे किमसद्रूपं सद्रूपमुभयरूपं वा ते कार्यं कुर्युः ? असद्रूपं चेत्, शशविषाणादेरपि किं न

मानना और निरपेक्ष भी मानना उचित नहीं। क्योंकि अनित्य पदार्थ सापेक्ष होता है और नित्य पदार्थ निरपेक्ष होता हैं, अर्थात् अपने उत्पादक कारणोंकी अपेक्षा वह नहीं रखता)। यदि परमाणु सहेतुक हैं तो कोई स्थूल कारण परमाणुओंका हेतु है, अथवा स्वयं परमाणु ही परमाणुओंमें हेतु है ? यदि स्थूल पदार्थको परमाणुओंका कारण माना जाय, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि आप स्थूल बाह्य पदार्थोंका अस्तित्व स्वीकार नहीं करते—आप लोगोंने बाह्य पदार्थोंको परमाणुरूप ही माना हैं। तथा स्वयं परमाणु भी परमाणुओंमें कारण नहीं हैं। क्योंकि हम पूछते हैं कि ये परमाणु सत्, असत्, अथवा सत्-असत् होकर अपने कार्यको करते हैं ? यदि परमाणु सत्रूप होकर अपने कार्यको करें तो परमाणु उत्पत्तिके समय ही अपना कार्य करते हैं, अथवा उत्पत्तिके दूसरे क्षणमें ? परमाणु उत्पत्तिके समय अपना कार्य नहीं करते, क्योंकि उस समय परमाणु अपनी उत्पत्तिमें ही व्यग्र रहते हैं। यदि कहो कि "उत्पन्न होना ही क्रिया है, और क्रिया ही कारण है" इसलिये परमाणुओंकी उत्पत्ति होना ही दूसरोंकी उत्पत्ति होनेमें कारण है; यह भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि उत्पन्न होना ही उत्पत्तिमें कारण मान लिया जाय, तो रूपके परमाणुओंको रसके परमाणुओंकी उत्पत्तिमें कारण मानना चाहिये, इसलिये रूपके परमाणुओंको रस-परमाणुओंका उपादान कारण कहना चाहिये। क्योंकि जैसे एक परमाणु स्वयं उत्पन्न होकर दूसरे परमाणुओंकी उत्पत्ति कर सकता है, वैसे ही रूप और रसके परमाणु भी साथ उत्पन्न होते हुए एक दूसरेकी उत्पत्तिमें सहायक हो सकते हैं। अतएव रूप-परमाणु और रस-परमाणुओंको अपनी-अपनी उत्पत्तिमें पृथक् कारण न मानकर रूपके परमाणुओंकी रसके परमाणुओंसे उत्पत्ति माननी चाहिये। यदि कहो कि परमाणु सत्रूप होकर दूसरे क्षणमें अपना कार्य करते हैं, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि परमाणु उत्पत्तिके बाद ही नष्ट हो जाते हैं। यदि कहो कि परमाणु असत्रूप होकर अपना कार्य करते हैं (दूसरा पक्ष) तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि अपनी उत्पत्तिके समयको छोड़कर सदा ही इन परमाणुओंको अपना कार्य करते रहना चाहिये; कारण कि असत् परमाणु सदा एकसे रहते हैं। तथा, सत्-असत्रूप होकर भी परमाणु कार्य नहीं करते (तीसरा पक्ष), क्योंकि "जो दोष सत् और असत् एक-एक स्वभावके अलग-अलग माननेमें कहे गये हैं, वे सब दोष सत्-असत् दोनों स्वभावोंको एक साथ माननेमें भी आते हैं।" इसलिये परमाणु सत् और असत्रूप होकर भी अर्थक्रिया नहीं कर सकते। अतएव परमाणु क्षणिक नहीं हैं।

तथा, अनित्य परमाणु एक क्षणके बाद दूसरे क्षणमें स्थित रह कर भी (एक क्षणसे अधिक, परन्तु परिमित समय तक रहनेवाले) अर्थक्रिया नहीं कर सकते। क्योंकि परमाणुओंको क्षणिक मानकर अर्थक्रियाकारी माननेमें जो दोष आते हैं, वे यहाँ भी आते हैं। तथा, एक क्षणके बाद रहनेवाले परमाणु अर्थक्रिया करते हैं, अथवा नहीं ? यदि ये परमाणु अर्थक्रिया नहीं करते, तो आकाशके फूलकी तरह इन परमाणुओं-

करणम्। सद्रूपं चेत्, सतोऽपि करणेऽनवस्था। तृतीयभेदस्तु प्राग्वद्विरोधदुर्गन्धः। तन्नाणुरूपोऽर्थः सर्वथा घटते ॥

नापि स्थूलावयविरूपः। एकपरमाण्वसिद्धौ कथमनेकतत्सिद्धिः। तदभावे च तत्प्रचयरूपः स्थूलावयवी वाङ्मात्रम्। किञ्च, अयमनेकावयवाधार इष्यते। ते चावयवा यदि विरोधिनः, तर्हि नैकः स्थूलावयवी, विरुद्धधर्माध्यासात्। अविरोधिनश्चेत्, प्रतीतिबाधः। एकस्मिन्नेव स्थूलावयविनि चलाचलरक्तारक्तावृतानावृतादिविरुद्धावयवानामुपलब्धेः। अपि च, असौ तेषु वर्तमानः कार्त्स्न्येन एकदेशेन वा वर्तते ? कार्त्स्न्येन वृत्तावेकस्मिन्नेवावयवे परिसमाप्तत्वादनेकावयववृत्तित्वं न स्यात्। प्रत्यवयवं कार्त्स्न्येन वृत्तौ चावयविबहुत्वापत्तिः। एकदेशेन वृत्तौ च तस्य निरंशत्वाभ्युपगमविरोधः। सांशत्वे वा तेंऽशास्ततो भिन्नाः अभिन्ना वा ? भिन्नत्वे पुनरप्यनेकांशवृत्तेरेकस्य कार्त्स्न्यैकदेशविकल्पानतिक्रमादनवस्था। अभिन्नत्वे न केचिदंशाः स्युः ॥

इति नास्ति बाह्योऽर्थः कश्चित्। किन्तु ज्ञानमेवेदं सर्वं नीलाद्याकारेण प्रतिभाति। बाह्यार्थस्य जडत्वेन प्रतिभासायोगात्। यथोक्तम् "स्वाकारबुद्धिजनका दृश्या नेन्द्रियगोचराः"।

का अभाव मानना चाहिये। क्योंकि अर्थक्रियाकारित्व ही वस्तुका लक्षण है। यदि एक क्षणके बाद रहनेवाले परमाणु अर्थक्रिया करते हैं, तो वह अर्थक्रिया सत्रूप है, असत्रूप, अथवा उभयरूप ? यदि परमाणुओंका कार्य असत्रूप है, तो परमाणुओंको असत्रूप खरगोशके सींगोंकी उत्पत्तिमें भी कारण होना चाहिये। यदि यह कार्य सत्रूप है, तो इसका यह अर्थ हुआ कि जो कार्य पहलेसे मौजूद था, उस कार्यको ही परमाणुओंने किया है। अतएव इस मान्यतामें अनवस्था दोष आता है। अतएव सत् और असत्रूप कार्यके न बननेसे सत्-असत्रूप कार्य भी नहीं बन सकता। अतएव परमाणु बाह्य पदार्थ नहीं हो सकते।

बाह्य पदार्थोंको स्थूल अवयवीरूप भी स्वीकार नहीं कर सकते। क्योंकि जब एक परमाणुरूप बाह्य पदार्थोंकी सिद्धि नहीं होती, तो अनेक परमाणुरूप बाह्य पदार्थोंकी कैसे सिद्धि हो सकती है ? अतएव परमाणुओंके अभावमें परमाणुप्रचयरूप स्थूल अवयवीका सद्भाव होता है, यह कहना केवल कथन मात्र है। तथा, अवयवीके अनेक अवयव आधार माने गये हैं। ये अवयव परस्पर विरोधी हैं, या अविरोधी ? यदि ये परस्पर विरोधी हैं, तो इनसे एक स्थूल अवयवी ही नहीं बन सकता, क्योंकि अवयवीमें विरोधी धर्मोंका अध्यारोप हो जाता है। यदि इन परमाणुओंको परस्पर अविरोधी मानो, तो यह अनुभवके विरुद्ध है, क्योंकि हमें प्रत्यक्षसे एक ही स्थूल अवयवीमें चल, अचल, रक्त, अरक्त, आवृत, अनावृत आदि विरुद्ध धर्म देखनेमें आते हैं। तथा, अवयवी अवयवोंमें सम्पूर्ण रूपसे रहता है, अथवा एक देशसे ? यदि अवयवी अवयवोंमें सम्पूर्ण रूपसे रहते हैं, तो सम्पूर्ण अवयवीके एक अवयवमें समाप्त हो जानेसे अवयवी अनेक अवयवोंमें नहीं रह सकता। यदि अवयवी अनेक अवयवोंमें सम्पूर्ण रूपसे रहे भी, तो अनेक अवयवी मानने पड़ेंगे। यदि अवयवी अवयवोंमें एक देशसे रहे, तो अवयवमें अंशोंकी कल्पना होनेसे उसे निरंश एक अवयवी नहीं कह सकते; परन्तु अवयवी निरंश होता है। यदि कहो कि अवयवी अंश सहित होकर अवयवोंमें रहता है, तो ये अंश अवयवोंसे भिन्न हैं, या अभिन्न ? यदि अंश अवयवसे भिन्न हैं, तो प्रश्न होगा, कि अवयवी अवयवोंमें सम्पूर्ण रूपसे रहते हैं, अथवा एक देशसे ? इस तरह अनवस्था माननी पड़ेगी। यदि अंश अवयवसे अभिन्न हैं, तो अवयवोंको छोड़कर अवयवीके अंशोंका पृथक् अस्तित्व नहीं मान सकते।

इस प्रकार परमाणुरूप या स्थूलरूप बाह्य अर्थका सद्भाव नहीं है; किन्तु जो कुछ नील आदि पदार्थोंके आकार रूपसे प्रतिभासित होता है, वह सब ज्ञान ही है। क्योंकि जड़ अर्थात् अचेतन या ज्ञानहीन बाह्यार्थका अपने आपको जानना घटित नहीं होता। कहा भी है—"अपने आकाररूप बुद्धिको उत्पन्न करने-

अलङ्कारकारेणाप्युक्तम्[1]—

"यदि संवेद्यते नीलं कथं वाह्यं तदुच्यते।
न चेत् संवेद्यते नीलं कथं वाह्यं तदुच्यते॥"

यदि वाह्योऽर्थो नास्ति, किंविषयस्तर्ह्ययं घटपटादिप्रतिभासः इति चेत्, ननु निरालम्बन एवायमनादिवितथवासनाप्रवर्तितः, निर्विषयत्वात्, आकाशकेशज्ञानवत्, स्वप्नज्ञानवद् वेति। अत एवोक्तम्—

"नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते॥[2]
वाह्यो न विद्यते ह्यर्थो यथा बालैर्विकल्प्यते।
वासनालुठितं चित्तमर्थाभासे प्रवर्तते"॥ इति॥

तदेतत्सर्वमवद्यम्। ज्ञानमिति हि क्रियाशब्दः। ततो ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं, ज्ञप्तिर्वा ज्ञानमिति। अस्य च कर्मणा भाव्यं, निर्विषयाया ज्ञप्तेरघटनात्। न चाकाशकेशादौ निर्विषयमपि दृष्टं ज्ञानमिति वाच्यम्, तस्याप्येकान्तेन निर्विषयत्वाभावात्। न हि सर्वथागृहीत-

---

वाले इन्द्रियगोचर दृश्य पदार्थ अस्तिरूप नहीं हैं।"

अलंकारकार (प्रज्ञाकरगुप्त) ने भी कहा है—

"यदि नील पदार्थका अनुभव किया जाता है तो वह नील पदार्थ वाह्य पदार्थ है, ऐसा कैसे कह सकते हैं? यदि नील पदार्थका अनुभव नहीं किया जाता तो वह नील पदार्थ वाह्य पदार्थ है, ऐसा कैसे कह सकते हैं।" (जो जिसका होता है वह उसका अनुभव कर सकता है। नील पदार्थका अनुभव ज्ञानके द्वारा किया जाता है तो वह नील पदार्थ ज्ञानका—ज्ञानरूप—होना चाहिये। नील पदार्थका ज्ञान नहीं होता तो उसे वाह्य पदार्थ नहीं कह सकते। जिस पदार्थका किसी भी हालतमें ज्ञान होता ही नहीं, उसका वाह्य अस्तित्व नहीं हो सकता, और जिसका अस्तित्व होता है उसका किसी न किसी प्रकारसे ज्ञान होता ही है)।

शंका—यदि वाह्य पदार्थका अस्तित्व नहीं है तो घट, पट आदिका ज्ञान किस प्रकार होता है? समाधान—जिस प्रकार आकाशकेशरूप बाह्य पदार्थके अभावमें आकाशकेशका ज्ञान होता है, अथवा जिसप्रकार स्वप्नज्ञानका विषय वने हुए पदार्थका वस्तुतः सद्भाव न होनेपर भी स्वप्नमें उसका ज्ञान होता है, उसी तरह घट, पट आदि बाह्य पदार्थोंका अभाव होनेसे, आलंवनरहित होनेपर भी, अनादि मिथ्या-वासनाके कारण घट, पट आदिका ज्ञान होता है। इसलिए कहा है—

"जिसका बुद्धिके द्वारा अनुभव किया जाता है, वह बुद्धिसे भिन्न नहीं होता। अनुभव बुद्धिसे भिन्न नहीं है। ग्राह्य-ग्राहक (अनुभाव्य-अनुभावक) भावसे रहित होनेसे बुद्धि स्वयं प्रकाशित होती है। मूर्खों द्वारा कल्पित बाह्य अर्थ विद्यमान नहीं है। (अनादि) वासनासे प्रतिहत चित्त (बुद्धि) अर्थाभास (अयथार्थ अर्थ) में प्रवृत्त होता है।"

(४) उत्तरपक्ष—यह ठीक नहीं है। ज्ञान शब्द क्रियाका द्योतक है। जिसके द्वारा जाना जाय, अथवा जानने मात्रको ज्ञान कहते हैं। ज्ञान (क्रिया) के कोई कर्म अवश्य होना चाहिये, क्योंकि ज्ञान निर्विषय नहीं होता। यदि आकाशमें निर्विषय केशज्ञानकी तरह मिथ्या ज्ञानको ही ज्ञानका विषय मानो, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि आकाशमें केशज्ञान भी एकान्त रूपसे निर्विषय नहीं है। कारण कि जिसने कभी वास्तविक

---

१. प्रज्ञाकरगुप्तकृतः प्रमाणवार्तिकालङ्काराख्यो बौद्धग्रन्थः।

२. प्रमाणवार्तिके ३-३२७।

सत्यकेशज्ञानस्य तत्प्रतीतिः। स्वप्नज्ञानमप्यनुभूतदृष्टाद्यर्थविषयत्वान्न निरालम्बनम्। तथा च महाभाष्यकारः—

"अणुहूयदिट्ठचिंतिय सुयपयइवियारदेवयाणूवा।
सुमिणस्य निमित्ताइं पुण्णं पावं च णाभावो"[१]

यश्च ज्ञानविषयः स बाह्योऽर्थः। भ्रान्तिरियमिति चेत् चिरं जीव। भ्रान्तिर्हि मुख्येऽर्थे क्वचिद् दृष्टे सति करणापाटवादिनान्यत्र विपर्यस्तग्रहणे प्रसिद्धा, यथा शुक्तौ रजतभ्रान्तिः। अर्थक्रियासमर्थेऽपि वस्तुनि यदि भ्रान्तिरुच्यते तर्हि प्रलीना भ्रान्ताभ्रान्तव्यवस्था। तथा च सत्यमेतद्वचः—

"आशामोदकतृप्ता ये ये चास्वादितमोदकाः।
रसवीर्यविपाकादि तुल्यं तेषां प्रसज्यते॥"

न चामून्यर्थदूषणानि स्याद्वादिनां बाधां विदधते, परमाणुरूपस्य स्थूलावयविरूपस्य चार्थस्याङ्गीकृतत्वात्। यच्च परमाणुपक्षखण्डनेऽभिहितं प्रमाणाभावादिति, तदसत् तत्कार्याणां

केशोंका ज्ञान नहीं किया है, उसे आकाशमें मिथ्या केशज्ञान नहीं हो सकता। इसी प्रकार स्वप्नमें भी जाग्रत् दशामें अनुभूत पदार्थोंका ही ज्ञान होता है, इसलिये स्वप्नज्ञान भी सर्वथा निर्विषय नहीं है। महाभाष्यकार (जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण) ने भी कहा है—

"अनुभव किये हुए, देखे हुए, विचारे हुए, सुने हुए पदार्थ, वात, पित्त आदि प्रकृतिके विकार, दैविक और जलप्रधान देश स्वप्नमें कारण होते हैं। सुख-निद्रा आनेसे पुण्य रूप, और सुख-निद्रा न आनेसे पाप रूप स्वप्न दिखाई देते हैं। वास्तवमें स्वप्नके निमित्तोंका अभाव नहीं है, अर्थात् स्वप्न निर्विषय नहीं होता।"

तथा, ज्ञानका विषय ही बाह्य अर्थ है। यदि कहो कि ज्ञानका विषय बाह्य पदार्थ है, यह कथन भ्रान्तिरूप है, तो यह बहुत ठीक है। क्योंकि मुख्य पदार्थके कहीं देखे जानेपर इन्द्रियोंके रुग्ण आदि होनेसे कहीं किसी अन्य पदार्थमें, उस मुख्य पदार्थको विपर्यास रूपसे जाननेपर भ्रान्तिकी सिद्धि होती है; सीपीमें चाँदीकी भ्रान्तिकी भाँति। (चाँदीको देखनेसे उसके शुभ्रत्वका ज्ञान होनेपर, सीपके शुभ्रत्वको देखनेसे जिस प्रकार सीपके विषयमें चांदीका होनेवाला ज्ञान भ्रान्तिरूप होता है, उसी प्रकार कहीं मुख्य पदार्थको देखनेपर, इन्द्रियोंके रुग्ण आदि होनेसे अन्य पदार्थमें विपर्यस्त अर्थात् अन्यत्र देखे हुए मुख्य पदार्थका जो ज्ञान होता है, वह भ्रांतिरूप होता है, यह सिद्ध हो जाता है। इस भ्रान्त ज्ञानसे भी बाह्यार्थके सद्भावकी ही सिद्धि होती है)। प्रयोजन भूत कार्यकी उत्पत्ति करनेमें समर्थ होनेवाले पदार्थके विषयमें भी इस पदार्थका अस्तित्व भ्रान्तरूप है—यह जो कहा गया है तो इससे यह ज्ञान भ्रांत है, और यह ज्ञान अभ्रान्त, यह व्यवस्था ही नष्ट हो जायेगी। अतएव—

"जो मनके लड्डू खाकर तृप्त हुए हैं और जिन्होंने वास्तवमें लड्डुओंका स्वाद चखा है, उन दोनोंके रस, वीर्य और विपाक आदिके समान होनेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है"—यह वचन सत्य है।

तथा, आप लोगोंने ज्ञानाद्वैतका प्रतिपादन करते हुए जो परमाणुरूप और स्थूल अवयवीरूप बाह्य पदार्थोंका खण्डन किया, उससे स्याद्वादियोंके सिद्धान्तमें कोई बाधा नहीं आती। क्योंकि जैन लोगोंने परमाणु और स्थूल अवयवी दोनों रूप बाह्य पदार्थोंको स्वीकार किया है। तथा, परमाणुपक्षका खण्डन करते हुए 'परमाणु रूप बाह्य पदार्थ नहीं है, क्योंकि उसके साधक प्रमाणोंका अभाव है'—यह जो कथन है, वह भी

---

१. छाया—अनुभूतदृष्टचिन्तितश्रुतप्रकृतिविकारदैविकानूपाः वा।
स्वप्नस्य निमित्तानि पुण्यं पापं च नाभावः॥
—जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणः विशेषावश्यकभाष्ये १७०३।

घटादीनां प्रत्यक्षत्वे तेषामपि कथञ्चित् प्रत्यक्षत्वं योगिप्रत्यक्षेण च साक्षात्प्रत्यक्षत्वमवसेयम्। अनुपलब्धिस्तु सौक्ष्म्यात्। अनुमानादपि तत्सिद्धिः, यथा—सन्ति परमाणवः, स्थूलावयविनिष्पत्त्यन्यथानुपपत्तेः, इत्यन्तर्व्याप्तिः। न चाणुभ्यः स्थूलोत्पाद इत्येकान्तः, स्थूलादपि सूत्रपटलादेः स्थूलस्य पटादेः प्रादुर्भावविभावनात्, आत्माकाशादेरपुद्गलत्वकक्षीकाराच्च। यत्र पुनरणुभ्यस्तदुत्पत्तिस्तत्र तत् कालादिसामग्रीसव्यपेक्षक्रियावशात् प्रादुर्भूतं संयोगातिशयमपेक्ष्येयमवितथैव ॥

यदपि किञ्चायमनेकावयवाधार इत्यादि न्यगादि, तत्रापि कथञ्चिद्विरोध्यनेकावयवाविष्वग्भूतवृत्तिरवयव्यभिधीयते। तत्र च यद्विरोध्यनेकावयवाधारतायां विरुद्धधर्माध्यासनमभिहितं तत्कथञ्चिदुपेयत एव तावत्, अवयवात्मकस्य तस्यापि कथञ्चिदनेकरूपत्वात्। यच्चोपन्यस्तम्, अपि च असौ तेषु वर्तमानः कार्त्स्न्येनैकदेशेन वा वर्ततेत्यादि, तत्रापि विकल्पद्वयानभ्युपगम एवोत्तरम्, अविष्वग्भावेनावयविनोऽवयवेषु वृत्तेः स्वीकारात् ॥

किञ्च, यदि बाह्योऽर्थो नास्ति, किमिदानीं नियताकारं प्रतीयते। नीलमेतत् इति विज्ञानकारोऽयमिति चेत्, न। ज्ञानाद् बहिर्भूतस्य संवेदनात्। ज्ञानाकारत्वे तु अहं नीलम् इति प्रतीतिः स्यान्न तु इदं नीलम् इति। ज्ञानानां प्रत्येकमाकारभेदात् कस्यचित् 'अहम्' इति प्रतिभासः, कस्यचित् 'नीलमेतत्' इति चेत्, न। नीलाद्याकारवदहमित्याकारस्य व्यवस्थिततत्वा-

---

ठीक नहीं। क्योंकि परमाणुओंके कार्यरूप घट आदिका प्रत्यक्षसे ज्ञान होनेपर उन परमाणुओंका भी कथंचित् प्रत्यक्षसे ज्ञान होता है, तथा योगिप्रत्यक्षसे उनका साक्षात् प्रत्यक्ष होता है। उन परमाणुओंके अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे उनकी उपलब्धि नहीं होती। अनुमान प्रमाणसे भी उन परमाणुओंकी सिद्धि होती है। अनुमान—परमाणु अस्तिरूप है क्योंकि परमाणुओंके अभावमें स्थूल अवयवीकी निष्पत्ति नहीं हो सकती; यह अन्तर्व्याप्ति है। (परमाणुरूप उपादानका उपादेयभूत कार्यमें स्व-स्वरूपसे अन्वय होनेसे, परमाणु और स्थूल अवयवीमें अन्तर्व्याप्य-व्यापक भावका सद्भाव होनेसे इनमें अन्तर्व्याप्ति सिद्ध होती है)। परमाणुओंसे स्थूल अवयवीका ही उत्पाद होता है—यह एकान्त नहीं है। क्योंकि स्थूल सूत्रसमूह आदिसे भी स्थूल पट आदिकी उत्पत्तिका स्पष्ट ज्ञान होता है; तथा, आत्मा, आकाश आदि की पुद्गलभिन्नता स्वीकार की गई है। जहाँ पुनः अणुओं से स्थूल की–स्थूल अवयवीभूत कार्य की–उत्पत्ति होती है, वहाँ वह स्थूल अवयवीरूप कार्य, कालादिरूप सहकारियों की सामग्री की अपेक्षा रखनेवाली क्रिया के कारण, अतिशय संयोग की अपेक्षा से उत्पन्न होता है। अतः अवयवीभूत स्थूल कार्य की परमाणुओं से होनेवाली उत्पत्ति यथार्थ ही है।

तथा, आप लोगों ने 'अवयवी के अनेक आधार माने हैं। ये अवयव यदि परस्पर विरोधी हों तो एक स्थूल अवयवी नहीं बन सकता। क्योंकि 'अवयवी में विरोधी धर्मों का अध्यारोप होता है'—ऐसा जो कहा है, उसमें भी कथंचित् विरोध आता है। ऐसे अनेक अवयवों के साथ जो अभेदरूप से रहता है, वह अवयवी कहा जाता है। वहाँ, 'परस्पर विरोधी अनेक अवयव अवयवी के आधारभूत होनेपर, अवयवीमें विरोधी धर्मोंका अध्यारोप होता है'—यह जो कहा है, उसे कथंचित् रूपसे स्वीकार किया ही गया है। तथा, आप लोगोंने जो प्रश्न किया था, 'अवयवी अवयवोंमें सम्पूर्ण रूपसे रहता है, अथवा एक देशसे ?' सो हम दोनों ही विकल्पोंको नहीं मानते। हमारे मतके अनुसार अवयवी अवयवोंमें अविष्वग्भावसे रहता है।

तथा, यदि बाह्य पदार्थ का अभाव है तो नियत रूपसे जो ज्ञान होता है वह किसका ज्ञान होता है ? यदि कहो कि 'यह नील है'—यह विज्ञानका ही आकार है तो यह ठीक नहीं। क्योंकि हमें ज्ञानसे बहिर्भूत नीलका संवेदन होता है। यदि ज्ञानकी नीलाकार परिणति हो तो 'मैं नील हूँ'—यह प्रतीति होनी चाहिये, 'यह नील है'—ऐसी प्रतीति नहीं। शंका—प्रत्येक ज्ञानका आकार भिन्न-भिन्न होता है, इसलिये कहीं 'मैं नील हूँ' ऐसा ज्ञान होता है, और कहीं, 'यह पदार्थ नील है' ऐसा ज्ञान होता है। अतएव बाह्य और अंतरंग

भावात्। तथा च यदेकेनाहमिति प्रतीयते तदेवापरेण त्वमिति प्रतीयते। नीलाद्याकारस्तु व्यवस्थितः, सर्वैरप्येकरूपतया ग्रहणात्। भक्षितहृत्पूरादिभिस्तु[1] यद्यपि नीलादिकं पीतादितया गृह्यते, तथापि तेन न व्यभिचारः तस्य भ्रान्तत्वात्। स्वयं स्वस्य संवेदनेऽहमिति प्रतिभास इति चेत्, ननु किं परस्यापि संवेदनमस्ति। कथमन्यथा स्वशब्दस्य प्रयोगः। प्रतियोगीशब्दो ह्ययं परमपेक्षमाण एव प्रवर्तते। स्वरूपस्यापि भ्रान्त्या भेदप्रतीतिरिति चेत्, हन्त प्रत्यक्षेण प्रतीतो भेदः कथं न वास्तवः॥

भ्रान्त प्रत्यक्षमिति चेत्, ननु कुत एतत्। अनुमानेन ज्ञानार्थयोरभेदसिद्धेरिति चेत्, किं तदनुमानमिति पृच्छामः। यद्येन सह नियमेनोपलभ्यते तत् ततो न भिद्यते, यथा सच्चन्द्राद्सच्चन्द्रः। नियमेनोपलभ्यते च ज्ञानेन सहार्थ इति व्यापकानुपलब्धिः। प्रतिषेध्यस्य ज्ञानार्थयोर्भेदस्य व्यापकः सहोपलम्भानियमस्तस्यानुपलब्धिः। भिन्नयोर्नीलपीतयोर्युगपदुपलम्भनियमाभावात्। इत्यनुमानेन तयोरभेदसिद्धिरिति चेत्॥

न। संदिग्धानैकान्तिकत्वेनास्यानुमानाभासत्वात्। ज्ञानं हि स्वपरसंवेदनम्। तत्पर-

---

दोनों पदार्थ ज्ञानाकार होते हैं। समाधान—यह ठीक नहीं। क्योंकि जिस प्रकार नील आकार निश्चित है, वैसे 'अहम्' आकार निश्चित नहीं है। कारण कि जो मेरे लिये 'अहं' है वह दूसरेके लिये 'त्वं' है। परन्तु नील आकार व्यवस्थित है, क्योंकि वह सब लोगोंके अनुभवमें एकरूपसे ही आता है। यदि कहो कि पित्त उत्पन्न करनेवाले धतूरेको खा लेनेसे नील पदार्थ भी पीतरूप प्रतिभासित होता है, इसलिये नील आकार सब लोगोंके अनुभवमें एकसा नहीं आता। यह भी ठीक नहीं। क्योंकि नीलका पीतरूप प्रतिभासित होना भ्रान्त है। रोग रहित मनुष्योंको नील सदा नील रूप ही प्रतिभासित होता है। स्वयंको अपने आपका ज्ञान होनेसे 'अहं' का प्रतिभास होता है, यह आपका कथन तभी सत्य माना जा सकता है, जब आप अपने अतिरिक्त दूसरेका भी संवेदन मानते हों। 'स्व' शब्द प्रतियोगी शब्द है। अतएव स्व शब्दसे पर शब्दका भी ज्ञान होता है। यदि कहो कि स्व शब्दमें पर स्वरूप भेदका ज्ञान होता है, वास्तवमें स्व और परमें कोई भेद नहीं है, तो खेद है कि आप लोग प्रत्यक्षसे दिखाई देनेवाले स्व और पर, तथा अंतर और बाह्यके भेदको भी वास्तविक नहीं मानना चाहते।

बौद्ध—स्व और परके भेदको बतानेवाला प्रत्यक्ष भ्रान्त है। क्योंकि अनुमानसे ज्ञान और पदार्थका अभेद सिद्ध होता है। 'जो जिसके साथ नियमसे उपलब्ध होता है, वह उससे भिन्न नहीं होता। जैसे असत् या भ्रान्त चन्द्रमा यथार्थ चन्द्रमा के साथ उपलब्ध होता है, अतएव भ्रान्त चन्द्रमा यथार्थ चन्द्रमासे भिन्न नहीं है। इसी प्रकार ज्ञान और पदार्थ नियमसे एक साथ पाये जाते हैं। अतएव पदार्थ ज्ञानसे भिन्न नहीं है। (व्यापकका अभाव होने पर व्याप्यका अभाव होना व्यापकानुपलब्धि है। यहाँ व्याप्य-शिंशिपाका अभाव है, क्योंकि यहाँ शिंशिपाव्यापक वृक्ष की अनुपलब्धि है। वृक्ष व्यापक है और वृक्ष होनेसे शिंशिपा व्याप्य है। अतः वृक्षमात्रका अभाव शिंशिपा वृक्षके अभाव की सिद्धि करता है। प्रस्तुत प्रसंगमें अभेदव्यवस्थापक सहोपलंभ नियम का अभाव व्यापक है तथा अर्थ और ज्ञानमें होनेवाला भेद व्याप्य। अर्थात् जहाँ सहोपलंभ नियम का अभाव होता है, वहाँ अभेद का अभाव—भेदका सद्भाव—होता है।) जिस प्रकार परस्पर भिन्न नील और पीत पदार्थों का एक साथ ज्ञान होनेके नियम का अभाव होता है, उसी प्रकार ज्ञानके साथ अर्थ की उपलब्धि नियमसे होती है, अतएव सहोपलंभ रूप नियमके अभावरूप व्यापक की उपलब्धि न होनेसे ज्ञानके और अर्थके अभेदके अभावरूप व्याप्य की उपलब्धि नहीं होती—ज्ञान और अर्थमें भेद की सिद्धि नहीं होती। इस अनुमानसे ज्ञान और अर्थ का अभेद सिद्ध होता है।

जैन—बौद्धों का यह कथन ठीक नहीं है। (क) बौद्धोंके द्वारा उपस्थित किये गये अनुमानमें दिया

---

१. हृत्पूरः पित्तरोगकरः फलविशेषस्तद्भक्षणेन पित्तपीतिम्ना सर्वे पदार्थाः पीता इव भासन्ते।

संवेदनतामात्रेणैव नीलं गृह्णाति, स्वसंवेदनतामात्रेणैव च नीलबुद्धिम्। तदेवमनयोर्युगपद् ग्रहणात्सहोपलम्भनियमोऽस्ति अभेदश्च नास्ति। इति सहोपलम्भनियमरूपस्य हेतोर्विपक्षाद् व्यावृत्तेः संदिग्धत्वात् संदिग्धानैकान्तिकत्वम्। असिद्धश्च सहोपलम्भनियमः, नीलमेतत् इति बहिर्मुखतयाऽर्थेनुभूयमाने तदानीमेवान्तरस्य नीलानुभवस्याननुभवात्, इति कथं प्रत्यक्षस्यानुमानेन ज्ञानार्थयोरभेदसिद्धया भ्रान्तत्वम्। अपि च, प्रत्यक्षस्य भ्रान्तत्वेनाबाधितविषयत्वादनुमानस्यात्मलाभः, लब्धात्मके चानुमाने प्रत्यक्षस्य भ्रान्तत्वम्, इत्यन्योन्याश्रयदोषोऽपि दुर्निवारः। अर्थाभावे च नियतदेशाधिकरणा प्रतीतिः कुतः। न हि तत्र विवक्षितदेशेऽयमारोपयितव्यो नान्यत्रेत्यस्ति नियमहेतुः॥

वासनानियमात्तदारोपनियम इति चेत्। न। तस्या अपि तद्देशनियमकारणत्वाभावात्। सति ह्यर्थसद्भावे यद्देशोऽर्थस्तद्देशोऽनुभवः तद्देशा च तत्पूर्विका वासना। बाह्यार्थाभावे तु तस्याः किंकृतो देशनियमः॥

गया सहोपलंभरूप हेतु संदिग्धानैकांतिक होनेसे अनुमानाभास है। (जिस हेतु की विपक्षसे व्यवृत्ति संदिग्ध होती है, उस हेतु को संदिग्धानैकांतिक हेत्वाभास कहा जाता है)। ज्ञान परमार्थतः स्व और पर को जाननेवाला होता है। परसंवेदन स्वभात्रके कारण ही ज्ञान नील पदार्थ को जानता है, तथा स्वसंवेदन स्वभावके कारण नीलके ज्ञान को ग्रहण करता है। इस प्रकार नील पदार्थ और नील पदार्थ का ज्ञान, इन दोनों को एक साथ ग्रहण करनेसे सहोपलंभ नियम का सद्भाव है। तथा नील पदार्थ और नील पदार्थ का ज्ञान; इन दोनोंमें अभेद नहीं है। इस प्रकार सहोपलंभ नियम रूप हेतु की विपक्षसे व्यावृत्ति संदिग्ध होनेके कारण उस हेतु का संदिग्धानैकांतिक हेत्वाभासत्व सिद्ध हो जाता है। (ख) ज्ञान और अर्थ की एक साथ उपलब्धि होने का नियम असिद्ध है—उसकी सिद्धि नहीं होती; क्योंकि 'यह नील है,' इस प्रकार वहिर्मुख रूपसे जब पदार्थ का ज्ञान होता है, उसी समय अंतरंग नील ज्ञान का अनुभव नहीं होता। इस प्रकार नील पदार्थ का ज्ञान तथा अंतरंग नील ज्ञान का अनुभव एक साथ न होनेसे, सहोपलंभ नियमके स्वरूप की सिद्धि नहीं होती। इससे सहोपलंभ नियमहेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास ठहरता है और अनुमान नहीं बनता। ऐसी हालतमें असिद्ध अनुमानद्वारा सिद्ध किये जानेवाले ज्ञान और अर्थके अभेद द्वारा प्रत्यक्ष का भ्रान्तत्व कैसे सिद्ध हो सकता है ? (ग) तथा, यदि प्रत्यक्षका भ्रान्तपना सिद्ध हो, तो अनुमानका विषय अबाधित सिद्ध होनेसे अनुमान की उत्पत्ति हो, तथा अनुमान की उत्पत्ति होने पर प्रत्यक्षका भ्रान्तपना सिद्ध हो—इस प्रकार अनुमान और प्रत्यक्षके परस्पर अन्योन्याश्रित होनेसे अन्योन्याश्रय दोष दुर्निवार हो जाता है। इसलिये प्रत्यक्ष अथवा अनुमानसे भी ज्ञान और पदार्थमें अभेद सिद्ध नहीं होता। तथा, यथार्थ का अभाव होने पर पदार्थोंके निश्चित स्थानकी प्रतीति नहीं होनी चाहिए। इसलिये विवक्षित स्थानमें ही अमुक पदार्थ का आरोप करना चाहिये, अन्यत्र नहीं, इस नियम का कारण नहीं बन सकता।

विज्ञानवादी बौद्ध—हम लोग वासनाद्वारा प्रतिनियत स्थानमें रहनेवाले पदार्थोंका ज्ञान करते हैं। (घटके प्रतिनियत स्थानमें रहनेसे उस स्थानका स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, परन्तु हम वासनाके द्वारा अमुक पदार्थके अमुक स्थानमें स्थित रहनेका ज्ञान करते हैं। अतएव वाह्य पदार्थोंका ज्ञान हमारी वासनाके कारण होता है, वास्तवमें वाह्य पदार्थ स्वतन्त्र वस्तु नहीं है)। जैन—यह ठीक नहीं। क्योंकि हम वासनासे पदार्थके प्रतिनियत स्थानका ज्ञान नहीं कर सकते। पदार्थके होनेपर ही जिस स्थानमें पदार्थका अस्तित्व होता है, उसी स्थानमें पदार्थका ज्ञान होता है, और उसी स्थानमें पदार्थज्ञानपूर्वक वासना उत्पन्न होती है। बाह्य पदार्थका अभाव होनेपर केवल उस वासना द्वारा पदार्थके प्रतिनियत स्थानका निश्चय कौन कर सकता है ? अतएव यदि बाह्य पदार्थ कोई वस्तु नहीं है, तो प्रतिनियत स्थानके निश्चयका कोई नियम नहीं बन सकता।

अथास्ति तावदारोपनियमः। न च कारणविशेषमन्तरेण कार्यविशेषो घटते। बाह्यश्चार्थो नास्ति। तेन वासनानामेव वैचित्र्यं तत्र हेतुरिति चेत्, तद्वासनावैचित्र्यं बोधाकारादन्यत्, अनन्यद्वा ? अनन्यच्चेत्, बोधाकारस्यैकत्वात्कस्तासां परस्परतो विशेषः। अन्यच्चेत्, अर्थे कः प्रद्वेषः, येन सर्वलोकप्रतीतिरपह्नूयते ? तदेवं सिद्धो ज्ञानार्थयोर्भेदः॥

तथा च प्रयोगः। विवादाध्यासितं नीलादि ज्ञानाद्व्यतिरिक्तं, विरुद्धधर्माध्यस्तत्वात्। विरुद्धधर्माध्यासश्च ज्ञानस्य शरीरान्तः, अर्थस्य च बहिः; ज्ञानस्यापरकाले, अर्थस्य च पूर्वकाले वृत्तिमत्त्वात्; ज्ञानस्यात्मनः सकाशात्, अर्थस्य च स्वकारणेभ्य उत्पत्तेः। ज्ञानस्य प्रकाशरूपत्वात्, अर्थस्य च जडरूपत्वादिति। अतो न ज्ञानाद्वैतेऽभ्युपगम्यमाने बहिरनुभूयमानार्थप्रतीतिः कथमपि सङ्गतिमङ्गति। न च दृष्टमपह्नोतुं शक्यमिति॥

अत एवाह स्तुतिकारः—'न संविदद्वैतपथेऽर्थसंवित्' इति। सम्यगवैपरीत्येन विद्यतेऽवगम्यते वस्तुस्वरूपमनयेति संवित्। स्वसंवेदनपक्षे तु संवेदनं संवित् ज्ञानम्, तस्या अद्वैतम्, द्वयोर्भावो, द्विता, द्वितैव द्वैतं, प्रज्ञादित्वात् स्वार्थिकेऽणि[1]। न द्वैतमद्वैतम्; बाह्यार्थप्रतिक्षेपादेकत्वं। संविदद्वैतं ज्ञानमेवैकं तात्त्विकं न बाह्योऽर्थ इत्यभ्युपगम्यत इत्यर्थः। तस्य पन्थाः मार्गः संविदद्वैतपथस्तस्मिन् ज्ञानाद्वैतवादपक्ष इति यावत्। किमित्याह। नार्थसंवित्। येयं बहिर्मुखतयार्थप्रतीतिः साक्षादनुभूयते सा न घटते इत्युपस्कारः। एतच्चानन्तरमेव भावितम्॥

एवं च स्थिते सति किमित्याह। विलूनशीर्णं सुगतेन्द्रजालम् इति। सुगतो मायापुत्रः। तस्य सम्बन्धि तेन परिकल्पितं क्षणक्षयादि वस्तुजातम्। इन्द्रजालमिवेन्द्रजालं, मतिव्यामोह-

---

विज्ञानवादी—पदार्थके प्रतिनियत स्थानका निश्चय होता है। विशिष्ट कारणके विना विशिष्ट कार्यकी सिद्धि नहीं होती। और बाह्य पदार्थका अस्तित्व नहीं। अतएव पदार्थके प्रतिनियत स्थानके निश्चय करनेमें वासना-वैचित्र्य ही कारण है। जैन—हम पूछते हैं कि यह वासना-वैचित्र्य ज्ञानके आकारसे भिन्न है, अथवा अभिन्न ? यदि वासना वैचित्र्य ज्ञानके आकारसे अभिन्न है तो ज्ञानका आकार एकरूप होनेसे नानाविध वासनाओंमें परस्पर भेद कैसे हो सकता है ? यदि वासना-वैचित्र्य ज्ञानके आकारसे भिन्न है, तो ज्ञानसे बाह्य पदार्थोंका भेद माननेमें ही क्या आपत्ति है ? अतएव ज्ञान और पदार्थको परस्पर भिन्न ही मानना चाहिये।

प्रयोग निम्न प्रकार है—विवादाध्यासित नील आदि पदार्थ ज्ञानसे भिन्न हैं; क्योंकि ज्ञान पदार्थ विरुद्ध धर्मोंसे युक्त है। ज्ञान शरीरके अन्दर होता है, और पदार्थ शरीरके बाहर। पदार्थदर्शनके उत्तरकालमें पदार्थज्ञानका सद्भाव होता है, तथा पदार्थज्ञानकी उत्पत्तिके पूर्वकालमें ज्ञानका विषय बननेवाले पदार्थका सद्भाव रहता है। ज्ञान आत्मासे उत्पन्न होता है, पदार्थ अपने-अपने कारणोंसे उत्पन्न होते हैं। ज्ञान प्रकाशरूप है, ज्ञेय पदार्थ जड़रूप हैं। अतएव ज्ञान और पदार्थ परस्पर विरुद्ध धर्मोंसे युक्त हैं। इसलिये ज्ञानाद्वैतके स्वीकार करनेपर बाह्यरूपसे अनुभव किये जानेवाले पदार्थोंका ज्ञान संगत नहीं हो सकता। तथा, प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले बाह्य पदार्थोंका निषेध करना शक्य नहीं।

अतएव स्तुतिकार हेमचन्द्र आचार्यने कहा है कि 'ज्ञानाद्वैतके स्वीकार करनेपर पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता' (न संविदद्वैतपथेऽर्थसंवित्)। जिससे यथार्थ रीतिसे वस्तुका ज्ञान हो, उसे ज्ञान (संवित्) कहते हैं। बाह्य पदार्थोंका निषेध करके केवल एक ज्ञानका अस्तित्व स्वीकार करना अद्वैत है। इस ज्ञानाद्वैतके माननेपर पदार्थोंकी बाह्य रूपसे प्रतीति नहीं हो सकती।

अतएव 'सम्पूर्ण पदार्थ क्षणस्थायी हैं,' 'ज्ञान और पदार्थ परस्पर अभिन्न हैं' आदि मायापुत्र बुद्धके सिद्धान्त बुद्धिमें भ्रम उत्पन्न करनेवाले होनेके कारण इन्द्रजालकी तरह विशीर्ण हो जाते हैं। जिस

---

१ प्रज्ञादिभ्योऽण्। हैमसूत्रे ७-२-१६५।

विधातृत्वात्। सुगतेन्द्रजालं सर्वमिदं विलूनशीर्णम्। पूर्वं विलूनं पश्चात् शीर्णं विलूनशीर्णम्। यथा किञ्चित् तृणस्तम्बादि विलूनमेव शीर्यते विनश्यति, एवं तत्कल्पितमिदमिन्द्रजालं तृणप्रायं धारालयुक्तिशस्त्रिकया[1] छिन्नं सद्विशीर्यत इति। अथवा यथा निपुणेन्द्रजालिककल्पितमिन्द्रजालमवास्तवतत्तद्वस्त्वद्भुततोपदर्शनेन तथाविधं बुद्धिदुर्विदग्धं जनं विप्रतार्य पश्चादिन्द्रधनुरिव निरवयवं विलूनशीर्णतां कलयति, तथा सुगतपरिकल्पितं तत्तत्प्रमाणतत्तत्फलाभेदक्षणक्षयज्ञानार्थहेतुकत्वज्ञानाद्वैताभ्युपगमादि सर्वं प्रमाणानभिज्ञं लोकं व्यामोहयमानमपि युक्त्या विचार्यमाणं विशरारुतामेव[2] सेवत इति। अत्र च सुगतशब्द उपहासार्थः। सौगता हि शोभनं गतं ज्ञानमस्येति सुगतं इत्युशन्ति। ततश्चाहो तस्य शोभनज्ञानता, येनेत्थमयुक्तियुक्तमुक्तम्॥ इति काव्यार्थः॥१६॥

प्रकार बाजीगरका इन्द्रजाल मिथ्या होनेसे थोड़े समयके लिये अद्भुत-अद्भुत वस्तुओंका प्रदर्शन करके भोले लोगोंको ठग कर इन्द्रधनुषकी तरह विलीन हो जाता है, उसी प्रकार 'प्रमाण और फल अभिन्न हैं', 'सब पदार्थ क्षणिक हैं,' 'ज्ञान और पदार्थमें परस्पर अभेद हैं' आदि सिद्धान्तोंसे भोले प्राणियोंको व्यामोहित करनेवाले बुद्धके सिद्धान्त युक्तियोंसे जर्जरित हो जाते हैं॥ यह श्लोकका अर्थ है॥

भावार्थ—इस कारिकामें बौद्धोंके चार सिद्धान्तोंपर विचार किया गया है। बौद्ध—(१) प्रमाण और प्रमिति अभिन्न हैं। क्योंकि ज्ञान ही प्रमाण और प्रमाणका फल है, कारण कि वह अधिगमरूप है। ज्ञानसे पदार्थ जाने जाते हैं, इसलिये ज्ञान प्रमाण है। तथा पदार्थोंको जाननेके अतिरिक्त ज्ञानका दूसरा कोई फल नहीं हो सकता, इसलिए ज्ञान ही प्रमाणका फल है। प्रमाण और प्रमितिमें प्रमाण कारण है, और प्रमाणका फल प्रमाणका कार्य है। जैन—(क) यदि प्रमाण और प्रमिति अभिन्न हैं, तो वे दोनों एक साथ उत्पन्न होने चाहिए। इसलिए प्रमाण और प्रमितिमें कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं बन सकता। क्योंकि कारण सदा कार्यके पहले ही उत्पन्न होता है (ख) प्रमाण और प्रमितिको क्रमभावी मानना भी ठीक नहीं है। क्योंकि बौद्धोंके मतमें प्रत्येक वस्तु क्षण-क्षणमें नष्ट होनेवाली है। अतएव प्रमाणका निरन्वय-विनाश होनेसे प्रमाणसे प्रमितिकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। (ग) प्रमाण और प्रमितिमें कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमाण और प्रमिति दोनों क्षण-क्षणमें नष्ट होनेवाले हैं। तथा प्रमाण और प्रमितिमें रहनेवाले कार्य-कारण सम्बन्धका ज्ञान दो वस्तुओंके ज्ञान होनेपर ही हो सकता है।

सौत्रान्तिक बौद्ध—हम प्रमाण और प्रमितिमें व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक सम्बन्ध मानते हैं, कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं। ज्ञान पदार्थको जानते समय पदार्थके आकारको धारण करके पदार्थका ज्ञान करता है। वास्तवमें चक्षु आदि इन्द्रियोंसे पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता। जिस समय ज्ञानमें अमुक पदार्थके आकारका अनुभव होता है, उस समय उस पदार्थका ज्ञान होता है। इसलिए प्रमाण प्रमितिको उत्पन्न नहीं करता, किन्तु वह प्रमितिकी व्यवस्था करता है। जिस समय ज्ञान नील घटके आकार होकर नील घटको जानता है, उस समय ज्ञानमें नील घटका सारूप्य व्यवस्थापक है, और घटका नीलरूप ज्ञान व्यवस्थाप्य है। पदार्थोंका जाननेवाला ज्ञान नील घटके आकारको धारण करके ही नील घटको जानता है। अतएव प्रमाण और प्रमितिमें व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक सम्बन्ध स्वीकार करनेसे एक ही वस्तुमें प्रमाण और प्रमितिके माननेसे विरोध नहीं आता। जैन—(क) निरंश क्षणिक विज्ञानमें व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक सम्बन्ध नहीं बन सकता। क्योंकि व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक सम्बन्ध दो पदार्थोंमें ही रह सकता है। (ख) ज्ञानको अर्थाकार माननेमें ज्ञानको जड़ प्रमेयके आकार माननेसे ज्ञानको भी जड़ मानना चाहिए। तथा, ज्ञानको पदार्थाकार माननेमें 'यह नील पदार्थ है' ऐसा ज्ञान न होकर 'मैं नील हूँ' इस प्रकारका ज्ञान होना चाहिये। तथा जल-चन्द्रके

---

१ तीक्ष्णधारायुक्तशस्त्रिका।

२ विशीर्णशीलता।

आकाश-चन्द्रके आकारका होनेपर भी जल-चन्द्रसे आकाश-चन्द्रका ज्ञान नहीं होता। (ग) यदि प्रमाण और प्रमिति सर्वथा अभिन्न होते, तो आप लोग सारूप्यको प्रमाण और ज्ञानसंवेदनको प्रमिति मानकर प्रमाण और उसके फलको अलग-अलग नहीं मानते। अतएव प्रमाण और प्रमितिको सर्वथा अभिन्न न मानकर उन्हें कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न मानना चाहिए।

बौद्ध—(२) सम्पूर्ण विद्यमान पदार्थ क्षणिक हैं, क्योंकि नाश होना पदार्थोंका स्वभाव है। पदार्थोंका नश्वर स्वभाव दूसरेके ऊपर अवलम्बित नहीं है। यदि नाश होना पदार्थोंका स्वभाव न हो, तो दूसरी वस्तुओंके संयोग होनेपर भी पदार्थ नष्ट न होने चाहिये। पदार्थोंका यह नाशमान स्वभाव पदार्थोंकी आरम्भ और अन्त दोनों अवस्थाओंमें समान है। इसीलिए प्रत्येक पदार्थ क्षणस्थायी है। अतएव जो घट हमें नित्य दिखाई देता है, वह भी प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है। घटका प्रत्येक पूर्वक्षण उत्तरक्षणको उत्पन्न करता है। ये समस्त क्षण परस्पर इतने सदृश हैं कि घटके क्षण, क्षणमें नष्ट होनेपर भी घट एकरूप ही दिखाई देता है। अएव क्षणोंकी पारस्परिक सादृश्यताके कारण ही हमें अविद्याके कारण घटमें एकत्वका ज्ञान होता है। **जैन**—पूर्व और उत्तरक्षणोंका एक साथ अथवा क्रमसे उत्पन्न होना नहीं बन सकता, अतएव पदार्थोंको क्षणिक मानना ठीक नहीं है। तथा क्षणिकवादी निरन्वय विनाश मानते हैं, अतएव क्षणिकवादका सिद्धान्त एकान्तरूप होनेसे सत्य नहीं कहा जा सकता। इसलिए पदार्थोंको उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप ही स्वीकार करना चाहिए। यही सत्का लक्षण है। जिस समय मनुष्य गर्भमें आता है, उस समय जीवका उत्पाद होता है, और उसी समयसे उसकी आयुके अंशोंकी हानि होना प्रारम्भ हो जाती है, इसलिए उसका व्यय होता है, तथा जीवत्व दशाके सदा ध्रुव रहनेसे जीवमें ध्रौव्य पाया जाता है। अतएव पर्यायोंकी अपेक्षासे ही पदार्थोंको क्षणिक मानना चाहिये। द्रव्यकी दृष्टिसे पदार्थ नित्य ही हैं।

वैभाषिक बौद्ध—(३) ज्ञान जिस पदार्थसे उत्पन्न होता है उसी पदार्थको जानता है। अतएव पदार्थ कारण हैं, और ज्ञान कार्य है। जैसे अग्निका धूम कारण है, क्योंकि अग्नि और धूमका अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध है। इसी तरह पदार्थ भी ज्ञानका कारण है, क्योंकि पदार्थ ज्ञानके साथ अन्वय-व्यतिरेकसे सम्बद्ध है। यदि ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न न हो, तो घड़ेके ज्ञानसे घड़ेका ही ज्ञान होना चाहिये, अन्य पदार्थोंका नहीं, यह व्यवस्था नहीं बन सकती। **जैन**—(क) बौद्धोंके अनुसार प्रत्येक पदार्थ क्षण-क्षणमें नष्ट होनेवाले हैं। अतएव जब तक एक पदार्थ बनकर पूर्ण न हो जाय, उस समय तक वह ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं कर सकता। तथा जिस क्षणमें ज्ञान उत्पन्न होता है, उस समय पदार्थ नष्ट हो जाता है। अतएव पदार्थ ज्ञानका कारण नहीं कहा जा सकता। (ख) क्रमसे होनेवाले पदार्थोंमें ही कार्य-कारण भाव हो सकता है, परन्तु बौद्धमतमें कोई भी वस्तु क्षण मात्रसे अधिक नहीं ठहरती। अतएव ज्ञानकी उत्पत्तिके क्षणमें ज्ञानके कारण पदार्थका नाश हो जानेसे पदार्थसे ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि ज्ञान उत्पन्न होनेके पहले ही पदार्थ नष्ट हो जाता है। (ग) पदार्थको ज्ञानका सहभावी माननेसे भी पदार्थ ज्ञानका कारण नहीं हो सकता। क्योंकि एक साथ उत्पन्न होनेवाली दो वस्तुओंमें कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं बन सकता। (घ) यदि पदार्थको ज्ञानमें कारण माना जाय, तो इन्द्रियोंको भी ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण मानना चाहिये, क्योंकि इन्द्रियाँ भी ज्ञानको पैदा करती हैं। (च) ज्ञानकी उत्पत्ति पदार्थके ऊपर अवलम्बित नहीं है, कारण कि मृगतृष्णामें जलरूप पदार्थके अभाव होनेपर भी जलका ज्ञान होता है। अतएव जब तक पदार्थ और ज्ञानमें 'जहाँ पदार्थ न हो, वहाँ ज्ञान न हो' इस प्रकारका व्यतिरेक सम्बन्ध सिद्ध न हो, तब तक पदार्थको ज्ञानका हेतु नहीं कह सकते। (छ) योगियोंके अतीत और अनागत पदार्थोंको जानते समय अतीत, अनागत पदार्थोंका अभाव रहता है। अतएव अतीत, अनागत पदार्थ ज्ञानमें कारण नहीं हो सकते। (ज) प्रकाश्य रूप अर्थसे प्रकाशक रूप ज्ञानकी उत्पत्ति मानना भी ठीक नहीं। क्योंकि घट दीपकसे उत्पन्न नहीं होता, फिर भी दीपक घटको प्रकाशित करता है। (झ) ज्ञानकी पदार्थसे उत्पत्ति मानकर ज्ञानको पदार्थका ज्ञाता माननेसे स्मृतिको भी प्रमाण नहीं कहा जा सकता। क्योंकि स्मृति किसी पदार्थसे उत्पन्न नहीं होती। इसी प्रकार एक स्वसं-

वेदन ज्ञानमें क्रियाका अभाव होनेसे कार्य-कारण भाव नहीं बन सकता। क्योंकि स्वसंवेदनसे स्वसंवेदनकी उत्पत्ति नहीं होती। (ट) कपालके प्रथम क्षणसे घटका अंतिम क्षण उत्पन्न होता है, परन्तु कपालके प्रथम क्षणसे घटके अंतिम क्षणका ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार समानजातीय ज्ञानसे समनन्तर ज्ञानके उत्पन्न होनेपर समानजातीयसे समनन्तर ज्ञानका ज्ञान नहीं होता। (ठ) अतएव जिस समय ज्ञानको आवरण करनेवाले कर्मका क्षयोपशम हो जानेसे आत्मामें क्षय और उपशम रूप योग्यता होती है, उसी समय प्रतिनियत पदार्थोंका ज्ञान स्वीकार करना चाहिए।

योगाचार (बौद्ध)—(४) ज्ञान मात्र ही परमार्थसत् है, क्योंकि ज्ञानका कारण कोई बाह्य पदार्थ नहीं है। बाह्यार्थवादी परमाणुओंके समूहको बाह्य पदार्थ कहते हैं, अथवा स्थूल अवयवीरूप पिंडको ? प्रत्यक्ष अथवा अनुमानसे परमाणुरूप बाह्य पदार्थोंकी सिद्धि नहीं होती, अतएव बाह्य पदार्थ परमाणुरूप नहीं हो सकते। तथा बाह्य पदार्थोंकी परमाणुरूप सिद्धि न होनेसे उन्हें स्थूल अवयवी भी नहीं कह सकते। क्योंकि परमाणुओंके समूहको अवयवी कहते हैं। अतएव जो नील, पीत आदि पदार्थ प्रतिभासित होते हैं, वे सब ज्ञानरूप ही हैं। जिस प्रकार बाह्य आलम्बनके बिना आकाशमें केशका ज्ञान होता है, उसी तरह अनादि कालकी अविद्याकी वासनासे बाह्य पदार्थोंके अवलम्बनके बिना ही घट, पट आदि पदार्थोंका ज्ञान होता है। वास्तवमें स्वयं ज्ञान ही ग्राह्य और ग्राहकरूप प्रतिभासित होता है। जैन (क) यदि बाह्य पदार्थोंको ज्ञानका विषय नहीं माना जाय, तो ज्ञानको निर्विषय माननेसे ज्ञानको अप्रमाण मानना पड़ेगा। वास्तविक बाह्य पदार्थोंके बिना हमें ज्ञान मात्रसे ही पदार्थोंका प्रतिभास नहीं हो सकता। ज्ञानसे बाह्य पदार्थोंका ज्ञान होना अनुभवसे सिद्ध है। (ख) परमाणुरूप बाह्य पदार्थकी प्रत्यक्ष और अनुमानसे सिद्धि होती है। क्योंकि हम परमाणुओंके कार्य घट आदिके प्रत्यक्षसे परमाणुओंका कथंचित् प्रत्यक्ष करते हैं। इसलिये परमाणुओंकी अनुमानसे भी सिद्धि होती है; क्योंकि परमाणुओंके अस्तित्वके बिना घट आदि स्थूल अवयवीकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। अवयव (परमाणु) और अवयवीका हमलोग कथंचित् भेदाभेद स्वीकार करते हैं, अतएव बाह्य पदार्थोंको परमाणु और स्थूल अवयवी दोनों रूप मानना चाहिये। (ग) वासना-वैचित्र्यसे भी पदार्थोंका नाना रूप प्रतिभासित मानना ठीक नहीं। क्योंकि बाह्य पदार्थोंके अनुभव होनेपर ही वासना उत्पन्न होती है। तथा ज्ञान और वासनाको अलग-अलग माननेसे ज्ञानाद्वैत नहीं बन सकता।

योगाचार—'जो जिसके साथ उपलब्ध नहीं होता है, वह उससे अभिन्न है। जैसे आकाश-चन्द्रमा जल-चन्द्रमाके साथ उपलब्ध होता है, इसलिये दोनों परस्पर अभिन्न हैं। इसी तरह ज्ञान और पदार्थ एक साथ उपलब्ध होते हैं। अतएव ज्ञान और पदार्थ एक दूसरेसे अभिन्न हैं'—इस अनुमानसे ज्ञान और पदार्थकी अभिन्नता सिद्ध होती है। जैन—यह अनुमान संदिग्धानैकांतिक हेत्वाभास है। क्योंकि ज्ञानसे जाने हुए नील और नीलज्ञानमें सहोपलंभ नियम होनेपर भी उनमें अभिन्नता नहीं पायी जाती। तथा सहोपलंभ नियम पक्षमें नहीं रहनेके कारण असिद्ध भी है। क्योंकि ज्ञान और पदार्थमें अभेद सिद्ध नहीं होता। तथा, बाह्य पदार्थोंका अभाव माननेसे, यह वस्तु इसी स्थानपर है, दूसरे स्थानपर नहीं, यह नियम नहीं बन सकता। अतएव नील, पीत आदि ज्ञानसे भिन्न हैं, क्योंकि ज्ञान और ज्ञेय परस्पर विरोधी हैं। ज्ञान अन्तरंग है, ज्ञेय बाह्य; ज्ञान ज्ञेयके पश्चात् उत्पन्न होता है, ज्ञेय ज्ञानके पूर्व; ज्ञान आत्मामें उत्पन्न होता है, ज्ञान अपने भिन्न कारणोंसे; तथा ज्ञान प्रकाशक है, और ज्ञेय जड़ है। अतएव विज्ञानाद्वैतको न मान कर ज्ञान और बाह्य पदार्थोंका परस्पर भेद मानना चाहिये।

अथ तत्त्वव्यवस्थापकप्रमाणादिचतुष्टयव्यवहारापलापिनः शून्यवादिनः सौगतजातीयांस्तत्कक्षीकृतपक्षसाधकस्य प्रमाणस्याङ्गीकारानङ्गीकारलक्षणपक्षद्वयेऽपि तदभिमतार्थासिद्धिप्रदर्शनपूर्वकमुपहसन्नाह—

विना प्रमाणं परवन्न शून्यः स्वपक्षसिद्धेः पदमश्नुवीत ।
कुप्येत्कृतान्तः स्पृशते प्रमाणमहो सुदृष्टं त्वदसूयिदृष्टम् ॥१७॥

शून्यः शून्यवादी प्रमाणं प्रत्यक्षादिकं विना अन्तरेण स्वपक्षसिद्धेः स्वाभ्युपगतशून्यवादनिष्पत्तेः पदं प्रतिष्ठां नाश्नुवीत न प्राप्नुयात् । किंवत् ? परवत् इतरप्रामाणिकवत् । वैधर्म्येणायं दृष्टान्तः । यथा इतरे प्रामाणिकाः प्रमाणेन साधकतमेन स्वपक्षसिद्धिमश्नुवते एवं नायम् । अस्य मते प्रमाणप्रमेयादिव्यवहारस्यापारमार्थिकत्वात्, "सर्व एवायमनुमानानुमेयव्यवहारो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिभावेन न बहिःसदसत्त्वमपेक्षते" इत्यादिवचनात् । अप्रमाणकश्च शून्यवादाभ्युपगमः कथमिव प्रेक्षावतामुपादेयो भविष्यति, प्रेक्षावत्त्वव्याहतिप्रसंगात् ॥

अथ चेत् स्वपक्षसंसिद्धये किमपि प्रमाणमयमङ्गीकुरुते, तत्रायमुपालम्भः कुप्येदित्यादि । प्रमाणं प्रत्यक्षाद्यन्यतमत् स्पृशते आश्रयमाणाय, प्रकरणादस्मै शून्यवादिने, कृतान्तस्तत्सिद्धान्तः कुप्येत्कोपं कुर्यात्, सिद्धान्तबाधः स्यादित्यर्थः । यथा किल सेवकस्य विरुद्धवृत्त्या कुपितो नृपतिः सर्वस्वमपहरति, एवं तत्सिद्धान्तोऽपि शून्यवादविरुद्धं प्रमाणव्यवहारमङ्गीकुर्वाणस्य तस्य सर्वस्वभूतं सम्यग्वादित्वमपहरति ॥

इसके बाद तत्त्वोंके व्यवस्थापक प्रमाण, प्रमिति, प्रमेय और प्रमाताके व्यवहारका लोप करनेवाले शून्यवादी बौद्धोंके पक्षका खंडन करते हुए उसका उपहास करते हैं—

श्लोकार्थ—दूसरे वादी प्रमाणोंको मानते हैं, इसलिये उनके मतकी सिद्धि हो सकती है । परन्तु शून्यवादी प्रमाणके विना अपने पक्षकी सिद्धि नहीं कर सकते । यदि शून्यवादी किसी प्रमाणको मानें, तो शून्यतारूपी यमके कुपित होनेसे शून्यवादकी सिद्धि नहीं हो सकती । हे भगवन् ! आपके मतसे ईर्ष्या रखनेवाले लोगोंने जो कुछ कुमतिज्ञान रूपी नेत्रोंसे जाना है, वह मिथ्या होनेके कारण उपहासके योग्य है ॥

व्याख्यार्थ—शून्यवादी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंको विना माने ही स्वमान्य शून्यवादके सिद्धान्तको सिद्ध करना चाहते हैं, जो सिद्ध नहीं हो सकता । कैसे ? प्रमाणों को स्वीकार करनेवाले अन्य दार्शनिकोंके समान । यह वैधर्म्य दृष्टान्त है । जैसे अन्य प्रामाणिक साधकतम (साध्य की सिद्धि करनेवाले) प्रमाण के द्वारा अपने पक्ष की सिद्धि कर सकते हैं, उस प्रकार शून्यवादी (साधकतम) प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों को माने बिना अपने पक्षकी सिद्धि नहीं कर सकते । क्योंकि इनके मतमें प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति और प्रमाणका व्यवहार अपारमार्थिक—अवास्तविक—माना गया है । कहा भी है, "बुद्धि पर आरूढ़ हुए धर्म-धर्मि संबंधके कारण समस्त अनुमान-अनुमेय व्यवहार बाह्य पदार्थके कारण सद्भाव और असद्भाव की अपेक्षा नहीं करता" अर्थात् बाह्य पदार्थ का सद्भाव हो या असद्भाव, वह समस्त अनुमान-अनुमेय व्यवहार काल्पनिक धर्म-धर्मिके संबंधसे रहता है । शून्यवाद की सिद्धि करनेवाले प्रमाणों का अभाव होनेसे शून्यवाद की मान्यता बुद्धिमानों द्वारा ग्राह्य नहीं हो सकती, क्योंकि,इससे उनकी बुद्धिमत्ताके आहत होनेका प्रसंग उपस्थित होता है ।

यदि शून्यवादी अपने सिद्धांतको सिद्ध करनेके लिए कोई प्रमाण दें, तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणका आश्रय लेनेके कारण शून्यवादियोंका सिद्धान्त बाधित होता है । जिस प्रकार कोई राजा अपने सेवकके अवांछनीय आचरणसे कुपित होकर सेवकका सर्वस्व हरण कर लेता है, वैसे ही शून्यवादका सिद्धांन्त शून्यवादके विरुद्ध प्रमाण आदि व्यवहारको स्वीकार करनेवाले शून्यवादीका सर्वस्व हरण करता है । अतएव प्रत्यक्ष आदि प्रमाणसे शून्यवादकी सिद्धि नहीं हो सकती ।

किञ्च, स्वागमोपदेशेनैव तेन वादिना शून्यवादः प्ररूप्यते, इति स्वीकृतमागमस्य प्रामाण्यमिति कुतस्तस्य स्वपक्षसिद्धिः, प्रमाणाङ्गीकरणात्। किञ्च, प्रमाणं प्रमेयं विना न भवतीति प्रमाणानङ्गीकरणे प्रमेयमपि विशीर्णम्। ततश्चास्य मूकतैव युक्ता, न पुनः शून्यवादोपन्यासाय तुण्डताण्डवाडम्बरं। शून्यवादस्यापि प्रमेयत्वात्। अत्र च स्पृशिधातुं कृतान्तशब्दं च प्रयुञ्जानस्य सूरेरयमभिप्रायः। यद्यसौ शून्यवादी दूरे प्रमाणस्य सर्वथाङ्गीकारो यावत् प्रमाणस्पर्शमात्रमपि विधत्ते, तदा तस्मै कृतान्तो यमराजः कुप्येत्। तत्कोपो हि मरणफलः। ततश्च स्वसिद्धान्तविरुद्धमसौ प्रमाणयन् निग्रहस्थानापन्नत्वाद् मृत एवेति ॥

एवं सति अहो इत्युपहासप्रशंसायाम्। तुभ्यमसूयन्ति गुणेषु दोषानाविष्कुर्वन्तीत्येवं शीलास्त्वदसूययिनस्तंत्रान्तरीयास्तैर्दृष्टं मत्यज्ञानचक्षुषा निरीक्षितमहो। सुदृष्टं साधु दृष्टम्। विपरीतलक्षणयोपहासान्न सम्यग्दृष्टमित्यर्थः। अत्रासूयधातोस्ताच्छीलिकणक्प्राप्तावपि बाहुलकाण्णिन्। असूयास्त्येषामित्यसूयिनस्त्वय्यसूयिनः त्वदसूयिन इति मत्वर्थीयान्तं वा। त्वदसूयुदृष्टमिति पाठेऽपि न किञ्चिदचारु। असूयुशब्दस्योदन्तस्योदयनाद्यैर्न्यायतात्पर्यपरिशुद्धयादौ मत्सरिणि प्रयोगादिति ॥

इह शून्यवादिनामयमभिसंधिः। प्रमाता प्रमेयं प्रमाणं प्रमितिरिति तत्त्वचतुष्टयं परपरिकल्पितमवस्त्वेव, विचारासहत्वात्, तुरङ्गशृङ्गवत्। तत्र प्रमाता तावदात्मा, तस्य च प्रमाणग्राह्यत्वाभावादभावः। तथाहि। न प्रत्यक्षेण तत्सिद्धिरिन्द्रियगोचरातिक्रान्तत्वात्। यत्तु अहङ्कारप्रत्ययेन तस्य मानसप्रत्यक्षत्वसाधनम् तदप्यनैकान्तिकम्। तस्याहं गौरः श्यामो

तथा, शून्यवादी लोग अपने आगमके अनुकूल ही शून्यवादका प्ररूपण करते हैं। अतएव आगम माननेसे शून्यवादियोंके सिद्धांतकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि आगम प्रमाण माननेसे सर्वथा शून्यपना नहीं बनता। तथा, प्रमाण प्रमेयके विना नहीं हो सकता, अतएव कोई प्रमाण न माननेसे प्रमेय भी नहीं बन सकता, अतएव शून्यवादियोंको शून्यवादकी स्थापना करनेका आडम्बर न रचते हुए मौन रहना ही ठीक है। क्योंकि शून्यवाद भी प्रमेयमें ही गर्भित होता है, तथा, शून्यवादियोंके मतमें प्रमेय कोई वस्तु नहीं है। यहाँ पर स्तुतिकारका स्पृश् धातु और कृतान्त शब्दके प्रयोग करनेसे आचार्यका यही अभिप्राय है कि शून्यवादी लोग शून्यवादकी सिद्धि करनेके लिये प्रमाणका स्पर्श भी करें, तो कृतान्त (यमराज तथा सिद्धान्त) कुपित हो जाता है। अतएव जिस प्रकार यमराजके कुपित होनेसे जीवकी मृत्यु होती है, उसी प्रकार प्रमाणोंका आश्रय लेनेसे शून्यवादी निग्रहस्थानमें पड़, अपने सिद्धान्तकी स्थापना नहीं कर सकता, इसलिये वह मृत ही है।

'अहो' शब्द उपहास और प्रशंसा अर्थमें प्रयुक्त होता है। अतएव हे भगवन्, तुम्हारे गुणोंमें ईर्ष्या रखनेवाले अन्यमतावलम्बियोंने जो कुमतिज्ञान रूपी नेत्रोंसे जाना है; वह विपरीत लक्षण होनेके कारण उपहासके योग्य है। यहाँ असूय् धातुमें 'णक्' प्रत्यय होनेसे 'असूयक' शब्द बनना चाहिये था, परन्तु बहुलतासे असूय् धातुमें 'णिन्' प्रत्यय होनेपर 'असूयि' शब्द बना है। अथवा, जिनके 'असूया' हो वे असूयी हैं। यहाँ असूया शब्दसे मत्वर्थमें 'इन्' प्रत्यय करनेसे 'असूयी' शब्द बनता है। अथवा, 'असूयु' शब्द भी अशुद्ध नहीं है। उदयन आदि आचार्योंने न्यायतात्पर्यपरिशुद्धि आदि ग्रन्थोंमें 'असूयु' शब्दका प्रयोग मत्सरोके अर्थमें किया है।

पूर्वपक्ष—शून्यवादी—प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमिति ये चारों तत्त्वचतुष्टय अवस्तु हैं, क्योंकि इनका विचार करनेपर खरविषाणकी तरह प्रमाण आदिकी व्यवस्था नहीं बनती। (क) प्रमाता आत्मा है। आत्मा किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होती, अतएव आत्माका अभाव है। तथाहि—आत्मा इन्द्रियोंका विषय नहीं है, इसलिये इन्द्रिय-प्रत्यक्षसे आत्माकी सिद्धि नहीं हो सकती। यदि कहो कि 'अहं प्रत्यय' से मानस प्रत्यक्षद्वारा आत्माकी सिद्धि होती है, तो यह अनैकांतिक है। क्योंकि 'मैं गोरा हूँ',

वेत्यादौ शरीराश्रयतयाप्युपपत्तेः। किञ्च, यद्ययमहङ्कारप्रत्यय आत्मगोचरः स्यात् तदा न कादाचित्कः स्यात्। आत्मनः सदा सन्निहितत्वात्। कादाचित्कं हि ज्ञानं, कादाचित्ककारणपूर्वकं दृष्टम्। यथा सौदामिनीज्ञानमिति। नाप्यनुमानेन, अव्यभिचारिलिङ्गाग्रहणात्। आगमानां च परस्परविरुद्धार्थवादिनां नास्त्येव प्रामाण्यम्। तथाहि। एकेन कथमपि कश्चिदर्थो व्यवस्थापितः, अभियुक्ततरेणापरेण स एवान्यथा व्यवस्थाप्यते। स्वयमव्यवस्थितप्रामाण्यानां च तेषां कथमन्यव्यवस्थापने सामर्थ्यम्। इति नास्ति प्रमाता॥

प्रमेयं च बाह्योऽर्थः, स चानन्तरमेव बाह्यार्थप्रतिक्षेपक्षणे निर्लोठितः। प्रमाणं च स्वपरावभासि ज्ञानम्। तच्च प्रमेयाभावे कस्य ग्राहकमस्तु, निर्विषयत्वात्। किंच, एतत् अर्थसमकालम्, तद्भिन्नकालं वा तद्ग्राहकं कल्प्येत ? आद्यपक्षे, त्रिभुवनवर्तिनोऽपि पदार्थास्तत्रावभासेरन्, समकालत्वाविशेषात्। द्वितीये तु, निराकारम् साकारम् वा तत्स्यात् ? प्रथमे, प्रतिनियतपदार्थपरिच्छेदानुपपत्तिः। द्वितीये तु, किमयमाकारो व्यतिरिक्तो अव्यतिरिक्तो वा ज्ञानात् ? अव्यतिरेके, ज्ञानमेवायम्, तथा च निराकारपक्षदोषः। व्यतिरेके, यद्ययं चिद्रूपस्तदानीमाकारोऽपि वेदकः स्यात्। तथा चायमपि निराकारः साकारो वा तद्वेको भवेत् ?

'मैं काला हूँ' इस प्रकारका ज्ञान शरीरमें भी होता है। तथा, यदि 'अहं प्रत्यय' से आत्माका ज्ञान होता है, तो यह 'अहं प्रत्यय' आत्मामें सदा होना चाहिये, कभी-कभी नहीं। क्योंकि आत्मा सदा विद्यमान है। ज्ञान सदा विद्यमान नहीं रहता, इसलिये वह कभी-कभी उत्पन्न होता है; बिजलीके ज्ञानकी तरह ज्ञान अनित्य कारणोंसे ही उत्पन्न होता है। अतएव आत्मामें सदा ही 'अहं प्रत्यय' होना चाहिये। अनुमानसे भी आत्मा सिद्ध नहीं होती। क्योंकि आत्माको ग्रहण करनेवाला कोई निर्दोष हेतु नहीं है। तथा, आगम परस्पर विरुद्ध अर्थके प्रतिपादन करनेवाले हैं, इसलिये आगमसे भी आत्माका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। तथाहि—जिस पदार्थको एक शास्त्र अमुक प्रकारसे प्रतिपादन करता है, उसी पदार्थको दूसरा दूसरी तरहसे कहता है। अतएव आगमके स्वयं अव्यवस्थित होनेके कारण आगमसे दूसरे तत्त्वोंकी व्यवस्था नहीं बन सकती। अतएव प्रमाता आत्माका अस्तित्व मानना ठीक नहीं है।

(ख) जिसे प्रमेय कहते हैं वह बाह्य अर्थ है। बाह्य अर्थका परिहार करते समय उसकी खंडन किया जा चुका है।

(ग) स्व और परके जाननेवाले ज्ञानको प्रमाण अर्थात् प्रमिति क्रिया का कारण, कहते हैं। प्रमेयके अभावमें प्रमाणभूत ज्ञानके विषयका अभाव हो जानेसे, वह प्रमाणभूत ज्ञान किसका ग्राहक होगा, क्योंकि उसके पास कोई विषय ही नहीं है। तथा, अर्थके अस्तित्वकालमें विद्यमान ज्ञान पदार्थको जानता है, अथवा जिस कालमें अर्थका सद्भाव होता है, उससे भिन्नकालमें प्रमाणभूत ज्ञान पदार्थको जानता है ? प्रथम पक्ष स्वीकार करनेपर तीनों लोकोंके पदार्थ ज्ञानमें प्रतिभासित होने चाहिये, क्योंकि ज्ञान सभी पदार्थोंके समकालीन है। द्वितीय पक्षमें, वह ज्ञान निराकार (ज्ञेयाकार शून्य) होता है या ज्ञेयाकार सहित ? यदि पदार्थके सद्भावके भिन्नकालमें होनेवाला ज्ञान निराकार है तो प्रतिनियत पदार्थोंके ज्ञानकी सिद्धि न हो सकेगी। यदि पदार्थके सद्भावकालसे भिन्नकालमें होनेवाला ज्ञान साकार (पदार्थके आकारवाला) है तो वह पदार्थका आकार ज्ञानसे भिन्न है या अभिन्न ? यदि पदार्थके सद्भावकालसे भिन्नकालमें होनेवाले ज्ञानसे पदार्थोंका आकार भिन्न न हो तो यह पदार्थका आकार ज्ञानरूप ही होगा, और पदार्थका आकार ज्ञानरूप होनेसे निराकार पक्षमें जो दोष आता है, वही दोष यहाँ भी उपस्थित होगा; अर्थात् प्रतिनियत पदार्थके ज्ञानकी सिद्धि नहीं होगी। यदि पदार्थके कालसे भिन्नकालमें होनेवाले ज्ञानसे पदार्थका आकार भिन्न है तो वह चिद्रूप है या अचिद्रूप ? यदि यह आकार चिद्रूप है तो वह पदार्थके आकारका भी ज्ञाता होगा। तथा, पदार्थके आकारका ज्ञाता होनेपर, यह आकार निराकार अथवा साकार होता हुआ

इत्यावर्त्तनेनानवस्था। अथ अचिद्रूपः, किमज्ञातः ज्ञातो वा तज्ज्ञापकः स्यात्। प्राचीनविकल्पे, चैत्रस्येव मैत्रस्यापि तज्ज्ञापकोऽसौ स्यात्। तदुत्तरे तु, निराकारेण साकारेण वा ज्ञानेन, तस्यापि ज्ञानं स्यात्। इत्याद्यावृत्तावनवस्थैवेति ॥

इत्थं प्रमाणाभावे तत्फलरूपा प्रमितिः कुतस्तनी। इति सर्वशून्यतैव परं तत्त्वमिति। यथा च पठन्ति—

"यथा यथा विचार्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा
यदेतद् स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्"[1]

इति पूर्वपक्षः। विस्तरतस्तु प्रमाणखण्डनं तत्त्वोपप्लवसिंहादवलोकनीयम् ॥

अत्र प्रतिविधीयते। ननु यदिदं शून्यवादव्यवस्थापनाय देवानांप्रियेण वचनमुपन्यस्तम्

पदार्थोंका ज्ञाता होता है क्या? इस प्रकार फिर फिरसे प्रश्न उपस्थित होनेपर अनवस्था दोष उपस्थित होता है। यदि वह पदार्थका आकार चिद्रूप न हो तो क्या वह ज्ञात आकार पदार्थका ज्ञान कराता है या अज्ञात आकार? यदि अज्ञात पदार्थका आकार पदार्थका ज्ञान कराता है तो वह अज्ञात आकार, चैत्र और मैत्र द्वारा अज्ञात होनेसे, जिस प्रकार चैत्रको पदार्थका ज्ञान कराता है, उसी प्रकार मैत्रको भी पदार्थका ज्ञान करायेगा। यदि पदार्थका आकार ज्ञात होनेपर पदार्थका ज्ञान कराता है तो क्या उस आकारका ज्ञान आकारशून्य ज्ञानसे होता है या आकारसहित ज्ञानसे? इस प्रकार फिर फिरसे प्रश्न उपस्थित होनेपर अनवस्था दोष ही उपस्थित होता है।

(घ) प्रमाणकी सिद्धि न होनेपर प्रमाणका फल प्रमिति भी सिद्ध नहीं होती अतएव सर्वथा शून्यता ही वास्तविक तत्व हैं। कहा भी है—

"जैसे जैसे तत्वोंका विचार करते हैं, वैसे वैसे तत्त्व विशीर्ण होते हैं। वास्तवमें पदार्थोंका स्वरूप ही इस तरहका है, इसमें हमारा दोष नहीं।"

प्रमाणका विस्तृत खंडन तत्त्वोपप्लवसिंह[2] नामक ग्रंथमें देखना चाहिये।

उत्तरपक्ष-जैन—देवानांप्रिय बौद्ध लोगोंने शून्यवादकी स्थापना करनेके लिये जो वाक्य कहा है, वह

---

१ बुद्ध्या विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते।
अतो निरभिलप्यास्ते निस्स्वभावाश्च कीर्तिताः
इदं वस्तु बलायतं यद्वदातं विपश्चितः।
यथा यथाऽर्थाश्चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा ॥

लंकावतारसूत्रे

२ यह ग्रंथ पाटणके एक जैन भंडारसे मिला है। इसके कर्ता जयराशि भट्ट हैं। पं. बेचरदास जीवराज दोशीका अनुमान है, कि ये जयराशि भट्ट ही तत्त्वोपप्लववादी अथवा तत्त्वोपप्लवसिंह नामसे कहे जाते थे। तत्त्वोपप्लवके अंतिम दो श्लोक—

'ये याता न हि गोचरं सुरगुरोर्बुद्धेर्विकल्पा दृढाः
प्राप्यन्ते ननु तेऽपि यत्र विमले पाषण्डदर्पच्छिदि।
भट्टश्रीजयराशिदेवगुरुभिः सृष्टो महार्थोदय-
स्तत्त्वोपप्लवसिंह एव इति यः ख्याति परां यास्यति ॥
पाखण्डखण्डनाभिज्ञा ज्ञानोदधिविवर्धिताः।
जयराशेर्जयन्तीह विकल्पा वादिजिष्णवः ॥

पहले श्लोकसे स्पष्ट है कि यही ग्रंथ तत्त्वोपप्लवसिंहके नामसे प्रसिद्ध था।'

देखिये 'पुरातत्त्व' ५-४, पृ. २६१।

तत् शून्यम् वा अशून्यम् वा ? । शून्यं चेत्, सर्वोपाख्याविरहितत्वात् खपुष्पेणेव नानेन किञ्चित्साध्यते निषिध्यते वा । ततश्च निष्प्रतिपक्षा प्रमाणादितत्त्वचतुष्टयीव्यवस्था । अशून्यं चेत्, प्रलीनस्तपस्वी शून्यवादः । भवद्वचनेनैव सर्वशून्यताया व्यभिचारात् । तत्रापि निष्कण्टकैव सा भगवती । तथापि प्रामाणिकसमयपरिपालनार्थं किञ्चित् तत्साधनं दूष्यते ।।

तत्र यत्तावदुक्तम् प्रमातुः प्रत्यक्षेण न सिद्धिः, इन्द्रियगोचरातिक्रान्तत्वादिति, तत्सिद्धसाधनम् । यत्पुनः अहंप्रत्ययेन तस्य मानसप्रत्यक्षत्वमनैकान्तिकमित्युक्तम् तदसिद्धम् । अहं सुखी अहं दुःखी इति अन्तर्मुखस्य प्रत्ययस्य आत्मालम्बनतयैवोपपत्तेः । तथा चाहुः—

"सुखादि चेत्यमानं हि स्वतन्त्रं नानुभूयते ।
मतुबर्थानुवेधात्तु सिद्धं ग्रहणमात्मनः ।।
इदं सुखमिति ज्ञानं दृश्यते न घटादिवत् ।
अहं सुखीति तु ज्ञप्तिरात्मनोऽपि प्रकाशिका ।।"[1]

यत्पुनः अहं गौरः श्यामः इत्यादिबहिर्मुखः प्रत्ययः स खल्वात्मोपकारकत्वेन लक्षणाय शरीरे प्रयुज्यते । यथा प्रियभृत्येऽहमितिव्यपदेशः ।।[2]

स्वयं शून्यरूप है, या अशून्यरूप ? यदि यह वाक्य शून्यरूप है, तो समस्त इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य न होनेसे खरविषाणकी तरह इस वचनके द्वारा न किसीकी सिद्धि हो सकती है, और न किसीका निषेध किया जा सकता है । अतएव प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति और प्रमाता इस प्रमाण चतुष्टयका निर्णय निर्विरोध सिद्ध हो जाता है । यदि कहो कि उक्त वाक्य अशून्यरूप हैं, तो तपस्वी शून्यवाद ही नष्ट हो जाता है । क्योंकि शून्यवादियोंके वचनोंको अशून्य माननेसे सर्वशून्यता नहीं बन सकती । अतएव प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति और प्रमाता ये चारों निर्बाध सिद्ध हो जाते हैं ।

(क)—आप लोगोंने जो कहा कि 'प्रमाता इन्द्रियोंका विषय नहीं है, इसलिए प्रमाता प्रत्यक्षसे सिद्ध नहीं होता' सो हम भी आत्माको प्रत्यक्षका विषय नहीं मानते, अतएव उक्त कथन हमारे लिये सिद्धसाधन है ।

(ख) 'अहं प्रत्यय' से मानस प्रत्यक्षद्वारा आत्माका अस्तित्व स्वीकार करनेमें अनैकांतिक दोष' नहीं आता, क्योंकि 'मैं सुखी हूँ,' 'मैं दुखी हूँ' इस प्रकारका अंतरंग ज्ञान आत्मा ही के आधारसे होता है । कहा भी है—

"जिसका अनुभव किया जाता है, ऐसे सुख आदिका अनुभव स्वतंत्ररूपसे अर्थात् आत्माके विना नहीं किया जाता । 'सुखी' शब्द मत्वर्थीय इत् प्रत्यय लगनेसे बना है । 'सुखमस्यास्मिन्वास्तीतिसुखी' इस निरुक्तिमें जो 'अस्य' पद है वह सुखके आश्रयभूत आत्माका ज्ञान कराता है । अतः मतुप् प्रत्ययसे सुखके आश्रयभूत आत्मपदार्थका सूचन होनेसे, 'सुखी' शब्दसे आत्माका ग्रहण होता है ।। जिस प्रकार यह घट है' ऐसा कहनेसे घट पदार्थ दिखाई देता है, उसी प्रकार 'यह सुख है' ऐसा कहने पर सुख दिखाई नहीं देता । अतः 'मैं सुखी हूँ' यह ज्ञान आत्माको भी प्रकाशित करता है ।"

तथा 'मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ' इत्यादि रूप जो बहिर्मुख ज्ञान होता है, वह इसी आत्माका उपकार (सुख-दुख आदिका अनुभव करनेमें सहकारी) होनेसे, लक्षणके द्वारा, शरीरके विषयमें प्रयुक्त किया जाता

---

१. न्यायमंजर्याम् ।

२. मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।
अन्योर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया ।
—काव्यप्रकाशे मम्मटः ।

यच्च अहंप्रत्ययस्य कादाचित्कत्वम् तत्रेयं वासना। आत्मा तावदुपयोगलक्षणः[1]। स च साकारानाकारोपयोगयोरन्यतरस्मिन्नियमेनोपयुक्त एव भवति। अहंप्रत्ययोऽपि चोपयोगविशेष एव। तस्य च कर्मक्षयोपशमवैचित्र्यात् इन्द्रियानिन्द्रियालोकविषयादिनिमित्तसव्यपेक्षतया प्रवर्तमानस्य कादाचित्कत्वमुपपन्नमेव। यथा बीजं सत्यामप्यङ्कुरोपजनशक्तौ पृथिव्युदकादिसहकारिकारणकलापसमवहितमेवाङ्कुरं जनयति, नान्यथा। न चैतावता तस्याङ्कुरोत्पादने कादाचित्केऽपि तदुत्पादनशक्तिरपि कादाचित्की, तस्याः कथंचिन्नित्यत्वात्। एवमात्मनः सदा सन्निहितत्वेऽप्यहंप्रत्ययस्य कादाचित्कत्वम्॥

यदप्युक्तम् तस्याव्यभिचारि लिङ्गं किमपि नोपलभ्यत इति तदप्यसारं। साध्याविनाभाविनोऽनेकस्य लिङ्गस्य तत्रोपलब्धेः। तथाहि। रूपाद्युपलब्धिः सकर्तृका, क्रियात्वात्, छिदिक्रियावत्। यश्चास्याः कर्ता स आत्मा। न चात्र चक्षुरादीनां कर्तृत्वम्। तेषां कुठारादिवत् करणत्वेनास्वतंत्रत्वात्। करणत्वं चैषां पौद्गलिकत्वेनाचेतनत्वात्, परप्रेर्यत्वात्, प्रयोक्तृव्यापारनिरपेक्षप्रवृत्त्यभावात्। यदि हि इन्द्रियाणामेव कर्तृत्वं स्यात्, तदा तेषु विनष्टेषु पूर्वानुभूतार्थस्मृतेः मया दृष्टम् स्पृष्टम् घ्रातम् आस्वादितम् श्रुतम् इति प्रत्ययानामेककर्तृकत्वप्रतिपत्तेश्च

है। जैसे अपने प्रिय सेवकमें अहंबुद्धि होती है, उसी प्रकार यहाँ अहं प्रत्ययका प्रयोग आत्माके उपकारक शरीरमें होता है।

(ग) 'अहं प्रत्यय'का जो कादाचित्कत्व (अनित्यत्व) है, उसके विषयमें यहाँ प्रतिपादन किया गया है। आत्माका लक्षण उपयोग है। वह आत्मा साकार और अनाकार उपयोगमेंसे किसी एक उपयोगमें नियमसे उपयुक्त ही रहती है। 'अहं प्रत्यय' भी एक प्रकारका उपयोग ही है। कर्मके क्षयोपशमके वैचित्र्यके कारण इन्द्रिय, मन, आलोक, विषय आदि निमित्तोंकी अपेक्षा रखकर प्रवृत्त होनेवाले उस 'अहं प्रत्यय'रूप विशिष्ट उपयोगका कादाचित्क (अनित्य) होना ठीक ही है। जिस प्रकार बीजमें अंकुरके उत्पन्न करनेकी शक्तिके सदा विद्यमान रहते हुए भी पृथिवी, जल आदि सहकारी सामग्री मिलनेपर ही बीज अंकुरको उत्पन्न करता है, सहकारी सामग्रीके अभावमें वह अंकुरकी उत्पत्ति नहीं कर सकता। बीजकी अंकुर उत्पन्न करनेकी क्रियाके कादाचित्क (अनित्य) होनेपर भी बीजकी अंकुर उत्पादन करनेकी शक्तिको कादाचित्क नहीं कह सकते, क्योंकि बीजकी वह अंकुर उत्पादन करनेकी शक्ति कथंचित् अनित्य होती है। इसी तरह आत्माके सदा विद्यमान रहनेपर भी कर्मोंके क्षय और उपशमकी विचित्रतासे इन्द्रिय, मन आदिके सहकार मिलनेपर ही 'अहं प्रत्यय' होता है, जो कादाचित्क (अनित्य) होता है।

(घ) आत्माको सिद्ध करनेवाले 'व्यभिचारी हेतुका अभाव', जो कहा है, वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि जिनका आत्मरूप साध्यके साथ अविनाभावी संबंध विद्यमान है, ऐसे अनेक हेतु हैं: (१) रूप आदिको जाननेकी क्रियाका कर्ता विद्यमान है, क्योंकि रूप आदिको जानना क्रियारूप है, जैसे छेदन क्रिया। जैसे छेदन रूप क्रियाका कोई काटनेवाला देखा जाता है, उसी तरह रूप आदि रूप क्रियाका कोई कर्ता होना चाहिये। इन रूप आदिको जाननेकी जो क्रिया है उसका कर्ता आत्मा ही है। यदि कहो कि चक्षु आदि इन्द्रियाँ रूप आदिको जाननेकी क्रियाके विषयमें कर्ता हैं, इसलिये आत्माके माननेकी आवश्यकता नहीं, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि जिस प्रकार कुठार आदि करण होनेसे किसी दूसरे कर्ताके आधीन रहते हैं, उसी तरह इन्द्रियाँ करण हैं, इसलिये वे भी परतंत्र हैं। तथा, इन्द्रियाँ पौद्गलिक होनेसे अचेतन होनेके कारण, दूसरेकी प्रेरणासे कार्य करनेके कारण और प्रयोक्ताकी क्रियाकी अपेक्षाके अभावमें उनकी प्रवृत्ति न होनेके कारण, वे करणरूप हैं। यदि स्वयं इन्द्रियाँ ही रूप आदिको जाननेकी क्रियाकी कर्ता हों, तो इन्द्रियोंके नष्ट होनेपर, इन्द्रियोंसे पूर्वकालमें अनुभूत पदार्थोंका स्मरण नहीं

---

१. बाह्याभ्यन्तरहेतुद्वयसन्निधाने यथासंभवमुपलब्धुश्चैतन्यानुविधायी परिणामः उपयोगः। राजवार्तिके पृ. ८२।

कुतः संभवः। किञ्च, इन्द्रियाणां स्वस्वविषयनियतत्वेन रूपरसयोः साहचर्यप्रतीतौ न सामर्थ्यम्। अस्ति च तथाविधफलादे रूपग्रहणानन्तरं तत्सहचरितरसानुस्मरणम्, दन्तोदकसंप्लवान्यथानुपपत्तेः। तस्मादुभयोर्गवाक्षयोरन्तर्गतः प्रेक्षक इव द्वाभ्यामिन्द्रियाभ्यां रूपरसयोर्दर्शी कश्चिदेकोऽनुमीयते। तस्मात्करणान्येतानि यश्चैषां व्यापारयिता स आत्मा ॥

तथा साधनोपादानपरिवर्जनद्वारेण हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्था चेष्टा प्रयत्नपूर्विका, विशिष्टक्रियात्वात्, रथक्रियावत्। शरीरं प्रयत्नवदधिष्ठितम्, विशिष्टक्रियाश्रयत्वात्, रथवत्। यश्चास्याधिष्ठाता स आत्मा, सारथिवत्। तथात्रैव पक्षे, इच्छापूर्वकविकृतवाय्वाश्रयत्वाद् भस्त्रावत्। वायुश्च प्राणापानादिः। यश्चास्याधिष्ठाता स आत्मा, भस्त्राध्मापयितृवत्। तथात्रैव पक्षे, इच्छाधीननिमेषोन्मेषवदवयवयोगित्वाद्, दारुयन्त्रवत्। तथा शरीरस्य वृद्धिक्षतभग्नसंरोहणं च प्रयत्नवत्कृतम्, वृद्धिक्षतभग्नसंरोहणत्वाद्, गृहवृद्धिक्षतभग्नसंरोहणवत्। वृक्षादिगतेन वृद्ध्यादिना व्यभिचार इति चेत्, न। तेषामपि एकेन्द्रियजन्तुत्वेन सात्मकत्वात्। यश्चैषां कर्ता, स आत्मा, गृहपतिवत्। वृक्षादीनां च [1]सात्मकत्वमाचाराङ्गादेरवसेयम्। किंचिद्वक्ष्यते च ॥

तथा प्रेर्यं मनः, अभिमतविषयसम्बन्धीनिमित्तक्रियाश्रयत्वाद्, दारकहस्तगतगोलकवत्। यश्चास्य प्रेरकः स आत्मा इति। तथा आत्मचेतनक्षेत्रज्ञजीवपुद्गलादयः पर्याया न निर्वि-

---

होना चाहियें। तथा, 'मैंने देखा, मैंने छुआ, मैंने सूँघा, मैंने चाखा, मैंने सुना', इस प्रकार विविध इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान एक कर्ताके साथ संवद्ध नहीं हो सकता। तथा, प्रत्येक इन्द्रियका विषय अलग अलग है, इसलिये रूप और रसका एक साथ ज्ञान करनेमें वे समर्थ नहीं हैं; परन्तु हम देखते हैं कि आम वगैरह फलके देखते ही मुँहमें पानी आ जानेसे, साथ ही साथ, आमके रसका भी अनुभव होता है। अतएव दो खिड़कियोंमेंसे देखनेवाले प्रेक्षककी तरह, दो इन्द्रियों (नेत्र और रसना) द्वारा रूप और रसको अनुभव करनेवाला एक आत्मा ही है। इसलिये ये इन्द्रियाँ करण हैं, और इन इन्द्रियोंका प्रेरक आत्मा है।

(२) हित रूप साधनोंका ग्रहण और अहित रूप साधनोंका त्याग प्रयत्नपूर्वक ही होता है, क्योंकि यह क्रिया है। जितनी क्रिया होती हैं, वे सब यत्नपूर्वक होती हैं। जैसे रथकी चलनेकी क्रिया सारथिके प्रयत्नसे होती है, वैसे ही शरीरको नियत दिशामें लेजानेवाली चेष्टा आत्माके प्रयत्नसे होती है। यही आत्मा रथको चलानेवाले सारथिकी तरह कर्ता है। (३) जिस प्रकार वायुकी सहायतासे कोई पुरुष धोंकनीको फूँकता है, वैसे ही इच्छापूर्वक श्वासोच्छवास रूप वायुसे शरीर रूपी धोंकनीको फूंकनेवाला शरीरका अधिष्ठाता आत्मा है। (४) जिस प्रकार लकड़ीके बने मशीनके खिलौनेकी आखोंका खुलना और बंद होना किसी कर्ताके अधीन रहता है, उसी प्रकार शरीर रूपी यंत्रका कर्ता किसी आत्माको स्वीकार करना चाहिये। (५) जैसे घरका बनाना, फोड़ना और टूटे हुएकी मरम्मत करना आदि किसी कर्ताद्वारा किये जाते हैं, उसी प्रकार शरीरकी वृद्धि, हानि, घावका भर जाना आदि कार्य आत्माके स्वीकार करनेसे ही बन सकते हैं। यदि कहो कि वृक्ष आदिमें जो वृद्धि, हानि होती है, उसका कोई अधिष्ठाता नहीं देखा जाता, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि वृक्ष आदि एकेन्द्रिय जीव हैं, इसलिए उनमें भी आत्मा है। वृक्ष आदिमें आत्माकी सिद्धि आचारांग (१–१–५) से जाननी चाहिये। इसका वर्णन आगे भी किया जायगा (देखिये श्लोक २९ की व्याख्या)।

(६) तथा जिसप्रकार बालकके हाथकी गेंद अभिमत विषयके साथ होनेवाले संबंध की निमित्तभूत क्रियाका आश्रय होनेसे प्रेर्य (प्रेरित करनेके योग्य—फेंकने के योग्य) होती है; अर्थात् जिस प्रकार दीवार पर

---

१ आचाराङ्गसूत्रश्रुतस्कंधे १–१–५

षयाः, पर्यायत्वाद्, घटकुटकलशादिपर्यायवत्। व्यतिरेके षष्ठभूतादि। यश्चैषां विषयः स आत्मा। तथा अस्त्यात्मा, असमस्तपर्यायवाच्यत्वात्। यो योऽसाङ्केतिकशुद्धपर्यायवाच्यः, स सोऽस्तित्वं न व्यभिचरति, यथा घटादिः। व्यतिरेके खरविषाणनभोऽम्भोरुहादयः। तथा सुखादीनि द्रव्याश्रितानि, गुणत्वाद्, रूपवत्। योऽसौ गुणी स आत्मा। इत्यादिलिङ्गानि। तस्मादनुमानतोऽप्यात्मा सिद्धः॥

आगमानां च येषां पूर्वापरविरुद्धार्थत्वम् तेषामप्रामाण्यमेव। यस्त्वाप्तप्रणीत आगमः स प्रमाणमेव, कषच्छेदतापलक्षणोपाधित्रयविशुद्धत्वात्। कषादीनां च स्वरूपं पुरस्ताद्वक्ष्यामः। न च वाच्यमाप्तः क्षीणसर्वदोषः तथाविधं चाप्तत्वं कस्यापि नास्तीति। यतः रागादयः कस्यचिदत्यन्तमुच्छिद्यन्ते, अस्मदादिषु तदुच्छेदप्रकर्षापकर्षोपलम्भात्, सूर्याद्यावरकजलदपटलवत्। तथा चाहुः—

पटकनेकी इच्छासे बालक जिस गेंदको अपने हाथमें लेता है, वह गेंद दीवारकी ओर जानेकी क्रियाका आश्रय होनेवाली होनेसे प्रेर्य–पटकने योग्य होती है, उसी प्रकार मन अभिमत विषयके साथ होनेवाले संबंधकी निमित्त भूत क्रियाका आश्रय होनेसे प्रेर्य है। इस मनकी प्रेरक आत्मा है। (७) तथा, जिस प्रकार घट, कुट, कलश आदि पर्यायें पर्यायरूप होनेसे निराश्रय नहीं होतीं (उनका उपादानभूत मृत्तिका रूप विद्यमान होता है), उसी प्रकार आत्मा, चेतन, क्षेत्रज्ञ, जीव, पुद्गल (पुद्गल-संज्ञक जीव द्रव्य) आदि (निष्पर्याय द्रव्य) पर्यायें पर्यायरूप होनेसे निराश्रय (उपादानके विना) नहीं होतीं। (साध्यके अभावमें जब साधनका अभाव बताया जाता है, तब व्यतिरेकदृष्टांत होता है)। षष्ठभूत आदिका अभाव होने पर उनकी पर्यायोंका अभाव होना व्यतिरेकदृष्टांत है। (तात्पर्य यह कि जिस प्रकार षष्ठभूतका अभाव होनेके कारण उसकी पर्यायोंके द्वारा षष्ठभूतके अस्तित्वकी सिद्धि नहीं की जा सकती, उसी प्रकार पर्यायका अभाव होनेसे पर्यायी आत्माके अभावकी सिद्धि नहीं की जा सकती। आत्माकी पर्यायोंका सद्भाव होनेसे उनके द्वारा आत्माकी सिद्धि की जा सकती है।) इन चेतन, आत्मा आदि पर्यायोंका आश्रय आत्मा है। (८) तथा, आत्मा अस्तिरूप है, क्योंकि वह अपनी अनारोपित शुद्ध पर्यायके द्वारा वाच्य कहा जाता है। (असमस्त अर्थात् अमिश्रित–शुद्ध। सोने और तांबेके मिश्रणसे बनाये आभूषणसे जिस प्रकार शुद्ध सुवर्णका ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार आत्माकी अशुद्ध पर्यायसे शुद्ध आत्माका ज्ञान नहीं होता—आत्माकी शुद्ध पर्यायसे ही आत्माका ज्ञान होता है)। जो अनारोपित शुद्ध होनेसे, जिसपर शुद्धत्वका आरोप नहीं किया गया होता, ऐसी शुद्ध पर्यायके द्वारा वाच्य होता है, वह अस्तित्वरहित नहीं होता, जैसे घट आदि (घट आदिके कपाल आदि शुद्ध पर्यायके द्वारा जिस प्रकार घट आदिका ज्ञान होता है; उसी प्रकार आत्माकी शुद्ध पर्यायके द्वारा शुद्ध आत्माका ज्ञान होता है)। खरविषाण, आकाशपुष्प आदिका अभाव होनेसे उनकी अनारोपित शुद्ध पर्यायों का अभाव होना, यह व्यतिरेकदृष्टांत है। (तात्पर्य यह कि जिस प्रकार खरविषाण आदिका अभाव होनेसे, उनकी शुद्ध पर्यायोंका अभाव होनेके कारण, उन पर्यायोंके द्वारा खरविषाण आदि वाच्य नहीं होते, उसी प्रकार आत्माकी शुद्ध पर्यायका अभाव न होनेसे–सद्भाव होनेसे–उसके द्वारा आत्मा वाच्य होती है)। (९) तथा, जिसप्रकार रूप गुण होनेसे द्रव्यके आश्रित होता है, उसी प्रकार सुख आदि गुण होनेसे द्रव्यके आश्रित होते हैं। जो गुणोंका आश्रय है, वह आत्मा है। इस प्रकार आत्माके अस्तित्वको सिद्ध करनेवाले अनेक हेतुओंका सद्भाव पाया जाता है। अतएव अनुमानसे भी आत्माकी सिद्धि होती है।

तथा, आप लोगोंने जो 'आगमोंका परस्पर विरोध' दिखलाया, वह भी ठीक नहीं। क्योंकि हम आप्तके द्वारा प्रणीत आगमको ही प्रमाण मानते हैं, परस्पर विरुद्ध अर्थके प्रतिपादन करनेवाले आगमको नहीं। आप्तकथित आगममें कष, छेद और ताप रूप उपाधियोंका निषेध किया गया है, इसलिये वह आगम प्रमाण है। (कष आदिका स्वरूप बत्तीसवें श्लोककी व्याख्यामें बताया गया है)। शंका—जिसके सम्पूर्ण

"देशतो नाशिनो भावा दृष्टा निखिलनश्वराः।
मेघपङ्क्त्यादयो यद्वत् एवं रागादयो मताः॥"

इति। यस्य च निरवयवतयैते विलीनाः स एवाप्तो भगवान् सर्वज्ञः॥

अथ अनादित्वाद् रागादीनां कथं प्रक्षयः इति चेत्। न। उपायतस्तद्भावात्। अनादेरपि सुवर्णमलस्य क्षारमृत्पुटपाकादिना विलयोपलम्भात्। तद्वदेवानादीनामपि रागादिदोषाणां प्रतिपक्षभूतरत्नत्रयाभ्यासेन विलयोपपत्तेः। क्षीणदोषस्य च केवलज्ञानाव्यभिचारात् सर्वज्ञत्वम्॥

तत्सिद्धिस्तु–ज्ञानतारतम्यं क्वचिद् विश्रान्तम्, तारतम्यत्वात्, आकाशे परिमाणतारतम्यवत्। तथा सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः, अनुमेयत्वात्, क्षितिधरकन्दराधिकरणधूमध्वजवत्। एवं चन्द्रसूर्योपरागादिसूचकज्योतिर्ज्ञानाविसंवादान्यथानुपपत्तिप्रभृतयोऽपि हेतवो वाच्याः। तदेवमाप्तेन सर्वविदा प्रणीत आगमः प्रमाणमेव। तदप्रामाण्यं हि प्रणायकदोषनिबन्धनम्।

"रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्।

दोष क्षय हो गये हों, उसे आप्त कहते हैं, ऐसा आप्त होना संभव नहीं है। समाधान—राग आदि दोष किसी जीवमें सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि हमलोगोंमें राग आदि दोषोंकी हीनाधिकता देखी जाती है। जिसकी हीनाधिकता देखी जाती है, उसका सर्वथा नाश होना संभव है। जिस प्रकार सूर्यको आच्छादित करनेवाले वादलोंमें हीनाधिकता पायी जाती है, इसलिये कहीं पर वादलोंका सर्वथा नाश भी संभव है, इसी तरह राग आदि दोषोंमें हीनाधिकता रहनेके कारण कहीं पर राग आदिका सर्वथा विनाश भी संभव है। कहा भी है—

"जो पदार्थ एक देशसे नाश होते हैं, उनका सर्वथा नाश भी होता है। जिस प्रकार मेघोंके पटलों का आंशिक नाश होनेसे उनका सर्वथा नाश भी होता है, इसी प्रकार राग आदिका आंशिक नाश होनेसे उनका भी सर्वथा नाश होता है।"

जिस पुरुषविशेषमें राग आदिका सम्पूर्ण रीतिसे नाश हो जाता है, वही पुरुष विशेष आप्त भगवान् सर्वज्ञ है।

शंका—राग आदि दोष अनादि हैं, इसलिये उनका क्षय नहीं हो सकता। समाधान—जिस प्रकार अनादि सुवर्णके मैलका खार मिट्टीके पुटपाक आदिसे नाश हो जाता है, उसी तरह अनादि राग आदि दोषोंका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रयकी भावनासे नाश हो जाता है। जिस पुरुषके सम्पूर्ण दोष नष्ट हो जाते हैं, उसके केवलज्ञानकी उत्पत्ति होती है, अतएव वीतराग भगवान् सर्वज्ञ हैं।

सर्वज्ञसिद्धि–(क) ज्ञानकी हानि और वृद्धि किसी जीवमें सर्वोत्कृष्ट रूपमें पायी नहीं जाती है, हानि, वृद्धि होनेसे। जैसे आकाशमें परिमाणकी सर्वोत्कृष्टता पायी जाती है, वैसेही ज्ञानकी सर्वोत्कृष्टता सर्वज्ञमें पायी जाती है। (ख) स्वभावसे दूर परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थ, देशसे दूर सुमेरु पर्वत आदि, तथा कालसे दूर राम, रावण आदि किसीके प्रत्यक्ष होते हैं, अनुमेय होनेसे। जो अनुमेय होते हैं, वे किसीके प्रत्यक्ष होते हैं। जिस प्रकार पर्वतकी गुफाकी अग्नि अनुमानका विषय होनेसे किसी न किसीके प्रत्यक्ष होती है, इसी प्रकार हमारे प्रत्यक्षज्ञानके बाह्य परमाणु आदि किसी न किसीके प्रत्यक्ष अवश्य होने चाहिये। इसी प्रकार चन्द्र और सूर्यके ग्रहणको बतानेवाले ज्योतिषशास्त्रकी सत्यता आदिसे भी सर्वज्ञकी होती है। इसलिये सर्वज्ञ आप्तका बनाया हुआ आगम ही प्रमाण है। जिस आगमका बनानेवाला सदोष होता है, वही आगम अप्रमाण होता है। कहा भी है—

---

१. उपरागो ग्रहो राहुग्रस्ते त्विन्दौ च पूष्णि च। इत्यमरः।

यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं किं स्यात् "॥

इति वचनात्। प्रणेतुश्च निर्दोषत्वमुपपादितमेवेति सिद्ध आगमादप्यात्मा "एगे आया"[1] इत्यादि वचनात्। तदेवं प्रत्यक्षानुमानागमैः सिद्धः प्रमाता॥

प्रमेयं चानन्तरमेव बाह्यार्थसाधने साधितम्। तत्सिद्धौ च प्रमाणं ज्ञानम् तच्च प्रमेयाभावे कस्य ग्राहकमस्तु निर्विषयत्वात् इति प्रलापमात्रम्, करणमन्तरेण क्रियासिद्धेरयोगाद् लवनादिषु तथादर्शनात्। यच्च, अर्थसमकालमित्याद्युक्तम्, तत्र विकल्पद्वयमपि स्वीक्रियत एव। अस्मदादिप्रत्यक्षं हि समकालार्थाकलनकुशलम्। स्मरणमतीतार्थस्य ग्राहकम्। शब्दानुमाने च त्रैकालिकस्याप्यर्थस्य परिच्छेदके। निराकारं चैतद् द्वयमपि। न चातिप्रसङ्गः, स्वज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषवशादेवास्य नैयत्येन प्रवृत्तेः। शेषविकल्पानामस्वीकार एव तिरस्कारः॥

प्रमितिस्तु प्रमाणस्य फलं स्वसंवेदनसिद्धैव। न ह्यनुभवेऽप्युपदेशापेक्षा। फलं च द्विधा आनन्तर्यपारम्पर्यभेदात्। तत्रानन्तर्येण सर्वप्रमाणानामज्ञाननिवृत्तिः फलम्। पारम्पर्येण केवलज्ञानस्य तावत् फलमौदासीन्यम्। शेषप्रमाणानां तु हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः। इति सुव्यवस्थितं प्रमात्रादिचतुष्टयम्। ततश्च—

"राग द्वेष और मोहके कारण असत्य वाक्य बोले जाते हैं। जिस पुरुषके राग, द्वेष और मोहका अभाव है, वह पुरुष असत्य वचन नहीं कह सकता।"

अतएव आगमोंके प्रणेताके निर्दोष सिद्ध होनेपर आगमसे भी "आत्मा एक है" इत्यादि वचनोंसे आत्माकी सिद्धि होती है। इसलिये प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम आत्माको सिद्ध करते हैं।

(२) बाह्य पदार्थोंके अस्तित्व सिद्ध करनेके प्रसंगमें पिछली कारिकामें प्रमेयकी सिद्धि की जा चुकी है। (३) प्रमेयकी सिद्धि होनेपर ज्ञानके प्रमिति क्रियाके करणत्वकी सिद्धि हो जाती है। 'प्रमिति क्रियाका कारणभूत स्वपरावभासक ज्ञान प्रमेयके अभावमें निर्विषय (प्रमेयशून्य) होनेसे किसका ग्राहक होगा ?' यह कथन प्रलापमात्र है। क्योंकि प्रमाणको न माननेसे प्रमिति क्रियाके करणका अभाव हो जानेके कारण 'प्रमेयके अभावमें ज्ञान जान नहीं सकता'—इस अभिप्रायको जाननेकी क्रियाकी सिद्धि, जिस प्रकार कुठार आदि रूप करणके अभावमें छेदन आदि क्रियाकी सिद्धि नहीं होती, उसी प्रकार नहीं हो सकती। 'ज्ञानका काल और पदार्थका काल समान होनेपर ज्ञान प्रमेयको जानता है या भिन्न होनेपर ?' यह जो आपलोगोंने कहा है, तो हम दोनों ही विकल्पोंको स्वीकार करते हैं। हमलोगोंके मतमें प्रत्यक्ष प्रमाण ज्ञानके कालमें रहनेवाले (विद्यमान) पदार्थोंका, स्मरण अतीत कालीन पदार्थोंका, तथा शब्द और अनुमान तीनों कालके पदार्थोंका ज्ञान करनेमें कुशल होते हैं। शब्द और अनुमान तीनों कालोंमें विद्यमान पदार्थको जाननेवाले होते हैं। दोनों ही ज्ञेय पदार्थके आकारसे रहित होते हैं। यहाँ अतिप्रसंग दोष नहीं आता। क्योंकि इस ज्ञानकी पदार्थोंको जाननेकी जो प्रवृत्ति होती है, वह अपने अपने ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मोंके विशिष्ट क्षयोपशमके कारण होती है। शून्यवादका स्थापन करनेमें जो दूसरे विकल्प प्रतिपादित किये गये हैं, उनको न मानना ही शून्यवादका तिरस्कार करना है।

(४) प्रमाणकी फलभूत प्रमिति स्वसंवेदन प्रत्यक्ष अर्थात् अनुभवसे सिद्धि ही है। अतएव प्रमितिको सिद्ध करनेके लिये प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है। प्रमाणका फल साक्षात् और परम्पराके भेदसे दो प्रकारका होता है। पदार्थविषयक अज्ञानकी निवृत्ति सभी प्रमाणोंका साक्षात् फल है। केवलज्ञानका परम्पराफल संसारसे उदासीन होना है, केवलज्ञानके अतिरिक्त शेष प्रमाणोंका परम्पराफल इष्टानिष्ट पदार्थों को छोड़ना, ग्रहण करना तथा उपेक्षा करना है। अतएव प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमिति ये चारों पदार्थ

---

१. स्थानाङ्गसूत्रे १–१। प्रकृशार्थतया असंख्यातप्रदेशोऽपि जीवो द्रव्यार्थतया एकः इति अभयदेवसूरिटीकायां।

"नासन्न सन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः" ॥[1]

इत्युन्मत्तभाषितम् ॥

किञ्च, इदं प्रमात्रादीनामवास्तवत्वं शून्यवादिना वस्तुवृत्त्या तावदेष्टव्यम्। तच्चासौ प्रमाणात् अभिसन्यते अप्रमाणाद्वा ? न तावदप्रमाणात्, तस्याकिञ्चित्करत्वात्। अथ प्रमाणात्, तन्न अवास्तवत्वग्राहकं प्रमाणं सांवृतमसांवृतम् वा स्यात् ? यदि सांवृतम्[2] कथं तस्मादवास्तवाद् वास्तवस्य शून्यवादस्य सिद्धिः। तथा तदसिद्धौ च वास्तव एव समस्तोऽपि प्रमात्रादिव्यवहारः प्राप्तः। अथ तद्ग्राहकं प्रमाणं स्वयमसांवृतम्, तर्हि क्षीणा प्रमात्रादिव्यवहारावास्तवत्वप्रतिज्ञा, तेनैव व्यभिचारात्। तदेवं पक्षद्वयेऽपि "इतो व्याघ्र इतस्तटी" इति न्यायेन व्यक्त एव परमार्थतः स्वाभिमतसिद्धिविरोधः॥ इति काव्यार्थः ॥१७॥

सिद्ध होते हैं। इसलिये—

"जो न असत् हो, न सत् हो, न सत्-असत् हो, और न सत्-असत्के अभाव रूप हो, इस प्रकार माध्यमिक (शून्यवादी) लोगोंका चारों कोटियोंसे रहित तत्त्वको स्वीकार करना" केवल उन्मत्त पुरुषके प्रलापकी भाँति है।

तथा, शून्यवादीको प्रमाता, प्रमेय आदिकी अवास्तविकता परमार्थतः इष्ट है। यह अवास्तविकता शून्यवादी प्रमाणसे सिद्ध करते हैं, अथवा अप्रमाणसे ? अप्रमाणसे प्रमाण आदिकी असत्यता सिद्ध नहीं की जा सकती, क्योंकि अप्रमाण अकिंचित्कर है। दूसरे पक्षमें, प्रमाण आदिको अवास्तव सिद्ध करनेवाला प्रमाण स्वयं सांवृत (असत्य) है, या असांवृत (सत्य) ? यदि प्रमाण असत्य है, तो अवास्तव प्रमाणसे वास्तव शून्यवादकी स्थापना नहीं की जा सकती। तथा, शून्यवादकी सिद्धि न होने पर संपूर्ण प्रमाता, प्रमेय आदि का व्यवहार वास्तव सिद्ध हो जाता है। यदि प्रमाता आदिको अवास्तविक सिद्ध करनेवाला प्रमाण स्वयं वास्तविक है, तो प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमितिके व्यवहारको तो आप असत्य कहते हैं, वह नहीं बन सकता। क्योंकि उस वास्तव प्रमाणके साथ व्यभिचार होनेका दोष आता है। अतएव 'एक तरफ व्याघ्र है, दूसरी ओर नदी' इस न्यायसे प्रमाण और अप्रमाण दोनों पक्षोंके स्वीकार करनेमें शून्यवादियोंके स्वाभिमत सिद्धिका विरोध वास्तवमें स्पष्ट ही है। यह श्लोकका अर्थ है ॥१७॥

भावार्थ-शून्यवादी—सब पदार्थ शून्य हैं, क्योंकि प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमिति अवस्तु हैं। (क) प्रमाता (आत्मा) इन्द्रियोंका विषय नहीं हो सकता, अतएव प्रत्यक्षसे आत्माकी सिद्धि नहीं होती। अनुमान भी आत्माको सिद्ध नहीं करता, क्योंकि किसी भी हेतुसे आत्माकी सिद्धि नहीं होती। आगम परस्पर विरोधी हैं, इसलिये आगम भी आत्माको सिद्ध नहीं कर सकता। (ख) प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे बाह्य पदार्थोंकी सिद्धि नहीं हो सकती। अविद्याकी वासनासे ही बाह्य पदार्थोंके अभावमें घट, पट आदि पदार्थोंका ज्ञान होता है, अतएव प्रमेय भी कोई पदार्थ नहीं है। (ग) प्रमेयके अभाव

---

१. न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ॥
माध्यमिककारिकायां।

२. संवृतेर्लक्षणम्—
अभूतं ख्यापयत्यर्थं भूतमावृत्य वर्तते।
अविद्या जायमानेव कामलातंकवृत्तिवत्
बोधिचर्यावतारपञ्जिकायाम् ३५२

अधुना क्षणिकवादिन ऐहिकामुष्मिकव्यवहारानुपपन्नार्थसमर्थनमविमृश्यकारितं दर्श-यन्नाह—

कृतप्रणाशाकृतकर्मभोगभवप्रमोक्षस्मृतिभङ्गदोपान् ।
उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभङ्गमिच्छन्नहो महासाहसिकः परस्ते ॥ १८ ॥

कृतप्रणाशदोषम् अकृतकर्मभोगदोपम् भवभङ्गदोपम् प्रमोक्षभङ्गदोषम् स्मृतिभङ्गदोष-मित्येतान् दोषान्। साक्षादित्यनुभवसिद्धान्। उपेक्ष्यानादृत्य। साक्षात् कुर्वन्नपि गजनिमी-लिकामवलम्बमानः[1]। सर्वभावानां क्षणभङ्गम् उदयानन्तरविनाशरूपां क्षणक्षयिताम्। इच्छन् प्रतिपद्यमानः। ते तव। परः प्रतिपक्षी वैनाशिकः सौगत इत्यर्थः। अहो महासाहसिकः सहसा

होनेपर प्रमाण भी नहीं वन सकता। (घ) प्रमाणके अभावमें प्रमिति भी नहीं सिद्ध हो सकती। अतएव सर्वथा शून्य मानना ही वास्तविक तत्त्व है। क्योंकि अनुमान और अनुमेयका व्यवहार बुद्धिजन्य है। वास्तव में बुद्धिके बाहर सत् और असत् कोई वस्तु नहीं। अतएव न सत्, न असत्, न सत्-असत्, और न सत्-असत् का अभाव रूप ही वास्तवमें परमार्थ है।

जैन—प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमिति प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंसे सिद्ध होते हैं। (क) 'मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ' आदि 'अहं प्रत्यय'से प्रमाता सिद्ध होता है। (ख) बाह्य पदार्थोंका ज्ञान अनुभवसे सिद्ध है। तथा बाह्य पदार्थोंके अनुभव होनेपर ही वासना वन सकती है। अतएव प्रमेय भी स्वीकार करना चाहिये। (ग) प्रमेयके सिद्ध होनेपर प्रमाण भी अवश्य मानना चाहिये। जैसे कुठारसे काटनेकी क्रिया हो सकती है, वैसे जानने रूप क्रियाका भी कोई करण होना चाहिये। (घ) पदार्थको जानते समय पदार्थ, संबंधी अज्ञानका नाश होना ही प्रमाणका साक्षात् फल है, अतएव प्रमिति भी मानना चाहिये। तथा शून्यवादी लोग प्रमाता आदिको प्रमाण अथवा अप्रमाण किसीसे भी सिद्ध नहीं कर सकते। अप्रमाण अकिं-चित्कर है, इसलिये अप्रमाणसे प्रमाता आदि सिद्ध नहीं हो सकते। इसी तरह प्रमाणसे भी प्रमाता आदि सिद्ध नहीं होते, क्योंकि शून्यवादियोंके मतमें स्वयं प्रमाण ही अवस्तु है। तथा, जिस प्रमाणसे शून्यवादी लोग अपने पक्षकी सिद्धि करते हैं, वह प्रमाण विना प्रमेयके नहीं बन सकता, क्योंकि प्रमाण निर्विषय नहीं होता, अतएव शून्यवादियोंको मौन रहना ही श्रेयस्कर है।

क्षणिकवादियोंके मतमें इस लोक और परलोककी व्यवस्था नहीं वन सकती। अतएव उनके मतको अविचारपूर्ण सिद्ध करते हैं—

श्लोकार्थ—आपके प्रतिपक्षी क्षणिकवादी बौद्ध क्षणिकवादको स्वीकार करके, किये हुए कर्मोंके फलको न भोगना, अकृत कर्मोंके फलको भोगनेके लिये बाध्य होना, परलोकका नाश, मुक्तिका नाश, तथा स्मरण शक्तिका अभाव, इन दोषोंकी उपेक्षा करके अपने सिद्धांतको स्थापित करनेका महान् साहस करते हैं।

व्याख्यार्थ—जिस प्रकार हाथी आँखोंको वन्द करके जलपान करता है, वैसे ही संसार, मोक्ष आदिका साक्षात् अनुभव करते हुए भी सम्पूर्ण पदार्थोंको क्षणस्थायी माननेवाले प्रतिपक्षी बौद्ध (१) किये हुए कर्मोंका नाश, (२) नहीं किये हुए कर्मोंका भोग, (३) संसारका क्षय, (४) मोक्षका नाश और

---

१. गजो नेत्रे निमील्य जलपानादि करोति नेत्रनिमीलनेन न किंचित्करोमीति भावयति च तद्वदयं वादी कृतप्रणाशादीन् दोषान् साक्षादनुभवन् सर्वभावानां क्षणभङ्गुरतां प्रतिपद्यते।

अविमर्शात्मकेन बलेन वर्तते साहसिकः। भाविनमर्थमविभाव्य यः प्रवर्तते स एवमुच्यते। महांश्चासौ साहसिकश्च महासाहसिकोऽत्यन्तमविमृश्य प्रवृत्तिकारी। इति मुकुलितार्थः॥

विवृतार्थस्त्वयम्। बौद्धा बुद्धिक्षणपरम्परामात्रमेवात्मानमामनन्ति न पुनर्मौक्तिककणनिकरानुस्यूतैकसूत्रवत् तदन्वयिनमेकम्। तन्मते येन ज्ञानक्षणेन सदनुष्ठानमसदनुष्ठानं वा कृतम् तस्य निरन्वयविनाशान्न तत्फलोपभोगः। यस्य च फलोपभोगः, तेन तत् कर्म न कृतम्। इति प्राच्यज्ञानक्षणस्य चाकृतकर्मभोगः, स्वयमकृतस्य परकृतस्य कर्मणः फलोपभोगादिति। अत्र च कर्मशब्दः उभयत्रापि योज्यः, तेन कृतप्रणाश इत्यस्य कृतकर्मप्रणाश इत्यर्थो दृश्यः। बन्धानुलोम्याच्चेत्थमुपन्यासः॥

यथा भवभङ्गदोषः। भव आजवीभावलक्षणः संसारः, तस्य भङ्गो विलोपः। स एव दोषः क्षणिकवादे प्रसज्यते। परलोकाभावप्रसङ्ग इत्यर्थः। परलोकिनः[२] कस्यचिदभावात्। परलोको हि पूर्वजन्मकृतकर्मानुसारेण भवति। तच्च प्राचीनज्ञानक्षणानां निरन्वयं नाशात् केन नामोपभुज्यतां जन्मान्तरे॥

यच्च मोक्षाकरगुप्तेन "यच्चित्तं तच्चित्तान्तरं प्रतिसन्धत्ते यथेदानीन्तनं चित्तं, चित्तं च

---

(५) स्मृतिका अभाव, इन दोषोंकी उपेक्षा करते हुए क्षणवादके सिद्धान्तको प्रतिपादन करनेका महान् साहस करते हैं।

(१) बौद्ध लोग विचारके क्षणोंकी परम्पराको आत्मा मानते हैं। जिस प्रकार एक सूतका डोरा बहुतसे मोतियोंमें प्रविष्ट होकर सब मोतियोंकी एक माला बनाता है, उस तरह बौद्धोंके मतमें विचारके सम्पूर्ण क्षणोंमें अन्वित होनेवाली किसी एक वस्तुको आत्मा स्वीकार नहीं किया गया है। अतएव बौद्ध मतमें जिस विचारके क्षणसे अच्छे या बुरे कर्म किये जाते हैं, उस विचार क्षणके सर्वथा नष्ट हो जानेसे अच्छे या बुरे कर्म करनेवाले मनुष्यको उन अच्छे, बुरे कर्मोंका फल न मिलना चाहिये। क्योंकि फल भोगनेवाले मनुष्यने उन कर्मोंको किया ही नहीं है। कारण कि जिस पूर्व विचारके क्षणसे कर्म किया गया था, वह क्षण सर्वथा नष्ट हो चुका है। अतएव मनुष्यको अपने कर्मोंके फलका उपभोग नहीं करना चाहिये। (२) तथा क्षणिकवादमें जिस विचारक्षणने कर्मोंको नहीं किया, उस विचारक्षणको कर्मोंके फलको भोगनेके लिये बाध्य होनेके कारण, स्वयं नहीं किये हुए दूसरोंके कर्मोंको भोगनेसे अकृत कर्मभोग नामका दोष आता है। यहाँ जिस प्रकार श्लोकको प्रथम पंक्तिमें 'अकृतकर्मभोग' में कर्म शब्दका संबंध है, उसी तरह 'कृतप्रणाश' में भी कर्म शब्द जोड़कर 'कृतकर्मप्रणाश' अर्थ करना चाहिये।

(३) क्षणिकवादमें परलोक का अभाव होनेका प्रसंग उपस्थित होता है, क्योंकि परलोकको प्राप्त होनेवालेका अभाव है। पूर्वजन्ममें किये गये कर्मके अनुसार ही परलोककी प्राप्ति होती है। तथा क्षणिकवादियोंके मतमें पूर्वजन्ममें किये गये कर्मका, प्राचीन ज्ञानक्षणोंका निरन्वय नाश हो जानेसे, अन्य जन्ममें किसके द्वारा उपभोग किया जायेगा ? अतएव बौद्ध मतमें परलोकी (आत्मा) के अभाव होनेसे परलोककी भी सिद्धि नहीं होती।

मोक्षाकरगुप्त (बौद्ध)—"वर्तमानकालीन चित्तक्षणके समान जो चित्तक्षण होता है वह अन्य

---

१. संतानस्यैकमाश्रित्य कर्ता भोक्तेति देशितं॥
यथैव कदलीस्तंभो न कश्चिद्भागशः कृतः। तथाहमप्यसद्भूतो मृग्यमाणो विचारतः॥
बोधिचर्यावतारे ९-७३, ७५।

२. काचिन्नियतमर्यादाऽवस्थैव परिकीर्त्यते।
तस्याश्चानाद्यनन्तायाः परः पूर्व इहेति च॥ तत्त्वसंग्रहे १८७३।

मरणकालभावि" इति भवपरम्परासिद्धये प्रमाणमुक्तम्, तद्व्यर्थम्; चित्तक्षणानां निरवशेषनाशिनां चित्तान्तरप्रतिसंधानायोगात्। द्वयोरवस्थितयोर्हि प्रतिसंधानमुभयानुगामिना केनचित् क्रियते। यश्चानयोः प्रतिसंधाता, स तेन नाभ्युपगम्यते। स ह्यात्मान्वयी॥

न च प्रतिसंधत्ते इत्यस्य जनयतीत्यर्थः, कार्यहेतुप्रसङ्गात्। तेन वादिनास्य हेतोः स्वभावहेतुत्वेनोक्तत्वात्। स्वभावहेतुश्च तादात्म्ये सति भवति। भिन्नकाल-भाविनोश्च चित्तचित्तान्तरयोः कुतस्तादात्म्यम्। युगपद्भाविनोश्च प्रतिसन्धेयप्रतिसन्धायकत्वाभावापत्तिः, युगपद्भावित्वेऽविशिष्टेऽपि किमत्र नियामकम्, यदेकः प्रतिसन्धायकोऽपरश्च प्रतिसन्धेय इति। अस्तु वा प्रतिसन्धानस्य जननमर्थः। सोऽप्यनुपपन्नः। तुल्यकालत्वे हेतुफलभावस्याभावात्। भिन्नकालत्वे च पूर्वचित्तक्षणस्य विनष्टत्वात् उत्तरचित्तक्षणः कथमुपादानमन्तरेणोत्पद्यताम्। इति यत्किञ्चिदेतत्॥

तथा प्रमोक्षभङ्गदोषः। प्रकर्षेणापुनर्भावेन कर्मबन्धनाद् मोक्षो मुक्तिः प्रमोक्षः। तस्यापि भङ्गः प्राप्नोति। तन्मते तावदात्मैव नास्ति। कः प्रेत्य सुखीभवनार्थं यतिष्यते। ज्ञानक्षणोऽपि संसारी कथमपरज्ञानक्षणसुखीभवनाय घटिष्यते। न हि दुःखी देवदत्तो यज्ञदत्तसुखाय चेष्टमानो दृष्टः। क्षणस्य तु दुःखं स्वरसनाशित्वात् तेनैव सार्धं दध्वंसे। सन्तानस्तु न वास्तवः कश्चित्। वास्तवत्वे तु आत्माभ्युपगमप्रसङ्गः॥

चित्तक्षणके साथ संवद्ध होता है। मरणकालमें जो उत्पन्न होता है, वह चित्तक्षण होता है। अतः वह चित्तक्षण उत्तर चित्तक्षणके साथ सम्बद्ध होता है" (यच्चित्तं तच्चित्तान्तरं प्रतिसंधत्ते यथेदानींतनं चित्तं, चित्तं च मरणकालभावि), अतएव संसारकी परम्परा सिद्ध होती है। जैन—यह अनुमान व्यर्थ है क्योंकि सम्पूर्ण रूपसे विनाशको प्राप्त होनेवाले चित्तक्षणोंका अन्य चित्तक्षणोंके साथ सम्वद्ध होना घटित नहीं होता। अवस्थित रहनेवाले—संपूर्णरूपसे विनष्ट न होनेवाले—दो पदार्थोंका सम्वन्ध दोनोंमें अन्वित होनेवाले किसीके द्वारा ही घटित होता हैं। किन्तु दो चित्तक्षणोंमें जो कोई संवन्ध करानेवाला है, उसे क्षणिकवादियोंके मतमें स्वीकार नहीं किया गया। और दोनों चित्तक्षणोंमें जो अन्वित होता है वह आत्मा है।

शंका—'यच्चितं तच्चित्तान्तरं प्रतिसंधत्ते' यहां 'प्रतिसंधत्ते' इस क्रियापदका अर्थ 'उत्पन्न करता है,' ऐसा नहीं है। क्योंकि ऐसा अर्थ करनेसे मोक्षाकरगुप्तके वचनका अर्थ हो जाता है—'जो चित्तक्षण होता है वह अन्य चित्तको उत्पन्न करता है'। इससे पूर्वचित्त द्वारा उत्पन्न उत्तर चित्तक्षणके, पूर्व चित्तक्षण का कार्यहेतु वननेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है। परन्तु बौद्धोंने पूर्व और अपर चित्तक्षणोंमें स्वभावहेतु माना है। तथा, स्वभावहेतु तादात्म्य संवंध होनेपर ही होता है। जैसे, यह वृक्ष है, सीसम होनेसे, यहां वृक्ष और सीसमका तादात्म्य होनेसे स्वभावहेतु अनुमान है। इसलिये भिन्न-भिन्न समयमें होनेवाले पूर्व और अपर चित्तक्षणोंमें स्वभावहेतु भी नहीं वन सकता। क्योंकि यदि पूर्व और अपर चित्तक्षणोंको एक ही समयमें होनेवाला माना जाय, तो उनमें प्रतिसन्धेय और प्रतिसंधायकका विभाग नहीं वन सकता। तथा, प्रतिसंधानका अर्थ उत्पन्न करना भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि पूर्व और उत्तर क्षणोंको भिन्न समयवर्ती मानो, तो पूर्व चित्तक्षणके सर्वथा नाश हो जानेपर, उपादान कारणके विना, उत्तर क्षणकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

(४) तथा, मोक्षके अभाव होनेका दोष उपस्थित होता है। फिरसे सद्भूत न होने रूप कर्मोंके बंधनसे मुक्त होना प्रमोक्ष है। इसके भी अभाव होनेका प्रसंग आ जाता है। क्योंकि बौद्ध मतमें जब आत्मा ही नहीं है तो परलोकमें सुखी होनेके लिये कौन प्रयत्न करेगा? क्षणमात्रमें निरन्वय विनाशको प्राप्त होनेवाला संसारी ज्ञानक्षण भी अन्य ज्ञानक्षणके सुखी होनेके लिये प्रयत्न नहीं कर सकता। क्योंकि पूर्व और अपर ज्ञान क्षणोंमें कोई संवंध नहीं रह सकता। जैसे, दुखी हुआ देवदत्त यज्ञदत्तके सुखके लिए प्रयत्न करता हुआ नहीं देखा जाता। प्रत्येक ज्ञानक्षणका दुख भी उसी क्षणके साथ नष्ट हो जाता है। यदि सब ज्ञानक्षणोंमें सुख-दुख

अपि च बौद्धाः "निखिलवासनोच्छेदे विगतविषयाकारोपप्लवविशुद्धज्ञानोत्पादो मोक्षः" इत्याहुः। तच्च न घटते। कारणाभावादेव तदनुपपत्तेः। भावनाप्रचयो हि तस्य कारणमिष्यते। स च स्थिरैकाश्रयाभावाद् विशेषानाधायकः, प्रतिक्षणमपूर्ववद् उपजायमानः, निरन्वयविनाशी, गगनलङ्घनाभ्यासवत् अनासादितप्रकर्षो न स्फुटाभिज्ञानजननाय प्रभवति, इत्यनुपपत्तिरेव तस्य। समलचित्तक्षणानां स्वाभाविक्याः सदृशारम्भणशक्तेरसदृशारम्भम् प्रत्यशक्तेश्च अकस्मादनुच्छेदात्। किंच, समलचित्तक्षणाः पूर्वे स्वरसपरिनिर्वाणाः, अयमपूर्वो जातः सन्तानश्चैको न विद्यते, बन्धमोक्षौ चैकाधिकरणौ न विषयभेदेन वर्तेते। तत् कस्येयं मुक्तिर्य एतदर्थं प्रयतते। अयं हि मोक्षशब्दो बन्धनविच्छेदपर्यायः। मोक्षश्च तस्यैव घटते यो बद्धः। क्षणक्षयवादे त्वन्यः क्षणो बद्धः क्षणान्तरस्य च मुक्तिरिति प्राप्नोति मोक्षाभावः॥

तथा स्मृतिभङ्गदोषः। तथाहि। पूर्वबुद्ध्यानुभूतेऽर्थे नोत्तरबुद्धीनां स्मृतिः सम्भवति। ततोऽन्यत्वात्, सन्तानान्तरबुद्धिवत्। न ह्यन्यदृष्टोऽर्थोऽन्येन स्मर्यते अन्यथा एकेन दृष्टोऽर्थः

पहुँचानेवाली संतान स्वीकार की जाय, तो यदि वह संतान ज्ञानक्षणोंके अतिरिक्त कोई पृथक् वस्तु है, तो उसे आत्मा ही कहना चाहिये। यदि संतान अवस्तु है, तो वह संतान अकार्यकारी है।

तथा बौद्ध लोग "सम्पूर्ण वासनाओंका उच्छेद हो जानेपर विषयोंके आकारोंकी विघ्न-बाधाओंसे रहित विशुद्ध ज्ञानके उत्पन्न होनेको मोक्ष" कहते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं। क्योंकि क्षणिकवादियोंके मतमें वासना-विनाशके कारणका अभाव होनेसे, वासनाओंके विनाशकी सिद्धि न होनेसे, विशुद्ध ज्ञानोत्पाद रूप मोक्षकी सिद्धि नहीं होती। भावनाओंका समूह ही समस्त वासनाओंके उच्छेदका कारण माना गया है। (बौद्धोंके मतमें 'सब पदार्थ क्षणिक हैं, सब दुख रूप हैं, सामान्य रूपसे ज्ञात न हो कर अपने असाधारण रूपसे ज्ञात होते हैं, अतएव स्वलक्षण हैं, तथा सब पदार्थ निस्वभाव होनेसे शून्य हैं'—इस प्रकार भावनाचतुष्टयकी उत्कटतासे सम्पूर्ण वासनाओंका उच्छेद हो जाना मोक्ष है)। स्थिर–अक्षणिक–अर्थात् नित्य आत्मरूप एक आश्रयका बौद्ध मतमें अभाव होनेके कारण, विशेष–अतिशय–को उत्पन्न न करनेवाला, प्रत्येक ज्ञानक्षणमें अपूर्वकी भाँति उत्पन्न होनेवाला, निरन्वयविनाशी, आकाशको लाँघनेके अभ्यासकी भाँति प्रकर्षको प्राप्त न करनेवाला भावनाओंका समूह, विशुद्ध ज्ञानकी उत्पत्ति करनेमें समर्थ नहीं होता, अतएव मोक्षकी सिद्धि नहीं हो सकती। कारण कि मलसहित (अर्थात् अशुद्ध) ज्ञानक्षणोंकी सदृश (अर्थात् अशुद्ध) अन्य ज्ञानक्षणोंकी उत्पत्तिको आरंभ करनेकी स्वाभाविक शक्तिका, तथा असदृश (अर्थात् शुद्ध) ज्ञान क्षणोंकी उत्पत्तिको आरम्भ करनेकी शक्तिके अभावका अकस्मात् भावनाप्रचयरूप कारणके अभावमें उच्छेद नहीं होता। तथा, अशुद्ध ज्ञानक्षणके स्वभावतः क्षणिक होनेके कारण नष्ट होनेवाले और अपूर्व रूपमें उत्पन्न शुद्ध ज्ञानरूप ज्ञानक्षण—ये दोनों एक सन्तान नहीं हैं। तथा, बंधका अधिकरणभूत अशुद्ध ज्ञानक्षण और मोक्षका अधिकरणभूत शुद्ध ज्ञानक्षणके परस्पर भिन्न होनेसे, ये बंधमोक्षरूप एक अधिकरणमें नहीं रह सकते—अर्थात् बंध और मोक्ष एक ज्ञानक्षणके नहीं हो सकते—जो ज्ञानक्षण बद्ध होता है वही ज्ञानक्षण मुक्त नहीं हो सकता। फिर, जो मोक्ष प्राप्तिके लिये प्रयत्न करेगा, उसे मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकेगा? मोक्ष शब्द बन्धनच्छेदका पर्यायवाची है, अर्थात् बन्धका अभाव होना मोक्ष है। क्षणवादियोंके मतमें अन्य क्षण (ज्ञानक्षण) बद्ध होता है और उससे भिन्न क्षण अर्थात् भिन्न ज्ञानक्षणकी मुक्ति होती है, अतएव मोक्षका अभाव होनेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है।

(५) बौद्धोंके मतमें स्मृतिभंग हो जानेका प्रसंग उपस्थित होता है। तथाहि—जिस प्रकार एक बुद्धिसन्तानके द्वारा अनुभूत पदार्थका, जिसने उस पदार्थको अनुभूत नहीं किया ऐसे अन्य संतानकी बुद्धिको स्मरण नहीं होता, उसी प्रकार पूर्व ज्ञानके द्वारा अनुभूत पदार्थके विषयमें उत्तर ज्ञानक्षणोंके द्वारा स्मरण

---

१. सर्वं क्षणिकं सर्वं क्षणिकम्, दुःखं दुःखं, स्वलक्षणम् स्वलक्षणं, शून्यं शून्यमिति भावनाचतुष्टयं।

सर्वैः स्मर्येत। स्मरणाभावे च कौतस्कुती प्रत्यभिज्ञाप्रसूतिः, तस्याः स्मरणानुभवोभयसंभवत्वात्। पदार्थप्रेक्षणप्रबुद्धप्राक्तनसंस्कारस्य हि प्रमातुः स एवायमित्याकारेण इयमुत्पद्यते।

अथ स्यादयं दोषः, यद्यविशेषेणान्यदृष्टमन्यः स्मरतीत्युच्यते; किन्तु अन्यत्वेऽपि कार्यकारणभावाद्[1] एव च स्मृतिः। भिन्नसंतानबुद्धीनां तु कार्यकारणभावो नास्ति। तेन संतानान्तराणां स्मृतिर्न भवति। न चैकसान्तानिकीनामपि बुद्धीनां कार्यकारणभावो नास्ति, येन पूर्वबुद्ध्यनुभूतेऽर्थे तदुत्तरबुद्धीनां स्मृतिर्न स्यात्। तदप्यनवदातम्, एवमपि अन्यत्वस्य तदवस्थत्वात्। न हि कार्यकारणभावाभिधानेऽपि तदपगतं, क्षणिकत्वेन सर्वासां भिन्नत्वात्। न हि कार्यकारणभावात् स्मृतिरित्यत्रोभयप्रसिद्धोऽस्ति दृष्टान्तः॥

अथ— "यस्मिन्नेव हि सन्ताने आहिता कर्मवासना।
फलं तत्रैव संधत्ते कर्पासे रक्तता यथा"॥

होना संभव नहीं। यदि अन्य पुरुषके द्वारा दृष्ट पदार्थका किसी अन्य पुरुषके द्वारा स्मरण किया जाता हो तो एक पुरुषके द्वारा दृष्ट पदार्थका (जिन्होंने इस पदार्थको कभी नहीं देखा ऐसे) अन्य सभी पुरुषोंको स्मरण हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। यदि पूर्वज्ञानके द्वारा अनुभूत पदार्थका उत्तरबुद्धियोंको स्मरण न हुआ तो प्रत्यभिज्ञान कहाँसे बन सकता है? क्योंकि प्रत्यभिज्ञान स्मरण और अनुभव इन दोनोंसे उत्पन्न होता है। पदार्थके दर्शनसे जिसका संस्कार प्रबुद्ध हो जाता है, ऐसे प्रमाताको ही 'यह वही है' इस रूपसे प्रत्यभिज्ञान होता है।

शंका—यदि सामान्यरूपसे अन्य विज्ञानक्षणके द्वारा दृष्ट पदार्थका अन्य विज्ञानक्षण स्मरण करता है—ऐसा हमने कहा होता तो स्मृतिभंग नामका दोष आ सकता था। किन्तु पूर्वोत्तर विज्ञानक्षणोंमें भेद होनेपर भी उनमें कार्यकारण भाव होनेसे ही स्मरण होता है—अर्थात् पूर्व विज्ञानक्षणके द्वारा दृष्ट पदार्थका उत्तर विज्ञानक्षणको स्मरण होता है। अन्योन्यभिन्न संतानोंकी बुद्धियोंमें कार्यकारण भाव नहीं होता। इससे एक संतानकी बुद्धिके द्वारा दृष्ट पदार्थका उससे भिन्न संतानकी बुद्धिको स्मरण नहीं होता। तथा, एक संतानकी भी (भिन्न-भिन्न) बुद्धियोंमें कार्यकारण भाव नहीं होता—ऐसी बात नहीं है, जिससे पूर्वबुद्धिके द्वारा जो पदार्थ अनुभूत है, उस पदार्थका स्मरण उसकी उत्तरकालीन बुद्धियोंको न होगा।

समाधान—यह कथन भी ठीक नहीं। पूर्वोत्तर बुद्धियोंमें कार्य-कारण भाव होनेपर भी उन दोनोंमें होनेवाला भिन्नत्व जैसेका तैसा बना रहता है। पूर्वोत्तरकालीन बुद्धियोंमें कार्य-कारण माननेपर भी उनमें होनेवाले भेदका अभाव नहीं होता। क्योंकि सभी बुद्धियोंके क्षणिक होनेसे वे अन्योन्यभिन्न होती हैं। 'उनमें परस्पर भेद होनेपर भी दोनोंमें कार्य-कारण भाव होनेसे स्मृति उत्पन्न होती है'—इस विषयमें वादी-प्रतिवादी-प्रसिद्ध दृष्टान्तका सद्भाव नहीं है। (अतएव पूर्वोत्तरकालवर्ती दो भिन्न बुद्धियोंमें कार्य-कारण भावकी, उभयमान्य दृष्टांतके अभावके कारण सिद्धि न होने और उनमें भेद होनेसे, स्मृतिका प्रादुर्भाव असम्भव होनेके कारण स्मृतिभंग नामक दोष आता ही है)।

शंका—"जिस प्रकार जिस कपासमें लाल रंग द्वारा संस्कार किया जाता है, उसीमें ललाई होती है, उसी प्रकार जिस संतानमें कर्मवासना उत्पादित की गई होती है, उसी (संतान) में कर्मवासनाका फल रहता है"।

इस प्रकार कपासमें रक्तताका दृष्टांत विद्यमान है।

---

१. कार्यकारणभावप्रतिनियमादेव स्मृत्यभावोऽपि निरस्तः। न स्मर्ता कश्चिदिह विद्यते। किं तर्हि स्मरणमेव केवलमारोपवशात्। अनुभूते हि वस्तुनि विज्ञानसंताने स्मृतिबीजाधानात्कालान्तरेण संततिपरिपाकहेतोः स्मरणं नाम कार्यमुत्पद्यते। बोधिचर्यावतारपञ्जिकायां पृ. ४१५।

इति। कर्पासे रक्ततादृष्टान्तोऽस्तीति चेत्, तदसाधीयः, साधनदूषणयोरसम्भवात्। तथाहि—अन्वयाद्यसम्भवान्न साधनम्। न हि कार्यकारणभावो यत्र तत्र स्मृतिः कर्पासे रक्ततावदित्यन्वयः सम्भवति। नापि यत्र न स्मृतिस्तत्र न कार्यकारणभाव इति व्यतिरेकोऽपि। असिद्धत्वाद्यनुद्भावनाच्च न दूषणम्। न हि ततोऽन्यत्वात् इत्यस्य हेतोः कर्पासे रक्ततावत् इत्यनेन कश्चिद्दोषः प्रतिपाद्यते॥

किञ्च, यद्यनन्वयत्वेऽपि कार्यकारणभावेन स्मृतेरुत्पत्तिरिष्यते, तदा शिष्याचार्यादिबुद्धीनामपि कार्यकारणभावसद्भावेन स्मृत्यादिः स्यात्। अथ नायं प्रसङ्गः, एकसंतानत्वे सतीतिविशेषणादिति चेत्, तदप्युक्तं, भेदाभेदपक्षाभ्यां तस्योपक्षीणत्वात्। क्षणपरम्परातस्तस्याभेदे हि क्षणपरम्परैव सा। तथा च संतान इति न किञ्चिदतिरिक्तमुक्तं स्यात्। भेदे तु पारमार्थिकः अपारमार्थिको वासौ स्यात्? अपारमार्थिकत्वेऽस्य दूषणं, अकिंचित्करत्वात्। पारमार्थिकत्वे स्थिरो वा स्यात् क्षणिको वा? क्षणिकत्वे संताननिर्विशेष एवायम्, इति किमनेन स्तेनभीतस्य स्तेनान्तरशरणस्वीकरणानुकरणिना। स्थिरश्चेत् आत्मैव संज्ञाभेदतिरोहितः प्रतिपन्नः। इति न स्मृतिर्घटते क्षणक्षयवादिनाम्॥

समाधान—यह ठीक नहीं है। क्योंकि पूर्वोत्तर बुद्धिक्षणोंमें (बौद्धों द्वारा मान्य) कार्य-कारण भाव रूप हेतुसे स्मृतिकी उत्पत्ति होना रूप साध्यकी, न इस दृष्टांतसे सिद्धि होती है और न वह साध्य दूषित ही होता है। तथाहि—बुद्धिके पूर्वोत्तरक्षणोंमें होनेवाला कार्य-कारण भाव रूप हेतु और स्मृति इनमें अन्वय-व्यतिरेक संभव न होनेसे स्मृतिकी उत्पत्ति होना रूप साध्यकी सिद्धि नहीं होती। 'जहाँ कार्य-कारण भाव होता है, वहाँ स्मृतिका सद्भाव होता है, जैसे कपासमें रक्तता,' तथा 'जहाँ स्मृति नहीं होती, वहाँ कार्य-कारण भाव भी नहीं होता' इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं बनते। इस प्रकार स्मृतिरूप साध्य और कार्य-कारण भाव रूप हेतु इनमें अन्वय-व्यतिरेक न बननेसे उस हेतुसे स्मृतिरूप साध्यकी सिद्धि नहीं होती। 'उससे अर्थात् पूर्वबुद्धिसे उत्तरबुद्धि भिन्न होनेसे' इस हेतुके असिद्धत्व आदि दोषोंका प्रकटीकरण न होनेसे यह हेतु दूषित नहीं है। 'पूर्वबुद्धिसे उत्तरबुद्धि भिन्न होनेसे' इस हेतुके विषयमें 'जैसे कपासमें रक्तता' इस दृष्टांतके द्वारा किसी दोषका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता।

तथा, 'जहाँ कार्य-कारण भाव होता है वहाँ स्मृति होती है'—इस प्रकार कार्य-कारण भावमें और स्मृतिमें अन्वयका अभाव होनेपर भी, यदि उत्तर बुद्धिक्षण और पूर्व बुद्धिक्षणमें कार्य-कारण भाव होनेसे स्मृतिकी उत्पत्तिका इष्ट होना माना गया, तो शिष्यबुद्धि और आचार्यबुद्धिमें, आचार्यबुद्धिके कारण और शिष्यबुद्धिके कार्य होनेसे, कार्य-कारण भाव होनेसे स्मृतिका सद्भाव हो जायेगा। 'शिष्यबुद्धिमें और आचार्यबुद्धिमें अन्वयका अभाव होनेपर भी उनमें कार्य-कारण भाव होनेसे स्मृति आदिके सद्भाव होनेका प्रसंग उपस्थित नहीं होता; क्योंकि शिष्य और आचार्य ये दो भिन्न संतान हैं, और हमने 'एक संतानत्व' (एक संतानत्वे सति) विशेषणका प्रयोग किया है।' यह भी ठीक नहीं। क्योंकि भेदपक्ष औरअ भेदपक्षके द्वारा 'एकसंतानत्व' विशेषण क्षीण हो जाता है—अकिंचित्कर बन जाता है। क्षण परंपरासे उस 'एकसंतानत्व' को अभिन्न माननेपर वह क्षणपरंपरारूप ही होगा। इस प्रकार संतानके क्षणपरंपरारूप होनेसे, संतानको क्षणपरंपरा (संतानी) ही कहना चाहिये, संतान नहीं। यदि संतान और क्षणपरंपराको भिन्न मानो, तो यह संतान वास्तविक है, या अवास्तविक? यदि यह अवास्तविक है, तो वह अकिंचित्कर होनेसे दूषित है। यदि संतान वास्तविक है, तो वह स्थिर है, या क्षणिक? यदि क्षणपरंपरासे भिन्न संतान क्षणिक है, तो यह संतान क्षणपरंपरासे अभिन्न ही है। इस प्रकार क्षणपरंपराको छोड़कर संतानका आश्रय लेना, एक चोरके भयसे दूसरे चोरके आश्रय लेनेके समान है। यदि वास्तविक संतानको स्थिर मानो, तो फिर संतान-संज्ञासे तिरोहित आत्मा स्वीकार करनेमें ही क्या दोष है? अतएव क्षणिकवादियोंके मतमें स्मृति भी नहीं बनती।

तदभावे च अनुमानस्यानुत्थानमित्युक्तम् प्रागेव। अपि च, स्मृतेरभावे निहित-प्रत्युन्मार्गणप्रत्यर्पणादिव्यवहारा विशीर्येरन्।

"इत्येकनवते कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः।
तेन कर्मविपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः॥"

इति वचनस्य का गतिः। एवमुत्पत्तिरुत्पादयति, स्थितिः स्थापयति, जरा जर्जरयति, विनाशो नाशयतीति चतुःक्षणिकं[1] वस्तु प्रतिजानाना अपि प्रतिक्षेप्याः। क्षणचतुष्कानन्तर-मपि निहितप्रत्युन्मार्गणादिव्यवहाराणां दर्शनात्। तदेवमनेकदोषापातेऽपि यः क्षणभङ्गमभि-प्रैति तस्य महत् साहसम्॥ इति काव्यार्थः॥ १८॥

स्मृतिके अभाव होनेपर अनुमान भी नहीं बन सकता, यह पहले ही कहा जा चुका है तथा स्मृतिके अभावमें धरोहर आदि रख कर भूल जाना, धरोहरको लौटानेकी याद न रहना आदि व्यवहारका भी लोप हो जायगा। तथा—

"अबसे इक्यानवेंवें भवमें मैंने एक पुरुषको बलात्कारसे मार डाला, उस कर्मके खोटे फलसे मेरा पैर छिद गया है।"

आदि वचनोंके लिए भी कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार उत्पत्ति, स्थिति, जरा और विनाश इन चार क्षण पर्यंत जो वस्तुकी स्थिति मानी है (क्षणिकवादका परिवर्तित रूप), वह भी नहीं बन सकती। क्योंकि चार क्षणोंके बाद भी धरोहर आदिको रखकर भूल जाने और उसे लौटानेकी याद न रहने आदिका व्यवहार देखा जाता है। इसलिए अनेक दोषोंके आनेपर भी क्षणभंगको मानना बौद्धोंका महान् साहस है॥ यह श्लोकका अर्थ है॥१८॥

भावार्थ—इस श्लोकमें बौद्धोंके 'क्षणभंग' वादपर विचार किया गया है। जैन लोगोंका कहना है कि प्रत्येक वस्तु क्षणस्थायी माननेपर बौद्धोंके मतमें आत्मा कोई पृथक् पदार्थ नहीं बन सकता। तथा, आत्माके न माननेपर (१) संसार नहीं बनता, क्योंकि क्षणिकवादियोंके मतमें पूर्व और अपर क्षणोंमें कोई संबंध न हो सकनेसे पूर्व जन्मके कर्मोंका जन्मांतरमें फल नहीं मिल सकता। बौद्ध लोग संतानको वस्तु मानते हैं। उनके मतानुसार संतानका एक क्षण दूसरे क्षणसे संबद्ध होता है, मरणके समय रहनेवाला ज्ञानक्षण भी दूसरे विचारसे संबद्ध होता है, इसीलिये संसारकी परम्परा सिद्ध होती है। परन्तु यह ठीक नहीं। क्योंकि संतानक्षणोंका परस्पर संबंध करनेवाला कोई पदार्थ नहीं है, जिससे दोनों क्षणोंका परस्पर संबंध हो सके। (२) आत्माके न माननेपर मोक्ष भी सिद्ध नहीं होता। क्योंकि संसारी आत्माका अभाव होनेसे मोक्ष किसको मिलेगा। बौद्ध लोग सम्पूर्ण वासनाओंके नष्ट होजाने पर भावनाचतुष्टयसे होनेवाले विशुद्ध ज्ञानको मोक्ष कहते हैं। परन्तु क्षणिकवादियोंके मतमें कार्य-कारण भाव नहीं सिद्ध होता। तथा, अशुद्ध ज्ञानसे अशुद्ध ज्ञान ही उत्पन्न हो सकता है, विशुद्ध ज्ञान नहीं। तथा, जिस पुरुषके बंध हो, उसे ही मोक्ष मिलना चाहिये। परन्तु क्षणिकवादियोंके मतमें बंधके क्षणसे मोक्षका क्षण दूसरा है, अतएव बद्ध पुरुषको मोक्ष नहीं हो सकता। (३) अनात्मवादी बौद्धोंके मतमें स्मृतिज्ञान भी नहीं बन सकता। क्योंकि एक बुद्धिसे अनुभव किये हुए पदार्थोंका दूसरी बुद्धिसे स्मरण नहीं हो सकता। स्मृतिके स्थानमें संतानको एक अलग पदार्थ मान कर एक संतानका दूसरी संतानके साथ कार्य-कारण भाव माननेपर भी संतानक्षणोंकी परस्पर भिन्नता नहीं मिट सकती, क्योंकि बौद्ध मतमें सम्पूर्ण क्षण परस्पर भिन्न हैं।

---

१. लक्षणानि तथा जातिर्जरास्थितिरनित्यता।
जाति जात्यादयस्तेषां तेऽष्टधर्मैकवृत्तयः।
वसुबन्धुविरचिताभिधर्मकोशे २–४५,४६।

अथ ताथागताः क्षणक्षयपक्षे सर्वव्यवहारानुपपत्तिं परैरुद्भावितामाकर्ण्य इत्थं प्रतिपादयन्ति—यत् सर्वपदार्थानां क्षणिकत्वेऽपि वासनाबललब्धजन्मना ऐक्याध्यवसायेन ऐहिकामुष्मिकव्यवहारप्रवृत्तेः कृतप्रणाशादिदोषा निरवकाशा[1] एव इति। तदाकूतं परिहर्तुकामस्तत्कल्पितवासनायाः क्षणपरम्परातो भेदाभेदानुभयलक्षणे पक्षत्रयेऽप्यघटमानत्वं दर्शयन् स्वाभिप्रेतभेदाभेदस्याद्वादमकामयमानानपि तानङ्गीकारयितुमाह—

सा वासना सा क्षणसन्ततिश्च नाभेदभेदानुभयैर्घटेते।
ततस्तटादर्शिशकुन्तपोतन्यायात्त्वदुक्तानि परे श्रयन्तु ॥१९॥

सा शाक्यपरिकल्पिता त्रुटितमुक्तावलीकल्पानां परस्परविशकलितानां क्षणानामन्योन्यानुस्यूतप्रत्ययजनिका एकसूत्रस्थानीया सन्तानापरपर्याया वासना। वासनेति पूर्वज्ञानजनितामुत्तरज्ञाने शक्तिमाहुः। सा च क्षणसन्ततिस्तद्दर्शनप्रसिद्धा प्रदीपकलिकावत् नवनवोत्पद्यमानापरापरसदृशक्षणपरम्परा। एते द्वे अपि अभेदभेदानुभयैर्न घटेते॥

न तावदभेदेन तादात्म्येन ते घटेते। तयोर्हि अभेदे वासना वा स्यात् क्षणपरम्परा वा,

---

बौद्ध—पदार्थोंके क्षणस्थायी होनेपर भी वासनासे उत्पन्न होनेवाले अभेद ज्ञानसे इस लोक और परलोक संबंधी व्यवहार चल सकता है, अतएव 'कृतकर्मप्रणाश' आदि दोष हमारे सिद्धांतमें नहीं आ सकते। **जैन**—आप लोग जिस वासनाको स्वीकार करते हैं, वह कल्पित वासना क्षणपरम्परासे भिन्न, अभिन्न, अथवा न भिन्न और न अभिन्न, (अनुभय) किसी भी तरह सिद्ध नहीं होती। अतएव हमारे द्वारा अभिप्रेत स्याद्वादके भेदाभेदको ही स्वीकार करना चाहिये—

श्लोकार्थ—वासना और क्षणसंतति परस्पर भिन्न, अभिन्न, और अनुभय—तीनों प्रकारसे किसी भी तरह सिद्ध नहीं होती। अतएव जिस प्रकार समुद्रमें, जहाजसे उड़ा हुआ पक्षी समुद्रका किनारा न देखकर पीछे जहाजपर ही लौट आता है, उसी तरह उपायान्तर न होनेसे हे भगवन्! बौद्ध लोगोंको आपके ही सिद्धान्तोंका आश्रय लेना चाहिये।

व्याख्यार्थ—जिसका अपर नाम संतान है, ऐसी बौद्धों द्वारा कल्पित वासना, त्रुटित मुक्तावलिके भिन्न-भिन्न मोतियोंके समान, परस्पर भिन्न क्षण एक दूसरेसे अनुस्यूत हुए हैं, इस प्रकारका ज्ञान उत्पन्न करनेवाली—एक सूत्रके समान होती है। पूर्व ज्ञानक्षणसे उत्तर ज्ञानक्षणमें उत्पन्न की हुई शक्तिको वासना कहते हैं। दीपककी लौके समान नये नये उत्पन्न होनेवाले अपर अपर सदृश पूर्व और उत्तर क्षणोंकी परम्राको क्षणसंतति कहते हैं। (जिस प्रकार दीपककी लौके प्रत्येक क्षणमें बदलते रहने पर भी लौके पूर्व और उत्तर क्षणोंमें परस्पर सदृश ज्ञान होनेके कारण, यह वही लौ है, ऐसा ज्ञान होता है; उसी तरह पदार्थोंके प्रत्येक क्षणमें बदलते रहनेपर भी पदार्थोंके पूर्व और उत्तर क्षणोंमें सदृश ज्ञान होनेके कारण यह वही पदार्थ है, ऐसा ज्ञान होता है। इसे ही बौद्ध मतमें क्षणसंतति कहा है।) यह वासना और क्षणसंतति परस्पर भिन्न, अभिन्न, अथवा अनुभय रूपसे किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होती।

(१) वासना (संतति) और क्षणसंततिको परस्पर अभिन्न मानना ठीक नहीं। क्योंकि वासना

---

१. यथा बीजादिष्वात्मानमन्तरेणापि प्रतिनियमेन कार्यं तदुत्पत्तिश्च क्रमेण भवति, तथा प्रकृतेऽपि परलोकगामिनमेकं विनापि कार्यकारणभावस्य नियामकत्वात्प्रतिनियतमेव फलं। क्लेशकर्माभिसंस्कृतस्य संतानस्याविच्छेदेन प्रवर्तनात् परलोके फलप्रतिलम्भोऽभिधीयते। इति नाकृताभ्यागमो न कृतविप्रणाशो बाधकं। बोधिचर्यावतारपंजिका पृ. ४७३। अत्र शान्तरक्षितकृततत्त्वसंग्रहे कर्मफलसम्बन्धपरीक्षानामप्रकरणम् अवलोकयितव्यम्।

न द्वयम्। यद्धि यस्मादभिन्नं न तत् ततः पृथगुपलभ्यते, तथा घटाद् घटस्वरूपम्। केवलायां वासनायामन्वयिस्वीकारः। वास्याभावे च किं तया वासनीयमस्तु। इति तस्या अपि न स्वरूपमवतिष्ठते। क्षणपरम्परामात्राङ्गीकरणे च प्राञ्च एव दोषाः॥

न च भेदेन ते युज्येते। सा हि भिन्ना वासना क्षणिका वा स्यात् अक्षणिका वा? क्षणिका चेत्, तर्हि क्षणेभ्यस्तस्याः पृथक्कल्पनं व्यर्थम्। अक्षणिका चेत्, अन्वयिपदार्थाभ्युपगमेनागमबाधः। तथा च पदार्थान्तराणां क्षणिकत्वकल्पनाप्रयासो व्यसनमात्रम्॥

अनुभयपक्षेणापि न घटेते। स हि कदाचित् एवं ब्रूयात्, नाहं वासनायाः क्षणश्रेणितोऽभेदं प्रतिपद्ये, न च भेदं किंत्वनुभयमिति। तदप्यनुचितम्। भेदाभेदयोर्विधिनिषेधरूपयोरेकतरप्रतिषेधेऽन्यतरस्यावश्यं विधिभावात् अन्यतरपक्षाभ्युपगमः। तत्र च प्रागुक्त एव दोषः। अथवानुभयरूपत्वेऽवस्तुत्वप्रसङ्गः। भेदाभेदलक्षणपक्षद्वयव्यतिरिक्तस्य मार्गान्तरस्य नास्तित्वात्। अनार्हतानां हि वस्तुना भिन्नेन वा भाव्यम् अभिन्नेन वा? तदुभयातीतस्य वन्ध्यास्तनन्धयप्रायत्वात्। एवं विकल्पत्रयेऽपि क्षणपरम्परावासनयोरनुपपत्तौ पारिशेष्याद् भेदाभेदपक्ष एव कक्षीकरणीयः। न च "प्रत्येकं यो भवेद् दोषो द्वयोर्भावे कथं न सः।" इति वचनादत्रापि दोषतादवस्थ्यमिति वाच्यम्। कक्कुटसर्पनरसिंहादिवद्[1] जात्यन्तरत्वादनेकान्तपक्षस्य॥

और क्षणसंततिके अभिन्न होनेसे वासना और क्षणसंतति दोनोंमेंसे किसी एकको ही मानना चाहिए दोनोंको नहीं। जो पदार्थ जिससे अभिन्न होता है, वह उससे अलग नहीं पाया जाता। जैसे घटस्वरूप घटसे अभिन्न है, इसलिये घटस्वरूप घटसे अलग नहीं पाया जाता। अतएव केवल वासनाको स्वीकार करना नित्य पदार्थको स्वीकार करनेके समान है। तथा, वास्य (क्षणसंतति) को स्वीकार न करके केवल वासनाको स्वीकार करना निष्प्रयोजन है। यदि केवल क्षणपरम्परा स्वीकार करो तो पूर्वोक्त दोष आते हैं।

(२) यदि वासना और क्षणसंततिको परस्पर भिन्न मानो तो वासना चणिक है, अथवा अक्षणिक? यदि वासना क्षणिक है तो वासनाको क्षणोंसे भिन्न मानना निरर्थक है। यदि वासना अक्षणिक है तो वासनाको नित्य माननेसे आपके आगमसे विरोध आता है, इसलिये पदार्थोंके चणिकत्वकी कल्पनाका प्रयास व्यसनमात्र है।

(३) वासना और क्षणसंततिमें भेद और अभेदसे विलक्षण भेदाभेदका अभाव (अनुभय) भी नहीं बन सकता। क्योंकि भेद विधिरूप है, और अभेद निषेधरूप, इसलिये एकके निषेध करनेपर दूसरेको स्वीकार करना पड़ता है—भेद न माननेसे अभेद, और अभेद न मानसे, भेद मानना पड़ता है। यह ठीक नहीं है। अलग-अलग भेद और अभेद पक्ष स्वीकार करनेमें दोष दिये जा चुके हैं। तथा, वासना और क्षणसंततिका संबंध परस्पर भेदाभेदके अभावरूप मानने पर क्षणसंतति और वासनाको अवस्तु अर्थात् कल्पित ही कहना चाहिये, क्योंकि बौद्धोंके मतमें भेद और अभेदसे विलचण तीसरा पक्ष नहीं बन सकता। अनेकांतवादियोंको छोड़कर अन्य वादियोंके मतमें पदार्थोंके परस्पर भेद और अभेदसे विलक्षण तीसरा पच वंध्यापुत्रके समान, संभव नहीं है। अतएव भेद, अभेद और अनुभय तीनों विकल्पोंसे वासना और क्षणपरम्परा सिद्ध नहीं हो सकती। इसलिये वासना और क्षणपरम्परामें भेदाभेद ही स्वीकार करना चाहिये। यदि कहो कि "भेद और अभेद पक्ष स्वीकार करनेमें जो दोष आते हैं, वे सब दोष भेदाभेद माननेमें भी आते हैं" तो यह ठीक नहीं। क्योंकि जैसे कुक्कुटसर्पमें कुक्कुट और सर्प दोनोंसे विलक्षण, और नरसिंहमें नर और

---

१. यथा नरसिंहे नरत्वसिंहत्वोभयजातिव्यतिरिक्तं नरसिंहत्वाख्यं जात्यन्तरम्, तद्वदित्यर्थः। कुक्कुटसर्पोऽपि कश्चन कुक्कुटत्वसर्पत्वेत्युभयजातिव्यतिरिक्तः कुक्कुटसर्पत्वजातिमान् प्राणिविशेषः स्यात्।

ननु आर्हतानां वासनाक्षणपरम्परयोरङ्गीकार एव नास्ति तत्कथं तदाश्रयभेदाभेदचिन्ता चरितार्था इति चेत्, नैवम्। स्याद्वादवादिनामपि हि प्रतिक्षणं नवनवपर्यायपरम्परोत्पत्तिरभिमतैव। तथा च क्षणिकत्वम्। अतीतानागतवर्तमानपर्यायपरम्परानुसंधायकं चान्वयिद्रव्यम्। तच्च वासनेति संज्ञान्तरभागप्यभिमतमेव। न खलु नामभेदाद् वादः कोऽपि कोविदानाम्। सा च प्रतिक्षणोत्पदिष्णुपर्यायपरम्परा अन्वयिद्रव्यात् कथंचिद् भिन्ना कथंचिदभिन्ना। तथा तदपि तस्याः स्याद् भिन्नं स्यादभिन्नम्। इति पृथक्प्रत्ययव्यपदेशविषयत्वाद् भेदः, द्रव्यस्यैव च तथा तथा परिणमनादभेदः। एतच्च सकलादेशविकलादेशव्याख्याने पुरस्तात् प्रपञ्चयिष्यामः॥

अपि च, बौद्धमते वासनापि तावन्न घटते, इति निर्विषया तत्र भेदादिविकल्पचिन्ता। तल्लक्षणं हि पूर्वक्षणेनोत्तरक्षणस्य वास्यता। न चास्थिराणां भिन्नकालतयान्योन्यासंबद्धानां च तेषां वास्यवासकभावो युज्यते। स्थिरस्य संबद्धस्य च वस्त्रादेर्मृगमदादिना वास्यत्वं दृष्टमिति॥

अथ पूर्वचित्तसहजात् चेतनाविशेषात् पूर्वशक्तिविशिष्टं चित्तमुत्पद्यते, सोऽस्य शक्तिविशिष्टचित्तोत्पादो वासना। तथाहि। पूर्वचित्तं रूपादिविषयं प्रवृत्तिविज्ञानं यत्तत् षड्विधं।

सिंह दोनोंसे विलक्षण तीसरा रूप पाया जाता है, उसी तरह अनेकांत पक्षमें भेद और अभेद दोनोंसे भिन्न तीसरा पक्ष स्वीकार किया गया है।

शंका—जैन लोगोंने वासना और क्षणपरम्पराको स्वीकार ही नहीं किया, फिर वासना और क्षण परम्परामें भेद, अभेद आदिके विकल्प करना असंगत है। समाधान—यह ठीक नहीं। क्योंकि स्याद्वादी लोगोंने प्रत्येक द्रव्यमें क्षण-क्षणमें नयी-नयी पर्यायोंकी परम्पराकी उत्पत्ति स्वीकार की है। इसीको जैन लोग क्षणपरम्परा कहते हैं। इसी प्रकार अतीत, अनागत, और वर्तमान पर्यायोंका संबंध करानेवाला नित्य द्रव्य भी जैन लोगोंने माना है। इस नित्य द्रव्यको वासना भी कह सकते हैं। अतएव पर्याय और क्षण-परम्परा, तथा द्रव्य और वासनामें नाम मात्रका अन्तर है। तथा, पर्यय परंपरा नित्य द्रव्यसे कथंचित् भिन्न है और कथंचित् अभिन्न। नित्य द्रव्य भी प्रतिक्षण उत्पन्न होनेवाली पर्यायपरम्परासे कथंचित् भिन्न है और कथंचित् अभिन्न है। इस प्रकार अन्वयिद्रव्य और पर्यायके भिन्न ज्ञान और भिन्न संज्ञाका विषय होनेके कारण, दोनोंमें भेद है; तथा द्रव्य और पर्याय अभिन्न हैं, क्योंकि एक ही द्रव्य भिन्न-भिन्न रूप पर्यायोंको धारण करता है। अतएव वासना और क्षणसंततिको भी भिन्नाभिन्न ही स्वीकार करना चाहिये। द्रव्य और पर्यायके कथंचित् भेदाभेद का खुलासा सकलादेश और विकलादेशका स्वरूप वर्णन करनेके अवसरपर (२३ वें श्लोकमें) किया जायेगा।

बौद्धोंके मतमें 'वासना' ही सिद्ध नहीं होती, अतएव वासना और क्षणपरम्परामें भेद आदिकी कल्पना निरर्थक है। (वासना और क्षणसंतति इन दोनोंका सद्भाव होनेपर ही भेद आदि विकल्पका अवकाश हो सकता है। भेद आदि विकल्पोंके द्वारा तब विचार किया जा सकता है जब दोनोंका सद्भाव हो। वासनाका अभाव होनेपर एकमात्र क्षणसंततिका सद्भाव रहनेसे भेद आदि विकल्पोंके द्वारा विचार नहीं किया जा सकता)। पूर्वक्षणके द्वारा उत्तरक्षणकी वास्यता—पूर्वक्षणके द्वारा उत्तरक्षणमें शक्तिकी उत्पाद्यता—ही वासनाका लक्षण है। परन्तु बौद्धोंके मतमें क्षण स्वयं अस्थिर हैं, इसलिये परस्पर भिन्न और असंबद्ध क्षणोंमें वास्य-वासक सम्बन्ध नहीं बन सकता। क्योंकि नित्य और कस्तूरीसे सम्बद्ध नित्य वस्त्रमें ही कस्तूरीसे वासना उत्पन्न हो सकती है।

शंका—रूप आदिको विषय बनानेवाले प्रवृत्तिविज्ञान रूप पूर्व चित्तके साथ उत्पन्न आलयविज्ञान रूप चेतनाविशेषसे पूर्वचित्तकी शक्तिसे युक्त चित्त (ज्ञान) उत्पन्न होता है। इस शक्तिविशिष्ट

पञ्च रूपादिविज्ञानान्यविकल्पकानि षष्ठं च विकल्पविज्ञानम्[1]। तेन सह जातः समानकालश्चेतनाविशेषोऽहङ्कारास्पदमालयविज्ञानम्[2]। तस्मात् पूर्वशक्तिविशिष्टचित्तोत्पादो वासनेति ॥

तदपि न। अस्थिरत्वाद्वासकेनासंबन्धाच्च। यश्चासौ चेतनाविशेषः पूर्वचित्तसहभावी, स न वर्तमाने चेतस्युपकारं करोति। वर्तमानस्याशक्यापनेयोपनेयत्वेनाविकार्यत्वात्। तद्धि यथाभूतं जायते तथाभूतं विनश्यतीति। नाप्यनागते उपकारं करोति। तेन सहासंबद्धत्वात्।

चित्तका उत्पन्न होना ही वासना है। तथाहि—रूप आदिको अपना विषय बनानेवाला प्रवृत्तिविज्ञान संज्ञा वाला जो पूर्व चित्त है, वह छह प्रकारका है—पाँच अविकल्पक रूप आदि विज्ञान और छठा विकल्पविज्ञान। इस प्रवृत्तिविज्ञान रूप पूर्व चित्तके साथ उत्पन्न अतएव समानकाल वाला, अहंकारका कारणभूत चेतनाविशेष आलयविज्ञान है। इस आलयविज्ञान रूप चेतनाविशेषसे पूर्व चित्तकी—पूर्व चित्त द्वारा जनित शक्तिविशिष्ट चित्तको—उत्पत्ति होना वासना है। (प्रवृत्तिविज्ञान और आलयविज्ञान दोनों एक साथ उत्पन्न होते हैं। आलयविज्ञानसे प्रवृत्तिविज्ञानकी शक्तिविशिष्ट जिस चित्त (ज्ञान) की उत्पत्ति होती है, वही वासना है। जिस प्रकार पवनके द्वारा समुद्रमें लहरें उठती हैं, उसी तरह अहंकारसंयुक्त चेतना (आलयविज्ञान) में आलम्बन, समनन्तर, सहकारी और अधिपति प्रत्ययोंद्वारा प्रवृत्तिविज्ञान रूप धर्म उत्पन्न होता हैं। शब्द आदि ग्रहण करनेवाले पूर्व चित्तको प्रवृत्तिविज्ञान कहते हैं। यह प्रवृत्तिविज्ञान शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध और विकल्पविज्ञानके भेदसे छह प्रकारका है। शब्द, स्पर्श आदिको ग्रहण करनेवाले पाँच विज्ञानोंको निर्विकल्प (जिस ज्ञानमें विशेषाकार रूप नाना प्रकारके भिन्न-भिन्न पदार्थ प्रतिभासित हों) और विकल्पविज्ञानको सविकल्प (जिस ज्ञानमें सब पदार्थ विज्ञान रूप प्रतिभासित हों) कहा गया है। इन्हीं ज्ञानोंको बौद्ध लोग चित्त कहते हैं। सौत्रान्तिक बौद्धोंके मतमें प्रत्येक वस्तुके बाह्य और आन्तर दो भेद हैं। बाह्य भूत और भौतिकके भेदसे दो प्रकारका है। पृथ्वी आदि चार परमाणु भूत हैं, और रूप आदि और चक्षु आदि भौतिक हैं। आन्तर चित्त और चैत्तिकके भेदसे दो प्रकारका है। विज्ञानको चित्त अथवा चैत्तिक, और बाकीके रूप, वेदना, संज्ञा और संस्कार स्कन्धोंको चैत्त कहते हैं। प्रवृत्तिविज्ञानके साथ एक कालमें उत्पन्न होनेवाले अहंकारसे युक्त चेतनाको आलयविज्ञान कहते हैं। इस आलयविज्ञानसे पूर्वक्षणसे उत्पन्न चेतनाकी शक्तिविशिष्ट उत्तर चित्त उत्पन्न होता है। इसी आलयविज्ञानको वासना कहा है)।

समाधान—यह ठीक नहीं है। क्योंकि प्रत्येक चित्तक्षण क्षणिक होनेके कारण अस्थिर होता है—अन्वयी नहीं होता, तथा वासक-वासनाजन्य आलयविज्ञान रूप चित्तक्षणके साथ उसके सम्बन्धका अभाव रहता है। तथा पूर्वचित्तके (प्रवृत्तिविज्ञानके) साथ उत्पन्न होनेवाली चेतनाविशेष (आलयविज्ञान) वर्तमान (क्षणिक) चित्तक्षणमें विशेषको उत्पन्न नहीं कर सकती। क्योंकि बौद्धोंके मतमें वर्तमान चित्तक्षणके क्षणिक होनेसे, उसकी उत्पत्ति और विनाश असंभव होनेके कारण, उसमें विकार नहीं होता। वह चित्तक्षण जिस रूपसे, उत्पन्न होता है उसी रूपसे विनाशको प्राप्त हो जाता है। आलयविज्ञान भविष्यकालीन चित्तक्षणमें भी विशेष की उत्पत्ति नहीं करता, क्योंकि अनागत (भविष्य) चित्तक्षणके साथ वासक चित्तक्षणका—वासनाजनक आलयविज्ञान रूप चित्तक्षणका—सम्बन्ध नहीं होता। जो असंबद्ध रहता है वह विशेषरूप विकारको उत्पन्न नहीं कर सकता (जब आलयविज्ञान ही घटित नहीं होता तो फिर वासनाकी उत्पत्ति किससे होगी ?)

---

१. तत्रालयविज्ञानं नामाहमास्पदं विज्ञानं। नीलाद्युल्लेखि च विज्ञानं प्रवृत्तिविज्ञानम्।

२. तरंगा ह्युदधेर्यद्वत् पवनः प्रत्ययेरिताः। नृत्यमानाः प्रवर्तन्ते विच्छेदश्च न विद्यते ॥
आलयौघस्तथा नित्यं विषयपवनेरितः। चित्रैस्तरङ्गविज्ञानैः नृत्यमानः प्रवर्तते ॥

लंकावतारसूत्रे ११-९९, १००।

असंबद्धं च न भावयतीत्युक्तम्। तस्मात् सौगमतमते वासनापि न घटते। अत्र च स्तुतिकारेणाभ्युपेत्यापि ताम् अन्वयिद्रव्यस्थापनाय भेदाभेदादिचर्चा विरचितेति भावनीयम्॥

अथोत्तरार्द्धव्याख्या। तत इति पक्षत्रयेऽपि दोषसद्भावात् त्वदुक्तानि भवद्वचनानि भेदाभेदस्याद्वादसंवादपूतानि, परे कुतीर्थ्याः प्रकरणात् मायातनयाः श्रयन्तु आद्रियन्ताम्। अत्रोपमानमाह तटादर्शीत्यादि। तटं न पश्यतीति तटादर्शी। यः शकुन्तपोतः पक्षिशावकः तस्य न्याय उदाहरणम् तस्मात्। यथा किल कथमप्यपारपारावारान्तःपतितः काकादिशकुनिशावको बहिर्निर्जिगमिषया प्रवहणकूपस्तम्भादेस्तटप्राप्तये मुग्धतयोड्डीनः, समन्ताज्जलैकार्णवमेवावलोकयंस्तटमदृष्ट्वैव निर्वेदात् व्यावृत्य तदेव कूपस्तम्भादिस्थानमाश्रयते, गत्यन्तराभावात्। एवं तेऽपि कुतीर्थ्याः प्रागुक्तपक्षत्रयेऽपि वस्तुसिद्धिमनासादयन्तस्त्वदुक्तमेव चतुर्थं भेदाभेदपक्षमनिच्छयापि कक्षीकुर्वाणास्त्वच्छासनमेव प्रतिपद्यन्ताम्। न हि स्वस्य बलविकलतामाकलय्य बलीयसः प्रभोः शरणाश्रयणं दोषपोषाय नीतिशालिनाम्। त्वदुक्तानीति बहुवचनं सर्वेषामपि तन्त्रान्तरीयाणां पदे पदेऽनेकान्तवादप्रतिपत्तिरेव यथावस्थितपदार्थप्रतिपादनौपयिकं, नान्यदिति ज्ञापनार्थम्, अनन्तधर्मात्मकस्य सर्वस्य वस्तुनः सर्वनयात्मकेन स्याद्वादेन विना यथावद् ग्रहीतुमशक्यत्वात्, इतरथान्धगजन्यायेन पल्लवग्राहिताप्रसङ्गात्॥

श्रयन्तीति वर्तमानान्तं केचित्पठन्ति, तत्राप्यदोषः। अत्र च समुद्रस्थानीयः संसारः,

---

अतएव आलयविज्ञानकी सिद्धि न होनेसे उससे उत्पन्न होनेवाली वासना भी नहीं बनती। यहाँ स्तुतिकारने उस वासनाको स्वीकार करके भी अन्वयी द्रव्यकी सिद्धि करनेके लिये भेद, अभेद आदिकी चर्चा उठाई है।

अतएव भेद, अभेद और अनुभय तीनों पक्षोंके सदोष होनेसे कुतीर्थिक बौद्ध मतावलम्बियोंको आपके (जिन भगवान्‌के) कहे हुए भेदाभेद रूप स्याद्वादका आश्रय लेना पड़ता है। जिस प्रकार किसी पक्षीका बच्चा अथाह और विशाल समुद्रके बीचमें पहुँच जानेपर अपनी मूर्खताके कारण जहाजके मस्तूल परसे उड़कर समुद्रके किनारे पर वापिस आनेकी इच्छा करता है, परन्तु वह चारों तरफ जल ही जल देखता है और कहीं भी किनारेका कोई निशान न पाकर, उपायान्तर न होनेसे फिरसे मस्तूलपर वापिस लौट जाता है; इसी प्रकार कुतीर्थिक बौद्ध लोगोंका सिद्धान्त पूर्वोक्त तीनों पक्षोंसे सिद्ध न होनेपर बौद्ध लोगोंको भेदाभेद नामक चौथे पक्षको स्वीकार करनेकी अनिच्छा होनेपर भी, अन्तमें आपके ही मतका अवलम्बन लेना पड़ता है। अपने पक्षकी निर्बलता देख कर बलवान स्वामीका आश्रय लेनेसे नीतिज्ञ पुरुषोंका दोष नहीं समझा जाता। सम्पूर्ण वादी पद-पदपर अनेकान्तवादका आश्रय लेकर ही पदार्थोंका प्रतिपादन कर सकते हैं, यह बतानेके लिये श्लोकमें 'त्वदुक्तानि' पद दिया गया है। क्योंकि प्रत्येक वस्तुमें अनन्त स्वभाव हैं, अतएव सम्पूर्ण नय स्वरूप स्याद्वादके बिना किसी भी वस्तुका ठीक-ठीक प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। अन्यथा जिस प्रकार जन्मके अन्धे मनुष्य हाथीका स्वरूप जाननेकी इच्छासे हाथीके भिन्न-भिन्न अवयवोंको टटोल कर हाथीके केवल कान, सूँड, पैर आदिको ही हाथी समझ बैठते हैं, उसी प्रकार एकान्ती लोग वस्तुके केवल एक अंशको जान कर उस वस्तुके एक अंश रूप ज्ञानको ही वस्तुका सर्वांशात्मक ज्ञान समझने लग जाते हैं।

कुछ लोग 'श्रयन्तु' के स्थानपर 'श्रयन्ति' पढ़ते हैं। परन्तु दोनों पाठ ठीक हैं। समुद्रके मस्तूलपरसे उड़नेवाले पक्षीकी तरह वादी लोग अपने सिद्धान्तको पुष्ट करके मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं, परन्तु वे लोग अभीष्ट पदार्थोंकी सिद्धि न होते देख वापिस आ कर स्याद्वादसे शोभित आपके शासनका आश्रय लेते हैं। क्योंकि स्याद्वादका सहारा लेकर ही वादी लोग संसार-समुद्रसे छुटकारा पा सकते हैं, अन्यथा नहीं॥ यह श्लोकका अर्थ है॥१९॥

भावार्थ—इस श्लोकमें बौद्धोंकी 'वासना' पर विचार किया गया है। बौद्ध—प्रत्येक पदार्थ क्षण-

पोतसमानं त्वच्छासनम्, कूपस्तम्भसंनिभः स्याद्वादः। पक्षिपोतोपमा वादिनः। ते च स्वाभिमतपक्षप्ररूपणोड्डयनेन मुक्तिलक्षणतटप्राप्तये कृतप्रयत्ना अपि तस्माद् इष्टार्थसिद्धिमपश्यन्तो व्यावृत्त्य स्याद्वादरूपकूपस्तम्भालङ्कृतत्तावकीनशासनप्रवहणोपसर्पणमेव यदि शरणीकुर्वते, तदा तेषां भवार्णवाद् वहिर्निष्क्रमणमनोरथः सफलतां कलयति नापरथा॥इति काव्यार्थः॥१९॥

एवं क्रियावादिनां[1] प्रावादुकानां कतिपयकुग्रहनिग्रहं विधाय सांप्रतमक्रियावादिनां लौकायतिकानां[2] मतं सर्वाधमत्वादन्ते उपन्यस्यन् तन्मतमूलस्य प्रत्यक्षप्रमाणस्यानुमानादिप्रमाणान्तरानङ्गीकारेऽकिंचित्करत्वप्रदर्शनेन तेषां प्रज्ञायाः प्रमादमादर्शयति—

क्षणमें नष्ट होता है, कोई भी वस्तु नित्य नहीं है। जिस प्रकार दीपककी लौके प्रत्येक क्षणमें बदलते रहते हुए भी लौके पूर्व और उत्तर क्षणोंमें एकसा ज्ञान होनेके कारण यह वही लौ है, यह ज्ञान होता है, वैसे ही पदार्थोंके प्रत्येक क्षणमें बदलते रहनेपर भी पदार्थोंके पूर्व और उत्तर क्षणोंमें एकसा ज्ञान होनेसे पदार्थकी एकताका ज्ञान होता है। पदार्थोंके प्रत्येक क्षणमें नष्ट होते हुए भी परस्पर भिन्न क्षणोंको जोड़नेवाली शक्तिको वासना, अथवा सन्तान कहते हैं। यह नाना चणोंकी परम्परा ही वासना है। इसी वासनाकी उत्तरोत्तर अनेक क्षणपरंपराके कार्य-कारण सम्बन्धसे कर्ता, भोक्ता आदिका व्यवहार होता है, वास्तवमें कर्ता और भोक्ता कोई नित्य पदार्थ नहीं है। जैन—वासना और क्षणसंतति परस्पर अभिन्न हैं, भिन्न हैं, अथवा अनुभय? (क) यदि वासना और क्षणसंतति अभिन्न हैं, तो दोमेंसे एकको ही मानना चाहिये। (ख) यदि वासना और चणसंततिको भिन्न मानो, तो दोनोंमें कोई सम्बन्ध नहीं बन सकता। (ग) भिन्न और अभिन्न दोनों विकल्प स्वीकार न करके यदि वासना और क्षणसंतति भिन्न-अभिन्नके अभाव रूप मानो, तो अनेकान्त मत छोड़ कर, दूसरे वादियोंके मतमें भेद और अभेदसे विलक्षण कोई तीसरा पक्ष नहीं बन सकता।

विज्ञानवादी बौद्ध—हम लोग आलयविज्ञानको वासना कहते हैं। अहंकार-संयुक्त चेतनाको आलयविज्ञान कहते हैं। आलयविज्ञानमें प्रवृत्तिविज्ञान रूप सम्पूर्ण धर्म कार्य रूपसे उत्पन्न होते हैं, इस आलयविज्ञानसे पूर्व क्षणसे उत्पन्न चेतनाकी शक्तिसे युक्त उत्तर क्षण उत्पन्न होता है। इसी आलयविज्ञान (वासना) से परस्पर भिन्न पूर्व और उत्तर क्षणोंमें सम्बन्ध होता है। जैन—क्षणिकवादी बौद्धोंके मतमें स्वयं आलयविज्ञान भी नित्य नहीं कहा जा सकता। अतएव क्षणिक आलयविज्ञान परस्पर असंबद्ध पूर्व और उत्तर क्षणोंको नहीं जोड़ सकता। इसलिये आलयविज्ञान द्वारा पूर्व क्षणसे उत्तरक्षणकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतएव बौद्धोंको पदार्थोंको सर्वथा अनित्य न मान कर कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य ही मानना चाहिये। क्योंकि प्रत्येक वस्तु क्षणमें नयी-नयी उत्पन्न होनेकी अपेचा अनित्य है, तथा वस्तुकी क्षण-क्षणमें पलटनेवाली भूत, भविष्य और वर्तमान पर्याय किसी नित्य द्रव्य (वासना) से परस्पर संबद्ध होती है, इसलिये अनित्य है।

इस प्रकार क्रियावादियों (आतमवादी) के सिद्धान्तोंका खंडन करके, अक्रियावादी (अनात्मवादी) लोकायत लोगोंके मतका खंडन करते हुए, अनुमान आदि प्रमाणोंके विना प्रत्यक्ष प्रमाणकी असिद्धि बता कर उनके ज्ञानकी मन्दता दिखाते हैं—

---

१. क्रियावादिनो नाम येषामात्मनोऽस्तित्वं प्रत्यविप्रतिपत्तिः। ये त्वक्रियावादिनस्तेऽस्तीति क्रियाविशिष्टमात्मानं नेच्छन्त्येव, अस्तित्वे वा शरीरेण सहैकत्वान्यत्वाभ्यामवक्तव्यत्वमिच्छन्ति। उत्तराध्ययनसूत्रे २३, शीलांकटीकायां।

२. लोकाः निर्विचाराः सामान्यलोकास्तद्वदाचरन्ति स्मेति लोकायता लोकायतिका इत्यपि। बृहस्पतिप्रणीतमतत्वेन बार्हस्पत्याश्चेति। षड्दर्शनसमुच्चयोपरि गुणरत्नटीकायां पृ. १२२।

विनानुमानेन पराभिसन्धिमसंविदानस्य तु नास्तिकस्य।
न साम्प्रतं वक्तुमपि क्व चेष्टा क्व दृष्टमात्रं च हहा प्रमादः ॥२०॥

प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिति मन्यते चार्वाकः। तत्र सन्नह्यते। अनु पश्चाद् लिङ्गसंबन्धग्रहणस्मरणानन्तरम् मीयते परिच्छिद्यते देशकालस्वभावविप्रकृष्टोऽर्थोऽनेन ज्ञानविशेषेण इत्यनुमानं। प्रस्तावात् स्वार्थानुमानम्[1]। तेनानुमानेन लैङ्गिकप्रमाणेन विना पराभिसन्धि पराभिप्रायम्, असंविदानस्य सम्यग् अजानानस्य। तुशब्दः पूर्ववादिभ्यो भेदद्योतनार्थः। पूर्वेषां वादिनामास्तिकतया विप्रतिपत्तिस्थानेषु क्षोदः कृतः, नास्तिकस्य तु वक्तुमपि नौचिती कुत एव तेन सह क्षोद इति तुशब्दार्थः। नास्ति परलोकः पुण्यम् पापम् इति वा मतिरस्य। "नास्तिकास्तिकदैष्टिकम्[2]" इति निपातनात् नास्तिकः। तस्य नास्तिकस्य लौकायतिकस्य, वक्तुमपि न सांप्रतं वचनमप्युच्चारयितुं नोचितम्। ततस्तूष्णींभाव एवास्य श्रेयान्, दूरे प्रामाणिकपरिषदि प्रविश्य प्रमाणोपन्यासगोष्ठी ॥

वचनं हि परप्रत्यायनाय प्रतिपाद्यते। परेण चाप्रतिपित्सितमर्थं प्रतिपादयन् नासौ सतामवधेयवचनो भवति, उन्मत्तवत्। ननु कथमिव तूष्णीकतैवास्य श्रेयसी यावता चेष्टाविशेषादिना प्रतिपाद्यस्याभिप्रायमनुमाय सुकरमेवानेन वचनोच्चारणम् इत्याशङ्क्याह क्व चेष्टा क्व दृष्टमात्रं च इति। क्वेति बृहदन्तरे। चेष्टा इङ्गितम्। पराभिप्रायस्यानुमेयस्य लिङ्गम्। क्व च दृष्टमात्रम्। दर्शनं दृष्टं। भावे क्तः। दृष्टमेव दृष्टमात्रम् प्रत्यक्षमात्रम्, तस्य लिङ्गनिरपेक्षप्रवृत्तित्वात्। अत एव दूरमन्तरमेतयोः। न हि प्रत्यक्षेणातीन्द्रियाः परचेतोवृत्तयः

श्लोकार्थ—अनुमानके विना चार्वाक लोग दूसरेका अभिप्राय नहीं समझ सकते। अतएव चार्वाक लोगोंको बोलनेकी चेष्टा भी नहीं करनी चाहिये। क्योंकि चेष्टा और प्रत्यक्ष दोनोंमें बहुत अन्तर है। यह कितना प्रमाद है!

व्याख्यार्थ—चार्वाक—केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। इसलिये पांच इन्द्रियोंके विषयके बाह्य कोई वस्तु नहीं है। जैन—जिसके द्वारा अविनाभाव सम्बन्धके स्मरणपूर्वक देश, काल और स्वभाव सम्बन्धी दूर पदार्थोंका ज्ञान हो, उसे स्वार्थानुमान कहते हैं (अनु पश्चात् मीयते परिच्छिद्यते) स्वार्थानुमान परोपदेशके बिना होता है, और परार्थानुमानमें दूसरोंको समझानेके लिये पक्ष और हेतुका प्रयोग किया जाता है। अनुमान प्रमाणके बिना दूसरोंका अभिप्राय समझमें नहीं आ सकता। अब तकके श्लोकोंमें आस्तिक मतका खंडन किया गया है। परलोक, पुण्य और पापको न माननेवाले नास्तिक चार्वाक लोग वचनोंका उच्चारण भी नहीं कर सकते, अतएव नास्तिकोंके लिये प्रामाणिक पुरुषोंकी सभासे दूर रह कर मौन रहना ही श्रेयस्कर है। "नास्तिकास्तिकदैष्टिकम्" इस निपात सूत्रसे नास्तिक शब्द बनता है।

दूसरोंको ज्ञान करानेके लिये ही वचनोंका प्रयोग किया जाता है। दूसरेके द्वारा अप्रतिपित्सित (जिसे जानने की इच्छा न हो) अर्थको प्रतिपादन करनेवालेका वचन उन्मत्त पुरुषके वचनके समान आदरणीय नहीं हो सकते। 'इसका मौन रहना ही कैसे श्रेयस्कर हो सकता है? दूसरेके अनुमानका विषय बने हुए अभिप्रायको जाननेकी चेष्टाविशेष आदिसे, जिसको प्रतिपादन करना होता है, उसका अभिप्राय जानकर, उसके द्वारा वचनोच्चारण करना ठीक है'—इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं। कहाँ चेष्टा (इंगित) और कहाँ प्रत्यक्षदर्शन! दूसरेके अभिप्रायको बतानेवाली चेष्टामें और प्रत्यक्षसे किसी पदार्थको जाननेमें बहुत अन्तर है। क्योंकि चेष्टा दूसरेके अभिप्रायको जाननेमें लिंग है, और प्रत्यक्ष लिंगके बिना ही उत्पन्न होता है। प्रत्यक्षसे इन्द्रियोंके बाह्य दूसरेके मनका अभिप्राय नहीं जाना जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य ही होता

---

१. अनुमानं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च। तत्र हेतुग्रहणसम्बन्धस्मरणकारकं साध्यविधानं स्वार्थम्। पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारात्। प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे ३-१०, २३। २ हैमसूत्रे ६-४-६६।

परिज्ञातुं शक्याः, तस्यैन्द्रियकत्वात्। मुखप्रसादादिचेष्टया तु लिङ्गभूतया पराभिप्रायस्य निश्चये अनुमानप्रमाणमनिच्छतोऽपि तस्य बलादापतितम्। तथाहि—मद्वचनश्रवणाभिप्रायवानयं पुरुषः, तादृग् मुखप्रसादादिचेष्टान्यथानुपपत्तेरिति। अतश्च हहा प्रमादः। हहा इति खेदे। अहो तस्य प्रमादः प्रमत्तता, यदनुभूयमानमप्यनुमानं प्रत्यक्षमात्राङ्गीकारेणापह्नुते ॥

अत्र संपूर्वस्य वेत्तेरकर्मकत्वे एवात्मनेपदम्, अत्र तु कर्मास्ति तत्कथमत्रानश्। अत्रोच्यते। अत्र संवेदितुं शक्तः संविदान इति कार्यम्। "वयःशक्तिशीले"[1] इति शक्तौ शानविधानात्। ततश्चायमर्थः। अनुमानेन विना पराभिसंहितं सम्यग् वेदितुमशक्तस्येति। एवं परबुद्धिज्ञानान्यथानुपपत्त्यायमनुमानं हठाद् अङ्गीकारितः ॥

तथा प्रकारान्तरेणाप्ययमङ्गीकारयितव्यः। तथाहि—चार्वाकः काश्चित् ज्ञानव्यक्तीः संवादित्वेनाव्यभिचारिणीरुपलभ्य, अन्याश्च विसंवादित्वेन व्यभिचारिणीः पुनः कालान्तरे तादृशीतराणां ज्ञानव्यक्तीनामवश्यं प्रमाणतेतरते व्यवस्थापयेत्; न च संनिहितार्थबलेनोत्पद्यमानं पूर्वापरपरामर्शशून्यं प्रत्यक्षं पूर्वापरकालभाविनीनां ज्ञानव्यक्तीनां प्रामाण्याप्रामाण्यव्यवस्थापकं निमित्तमुपलक्षयितुं क्षमते। न चायं स्वप्रतीतिगोचराणामपि ज्ञानव्यक्तीनां परं प्रति प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा व्यवस्थापयितुं प्रभवति। तस्माद् यथादृष्टज्ञानव्यक्तिसाधर्म्यद्वारेणेदानीन्तनज्ञानव्यक्तीनां प्रामाण्याप्रामाण्यव्यवस्थापकम् परप्रतिपादकं च प्रमाणान्तरमनुमानरूपमुपासीत।

है। अतएव लिंगभूत मुख आदिकी चेष्टासे दूसरेके अभिप्रायको जाननेके लिये अनुमान प्रमाणको स्वीकार करनेकी अनिच्छा होनेपर भी प्रत्यक्षके अतिरिक्त अनुमान प्रमाणको जबरन मानना पड़ता है। तथाहि—'यह पुरुष मेरे वचनोंको सुननेकी इच्छा रखता है, क्योंकि यदि उसकी उक्त इच्छा न होती तो उसकी मुखप्रसाद आदि रूप चेष्टायें न दिखाई देतीं'—इस प्रकारका ज्ञान अनुमानके विना नहीं होता। खेद है कि चार्वाक लोग इस प्रकार अनुमान प्रमाणका अनुभव करते हुए भी अनुमानको उड़ाकर केवल प्रत्यक्षको ही स्वीकार करना चाहते हैं।

शंका—सं-विद् धातु अकर्मक होनेपर आत्मनेपदमें ही प्रयुक्त होती है, इसलिये यहाँ 'पराभिसन्धिम्' कर्मके होते हुए सं-विद् धातुमें 'आनश्' प्रत्यय होकर 'संविदानस्य' शब्द नहीं बन सकता। समाधान—जो जाननेके लिये समर्थ हो, उसे 'संविदान' कहते हैं। यहाँ "वयःशक्तिशीले" सूत्रसे सामर्थ्यके अर्थमें 'शान' प्रत्यय होनेसे 'संविदान' शब्द बना है। इसलिये यहाँ यह अर्थ होता है कि नास्तिक लोग दूसरे लोगोंके अभिप्रायको सम्यक्रूपसे समझनेमें असमर्थ (असंविदानस्य) हैं, अतएव दूसरेके अभिप्रायको जाननेके लिये अनुमान प्रमाण अवश्य मानना चाहिये।

(क) तथा, प्रकारान्तसे भी अनुमान प्रमाण अंगीकार करना आवश्यक है। तथाहि—संवादी होनेके कारण कुछ ज्ञानव्यक्तियोंको अव्यभिचारी, तथा विसंवादी होनेके कारण अन्य ज्ञानव्यक्तियोंको व्यभिचारी जानकर, पुनः कालान्तरमें संवादी एवं विसंवादी ज्ञानव्यक्तियोंकी प्रमाणता और अप्रमाणताका चार्वाक अवश्यमेव निर्णय कर सकता है। किन्तु पूर्व एवं अपरकालमें उत्पन्न होनेवाले ज्ञानव्यक्तियोंके प्रामाण्य और अप्रामाण्यका निर्णय करनेमें साधनभूत समीपस्थ अर्थके बलसे उत्पन्न होनेवाले पूर्व एवं अपर कालवर्ती पदार्थोंके संबंधसे शून्य प्रत्यक्षको लक्ष्य करनेके लियं वह समर्थ नहीं है। अपने अनुभवका विषय बने हुए ज्ञानव्यक्तियोंका दूसरेके लिये प्रमाण्य और अप्रामाण्यका निश्चय करनेके लिये चार्वाक समर्थ नहीं है। (ख) चार्वाक लोग प्रत्यक्षसे दूसरोंके प्रति ज्ञानको प्रमाण अथवा अप्रमाण नहीं ठहरा सकते। अतएव पूर्व कालमें जाने हुए ज्ञानकी समानता देखकर वर्तमान कालके ज्ञानको प्रमाण अथवा अप्रमाण ठहरानेके लिये प्रत्यक्षके अतिरिक्त अनुमानके रूपमें कोई दूसरा प्रमाण अवश्य मानना चाहिये। प्रत्यक्षके अतिरिक्त दूसरा प्रमाण अनुमान ही हो

१. हैमसूत्रे ५-२-२४

परलोकादिनिषेधश्च न प्रत्यक्षमात्रेण शक्यः कर्तुम्, संनिहितमात्रविषयत्वात् तस्य। परलोकादिकं चाप्रतिषिध्य नायं सुखमास्ते, प्रमाणान्तरं च नेच्छतीति डिम्भहेवाकः ॥

किञ्च, प्रत्यक्षस्याप्यर्थाव्यभिचारादेव प्रामाण्यम्, कथमितरथा स्नानपानावगाहनाद्यर्थक्रियाऽसमर्थे मरुमरीचिकानिचयचुम्बिनि जलज्ञाने न प्रामाण्यम्? तच्च अर्थप्रतिबद्धलिङ्गशब्दद्वारा समुन्मज्जतोरनुमानागमयोरप्यर्थाव्यभिचारादेव किं नेष्यते? व्यभिचारिणोरप्यनयोर्दर्शनाद् अप्रामाण्यमिति चेत्, प्रत्यक्षस्यापि तिमिरादिदोषाद् निशीथिनीनाथयुगलावलम्बिनोऽप्रमाणस्य दर्शनात् सर्वत्राप्रामाण्यप्रसङ्गः। प्रत्यक्षाभासं तदिति चेत्, इतरत्रापि तुल्यमेतत् अन्यत्र पक्षपातात्। एवं च प्रत्यक्षमात्रेण वस्तुव्यवस्थानुपपत्तेः तन्मूला जीवपुण्यापुण्यपरलोकनिषेधादिवादा अप्रमाणमेव ॥

एवं नास्तिकाभिमतो भूतचिद्वादोऽपि निराकार्यः। तथा च द्रव्यालङ्कारकारौ उपयोगवर्णने—"न चायं भूतधर्मः सत्त्वकठिनत्वादिवद् मद्याङ्गेषु भ्रम्यादिसदृशक्तिवद् वा प्रत्येकमनुपलम्भात्। अनभिव्यक्तावात्मसिद्धिः। कायाकारपरिणतेभ्यस्तेभ्यः स उत्पद्यते इति चेत्, कायपरिणामोऽपि तन्मात्रभावी न कादाचित्कः। अन्यस्त्वात्मैव स्यात्। अहेतुत्वे न देशादि-

---

सकता है। (ग) प्रत्यक्ष प्रमाणसे परलोक आदिका निषेध नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष पासके पदार्थोंको ही जान सकता है। परलोकका अभाव माने विना चार्वाक लोगोंको शांति नहीं मिलती, और साथ ही वे लोग प्रत्यक्षके अतिरिक्त अन्य प्रमाण न माननेकी भी हठ करते हैं—यह कैसी बालचेष्टा है!

तथा, प्रत्यक्षका प्रामाण्य (ज्ञेयार्थको जाननेकी क्रियाकी—प्रमितिकी—उत्पत्तिमें साधकतम) प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञेय पदार्थके ज्ञानका अविसंवादित्व होनेपर ही सिद्ध होता है। यदि प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञेय पदार्थका ज्ञान अविसंवादी न होने पर भी प्रत्यक्षका प्रामाण्य सिद्ध होता हो तो स्नान, पान, अवगाहन आदि प्रयोजन की निष्पत्ति करनेमें असमर्थ मृगतृष्णा विषयक जलज्ञानमें प्रामाण्य कैसे नहीं हो सकता? अर्थके साथ प्रतिबद्ध (अविनाभाव युक्त) ऐसे हेतु और शब्दके द्वारा उत्पन्न अनुमान एवं आगमके द्वारा ज्ञात पदार्थके ज्ञानकी अविसंवादिता होनेसे इन दोनोंका प्रामाण्य क्यों स्वीकार नहीं किया जाता? यदि कहो कि अनुमान और आगममें ज्ञात पदार्थके ज्ञानकी अविसंवादिता नहीं देखी जाती इसलिये उन्हें प्रमाण नहीं माना जा सकता, तो इस प्रकार प्रत्यक्षमें भी तिमिर आदि नेत्ररोगके कारण एक चन्द्रमाका दो चन्द्रमा रूप ज्ञान होता है, इसलिये प्रत्यक्षको भी सर्वत्र अप्रमाण ही मानना चाहिये। यदि कहो कि नेत्ररोगके कारण एक चन्द्रमाके स्थानपर दो चन्द्रमा दिखाई देते हैं, इसलिये एक चन्द्रमामें दो चन्द्रका ज्ञान प्रत्यक्षाभास है, तो इसी तरह हम सदोष अनुमानको अनुमानाभास, और सदोष आगमको आगमाभास कहते हैं। अतएव केवल प्रत्यक्ष प्रमाणसे पदार्थोंका निश्चित स्वरूप नहीं जाना जा सकता, इसलिये प्रत्यक्ष प्रमाणका अवलम्बन लेकर जीव, पुण्य, पाप, परलोक आदिका निषेध करनेवाले दर्शन अप्रमाण ही हैं।

इससे नास्तिक लोगोंके भूतचिद्वाद (पाँच भूतोंसे चैतन्यकी उत्पत्ति) का भी निराकरण करना चाहिये। द्रव्यालंकारके (दो) कर्ता उपयोगका वर्णन करते समय कहते हैं—"जिस प्रकार सत्त्व, कठिनत्व आदि भूतोंके धर्म हैं, अथवा जिस प्रकार मादक द्रव्योंमें थकावट एवं मद उत्पन्न करनेवाली शक्ति होती है, उसी प्रकार पंच महाभूतोंमेंसे प्रत्येक भूतमें चैतन्य नहीं पाया जाता, अतएव वह भूतधर्म नहीं है। यह चैतन्य भूतोंमें अभिव्यक्त नहीं होता, अतएव आत्माकी सिद्धि होती है। चार्वाक—जिस समय पृथिवी आदि पांच महाभूत शरीर रूपमें परिणत होते हैं, उसी समय उनमें चैतन्य उत्पन्न हो जाता है। जैन—यह ठीक नहीं। क्योंकि यदि आप लोग पृथिवी आदिके मिलनेसे ही शरीरका परिणमन मानते हैं, तो वह अनित्य नहीं होता (शरीरके अनित्य न होनेके कारण उसकी उत्पत्ति होना असंभव है, अतएव चैतन्य धर्मकी भी उत्पत्ति नहीं होती)। और यदि पृथिवी आदिके अतिरिक्त चैतन्य कोई भिन्न वस्तु है, तो उसे आत्मा कहना चाहिये। यदि चैतन्य

नियमः। मृतादपि च स्यात्। शोणिताद्युपाधिः सुप्तादावप्यस्ति। न च सतस्तस्योत्पत्तिः, भूयो-भूयः प्रसङ्गात्। अलब्धात्मनश्च प्रसिद्धमर्थक्रियाकारित्वं विरुध्यते। असतः सकलशक्तिविकलस्य कथमुत्पत्तौ कर्तृत्वम्, अन्यस्यापि प्रसङ्गात्? तन्न भूतकार्यमुपयोगः॥

कुतस्तर्हि सुप्तोत्थितस्य तदुदयः? असंवेदनेन चैतन्यस्याभावात्। न, जाग्रदवस्थानुभूतस्य स्मरणात्। असंवेदनं तु निद्रोपघातात्। कथं तर्हि कायविकृतौ चैतन्यविकृतिः? नैकान्तः, श्वित्रादिना कश्मलवपुषोऽपि बुद्धिशुद्धेः, अविकारे च भावनाविशेषतः प्रीत्यादिभेददर्शनात् शोकादिना बुद्धिविकृतौ कायविकारादर्शनाच्च। परिणामिनो विना च न कार्योत्पत्तिः। न च भूतान्येव तथा परिणमन्ति विजातीयत्वात्। काठिन्यादेरनुपलम्भात्। अणव एवेन्द्रियग्राह्यत्व-रूपां स्थूलतां प्रतिपद्यन्ते तज्जात्यादि चोपलभ्यते। तन्न भूतानां धर्मः फलं वा उपयोगः। तथा भवांश्च यदाक्षिपति तदस्य लक्षणम्। स चात्मा स्वसंविदितः। भूतानां तथाभावे वहिर्मुखं स्याद्। गौरोऽहमित्यादि तु नान्तर्मुखं वाह्यकरणजन्यत्वात्। अनभ्युपगतानुमानप्रामाण्यस्य चात्मनिषेधोऽपि दुर्लभः।

धर्मको अहेतुक माना जाय तो देश और कालका नियम नहीं बन सकता। यदि कहो कि भूतोंके शरीर रूपमें परिणमन होनेसे चैतन्यकी उत्पत्ति होती है, तो मृतक पुरुषमें भी चैतन्य पाया जाना चाहिये, क्योंकि वहाँ भी पृथिवी आदिका कायरूप परिणमन मौजूद है। यदि कहो कि मृतक पुरुषमें रक्तका संचार नहीं होता, अतएव मुर्देमें चेतन शक्तिका अभाव है, तो सोते हुए मनुष्यमें रक्तका संचार होनेपर भी उसे ज्ञान क्यों नहीं होता? तथा, यदि कहो कि चैतन्य धर्मका सद्भाव होनेपर भी उसकी उत्पत्ति होती है तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि चैतन्य धर्मकी पुनः पुनः उत्पत्ति होनेका प्रसंग आयेगा; तथा, अनुत्पन्न चैतन्यधर्मका अर्थक्रियाकारित्व विरुद्ध पड़ेगा। जिस पदार्थका सर्वथा अभाव है, और जो सर्व शक्तिसे रहित है, वह उत्पत्ति क्रियाका कर्ता कैसे हो सकता है? यदि सकल शक्तिशून्य असत् पदार्थको भी उत्पत्ति क्रियाका कर्ता माना जाये तो विशिष्ट शक्तिशून्य पदार्थको भी कर्ता माननेका प्रसंग उपस्थित होगा। अतएव उपयोग अर्थात् चैतन्य धर्म पंच महाभूतोत्पन्न कार्य नहीं है।

शंका—यदि पृथिवी आदि पांच भूतोंसे चैतन्यकी उत्पत्ति नहीं होती, तो सो कर उठनेवाले पुरुषमें चेतन शक्ति कहाँसे आती है, क्योंकि सोनेके समय पूर्व चेतन शक्ति नष्ट हो जाती है। समाधान—सो कर उठनेके पश्चात् हमें जाग्रत अवस्थामें अनुभूत पदार्थोंका ही स्मरण होता है। सोते समय चेतन शक्तिका निद्राके उदयसे आच्छादन हो जाता है। शंका—यदि शरीर और चैतन्यका कोई संबंध नहीं है, तो शरीरमें विकार उत्पन्न होनेसे चेतनामें विकार क्यों होता है? समाधान—यह एकान्त नियम नहीं है। क्योंकि बहुतसे कोढ़ी पुरुष भी बुद्धिमान होते हैं, और शरीरमें किसी प्रकारका विकार न होनेपर भी बुद्धिमें राग, द्वेष आदिका भावनाविशेषके कारण सद्भाव पाया जाता है; इसी तरह शोक आदिसे बुद्धिमें विकार होनेपर भी शरीरमें विकार नहीं देखा जाता। परिणामी अर्थात् परिणमनशील उपादानके अभावमें कार्य अर्थात् परिणामकी उत्पत्ति नहीं होती। तथा, पृथिवी आदि पंचभूतोंका चैतन्य रूप परिणमन मानना ठीक नहीं, क्योंकि पृथिवी आदि चैतन्यके विजातीय हैं—पृथिवी आदिकी तरह चैतन्यमें काठिन्य आदि गुण नहीं पाये जाते। परमाणु ही इन्द्रियग्राह्यत्व रूप स्थूल पर्यायको धारण करते हैं, और स्थूल पर्यायको प्राप्त करनेपर भी परमाणुओंकी जातिमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। अतएव चैतन्य पृथिवी आदि पांच भूतोंका धर्म अथवा फल (कार्य) नहीं कहा जा सकता। तथा, आपलोग जिस पर आक्षेप करते हैं, हम उसे ही आत्मा कहते हैं। आत्मा स्वसंवेदनका विषय है। यदि आत्मा भूतोंसे उत्पन्न हो, तो 'मैं गोरा हूं' यह अंतर्मुख ज्ञान न होकर 'यह गोरा है' इस प्रकारका बहिर्मुख ज्ञान होना चाहिये, क्योंकि वह बाह्य कारणसे उत्पन्न होता है। तथा, अनुमान प्रमाणके स्वीकार किये विना आत्माका निषेध नहीं किया जा सकता।

धर्मः फलं च भूतानाम् उपयोगो भवेद् यदि ।
प्रत्येकमुपलम्भः स्याद्युत्पादो वा विलक्षणात् ॥"

इति काव्यार्थः ॥ २० ॥

एवमुक्तयुक्तिभिरेकान्तवादप्रतिक्षेपमाख्याय साम्प्रतमनाद्यविद्यावासनाप्रवासितसन्मतयः प्रत्यक्षोपलक्ष्यमाणमप्यनेकान्तवादं येऽवमन्यन्ते तेषामुन्मत्ततामाविर्भावयन्नाह—

प्रतिक्षणोत्पादविनाशयोगिस्थिरैकमध्यक्षमपीक्षमाणः ।
जिन त्वदाज्ञामवमन्यते यः स वातकी नाथ पिशाचकी वा ॥२१॥

प्रतिक्षणं प्रतिसमयम् । उत्पादेनोत्तराकारस्वीकाररूपेण विनाशेन च पूर्वाकारपरिहारलक्षणेन युज्यत इत्येवंशीलं प्रतिक्षणोत्पादविनाशयोगि । किं तत् ? स्थिरैकं कर्मतापन्नं । स्थिर-

---

'यदि चैतन्य (उपयोग) पृथिवी आदि भूतोंका धर्म या कार्य हो, तो प्रत्येक पदार्थमें चैतन्यकी उपलब्धि होनी चाहिये, और विजातीय पदार्थोंसे सजातीय पदार्थोंकी उत्पत्ति होनी चाहिये' ॥ यह श्लोकका अर्थ है ॥

भावार्थ—चार्वाक (१) प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है । अतएव पाँच इन्द्रियोंके बाह्य कोई वस्तु नहीं हैं, इसलिए स्वर्ग, नरक और मोक्षका सद्भाव नहीं मानना चाहिये । वास्तवमें कण्टक आदिसे उत्पन्न होनेवाले दुखको नरक कहते हैं, प्रजाके नियन्ता राजाको ईश्वर कहते हैं, और देहको छोड़नेको मोक्ष कहते हैं । अतएव मनुष्य जीवनको खूब आनन्दसे बिताना चाहिये, कारण कि मरनेके बाद फिर संसारमें जन्म नहीं होता । जैन—अनुमान प्रमाणके विना दूसरेके मनका अभिप्राय ज्ञात नहीं हो सकता । क्योंकि प्रत्यक्षसे इन्द्रियोंके बाह्य दूसरोंका अभिप्राय नहीं जाना जा सकता । 'यह पुरुष मेरे वचनोंको सुनना चाहता है, क्योंकि इसके मुँहपर अमुक प्रकारकी चेष्टा दिखाई देती है'—इस प्रकारका ज्ञान अनुमानके विना नहीं हो सकता । तथा, बिना अनुमान प्रमाणके ज्ञानके प्रामाण्य और अप्रामाण्य का भी निश्चय नहीं हो सकता । इसके अतिरिक्त, प्रत्यक्षकी सत्यता भी अनुमानसे ही जानी जाती है । इसलिये अनुमान अवश्य मानना चाहिये ।

चार्वाक—(२) जिस प्रकार मादक पदार्थोंसे मदशक्ति पैदा होती है, वैसे ही पृथिवी आदि भूतोंसे चैतन्यकी उत्पत्ति होती है । पाँच भूतोंके नाश होनेसे चैतन्यका भी नाश हो जाता है, इसलिये आत्मा कोई वस्तु नहीं है । आत्माके अभाव होनेसे धर्म, अधर्म, और पुण्य, पाप भी कोई वस्तु नहीं ठहरते । जैन—यदि मादक शक्तिकी तरह चैतन्यको पांच भूतोंका विकार माना जाय, तो जिस तरह मदशक्ति प्रत्येक मादक पदार्थमें पायी जाती है, वैसे ही चेतन शक्तिको भी प्रत्येक पदार्थमें उपलब्ध होना चाहिये । तथा, यदि पृथिवी आदिसे चेतन शक्ति उत्पन्न हो, तो मृतक पुरुषमें भी चेतना माननी चाहिये । इसके अतिरिक्त, पृथिवी आदि चैतन्यके विजातीय हैं, क्योंकि चैतन्यमें पृथिवीके काठिन्य आदि गुण नहीं पाये जाते । अतएव चेतना शक्तिको भौतिक विकार नहीं मानकर आत्माको स्वतंत्र पदार्थ मानना चाहिये ।

इस प्रकार एकान्तवादका खंडन करके, अनादि अविद्याकी वासनासे मलिन बुद्धिवाले जो लोग अनेकांतको प्रत्यक्षसे देखते हुए भी उसकी अवमानना करते हैं, उनकी उन्मत्तताका प्रदर्शन करते हैं—

श्लोकार्थ—हे नाथ, प्रत्येक क्षणमें उत्पन्न और नाश होनेवाले पदार्थोंको प्रत्यक्षसे स्थिर देखकर भी वातरोग अथवा पिशाचसे ग्रस्त लोगोंकी तरह लोग आपकी आज्ञाकी अवहेलना करते हैं ।

व्याख्यार्थ—प्रत्येक द्रव्य प्रतिक्षण उत्तर पर्यायोंके होनेसे उत्पन्न (उत्पाद) और पूर्व पर्यायोंके नाश होनेसे नष्ट (व्यय) होकर भी स्थिर रहता है । जिस प्रकार चैत्र और मैत्र दोनों भाइयोंका अधिकरण

मुत्पादविनाशयोरनुयायित्वात् त्रिकालवर्ति यदेकं द्रव्यं स्थिरैकम्। एकशब्दोऽत्र साधारणवाची। उत्पादे विनाशे च तत्साधारणम्, अन्वयिद्रव्यत्वात्। यथा चैत्रमैत्रयोरेका जननी साधारणेत्यर्थः। इत्थमेव हि तयोरेकाधिकरणता पर्यायाणां, कथञ्चिदनेकत्वेऽपि तस्य कथञ्चिदेकत्वात्। एवं त्रयात्मकं वस्तु अध्यक्षमपीक्षमाणः प्रत्यक्षमवलोकयन् अपि। हे जिन रागादिजैत्र। त्वदाज्ञाम् आ सामस्त्येनानन्तधर्मविशिष्टतया ज्ञायन्तेऽवबुद्ध्यन्ते जीवाजीवादयः पदार्था यया सा आज्ञा आगमः शासनं तवाज्ञा त्वदाज्ञा। तां त्वदाज्ञां भवत्प्रणीतस्याद्वादमुद्राम् यः कश्चिदविवेकी अवमन्यतेऽवजानाति। जात्यपेक्षमेकवचनमवज्ञया वा। स पुरुषपशुर्वातकी पिशाचकी वा। वातो रोगविशेषोऽस्यास्तीति वातकी। वातकीव वातकी। वातूल इत्यर्थः। एवं पिशाचकीव पिशाचकी। भूताविष्ट इत्यर्थः॥

अत्र वाशब्दः समुच्चयार्थः उपमानार्थो वा। स पुरुषापसदो वातकिपिशाचकिभ्यामधिरोहति तुलामित्यर्थः। "वातातीसारपिशाचात्कश्चान्तः" [1]इत्यनेन मत्वर्थीयः कश्चान्तः। एवं पिशाचकीत्यपि। यथा किल वातेन पिशाचेन वाक्रान्तवपुर्वस्तुतत्त्वं साक्षात्कुर्वन्नपि तदावेशवशात् अन्यथा प्रतिपद्यते एवमयमप्येकान्तवादापस्मार[2]परवश इति। अत्र च जिनेति साभिप्रायम्। रागादिजेतृत्वाद् हि जिनः। ततश्च यः किल विगलितदोषकालुष्यतयावधेयवचनस्यापि तत्रभवतः शासनमवमन्यते तस्य कथं नोन्मत्ततेति भावः। नाथ हे स्वामिन्। अलब्धस्य सम्यग्दर्शनादेर्लम्भकतया लब्धस्य च तस्यैव निरतिचारपरिपालनोपदेशदायितया च योगक्षेमकरत्वोपपत्तेर्नाथः। तस्यामन्त्रणम्॥

एक माता है, उसी तरह उत्पाद और विनाश दोनोंका अधिकरण एक अन्वयी द्रव्य है, इसलिये उत्पाद और विनाशके रहते हुए भी द्रव्य सदा स्थिर रहता है। क्योंकि उत्पाद और व्यय रूप पर्यायोंके कथंचित् अनेक होने पर भी द्रव्य कथंचित् एक माना गया है। इस प्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप पदार्थोंको प्रत्यक्षसे देखकर भी वातरोग अथवा पिशाचसे ग्रस्त लोगोंकी तरह अविवेकी लोग आपकी अनेकान्त रूप आज्ञाका उल्लंघन करते हैं।

यहाँ 'वा' शब्द समुच्चय अथवा उपमान अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। इसलिये यह अर्थ होता है कि आपकी आज्ञाको उल्लंघन करनेवाले अधम पुरुष वातकी (वात रोगसे ग्रस्त) अथवा पिशाचकी (पिशाचसे ग्रस्त) की तरह हैं। यहाँ "वातातीसारपिशाचात्कश्चान्तः" सूत्रसे वात और पिशाच शब्दसे मत्वर्थमें इन् प्रत्यय होकर अन्तमें 'क' लग जाता है। जिस प्रकार वात और पिशाचसे ग्रस्त पुरुष पदार्थोंको देखते हुए भी उन्हें वात और पिशाचके आवेशमें अन्यथा रूपसे प्रतिपादन करता है, वैसे ही एकान्तवाद रूपी अपस्मार (मृगी) से पीड़ित मनुष्य प्रत्येक पदार्थमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य अवस्थायें देखकर भी उन्हें अन्यथा रूपसे प्रतिपादन करता है। श्लोकमें 'जिन' शब्दका प्रयोग विशेष अर्थ बतानेके लिये किया गया है। जिसने राग, द्वेष आदि दोषोंको जीत लिया है, उसे जिन कहते हैं। अतएव आपके वचनोंके निर्दोष होनेपर भी जो लोग उनकी अवज्ञा करते हैं, उन्हें उन्मत्त ही कहना चाहिये। हे स्वामिन्, आप सम्यग्दर्शनको प्राप्त करनेवाले और उसे निरतिचार पालन करनेका उपदेश देनेवाले होनेके कारण सुख और शांतिके दाता हैं, इसलिये आप नाथ हैं।

---

१. हैमसूत्रे ७-२-६१।

२. अपस्मर्यते पूर्ववृत्तं विस्मर्यतेऽनेन। रोगविशेषः।

तमःप्रवेशो संरम्भो दोषोद्रेकहतस्मृतेः।
अपस्मार इति ज्ञेयो गदो घोरश्चतुर्विधः॥

शब्दकल्पद्रुमे।

वस्तुतत्त्वं चोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकम्। तथाहि सर्वं वस्तु द्रव्यात्मना नोत्पद्यते विपद्यते वा, परिस्फुटमन्वयदर्शनात्। लूनपुनर्जातनखादिष्वन्वयदर्शनेन व्यभिचार इति न वाच्यम्, प्रमाणेन बाध्यमानस्यान्वयस्यापरिस्फुटत्वात्। न च प्रस्तुतोऽन्वयः प्रमाणविरुद्धः सत्यप्रत्यभिज्ञानसिद्धत्वात्।

"सर्वव्यक्तिषु नियतं क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः।
सत्योश्चित्यपचित्योराकृतिजातिव्यवस्थानात्" ॥

इति वचनात् ॥

ततो द्रव्यात्मना स्थितिरेव सर्वस्य वस्तुनः। पर्यायात्मना तु सर्वं वस्तूत्पद्यते विपद्यते च, अस्खलितपर्यायानुभवसद्भावात्। न चैवं शुक्ले शङ्खे पीतादिपर्यायानुभवेन व्यभिचारः, तस्य स्खलद्रूपत्वात्। न खलु सोऽस्खलद्रूपो येन पूर्वाकारविनाशाजहद्वृत्तोत्तराकारोत्पादाविनाभावी भवेत्। न च जीवादौ वस्तुनि हर्षामर्षौदासीन्यादिपर्यायपरम्परानुभवः स्खलद्रूपः, कस्यचिद् बाधकस्याभावात्।

प्रत्येक वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप है। तथाहि–द्रव्यकी अपेक्षासे कोई वस्तु न उत्पन्न होती है, और न नाश होती है। कारण कि द्रव्यमें भिन्न भिन्न पर्यायोंके उत्पन्न और नाश होनेपर भी द्रव्य एकसा दिखायी देता है। (भाव यह है कि यदि द्रव्य रूपसे वस्तुका उत्पन्न होना स्वीकार किया जाये तो उत्पत्तिके पूर्वकालमें उसे सर्वथा असत् मानना होगा। ऐसी दशामें असत्से सत्की उत्पत्ति स्वीकार करनी होगी। तथा, यदि द्रव्यरूपसे वस्तुका विनाश होना स्वीकार किया जाये तो सत्का विनाश मानना होगा। और असत्का उत्पाद और सत्का नाश कभी होता नहीं। दूसरी बात यह है कि उत्पत्ति और विनाशके कालमें सत्का अभाव होने पर उत्पत्ति और विनाश किसके होंगे ? अतएव जब वस्तुका अपने उपादेयभूत परिणामके रूपसे उत्पाद होता है और परिणामके विनाशके रूपसे व्यय होता है, तब द्रव्यका सद्भाव होता है, ऐसा मानना ही होगा, तथा दोनों अवस्थाओंमें द्रव्यका अन्वय होनेसे उसका सद्भाव देखा जाता है)। **शंका**—नख आदिके काटे जाने पर फिरसे बढ़ जानेसे वे पहिले जैसे दिखाई देते हैं, परन्तु वास्तवमें बढ़े हुए नख पहले नखोंसे भिन्न हैं। इसी तरह सम्पूर्ण पर्याय नयी नयी उत्पन्न होती हैं। इसलिये पर्यायोंको द्रव्यकी अपेक्षा एक मानना ठीक नहीं है। **समाधान**—यह ठीक नहीं। कारण कि फिरसे पैदा हुए नख पहले नखोंसे भिन्न हैं, इसलिये नख आदिके दृष्टांतमें प्रत्यक्षसे विरोध आता है। परन्तु उत्पाद और नाशके होते हुए द्रव्यका एकसा अवस्थित रहना प्रत्यभिज्ञान प्रमाणसे सिद्ध है। कहा भी है—

"प्रत्येक पदार्थ क्षण-क्षणमें बदलते रहते हैं, फिर भी उनमें सर्वथा भिन्नपना नहीं होता। पदार्थोंमें आकृति और जातिसे ही अनित्यपना और नित्यपना होता है।"

अतएव द्रव्यकी अपेक्षा प्रत्येक वस्तु स्थिर है, केवल पर्यायकी दृष्टिसे पदार्थोंमें उत्पत्ति और नाश होता है। हमें पर्यायोंके उत्पाद और व्ययका निर्दोष अनुभव होता है। इससे सफेद शंखके पीतादि पर्यायके रूपसे परिणमन होने पर भी उसमें जो पीत आदि पर्यायका अनुभव (ज्ञान) होता है, उसके साथ 'पर्यायोंके निर्दोष अनुभवके सद्भावरूप' हेतुका व्यभिचार नहीं आता। क्योंकि सफेद शंखमें पीलेपनका ज्ञान स्खलित होनेवाला होता है, कारण कि नेत्ररोगके दूर होनेपर वह ज्ञान हमें असत्य मालूम होता है। सफेद शंखमें पीलेपनका ज्ञान अस्खलित नहीं होता, अर्थात् नष्ट होनेवाला होता है जिससे कि पूर्व पर्यायका नाश, ध्रुव रूप द्रव्यका त्याग न करनेवाली उत्तर पर्यायकी उत्पत्तिके साथ अविनाभावी होता है। जीव आदि पदार्थोंमें हर्ष, क्रोध, उदासीनता आदि पर्यायोंकी परम्परा अस्खलित नहीं कही जा सकती, क्योंकि उन पर्यायोंके अनुभवको बाधित करनेवाले हेतुका सद्भाव नहीं है।

ननूत्पादादयः परस्परं भिद्यन्ते न वा ? यदि भिद्यन्ते, कथमेकं वस्तु त्रयात्मकम् ? न भिद्यन्ते चेत्, तथापि कथमेकं त्रयात्मकम् ? तथा च

"यद्युत्पादादयो भिन्नाः कथमेकं त्रयात्मकम् ।
अथोत्पादादयोऽभिन्नाः कथमेकं त्रयात्मकम् "

इति चेत्, तदयुक्तं, कथंचिद्भिन्नलक्षणत्वेन तेषां कथञ्चिद्भेदाभ्युपगमात् । तथाहि—उत्पादविनाशध्रौव्याणि स्याद् भिन्नानि, भिन्नलक्षणत्वात्, रूपादिवदिति । न च भिन्नलक्षणत्वमसिद्धम् । असत आत्मलाभः सतः सत्तावियोगः द्रव्यरूपतयानुवर्तनं च खलूत्पादादीनां परस्परमसंकीर्णानि लक्षणानि सकललोकसाक्षिकाण्येव ॥

न चामी भिन्नलक्षणा अपि परस्परानपेक्षाः, खपुष्पवदसत्त्वापत्तेः । तथाहि—उत्पादः केवलो नास्ति, स्थितिविगमरहितत्वात् कूर्मरोमवत् । तथा विनाशः केवलो नास्ति, स्थित्युत्पत्तिरहितत्वात्, तद्वत् । एवं स्थितिः केवला नास्ति, विनाशोत्पादशून्यत्वात्, तद्वदेव । इत्यन्योऽन्यापेक्षाणामुत्पादादीनां वस्तुनि सत्त्वं प्रतिपत्तव्यम् । तथा चोक्तम्—

"घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोकप्रमोदमाध्यस्थं जनो याति सहेतुकम् ॥ १ ॥
पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः ।
अगोरसव्रतो नोभे तस्माद् वस्तु त्रयात्मकम् ॥ २ ॥[1]"

शंका—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परस्पर भिन्न हैं, या अभिन्न ? यदि उत्पाद आदि परस्पर भिन्न हैं, तो वस्तुका स्वरूप उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप नहीं कहा जा सकता । यदि वे परस्पर अभिन्न हैं, तो तीनों एक रूप होनेसे तीन रूप कैसे हो सकते हैं ? कहा भी है—

"यदि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परस्पर भिन्न हैं, तो वे तीन रूप नहीं कहे जा सकते । यदि उत्पाद आदि अभिन्न हैं, तो उन्हें तीन रूप न मानकर एक ही मानना चाहिये ।"

समाधान—यह ठीक नहीं । क्योंकि हम लोग उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यमें कथंचित् भेद होनेसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यमें कथंचित् भेद मानते हैं । तथाहि—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य कथंचित् भिन्न हैं, भिन्न लक्षणवाले होनेसे; रूप, रस, स्पर्श और गंधकी भाँति । यहाँ भिन्न लक्षणरूप हेतु असिद्ध नहीं है । उत्पत्तिके पूर्व जिसका (कथंचित्) अभाव होता है उसका प्रादुर्भाव (आत्मलाभ), जो विद्यमान होता है उसकी सत्ताका अभाव, तथा द्रव्य रूपसे अनुवर्तन—ये वस्तुतः उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यके परस्पर असंकीर्ण लक्षण सभीके द्वारा जाने जाते हैं ।

उत्पाद आदि परस्पर भिन्न होकर भी एक दूसरेसे निरपेक्ष नहीं हैं । यदि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को एक दूसरेसे निरपेक्ष मानें, तो आकाश-पुष्पकी तरह उनका अभाव मानना पड़े । अतएव जैसे कछुवेकी पीठपर बालोंके नाश और स्थितिके विना, बालोंका केवल उत्पाद होना संभव नहीं है, उसी तरह व्यय और ध्रौव्यसे रहित केवल उत्पादका होना नहीं बन सकता । इसी प्रकार कछुवेके बालोंकी तरह उत्पाद और ध्रौव्यसे रहित केवल व्यय, तथा उत्पाद और नाशसे रहित केवल स्थिति भी संभव नहीं है । अतएव एक दूसरेकी अपेक्षा रखनेवाले उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप वस्तुका लक्षण स्वीकार करना चाहिये । कहा भी है—

"घड़े, मुकुट और सोनेके चाहनेवाले पुरुष घड़ेके नाश, मुकुटके उत्पाद, और सोनेकी स्थितिमें क्रमसे शोक, हर्ष और माध्यस्थ भाव रखते हैं । तथा, 'मैं दूध ही पीऊँगा' इस प्रकारका व्रत रखनेवाला पुरुष सिर्फ दूध ही पीता है, दही नहीं खाता; 'मैं आज दही ही खाऊँगा' इस प्रकारका नियम लेनेवाला पुरुष सिर्फ दही

---

१ आप्तमीमांसायां ५९,६०

इति काव्यार्थः ॥ २१ ॥

अथान्ययोगव्यवच्छेदस्य प्रस्तुतत्वात् आस्तां तावत्साक्षाद् भवान्, भवदीयप्रवचनावयवा अपि परतीर्थिकतिरस्कारबद्धकक्षा इत्याशयवान् स्तुतिकारः स्याद्वादव्यवस्थापनाय प्रयोगमुपन्यस्यन् स्तुतिमाह—

अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वमतोऽन्यथा सत्त्वमसूपपादम् ।
इति प्रमाणान्यपि ते कुवादिकुरङ्गसंत्रासनसिंहनादाः ॥ २२ ॥

तत्त्वं परमार्थभूतं वस्तु जीवाजीवलक्षणम् अनन्तधर्मात्मकमेव। अनन्तास्त्रिकालविषयत्वाद् अपरिमिता ये धर्माः सहभाविनः क्रमभाविनश्च पर्यायाः। त एवात्मा स्वरूपं यस्य तदनन्तधर्मात्मकम् । एवकारः प्रकारान्तरव्यवच्छेदार्थः । अत एवाह अतोऽन्यथा इत्यादि ।

ही खाता है, दूध नहीं पीता; और गोरसका व्रत लेनेवाला पुरुष दूध और दही दोनों नहीं खाता । अतः प्रत्येक वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप है ।"

(यहाँ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यको दृष्टांतसे समझाया गया है । एक राजाके एक पुत्र और एक पुत्री थी । राजाकी पुत्रीके पास एक सोनेका घड़ा था, राजाके पुत्रने उस घड़ेको तुड़वा कर उसका मुकुट वनवा लिया । घड़ेके नष्ट होनेपर (व्यय) राजाकी पुत्रीको शोक हुआ, मुकुटकी उत्पत्ति होनेसे (उत्पाद) राजाके पुत्रको हर्ष हुआ, तथा राजा दोनों अवस्थाओंमें मध्यस्थ था (ध्रौव्य), इसलिये राजाको शोक और हर्ष दोनों नहीं हुए । इससे मालूम होता है, कि प्रत्येक वस्तुमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों अवस्थायें मौजूद रहती हैं । इसी प्रकार दूधका व्रती दही, और दहीका व्रती दूध, और गोरसका व्रती दही और दूध दोनों नहीं खाता है । इसलिये प्रत्येक वस्तु तीनों रूप है)॥ यह श्लोकका अर्थ है ॥

भावार्थ—जैन दर्शनके अनुसार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ही वस्तुका लक्षण है (उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्) । वेदान्ती लोगोंके अनुसार, वस्तु तत्त्व सर्वथा नित्य, और बौद्धोंके अनुसार प्रत्येक वस्तु सर्वथा क्षणिक है । परन्तु जैन लोगोंका मत है कि प्रत्येक वस्तुमें उत्पत्ति और नाश होते रहते हैं, इसलिये पर्यायकी अपेक्षा वस्तु अनित्य है, तथा उत्पत्ति और नाश होते हुए भी हमें वस्तुकी स्थिरताका भान होता है, अतएव द्रव्यकी अपेक्षा वस्तु नित्य है । अतएव जैन दर्शनमें प्रत्येक वस्तु कथंचित् नित्य, और कथंचित् अनित्य स्वीकार की गई है । उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परस्पर कथंचित् भिन्न होकर भी सापेक्ष हैं । जिस प्रकार नाश और स्थितिके विना केवल उत्पाद संभव नहीं है, तथा उत्पाद और स्थितिके विना नाश संभव नहीं है, उसी तरह उत्पाद और नाशके विना स्थिति भी संभव नहीं । अतएव उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यको ही वस्तुका लक्षण मानना चाहिये ।

साक्षात् भगवान्की बात तो दूर रही, भगवान्के उपदेशके कुछ अंश ही कुवादियोंको पराजित करनेमें समर्थ हैं, इसलिये स्तुतिकार स्याद्वादका प्रतिपादन करते हैं—

श्लोकार्थ—प्रत्येक पदार्थमें अनन्त धर्म मौजूद हैं, पदार्थोंमें अनन्त धर्म माने विना वस्तुकी सिद्धि नहीं होती । अतएव आपके प्रमाणवाक्य कुवादी रूप मृगोंको डरानेके लिये सिंहकी गर्जनाके समान हैं ।

व्याख्यार्थ—जीवरूप और अजीवरूप परमार्थभूत वस्तु अनन्तधर्मात्मक होती है । त्रिकालविषय होनेसे जो धर्म अनन्त हैं वे सहभावी पर्याय (गुणरूप) और क्रमभावी पर्यायरूप होते हैं । सहभावी और क्रमभावी पर्यायें जिसका स्वरूप होती हैं, वह वस्तु अनंतधर्मात्मक होती है । यहाँ 'एव' शब्द, अनंतधर्मात्मक न होनेवाली वस्तुका परिहार करनेके लिये प्रयुक्त किया गया है । अतएव 'अतोऽन्यथा' इत्यादि शब्दोंका

अतोऽन्यथा उक्तप्रकारवैपरीत्येन। सत्त्वं वस्तुतत्त्वम्। असूपपादं सुखेनोपपाद्यते घटनाकोटिसंटङ्कमारोप्यते इति सूपपादं। न तथा असूपपादं। दुर्घटमित्यर्थः। अनेन साधनं दर्शितम्। तथाहि—तत्त्वमिति धर्मि। अनन्तधर्मात्मकत्वं साध्यो धर्मः। सत्त्वान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः, अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणत्वाद्धेतोः। अन्तर्व्याप्त्यैव[1] साध्यस्य सिद्धत्वाद् दृष्टान्तादिभिर्न प्रयोजनम्। यदनन्तधर्मात्मकं न भवति तत् सदपि न भवति, यथा वियदिन्दीवरम् इति केवलव्यतिरेकी हेतुः, साधर्म्यदृष्टान्तानां पक्षकुक्षिनिक्षिप्तत्वेनान्वयायोगात्।

अनन्तधर्मात्मकत्वं च आत्मनि तावद् साकारानाकारोपयोगिता। कर्तृत्वं भोक्तृत्वं प्रदेशाष्टकनिश्चलता[2] अमूर्तत्वम् असंख्यातप्रदेशात्मकता जीवत्वमित्यादयः[3] सहभाविनो

प्रयोग किया गया है। 'अतोऽन्यथा' अर्थात् उक्त प्रकारसे विपरीत। 'सत्त्व' अर्थात् वस्तुका स्वरूप। 'सूपपादं'—सुखसे प्राप्त करने योग्य। जो 'सूपपाद' नहीं, वह 'असूपपाद' अर्थात् दुर्घट। इसके द्वारा साधन प्रदर्शित किया गया है। तथाहि—'तत्त्वं' यह धर्मी है। 'अनन्त धर्मात्मकत्व' यह साध्यभूत धर्म है। 'सत्त्वान्यथानुपपत्तेः' हेतु है; क्योंकि अन्यथानुपपन्नत्व हेतुका लक्षण है। 'वस्तुतत्त्व (पक्ष) अनन्त धर्मात्मक (साध्य) है, क्योंकि दूसरे प्रकारसे वस्तुतत्त्वकी सिद्धि नहीं होती (हेतु)'—यहाँ अन्तर्व्याप्तिसे साध्यकी सिद्धि होती है, इसलिये उक्त हेतुमें दृष्टांतकी आवश्यकता नहीं है। (जहाँ साधनसाध्यसे व्याप्त होता है, अर्थात् जहाँ साध्य अपने स्वरूपसे साधनमें होता है, उसे अन्तर्व्याप्ति कहते हैं। जिस समय प्रतिवादीको व्याप्ति संबंधका ज्ञान करते समय व्याप्ति-संबंधका स्मरण होता है, उस समय प्रतिवादीको हेतुके सर्वत्र साध्य युक्त होनेका ज्ञान होता है, और साथ ही अन्तर्व्याप्ति ज्ञानसे प्रतिवादीको यह भी ज्ञान होता है कि प्रस्तुत पक्षमें वर्तमान हेतु भी साध्यसे युक्त है। दृष्टांतके बिना पक्षके भीतर ही हेतुसे साध्यकी सिद्धि हो जाती है, इसलिये यहाँ पक्षके बाहर दृष्टांतके द्वारा कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता)। 'जो अनन्त धर्मात्मक नहीं होता, वह सत् भी नहीं होता, जैसे आकाशका फूल'। आकाशके फूलमें अनन्त धर्म नहीं रहते, इसलिये वह सत् भी नहीं है। 'सत्त्वान्यथानुपपत्तेः' यह हेतु केवलव्यतिरेकी है। जहाँ जहाँ साध्य नहीं रहता, वहाँ वहाँ साधन नहीं रहता। क्योंकि 'जहाँ-जहाँ सत् है, वहाँ वहाँ अनन्त धर्म पाये जाते हैं' इस अन्वयव्याप्तिमें दिया जानेवाला प्रत्येक दृष्टांत पक्षमें ही गर्भित हो जाता है। अतएव यहाँ अन्वयव्याप्ति न बताकर केवल व्यतिरेक व्याप्ति बताई गई है।

ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, आठ मध्य प्रदेशोंकी स्थिरता, अमूर्तत्व, असंख्यात प्रदेशीपना

---

१. अन्तःपक्षमध्ये व्याप्तिः साधनस्य साध्याक्रान्तत्वमन्तर्व्याप्तिः। तयैव साध्यस्य गम्यस्य सिद्धेः प्रतीतेः। अयमर्थः। अन्तर्व्याप्तेः साध्यसंसिद्धिशक्तौ बाह्यव्याप्तेर्वर्णनं वन्ध्यमेव। साध्यसंसिद्धचशक्तौ बाह्यव्याप्तेर्वर्णनं व्यर्थमेव।

२. तत्र सर्वकालं जीवाष्टमध्यमप्रदेशाः निरपवादाः सर्वजीवानां स्थिता एव। केवलिनामपि अयोगिनां सिद्धानां च सर्वे प्रदेशा स्थिता एव। व्यायामदुःखपरितापोद्रेकपरिणतानां जीवानां यथोक्ताष्टमध्यप्रदेशवर्जिता इतरे प्रदेशा अवस्थिता एव। शेषाणां प्राणिनां स्थिताश्चास्थिताश्चेति। तत्त्वार्थराजवर्तिके पृ० २०३

३. जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥
छाया—जीवः उपयोगमयः अमूर्ति कर्त्ता स्वदेहपरिमाणः।
भोक्ता संसारस्थः सिद्धः स विस्रसा ऊर्ध्वगतिः॥ द्रव्यसंग्रहे २

जीवसिद्धिः चार्वाकं प्रति; ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणं नैयायिकं प्रति; अमूर्तजीवस्थापनं भट्टचार्वाकद्वयं प्रति; कर्मकर्तृत्वस्थापनं सांख्यं प्रति; स्वदेहप्रमितिस्थापनं नैयायिकमीमांसकसांख्यत्रयं प्रति; कर्मभोक्तृत्वव्याख्यानं बौद्धं प्रति; संसारस्य व्याख्यानं सदाशिवं प्रति; सिद्धत्वव्याख्यानं भट्टाचार्वाकद्वयं प्रति; ऊर्ध्वगतिस्वभावकथनं माण्डलिकग्रन्थकारं प्रति, इति मतार्थो ज्ञातव्यः। द्रव्यसंग्रहवृत्तौ।

धर्माः। हर्षविषादशोकसुखदुःखदेवनरनारकतिर्यक्त्वादयस्तु क्रमभाविनः। धर्मास्तिकायादिष्वपि असंख्येयप्रदेशात्मकत्वम् गत्याद्युपग्रहकारित्वम्[1] मत्यादिज्ञानविषयत्वम् तत्तदवच्छेदकावच्छेद्यत्वम् अवस्थितत्वम् अरूपित्वम् एकद्रव्यत्वम् निष्क्रियत्वमित्यादयः। घटे पुनरामत्वम् पाकजरूपादिमत्त्वम् पृथुबुध्नोदरत्वम् कम्बुग्रीवत्वम् जलादिधारणाहरणसामर्थ्यम् मत्यादिज्ञानज्ञेयत्वम् नवत्वम् पुराणत्वमित्यादयः। एवं सर्वपदार्थेष्वपि नानानयमताभिज्ञेन शाब्दानार्थांश्च पर्यायान् प्रतीत्य वाच्यम्॥

और जीवत्व इत्यादि आत्माके सहभावी धर्म हैं। [जो धर्म सदा द्रव्यके साथ रहते हैं, उन्हें सहभावी धर्म कहते हैं। सहभावी धर्म गुण भी कहे जाते हैं। (१) व्यवहार नयकी अपेक्षा साकार ज्ञानोपयोग और निराकार दर्शनोपयोग जीवका लक्षण है। ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग जीवसे कभी अलग नहीं होते। चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवलदर्शनके भेदसे दर्शनोपयोग चार, और मति, श्रुति अवधि, मनःपर्यय, केवल, कुमति, कुश्रुति, और कुवधि ज्ञानके भेदसे ज्ञानोपयोग आठ प्रकारका है। निश्चय नयसे शुद्ध अखंड केवलज्ञान ही जीवका लक्षण है। नैयायिक लोग ज्ञान और दर्शनको आत्माका स्वभाव न मानकर उन्हें आत्माके साथ समवाय संबंधसे संबद्ध मानते हैं, इसलिये जीवको उपयोग रूप बताया है। (२) जीव कर्ता है। जीव सांख्योंके पुरुषकी तरह कर्मोंसे निर्लिप्त होकर केवल द्रष्टाकी तरह नहीं रहता, किन्तु ज्ञानावरण आदि कर्मोंका स्वयं करनेवाला निमित्तकर्ता है। यहाँ सांख्य मतके निराकरणके लिये जीवको कर्ता बताया गया है। (३) यह जीव सुख-दुख रूप कर्मोंके फलका भोग करता है। क्षणिकवादी बौद्धोंके मतमें जो कर्ता है, वह भोक्ता नहीं हो सकता, इसलिये जीवको भोक्ता कहा गया है। (४) जीवके आठ मध्यप्रदेश सदा एकसे अवस्थित रहते हैं। अयोगकेवली और सिद्धोंके सम्पूर्ण प्रदेश स्थिर रहते हैं। व्यायाम दुख, परिताप आदिसे युक्त जीवोंके आठ प्रदेशोंके अतिरिक्त बाकीके प्रदेश प्रवृत्तिशील होते हैं। शेष जीवोंके प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति दोनों रूप प्रदेश होते हैं। (५) यह जीव स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णसे रहित है, इसलिये निश्चय नयसे अमूर्त है। (६) जीव लोकाकाशके बराबर असंख्यात प्रदेशोंका धारक है। वास्तवमें जैन दर्शनके अनुसार नैयायिक, मीमांसक आदि दर्शनोंकी तरह जीवको प्रदेशोंकी अपेक्षा व्यापक नहीं माना, किन्तु जैन दर्शनमें ज्ञानकी अपेक्षा व्यवहार नयसे व्यापक कहा है।[2] (७) जीवमें जीवत्व जीवका पारिणामिक (स्वाभाविक) भाव है। व्यवहार नयसे दस प्राण, और निश्चय नयसे चेतना जीवका जीवत्व है।] हर्ष विषाद, शोक, सुख, दुख, देव, मनुष्य, नारक, तिर्यंच आदि अवस्था जीवके क्रमभावी अर्थात् क्रमसे उत्पन्न और नष्ट होनेवाले धर्म हैं। (क्रमभावी धर्मोंका दूसरा नाम पर्याय भी है।) (१) धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय प्रत्येक द्रव्यमें असंख्यात प्रदेश (अविभाज्य अंश) होते हैं। (२) जिस प्रकार जल मछलीके चलानेमें सहायता करता है, और वृक्षकी छाया पथिकके ठहरानेमें निमित्त होती है, उसी तरह धर्म गतिशील पदार्थोंकी गतिमें, और अधर्म ठहरनेवाले पदार्थोंकी स्थितिमें निमित्त कारण होते हैं। (३) धर्म और अधर्म मति, श्रुति आदि ज्ञानोंसे निश्चित किये जाते हैं। (४) धर्म और अधर्म अपने स्वरूपको छोड़कर पररूप नहीं होते, इसलिये परस्पर मिश्रण न होनेसे अवस्थित हैं। (५) धर्म और अधर्म स्पर्श आदिसे रहित होनेसे अरूपी हैं। (६) एक व्यक्तिरूप होनेसे एक हैं, तथा (७) क्रिया रहित होनेसे निष्क्रिय हैं। इसी प्रकार घड़ेमें कच्चापन, पक्कापन, मोटापन, चौड़ापन, कम्बुग्रीवापन (शंख जैसी गर्दन) जलधारण, जलआहरण, ज्ञेयपन, नयापन, पुरानापन आदि अनन्त धर्म रहते हैं। अतएव नाना नयोंकी दृष्टिसे शब्द और अर्थकी अपेक्षा प्रत्येक पदार्थमें अनन्त धर्म विद्यमान हैं।

---

१. नित्यावस्थितान्यरूपाणि। आ आकाशादेकद्रव्याणि। निष्क्रियाणि च। असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मयोः। गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारः। तत्त्वार्थाधिगमभाष्ये पंचमाध्याये सूत्राणि।

२. देखिये द्रव्यसंग्रहवृत्ति गा: १०।

अत्र चात्मशब्देनानन्तेष्वपि धर्मेष्वनुवृत्तिरूपमन्वयिद्रव्यं ध्वनितम्। ततश्च "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इति व्यवस्थितम्। एवं तावदर्थेषु। शब्देष्वपि उदात्तानुदात्तस्वरितविवृतसंवृतघोषवदघोषताल्पप्राणमहाप्राणतादयः तत्तदर्थप्रत्यायनशक्त्यादयश्चावसेयाः। अस्य हेतोरसिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वादिकण्टकोद्धारः स्वयमभ्यूह्यः। इत्येवमुल्लेखशेखराणि ते तव प्रमाणान्यपि न्यायोपपन्नसाधनवाक्यान्यपि। आस्तां तावद् साक्षात्कृतद्रव्यपर्यायनिकायो भवान्। यावदेतान्यपि कुवादिकुरङ्गसन्त्रासनसिंहनादाः कुवादिनः कुत्सितवादिनः। एकांशग्राहकनयानुयायिनोऽन्यतीर्थिकास्त एव संसारवनगहनवसनव्यसनितया कुरङ्गा मृगास्तेषां सम्यक्त्रासने सिंहनादा इव सिंहनादाः। यथा सिंहस्य नादमात्रमप्याकर्ण्य कुरङ्गास्त्रासमासूत्रयन्ति, तथा भवत्प्रणीतैवंप्रकारप्रमाणवचनान्यपि श्रुत्वा कुवादिनस्त्रस्नुतामश्नुवते प्रतिवचनप्रदानकातरतां बिभ्रतीति यावत्। एकैकं त्वदुपज्ञं प्रमाणमन्ययोगव्यवच्छेदकमित्यर्थः॥

अत्र प्रमाणानि इति बहुवचनमेवंजातीयानां प्रमाणानां भगवच्छासने आनन्त्यज्ञापनार्थम्, एकैकस्य सूत्रस्य सर्वोदधिसलिलसर्वसरिद्वालुकानन्तगुणार्थत्वात् तेषां च सर्वेषामपि सर्वविन्मूलतया प्रमाणत्वात्। अथवा "इत्यादिबहुवचनान्ता गणस्य संसूचका भवन्ति" इति न्यायाद् इतिशब्देन प्रमाणबाहुल्यसूचनात् पूर्वार्द्धे एकस्मिन् अपि प्रमाणे उपन्यस्ते उचितमेव बहुवचनम्॥ इति काव्यार्थः॥२२॥

अनन्तरमनन्तधर्मात्मकत्वं वस्तुनि साध्यं मुकुलितमुक्तम्। तदेव सप्तभङ्गीप्ररूपणद्वारेण प्रपञ्चयन् भगवतो निरतिशयं वचनातिशयं च स्तुवन्नाह—

'अनन्त धर्मात्मक' शब्दमें आत्मा शब्दसे अनंत पर्यायोंमें रहनेवाले नित्य द्रव्यका सूचन होता है। अतएव "उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ही 'सत्' का लक्षण है।" पदार्थोंकी तरह शब्दोंमें भी उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, विवृत, संवृत, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण आदि तथा पदार्थोंके ज्ञान करानेकी शक्ति आदि अनन्त धर्म पाये जाते हैं। 'तत्त्वं अनंतधर्मात्मकं सत्त्वान्यथानुपपत्तेः' इस अनुमानमें जो 'सत्त्वान्यथानुपपत्तेः' हेतु दिया गया है उसके असिद्धत्व, विरुद्धत्व, अनैकांतिकत्व आदि दोषोंके परिहार पर स्वयं विचार करना चाहिये। हे भगवन्! आपकी बात तो दूर रही, आपके न्याययुक्त वचन ही कुवादीरूपी हरिणोंको संत्रस्त करनेके लिये सिंहकी गर्जनाके समान हैं। जिस प्रकार सिंहकी गर्जनाको सुनकर जंगलके हरिण भयभीत होते हैं, उसी प्रकार आपके स्याद्वादका निरूपण करनेवाले वचनोंको सुनकर वस्तुके केवल अंशमात्रको ग्रहण करनेवाले, संसाररूपी गहन वनमें फिरनेवाले कुवादी लोग संत्रस्त होते हैं।

एक एक विषयको खंडन करनेवाले बहुतसे प्रमाणोंका सूचन करनेके लिये श्लोकमें 'प्रमाणानि' बहुवचन दिया है; क्योंकि भगवान्के प्रत्येक सूत्र सम्पूर्ण समुद्रोंके जलसे और सम्पूर्ण नदियोंकी बालुकासे भी अनंतगुने हैं और वे सम्पूर्ण सूत्र सर्वज्ञ भगवान्के कहे हुए हैं, इसलिए प्रमाण हैं। अथवा "इति, आदि बहुवचनवाले शब्दसमूहके सूचक होते हैं" इस न्यायसे 'इति' शब्दसे बहुतसे प्रमाणोंका सूचन होता है, अतएव श्लोकके पूर्वार्धमें एक प्रमाणका उल्लेख करनेपर भी बहुवचन समझना चाहिये॥ यह श्लोका अर्थ है॥२२॥

भावार्थ—इस श्लोकमें प्रत्येक वस्तुको अनंत धर्मवाली सिद्ध किया गया है। जैन सिद्धांतके अनुसार यदि पदार्थोंमें अनंत धर्म स्वीकार न किये जाँय, तो वस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती अतएव, 'प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है, क्योंकि वस्तुमें अनंत धर्म माने बिना वस्तुमें वस्तुत्व सिद्ध नहीं हो सकता। जो अनन्त धर्मात्मक नहीं होता, वह सत् भी नहीं होता। जैसे आकाश।' अतएव जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल सम्पूर्ण द्रव्योंमें अनन्त धर्म स्वीकार करने चाहिये।

वस्तुमें अनन्त धर्म होते हैं, इसीको सात भंगों द्वारा प्ररूपण करते हुए भगवान्के निरतिशय वचनातिशयकी स्तुति करते हुए कहते हैं—

अपर्ययं वस्तु समस्यमानमद्रव्यमेतच्च विविच्यमानम् ।
आदेशभेदोदितसप्तभङ्गमदीदृशस्त्वं बुधरूपवेद्यम् ॥२३॥

समस्यमानं संक्षेपेणोच्यमानं वस्तु अपर्ययम् अविवक्षितपर्यायम् । वसन्ति गुणपर्याया अस्मिन्निति वस्तु धर्माधर्माकाशपुद्गलकालजीवलक्षणं द्रव्यषट्कम्[1] । अयमभिप्रायः । यदैकमेव वस्तु आत्मघटादिकं चेतनाचेतनं सतामपि पर्यायाणामविवक्षया द्रव्यरूपमेव वस्तु वक्तुमिष्यते । तदा संक्षेपेणाभ्यन्तरीकृतसकलपर्यायनिकायत्वलक्षणेनाभिधीयमानत्वात् अपर्ययमित्युपदिश्यते । केवलद्रव्यरूपमेव इत्यर्थः । यथात्मायं घटोऽयमित्यादि, पर्यायाणां द्रव्यानतिरेकात् । अतएव द्रव्यास्तिकनयाः शुद्धसंग्रहादयो द्रव्यमात्रमेवेच्छन्ति पर्यायाणां तदविष्वग्भूतत्वात् । पर्ययः पर्यवः पर्याय इत्यनर्थान्तरम् । अद्रव्यमित्यादि । चः पुनरर्थे । स च पूर्वस्माद् विशेषद्योतने भिन्नक्रमश्च । विविच्यमानं चेति विवेकेन पृथग्रूपतयोच्यमानं पुनरेतद् वस्तु अद्रव्यमेव । अविवक्षितान्वयिद्रव्यं केवलपर्यायरूपमित्यर्थः ॥

यदा ह्यात्मा ज्ञानदर्शनादीन् पर्यायानधिकृत्य प्रतिपर्यायं विचार्यते, तदा पर्याया एव

श्लोकार्थ—सहभावी और क्रमभावी पर्यायोंसे युक्त होनेपर भी संक्षेपमें कथन किये जाने पर जिसकी पर्यायें गौण होती हैं, और विस्तारसे कथन किये जानेपर जिसकी पर्यायोंकी मुख्यता होती हैं, तथा सकलादेश (प्रमाण) और विकलादेश (नय) के भेदसे जिसके सात अंगोंका प्ररूपण किया गया है, ऐसी पंडितों द्वारा समझने योग्य वस्तुका, हे भगवन् ! आपने ही प्रतिपादन किया है ।

व्याख्यार्थ—जब वस्तुका कथन संक्षेपमें किया जाता है, तब उसकी पर्याय विवक्षित नहीं होती—वे गौण होती हैं । जिसमें गुण और पर्यायें रहती हैं, वह वस्तु धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, काल और जीव--इन छह द्रव्यों [देखिये परिशिष्ट (क)] में विभक्त की जाती है । (कोई आचार्य कालको पृथक् द्रव्य नहीं मानते । उनके मतमें पाँच ही द्रव्य हैं) अभिप्राय यह है—चेतनात्मक आत्मरूप और अचेतनात्मक घट आदि रूप एक ही वस्तुकी पर्यायोंके विद्यमान होने पर भी, उन पर्यायोंके कथन करनेकी इच्छा न होनेसे—उन्हें गौण कर देनेसे—द्रव्यमात्र रूप वस्तुका कथन करना ही इष्ट होता है । अतएव संक्षेपसे प्रतिपादित समस्त पर्यायसमूहके अन्तर्भाव होनेसे 'अपर्ययय' शब्दका प्रयोग किया गया है । 'अपर्यय'का अर्थ है केवल द्रव्यरूप । उदाहरणके लिये, 'यह आत्मा है', 'यह घट है'—कहने पर, आत्मा और घटकी पर्यायें विद्यमान होनेपर भी, उनके आत्मा और घटसे भिन्न न होनेके कारण, उनका निर्देश नहीं किया जाता; क्योंकि वे विवक्षित नहीं हैं । अतएव द्रव्यास्तिक नयरूप शुद्ध संग्रह आदि नयोंको अपने विषयरूपसे द्रव्यमात्र ही इष्ट होता है, क्योंकि पर्यायें द्रव्यसे भिन्न नहीं होतीं । 'पर्यय', 'पर्यव' 'पर्याय' शब्द पर्यायवाची हैं । जब पर्यायोंका द्रव्यसे भिन्नरूपसे कथन किया जाता है तब अन्वयि द्रव्यकी विवक्षा न होनेसे वस्तु केवल पर्यायरूप होती है ।

जिस समय आत्माकी ज्ञान, दर्शन आदि पर्यायोंकी मुख्यतासे आत्माका विचार किया जाता है,

---

१. केषांचिदाचार्याणां मते पंचास्तिकाया एव । कालो द्रव्यं पृथग् नास्ति । जीवादिवस्त्वपि कदाचित् कालशब्देन उच्यते । तथा चागमः । "किमयं भंते, कालोत्ति पवुच्चइ, गोयमा ! जीवा चेव अजीवा चेवत्ति" । अन्ये तु आचार्याः संगिरन्ते । अस्ति धर्मास्तिकायादिद्रव्यपंचकव्यतिरिक्तम् अर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रान्तर्वर्ति षष्ठं कालद्रव्यं, यन्निबन्धा एते ह्यः श्व इत्यादयः प्रत्ययाः शब्दाश्च प्रादुर्भवन्ति । आगमश्च । "कइ णं भंते दव्वा पण्णत्ता ? गोयमा ! छ दव्वा पण्णत्ता । तं जहा–धम्मत्थिकाये अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, पुग्गलत्थिकाए जीवत्थिकाए अद्धासमये य" । हरिभद्रकृतधर्मसंग्रहिण्यां मलयगिरिटीकायां गा. ३२

प्रतिभासन्ते, न पुनरात्माख्यं किमपि द्रव्यम्। एवं घटोऽपि कुण्डलौष्ठपृथुबुध्नोदरपूर्वापरादिभागाद्यवयवापेक्षया विविच्यमानः पर्याया एव, न पुनर्घटाख्यं तदतिरिक्तं वस्तु। अतएव पर्यायास्तिकनयानुपातिनः पठन्ति—

"भागा एव हि भासन्ते संनिविष्टास्तथा तथा।
तद्वान्नैव पुनः कश्चिन्निर्भागः संप्रतीयते" ॥

इति। ततश्च द्रव्यपर्यायोभयात्मकत्वेऽपि वस्तुनो द्रव्यनयार्पणया पर्यायनयानर्पणया च द्रव्यरूपता, पर्यायनयार्पणया द्रव्यनयानर्पणया च पर्यायरूपता, उभयनयार्पणया च तदुभयरूपता। अत एवाह **वाचकमुख्यः** "अर्पितनर्पितासिद्धेः"[1] इति। एवंविधं द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु त्वमेवादीदृशस्त्वमेव दर्शितवान् नान्य इति काकावधारणावगतिः ॥

नन्वन्याभिधानप्रत्यययोग्यं द्रव्यम्, अन्याभिधानप्रत्ययविषयाश्च पर्यायाः। तत्कथमेकमेव वस्तूभयात्मकम्? इत्याशङ्क्य विशेषणद्वारेण परिहरति आदेशभेदेत्यादि। आदेशभेदेन सकलादेशविकलादेशलक्षणेन आदेशद्वयेन उदिताः प्रतिपादिताः सप्तसंख्या भङ्गा वचनप्रकारा यस्मिन् वस्तुनि तत्तथा। ननु यदि भगवता त्रिभुवनबन्धुना निर्विशेषतया सर्वेभ्य एवंविधं वस्तुतत्त्वमुपदर्शितम्, तर्हि किमर्थं तीर्थान्तरीयाः तत्र विप्रतिपद्यन्ते? इत्याह बुधरूपवेद्यम् इति। बुध्यन्ते यथावस्थितं वस्तुतत्त्वं सारेतरविषयविभागविचारणया इति बुधाः। प्रकृष्टाः बुधाः बुधरूपाः नैसर्गिकाधिगमिकान्यतरसम्यग्दर्शनविशदीकृतज्ञानशालिनः प्राणिनः। तैरेव

उस समय केवल ज्ञान, दर्शन आदि पर्यायोंका ही ज्ञान होता है, आत्मा कोई भिन्न पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता। इसी प्रकार जब हम घटके मोटेपन, गोलपन, पूर्वभाग, अपरभाग आदि अवयवोंको देखते हैं, उस समय हमें घट द्रव्यका अलग ज्ञान न होकर घटकी पर्यायोंका ही ज्ञान होता है। अतएव पर्यायास्तिक नयको माननेवाले कहते हैं—

"उस प्रकारसे पारस्परिक घनिष्ठ संयोगको प्राप्त अंश–अवयव–ही प्रतिभासित होते हैं। अंशवान् पदार्थ ही प्रतिभासित होता है, कोई निरंश द्रव्य दिखाई ही नहीं देता।"

अतएव प्रत्येक वस्तुके द्रव्य, पर्याय और उभयरूप होनेपर भी द्रव्यनयकी मुख्यतासे और पर्यायनयकी गौणतासे वस्तुका ज्ञान द्रव्यरूप, पर्यायनयकी मुख्यता और द्रव्यनयकी गौणतासे वस्तुका ज्ञान पर्याय रूप, तथा द्रव्य और पर्याय दोनोंकी प्रधानतासे वस्तुका ज्ञान उभयरूप होता है। वाचकमुख्य उमास्वातिने कहा भी है—"द्रव्य और पर्यायकी मुख्यता और गौणतासे वस्तुकी सिद्धि होती है।" वस्तुका यह द्रव्य और पर्यायरूप स्वरूप आपने (जिन भगवान्ने) ही प्ररूपण किया है, दूसरे किसीने नहीं। यहाँ अवधारणका ज्ञान काकुसे होता है।

शंका—द्रव्य और पर्याय दोनों भिन्न-भिन्न अभिधान और भिन्न-भिन्न ज्ञानके विषय होते हैं अतएव एक वस्तुको द्रव्य और पर्याय दोनों रूप नहीं कह सकते। **समाधान**—इस शंकाका परिहार 'आदेशभेद' विशेषणसे किया गया है। हमलोग सकल और विकल आदेशके भेदसे द्रव्य और पर्यायरूप वस्तुको मानते हैं। इसी सकलादेश (प्रमाण) और विकलादेश (नय) के ऊपर सप्तभंगी नय अवलम्बित है। **शंका**—यदि तीनों लोकोंके बन्धु जिन भगवान्ने प्रत्येक वस्तुका सामान्य रूपसे सब लोगोंके लिये सप्तभंगी द्वारा विवेचन किया है, तो अन्य वादी लोग सप्तभंगीके सिद्धांतको क्यों नहीं मानते? **समाधान**—सप्तभंगी नयके सूक्ष्म तत्त्वको निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध उत्कृष्ट विद्वान हो समझ सकते हैं। केवल अपने

---

१. तत्त्वार्थाधिगमसूत्रे ५–३२।

वेदितुं शक्यं वेद्यं परिच्छेद्यम्, न पुनः स्वस्वशास्त्रतत्त्वाभ्यासपरिपाकशाणानिशातबुद्धिभिरप्यन्यैः, तेषामनादिमिथ्यादर्शनवासनादूषितमतितया यथावस्थितवस्तुतत्त्वानवबोधेन बुधरूपत्वाभावात्। तथा चागमः—

"सदसदविसेसणाउ भवहेउजहिट्ठिओवलंभाउ।
णाणफलाभावाउ मिच्छादिट्ठिस्स अण्णाणं"[1] ॥

अतएव तत्परिगृहीतं द्वादशाङ्गमपि मिथ्याश्रुतमामनन्ति, तेषामुपपत्तिनिरपेक्षं यदृच्छया वस्तुतत्त्वोपलम्भसंरम्भात्। सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतं तु मिथ्याश्रुतमपि सम्यक्श्रुततया परिणमति। सम्यग्दृशां सर्वविदुपदेशानुसारिप्रवृत्तितया मिथ्याश्रुतोक्तस्याप्यर्थस्य यथावस्थितविधिनिषेधविषयतयोन्नयनात्। तथाहि किल वेदे "अजैर्यष्टव्यम्" इत्यादिवाक्येषु मिथ्यादृशोऽजशब्दं पशुवाचकतया व्याचक्षते, सम्यग्दृशस्तु जन्माप्रायोग्यं त्रिवार्षिकं यवव्रीह्यादि पञ्चवार्षिकं तिलमसूरादि सप्तवार्षिकं कङ्गुसर्षपादि धान्यपर्यायतया पर्यवसाययन्ति। अतएव च भगवता **श्रीवर्धमानस्वामिना** "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्यसंज्ञास्ति"[2] इत्यादिऋचः **श्रीमदिन्द्रभूत्यादीनां** द्रव्यगणधरदेवानां[3] जीवादिनिषेधकतया[4]

अपने शास्त्रोंके अभ्यास करनेसे कुण्ठित बुद्धिवाले पुरुष इस गहन तत्त्वको नहीं समझ सकते, क्योंकि इन लोगोंकी बुद्धि अनादिकालकी अविद्या वासनासे दूषित रहती है, इसलिये ये लोग पदार्थोंका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं कर सकते। आगममें भी कहा है—

"सत् और असत्का विवेक न होनेसे, कर्मोंके सद्भावसे और ज्ञानके फलका अभाव होनेसे मिथ्यादृष्टिके अज्ञान उत्पन्न होता है।"

अतएव उनके द्वारा ज्ञात द्वादशांग [देखिये परिशिष्ट (क)] शास्त्रको भी मिथ्यादृष्टि मिथ्याश्रुत समझता है, क्योंकि युक्तिवादसे निरपेक्ष अपनी इच्छानुसार वस्तुको जाननेकी इच्छा प्रवल होती है। सम्यदृष्टि द्वारा ज्ञात मिथ्याश्रुत भी समीचीन श्रुतके रूपसे परिणत होता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि सर्वज्ञ भगवान्के उपदेशके अनुसार चलता है, इसलिये वह मिथ्या आगमोंका भी यथोचित विधि-निषेध रूप अर्थ कर उनके द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है। (क) उदाहरणके लिये "अजैर्यष्टव्यम्" इस वेदवाक्यमें मिथ्यादृष्टि 'अज' शब्दका अर्थ पशु, और सम्यग्दृष्टि उत्पन्न न होने योग्य तीन बरसके पुराने जौ, धान आदि; पाँच बरसके पुराने तिल, मसूर आदि; तथा सात बरसके पुराने कांगनी, सरसों आदि धान्य अर्थ करते हैं। (ख) अतएव भगवान् श्रीवर्द्धमानस्वामीने—"यह विज्ञानघन आत्मा इन भूतोंसे उत्पन्न होकर भूतोंमें तिरोहित हो जाता है, उसके परलोक नहीं है" (विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति

---

१. छाया—सदसदविशेषणतः भवहेतुयथास्थितोपलम्भात्। ज्ञानफलाभावान्मिथ्यादृष्टेरज्ञानम् ॥ विशेषावश्यके ११५।

२. वृहदारण्यके २--४--१२।

३. इंद्रभूतिरग्निभूतिर्वायुभूतिः सहोद्भवाः। व्यक्तः सुधर्मा मण्डितमौर्यपुत्रौ सहोदरौ ॥ अकम्पितोऽचलभ्राता मेतार्यश्च प्रभासकः। इत्येकादश गणधराः।

४. विज्ञानमेव घनानन्दादिरूपत्वात् विज्ञानघनः स एव एतेभ्योऽध्यक्षतः परिच्छिद्यमानस्वरूपेभ्यः पृथिव्यादिलक्षणेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय उत्पद्य पुनस्तान्येवानुविशयति तान्येव भूतानि अनुसृत्य विनश्यति तत्रैवाव्यक्तरूपतया संलीनो भवतीति भावः। न प्रेत्यसंज्ञास्ति मृत्वा पुनर्जन्म प्रेत्येत्युच्यते तत्संज्ञास्ति न परलोकसंज्ञास्तीति भावः।

प्रतिभासमाना अपि तद्व्यवस्थापकतया[1] व्याख्याताः। तथा स्मार्ता अपि—

"न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला"[2] ॥

इति श्लोकं पठन्ति। अस्य च यथाश्रुतार्थव्याख्यानेऽसम्बद्धप्रलाप एव। यस्मिन् हि अनुष्ठीयमाने दोषो नास्त्येव तस्मान्निवृत्तिः कथमिव महाफला भविष्यति, इज्याध्ययनदानादेरपि निवृत्तिप्रसङ्गात्। तस्माद् अन्यद् ऐदंपर्यमस्य श्लोकस्य। तथाहि। न मांसभक्षणे कृतेऽदोषः अपि तु दोष एव। एवं मद्यमैथुनयोरपि। कथं नादोष इत्याह। यतः प्रवृत्तिरेषा भूतानाम्। प्रवर्तन्त उत्पद्यन्तेऽस्यामीति प्रवृत्तिरुत्पत्तिस्थानम्। भूतानां जीवानाम् तत्तज्जीवसंसक्तिहेतुरित्यर्थः ॥

प्रसिद्धं च मांसमद्यमैथुनानां जीवसंसक्तिमूलकारणत्वमागमे—

न प्रेत्यसंज्ञास्ति) आदि ऋचाओंका (महावीर स्वामीके गणधर बननेसे पहले) श्रीइन्द्रभूति आदि वैदिक विद्वान जीव आदिका निषेध करते थे, परन्तु महावीर भगवान्ने उक्त वाक्यका "ज्ञान पाँच भूतोंके निमित्तसे कथंचित् उत्पन्न होता है, और पाँच भूतोंमें परिवर्तन होनेसे ज्ञानमें परिवर्तन होता है, अतएव ज्ञानकी पूर्व संज्ञा नहीं रहती" यह अर्थ करके जीव आदिकी सिद्धि की है। (ग) स्मार्त लोगोंका कहना है—

"न माँस खानेमें दोष है, न मद्य और मैथुन सेवन करनेमें पाप है, क्योंकि यह प्राणियोंका स्वभाव है। हाँ, यदि माँस आदिसे निवृत्ति हो सके, तो इससे महान् फल होता है" (न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने। प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला)।

परन्तु ये वाक्य केवल प्रलाप मात्र हैं। कारण कि यदि माँस आदिके भक्षणमें दोष नहीं है, तो उनसे निवृत्त होना महान् फल नहीं कहा जा सकता। यदि माँस आदिके सेवन करनेपर भी दोष न मानकर उनसे निवृत्त होनेको महान् फल माना जाय, तो पूजा, अध्ययन, दान आदिके अनुष्ठानसे निवृत्त होनेको भी महान् फल कहना चाहिये। अतएव "माँसके भक्षण करनेमें पुण्य (अदोष) नहीं है (न मांसभक्षणेऽदोषो), तथा मद्य और मैथुन सेवन करनेमें भी दोष है, क्योंकि माँस, मद्य और मैथुन जीवोंकी उत्पत्तिके स्थान हैं (प्रवृत्तिः—उत्पत्तिस्थानं एषा भूतानाम्)। अतएव इनसे निवृत्त होना चाहिये"—यह श्लोकका अर्थ करना चाहिये।

आगममें भी मांस, मद्य और मैथुनको जीवोंकी उत्पत्तिका स्थान बताया है—

---

१. ननूच्छेदाभिधानमेतत् 'एतेभ्यो भूतेभ्यो समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्यसंज्ञाति' (बृह० २–४–१२) इति, कथमेतदभेदाभिधानम्। नैष दोषः। विशेषविज्ञानविनाशाभिप्रायमेतद्विनाशाभिधानं नात्मोच्छेदाभिप्रायम्। 'अत्रैव मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य संज्ञास्ति' इति पर्यनुयुज्य स्वयमेव श्रुत्यर्थान्तरस्य दर्शितत्वात्— 'न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति' इति। एतदुक्तं भवति। कूटस्थनित्य एवायं विज्ञानघन आत्मा नास्योच्छेदप्रसंगोऽस्ति। मात्राभिस्त्वस्य भूतेन्द्रियलक्षणाभिरविद्याकृताभिरसंसर्गो विद्यया भवति। संसर्गाभावे च तत्कृतस्य विशेषविज्ञानस्याभावान्न प्रेत्य संज्ञास्तीत्युक्तमिति। ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्ये १–४–२२। अत्र हेमचन्द्रकृतत्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरितम् (१०–५–७७, ७८) हरिभद्रीयावश्यकवृत्तिश्च विलोकनीया।

२. मनुस्मृतौ ५–५६

"आमासु य पक्कासु य विपच्चमाणासु मंसपेसीसु ।
आयंतिअमुववाओ भणिओ उ णिगोअजीवाणं ॥ १ ॥
मज्जे महुम्मि मंसम्मि णवणीयम्मि चउत्थए ।
उप्पज्जंति अणंता तव्वण्णा तत्थ जंतूणो ॥ २ ॥
मेहुणसण्णारूढो णवलक्ख हणेइ सुहुमजीवाणं ।
केवलिणा पण्णत्ता सद्दहिअव्वा सया कालं ॥ ३ ॥"[२]

तथाहि—

"इत्थीजोणीए संभवंति वेइंदिया उ जे जीवा ।
इक्को व दो व तिण्णि व लक्खपुहुत्तं उ उक्कोसं ॥ ४ ॥
पुरिसेण सह गयाए तेसिं जीवाण होइ उद्दवणं ।
वेणुगदिट्ठंतेणं तत्तायसलागणाएणं ॥ ५ ॥"

संसक्तायां योनौ द्वींद्रिया एते । शुक्रशोणितसंभवास्तु गर्भजपञ्चेन्द्रिया इमे ।

"पंचिंदिया मणुस्सा एगणरभुत्तणारिगब्भम्मि ।
उक्कोसं णवलक्खा जायंति एगवेलाए ॥ ६ ॥
णवलक्खाणं मज्झे जायइ इक्कस्स दोण्ह य समत्ती ।
सेसा पुण एमेव य विलयं वच्चंति तत्थेव ॥ ७ ॥"

"कच्चे, पक्के और अग्निमें पकाये हुए मांसकी प्रत्येक अवस्थाओंमें अनन्त निगोद जीवोंकी उत्पत्ति होती रहती है ॥ १ ॥

मद्य, मधु, मांस और मक्खनमें मद्य, मधु, मांस और मक्खनके रंगके अनंत जीवोंकी उत्पत्ति होती है ॥ २ ॥

केवली भगवान्ने मैथुनके सेवन करनेमें नौ लाख जीवोंका घात बताया है, इसमें सदा विश्वास करना चाहिये ॥ ३ ॥"

तथा—

स्त्रियोंकी योनिमें दो इन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं । इन जीवोंकी संख्या एक, दो, तीनसे लगा कर लाखों तक पहुँच जाती है ॥ ४ ॥

जिस समय पुरुष स्त्रीके साथ संभोग करता है, उस समय जैसे अग्निसे तपाई हुई लोहेकी सलाईको बाँसको नलीमें डालनेसे नलीमें रक्खे हुए तिल भस्म हो जाते हैं, वैसे ही पुरुषके संयोगसे योनिमें रहनेवाले सम्पूर्ण जीवोंका नाश हो जाता है ॥ ५ ॥"

अब रज और वीर्यसे उत्पन्न होनेवाले गर्भज पंचेन्द्रिय जीवोंकी संख्या कहते हैं—

पुरुष और स्त्रीके एक बार संयोग करनेवर स्त्रीके गर्भमें अधिकसे अधिक नौ लाख पंचेन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं ॥ ६ ॥

इन नौ लाख जीवोंमें एक या दो जीव जीते हैं, बाकी सब जीव नष्ट हो जाते हैं ॥ ७ ॥"

१. रत्नशेखरसूरिकृतसम्बोधसप्ततिकायां ६६, ६५, ६३ ।

२. छाया—आमासु च पक्वासु च विपच्यमानासु मांसपेशीषु । आत्यन्तिकमुपपादो भणितस्तु निगोदजीवानाम् ॥
मद्ये मधुनि मांसे नवनीते चतुर्थके । उत्पद्यन्तेऽनन्ताः तद्वर्णास्तत्र जंतवः ।
मैथुनसंज्ञारूढो नवलक्षं हन्ति सूक्ष्मजीवानाम् । केवलिना प्रज्ञप्ताः श्रद्धातव्याः सदाकालम् ॥
स्त्रीयोनौ सम्भवन्ति द्वीन्द्रियास्तु ये जीवाः । एको वा द्वौ वा त्रयो वा लक्षपृथुत्वं चोत्कृष्टम् ॥
पुरुषेण सह गतायां तेषां जीवानां भवति उद्द्रवणम् । वेणुकदृष्टान्तेन तप्तायसशलाकाज्ञातेन ॥
पंचेन्द्रिया मनुष्या एकनरभुक्तनारीगर्भे । उत्कृष्टं नवलक्षा जायन्ते एकवेलायाम् ॥
नवलक्षाणां मध्ये जायते एकस्य द्वयोर्वा समाप्तिः । शेषाः पुनरेवमेव च विलयं व्रजन्ति तत्रैव ॥

तदेवं जीवोपमर्दहेतुत्वाद् न मांसभक्षणादिकमदुष्टमिति प्रयोगः ॥

अथवा भूतानां पिशाचप्रायाणामेषा प्रवृत्तिः । त एवात्र मांसभक्षणादौ प्रवर्तन्ते न पुनर्विवेकिन इति भावः । तदेवं मांसभक्षणादेर्दुष्टतां स्पष्टीकृत्य यदुपदेष्टव्यं तदाह । "निवृत्तिस्तु महाफला" । तुरेवकारार्थः । "तुः स्याद् भेदेऽवधारणे"[1] इति वचनात् । ततश्चैतेभ्यो मांसभक्षणादिभ्यो निवृत्तिरेव महाफला स्वर्गापवर्गफलप्रदा । न पुनः प्रवृत्तिरपीत्यर्थः । अतएव स्थानान्तरे पठितम्—

"वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः ।
मांसानि च न खादेद् यस्तयोस्तुल्यं भवेत् फलम्[2] ॥ १ ॥
एकरात्रौषितस्यापि या गतिर्ब्रह्मचारिणः ।
न सा क्रतुसहस्रेण प्राप्तुं शक्या युधिष्ठिर" ॥ २ ॥

मद्यपाने तु कृतं सूत्रानुवादैः, तस्य सर्वविगर्हितत्वात् । तानेवं प्रकारानर्थान् कथमिव बुधाभासास्तीर्थिका वेदितुमर्हन्तीति कृतं प्रसङ्गेन ॥

अथ केऽमी सप्तभङ्गाः, कश्चायमादेशभेद इति ? उच्यते । एकत्र जीवादौ वस्तुनि एकैकसत्त्वादिधर्मविषयप्रश्नवशाद् अविरोधेन प्रत्यक्षादिबाधापरिहारेण पृथग्भूतयोः समुदितयोश्च विधिनिषेधयोः पर्यालोचनया कृत्वा स्याच्छब्दलाञ्छितो वक्ष्यमाणैः सप्तभिः प्रकारैर्वचनविन्यासः सप्तभङ्गीति गीयते । तद्यथा । १ स्यादस्त्येव सर्वमिति विधिकल्पनया प्रथमो भङ्गः ।

इस प्रकार माँस, मैथुन आदिके सेवन करनेसे अनन्त जीवोंका नाश होता है, अतएव इनका सेवन करना दोषपूर्ण है ।

अथवा, माँस-भक्षण आदिमें भूत-पिशाचोंकी ही प्रवृत्ति होती है । भूत-पिशाच जैसे ही माँस खानेमें प्रवृत्त होते हैं, विवेकी लोग नहीं । अतएव "माँस आदिसे निवृत्त होना ही महान् फल है ।" "'तु' शब्दका प्रयोग निश्चय अर्थमें होता है" । इसलिये मांस आदिके त्याग करनेसे स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति होती है । कहा भी है—

"प्रत्येक वर्ष सौ बार यज्ञ करनेवाले और माँस भक्षण न करनेवाले दोनों पुरुषोंको बराबर फल मिलता है ॥ १ ॥

हे युधिष्ठिर ! एक रात ब्रह्मचर्यसे रहनेवाले पुरुषको जो उत्तम गति मिलती है, वह गति हजारों यज्ञ करनेसे भी नहीं होती ॥ २ ॥

मद्यपानके विषयमें विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह सब जगह लोकमें निंदनीय है । स प्रकारके अर्थोंको अपनेको पंडित समझनेवाले कुवादी लोग नहीं समझ सकते ।

सप्तभंगी—जीव आदि पदार्थोंमें अस्तित्व आदि धर्मोंके विषयमें प्रश्न उठानेपर, विरोधरहित प्रत्यक्ष आदिसे अविरुद्ध, अलग अलग अथवा सम्मिलित विधि और निषेध धर्मोंके विचारपूर्वक 'स्यात्' शब्दसे युक्त सात प्रकारकी वचनरचनाको सप्तभंगी कहते हैं । १ प्रत्येक वस्तु विधि धर्मसे कथंचित् अस्तित्व रूप ही

---

१. अमरकोशे ३–२३९ ।

२. मनुस्मृतौ ५–५३ ।

२ स्यान्नास्त्येव सर्वमिति निषेधकल्पनया द्वितीयः। ३ स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया तृतीयः। ४ स्यादवक्तव्यमेवेति युगपद्विधिनिषेधकल्पनया चतुर्थः। ५ स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधिकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च पञ्चमः। ६ स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति निषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च षष्ठः। ७ स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च सप्तमः॥

तत्र स्यात्कथंचित् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेणास्त्येव सर्वं कुम्भादि, न पुनः परद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेण। तथाहि—कुम्भो द्रव्यतः पार्थिवत्वेनास्ति, नाप्यादिरूपत्वेन। क्षेत्रतः पाटलिपुत्रकत्वेन, न कान्यकुब्जादित्वेन। कालतः शैशिरत्वेन। न वासन्तिकादित्वेन। भावतः श्यामत्वेन, न रक्तादित्वेन। अन्यथेतररूपापत्त्या स्वरूपहानिप्रसङ्ग इति। अवधारणं चात्र भङ्गेऽनभिमतार्थव्यावृत्त्यर्थमुपात्तम् इतरथानभिहिततुल्यतैवास्य वाक्यस्य प्रसज्येत, प्रतिनियतस्वार्थानभिधानात्। तदुक्तम्—

"वाक्येऽवधारणं तावदनिष्टार्थनिवृत्तये।
कर्तव्यमन्यथानुक्तसमत्वात् तस्य कुत्रचित्"[1]॥

तथाप्यस्त्येव कुम्भ इत्येतावन्मात्रोपादाने कुम्भस्य स्तम्भाद्यस्तित्वेनापि सर्वप्रकारेणास्तित्वप्राप्तेः

है (स्यादस्ति); २ प्रत्येक वस्तु निषेध धर्मसे कथंचित् नास्तित्व रूप ही है (स्यान्नास्ति); ३ प्रत्येक वस्तु क्रमसे विधि, निषेध दोनों धर्मोंसे कथंचित् अस्तित्व और नास्तित्व दोनों रूप ही है (स्यादस्तिनास्ति); ४ प्रत्येक वस्तु एक साथ विधि, निषेध धर्मोंसे कथंचित् अवक्तव्य ही है (स्यादवक्तव्य); ५ प्रत्येक वस्तु विधि तथा एक साथ विधि-निषेध धर्मोंसे कथंचित् नास्तित्व और अवक्तव्य रूप ही है (स्यादस्ति अवक्तव्य); ६ प्रत्येक वस्तु निषेध तथा एक साथ विधि-निषेध धर्मोंसे कथंचित् नास्तित्व और अवक्तव्य रूप ही है (स्यान्नास्ति अवक्तव्य); ७ प्रत्येक वस्तु क्रमसे विधि, निषेध तथा एक साथ विधि-निषेध धर्मोंसे कथंचित् अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्य रूप ही है (स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य)।

(१) प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा कथंचित् अस्तित्व रूप ही है, और दूसरे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा कथंचित् नास्तित्व रूप ही है। जैसे, घड़ा द्रव्यकी अपेक्षा पार्थिव रूपसे विद्यमान है, जल रूपसे नहीं; क्षेत्र (स्थान) की अपेक्षा पटना नगरकी अपेक्षा मौजूद है, कन्नौज आदिकी अपेक्षासे नहीं; काल (समय) की अपेक्षा शीत ऋतुकी दृष्टिसे है, वसन्त ऋतु आदिकी दृष्टिसे नहीं; तथा भाव (स्वभाव) की अपेक्षा काले रूपसे मौजूद हैं, लाल आदि रूपसे नहीं। यदि पदार्थोंका अस्तित्व स्व चतुष्टय (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) की अपेक्षाके विना ही स्वीकार किया जाय, तो पदार्थोंका स्वरूप सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि जब तक वस्तुके एक स्वरूपकी दूसरे स्वरूपसे व्यावृत्ति न की जाय, तब तक वस्तुका स्वरूप नहीं बन सकता। इसीलिए यहाँ अनिष्ट पदार्थोंका निराकरण करनेके लिए 'एव' (अवधारण) का प्रयोग किया है। यदि 'एव' का प्रयोग न किया जाय, तो अनिच्छित वस्तुका प्रसंग मानना पड़े। कहा भी है—

"वाक्यमें अवधारणार्थक 'एव' का प्रयोग अनिष्ट अर्थ निराकरण करनेके लिए करना चाहिए; क्योंकि अवधारणार्थक शब्दके प्रयोगके अभावमें वह उक्त वाक्य अनुक्त वाक्यके समान बन जाता है।"

शंका—वाक्यमें अवधारणार्थक प्रयोग करने पर भी 'घट अस्तित्व रूप ही है' (अस्त्येव कुम्भः),

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके १–६–५३।

प्रतिनियतस्वरूपानुपपत्तिः स्यात्। तत्प्रतिपत्तये स्याद् इति शब्दः प्रयुज्यते। स्यात् कथंचिद् स्वद्रव्यादिभिरपीत्यर्थः। यत्रापि चासौ न प्रयुज्यते तत्रापि व्यवच्छेदफलैवकारवद् बुद्धिमद्भिः प्रतीयत एव। यदुक्तम्—

"सोऽप्रयुक्तोऽपि वा तज्ज्ञैः सर्वत्रार्थात्प्रतीयते।
यथैवकारोऽयोगादिव्यवच्छेदप्रयोजनः"[1] ॥

इति प्रथमो भङ्गः ॥

स्यात्कथंचिद् नास्त्येव कुम्भादिः स्वद्रव्यादिभिरिव परद्रव्यादिभिरपि वस्तुनोऽसत्त्वानिष्टौ हि प्रतिनियतस्वरूपाभावाद् वस्तुप्रतिनियतिर्न स्यात्। न चास्तित्वैकान्तवादिभिरत्र नास्तित्वमसिद्धमिति वक्तव्यम्, कथंचित् तस्य वस्तुनि युक्तिसिद्धत्वात्, साधनवत्। न हि क्वचिद् अनित्यत्वादौ साध्ये सत्त्वादिसाधनस्यास्तित्वं विपक्षे नास्तित्वमन्तरेणोपपन्नम्, तस्य साधनत्वाभावप्रसङ्गात्। तस्माद् वस्तुनोऽस्तित्वं नास्तित्वेनाविनाभूतम्, नास्तित्वं च तेनेति।

यह कहनेसे प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, फिर 'स्यात्' शब्दकी कोई आवश्यकता नहीं है। समाधान—'घट अस्तित्व रूप ही है' यह कहनेसे घटके सर्वथा अस्तित्वका ज्ञान होता है। किन्तु 'स्यात्' शब्दके लगानेसे मालूम होता है कि घट पररूप स्तम्भ आदिकी अपेक्षासे सर्वथा अस्तित्व रूप न होकर केवल अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा विद्यमान है; पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा वह सदा नास्ति रूप ही है। अतएव प्रत्येक वस्तु स्व चतुष्टयकी अपेक्षा ही कथंचित् अस्ति रूप है, पर चतुष्टयकी अपेक्षा नहीं, इसी भावको स्पष्ट करनेके लिए 'स्यात्' (कथंचित्) शब्दका प्रयोग किया गया है। प्रत्येक वाक्यमें 'स्यात्' अथवा 'कथंचित्' शब्दके न रहनेपर भी बुद्धिमान लोग उसका अभिप्राय जान लेते हैं। कहा भी है—

"जिस प्रकार अयोगव्यवच्छेदक 'एव' शब्दके प्रयोग किये विना बुद्धिमान प्रकरणसे अर्थ समझ लेते हैं, उसी तरह 'स्यात्' शब्दके प्रयोगके विना भी बुद्धिमान अभिप्राय जान लेते हैं।"

यह प्रथम भंग है।

(२) घट आदि प्रत्येक वस्तु कथंचित् नास्ति रूप ही है। यदि पदार्थको स्व चतुष्टयकी तरह पर चतुष्टयसे भी अस्ति रूप माना जाय, तो पदार्थका कोई भी निश्चित स्वरूप सिद्ध नहीं हो सकता, अतएव एक वस्तुके दूसरे रूप हो जानेसे, वस्तुका कोई निश्चित स्वरूप नहीं कहा जा सकेगा। वस्तु अस्तिरूप होती है, नास्तिरूप कदापि नहीं—यह ऐकान्तिक कथन करनेवालोंके मतमें वस्तुके नास्तित्व धर्मकी सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि जिस प्रकार साधन (हेतु)के पक्ष और सपक्षमें अस्तिरूप और विपक्षमें नास्तिरूप होनेसे, उसमें अस्तित्व और नास्तित्व धर्मोंका (युगपद्) सद्भाव होता है, उसी प्रकार वस्तुमें कथंचित् नास्तित्व युक्तिसे सिद्ध होता है। क्वचित् (शब्द आदिमें) अनित्यत्व आदिको सिद्ध करनेके लिये सत्त्व आदि साधनके पक्ष और सपक्षमें अस्तित्व और विपक्षमें नास्तित्व सिद्ध किये बिना (जहाँ अनित्य नहीं वहाँ सत्त्व नहीं) सिद्धि नहीं कीजा सकती। क्योंकि सत्त्व आदि साधनका विपक्षमें नास्तित्व न हो तो उसके साधनत्वके अभाव होनेका प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। अतएव वस्तुका अस्तिधर्म उसके नास्तित्व धर्मके साथ अविनाभावसे सम्बद्ध है—पर चतुष्टयरूपकी अपेक्षासे वस्तुके नास्तिरूप न होनेपर स्व चतुष्टयकी अपेक्षा उसके अस्तित्व धर्मकी सिद्धि नहीं हो सकती। जिस प्रकार वस्तुका अस्तित्व धर्म नास्तित्व धर्मके साथ अविनाभूत है, उसी प्रकार उसका नास्तित्व धर्म अस्तित्व धर्मके साथ अविनाभूत है। अस्तित्वधर्म और नास्तित्व धर्मका प्रधानोपसर्जन भाव विवक्षाके कारण होता है। (जब अस्तित्व धर्मको ही कहनेकी वक्ता की इच्छा होती है तब अस्तित्त्व धर्मकी प्रधानता और नास्तित्व धर्मकी गौणता, तथा जब नास्तित्व धर्मको ही कहनेकी इच्छा होती है तब

---

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके १–६–५६।

विवक्षावशाच्चानयोः प्रधानोपसर्जनभावः। एवमुत्तरभङ्गेष्वपि ज्ञेयम्, "अर्पितानर्पितसिद्धेः" इति वाचकवचनात्। इति द्वितीयः॥

तृतीयः स्पष्ट एव। द्वाभ्यामस्तित्वनास्तित्वधर्माभ्यां युगपत्प्रधानतयार्पिताभ्याम् एकस्य वस्तुनोऽभिधित्सायां तादृशस्य शब्दस्यासम्भवाद् अवक्तव्यं जीवादिवस्तु। तथाहि—सद-सत्त्वगुणद्वयं युगपद् एकत्र सदित्यनेन वक्तुमशक्यम्, तस्यासत्त्वप्रतिपादनासमर्थत्वात्। तथा-ऽसदित्यनेनापि, तस्य सत्त्वप्रत्यायनसामर्थ्याभावात्। न च पुष्पदन्तादिवत् साङ्केतिकमेकं पदं तद्वक्तुं समर्थम्, तस्यापि क्रमेणार्थद्वयप्रत्यायने सामर्थ्योपपत्तेः, शतृशानयोः संकेतित-सच्छब्दवत्। अतएव द्वन्द्वकर्मधारवृत्त्योर्वाक्यस्य च न तद्वाचकत्वम्। इति सकलवाचक-रहितत्वाद् अवक्तव्यं वस्तु युगपत्सत्त्वासत्त्वाभ्यां प्रधानभावार्पिताभ्यामाक्रान्तं व्यवतिष्ठते। न च सर्वथाऽवक्तव्यम्, अवक्तव्यशब्देनाप्यनभिधेयत्वप्रसङ्गात्। इति चतुर्थः। शेषास्त्रयः सुगमाभिप्रायाः॥

न च वाच्यमेकत्र वस्तुनि विधीयमाननिषिध्यमानानन्तधर्माभ्युपगमेनानन्तभङ्गीप्र-

---

नास्तित्व धर्मकी प्रधानता और अस्तित्व धर्मकी गौणता होती है। प्रथम भंगमें अस्तित्व धर्मकी प्रधानता और नास्तित्व धर्मकी गौणता, तथा द्वितीय भंगमें नास्तित्व धर्मकी प्रधानता और अस्तित्व धर्मकी गौणता होती है। जो धर्म गौण होता है उसका अभाव नहीं होता।) इस प्रकार उत्तरभंगोंमें भी समझना चाहिये। उमास्वाति वाचकने कहा भी है—"प्रधान और गौणको अपेक्षासे पदार्थोंकी विवेचना होती है।" यह दूसरा भंग है।

(३–७) तीसरा भंग स्पष्ट है। जब हम क्रमसे वस्तुको स्वरूपकी अपेक्षा अस्ति, और पररूपकी अपेक्षासे नास्ति कहते हैं, उस समय वस्तुका अस्तिनास्तिरूपसे ज्ञान होता है। यह स्यादस्तिनास्ति नामका तीसरा भंग है। (४) हम वस्तुके अस्ति और नास्ति धर्मको एक साथ नहीं कह सकते। जिस समय जीवको सत् कहते हैं, उस समय असत्, और जिस समय असत् कहते हैं, उस समय सत् नहीं कह सकते। क्योंकि अस्ति और नास्ति दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। शंका—जिस प्रकार चन्द्र और सूर्य दोनों वस्तुओंका ज्ञान 'पुष्पदंत' शब्दसे हो जाता है, उसी तरह अस्ति और नास्ति दोनोंका एक साथ ज्ञान किसी एक सांकेतिक शब्दसे मानना चाहिये। समाधान—पहले तो कोई ऐसा शब्द नहीं, जिससे अस्ति और नास्ति दोनों धर्मोंका एक साथ ज्ञान किया जा सके। यदि दोनों धर्मोंको कहनेवाला कोई एक शब्द मान भी लिया जाय, तो अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मोंका क्रमसे ही ज्ञान हो सकता है। व्याकरणमें 'सत्' शब्दसे शतृ और शान दोनोंका क्रम-पूर्वक ज्ञान होता है, एक साथ नहीं। अतएव द्वन्द्व, कर्मधारय अथवा किसी एक वाक्यसे सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्मोंका एक साथ ज्ञान नहीं हो सकता। परस्पर विरुद्ध अस्तित्व और नास्तित्व दोनोंका ज्ञान किसी एक शब्दसे नहीं होता, अतएव प्रत्येक वस्तु एक साथ अस्ति और नास्ति भावकी प्रधानता होनेसे कथंचित् अवक्तव्य है। यदि हम पदार्थको सर्वथा अवक्तव्य मानें, तो हम पदार्थको अवक्तव्य शब्दसे भी नहीं कह सकते, अतएव प्रत्येक पदार्थको कथंचित् अवक्तव्य ही मानना चाहिये। यह स्यादवक्तव्य नामका चौथा भंग है। [(५) जब हम वस्तुको स्वरूपकी अपेक्षा सत् कह कर उसकी एक साथ अस्ति-नास्ति रूप अवक्तव्य रूपसे विवेचना करना चाहते हैं, उस समय वस्तु स्यादस्ति अवक्तव्य नामसे कही जाती है। (६) जब हम वस्तुकी नास्तित्व धर्मकी विवक्षासे एक साथ अस्ति-नास्ति रूप अवक्तव्य रूपसे विवेचना करना चाहते हैं, उस समय वस्तु स्यान्नास्ति अवक्तव्य कही जाती है। (७) प्रत्येक वस्तु क्रमसे स्व और पर रूपकी अपेक्षा अस्ति-नास्ति होनेपर भी एक साथ अस्ति-नास्ति रूप अवक्तव्य होनेके कारण स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य रूप है।]

शंका—एक वस्तुमें जिनका विधान और निषेध किया जाता है, ऐसे अनंत धर्मोंका अस्तित्व स्वीकार

सङ्गाद् असङ्गतैव सप्तभङ्गीति, विधिनिषेधप्रकारापेक्षया प्रतिपर्यायं वस्तुनि अनन्तानामपि सप्तभङ्गीनामेव संभवात्। यथा हि सदसत्त्वाभ्याम्, एवं सामान्यविशेषाभ्यामपि सप्तभङ्ग्येव स्यात्। तथाहि। स्यात्सामान्यम्, स्याद् विशेषः, स्यादुभयम्, स्यादवक्तव्यम्, स्यात्सामान्यावक्तव्यम्, स्याद् विशेषावक्तव्यम्, स्यात्सामान्यविशेषावक्तव्यमिति। न चात्र विधिनिषेधप्रकारौ न स्त इति वाच्यम्, सामान्यस्य विधिरूपत्वाद् विशेषस्य च व्यावृत्तिरूपतया निषेधात्मकत्वात्। अथवा प्रतिपक्षशब्दत्वाद् यदा सामान्यस्य प्राधान्यं तदा तस्य विधिरूपता विशेषस्य च निषेधरूपता। यदा विशेषस्य पुरस्कारस्तदा तस्य विधिरूपता इतरस्य च निषेधरूपता। एवं सर्वत्र योज्यम्। अतः सुष्ठूक्तं अनन्ता अपि सप्तभङ्ग्य एव संभवेयुरिति, प्रतिपर्यायं प्रतिपाद्यपर्यनुयोगानां सप्तानामेव संभवात्, तेषामपि सप्तत्वं सप्तविधतज्जिज्ञासानियमात्, तस्या अपि सप्तविधत्वं सप्तधैव तत्संदेहसमुत्पादात्, तस्यापि सप्तविधत्वनियमः स्वगोचरवस्तुधर्माणां सप्तविधत्वस्यैवोपपत्तेरिति॥

इयं च सप्तभङ्गी प्रतिभङ्गं सकलादेशस्वभावा विकलादेशस्वभावा च। तत्र सकलादेशः प्रमाणवाक्यम्। तल्लक्षणं चेदम्—प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकवस्तुनः कालादिभिरभेदवृत्तिप्राधान्याद् अभेदोपचाराद् वा यौगपद्येन प्रतिपादकं वचः सकलादेशः। अस्यार्थः—कालादिभिरष्टाभिः कृत्वा यदभेदवृत्तेर्धर्मधर्मिणोरपृथग्भावस्य प्राधान्यं तस्मात् कालादिभिर्भिन्नात्म-

---

किये जानेसे अनंत भंगोंके समूहका प्रसंग उपस्थित हो जायेगा तो फिर वस्तुमें केवल सात ही भंगोंकी कल्पना आप क्यों करते हैं ? समाधान—प्रत्येक वस्तुमें अनंत धर्म होनेके कारण वस्तुमें अनेक भंग होते हैं, परंतु ये अनंत भंग विधि और निषेधकी अपेक्षासे सात ही हो सकते हैं। अतएव जिस प्रकार सत्त्व धर्म (अस्तित्व धर्म) और असत्त्व धर्म (नास्तित्व धर्म) से एक ही सप्तभंगी (सात भंगोंका एक समूह) होती है, उसी तरह सामान्य धर्म और विशेष धर्मकी अपेक्षासे भी एक ही सप्तभंगी बनती है। तथाहि—सामान्य और विशेषसे स्यात् सामान्य, स्यात् विशेष, स्यात् उभय, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् सामान्यअवक्तव्य, स्यात् विशेषअवक्तव्य, और स्यात् सामान्य-विशेष अवक्तव्य ये सात भंग होते हैं। शंका—आपने ऊपर विधि और निषेध धर्मोंके विचार पूर्वक 'स्यात्' शब्दसे युक्त सात प्रकारकी वचनरचनाको सप्तभंगी कहा था। यह विधि और निषेध धर्मोंकी कल्पना सामान्य-विशेषकी सप्तभंगीमें कैसे बन सकती है ? समाधान—सामान्य-विशेषकी सप्तभंगी में भी विधि और निषेध धर्मोंकी कल्पना की जा सकती है। क्योंकि सामान्य विधि रूप है, और विशेष व्यवच्छेदक होनेसे निषेध रूप है। अथवा, सामान्य और विशेष दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, अतएव जब सामान्य की प्रधानता होती है, उस समय सामान्यके विधि रूप होनेसे विशेष निषेध रूप कहा जाता है, और जब विशेषकी प्रधानता होती है, उस समय विशेषके विधिरूप होनेसे सामान्य निषेध रूप कहा जाता है। इस प्रकार सर्वत्र योजना करनी चाहिये। अतः ठीक ही कहा है कि अनंत भंगोंमें भी सात भंगोंकी ही कल्पना सिद्ध है। प्रत्येक पर्यायकी अपेक्षा प्रतिपाद्य संबंधी सात प्रकारके ही प्रश्न किये जा सकते हैं, अतएव सात ही भंग होते हैं। प्रत्येक पर्यायकी अपेक्षा सात प्रकारकी ही जिज्ञासा उत्पन्न होती है, इसलिये सात प्रकार के ही प्रश्न होते हैं। संदेहके सात ही प्रकार हो सकते हैं, इसलिये सात ही प्रकारकी जिज्ञासा हो सकती है। तथा प्रत्येक वस्तुके सात ही धर्मोंका होना संभव है, अतएव संदेह भी सात प्रकारके ही होते हैं।

यह सप्तभंगी प्रत्येक भंगमें सकल और विकल आदेश रूप होती है। प्रमाणवाक्यको सकल आदेश कहते हैं। प्रमाणसे जानी हुई अनन्त धर्म स्वभाववाली वस्तुको काल, आत्मरूप, अर्थ, संबंध, उपकार, गुणिदेश, संसर्ग और शब्दकी अपेक्षासे अभेद वृत्तिकी अथवा अभेदोपचारकी प्रधानतासे सम्पूर्ण धर्मोंको एक साथ प्रतिपादन करनेवाले वाक्यको सकलादेश कहते हैं। प्रत्येक वस्तुमें अनंत धर्म मौजूद हैं। इन धर्मोंका एक साथ और क्रम-क्रमसे शब्दों द्वारा प्रतिपादन किया जाता है। जिस समय वस्तुमें काल आदिकी अपेक्षा

नामपि धर्मधर्मिणामभेदाध्यारोपाद् वा समकालमभिधायकं वाक्यं सकलादेशः। तद्विपरीतस्तु विकलादेशो नयवाक्यमित्यर्थः। अयमाशयः—यौगपद्येनाशेषधर्मात्मकं वस्तु कालादिभिरभेदप्राधान्यवृत्त्याऽभेदोपचारेण वा प्रतिपादयति सकलादेशः, तस्य प्रमाणाधीनत्वात्। विकलादेशस्तु क्रमेण भेदोपचाराद् भेदप्राधान्याद्वा तदभिधत्ते, तस्य नयात्मकत्वात्॥

कः पुनः क्रमः किं च यौगपद्यम्। यदास्तित्वादिधर्माणां कालादिभिर्भेदविवक्षा, तदैकशब्दस्यानेकार्थप्रत्यायने शक्त्यभावात् क्रमः। यदा तु तेषामेव धर्माणां कालादिभिरभेदेन वृत्तमात्मरूपमुच्यते तदैकेनापि शब्देनैकधर्मप्रत्यायनमुखेन तदात्मकतामापन्नस्यानेकाशेषधर्मरूपस्य वस्तुनः प्रतिपादनसम्भवाद् यौगपद्यम्॥

के पुनः कालादयः। कालः आत्मरूपम् अर्थः सम्बन्धः उपकारः गुणिदेशः संसर्गः शब्दः। १ तत्र स्याद् जीवादिवस्तु अस्त्येव इत्यत्र यत्कालमस्तित्वं तत्कालाः शेषानन्तधर्मा वस्तुन्येकत्रेति तेषां कालेनाभेदवृत्तिः। २ यदेव चास्तित्वस्य तद्गुणत्वमात्मरूपं तदेव अन्यानन्तगुणानामपीति आत्मरूपेणाभेदवृत्तिः। ३ य एव चाधारोऽर्थो द्रव्याख्योऽस्तित्वस्य स एवान्यपर्यायाणामित्यर्थेनाभेदवृत्तिः। ४ य एव चाविष्वग्भावः कथञ्चित्तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धोऽ-

---

अभिन्न रूपसे रहनेवाले सम्पूर्ण धर्म और धर्मियोंमें अभेद भावकी प्रधानता रख कर, अथवा काल आदिसे भिन्न धर्म और धर्मीमें अभेदका उपचार मानकर सम्पूर्ण धर्म और धर्मियोंका एक साथ कथन किया जाता है, उस समय सकलादेश होता है। सकलादेशसे काल आदिकी अभेद दृष्टि अथवा अभेदोपचारकी अपेक्षा वस्तुके सम्पूर्ण धर्मोंका एक साथ ज्ञान होता है। जैसे अनेक गुणोंके समुदायको द्रव्य कहते हैं, इसलिये गुणोंको छोड़ कर द्रव्य कोई भिन्न पदार्थ नहीं है, अतएव द्रव्यका निरूपण गुणवाचक शब्दके विना नहीं हो सकता। अतएव अस्तित्व आदि अनेक गुणोंके समुदाय रूप एक जीवका निरंश रूप समस्तपनेसे अभेदवृत्ति (द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सम्पूर्ण धर्म अभिन्न हैं) और अभेदोपचार (पर्यायार्थिक नयसे समस्त धर्मोंके परस्पर भिन्न होनेपर भी उनमें एकताका आरोप है) से एक गुणके द्वारा प्रतिपादन होता है। इसलिये एक गुणके द्वारा अभिन्न स्वरूपके प्रतिपादन करनेको सकलादेश कहते हैं। यह सकलादेश प्रमाणके आधीन होता है। जिस समय काल आदिसे अस्तित्व आदि धर्मोंका भेदप्राधान्य अथवा भेदोपचार होता है, उस समय एक शब्दसे अनेक धर्मोंका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता, इसलिये पदार्थोंका निरूपण क्रमसे होता है। इसे विकलादेश अथवा नय वाक्य कहते हैं। विकलादेशमें भेदवृत्ति अथवा भेदोपचारकी प्रधानता रहती है। विकलादेश नयके आधीन होता है।

जिस समय अस्तित्व आदि धर्मोंका काल आदिसे भेद सिद्ध करना होता है, उस समय एक शब्दसे अनेक धर्मोंका ज्ञान नहीं हो सकता, अतएव सम्पूर्ण धर्मोंका एक-एक करके ही कथन किया जा सकता है, इसे क्रम कहते हैं। इसी क्रमसे विकलादेशसे ज्ञान होता है। तथा, जिस समय वस्तुके अनेक धर्मोंका काल आदिसे अभेद सिद्ध करना होता है, उस समय एक शब्दसे यद्यपि वस्तुके एक धर्मका ज्ञान होता है, परन्तु एक शब्दसे ज्ञात इस एक धर्मके द्वारा ही पदार्थोंके अनेक धर्मोंका ज्ञान होता है। इसे वस्तुओंका एक साथ (युगपत्) ज्ञान होना कहते हैं, यह ज्ञान सकलादेशसे होता है।

(१) काल—'जीव आदि पदार्थ कथंचित् अस्ति रूप ही हैं' यह कहनेपर जिस समय जीवमें अस्तित्व आदि धर्म मौजूद रहते हैं, उस समय जीवमें और भी अनन्त धर्म पाये जाते हैं, अतएव कालकी अपेक्षा अस्तित्व आदि धर्म एक हैं। (२) आत्मरूप (स्वभाव)—जिस प्रकार जीवका अस्तित्व स्वभाव है, उसी प्रकार और धर्म भी जीवके स्वभाव हैं। इसलिये स्वभावकी अपेक्षा अस्तित्व आदि अभिन्न हैं। (३) अर्थ (आधार)—जिस प्रकार द्रव्य अस्तित्वका आधार है, वैसे ही और धर्म भी द्रव्यके आधार हैं। अतएव आधारकी अपेक्षा अस्तित्व आदि धर्म अभिन्न हैं। (४) सम्बन्ध—जिस प्रकार कथंचित्

स्तित्वस्य स एव शेषविशेषाणामिति सम्बन्धेनाभेदवृत्तिः। ५ य एव चोपकारोऽस्तित्वेन स्वानुरक्तत्वकरणं स एव शेषैरपि गुणैरित्युपकारेणाभेदवृत्तिः। ६ य एव गुणिनः सम्बन्धी देशः क्षेत्रलक्षणोऽस्तित्वस्य स एवान्यगुणानामिति गुणिदेशेनाभेदवृत्तिः। ७ य एव चैकवस्त्वात्मनास्तित्वस्य संसर्गः स एव शेषधर्माणामिति संसर्गेणाभेदवृत्तिः। अविष्वग्भावेऽभेदः प्रधानम् भेदो गौणः, संसर्गे तु भेदः प्रधानम् अभेदो गौण इति विशेषः। ८ य एव चास्तीति शब्दोऽस्तित्वधर्मात्मकस्य वस्तुनो वाचकः स एव शेषानन्तधर्मात्मकस्यापीति शब्देनाभेदवृत्तिः पर्यायार्थिकनयगुणभावे द्रव्यार्थिकनयप्राधान्याद् उपपद्यते ॥

तादात्म्य सम्बन्ध अस्तित्वमें रहता है, उसी तरह उक्त सम्बन्ध अन्य धर्मोंमें भी रहता है, इसलिये सम्बन्धकी अपेक्षा अस्तित्व आदि धर्म अभिन्न हैं (५) **उपकार**—जो उपकार अस्तित्वके द्वारा अपने स्वरूपमें अनुराग उत्पन्न करता है, वही उपकार अन्य धर्मोंके द्वारा भी अनुराग पैदा करता है, अतएव उपकारकी अपेक्षा अस्तित्व आदि धर्मोंमें अभेद है। (६) **गुणिदेश** (द्रव्यका आधार)—जो क्षेत्र द्रव्यसे सम्बन्ध रखनेवाले अस्तित्वका है, वही क्षेत्र अन्य धर्मोंका है, अतएव अस्तित्व आदि धर्मोंमें अभेद भाव है। (७) **संसर्ग**—एक वस्तुकी अपेक्षासे जो संसर्ग अस्तित्वका है, वही संसर्ग अन्य धर्मोंका भी है, इसलिए संसर्गकी अपेक्षा अस्तित्व आदि धर्मोंमें अभेद हैं। सम्बन्धमें अभेदकी प्रधानता और भेदकी गौणता, तथा संसर्गमें भेदकी प्रधानता और अभेदकी गौणता होती है। (८) **शब्द**—जिस 'अस्ति' शब्दसे अस्तित्व धर्मका ज्ञान होता है, उसी 'अस्ति' शब्दसे अन्य धर्म भी जाने जाते हैं, अतएव शब्दकी अपेक्षा अस्तित्व आदि धर्म परस्पर अभिन्न हैं। जिस समय पर्यायार्थिक नयकी गौणता और द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानता होती हैं, उस समय पदार्थोंके धर्मोंमें अभेद भावका ज्ञान होनेसे अभेदवृत्ति होती है।

[**स्पष्टीकरणः** (१) **काल**—'जीव आदि पदार्थ 'कथंचित् अस्तिरूप हो हैं'—इस उदाहरणमें जीव आदि रूप पदार्थमें जितने काल तक अस्तित्व गुण विद्यमान रहता है, उतने काल तक और भी अनन्त धर्म पाये जाते हैं। इस प्रकार जीव आदि एक पदार्थमें अस्तित्व एवं अन्य धर्मोंकी स्थिति कालकी दृष्टिसे अभेद रूप है। इसी तरह घटका उदाहरण लिया जा सकता है। जितने काल तक घटमें अस्तित्व धर्म रहता है, उतने काल तक घटके अन्य धर्म भी विद्यमान रहते हैं। जिस कालमें घटका अस्तित्व नष्ट हो जाता है उस कालमें घटके अन्य धर्मोंका भी अभाव हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि पदार्थके अस्तित्व धर्मके साथ उसके अन्य धर्मोंका अविनाभाव—तादात्म्य-अभेद-सिद्ध हो जाता है। जीव द्रव्यमें रहनेवाला अस्तित्व गुण अनादिनिधन है इसलिये उसका ज्ञान सामान्यरूप धर्म भी अनादि निधन होता है, क्योंकि जीवके अस्तित्वसे ज्ञानगुण कालकी दृष्टिसे अभिन्न है। अतएव पदार्थके अस्तित्व धर्मका जितना काल होता है, उतना ही काल उसके अन्य धर्मोंका उस पदार्थमें .अस्तिरूप रहनेका होता है। इसलिये पदार्थके अस्तित्व धर्म और उसके शेष धर्मोंमें कालकी दृष्टिसे अभेद है। (२) **आत्मरूप**—जिस प्रकार अस्तित्व गुणका पदार्थका स्वभाव है, उसी प्रकार अन्य अनन्त गुण भी पदार्थके स्वभाव हैं। इस प्रकार एक पदार्थमें पदार्थके गुण होना रूप स्वभावसे पदार्थका अस्तित्व धर्म एवं शेष अनन्त धर्म भी रहते हैं। अतएव एक पदार्थमें अस्तित्व आदि सभी धर्मोंकी स्वस्वरूप (आत्मस्वरूप) की दृष्टिसे अभेदवृत्ति रहतो है। जिस प्रकार अस्तित्व गुणका जीव पदार्थका गुण होना स्वस्वरूप है, उसी प्रकार अन्य ज्ञान आदि रूप अनन्त गुणोंका जीव पदार्थका गुण होना भी स्वस्वरूप है। अतः जीवरूप एक पदार्थमें अस्तित्व और अन्य शेष ज्ञान आदि रूप अनन्त धर्मकी आत्मस्वरूप दृष्टिसे अभेद वृत्ति होती है। जिस प्रकार घटका गुण होना अस्तित्वका स्वरूप है, उसी प्रकार उसके अन्य शेष अनन्त धर्मोंका भी घटका गुण होना स्वस्वरूप है। अतः घटरूप एक पदार्थमें अस्तित्व और अन्य शेष अनंत धर्मोंकी आत्मस्वरूपको दृष्टिसे अभेद वृत्ति है। (३) **अर्थ**—जो पदार्थ अस्तित्व गुणका आधार होता है, वही अन्य अक्रमभावी पर्यायों-गुणोंका-आधार होता है। इस प्रकार एक द्रव्यका अस्तित्व धर्म और उसके अन्य अनन्त गुणों जब एक ही पदार्थ आधार

होता है, तब अर्थकी दृष्टिसे उन गुणोंमें अभेद होता है। जिस प्रकार अस्तित्व गुणका जीव पदार्थ आश्रय होता है, उसी प्रकार अन्य शेष अनन्त धर्मोंका भी जीवद्रव्य आश्रय होता है। अतः अस्तित्व धर्म और अन्य शेष ज्ञान आदिरूप अनन्त धर्मका एक जीव पदार्थके आश्रित होनेसे अर्थकी दृष्टिसे उन धर्मोंमें अभेद हैं। **(४) सम्बन्ध**—जिस प्रकार अस्तित्व धर्मका पदार्थके साथ कथंचित् तादात्म्यरूप सम्बन्ध होता है, वैसे ही कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध अन्य समस्त धर्मोंका उस पदार्थके साथ रहता है। इस प्रकार पदार्थके अस्तित्व धर्मका और उसके अन्य शेष धर्मोंका उसी पदार्थके साथ कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध अर्थात् अभेद होनेसे, उन सभी धर्मोंमें सम्बन्धकी दृष्टिसे अभेद होता है। इस प्रकार अस्तित्व धर्मका जीव पदार्थके साथ कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध होनेसे अस्तित्व धर्म तथा अन्य शेष ज्ञान आदि रूप अनन्त धर्ममें सम्बन्धकी दृष्टिसे अभेद होता है। **(५) उपकार**—पदार्थका अस्तित्व गुणके द्वारा स्वस्वरूपसे युक्त किया जाना पदार्थका अस्तित्व गुणकृत उपकार होता है। इसी प्रकार उस पदार्थके शेष अन्य गुणोंके द्वारा स्वस्वरूपसे युक्त किया जाना, उसी पदार्थका शेष गुणकृत उपकार होता है। पदार्थके अस्तित्व गुणकृत तथा उस पदार्थके आश्रित अन्य शेष गुणों द्वारा किये जानेवाले उपकारके एक होनेसे अस्तित्व गुण तथा उसके अन्य शेष गुणोंमें उपकारकी दृष्टिसे अभेद है। आचार्यप्रवर **श्रीविद्यानन्दने** उपकार शब्दका अर्थ 'स्वानुरक्तत्वकरणं' किया है—अर्थात् अपनी विशेषताको पदार्थमें निर्माण करना। उदाहरणार्थ, नीलवर्ण पुद्गलका गुण है; वह गुण पुद्गलमें अपने वैशिष्ट्यका निर्माण करता है। पदार्थमें अस्तित्व गुण अपने वैशिष्ट्यको निर्माण करता है। यदि अस्तित्व गुणका वैशिष्ट्य पदार्थमें न हो तो पदार्थका अभाव हो जायेगा। इस वैशिष्ट्यको पदार्थमें निर्माण करना ही पदार्थका गुणकृत उपकार है। जिस प्रकार अस्तित्वगुण पुद्गल पदार्थमें अपने वैशिष्ट्यको निर्माण कर पदार्थका उपकार करता है—उसे स्वानुरक्त करता है, उसी प्रकार नीलत्व आदि रूप अन्य गुण भी पुद्गल पदार्थमें अपने वैशिष्ट्यको निर्माण कर उसी पदार्थका उपकार करता है—उसे स्वानुरक्त करता है। अतः अस्तित्व धर्म और अन्य शेष नीलत्व आदि धर्म, पुद्गल पदार्थमें अपने वैशिष्ट्यके निर्माणकर्ता होनेके कारण उपकारकी दृष्टिसे अभिन्न हैं। **(६) गुणिदेश**—जो अस्तित्व धर्मका गुणिदेश होता है वही अन्य धर्मोंका भी होता है। इस प्रकार गुणिदेशकी दृष्टिसे अस्तित्व धर्म तथा अन्य शेष धर्मोंमें अभेद है। गुणी अर्थात् गुणवान् पदार्थके जितने प्रदेशोंमें अस्तित्त्व धर्म होता है, उतने ही प्रदेशोंमें अन्य शेष गुणोंका होना ही अस्तित्व गुण तथा अन्य शेष गुणोंमें गुणिदेशकी दृष्टिसे अभेद सिद्ध करता है। पदार्थके सभी प्रदेशोंमें अस्तित्व गुण होता है। इस अस्तित्व गुणके समान पदार्थके सभी प्रदेशोंमें उसके अन्य शेष गुण भी होते हैं। अस्तित्व गुण जीवके कुछ प्रदेशोंमें हो, और कुछमें न हो—ऐसा कभी नहीं होता। यह गुण जीवके सभी प्रदेशोंमें पाया जाता है। जिस प्रकार अस्तित्व गुण जीवके सभी प्रदेशोंमें होता है, उसी प्रकार जीवके शेष अन्य ज्ञान आदि अनंत गुण भी होते हैं। अतः जीवका अस्तित्त्व गुण और उसके शेष ज्ञान आदि गुणमें गुणिदेशकी दृष्टिसे अभेद है। **(७) संसर्ग**—एक पदार्थके रूपसे अस्तित्व धर्मका पदार्थके साथ जो संसर्ग होता है, वही एक वस्तुके स्वभावरूपसे उसी पदार्थके अन्य शेष धर्मोंका उसी पदार्थके साथ संसर्ग होता है। इस प्रकार एक पदार्थके साथ एक वस्तुके स्वभावके रूपसे अस्तित्व धर्मका संसर्ग होनेसे तथा उसी पदार्थके अन्य शेष धर्मोंका एक वस्तुके स्वभावरूपसे उसी पदार्थके साथ संसर्ग होनेसे, उस पदार्थका अस्तित्व धर्म और उसी पदार्थके अन्य शेष धर्मोंमें संसर्गकी दृष्टिसे अभेद होता है। संसर्ग दो भिन्न पदार्थोंमें होता है। लोकव्यवहारमें पर्यायार्थिक-नयकी दृष्टिसे गुण-गुणीमें भेद समझकर व्यवहार किया जाता है। गुण और गुणीमें द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे भेदका अभाव होता है—अर्थात् अभेद होता है, फिर भी 'यह अग्निकी उष्णता है'—यहाँ अग्नि और उष्णतामें वस्तुतः अभेद होने पर भी उनमें भेद समझकर व्यवहार किया जाता है। इस व्यवहारसे उनके भेदका संस्कार जो दृढ़ हो गया होता है, उसका अभाव द्रव्यार्थिक नयकी सहायतासे किया जाता है। कथंचित् तादाम्य सम्बन्धमें अभेद मुख्य होता है और भेद गौण, तथा संसर्गमें भेद मुख्य होता है और अभेद गौण। यही तादात्म्य संबंध तथा संसर्ग (संयोग) संबंधमें भेद है। कथंचित् तादात्म्य कथंचित् भेदाभेद रूप होता

द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्ये तु न गुणानामभेदवृत्तिः सम्भवाद् । समकालमेकत्र नानागुणानामसम्भवात्, सम्भवे वा तदाश्रयस्य तावद्धा भेदप्रसङ्गात् । नानागुणानां सम्बन्धिन आत्मरूपस्य च भिन्नत्वात्, आत्मरूपाभेदे तेषां भेदस्य विरोधात् । स्वाश्रयस्यार्थस्यापि नानात्वाद्, अन्यथा नानागुणाश्रयत्वस्य विरोधात् । सम्बन्धस्य च सम्बन्धिभेदेन भेददर्शनाद् नानासम्बन्धिभिरेकत्र सम्भवाघटनात् । तैः क्रियमाणस्योपकारस्य च प्रतिनियतरूपस्यानेकत्वात् अनेकैरुपकारिभिः क्रियमाणस्योपकारस्य विरोधात् । गुणिदेशस्य प्रतिगुणं भेदात् तदभेदे भिन्नार्थगुणानामपि गुणिदेशाभेदप्रसङ्गात् । संसर्गस्य च प्रतिसंसर्गिभेदात् तदभेदे संसर्गिभेदविरोधात् । शब्दस्य प्रतिविषयं नानात्वात् सर्वगुणानामेकशब्दवाच्यतायां सर्वार्थानामेकशब्दवाच्यतापत्तेः शब्दान्तरवैफल्यापत्तेः ।

है । भेद विशिष्ट अभेदको संबंध तथा अभेद विशिष्ट भेदको संसर्ग कहते हैं । (८) जो 'अस्ति' शब्द अस्तित्वधर्मसे युक्त पदार्थका वाचक होता है, वही 'अस्ति' शब्द अनंत धर्मोंसे युक्त पदार्थका वाचक होता है । इस प्रकार अस्तित्व धर्मयुक्त पदार्थ तथा शेष अन्य अनंतधर्मोंसे युक्त वही पदार्थ, 'अस्ति' शब्दका वाच्य होनेसे, शब्दकी दृष्टिसे अभिन्न है । जिन गुणोंमें पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे भेद होता है, उन गुणोंमें पर्यायार्थिक नयकी गौणता और द्रव्यार्थिक नयकी मुख्यता होनेपर अभेद घटित होता है)[1] ।

द्रव्यार्थिक नयको गौणता और पर्यायार्थिक नयकी प्रधानता होनेपर पदार्थाश्रित गुणोंकी अभेद रूपसे स्थिति नहीं होती : (१) विभिन्न गुण एक कालमें एक स्थान पर नहीं रह सकते । यदि विभिन्न गुण एक कालमें, एक वस्तुमें, एक साथ रहें तो गुणोंके आश्रित द्रव्योंमें भी उतने ही भेद मानने चाहिये । (२) विभिन्न गुणोंका अपने-अपने स्वरूप (आत्मरूप) वाले स्वभिन्न गुणके स्वरूपसे भेद है; क्योंकि वे एक दूसरेके स्वरूपमें नहीं रहते, इसलिये गुणोंमें अभेद नहीं है । यदि गुणोंमें परस्पर भेद न हो, तो गुणोंको भिन्न-भिन्न नहीं मानना चाहिये । (३) गुणोंके आश्रयभूत पदार्थ (अर्थ) भी अनेक हैं; यदि गुणोंके आधार अनेक न हों तो वे नाना गुणोंके आश्रित नहीं कहे जा सकते । (४) संबंधियोंके भिन्न-भिन्न होने कारण संबंधका भेद दिखाई देनेसे भी गुणोंमें अभिन्नता संभव नहीं, क्योंकि एक संबंधसे भिन्न-भिन्न संबंधियोंके साथ संबंध नहीं बन सकता । (५) उपकारकी अपेक्षा भी गुण परस्पर अभिन्न नहीं हैं । अनेक उपकारियोंमेंसे प्रत्येक उपकारी द्वारा किये जानेवाले उपकारमें तथा अन्य उपकारी द्वारा किये जानेवाले उपकारमें विरोध है । (६) गुणिदेशकी अपेक्षासे भी गुण अभिन्न नहीं हैं । अन्यथा प्रत्येक गुणका आश्रयभूत गुणिरूप देश तथा स्वभिन्न गुणके आश्रयभूत गुणिरूप देशमें भेद न होनेपर, भिन्न पदार्थोंके गुणोंके भी जो गुणिरूप देश हैं, उनका पूर्वोक्त गुणिरूप देशके साथ अभेदका प्रसंग आ जायेगा । (७) संसर्गकी अपेक्षा भी गुण भिन्न हैं । अन्यथा एक पदार्थके साथ जितने संसर्ग करनेवाले होते हैं, उतने ही संसर्गोंके परस्पर भिन्न होनेपर भी, उन संसर्गोंको अभिन्न मानने पर, संसर्ग करनेवालोंमें भेद उपस्थित हो जायेगा । (८) तथा शब्दको अपेक्षासे भी गुण भिन्न नहीं हैं । अन्यथा सभी गुणोंकी एक शब्दके द्वारा वाच्यता होनेपर, उनके आश्रयभूत सभी पदार्थोंकी एक शब्द द्वारा वाच्यता होनेकी आपत्ति उपस्थित हो जानेसे उन सभी पदार्थोंमेंसे प्रत्येक पदार्थके वाचक शब्दोंकी निष्फलताका प्रसंग उपस्थित हो जायेगा ।

(स्पष्टीकरण : जब द्रव्यार्थिक नयकी गौणता और पर्यायार्थिक नयकी प्रधानता होती है, तब एक पदार्थका अस्तित्व धर्म और उसी पदार्थके अन्य शेष अनंत धर्मोंमें काल आदिकी दृष्टिसे अभेदकी संभाव्यता नहीं होती । (१) एक समयमें पदार्थकी एक ही पर्याय होती है—अनेक नहीं । उत्तर पर्यायसे युक्त उसी पदार्थका पूर्व पर्यायसे युक्त पदार्थसे भेद होता है । यदि पूर्व पर्याययुक्त और उत्तर पर्याययुक्त पदार्थमें भेद स्वीकार न किया तो बाल्यावस्था और कुमारावस्थामें भेद नहीं होगा, तथा बालक कभी कुमारावस्थाके रूपमें

---

१. प्रोफेसर एम० जी० कोठारीके सौजन्यसे ।

परिणत नहीं हो सकेगा। पदार्थमें प्रतिसमय अर्थपर्यायें जन्म लेती रहती हैं, अतः प्रतिक्षण पदार्थकी भिन्नता घटित होती रहती है। इस अर्थपर्यायके भी प्रतिक्षण भिन्न रूप होनेसे अर्थपर्याययुक्त पदार्थकी प्रतिक्षण भिन्नता सिद्ध होती है। एक समयमें एक ही अर्थपर्याय होती है—अनेक अर्थपर्यायें नहीं। पदार्थकी अर्थपर्यायके कारण व्यक्त होनेवाली भिन्नता, उन अर्थपर्यायोंके काल भिन्न-भिन्न होनेसे होती है। प्रत्येक समयमें होनेवाली पदार्थकी भिन्नताके कारण अर्थपर्यायोंके कालोंकी भिन्नता होनेसे, एक पदार्थमें, एक समयमें, अनेकविध गुणोंके अस्तित्वका होना असंभव है। ऐसी अवस्थामें भी यदि एक पदार्थमें, एक समयमें, अनेकविध गुणोंका होना संभव माना तो पदार्थमें एक समयमें जितने गुण होंगे उतने ही प्रकार एक पदार्थके एक समयमें होंगे। अतः पदार्थकी विविधता कालभेद-निमित्तक होनेसे, कालकी दृष्टिसे द्रव्याश्रित अनेक गुणोंमें अभेद सिद्ध नहीं होता, अपितु भेद ही सिद्ध होता है। (२) एक पदार्थके आश्रित अनेक गुणोंका द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे एक ही पदार्थका आश्रय करनेका स्वरूप एक होनेसे, उन सभी गुणोंमें अभेद होता है, फिर भी द्रव्यार्थिक नयके गौण और पर्यायार्थिक नयके मुख्य होनेपर एक पदार्थके आश्रित अनेक गुणोंमें अभेदकी सिद्धि नहीं होती, किन्तु भेदकी ही सिद्धि होती है। क्योंकि अनेक गुणोंमेंसे प्रत्येक गुणका स्वरूप स्वभिन्न अन्य गुणके स्वरूपसे भिन्न होता है, और उन गुणोंके स्वरूपमें भेद नहीं होता—ऐसा माननेसे उनकी परस्पर भिन्नताका अभाव हो जाता है। स्पर्श, रस, गंध और वर्ण—ये चार गुण पुद्गलके आश्रित हैं। ये सभी गुण द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे परस्पर भिन्न नहीं होते—अपितु अभिन्न होते हैं। क्योंकि पुद्गलका आश्रय ग्रहण करनेका उनका एक ही स्वभाव होता है। द्रव्यार्थिक नयकी गौणता और पर्यायार्थिक नयकी प्रधानता होनेपर उन गुणोंमें अभेदकी सिद्धि नहीं होती। क्योंकि चारों गुणोंका एक स्वभाव नहीं होता—वह भिन्न होता है। यदि इन चारों गुणों का स्वभाव एक होता तो उनमें होनेवाले भेदका अभाव हो जाता और उनकी चारकी संख्या न रह पाती। अतः पर्यायार्थिक नयकी प्रधानता होनेपर एक द्रव्याश्रित अनेक गुणोंमें स्वरूपकी दृष्टिसे अभेद सिद्ध नहीं होता। (३) अक्रमभावि पर्याय रूप अनेक गुणोंके आश्रयभूत एक पदार्थकी दृष्टिसे भी उन अनेक गुणोंमें अभेदकी सिद्धि नहीं होती। क्योंकि गुणोंकी अनेकताके कारण उनके आश्रयभूत पदार्थका भी अनेकरूपत्व सिद्ध हो जाता है। गुणोंमें भेद होनेसे उनके आश्रयभूत गुणी का—पदार्थका—भी भेद हो जाता है। एक समयमें एक ही गुणरूप अक्रमभावी पर्याय होती है। एक पदार्थमें अनेक गुण होनेसे अक्रमभावी पर्यायें भी अनेक होती हैं। अक्रमभावी पर्यायोंकी अनेकताके कारण गुणाश्रयभूत पदार्थकी भी अनेकता सिद्ध हो जाती है। जब गुणाश्रयभूत पदार्थकी अनेकता पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे सिद्ध होती है, तब पदार्थकी दृष्टिसे पदार्थके गुणोंमें अभेदकी सिद्धि होना असंभव है। यदि गुणाश्रयभूत पदार्थकी अनेकता नहीं होती—ऐसा स्वीकार करें तो पदार्थके अनेक गुणोंका आश्रय होनेमें विरोध उपस्थित होता है। यद्यपि आम्लरस गुणयुक्त कच्चे आममें और मधुररस युक्त पके हुए आममें एकत्व प्रत्यभिज्ञानसे एकत्वकी सिद्धि होती है, अथवा द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे उभयावस्थापन्न आमका एकत्व सिद्ध हो जाता है, फिर भी आम्लरस गुणयुक्त आम्रफलसे मधुररस गुणयुक्त पके हुए आम्रफलका पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे भिन्नत्व ही सिद्ध होता है। यदि भिन्न-भिन्न रसगुणोंसे युक्त आम्रफलमें कथंचित् भी भेद नहीं होता—सर्वथा अभेद ही होता है, ऐसा स्वीकार किया जाये तो कच्चे आम्रफलमें और पके हुए आम्रफलमें सर्वथा अभेदकी सिद्धि हो जानेसे, आम्लरस गुणसे मधुररस गुणके भेदका अभाव सिद्ध हो जायेगा, तथा आम्रफलका नाना गुणाश्रयत्व भी न रहेगा और यह आम कच्चा है और यह पका हुआ है, यह व्यवहार न बन सकेगा। अतः रसगुणके भेदके कारण उन भिन्न रसोंके आश्रयमें भी भिन्नता होती है—यह स्वीकार करना पड़ेगा। अतः अर्थकी दृष्टिसे भी नाना गुणाश्रयभूत पदार्थका द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे एकत्व सिद्ध हो जानेपर भी, पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे, उस पदार्थका अनेकत्व सिद्ध हो जाता है, तो अनेक गुणोंमें अर्थकी दृष्टिसे अभेदकी सिद्धि नहीं हो सकती। (४) प्रत्येक पदार्थ अनेक या अनंत गुणोंका आश्रय होता है। द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे यद्यपि पदार्थका एकत्व होता है, फिर भी पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे पदार्थाश्रित

जितने गुण होते हैं उतने ही उसके भेद होते हैं। एक गुणके आश्रयभूत पदार्थका भेद दूसरे गुणके आश्रयभूत पदार्थके भेदसे पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे भिन्न होता है। पदार्थका भेद और तदाश्रित गुणमें तादात्म्य संबंध होता है। पदार्थका भेद और तदाश्रित गुण दोनों संबंधी हैं। पदार्थके जितने भेद होते हैं, और तदाश्रित जितने गुण होते हैं, उतने ही संबंधी होते हैं। पदार्थके भेदोंमें परस्पर भिन्नत्व होनेसे और तदाश्रित गुणोंमें व्यवहार नयकी दृष्टिसे भेद होनेसे, एक सम्बन्धियुगलसे अन्य संबंधियुगलका भेद होता है। संबंधियुगलोंमें परस्पर भेद होनेसे उनमें होनेवाले संबंधोंमें भी भेद होता है। संबंधियोंमें भेद होनेसे संबंधोंमें भेद होनेके कारण, अनेक संबंधियोंके होनेसे, एक पदार्थमें एक ही संबंधका सद्भाव घटित नहीं होता—अनेक संबंधोंका सद्भाव घटित होनेके कारण एक पदार्थके आश्रित अनेक गुणोंमें अभेदकी सिद्धि घटित नहीं होती। आम्र-फलरूप पदार्थके एक होनेपर भी, जिसके साथ आम्लरसगुणका तादात्म्य होता है, वह आम्ररसकी अवस्था और आम्लरसगुण तथा जिसके साथ मधुररस गुणका तादात्म्य होता है वह आम्रफलकी अवस्था और मधुररसगुण—इन दोनोंमें परस्पर भिन्नता होती है। इन संबंधियुगलोंमें परस्पर भिन्नता होनेसे उन युगलोंमें होनेवाले तादात्म्य स्वरूप संबंधोंमें भिन्नता होती है। अतः अनेक संबंधियोंके कारण एक आम्रफलमें होनेवाले संबंधोंका एकत्व सिद्ध न होनेसे, आम्रफलके आम्लरसगुण और मधुररसगुणमें अभेदकी सिद्धि नहीं हो सकती। यहाँ संबंधोंकी भिन्नता पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे सिद्ध की गई है। (५) गुणोंकी अपनी विशेषतासे—अपने विशेष स्वरूपसे—अपने आश्रयभूत पदार्थको युक्त करना ही पदार्थका गुणकृत उपकार है। एक पदार्थमें अनेक–अनंत–गुण होते हैं। प्रत्येक गुण अपने आश्रयभूत पदार्थको अपने स्वरूपसे युक्त बनाकर उस पदार्थका उपकार करता है। प्रत्येक गुणका स्वरूप निश्चित होनेसे उस गुणके द्वारा किया जानेवाला उपकार भी निश्चित स्वरूप वाला होता है। भिन्न-भिन्न गुणोंके द्वारा किये जाने वाले उपकारोंके निश्चित स्वरूपवाले होनेसे, अन्योन्यव्यावर्तक होनेके कारण परस्पर भिन्न होनेसे तथा अनेक होनेके कारण, पदार्थका उपकार करनेवाले गुणोंमें भेदकी सिद्धि होती है। जब कच्चे आमको आम्लरसगुण अपने स्वरूपसे युक्त करता है—व्याप्त करता है—तब आम्रफल क्रमसे खट्टा और मीठा कहा जाता है। आम्लरसगुण कृत उपकार और मधुररसगुण कृत उपकारमें परस्पर भेद होता है। यदि उपकारोंमें भेद न हुआ तो 'खट्टा आम' और 'मीठा आम'—आमकी ये अवस्थायें ही न रहेंगी। अतः विभिन्न गुणकृत उपकारोंमें भेद होनेसे एक पदार्थके गुणोंमें भेदकी सिद्धि हो जाती है। अथवा यदि पदार्थके सभी गुणोंमें भेद न होता तो एक ही इन्द्रियके सभी गुणोंका ग्रहण हो जाता। यदि आम्रफलके स्पर्श, रस, गंध और वर्णमें सर्वथा अभेद होता तो नेत्र इन्द्रिय द्वारा सभी गुणोंका युगपत् ग्रहण हो जाता। जब नेत्र इन्द्रिय द्वारा सभी गुणोंका युगपत् ग्रहण नहीं होता और जब प्रत्येक गुणका उपकार भिन्न है, तब आम्रफलके सभी गुण पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे, अन्योन्य-भिन्न हैं। (६) गुणोंके भेदसे ही पदार्थोंमें भेद पाया जाता है। क्योंकि गुण ही पदार्थोंकी अन्योन्य-भिन्नताका कारण होते हैं। अतः गुणीकी–अनेक गुणाश्रित पदार्थकी—द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे, पदार्थ जितने गुणोंका आश्रय होता हैं, उतने ही उसके भेद हो जाते हैं। आम्रफलके सभी प्रदेशोंके आम्लरसगुणसे युक्त होनेसे कच्चा आम, पके हुए आम्रफलसे भिन्न होता है। क्योंकि पके हुए आम्रफलके सभी प्रदेश मधुररसगुणसे युक्त होते हैं। आम्लरसगुण और मधुररसगुणके परस्पर भिन्न होनेसे उनके आश्रयभूत आम्रफलमें, उनके द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे एक होनेपर भी पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे उनमें विभिन्नता होती है। अतः गुणोंके भेदके कारण द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे पदार्थका एकत्व निर्बाध होनेपर भी, पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे उस पदार्थमें भेदोंकी—अनेक रूपत्वकी–सिद्धि होती है। अतः पदार्थके जितने गुण होते हैं, उतने उसके भेद होनेसे, उनके भेदोंसे गुणोंमें भी भेदकी सिद्धि हो जानेसे, एक द्रव्याश्रित गुणोंमें अभेदकी सिद्धि नहीं होती। यदि गुणोंके भेद होनेपर गुणिदेशमें अभेद ही स्वीकार किया जाय तो ज्ञानगुण और स्पर्श आदि गुणोंके परस्पर भिन्न होनेपर भी तदाश्रयभूत पदार्थोंमें अभेदकी सिद्धि हो जायेगी—अर्थात् जीव और पुद्गल द्रव्यमें एक द्रव्यत्वकी सिद्धिका प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। किन्तु

तत्त्वतोऽस्तित्वादीनामेकत्र वस्तुन्येवमभेदवृत्तेरसंभवे कालादिभिर्भिन्नात्मनामभेदोपचारः क्रियते । तदेताभ्यमभेदवृत्त्यभेदोपचाराभ्यां कृत्वा प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः समसमयं यदभिधायकं वाक्यं स सकलादेशः प्रमाणवाक्यापरपर्यायः, नयविषयी-

---

जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य एक रूप नहीं हैं, क्योंकि उनके असाधारण धर्म–गुण–परस्पर व्यावर्तक हैं । इससे स्पष्ट है कि जीवरूप गुणी और पुद्गलरूप गुणीके परस्पर भिन्न होनेसे उनके गुणोंकी परस्पर भिन्नता सिद्ध होती है । अत: प्रत्येक गुणके गुणिदेशके भिन्न होनेसे, एक पदार्थाश्रित अनंत गुणोंमें गुणिदेशकी दृष्टिसे अभेदकी सिद्धि नहीं होती । (७) दो विभिन्न पदार्थोंमें होनेवाले संयोगको संसर्ग कहते हैं । गुण और गुणीमें तथा परिणाम और परिणामीमें, यद्यपि द्रव्यार्थिक या निश्चय नयकी दृष्टिसे अभेद होता है, फिर भी पर्यायार्थिक या व्यवहार नयकी दृष्टिसे भेद ही होता है । व्यवहार नयकी दृष्टिसे उनमें भेद होनेसे, परिणाम और परिणामी तथा गुण और गुणीका जो संबंध होता है, वह संयोगरूप–संसर्गरूप–होता है । परिणाम और परिणामी तथा गुण और गुणी दोनों संसर्गी हैं । गुणीके जितने भी गुण होते हैं वे संसर्गी हैं । गुणरूप संसर्गीके भेदसे गुण और गुणीके सभी संसर्ग भिन्न होते हैं । यदि गुणोंमें भेद न होता तो संसर्गोंमें भी भेद न होता । प्रति समय पदार्थकी पर्यायरूपसे परिणति होती है । उस पर्यायके साथ गुणका संसर्ग होता है । अत: द्रव्यकी प्रत्येक पर्यायरूप संसर्गी और गुणरूप संसर्गी स्वभिन्न संसर्गियुगलसे भिन्न होता है । अत: संसर्गिभेदसे संसर्गभेदकी सिद्धि हो जाती है । संसर्गभेदके कारण गुणोंमें अभेदकी सिद्धि नहीं हो सकती । दण्डग्रहण कालमें होनेवाली देवदत्तकी पर्याय तथा दण्ड—इन दोनोंमें जो संसर्ग होता है, वह छत्रग्रहण कालमें होनेवाली देवदत्तकी पर्याय और छत्र—इनमें होनेवाले संसर्गसे भिन्न होनेके कारण, जिस प्रकार दण्ड और छत्रमें अभेद सिद्ध नहीं होता, उसी प्रकार संसर्ग भेदके कारण पदार्थके अनेक गुणोंमें भेद नहीं होता । (८) वाच्यभूत अर्थके अनेक और भिन्न होनेसे, उनके वाचक शब्द अनेक और भिन्न होते हैं । एक पदार्थगत अनेक वाच्यभूत धर्मोंके वाचक शब्द अनेक और भिन्न-भिन्न होते हैं । धर्मोंके वाचक शब्दके भिन्न-भिन्न होनेसे—एक शब्दके द्वारा वाच्य न होनेसे—शब्दकी दृष्टिसे भी, एक पदार्थाश्रित धर्मों—गुणों—में अभेदकी सिद्धि नहीं होती । यदि एक पदार्थके आश्रित अनन्त धर्मोंका वाचक एक ही शब्द होता है—ऐसा स्वीकार किया गया, तो सभी पदार्थोंका वाचक एक ही शब्दके होनेकी आपत्ति उपस्थित हो जानेसे, अन्य शब्दोंकी विफलता होनेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है । इस प्रकार व्यवहार नय या पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे अस्तित्व आदि धर्मोंका एक वस्तुमें अभेद रूपसे आश्रित रहना असंभव होनेके कारण, काल आदि की दृष्टिसे भिन्न स्वरूप होनेवाले धर्मोंमें अभेदका उपचार किया जाता है—अर्थात् 'इनमें भेद नहीं होता', ऐस उपचारसे कहा जाता है ।

इससे स्पष्ट है कि द्रव्यार्थिक नय या निश्चय नयकी दृष्टिसे पदार्थाश्रित अनंत धर्मोंमें, तथा पदार्थ और उसके अनंत धर्मोंमें अभेद होता है, तथा पर्यायार्थिक नय या व्यवहार नयकी दृष्टिसे उनमें भेद होता है । जब पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे अनन्त गुणोंमें, तथा गुण और गुणीमें भेदकी प्रधानता होती है, तब अभेदका उपचार किया जाता है, तथा जब द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे अनंत गुणोंमें तथा गुण और गुणीमें अभेदकी प्रधानता होती है, तब भेदका उपचार किया जाता है) ।[1]

द्रव्यार्थिक नयकी गौणता और पर्यायार्थिक नयकी प्रधानता होनेपर काल आदिसे परस्पर भिन्न होनेवाले अस्तित्व आदि गुणोंकी एक पदार्थमें, वस्तुत: इस प्रकार अन्योन्य-भेद रूपसे स्थितिकी संभाव्यता न होनेपर, 'अस्तित्व आदि गुणोंकी एक पदार्थमें अभेदसे—अन्योन्य-भेद रूपसे—स्थिति होती है'—ऐसा अभेदका उपचार किया जाता है। अतएव अभेदवृत्ति और अभेदोपचार—इन दोनोंसे, प्रमाणद्वारा प्रतिपन्न अनन्त धर्मोंसे युक्त वस्तुका युगपत् प्रतिपादन करनेवाला वाक्य सकलादेश अथवा प्रमाणवाक्य है । तथा, नयके

---

१. प्रोफेसर एम० जी० कोठारीके सौजन्यसे ।

कृतस्य वस्तुधर्मस्य भेदवृत्तिप्राधान्याद् भेदोपचाराद् वा क्रमेण यदभिधायकं वाक्यं स विकलादेशो नयवाक्यापरपर्यायः । इति स्थितम् । ततः साधूक्तम् आदेशभेदोदितसप्तभङ्गम् ॥ इति काव्यार्थः ॥ २३ ॥

द्वारा विषयीकृत वस्तुधर्मका पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे उस वस्तुधर्मकी, उस वस्तुके अन्य धर्मोंसे भिन्न रूपसे वस्तुमें स्थितिकी प्रधानता होनेसे, तथा द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे वस्तुधर्मके, उस वस्तुके अन्य धर्मोंसे अभिन्न रूपसे स्थिति होनेके कारण, उस वस्तुधर्मका उस वस्तुके अन्य धर्मोंसे भेदका उपचार होनेसे, क्रमसे प्रतिपादन करनेवाला वाक्य विकलादेश अथवा नयवाक्य है। यह सिद्ध हो गया। अतएव सकलादेश और विकलादेशके भेदसे जिसके सात भंग प्रतिपादित किये गये हैं, वह ठीक ही है ॥ यह श्लोकका अर्थ है ॥२३॥

भावार्थ—इस श्लोकमें जैन दर्शनके सात भंगोंका प्ररूपण किया गया है। 'सप्तभंगी' अनेकान्तवादका समर्थन करनेवाली युक्तिविद्या है। जैन सिद्धांतके अनुसार प्रत्येक पदार्थमें अनन्त धर्म विद्यमान हैं। इन अनन्त धर्मोंका कथन एक समयमें किसी एक शब्दसे नहीं किया जा सकता। इसलिये जैन विद्वानोंने नयवाक्यका निर्देश किया है। इसी प्रमाणवाक्य और नयवाक्यको क्रमसे सकलादेश और विकलादेश कहते हैं। पदार्थके धर्मोंका काल, आत्मरूप, अर्थ, संबंध, उपकार, गुणिदेश, संसर्ग और शब्दकी अपेक्षा अभेद रूपसे एक साथ कथन करनेवाले वाक्यको सकलादेश, अथवा प्रमाणवाक्य कहते हैं। तथा काल, आत्मरूप आदिकी भेद विवक्षासे पदार्थोंके धर्मोंको क्रमसे कहनेवाले वाक्यको विकलादेश, अथवा नयवाक्य कहते हैं। सकलादेश और विकलादेश प्रमाणसप्तभंगी और नयसप्तभंगीके भेदसे सात-सात वाक्योंमें विभक्त हैं।

(१) स्यादस्ति जीवः—किसी अपेक्षासे जीव अस्ति रूप ही है। इस भंगमें द्रव्यार्थिक नयको प्रधानता, और पर्यायार्थिक नयकी गौणता है। इसलिये जब हम कहते हैं कि 'स्यादस्त्येव जीवः', तो इसका अर्थ होता है कि किसी अपेक्षासे जीवके अस्तित्व धर्मकी प्रधानता, और नास्तित्व धर्मकी गौणता है। दूसरे शब्दोंमें हम कह सकते हैं कि जीव अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा विद्यमान है, और दूसरे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा नहीं। यदि जीव अपने द्रव्य आदिकी अपेक्षा अस्ति रूप, और दूसरे द्रव्य आदिकी अपेक्षा नास्ति रूप न हो, तो जीवका स्वरूप नहीं बन सकता। **(२) स्यान्नास्ति जीवः**—किसी अपेक्षासे जीव नास्ति रूप ही है। इस भंगमें पर्यायार्थिक नयकी मुख्यता, और द्रव्यार्थिक नयकी गौणता है। जीव परसत्ताके अभावकी अपेक्षाको मुख्य करके नास्ति रूप है, तथा स्वसत्ताके भावकी अपेक्षाको गौण करके अस्ति रूप है। यदि पदार्थोंमें परसत्ताका अभाव न माना जाय, तो समस्त पदार्थ एक रूप हो जाय। यह परसत्ताका अभाव अस्तित्व रूपकी तरह स्वसत्ताके भावकी अपेक्षा रखता है। इसलिये जिस प्रकार स्वसत्ताका भाव अस्तित्व रूपसे है, और नास्तित्व रूपसे नहीं, उसी तरह परसत्ताका अभाव भी स्वसत्ताके भावकी अपेक्षा रखता है। कोई भी वस्तु सर्वथा भाव अथवा अभाव रूप नहीं हो सकती, इसलिये भाव और अभावको सापेक्ष ही मानना चाहिये। **(३) स्यादस्ति च नास्ति च जीवः**—जीव कथंचित् अस्ति और नास्ति स्वरूप है। इस नयमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयोंकी प्रधानता है। जिस समय वक्ताके अस्ति और नास्ति दोनों धर्मोंके कथन करनेकी विवक्षा होती है, उस समय इस भंगका व्यवहार होता है। यह नय भी कथंचित् रूप है। यदि वस्तुके स्वरूपको सर्वथा वक्तव्य मानकर किसी अपेक्षासे भी अवक्तव्य न मानें, तो एकान्त पक्षमें अनेक दूषण आते हैं। **(४) स्यादवक्तव्य जीवः**—जीव कथंचित् अवक्तव्य ही है। इस भंगमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयोंकी अप्रधानता है। ऊपर कहा चुका है कि जिस समय वस्तुका स्वरूप एक नयकी अपेक्षा कहा जाता है, उस समय दूसरा नय सर्वथा निरपेक्ष नहीं रहता। किन्तु जिस नयकी जहाँ विवक्षा होती है, वह नय वहाँ प्रधान होता है, और जिस नयकी जहाँ विवक्षा नहीं होती, वह नय वहाँ गौण होता है। प्रथम भंगमें जीवके

अनन्तरं भगवद्दर्शितस्यानेकान्तात्मनो वस्तुनो बुधरूपवेद्यत्वमुक्तम्। अनेकान्तात्मकत्वं च सप्तभङ्गीप्ररूपणेन सुखोन्नेयं स्यादिति सापि निरूपिता। तस्यां च विरुद्धधर्माध्यासितं वस्तु पश्यन्त एकान्तवादिनोऽबुधरूपा विरोधमुद्भावयन्ति तेषां प्रमाणमार्गात् च्यवनमाह—

उपाधिभेदोपहितं विरुद्धं नार्थेष्वसत्त्वं सदवाच्यते च।
इत्यप्रबुध्यैव विरोधभीता जडास्तदेकान्तहताः पतन्ति ॥२४॥

अर्थेषु पदार्थेषु चेतनाचेतनेषु असत्त्वं नास्तित्वं न विरुद्धं न विरोधावरुद्धम्। अस्तित्वेन सह विरोधं नानुभवतीत्यर्थः। न केवलमसत्त्वं न विरुद्धम् किंतु सदवाच्यते च। सच्चावाच्यं च सदवाच्ये, तयोर्भावौ सदवाच्यते। अस्तित्वावक्तव्यत्वे इत्यर्थः। ते अपि न विरुद्धे। तथाहि—अस्तित्वं नास्तित्वेन सह न विरुध्यते। अवक्तव्यत्वमपि विधिनिषेधात्मकमन्योन्यं न विरुध्यते। अथवा अवक्तव्यत्वं वक्तव्यत्वेन साकं न विरोधमुद्वहति। अनेन च नास्तित्वा-

---

अस्तित्वकी मुख्यता है, दूसरे भंगमें नास्तित्व धर्मकी मुख्यता है। अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मोंकी मुख्यतासे जीवका एक साथ कथन करना संभव नहीं है, क्योंकि एक शब्दसे अनेक गुणोंका निरूपण नहीं हो सकता। इसलिये एक साथ अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मोंकी अपेक्षासे जीव कथंचित् अवक्तव्य ही है। (५) **स्यादस्ति च अवक्तव्यश्च जीवः**—जीव कथंचित् अस्ति रूप और अवक्तव्य रूप है। इस नयमें द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानता, और द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिककी अप्रधानता है। किंचित् द्रव्यार्थ अथवा पर्यायार्थ विशेषके आश्रयसे जीव अस्ति स्वरूप है, तथा द्रव्यसामान्य और पर्यायसामान्य अथवा द्रव्यविशेष और पर्यायविशेषकी एक साथ अभिन्न विवक्षासे जीव अवक्तव्य स्वरूप है। जैसे, जीवत्व अथवा मनुष्यत्वकी अपेक्षासे आत्मा अस्तित्व स्वरूप है, तथा द्रव्यसामान्य और पर्यायसामान्यकी अपेक्षा वस्तुके भाव और अवस्तुके अभावके एक साथ अभेदकी अपेक्षा आत्मा अवक्तव्य है। (६) **स्यान्नास्ति च अवक्तव्यश्च जीवः**—जीव कथंचित् नास्ति और अवक्तव्य रूप है। इस भंगमें पर्यायार्थिक नयकी प्रधानता, और द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनोंकी अप्रधानता है। जीव पर्यायकी अपेक्षासे नास्ति रूप है, तथा अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मोंकी एक साथ अभेद विवक्षासे अवक्तव्य स्वरूप है। (७) **स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च जीवः**—जीव कथंचित् अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य रूप है। जीव द्रव्यकी अपेक्षा अस्ति, पर्यायकी अपेक्षा नास्ति और द्रव्य-पर्याय दोनोंकी एक साथ अपेक्षासे अवक्तव्य रूप है। इस भंगमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनोंकी प्रधानता और अप्रधानता है।

जिन भगवान् द्वारा प्रतिपादित अनेकान्तात्मक वस्तु पंडितों द्वारा जानने योग्य है, यह कहा जा चुका है। सप्तभंगीके प्ररूपणके द्वारा वस्तुके अनेकान्तात्मक होनेका ज्ञान सुखपूर्वक होता है, इसलिये उस सप्तभंगीका भी प्ररूपण कर दिया गया है। वस्तुको विरुद्धधर्माध्यासित रूपमें देखनेवाले एकांतवादी अज्ञानी लोग उस सप्तभंगीमें विरोधकी उद्भावना करते हैं। ये एकान्तवादी सन्मार्गसे च्युत होते हैं—

श्लोकार्थ—पदार्थोंमें अंशोंके अनेकत्वसे व्यक्त हुआ नास्तित्व अस्तित्वका, अस्तित्व नास्तित्वका तथा अवक्तव्य वक्तव्यका विरोधी नहीं होता। ऐसा जाने विना ही वस्तुगत धर्मोंमें विरोध होनेके भयसे व्याकुल, सत्त्व आदि रूप एकान्तोंसे आहत मूर्ख लोग न्यायमार्गसे च्युत होते हैं।

व्याख्यार्थ—जिस तरह चेतन और अचेतन पदार्थोंमें अस्तित्व और नास्तित्वमें परस्पर कोई विरोध नहीं, उसी तरह विधि और निषेध रूप अवक्तव्यका भी अस्तित्व और नास्तित्वसे विरोध नहीं है। अथवा, अवक्तव्यका वक्तव्यके साथ कोई विरोध नहीं, इसलिये अवक्तव्यका अस्तित्व और नास्तित्वसे भी विरोध नहीं है। अतएव अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्य इन तीन मूल भंगोंमें परस्पर विरोध न होनेसे

स्तित्वावक्तव्यत्वलक्षणभङ्गत्रयेण सकलसप्तभङ्गया निर्विरोधता उपलक्षिता । अमीषामेव त्रयाणां मुख्यत्वाच्छेषभङ्गानां च संयोगजत्वेनामीष्वेवान्तर्भावादिति ॥

नन्वेते धर्माः परस्परं विरुद्धाः तत्कथमेकत्र वस्तुन्येषां समावेशः संभवति इति विशेषणद्वारेण हेतुमाह उपाधिभेदोपहितम् इति । उपाधयोऽवच्छेदका अंशप्रकाराः तेषां भेदो नानात्वम्, तेनोपहितमर्पितम् । असत्त्वस्य विशेषणमेतत् । उपाधिभेदोपहितं सदर्थेष्वसत्त्वं न विरुद्धम् । सदवाच्यतयोश्च वचनभेदं कृत्वा योजनीयम् । उपाधिभेदोपहिते सती सदवाच्यते अपि न विरुद्धे ।

अयमभिभिप्रायः । परस्परपरिहारेण ये वर्तेते तयोः शीतोष्णवत् सहानवस्थानलक्षणो विरोधः । न चात्रैवम्, सत्त्वासत्त्वयोरितरेतरमविष्वग्भावेन वर्तनात् । न हि घटादौ सत्त्वमसत्त्वं परिहृत्य वर्तते, पररूपेणापि सत्त्वप्रसङ्गात् । तथा च तद्व्यतिरिक्तार्थान्तराणां नैरर्थक्यम्, तेनैव त्रिभुवनार्थसाध्यार्थक्रियाणां सिद्धेः । न चासत्त्वं सत्त्वं परिहृत्य वर्तते, स्वरूपेणाप्य-

---

सम्पूर्ण सप्तभंगीमें भी कोई विरोध नहीं आता क्योंकि आदिके तीन भंग ही मुख्य भंग हैं, शेष भंग इन्हीं तीनोंके संयोगसे बनते हैं, अतएव उनका इन्हींमें अंतर्भाव हो जाता है ।

शंका—अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्य परस्पर विरुद्ध हैं, अतएव ये किसी वस्तुमें एक साथ नहीं रह सकते । समाधान—वास्तवमें अस्तित्व आदिमें विरोध नहीं है, क्योंकि अस्तित्व आदि किसी अपेक्षासे स्वीकार किये गये हैं । पदार्थोंमें अस्तित्व, नास्तित्व आदि अनेक धर्म विद्यमान हैं । जिस समय हम पदार्थोंनें अस्तित्व धर्म सिद्ध करते हैं, उस समय अस्तित्व धर्मकी प्रधानता और अन्य धर्मोंकी गौणता रहती है । अतएव अस्तित्व और नास्तित्व धर्ममें परस्पर विरोध नहीं है । इसी तरह अस्तित्व और अवक्तव्य भी अपेक्षाके भेदसे माने गये हैं । इसलिये इनमें विरोध नहीं आता ।

यहाँ अभिप्राय है—जिस प्रकार उष्णका परिहार करके शीत अस्तिरूप होता है, और शीतका परिहार करके उष्ण अस्ति रूप होता है—अर्थात् शीत और उष्ण एक पदार्थमें एक साथ नहीं रहते—उसी प्रकार जो एक दूसरेका परिहार करके स्वयं अस्तिरूप होता है; उसीमें सहानवस्थारूप विरोध होता है । लेकिन यहाँ यह बात नहीं है । क्योंकि सत्त्व अर्थात् अस्तित्व धर्म और असत्त्व अर्थात् नास्तित्व धर्म परस्पर तादात्म्य संबंधको प्राप्त होकर—एक दूसरेका परिहार न करते हुए एक वस्तुमें एक साथ रहते हैं । घट आदि पदार्थमें होनेवाला घट स्वरूपसे सत्त्व (अस्तित्व), उस घट आदि पदार्थमें होनेवाले घटभिन्न पदार्थके स्वरूपसे असत्त्व (नास्तित्व) का परिहार करके घट आदि पदार्थोंमें नहीं रहता—अर्थात् दोनों धर्म घट आदि पदार्थमें रहते हैं । क्योंकि यदि घट आदि पदार्थमें होनेवाले घटस्वरूपसे सत्त्वके द्वारा उस घट आदि पदार्थमें होनेवाले घट आदि भिन्न पदार्थके स्वरूपसे असत्त्व (नास्तित्व) का परिहार किया गया तो घट आदि पदार्थसे भिन्न पदार्थके स्वरूपसे असत्त्वका घट आदि पदार्थमें अभाव हो जानेसे, घट आदि पदार्थके घट आदि पदार्थ-भिन्न पदार्थके स्वरूपसे युक्त बन जाने अथवा पररूपसे भी सद्रूप होनेका प्रसंग उपस्थित हो जायेगा । तथा, घट आदि पदार्थकी घट आदि पदार्थ-भिन्न पदार्थके स्वरूपसे भी सद्रूपता होनेपर, घट आदि पदार्थ भिन्न पदार्थ निरर्थक बन जायेंगे । क्योंकि तीनों लोकोंके पदार्थके द्वारा सिद्ध की जानेवाली अर्थक्रियाओं की सिद्धि उसी घट पदार्थसे हो जायेगी । तथा असत्त्व—घट आदि पदार्थ-भिन्न पदार्थके स्वरूपसे घट आदि पदार्थका नास्तित्त्व—घट आदि पदार्थमें घट आदि पदार्थके स्वरूपसे होनेवाले सत्त्व (अस्तित्व) का परिहार करके घट आदि पदार्थमें नहीं रहता । यदि ऐसा हो तो घट आदि पदार्थके स्वरूपसे घट आदि पदार्थमें होनेवाले सत्त्व (अस्तित्व) का घट आदि पदार्थ-भिन्न पदार्थके स्वरूपसे घट आदि पदार्थमें होनेवाले असत्त्व (नास्तित्व) द्वारा परिहार किया जानेसे, घट आदि पदार्थमें होनेवाले स्वरूपसे सत्त्व (अस्तित्व) का अभाव हो जानेके कारण, घट आदि पदार्थके स्वरूपसे भी असत्त्व (नास्तित्व) हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है । घट आदि पदार्थ-

सत्त्वप्राप्तेः। तथा च निरुपाख्यत्वात् सर्वशून्यतेति। तदा हि विरोधः स्याद् यद्येकोपाधिकं सत्त्वमसत्त्वं च स्यात्। न चैवम्। यतो न हि येनैवांशेन सत्त्वं तेनैवासत्त्वमपि। किं त्वन्योपाधिकं सत्त्वम्, अन्योपाधिकं पुनरसत्त्वम्। स्वरूपेण हि सत्त्वं पररूपेण चासत्त्वम्॥

दृष्टं ह्येकस्मिन्नेव चित्रपटावयविनि अन्योपाधिकं तु नीलत्वम्, अन्योपाधिकाश्चेतरे वर्णाः। नीलत्वं हि नीलीरागाद्युपाधिकम्, वर्णान्तराणि च तत्तद्रञ्जनद्रव्योपाधिकानि। एवं मेचकरत्ने[1]ऽपि तत्तद्वर्णपुद्गलोपाधिकं वैचित्र्यमवसेयम्। न चैभिर्दृष्टान्तैः सत्त्वासत्त्वयोर्भिन्नदेशत्वप्राप्तिः चित्रपटाद्यवयविन एकत्वात् तत्रापि भिन्नदेशत्वासिद्धेः। कथंचित्पक्षस्तु दृष्टान्ते दार्ष्टान्तिके च स्याद्वादिनां न दुर्लभः। एवमप्यपरितोषश्चेद् आयुष्मतः, तर्ह्येकस्यैव पुंसस्तत्तदुपाधिभेदात् पितृत्वपुत्रत्वमातुलत्वभागिनेयत्वपितृव्यत्वभ्रातृव्यत्वादिधर्माणां परस्परविरुद्धानामपि प्रसिद्धिदर्शनात् किं वाच्यम्। एवमवक्तव्यत्वादयोऽपि वाच्या इति॥

उक्तप्रकारेण उपाधिभेदेन वास्तवं विरोधाभावमप्रबुध्यैवाज्ञात्वैव। एवकारोऽवधारणे। स च तेषां सम्यग्ज्ञानस्याभाव एव न पुनर्लेशतोऽपि भाव इति व्यनक्ति। ततस्ते विरोधभीताः सत्त्वासत्त्वादिधर्माणां बहिर्मुखशेमुष्या संभावितो वा विरोधः सहानवस्थानादिः, तस्माद् भीतास्त्रस्तमानसाः। अत एव जडाः तात्त्विकभयहेतोरभावेऽपि तथाविधपशुवद् भीरुत्वान्मूर्खाः परवादिनः। तदेकान्तहताः तेषां सत्त्वादिधर्माणां य एकान्त इतरधर्मनिषेधेन स्वाभिप्रेतधर्मव्यवस्थापननिश्चयस्तेन हता इव हताः। पतन्ति स्खलन्ति पतिताश्च सन्तस्ते न्यायमार्गाक्रमणे न समर्थाः। न्यायमार्गाध्वनीनानां च सर्वेषामप्याक्रमणीयतां यान्तीति भावः। यद्वा पतन्तीति प्रमाणमार्गतः च्यवन्ते। लोके हि सन्मार्गच्युताः पतित इति परिभाष्यते। अथवा यथा वज्रा-

का स्वस्वरूपसे भी अस्तित्व न रहा तो सभी पदार्थोंके निरुपाय बन जानेसे—सभी पदार्थोंके स्वस्वरूपसे अस्तित्वका अभाव हो जानेसे—सर्व शून्यताका प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। सत्त्व और असत्त्वमें विरोध तभी उपस्थित हो सकता है जब कि स्वरूप अथवा पररूपसे ही सत्त्वधर्म और असत्त्वधर्मका पदार्थमें सद्भाव हो। किन्तु सत्त्वधर्म और असत्त्वधर्मका स्वरूप अथवा पररूपसे पदार्थमें सद्भाव नहीं है। क्योंकि पदार्थमें जिस अंशसे सत्त्व होता है उसी अंशसे असत्त्व नहीं होता; किन्तु पदार्थमें होनेवाले सत्त्वका कारण (स्वरूप) जुदा होता है और असत्त्वका कारण (पररूप) जुदा। वस्तुमें होनेवाला सत्त्व स्वरूपसे और असत्त्व पररूपसे (पररूपके कारणसे) होता है।

इसी प्रकार एक चित्रपट (अनेक रंगोंसे रंगा हुआ वस्त्र) में जो नीला रंग दीख पड़ता है, वह दूसरी वस्तुके सम्बन्धसे होता है, और दूसरे रंग अपनी जुदी-जुदी सामग्रियोंसे होते हैं। मेचक रत्नमें भी इसी प्रकार भिन्न-भिन्न वर्णके पुद्गलोंकी अपेक्षा विचित्रता पायी जाती है। यदि कहो कि चित्रपट और मेचकके दृष्टान्तसे सत्त्व और असत्त्वका भिन्न-भिन्न स्थानोंमें रहना सिद्ध होता है तो यह ठीक नहीं; क्योंकि चित्रपट और मेचक रत्न अनेक रंगोंके आश्रित होकर भी स्वयं अखंड हैं, अतएव भिन्न-भिन्न रंगोंका एक ही आधार माना जाता है। अतएव जिस प्रकार स्याद्वादियोंके मतमें भिन्न-भिन्न रंग और उनके आधारभूत वस्त्र परस्पर कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न हैं, उसी प्रकार सत्त्व और असत्त्वके आश्रित पदार्थ भी परस्पर कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न हैं। जिस प्रकार एक ही पुरुषमें भिन्न-भिन्न अपेक्षाओंसे पिता, पुत्र, मामा, भानजा, चाचा, भतीजा आदि परस्पर विरुद्ध धर्म मौजूद रहते हैं, उसी तरह एक ही वस्तुमें अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्य धर्म विद्यमान हैं।

इस प्रकार सप्तभंगीवादमें नाना अपेक्षाकृत विरोधाभावको न समझकर, अस्तित्व और नास्तित्व धर्मोंमें स्थूल रूपसे दिखाई देनेवाले विरोधसे भयभीत होकर, अस्तित्व आदि धर्मोंमें नास्तित्व आदि धर्मोंका

१. पञ्चवर्णं रत्नं।

दिप्रहारेण हतः पतितो मूर्च्छामतुच्छामासाद्य निरुद्धवाक्प्रसरो भवति, एवं तेऽपि वादिनः स्वाभिमतैकान्तवादेन युक्तिसरणीमननुसरता वज्राशनिप्रायेण निहताः सन्तः स्याद्वादिनां पुरतोऽकिञ्चित्करा वाङ्मात्रमपि नोच्चारयितुमीशत इति ।

अत्र च विरोधस्योपलक्षणत्वात् वैयधिकरण्यम् अनवस्था संकरः व्यतिकरः संशयः अप्रतिपत्तिः विषयव्यवस्थाहानिरित्येतेऽपि परोद्भाविता दोषा अभ्यूह्याः । तथाहि—सामान्यविशेषात्मकं वस्तु इत्युपन्यस्ते परे उपालब्धारो भवन्ति । यथा—सामान्यविशेषयोर्विधिप्रतिषेधरूपयोर्विरुद्धधर्मयोरेकत्राभिन्ने वस्तुनि असंभवात् शीतोष्णवदिति विरोधः । न हि यदेव विधेरधिकरणं तदेव प्रतिषेधस्याधिकरणं भवितुमर्हति, एकरूपतापत्तेः, ततो वैयधिकरण्यमपि[1] भवति । अपरं च येनात्मना सामान्यस्याधिकरणं येन च विशेषस्य तावप्यात्मानौ एकेनैव स्वभावेनाधिकरोति द्वाभ्यां वा स्वभावाभ्याम् ? एकेनैव चेत् तत्र पूर्ववद् विरोधः । द्वाभ्यां वा स्वभावाभ्यां सामान्यविशेषाख्यं स्वभावद्वयमधिकरोति तदानवस्था[2], तावपि

निषेध करके अपने मतको स्थापित करनेके लिये एकान्त पक्षका अवलम्बन लेनेवाले युक्तिमार्गका अनुसरण करनेमें असमर्थ मूर्ख एकान्तवादी एकान्तवादके वज्रप्रहारसे स्याद्वादियोंके समक्ष निस्तेज होकर न्यायमार्गसे च्युत होकर अवाक् हो जाते हैं ।

शंका—इस श्लोकमें 'विरोधभीताः' इस सामासिक पदमें पाये जानेवाले 'विरोध' शब्दके उपलक्षण होनेसे दूसरोंके द्वारा प्रतिपादित विरोध, वैयधिकरण्य, अनवस्था, संकर, व्यतिकर, संशय, अप्रतिपत्ति और विषयव्यवस्थाहानि—ये आठ दोष आते हैं : (१) जिस प्रकार एक अभिन्न वस्तुमें शीत और उष्ण इन विरुद्ध धर्मोंके सद्भावका संभव न होनेसे उन दोनोंमें विरोध होता है, उसी प्रकार एक अभिन्न वस्तुमें विधिरूप (अस्तित्व रूप) सामान्य धर्म तथा प्रतिषेध रूप (नास्तित्व रूप) विशेष धर्म—इन विरुद्ध धर्मोंके सद्भाव न होनेसे उन दोनोंमें विरोध होता है । (२) जो विधि (विधिरूप सामान्य अर्थात् अस्तित्व) का अधिकरण होता है, वही प्रतिषेध (प्रतिषेधरूप विशेष अर्थात् नास्तित्व) का अधिकरण होने योग्य नहीं । अन्यथ ाउन दोनोंके एक रूप होनेसे विधि और प्रतिषेध, इन दोनोंकी एकरूपताका प्रसंग उपस्थित हो जायंगा । विधि धर्म और प्रतिषेध धर्म (अस्तित्व और नास्तित्व धर्म) का अधिकरण एक होनेसे दोनोंका अभेद सिद्ध हो जानेका प्रसंग उपस्थित होनेके कारण उन दोनोंके अधिकरणोंमें भी भेद सिद्ध होता है—वैयधिकरण्य । (३) जिस रूप—स्वरूप–से पदार्थ (विधिरूप—अस्तित्वरूप) सामान्यका अधिकरण होता है और जिस रूपसे (पररूपसे) वही पदार्थ (प्रतिषेध रूप–नास्तित्व रूप) विशेषका अधिकरण होता है, उन दोनों रूपों (स्वरूप और पररूप) को एक ही रूपसे (स्वरूप और पररूप—इन दोनों रूपोंमेंसे किसी एक रूपसे) वह पदार्थ धारण करता है, अथवा उन दोनों रूपोंसे धारण करता है ? (स्वरूप और पररूप) इन दोनों रूपोंमेंसे किसी एक ही रूपसे (स्वरूप और पररूप इन रूपोंको) धारण करता हो तो एक अभिन्न पदार्थमें इन दोनों रूपोंका सद्भाव होनेमें विरोध उपस्थित हो जाता है—एक ही स्वभावसे एक ही अभिन्न पदार्थमें स्वरूप और पररूपका सद्भाव होनेमें विरोध उपस्थित होता है । स्वरूप और पररूप इन दोनों स्वभावोंसे सामान्यरूप और विशेषरूप इन दोनों स्वभावों (पदार्थों) को धारण करता है, यदि ऐसा स्वीकार किया जाये तो अनवस्था दोष उपस्थित होता है । क्योंकि वे दोनों स्वरूप और पररूप स्वभावोंको, अन्य स्वरूप और पररूप–इन दो स्वभावोंसे, फिर इन स्वरूप और पररूप स्वभावोंको अन्य स्वरूप और पररूप–इन दो स्वभावोंसे धारण करनेकी अप्रामाणिक अनंत कल्पनायें करनी पड़ती हैं । (४) जिस स्वरूपसे पदार्थ सामान्य (अस्तित्वका) का अधिकरण होता है, उसी रूपसे सामान्य (अस्तित्व) और विशेष (नास्तित्व)

१. विभिन्नाधिकरणवृत्तित्वम् ।
२. अप्रामाणिकपदार्थपरम्परापरिकल्पनाविश्रान्त्यभावश्चानवस्था ।

स्वभावान्तराभ्याम् तावपि स्वभावान्तराभ्यामिति । येनात्मना सामान्यस्याधिकरणं तेन सामान्यस्य विशेषस्य च, येन च, विशेषस्याधिकरणं तेन विशेषस्य सामान्यस्य चेति संकर-दोषः[१] । येन स्वभावेन सामान्यं तेन विशेषः, येन विशेषस्तेन सामान्यमिति व्यतिकरः[२] । ततश्च वस्तुनोऽसाधारणाकारेण निश्चेतुमशक्तेः संशयः । ततश्चाप्रतिपत्तिः । ततश्च प्रमाण-विषयव्यवस्थाहानिरिति ॥

एते च दोषाः स्याद्वादस्य जात्यन्तरत्वाद् निरवकाशा एव । अतः स्याद्वादमर्मवेदिभि-रुद्धरणीयास्तत्तदुपपत्तिभिरिति स्वतन्त्रतया निरपेक्षयोरेव सामान्यविशेषयोर्विधिप्रतिषेधरूप-योस्तेषामवकाशात् । अथवा विरोधशब्दोऽत्र दोषवाची यथा विरुद्धमाचरतीति दुष्टमित्यर्थः । ततश्च विरोधेभ्यो विरोधवैयधिकरण्यादिदोषेभ्यो भीता इति व्याख्येयम् । एवं च सामान्य-शब्देन सर्वा अपि दोषव्यक्तयः संगृहीता भवन्ति ॥ इति काव्यार्थः ॥ २४ ॥

का अधिकरण हो जानेसे, तथा जिस रूपसे पदार्थ विशेष (नास्तित्व) का अधिकरण होता है, उसी रूपसे विशेष (नास्तित्व) और सामान्य (अस्तित्व) का अधिकरण हो जानेसे संकर दोष आता है । अर्थात् जिस रूपसे (स्वरूप चतुष्टयसे) पदार्थमें अस्तित्व धर्मका सद्भाव होता है, उसी रूपसे (स्वरूप चतुष्टयसे) उसी पदार्थमें नास्तित्व धर्मका सद्भाव होनेका प्रसंग आ जानेके कारण, तथा जिस रूपसे (पररूप चतुष्टयसे) पदार्थमें नास्तित्व धर्मका सद्भाव होता है, उसी रूपसे (पररूप चतुष्टयसे) उसी पदार्थमें अस्तित्व धर्मका सद्भाव होनेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है । (५) जिस स्वरूपसे पदार्थमें सामान्य–अस्तित्व–का सद्भाव होता है, उसी स्वरूपसे, उसी पदार्थमें विशेष–नास्तित्व–का सद्भाव होनेसे, तथा जिस स्वरूपसे पदार्थमें विशेष–नास्तित्व–का सद्भाव होता है, उसी स्वरूपसे, उसी पदार्थमें सामान्य–अस्तित्व–का सद्भाव होनेसे व्यतिकर नामक दोष आता है । (६) व्यतिकर दोष आ जानेसे वस्तुका सत्त्वरूप या असत्त्वरूप असाधारण धर्मके द्वारा निश्चय करनेकी शक्तिका अभाव होनेके कारण संशय नामक दोष उपस्थित होता है । (७) संशय होनेसे वस्तुका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो सकता, अतएव स्याद्वादमें अप्रतिपत्ति दोष आता है । (८) तथा, वस्तुका यथार्थ ज्ञान न होनेसे वस्तुकी व्यवस्था नहीं बनती, अतएव स्याद्वादमें विषय-व्यवस्थाहानि (अभाव) दोष आता है ।

(उक्त आठ दोषोंका परिहार—(१) किसी न किसी प्रकारसे प्रतीतिका—ज्ञानका—विषय बननेवाले पदार्थमें स्वरूपकी अपेक्षासे विपरीत भासमान विवक्षित सत्त्वधर्ममें, और पररूपकी अपेक्षासे भासमान विवक्षित असत्त्वधर्ममें विरोध नहीं होता । दो धर्मोंमेंसे एक धर्मका एक पदार्थमें सद्भाव होनेपर जब दूसरे धर्मकी उपलब्धि नहीं होती, तब अनुपलब्धिसे उपलभ्यमान धर्म और अनुपलभ्यमान धर्ममें विरोधकी सिद्धि होती है । स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावके रूपसे पदार्थका जब अस्तित्व होता है, तब परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावके रूपसे (अर्थात् जिस पदार्थमें स्वरूपादिचतुष्टयसे अस्तित्व धर्मका सद्भाव होता है, उसी पदार्थमें पररूपचतुष्टयका अभाव होनेसे) उसी पदार्थके नास्तित्व धर्मका उपलम्भ (प्राप्ति) नहीं होता, ऐसी बात नहीं है । क्योंकि जिस प्रकार स्वरूपादिसे अस्तित्व धर्मका सद्भाव अनुभवसे सिद्ध है, उसी प्रकार पररूपादिसे नास्तित्व धर्मका सद्भाव भी अनुभवसे सिद्ध है । वस्तुका सर्वथा अर्थात् स्वरूप और पररूपसे अस्तित्व ही वस्तुका स्वरूप नहीं है; क्योंकि जिस प्रकार स्वरूपसे अस्तित्व वस्तुका स्वरूप होता है, उसी प्रकार पररूपसे भी अस्तित्व वस्तुका धर्म बन जायगा । वस्तुका सर्वथा अर्थात् स्वरूप और पररूपसे नास्तित्व भी वस्तुका स्वरूप नहीं है; क्योंकि जिस प्रकार पररूपसे नास्तित्व वस्तुका स्वरूप होता है, उसी प्रकार स्वरूपसे भी नास्तित्व वस्तुका धर्म बन जायगा ।

---

१. येन रूपेण सत्त्वं तेन रूपेणासत्त्वस्यापि प्रसंगः । येन रूपेण चासत्त्वं तेन रूपेण सत्त्वस्यापि प्रसंग इति संकरः । "सर्वेषां युगपत्प्राप्तिस्संकरः" इत्यभिधानात् ।

२. येन रूपेण सत्त्वं तेनरूपेणासत्त्वमेव स्यान्न तु सत्त्वं । येन रूपेण चासत्त्वं तेन सत्त्वमेव स्यान्नत्वसत्त्वम् इति व्यतिकरः । "परस्परविषयगमनं व्यतिकरः" इति वचनात् । सप्तभंगीतरंगिण्यां पृ. ८२ ।

शंका—पररूपसे वस्तुका जो नास्तित्व धर्म है, उसका अर्थ वस्तुमें उस वस्तुसे भिन्न वस्तुके स्वरूपका अभाव ही है। घटमें पटके स्वरूपका अभाव होनेपर 'घट नहीं है', ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि भूतलमें घटका अभाव होनेपर 'भूतलमें घट नहीं है' इस वाक्यकी जिस प्रकार प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार घटमें पटके स्वरूपका अभाव होनेपर 'घटमें पट नहीं है', ऐसा ही कहना उचित है **समाधान**—यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि वह विचारको सह्य नहीं है। घट आदिमें जो घट आदिसे भिन्न पटके स्वरूपका अभाव होता है, वह पट आदिका धर्म होता है या घटका धर्म होता है? घट आदिमें पटके स्वरूपका अभाव पटका धर्म नहीं हो सकता; क्योंकि उसके पटका धर्म होनेसे व्याघात होता है—विरोध उपस्थित हो जाता है। पटके स्वरूपका अभाव पटमें नहीं होता; क्योंकि पटके स्वरूपका पटमें अभाव होनेसे पटका अभाव हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है। पदार्थका अपना धर्म उसी पदार्थमें नहीं होता, ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्योंकि उस धर्मका, पदार्थका अपना धर्म होनेमें विरोध आता है और घटका पटके धर्मका आधार होना घटित नहीं होता। क्योंकि पटके धर्मका आधार घट होता है, ऐसा माननेसे घटके आतान-वितान-आकारका आधार हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है। पटके स्वरूपका अभाव—नास्तित्व—घटका धर्म है, इस पक्षको स्वीकार करनेसे विवादकी ही समाप्ति हो जाती है। क्योंकि पदार्थके साथ अस्तित्व धर्मका तादात्म्यसंबंध होनेसे जिस प्रकार पदार्थ अस्तित्वधर्मात्मक होता है, उसी प्रकार पदार्थके साथ (पररूपसे) नास्तित्व धर्मका तादात्म्यसंबंध होनेसे पदार्थ नास्तित्वधर्मात्मक होता है। इस प्रकार 'घट नहीं है' यह प्रयोग ठीक है। यदि 'घट नहीं है' यह प्रयोग ठीक न हो तो जिस प्रकार पदार्थका नास्तित्व धर्मके साथ तादात्म्यसंबंध होनेपर भी पदार्थ असत्—नास्तिरूप—नहीं हो सकता, उसी प्रकार उसी पदार्थका अस्तित्व धर्मके साथ तादात्म्यसंबंध होनेपर भी वह पदार्थ सत्—अस्तित्वरूप—नहीं हो सकेगा।

शंका—घटमें पटके रूपके अभावका अर्थ है—घटमेंरहने वाले पटरूपके अभावका प्रतियोगित्व। (जिसका अभाव बताया जाता है वह प्रतियोगी कहा जाता है। घटके अभावका प्रतियोगी घट होता है।) वह पटके रूपके—धर्मके—अभावका प्रतियोगी पटका रूप या धर्म है। उदाहरण—'भूतलमें घट नहीं है' इस वाक्यमें भूतलमें जो घटका नास्तित्व है, वह भूतलमें होनेवाले घटके अभावका प्रतियोगित्व ही है। वह घटके रूपके—धर्मके—अभावका प्रतियोगी घटका रूप या धर्म है। **समाधान**—यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि इस तरह भी जैसे घटके अभावका भूतलका धर्म होनेमें विरोध उपस्थित नहीं होता, वैसे ही पटके रूपके अभावका घटका धर्म होनेमें विरोध उपस्थित नहीं होता। इस प्रकार घटका भावाभावात्मकत्व—अस्तित्वनास्तित्वधर्मात्मकत्व या विधिप्रतिषेधात्मकत्व—सिद्ध हो जाता है। क्योंकि कथंचित्तादात्म्यरूप संबंधसे जिसका पदार्थके साथ संबंध होता है वही पदार्थका अपना धर्म होता है।

शंका—इस प्रकार घटमें स्वरूपसे भावधर्मके—अस्तित्वधर्मके—और पररूपाभावसे अभाव धर्मके—नास्तित्व धर्मके—सद्भावकी सिद्धि होनेपर भी 'घट है, पट नहीं है' ऐसा ही कहना चाहिये। क्योंकि पटके अभावका प्रतिपादन करनेवाले वाक्यकी उक्त प्रकारसे—'पट नहीं है' इस प्रकारसे—प्रवृत्ति होती है। जिस प्रकार 'भूतलमें घट नहीं है' इस प्रकार घटके अभावका प्रतिपादन करनेवाला वाक्य प्रवृत्त होता है, 'भूतल नहीं है' इस प्रकारका वाक्य प्रवृत्त नहीं होता, उसी प्रकार प्रकृत विषयमें घटमें पटका अर्थात् पटके स्वरूपका अभाव घटका धर्म होनेपर भी, 'पट नहीं है' इस प्रकारके वाक्यका प्रयोग करना उचित है। क्योंकि अभावका प्रतिपादन करनेवाले वाक्यमें अभावके प्रतियोगीका प्राधान्य होता है (घटमें पटके अभावका प्रतिपादन करनेवाले वाक्यमें पटरूप प्रतियोगीका प्राधान्य होता है)। जिस प्रकार घटरूप परिणामकी उत्पत्तिके पूर्वकालमें जो घटका अभाव होता है, वह अभाव कपालरूप होनेपर भी कपालकी अवस्थामें 'घट उत्पन्न होगा' इस प्रकारके ही घटकी उत्पत्ति कालके पूर्वकालमें होनेवाले घटके अभावका

प्रतिपादन करनेवाले वाक्यका प्रयोग देखा जाता है, 'कपाल उत्पन्न होगा' इस प्रकारके वाक्यका प्रयोग नहीं। और जिस प्रकार घटका नाश होनेपर जो घटका अभाव होता है, वह अभाव घटके नाशके अनन्तर उत्पन्न होनेवाले कपालके स्वरूपका होनेपर भी, 'घट नष्ट हुआ' इस प्रकारके वाक्यका ही प्रयोग देखा जाता है, इसी प्रकार प्रकृत विषयमें भी 'पट नहीं है' इस वाक्यका प्रयोग करना ही उचित है, 'घट नहीं है' इस वाक्यका प्रयोग करना उचित नहीं। समाधान—इसका परिहार निम्न प्रकार है : घटके भावाभावात्मकत्व—विधिनिषेधात्मकत्व—अस्तित्वनास्तित्वधर्मयुक्तत्व—की सिद्धि हो जानेपर हमारा विवाद ही समाप्त हो गया। क्योंकि हमारा अभीष्ट जो घटका भावाभावात्मकत्व है, उसकी सिद्धि हो गयी है। शब्दका—वाक्य—का प्रयोग तो पूर्व पूर्व प्रयोगके अनुसार ही होगा। शब्दका प्रयोग पदार्थकी सत्ताके अधीन नहीं होता। स्पष्टीकरणः—'देवदत्त पकाता है' इस वाक्यमें प्रश्न होता है कि क्या देवदत्तका अर्थ देवदत्तका शरीर है या देवदत्तकी आत्मा है या देवदत्तके शरीरसे युक्त देवदत्तकी आत्मा है ? यदि देवदत्तका अर्थ देवदत्तका शरीर हो तो 'देवदत्तका शरीर पकाता है' इस प्रकारके वाक्यका प्रयोग करनेकी आपत्ति उपस्थित हो जाती है। यदि देवदत्तका अर्थ देवदत्तकी आत्मा हो तो 'देवदत्तकी आत्मा पकाती है' इस प्रकारके वाक्यका प्रयोग करनेकी आपत्ति उपस्थित हो जाती है। 'देवदत्तके शरीरसे युक्त देवदत्तकी आत्मा पकाती है' इस प्रकारके वाक्यके प्रयोगका अभाव होनेसे तीसरे पक्षमें भी उपपत्ति घटित नहीं होती। इस प्रकार प्रतिपादित प्रयोगके अभावमें पूर्व पूर्व प्रयोगका अभाव ही शरण है और इस प्रकार पूर्व पूर्व प्रयोगके अनुसार वाक्यके प्रयोगकी प्रवृत्ति होनेसे शब्दप्रयोगके आधारपर प्रश्न करना ठीक नहीं है।

दूसरी बात :—घट आदिमें रहनेवाला पटादिरूप पर पदार्थके स्वरूपका जो अभाव होता है वह घटसे भिन्न होता है या अभिन्न ? घटमें जो घटभिन्न पदार्थके स्वरूपका अभाव होता है, यदि वह घटसे भिन्न हो तो उस अभावके भी घटसे भिन्न होनेसे, उस घटभिन्न पदार्थके स्वरूपके अभावके अभावकी उस घटमें कल्पना करनी चाहिये। क्योंकि घटभिन्न पदार्थके स्वरूपके अभावके अभावकी घटमें कल्पना न की जाये तो घट-भिन्न पदार्थके स्वरूपके अभावका घटसे भिन्नत्व घटित होनेसे घटके कथंचित् असद्रूपत्वकी—नास्तित्वकी—सिद्धि नहीं होती, और घटमें घटभिन्न पदार्थके स्वरूवके अभावके अभावकी कल्पना की जानेपर अनवस्था नामक दोष आता है। क्योंकि घटभिन्न पदार्थके स्वरूपके अभावका अभाव भी घटसे भिन्न होता है और घट आदिमें घटभिन्न पटरूप पदार्थके आतान-वितानरूप स्वरूपके अभावके अभावकी घटमें कल्पना की जानेपर, घटभिन्न सभी पदार्थोंके स्वरूपोंके घटरूप हो जानेकी—घटके स्वरूप बन जानेकी—आपत्ति उपस्थित हो जाती है। क्योंकि दो अभावरूप दो निषेधोंसे प्रकृतकी—विधिकी—सिद्धि हो जाती है। ('द्वौ नञौ प्रकृतार्थं गमयतः' ऐसा नियम है।) घटमें रहनेवाला घटभिन्न पटके स्वरूपका अभाव घटसे भिन्न न हो तो घटसे भिन्न न होनेवाले अस्तित्व धर्मसे जिस प्रकार घटादिमें अस्तित्व धर्मका सद्भाव होता है, उसी प्रकार घटसे भिन्न न होनेवाले नास्तित्वधर्मसे घटादिमें सिद्ध हुए नास्तित्वधर्मके सद्भावको भी स्वीकार करना चाहिये।

शंका—स्वरूपसे पदार्थका अस्तित्व ही पदार्थका पररूपसे नास्तित्व होता है और पररूपसे पदार्थका नास्तित्व ही पदार्थका स्वरूपसे अस्तित्व होता है, इसलिये अस्तित्व और नास्तित्व इन धर्मोंमें एक वस्तुमें भेद न होनेसे—दोनों धर्मोंकी एकरूपता होनेसे—पदार्थकी अस्तित्वनास्तित्वधर्मयुक्तता कैसे हो सकती है ? समाधान—ऐसा कहना हो तो हम कहते हैं कि भावके—अस्तित्वके—द्वारा अपेक्षणीय निमित्त और अभावके—नास्तित्वके—द्वारा अपेक्षणीय निमित्तमें भेद होनेसे पदार्थकी अस्तित्वनास्तित्वधर्मयुक्तता हो जाती है। स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्व-भावरूप निमित्तकी अपेक्षासे पदार्थ ज्ञातामें अपने अस्तित्व धर्मका ज्ञान उत्पन्न कराता है, तथा परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावरूप निमित्तकी अपेक्षासे ज्ञातामें अपने नास्तित्व धर्मका ज्ञान उत्पन्न कराता है। इस तरह एक पदार्थमें जैसे एकत्व, द्वित्व आदि संख्याओंमें जिस प्रकार भेद होता है, उसी प्रकार एक पदार्थमें अस्तित्व धर्म और नास्तित्व धर्ममें होता है। एक द्रव्यमें अन्य द्रव्यकी अपेक्षासे प्रकट होनेवाली द्वित्वादि संख्या, जिसके अपने एक द्रव्यकी ही अपेक्षा होती है, ऐसी एकत्व संख्यासे

भिन्नरूपसे प्रतीत नहीं होती—यह बात नहीं है। एकत्वरूप और द्वित्वरूप यह उभयरूप संख्या संख्यावान पदार्थसे भिन्न ही नहीं होती; क्योंकि उसके उभयरूप संख्यावान पदार्थसे भिन्न होनेसे, उस पदार्थके असंख्येय—अगणनीय--हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है। द्रव्यके साथ संख्याका समवायसंबंध होनेसे द्रव्य संख्येय—गणनीय--बन जाता है, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि कथंचित् तादात्म्यसंबंधको छोड़कर अन्य समवायका होना असंभव है। इस प्रकार अपेक्षणीय स्वरूप और पररूपमें भेद होनेसे पदार्थके अस्तित्व धर्म और नास्तित्व धर्ममें भेदकी सिद्धि हो जाती है। परस्पर भिन्न अस्तित्व धर्म और नास्तित्व धर्म इन दो धर्मोंकी सत्ताका एक पदार्थमें ज्ञान हो जानेसे इन दोनों धर्मोंमें कौनसा विरोध हो सकता है?

शंका—अस्तित्व धर्मके और नास्तित्व धर्मके सद्भावका एक वस्तुमें होनेवाला ज्ञान मिथ्या होता है। समाधान—ठीक नहीं है। क्योंकि एक वस्तुमें रहनेवाले अस्तित्व धर्म और नास्तित्व धर्मके सद्भावके ज्ञानको बाधित करनेवालेका अभाव है। उस ज्ञानको बाधित करनेवाला विरोध है, यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि विरोधका सद्भाव होनेपर उस विरोधसे उक्त ज्ञानके बाधित होनेसे उक्त ज्ञानके मिथ्यापनकी सिद्धि, तथा उक्त ज्ञानके मिथ्यापनकी सिद्धि होनेपर अस्तित्व धर्म और नास्तित्व धर्ममें विरोधके सद्भावकी सिद्धि होनेसे अन्योन्याश्रय नामका दोष उपस्थित हो जाता है। बध्य-घातकभावरूपसे, सहानवस्थानरूपसे और प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावरूपसे विरोध तीन प्रकारका होता है। उन तीनोंमेंसे प्रथम विरोधमें सर्प और नकुल, अग्नि और जल आदि विषय आते हैं। वह बध्यघातकभावरूप विरोध एक कालमें विद्यमान होनेवाले पदार्थोंका संयोग होनेपर होता है; क्योंकि जिस प्रकार द्वित्व अनेकोंके अर्थात् दो पदार्थोंके आश्रयसे होता है, उसीप्रकार संयोग दो या अनेक पदार्थोंके आश्रयसे होता है—एक पदार्थके आश्रयसे नहीं। अग्निका नाश जल नहीं करता, क्योंकि जलका अग्निके साथ संयोग न होनेपर भी यदि जल अग्निका नाश करता है, ऐसा माना जाये तो सर्वत्र अग्निका अभाव हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। अतएव संयोग होनेपर उत्तर कालमें बलवानके द्वारा दूसरा बाधित किया जाता है। इसी प्रकार एक ही कालमें एक पदार्थमें अस्तित्व धर्म और नास्तित्व धर्मका क्षणमात्रके लिये भी सद्भाव होता है, ऐसा प्रतिपक्षीके द्वारा नहीं माना जाता जिससे कि उन दोनों धर्मोंमें बध्यघातकभावरूप विरोधकी कल्पना की जा सके। यदि अस्तित्व और नास्तित्व धर्मकी स्थिति आपके द्वारा एक पदार्थमें मानी गयी तो अस्तित्व धर्म और नास्तित्व धर्म इन दोनोंके समान बलवाले होनेसे, उनमें बध्य-घातकभावरूप विरोधका सद्भाव नहीं हो सकता। उन अस्तित्वरूप और नास्तित्वरूप दोनों धर्मोंमें सहानवस्थानरूप विरोध भी नहीं हो सकता। यह सहानवस्थानरूप विरोध—एक साथ एक पदार्थमें स्थित न होना रूप विरोध–भिन्न-भिन्न कालोंमें एक पदार्थमें या स्थानमें होनेवाले दोनोंमें, आम्रफलमें श्यामत्व और पीतत्वके समान होता है। अर्थात् जिस प्रकार आम्रफलमें भिन्न-भिन्न कालोंमें होनेवाले श्यामत्व और पीतत्वके आम्रफलमें समान कालमें रहनेमें विरोध होता है, उसी प्रकार एक पदार्थमें भिन्न-भिन्न कालोंमें रहनेवाले दोनोंमें सहानवस्थानरूप—एक साथ एक पदार्थमें स्थित न होना रूप–विरोध होता है। आम्रफलमें उत्पन्न होनेवाला पीतत्व पूर्वकालमें उत्पन्न हुए श्यामत्वको (हरेपनको) नष्ट करता है। श्यामत्व और पीतत्व जिस प्रकार पूर्वकाल और उत्तरकालमें उत्पन्न होनेवाले होते हैं, उसी प्रकार पदार्थमें रहनेवाले अस्तित्व और नास्तित्व पूर्वकाल और उत्तरकालमें उत्पन्न होनेवाले नहीं होते। यदि अस्तित्व और नास्तित्व पूर्वकाल और उत्तरकालमें उत्पन्न होनेवाले हों तो अस्तित्वके कालमें नास्तित्वका अभाव होनेसे जीवका केवल अस्तित्व सभीकी प्राप्ति कर लेगा—सभी पदार्थ जीवरूप बन जायेंगे। जीवके नास्तित्व—पररूपसे होनेवाले नास्तित्व—के कालमें यदि जीवके स्वरूपसे अस्तित्वका अभाव हो गया तो बन्ध-मोक्षादि व्यवहारके विषयमें विरोध उपस्थित हो जायगा। जिसका सर्वथा अभाव होता है, उसके पुनः आत्मलाभका–उत्पत्तिका—अभाव होनेसे और जिसका सर्वथा सद्भाव होता है उसका पुनः अभावको प्राप्त होना घटित न होनेसे, इन अस्तित्व और नास्तित्व धर्मोंकी एक पदार्थमें एक साथ होनेवाली स्थितिका अभाव होना ठीक नहीं है। इसी प्रकार अस्तित्व और नास्तित्वमें प्रतिबध्य-प्रतिबंधकभावरूप विरोधका भी संभव नहीं है।

उदाहरण—चंद्रकान्तमणि रूप दाहके प्रतिबंधका सद्भाव होनेपर अग्निसे पदार्थमें दहन क्रिया उत्पन्न नहीं होती इसलिये चंद्रकांतमणि और पदार्थगत अग्निजन्य दहनक्रियामें प्रतिबध्य-प्रतिबंधक भावरूप विरोधका होना युक्त है। जिस प्रकार चंद्रकांतमणिके अस्तित्वकालमें पदार्थगत अग्निजन्य दहनक्रियाका प्रतिबंध होता है, उसी प्रकार पदार्थके स्वरूपसे अस्तिरूप होनेके कालमें पररूपसे नास्तिरूप होनेमें प्रतिबंध नहीं होता। क्योंकि स्वरूपसे अस्तित्वकालमें भी पररूप आदिसे नास्तित्व अनुभवसिद्ध है। एक पदार्थमें अस्तित्व धर्म और नास्तित्व धर्म नहीं रहते इसकी सिद्धि करते हुए शीत और उष्ण इन धर्मोंके एक पदार्थमें न रहनेका जो दृष्टांत दिया है, वह ठीक नहीं है। क्योंकि एक धूपपात्र आदिमें अवच्छेदकके भेदसे शीत और उष्णका उपलम्भ होनेसे शीत और उष्णमें विरोधकी सिद्धि नहीं होती। [धूप जलानेसे गर्म बना हुआ धूपपात्र बर्फकी दृष्टिसे गर्म होता है और प्रखर अग्निकी दृष्टिसे शीत होता है। अतः धूपपात्रमें एक साथ शीत धर्मकी और उष्ण धर्मकी प्राप्ति होनेसे उन दोनों धर्मोंमें विरोध नहीं हो सकता।] जिस प्रकार एक वृक्ष आदिमें चलत्व और अचलत्वकी, एक घट आदिमें रक्तत्व और अरक्तत्वकी और एक शरीर आदिमें आवृतत्व और अनावृतत्वकी उपलब्धि होनेसे, उन युगलधर्मोंमें विरोधका अभाव होता है, उसी प्रकार सत्त्व (अस्तित्व) और असत्त्व (नास्तित्व) इन दोनों धर्मोंके एक पदार्थमें पाये जानेसे उनमें भी विरोधका अभाव होता है। (२) इस पूर्वोक्त युक्तिसिद्ध कथनसे सत्त्व धर्मके और असत्त्व धर्मके भिन्नाधिकरणत्वका—अर्थात् उनके अधिकरण भिन्न भिन्न होते हैं, इस कथनका—परिहार हो गया; क्योंकि सत्त्व धर्म और असत्त्व धर्मकी एकाधिकरणता अनुभवसे सिद्ध है। (३) जो अनवस्था नामक दोष स्याद्वादमें बताया गया है, वह दोष भी अनेकान्तवादियोंके नहीं है। क्योंकि पदार्थका अनन्तधर्मात्मकत्व प्रमाणोंसे ज्ञात होनेके कारण, अनंतधर्मात्मक पदार्थको स्वयं स्वीकार करनेसे अप्रामाणिक पदार्थपरंपराकी परिकल्पनाका अभाव होता है। कहनेका अभिप्राय यह है : स्वरूपसे अस्तित्व धर्मका और पररूपसे नास्तित्व धर्मका पदार्थके साथ जब कथंचित्-तादात्म्य है, तब अस्तित्व धर्म स्वरूपसे अस्तिरूप है और पररूपसे नास्तिरूप है। तथा पररूपसे नास्तित्व अपने रूपसे अस्तिरूप है और पररूपसे नास्तिरूप है, यह कहनेकी, और ये दोनों स्वरूप भी स्वरूपसे अस्तिरूप और पररूपसे नास्तिरूप हैं, यह कहनेकी आवश्यकता न होनेसे अप्रामाणिक पदार्थपरंपराकी परिकल्पना करनेकी आवश्यकता नहीं है। (४) स्वरूपसे अस्तित्व धर्मका और पररूपसे नास्तित्व धर्मका एक पदार्थके साथ कथंचित्तादात्म्यसंबंध होनेसे पदार्थका अस्तित्व जिस रूपसे होता है, उसी रूपसे नास्तित्वके होनेका, और नास्तित्व जिस रूपसे होता है उसी रूपसे अस्तित्वके होनेका प्रसंग उपस्थित न होनेसे संकर दोष नहीं आता। (५) स्वरूपसे अस्तित्व धर्मका और पररूपसे नास्तित्व धर्मका एक पदार्थके साथ कथंचित्तादात्म्यसंबंध होनेसे पदार्थका अस्तित्व धर्म जिस रूपसे होता है उस रूपसे नास्तित्व ही होगा, अस्तित्व नहीं, और नास्तित्व धर्म जिस रूपसे होता है उस रूपसे अस्तित्व ही होगा, नास्तित्व नहीं, इस प्रकारसे व्यतिरेक दोष नहीं आता। (६) स्वरूपसे अस्तित्वका और पररूपसे नास्तित्वका एक ही पदार्थमें सद्भाव होनेके कारण वस्तु सदसदात्मक होनेसे पदार्थ सद्रूप है या असद्रूप है ? इस प्रकार उभयकोटिक ज्ञानका अभाव होनेसे अनेकान्तवादमें संशय नामक दोष भी नहीं आता। (७) संशयका अभाव होनेसे अर्थात् पदार्थ सदसदात्मक ही हैं इस प्रकारके निश्चयका सद्भाव होनेसे अनिश्चयरूप अप्रतिपत्ति नामक दोष भी नहीं होता, और (८) अप्रतिपत्ति नामक दोषका अभाव होनेसे अर्थात् वस्तुके सदसदात्मकत्वरूप स्वरूपके निश्चयके सद्भावसे अनेकांतवादमें वस्तुव्यवस्थाहानि नामक दोष भी नहीं आता। जिस पदार्थकी अनुभवसे सिद्धि होती है उसके विषयमें कोई भी दोष नहीं आता। जिस पदार्थकी सिद्धि अनुभवसे नहीं होती; उसमें दोष आते हैं।)[1]

एकान्तवादकी जातिसे स्याद्वादकी जाति भिन्न है, अतएव स्याद्वादमें इन दोषोंके लिये स्थान नहीं है, अतः स्याद्वादके मर्मज्ञोंको उन उपपत्तियोंके द्वारा उन दोषोंको दूर कर देना चाहिये। क्योंकि स्वतन्त्र

१. प्रोफेसर एम० जी० कोठारीके सौजन्यसे।

अथानेकान्तवादस्य सर्वद्रव्यपर्यायव्यापित्वेऽपि मूलभेदापेक्षया चातुर्विध्याभिधानद्वारेण भगवतस्तत्त्वामृतरसास्वादसौहित्यमुपवर्णयन्नाह—

स्यान्नाशि नित्यं सदृशं विरूपं वाच्यं न वाच्यं सदसत्तदेव ।
विपश्चितां नाथ निपीततत्त्वसुधोद्गतोद्गारपरम्परेयम् ॥२५॥

स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकमष्टास्वपि पदेषु योज्यम् । तदेव अधिकृतमेवैकं वस्तु स्यात् कथञ्चिद् नाशि विनशनशीलमनित्यमित्यर्थः । स्यान्नित्यम् अविनाशिधर्मीत्यर्थः । एतावता नित्यानित्यलक्षणमेकं विधानम् । तथा स्यात् सदृशमनुवृत्तिहेतुसामान्यरूपम् । स्याद् विरूपं विविधरूपम् विसदृशपरिणामात्मकं व्यावृत्तिहेतुविशेषरूपमित्यर्थः । अनेन सामान्य-

---

होनेके कारण निरपेक्ष विधिरूप सामान्य तथा प्रतिषेध रूप विशेषमें ही उन दोषोंको स्थान मिलता है । अथवा 'विरोध' शब्द यहाँ दोषका वाचक है । जैसे, विरुद्ध आचरण करता है; यहाँ 'विरुद्ध' शब्दका अर्थ 'दुष्ट' है । अतएव विरोधों—विरोध, वैयधिकरण्य आदि दोषों—से भयभीत, यह अर्थ करना चाहिये । इस प्रकार 'विरोध' इस सामान्य शब्दसे सभी दोषोंका ग्रहण हो जाता है । यह श्लोकका अर्थ है ॥ २४ ॥

भावार्थ—प्रत्येक वस्तुमें अनंत धर्म मौजूद हैं । प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा सत् रूप, और दूसरे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा असत् रूप है । वस्तुके अस्तित्व और नास्तित्व धर्मोंका एक साथ कथन नहीं कहा जा सकता, इसलिये प्रत्येक वस्तु किसी अपेक्षासे अवक्तव्य भी है । किसी वस्तुमें अविरोध भावसे अस्तित्व और नास्तित्वकी कल्पना करनेको सप्तभंगी कहते हैं (प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुनि अविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी[1]) । वस्तुमें अस्तित्व और नास्तित्व परस्पर विरुद्ध धर्मोंकी कल्पना किसी अपेक्षाको लेकर ही की जाती है । अतएव स्वद्रव्य आदिकी अपेक्षा वस्तु कथंचित् अस्ति है, और परद्रव्य आदिकी अपेक्षा वस्तु कथंचित् नास्ति है । इसीलिये सप्तभंगीवादमें विरोध, वैयधिकरण्य, अनवस्था, संकर, व्यतिकर, संशय, अप्रतिपत्ति और अभाव नामक दोषोंके लिये कोई अवकाश नहीं है । विरोध आदि दोषोंके निराकरण करनेसे शांकरभाष्य और सर्वदर्शनसंग्रहमें शंकर और माधव आचार्यों द्वारा प्रतिपादित विरोध, संशय आदि दोषोंका भी परिहार हो जाता है । क्योंकि वस्तुमें अस्तित्व और नास्तित्व धर्म भिन्न-भिन्न अपेक्षाओंको लेकर ही माने गये हैं । कारण कि जिस अपेक्षासे वस्तु अस्ति है, उसी अपेक्षासे स्याद्वादियोंने वस्तुको नास्ति स्वीकार नहीं किया है ।

अनेकान्तवाद सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायोंमें रहता है, परन्तु मुख्य भेदोंकी अपेक्षा स्यात् नित्य, स्यात् अनित्य; स्यात् सामान्य, स्यात् विशेष; स्यात् वाच्य, स्यात् अवाच्य; स्यात् सत्, स्यात् असत्के भेदसे अनेकांतके चार भेद बताये गये हैं—

श्लोकार्थ—हे विद्वानोंके शिरोमणि ! अपने अनेकान्त रूपी अमृतको पीकर प्रत्येक वस्तुको कथंचित् अनित्य, कथंचित् नित्य; कथंचित् सामान्य, कथंचित् विशेष; कथंचित् वाच्य, कथंचित् अवाच्य; कथंचित् सत् और कथंचित् असत् प्रतिपादन किया है ।

व्याख्यार्थ—'स्यात्' शब्द अनेकांतका सूचक है । उसे नित्य, अनित्य आदि आठों वचनोंके साथ लगाना चाहिये । (१) प्रत्येक वस्तु विनाशी होनेके कारण कथंचित् अनित्य, और अविनाशी होनेके कारण कथंचित् नित्य है । (२) प्रत्येक वस्तु सामान्य रूप होनेसे कथंचित् सामान्य, और विशेष रूप होनेसे कथंचित् विशेष है । (३) प्रत्येक पदार्थ वक्तव्य होनेसे कथंचित् वाच्य, और अवक्तव्य होनेसे कथंचित्

---

१ तत्त्वार्थराजवार्तिक पृ० २४ ।

विशेषरूपो द्वितीयः प्रकारः। तथा स्याद् वाच्यं वक्तव्यम्। स्याद् न वाच्यमवक्तव्यमित्यर्थः। अत्र च समासेऽवाच्यमिति युक्तम्, तथाप्यवाच्यपदं योन्यादौ रूढमित्यसभ्यतापरिहारार्थं न वाच्यमित्यसमस्तं चकार स्तुतिकारः। एतेनाभिलाप्यानभिलाप्यस्वरूपस्तृतीयो भेदः। तथा स्यात्सद् विद्यमानमस्तिरूपमित्यर्थः। स्याद् असत् तद्विलक्षणमिति। अनेन सदसदाख्या चतुर्थी विधा॥

हे विपश्चितां नाथ संख्यावतां मुख्य इयमनन्तरोक्ता निपीततत्त्वसुधोद्गारपरम्परा। तवेति प्रकरणात् सामर्थ्याद्वा गम्यते। तत्त्वं यथावस्थितवस्तुस्वरूपपरिच्छेदः। तदेव जरामरणापहारित्वाद् विबुधोपभोग्यत्वाद् मिथ्यात्वविषोर्मिनिराकरिष्णुत्वाद् आन्तराह्लादकारित्वाच्च सुधा पीयूषं तत्त्वसुधा। नितरामनन्यसामान्यतया पीता आस्वादिता या तत्त्वसुधा तस्या उद्गता प्रादुर्भूता तत्कारणिका उद्गारपरम्परा उद्गारश्रेणिरिवेत्यर्थः। यथा हि कश्चिदाकण्ठं पीयूषरसमापीय तदनुविधायिनीमुद्गारपरम्परां मुञ्चति, तथा भगवानपि जरामरणापहारि तत्त्वामृतं स्वैरमास्वाद्य तद्रसानुविधायिनीं प्रस्तुतानेकान्तवादभेदचतुष्टयीलक्षणामुद्गारपरम्परां देशनामुखेनोद्गीर्णवानित्याशयः॥

अथवा यैरेकान्तवादिभिर्मिथ्यात्वगरलभोजनमातृप्ति भक्षितं तेषां तत्तद्वचनरूपा उद्गारप्रकाराः प्राक् प्रदर्शिताः। यैस्तु पचेलिमप्राचीनपुण्यप्राग्भारानुग्रहीतैर्जगद्गुरुवदनेन्दुनिःस्यन्दि तत्त्वामृतं मनोहत्य पीतम्, तेषां विपश्चितां यथार्थवादविदुषां हे नाथ इयं पूर्वदलदर्शितोल्लेखशेखरा उद्गारपरम्परेति व्याख्येयम्। एते च चत्वारोऽपि वादास्तेषु तेषु स्थानेषु प्रागेव चर्चिताः। तथाहि—'आदीपमाव्योम समस्वभावम्' इति वृत्ते नित्यानित्यवादः प्रदर्शितः। 'अनेकमेकात्मकमेव वाच्यम्' इति काव्ये सामान्यविशेषवादः संसूचितः। सप्तभङ्ग्यामभिलाप्यवादः सदसद्वादश्च चर्चितः। इति न भूयः प्रयासः॥ इति काव्यार्थः॥ २५॥

अवाच्य है। लोकमें अवाच्य शब्द योनि आदिके अर्थ में प्रयुक्त होता है, अतएव स्तुतिकार हेमचन्द्र आचार्यने श्लोकमें 'अवाच्य' शब्द न कह कर 'न वाच्यं' पद प्रयोग किया है। (४) तथा प्रत्येक पदार्थ अस्ति रूप है, इसलिये कथंचित् 'सत्' नास्ति रूप है, इसलिये कथंचित् असत् है।

हे विद्वानोंके शिरोमणि! जिस प्रकार कोई मनुष्य अमृतका खूब पान करके पीछेसे बार बार डकार लेता है, उसी प्रकार आपने जन्म और मरणके नाश करनेवाली, विद्वानोंके उपभोग्य, मिथ्यात्व-विषको निर्विष करनेवाली, और आह्लाद उत्पन्न करनेवाली तत्त्व-सुधाका असाधारण रूपसे पान करके अनेकान्तवादके चार मुख्य भेदोंकी उदगारपरम्पराको उपदेशके द्वारा प्रगट किया है।

अथवा, जिन एकान्तवादियोंने मिथ्यात्वरूपी विष-भोजनका खूब तृप्त होकर भक्षण किया है, उनके वचनरूपी उद्गारोंका वर्णन कर चुके हैं। जिन पुण्यात्मा लोगोंने संसारके स्वामी आपके मुख-चन्द्रसे झरते हुए अमृतका तृप्त होने तक पान किया है, उन यथार्थ वक्ता विद्वानोंके मुखसे अनेकान्तवादके चार मुख्य भेदोंकी उद्गारपरम्परा प्रगट हुई है। इन चार वादोंमें 'आदीपमाव्योम समस्वभावं' श्लोकमें नित्यानित्यवाद, 'अनेकमेकात्मकमेव वाच्यम्' श्लोकमें सामान्य-विशेषवाद, तथा सप्तभंगीवादमें वाच्य-अवाच्य और सत्-असत् वादका वर्णन किया गया है। यह श्लोकका अर्थ है॥ २५॥

भावार्थ—स्याद्वादियोंके मतमें प्रत्येक वस्तु किसी अपेक्षासे नित्य-अनित्य, किसी अपेचासे वाच्य-अवाच्य, और किसी अपेक्षासे सत्-असत् है। इन चारों वादोंका स्याद्वादमें समावेश हो जाता है। अतएव प्रत्येक पदार्थको द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा नित्य, सामान्य, अवाच्य और सत्, तथा पर्यायार्थिक नयसे अनित्य, विशेष, वाच्य और असत् मानना ही न्यायसंगत है। वस्तुमें एकान्त रूपसे नित्य, अनित्य आदि धर्मोंके माननेसे विरोध आता है। अतएव प्रत्येक वस्तुको अनेकांतात्मक मानना चाहिये।

इदानीं नित्यानित्यपक्षयोः परस्परदूषणप्रकाशनबद्धलक्ष्यतया वैरायमाणयोरितरेतरोदीरितविविधहेतुहेतिसंनिपातसंजातविनिपातयोरयत्नसिद्धप्रतिपक्षप्रतिक्षेपस्य सर्वोत्कर्षमाह—

य एव दोषाः किल नित्यवादे विनाशवादेऽपि समास्त एव ।
परस्परध्वंसिषु कण्टकेषु जयत्यधृष्यं जिनशासनं ते ॥ २६ ॥

किलेति निश्चये। य एव नित्यवादे नित्यैकान्तवादे दोषा अनित्यैकान्तवादिभिः प्रसञ्जिताः क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियानुपपत्त्यादयः, त एव विनाशवादेऽपि क्षणिकैकान्तवादेऽपि समाः तुल्याः, नित्यैकान्तवादिभिः प्रसज्यमाना अन्यूनाधिकाः॥

तथाहि—नित्यवादी प्रमाणयति। सर्वं नित्यं सत्त्वात्। क्षणिके सदसत्कालयोरर्थक्रियाविरोधात् तल्लक्षणं सत्त्वं नावस्थां बध्नातीति ततो निवर्तमानमनन्यशरणतया नित्यत्वेऽवतिष्ठते। तथाहि—क्षणिकोऽर्थः सन्वा कार्यं कुर्याद् असन्वा? गत्यन्तराभावात्। न तावदाद्यः पक्षः, समसमयवर्तिनि व्यापारायोगात् सकलभावानां परस्परं कार्यकारणभावप्राप्त्यातिप्रसङ्गाच्च। नापि द्वितीयः पक्षः क्षोदं क्षमते, असतः कार्यकारणशक्तिविकलत्वात्; अन्यथा शशविषाणादयोऽपि कार्यकरणायोत्सहेरन्, विशेषाभावात् इति॥

अनित्यवादी नित्यवादिनं प्रति पुनरेवं प्रमाणयति। सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्। अक्षणिके

एकान्त नित्य और एकान्त अनित्यवादके माननेवाले एक दूसरेके दोष दिखाकर परस्पर लड़ते हैं, और एक दूसरेके सिद्धांतोंका खंडन करनेके लिये नाना प्रकारके हेतुरूपी शस्त्रोंके प्रहारसे गिर पड़ते हैं, अतएव प्रयत्नके विना ही भगवान्के शासनकी सर्वोत्कृष्टता सिद्ध होती है—

श्लोकार्थ—नित्य एकान्तवादमें जो दोष आते हैं, वे ही दोष अनित्य एकांतवादमें समान रूपसे आते हैं। जब क्षुद्र शत्रु एक दूसरेका विध्वंस करनेमें लगे रहते हैं तब जिनेन्द्र भगवान्का अजेय शासन विजयी होता है।

व्याख्यार्थ—यहाँ 'किल' शब्द निश्चय अर्थमें है। 'नित्यवादियोंके मतमें क्रमसे अथवा एक साथ अर्थक्रिया नहीं हो सकती' इस प्रकार जो अनित्यवादियोंने एकान्त नित्य पक्षमें दूषण दिये थे, वे सब दोष अनित्यवादियोंके पक्षमें भी आते हैं।

नित्यवादी—'समस्त पदार्थ नित्य हैं, सद्रूप होनेसे।' क्षणिक पदार्थोंकी भूत, भविष्य और वर्तमान काल में कोई अर्थक्रिया नहीं हो सकती, क्योंकि अपने प्रयोजन (कार्य) की उत्पत्ति करनेमें विरोध उपस्थित होनेसे, क्षणिक पदार्थ (कार्यकी उत्पत्तिके लिये) स्थिरत्वको—एक क्षणसे अधिक काल तककी स्थितिको—धारण नहीं करता। अतः वह क्षणिकत्वसे निवृत्त होता हुआ, अन्य किसीकी शरण प्राप्ति न होनेसे नित्यत्वमें आकर मिल जाता है। तथाहि—प्रश्न होता है कि क्षणिक पदार्थ अस्तिरूप होता हुआ अपना कार्य करता है या अपना अभाव होनेपर अपना कार्य करता है? 'क्षण मात्र रूप अपने अस्तित्व कालमें वह अपना कार्य करता है', यह प्रथम पक्ष ठीक नहीं। क्योंकि जिस कालमें क्षणिक पदार्थ उत्पन्न होने जाता है', उसी कालमें उत्पन्न होनेवाले कार्यकी उत्पत्तिके लिये क्षणिक पदार्थमें उत्पत्ति क्रियाका होना घटित नहीं होता; तथा एक-एक कालमें होनेवाले पदार्थोंमें कार्यकारण भाव होनेसे, समकालवर्ती सभी पदार्थोंमें परस्पर कार्यकारण भाव होनेका अतिप्रसंग उपस्थित हो जाता है। 'क्षणिक पदार्थका अभाव होनेपर वह पदार्थ अपना कार्य करता है', यह दूसरा पक्ष भी खरा नहीं उतरता। क्योंकि जिसका सद्भाव नहीं होता उसमें अपना कार्य करनेकी शक्तिका अभाव होता है। यदि ऐसी बात न हो तो शशविषाण आदि भी कार्य करनेके लिये उत्साही हो जायेंगे क्योंकि असत् पदार्थ और शशविषाणमें भेद नहीं है।

अनित्यवादी—(नित्य एकांतवादीका खंडन करते हुए) 'सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिक हैं; सद्रूप होनेसे।'

क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधाद् अर्थक्रियाकारित्वस्य च भावलक्षणत्वात्, ततोऽर्थक्रिया व्यावर्तमाना स्वक्रोडीकृतां सत्तां व्यावर्त्तयेदिति क्षणिकसिद्धिः। न हि नित्योऽर्थोऽर्थक्रियां क्रमेण प्रवर्तयितुमुत्सहते, पूर्वार्थक्रियाकरणस्वभावोपमर्दद्वारेणोत्तरक्रियायां क्रमेण प्रवृत्तेः, अन्यथा पूर्वक्रियाकरणाविरामप्रसङ्गात्। तत्स्वभावप्रच्यवे च नित्यता प्रयाति, अतादवस्थ्यस्यानित्यतालक्षणत्वात्। अथ नित्योऽपि क्रमवर्तिनं सहकारिकारणमर्थमुदीक्षमाणस्तावदासीत्, पश्चात् तमासाद्य क्रमेण कार्यं कुर्यादिति चेत्। न। सहकारिकारणस्य नित्येऽकिञ्चित्करस्यापि प्रतीक्षणेऽनवस्थाप्रसङ्गात्। नापि यौगपद्येन नित्योऽर्थोऽर्थक्रियाः कुरुते अध्यक्षविरोधात्। न ह्येककालं सकलाः क्रियाः प्रारभमाणः कश्चिदुपलभ्यते। करोतु वा। तथाप्याद्यक्षण एव सकलक्रियापरिसमाप्तेर्द्वितीयादिक्षणेषु अकुर्वाणस्यानित्यता बलाद् आढौकते, करणाकरणयोरेकस्मिन् विरोधाद् इति॥

तदेवमेकान्तद्वयेऽपि ये हेतवस्ते युक्तिसाम्याद् विरुद्धं न व्यभिचरन्तीत्यविचारितरमणीयतया मुग्धजनस्य ध्यान्ध्यं[1] चोत्पादयन्तीति विरुद्धा व्यभिचारिणोऽनैकान्तिका

अर्थक्रियाकारित्व (प्रयोजनभूतता) ही सत्का लक्षण है। पदार्थोंको अक्षणिक – कूटस्थ नित्य—माननेमें उनमें क्रमसे अथवा एक साथ अर्थक्रिया होनेमें विरोध उपस्थित होनेसे; तथा अर्थक्रियाका कर्ता होना, पदार्थका स्वरूप होनेसे, उस नित्य पदार्थसे पृथक् होनेवाली अर्थक्रिया अपने द्वारा व्याप्त नित्य पदार्थकी सत्ताको उस पदार्थसे पृथक् कर देगी—अर्थक्रियाका पदार्थमें अभाव हो जानेसे पदार्थका अस्तित्व ही न रहेगा। इस प्रकार क्षणिक पदार्थके—पदार्थके क्षणिकत्वके—अनित्यत्वकी सिद्धि होती है। नित्य पदार्थ अपनी अर्थक्रियाको क्रमसे करनेमें समर्थ नहीं होता। क्योंकि पदार्थके प्रयोजनभूत पूर्वकालवर्ती कार्यको करनेके स्वभावके विनाश द्वारा पदार्थके प्रयोजनभूत उत्तरकालवर्ती कार्यको उत्पन्न करनेकी क्रिया करनेकी पदार्थकी प्रवृत्ति होती है। पूर्व कार्योत्पादन क्रिया करनेके स्वभावका यदि विनाश न किया गया तो पूर्वकालवर्ती कार्य करनेकी क्रियाका अंत न होनेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है। पूर्व कार्योत्पादन क्रिया करनेके स्वभावका नाश होनेपर पदार्थकी नित्यता नष्ट हो जाती है, क्योंकि पदार्थकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंका क्रमसे अभाव होते रहना ही अनित्यताका लक्षण है। यदि कहो कि 'पदार्थ नित्य होनेपर भी क्रमवर्ती सहकारिकारणभूत अर्थकी अपेक्षा करता हुआ रहता है और बादमें उस सहकारिकारणभूत पदार्थको प्राप्त करके क्रमसे कार्य करता है'—तो यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि नित्य पदार्थके विषयमें—नित्य पदार्थको अपनी अर्थक्रिया करनेमें प्रवृत्त करनेके विषयमें—सहकारिकारणभूत पदार्थकी अपेक्षा करने पर, वह सहकारिकारणभूत पदार्थ भी नित्य होनेसे अकिंचित्कर होनेके कारण, उसे किंचित्कर बनानेके लिये, अन्य सहकारिकारणभूत पदार्थकी अपेक्षा करनी होगी। इस प्रकार अन्य-अन्य सहकारिकारणभूत पदार्थोंकी अपेक्षा करनेसे अनवस्था नामक दोष आता है। नित्य पदार्थ एक साथ (युगपत्) भी अर्थक्रिया नहीं कर सकते, क्योंकि प्रत्यक्षसे विरोध आता है। कारण कि अर्थक्रिया सदा क्रमसे होती है, कभी एक समयमें होती हुई नहीं देखी जाती। यदि सम्पूर्ण अर्थक्रियाओंका एक क्षणमें होना स्वीकार करो तो सम्पूर्ण क्रियाओंके प्रथम क्षणमें समाप्त हो जानेसे द्वितीय क्षण आदिमें न करनेवाली अनित्यता ज़बरन आकर उपस्थित हो जायेगी; क्योंकि क्रिया और अक्रिया दोनों एक नित्य पदार्थमें नहीं रह सकते।

इस प्रकार उक्त दोनों पक्षोंमें नित्य और अनित्यवादको सिद्ध करनेके लिये जो 'सत्त्व' हेतु दिया गया है, वह विरुद्ध हेतु है। इस प्रकारके हेतु, जब तक उनका विचार नहीं किया जाता, तभी तक सुन्दर मालूम होते हैं, इसलिये ये हेतु भोले लोगोंकी बुद्धिमें जड़ता पैदा करनेवाले होनेसे अनैकान्तिक हेतु हैं। यहाँ नित्य और

---

१. धियः मान्द्यम्।

इति । अत्र च नित्यानित्यैकान्तपक्षप्रतिक्षेप एवोक्तः । उपलक्षणत्वाच्च सामान्यविशेषाद्येकान्तवादा अपि मिथस्तुल्यदोषतया विरुद्धा व्यभिचारिण एव हेतूनुपस्पृशन्तीति परिभावनीयम् ॥

अथोत्तरार्द्धं व्याख्यायते । परस्परेत्यादि । एवं च कण्टकेषु क्षुद्रशत्रुष्वेकान्तवादिषु परस्परध्वंसिषु सत्सु परस्परस्मात् ध्वंसन्ते विनाशमुपयान्तीत्येवंशीलाः सुन्दोपसुन्दवदिति[1] परस्परध्वंसिनः । तेषु हे जिन ते तव शासनं स्याद्वादप्ररूपणनिपुणं द्वादशाङ्गीरूपं प्रवचनं पराभिभावुकानां कण्टकानां स्वयमुच्छिन्नत्वेनैवाभावाद् अधृष्यमपराभवनीयम् । "शक्तार्हे कृताश्च[2]" इति कृत्यविधानाद् धर्षितुमशक्यम् धर्षितुमनर्हं वा । जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते । यथा कश्चिन्महाराजः पीवरपुण्यपरीपाकः परस्परं विगृह्य स्वयमेव क्षयमुपेयिवत्सु द्विषत्सु अयत्नसिद्धनिष्कण्टकत्वं समृद्धं राज्यमुपभुञ्जानः सर्वोत्कृष्टो भवति एवं त्वच्छासनमपि ॥ इति काव्यार्थः ॥ २६ ॥

अनन्तरकाव्ये नित्यानित्याद्येकान्तवादे दोषसामान्यमभिहितम् । इदानीं कतिपयतद्विशेषान् नामग्राहं दर्शयंस्तत्प्ररूपकाणामसद्भूतोद्भावकतयोद्वृत्ततथाविधरिपुजनजनितोप-

---

अनित्य पक्षका ही खंडन किया गया है । सामान्य-विशेष, वाच्य-अवाच्य और सत्-असत् वादी भी परस्पर एक जैसे दोष देते हैं, इसलिये इन एकान्तवादोंको भी विरुद्ध समझना चाहिये ।

एक दूसरेका नाश करनेवाले सुन्द और उपसुन्द नामके दो राक्षस भाइयोंके समान क्षुद्र शत्रु एकान्तवादी रूप कण्टकोंका परस्पर नाश हो जानेपर स्याद्वादका प्ररूपण करनेवाला आपका द्वादशांग प्रवचन किसीके द्वारा भी पराभूत नहीं किया जा सकता । (सुन्द और उपसुन्द नामके दो राक्षस भाई थे । उनको ब्रह्माका वरदान था कि उनकी मृत्यु एक दूसरेके द्वारा होगी । इस वरदानसे मस्त होकर दोनों भाइयोंने प्रजाको पीडा देना आरम्भ कर दिया । यह देखकर देवोंने स्वर्गसे तिलोत्तमाको भेजा । तिलोत्तमाको देखकर दोनों भाई अपनी सुध भूलकर उसे अपनी स्त्री बनानेकी चेष्टा करने लगे । दोनोंमें परस्पर लड़ाई हुई, और अन्तमें दोनों भाई एक दूसरेके हाथसे मारे गये) । यहाँ "शक्तार्हे कृत्याश्च" सूत्रसे क्यप् प्रत्यय होनेपर 'अधृष्य' का अर्थ होता है कि जिसका किसीसे पराभव न किया जा सके । जिस प्रकार कोई पुण्यशालो महाराजा अपने शत्रुओंके परस्पर लड़कर मर जानेपर विना प्रयत्नके ही निष्कंटक राज्यका उपभोग करता है, उसी प्रकार आपका शासन एकान्तवादियोंके परस्पर लड़कर नष्ट हो जानेपर विजयी होता है ॥ यह श्लोकका अर्थ है ॥२६॥

भावार्थ—जिस प्रकार कोई पुण्यशाली राजा अपनेशत्रुओंके आपसमें लड़कर नष्ट हो जानेपर अखण्ड राज्यका उपभोग करता है, उसी तरह एकान्तवादी लोग एक दूसरेके सिद्धांतोंमें दोष देकर एक दूसरेके मतोंका खण्डन कर देते हैं, इसलिये मिथ्यादर्शन रूप समस्त एकान्तवादोंका समन्वय करनेवाला जैन शासन ही सर्वमान्य हो सकता है ।

ऊपरके श्लोकोंमें सामान्य रूपसे नित्य, अनित्य आदि एकान्तवादोंमें दोष दिखाये गये हैं । अब एकान्तवादियोंके कुछ विशेष दोषोंका दिग्दर्शन कराते हैं । जिस प्रकार प्रजाको पीड़ित करनेवाले शत्रुओंसे

---

१. सुन्दोपसुन्दनामानौ राक्षसौ द्वौ भ्रातरौ ब्रह्मणः सकाशात् वरं लब्धवन्तौ यत् आवयोर्मृत्युः परस्परादस्तु नान्यस्मात् । तथेत्युक्ते ब्रह्मणा मत्तौ तौ त्रिलोकीं पीडयामासतुः । अथ देवप्रेषितां तिलोत्तमामुपलभ्य तदर्थं मिथो युध्यमानावम्रियेताम् । एवमेकान्तवादिनः स्वतत्त्वसिद्ध्यर्थं परस्परं विवदमाना विनश्यन्ति । ततश्चानेकान्तवादो जयति ।

२. हैमसूत्रे ५-४-३५ ।

द्रवमिव परित्रातुर्धरित्रीपतेस्त्रिजगत्पतेः पुरतो भुवनत्रयं प्रत्युपकारकारितामाविष्करोति—

नैकान्तवादे सुखदुःखभोगौ न पुण्यपापे न च बन्धमोक्षौ ।
दुर्नीतिवादव्यसनासिनैवं परैर्विलुप्तं जगदप्यशेषम् ॥ २७ ॥

एकान्तवादे नित्यानित्यैकान्तपक्षाभ्युपगमे न सुखदुःखभोगौ घटेते । न च पुण्यपापे घटेते । न च बन्धमोक्षौ घटेते । पुनः पुनर्नञः प्रयोगोऽत्यन्ताघटमानतादर्शनार्थः । तथाहि— एकान्तनित्ये आत्मनि तावत् सुखदुःखभोगौ नोपपद्येते । नित्यस्य हि लक्षणम् अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपत्वम् । ततो यदा आत्मा सुखमनुभूय स्वकारणकलापसामग्रीवशाद् दुःखमुपभुङ्क्ते, तदा स्वभावभेदाद् अनित्यत्वापत्त्या स्थिरैकरूपताहानिप्रसङ्गः । एवं दुःखमनुभूय सुखमुपभुञ्जानस्यापि वक्तव्यम् । अथ अवस्थाभेदाद् अयं व्यवहारः । न चावस्थासु भिद्यमानास्वपि तद्वतो भेदः । सर्पस्येव कुण्डलार्जवाद्यवस्थासु इति चेत् । न । तास्ततो व्यतिरिक्ता अव्यतिरिक्ता वा ? व्यतिरेके, तास्तस्येति संबन्धाभावः, अतिप्रसङ्गात् । अव्यतिरेके तु, तद्वानेवेति तदवस्थितैव स्थिरैकरूपताहानिः । कथं च तदेकान्तैकरूपत्वेऽवस्थाभेदोऽपि भवेदिति ॥

किंच, सुखदुःखभोगौ पुण्यपापनिर्वर्त्यौ । तन्निर्वर्तनं चार्थक्रिया । सा च कूटस्थनित्यस्य

प्रजाकी रक्षा करनेवाला राजा महान् उपकारक कहा जाता है, उसी प्रकार एकान्तवादियोंके उपद्रवसे तीनों लोकोंकी रक्षा करनेवाले जिनेन्द्र भगवान् संसारके महान् उपकारक हैं—

श्लोकार्थ—एकान्तवादमें सुख-दुखका उपभोग, पुण्य-पाप, और बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था नहीं बन सकती । इस प्रकार परतीर्थिक लोग नयाभासोंके द्वारा प्रतिपादित करनेवाले आग्रह रूप खड्गसे सम्पूर्ण जगतका नाश करते हैं ।

व्याख्यार्थ—(१) वस्तुको एकान्त नित्य माननेसे आत्मामें सुख और दुखकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । अप्रच्युत, अनुत्पन्न, स्थिर और एक रूपको नित्य कहते हैं । अतएव यदि आत्मा अपनी कारण सामग्रीसे सुखको भोग कर दुखका उपभोग करने लगे, अथवा दुखका उपभोग करके सुखको भोगने लगे, तो अपने नित्य और एक स्वभावको छोड़नेके कारण आत्मामें स्वभावभेद होनेसे आत्माको अनित्य मानना पड़ेगा । शंका—वास्तवमें आत्माकी अवस्थाओंमें भेद होता है, स्वयं आत्मामें भेद नहीं होता । जिस प्रकार सर्पकी सरल अथवा कुण्डलाकार अवस्थाओंमें भेद होनेसे सर्पमें भेद होना कहा जाता है, उसी प्रकार सुख और दुख रूप आत्माकी अवस्थाओंमें भेद होनेसे यह भेद आत्माका कहा जाता है । समाधान—यह ठीक नहीं । आप लोग आत्माकी अवस्थाको आत्मासे भिन्न मानते हैं, या अभिन्न ? यदि सुख-दुख अवस्थायें आत्मासे भिन्न हैं, तो इन अवस्थाओं और आत्मामें कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता । यदि इन अवस्थाओंको आत्मासे अभिन्न मानो, तो सुख-दुख अवस्थाओंको ही आत्मा मानना चाहिये । अतएव सुख-दुखका भोग करते समय अपने नित्य स्वभावको छोड़नेके कारण आत्माको अनित्य मानना पड़ेगा । अतएव एकान्तवादमें आत्माका अवस्था-भेद भी नहीं बन सकता ।

(२) पुण्य-पापसे होनेवाले सुख-दुख भी नित्य एकान्तवादमें नहीं बन सकते । सुखानुभव रूप क्रियात्मक परिणाम पुण्य कर्मके निमित्तसे तथा दुःखानुभव रूप क्रियात्मक परिणाम पाप कर्मके निमित्तसे उत्पादित किया जाता है । इन दोनों परिणामोंकी उत्पत्ति करना ही—इन दोनों परिणामोंके रूपसे परिणत होना ही—कर्मबद्ध आत्माकी अर्थक्रिया है । यह पुण्य-पापसे होनेवाली अर्थक्रिया कूटस्थ नित्य आत्मामें नहीं

क्रमेण अक्रमेण वा नोपपद्यत इत्युक्तप्रायम्। अत एवोक्तं न पुण्यपापे इति। पुण्यं दानादिक्रियोपार्जनीयं शुभं कर्म, पापं हिंसादिक्रियासाध्यमशुभं कर्म। ते अपि न घटेते, प्रागुक्तनीतेः॥

तथा न बन्धमोक्षौ। बन्धः कर्मपुद्गलैः सह प्रतिप्रदेशमात्मनो वह्न्ययःपिण्डवद् अन्योऽन्यसंश्लेषः। मोक्षः कृत्स्नकर्मक्षयः। तावप्येकान्तनित्ये न स्याताम्। बन्धो हि संयोगविशेषः। स च "अप्राप्तानां प्राप्तिः" इतिलक्षणः। प्राक्कालभाविनी अप्राप्तिरन्यावस्था, उत्तरकालभाविनी प्राप्तिश्चान्या। तदनयोरप्यवस्थाभेददोषो दुस्तरः। कथं चैकरूपत्वे सति तस्याकस्मिको बन्धनसंयोगः। बन्धनसंयोगाच्च प्राक् किं नायं मुक्तोऽभवत्। किंच तेन बन्धनेनासौ विकृतिमनुभवति न वा? अनुभवति चेत्, चर्मादिवदनित्यः। नानुभवति चेत्, निर्विकारत्वे सता असता वा तेन गगनस्येव न कोऽप्यस्य विशेष इति बन्धवैफल्याद् नित्यमुक्त एव स्यात्। ततश्च विशीर्णा जगति बन्धमोक्षव्यवस्था। तथा च पठन्ति—

"वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम्।
चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्फलः"॥

बन्धानुपपत्तौ मोक्षस्याप्यनुपपत्तिर्बन्धनविच्छेदपर्यायत्वाद् मुक्तिशब्दस्येति॥

एवमनित्यैकान्तवादेऽपि सुखदुःखाद्यनुपपत्तिः। अनित्यं हि अत्यन्तोच्छेदधर्मकम्। तथाभूते चात्मनि पुण्योपादानक्रियाकारिणो निरन्वयं विनष्टत्वात् कस्य नाम तत्फलभूत-

---

हो सकती। पदार्थोंके नित्य माननेमें उनमें क्रम-क्रमसे अथवा एक साथ अर्थक्रिया नहीं हो सकती, यह पहले कहा जा चुका है। इसीलिये कहा है कि दान आदिसे होनेवाले शुभ कर्म रूप पुण्य, और हिंसा आदिसे होनेवाले अशुभ कर्म रूप पाप—दोनों एकान्त नित्य पक्षमें नहीं बन सकते।

(३) अग्नि और लोहेकी तरह आत्माके प्रदेशोंके कर्म पुद्गलोंके साथ परस्पर सम्मिश्रण हो जानेको बंध और सम्पूर्ण कर्मोंके क्षय हो जानेको मोक्ष कहते हैं। यह बन्ध और मोक्षकी व्यवस्था भी एकान्त नित्यवादमें नहीं बन सकती। संयोगविशेषको बन्ध कहते हैं। "अप्राप्त पदार्थोंकी प्राप्तिको" संयोग कहते हैं। यह संयोग एक अवस्थाको छोड़कर दूसरी अवस्थाको प्राप्त करनेमें ही संभव हो सकता है। अतएव नित्य आत्मामें अवस्था भेद होनेसे बंध और मोक्ष नहीं बन सकते। तथा, एकान्त नित्य माननेपर उसके साथ बंधक कर्मोंका बंध नहीं हो सकता। अतएव बंधक कर्मोंके साथ होनेवाले संयोगके पहले आत्माको मुक्त मानना चाहिये। तथा बंधक कर्मके कारण आत्मामें कोई विकार होता है, या नहीं? यदि बंध होनेसे आत्मामें कोई विकार होता है, तो आत्माको चमड़ेकी तरह अनित्य मानना चाहिये। यदि बंध होनेपर भी आत्मा अविकृत रहती है, तो निर्विकार आकाशको तरह बंधके होने अथवा न होनेसे आत्मामें कोई भी विकार नहीं आ सकता, अतएव बंधके निष्फल होनेके कारण आत्माको सदा मुक्त मानना चाहिये। अतएव सर्वथा एकान्तवादमें बंध और मोक्षकी व्यवस्था नहीं बन सकती। कहा भी है—

"वर्षा और गरमीके कारण चमड़ेमें ही परिवर्तन होता है, आकाशमें कोई परिवर्तन नहीं देखा जाता। अतएव यदि आत्मा चमड़ेके समान है, तो उसे अनित्य मानना चाहिये; यदि आत्मा आकाशकी तरह है, तो उसमें बंध नहीं मानना चाहिये।"

आत्माके बन्ध न होनेसे आत्माके मोक्ष भी नहीं हो सकता। क्योंकि बन्धनके नष्ट होनेको ही मोक्ष कहते हैं।

(१) एकान्त अनित्यवाद माननेसे भी सुख-दुख नहीं बन सकते। सर्वथा रूपसे नष्ट होनेको अनित्य कहते हैं। अनित्य आत्मामें पुण्योपार्जन करनेवाली क्रिया करनेवाले आत्माका निरन्वय नाश होनेसे

सुखानुभवः। एवं पापोपादानक्रियाकारिणोऽपि निरवयवनाशे कस्य दुःखसंवेदनमस्तु। एवं चान्यः क्रियाकारी अन्यश्च तत्फलभोक्ता इति असमञ्जसमापद्यते।

अथ— "यस्मिन्नेव हि सन्ताने आहिता कर्मवासना।
फलं तत्रैव सन्धत्ते कर्पासे रक्तता यथा"॥

इति वचनाद् नासमञ्जसमित्यपि वाङ्मात्रम्, सन्तानवासनयोरवास्तवत्वेन प्रागेव निर्लोठितत्वात्॥

तथा पुण्यपापे अपि न घटेते। तयोर्हि अर्थक्रिया सुखदुःखोपभोगः। तदनुपपत्तिश्चानन्तरमेवोक्ता। ततोऽर्थक्रियाकारित्वाभावात् तयोरप्यघटमानत्वम्। किंचानित्यः क्षणमात्रस्थायी। तस्मिंश्च क्षणे उत्पत्तिमात्रव्यग्रत्वात् तस्य कुतः पुण्यपापोपादानक्रियार्जनम्? द्वितीयादिक्षणेषु चावस्थातुमेव न लभते। पुण्यपापोपादानक्रियाभावे च पुण्यपापे कुतः, निर्मूलत्वात्? तदसत्त्वे च कुतस्तनः सुखदुःखभोगः। आस्तां वा कथंचिदेतत्। तथापि पूर्वक्षणसदृशेनोत्तरक्षणेन भवितव्यम्, उपादानानुरूपत्वाद् उपादेयस्य। ततः पूर्वक्षणाद् दुःखितात् उत्तरक्षणः कथं सुखित उत्पद्यते, कथं च सुखितात् ततः स दुःखितः स्यात्, विसदृशभागतापत्तेः? एवं पुण्यपापादावपि। तस्माद्यत्किञ्चिदेतत्॥

फल रूप सुखका अनुभव, तथा पापोपार्जन करनेवाली क्रिया करनेवाले आत्माका निरन्वय विनाश होनेसे दुखका अनुभव नहीं हो सकता। तथा पदार्थोंका निरन्वय विनाश माननेसे एकको कर्ता और दूसरेको भोक्ता मानना पड़ेगा।

शंका—"जिस प्रकार कपासके बीजमें लाल रंग लगानेसे बीजका फल भी लाल रंगका होता है, उसी तरह जिस संतानमें कर्मवासना रहती है, उसी सन्तानमें कर्मवासनाका फल रहता है।"

अतएव सन्तानके प्रवाह माननेसे काम चल जाता है, इस तरह आत्माके माननेकी आवश्यकता नहीं रहती। समाधान—यह ठीक नहीं। सन्तान और वासना अवास्तविक हैं, यह हम (१८ वें श्लोककी व्याख्यामें) प्रतिपादन कर चुके हैं।

(२) एकान्त अनित्यवादमें पुण्य-पाप भी नहीं वन सकते। सुख और दुखका भोग क्रमसे पुण्य और पापकी अर्थक्रियायें हैं। यह पुण्य-पापकी अर्थक्रिया एकान्त क्षणिक पक्षमें नहीं वन सकती, यह हम पहले कह आये हैं। अतएव क्षणिकवादमें अर्थक्रियाकारित्वके अभावमें पुण्य-पाप भी सिद्ध नहीं होते। तथा, क्षणिकवादियोंके मतमें प्रत्येक पदार्थ केवल एक क्षणके लिये ठहरता है। इस क्षणमें पदार्थ अपनी उत्पत्तिमें लगे रहते हैं, इसलिये 'पुण्य और पापको उपार्जन नहीं कर सकते। यदि दूसरे, तीसरे आदि क्षणमें पुण्य और पापका उपार्जन स्वीकार करो, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि क्षणिकवादियोंके मतमें प्रथम क्षणके बाद पदार्थोंका स्थित रहना ही संभव नहीं। अतएव, पुण्य कर्म और पाप कर्मके उपार्जन करनेकी शुभ और अशुभ परिणति रूप क्रियाओंके अभावमें पुण्यरूप और पापरूप द्रव्यकर्मोंका सद्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि शुभाशुभ परिणामरूप निमित्तोंका अभाव होता है, और पापरूप द्रव्यकर्मके अभावमें सुख-दुःखका अनुभव कैसे हो सकता है? यदि किसी प्रकार क्षणिकवादियोंके मतमें सुख-दुखके अनुभवका सद्भाव मान भी लिया जाय, फिर भी (उनके मतमें पूर्वक्षण उत्तरक्षणका उपादान कारण होनेसे) उत्तरक्षण उपादानभूत पूर्वक्षणके सदृश होना चाहिये, क्योंकि उपादेय-परिणाम—उपादान—परिणामी—के सदृश होता है। उपादेयके उपादानके सदृश होनेसे दुखी आत्मरूप पूर्वक्षणसे सुखी आत्मरूप उत्तरक्षणकी, तथा सुखी आत्मरूप पूर्वक्षणसे दुखी आत्मरूप उत्तरक्षणकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है? क्योंकि उत्तरक्षणरूप परिणामका अपने उपादानसे विसदृश होनेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है।

एवं बन्धमोक्षयोरप्यसंभवः। लोकेऽपि हि य एव बद्धः स एव मुच्यते। निरन्वयनाशाभ्युपगमे चैकाधिकरणत्वाभावात् सन्तानस्य चावास्तवत्वात् कुतस्तयोः संभावनामात्रमपि ?॥

परिणामिनि चात्मनि स्वीक्रियमाणे सर्वं निर्बाधमुपपद्यते।

"परिणामोऽवस्थान्तरगमनं न च सर्वथा ह्यवस्थानम्।
न च सर्वथा विनाशः परिणामस्तद्विदामिष्टः॥"

इति वचनात्। पातञ्जलटीकाकारोऽप्याह–"अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः"[1] इति। एवं सामान्यविशेषसदसदभिलाप्यानभिलाप्यैकान्तवादेष्वपि सुखदुःखाद्यभावः स्वयमभियुक्तैरभ्यूह्यः॥

अथोत्तरार्द्धव्याख्या। एवमनुपपद्यमानेऽपि सुखदुःखभोगादिव्यवहारे परैः परतीर्थिकैरथ च परमार्थतः शत्रुभिः। परशब्दो हि शत्रुपर्यायोऽप्यस्ति। दुर्नीतिवादव्यसनासिना। नीयते एकदेशविशिष्टोऽर्थः प्रतीतिविषयमाभिरिति नीतयो नयाः। दुष्टा नीतयो दुर्नीतयो दुर्नयाः। तेषां वदनं परेभ्यः प्रतिपादनं दुर्नीतिवादः। तत्र यद् व्यसनम् अत्यासक्तिः औचित्यनिरपेक्षा प्रवृत्तिरिति यावत् दुर्नीतिवादव्यसनम्। तदेव सद्बोधशरीरोच्छेदनशक्तियुक्तत्वाद् असिरिव असिः कृपाणो दुर्नीतिवादव्यसनासिः। तेन दुर्नीतिवादव्यसनासिना करणभूतेन दुर्नयप्ररूपणहेवाकखड्गेन। एवमित्यनुभवसिद्धं प्रकारमाह। अपिशब्दस्य भिन्नक्रमत्वाद् अशेषमपि जगद्

---

(३) क्षणिक एकांतवादमें बंध और मोक्ष भी नहीं बन सकते। लोकमें भी जो बंधता है, वही बंधनमुक्त होता हुआ देखा जाता है। प्रत्येक क्षणका निरन्वय विनाश स्वीकार करनेपर आत्माका जो क्षणबद्ध होता है, उसका क्षणमात्रमें विनाश होनेसे, वही आत्माका क्षण मुक्त नहीं कहा जा सकता। अतएव बंध और मोक्षका एकाधिकरण न होनेसे तथा क्षणसन्तानके वास्तविक न होनेसे क्षणिक एकांतवादमें बंध और मोक्षकी कल्पना भी कैसे की जा सकती है ?

अतएव आत्माको परिणामी मानना चाहिये। आत्माको परिणामी माननेसे कोई भी बाधा नहीं आती। कहा भी है—

"एक अवस्थाको छोड़कर दूसरी अवस्थाको प्राप्त करनेको परिणाम कहते हैं। परिणाम न सर्वथा अवस्थानरूप होता है और न सर्वथा विनाशरूप—ऐसा विद्वानोंने माना है।"

पातंजल टीकाकारने भी कहा है—"अवस्थित द्रव्यमें पहले धर्मके नाश होनेपर दूसरे धर्मकी उत्पत्तिको परिणाम कहते हैं।" इसी प्रकार एकान्त सामान्य-विशेष, एकान्त सत्-असत्, और एकान्त वाच्य-अवाच्य वादोंमें भी सुख-दुखका अभाव आदि दोष स्वयं जान लेने चाहिये।

इस प्रकार एकान्तवादियोंके मतमें सुख, दुखके भोग आदिका व्यवहार सिद्ध न होनेपर भी परवादी-शत्रुओंने दुर्नयवादमें अत्यासक्ति रूप खड्गसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप भावप्राणोंका विच्छेद करके सम्पूर्ण जगत्का नाश कर रक्खा है। जिस प्रकार शत्रु लोग खड्गके द्वारा समस्त संसारका संहार करते हैं, उसी प्रकार परवादियोंने दुर्नयवादका प्ररूपण करके सत् ज्ञानका नाश कर दिया है। इसलिये हे भगवन्, आप परवादी-शत्रुओंसे संसारकी रक्षा करो। वस्तुके एकदेश जाननेको नय, और खोटे नयोंको दुर्नय कहते हैं। श्लोकमें 'अपि' शब्दको 'अशेष' के साथ लगाना चाहिये। जिस प्रकार 'मंच रोते हैं' (मंचाः क्रोशन्ति) इस वाक्यका अर्थ होता है कि मंचपर बैठे हुए पुरुष रोते हैं, उसी तरह यहाँ 'सम्पूर्ण

---

१. पातञ्जलयोगसूत्रे ३–१३ व्यासः।

निखिलमपि त्रैलोक्यम्। "तात्स्थ्यात् तद्व्यपदेशः" इति त्रैलोक्यगतजन्तुजातम्। विलुप्तं सम्यग्ज्ञानादिभावप्राणव्यपरोपणेन व्यापादितम्। तत् त्रायस्व इत्याशयः। सम्यग्ज्ञानादयो हि भावप्राणाः[1] प्रावचनिकैर्गीयन्ते। अत एव सिद्धेष्वपि जीवव्यपदेशः। अन्यथा हि जीवधातुः प्राणधारणार्थे[2] ऽभिधीयते। तेषां च दशविधप्राणधारणाभावाद् अजीवत्वप्राप्तिः। सा च विरुद्धा। तस्मात् संसारिणो दशविधद्रव्यप्राण[3]धारणाद् जीवाः सिद्धाश्च ज्ञानादिभावधारणाद् इति सिद्धम्। दुर्नयस्वरूपं चोत्तरकाव्ये व्याख्यास्यामः॥ इति काव्यार्थः॥ २७॥

साम्प्रतं दुर्नयप्रमाणरूपणद्वारेण "प्रमाणनयैरधिगमः[4]" इति वचनाद् जीवाजीवादितत्त्वाधिगमनिबन्धनानां प्रमाणनयानां प्रतिपादयितुः स्वामिनः स्याद्वादविरोधिदुर्नयमार्गनिराकरिष्णुरनन्यसामान्यं वचनातिशयं स्तुवन्नाह—

सदेव सत् स्यात्सदिति त्रिधार्थो मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः।
यथार्थदर्शी तु नयप्रमाणपथेन दुर्नीतिपथं त्वमास्थः॥२८॥

अर्यते परिच्छिद्यत इत्यर्थः पदार्थः। त्रिधा त्रिभिः प्रकारैः। मीयते परिच्छिद्यते। विधौ सप्तमी। कैस्त्रिभिः प्रकारैः इत्याह दुर्नीतिनयप्रमाणैः। नीयते परिच्छिद्यते एकदेशविशि-

---

लोक' (अशेषमपि त्रैलोक्यम्) का अर्थ सम्पूर्ण लोकके प्राणी समझना चाहिये। पूर्व आचार्योंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्रको भावप्राण कहा है। अतएव सिद्धोंमें भी जीवका व्यपदेश होता है। जीव् धातु प्राण धारण करनेके अर्थमें प्रयुक्त होती है। यदि दस द्रव्यप्राणोंको [देखिये परिशिष्ट (क)] धारण करना ही जीवका लक्षण किया जाय, तो सिद्धोंको अजीव कहना चाहिये, क्योंकि सिद्धोंके द्रव्यप्राण नहीं होते। अतएव संसारी जीव द्रव्यप्राणोंकी अपेक्षासे, और सिद्ध जीव भावप्राणोंकी अपेक्षासे जीव कहे जाते हैं। दुर्नयका स्वरूप आगेके श्लोकमें कहा जायगा॥ यह श्लोकका अर्थ है॥२७॥

भावार्थ—पदार्थोंको सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य माननेसे एकान्तवादियोंके मतमें सुख-दुख, पुण्य-पाप और बन्ध-मोक्ष आदिकी व्यवस्था नहीं बन सकती। अतएव प्रत्येक वस्तुको कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य मानना ही युक्तियुक्त है। भाव-अभाव, द्वैत-अद्वैत, नित्य-अनित्य आदि एकान्तवादोंमें दोषोंका दिग्दर्शन **समंतभद्रने** अपने **आप्तमीमांसा** नामक ग्रंथमें विस्तारसे किया है।

अब दुर्नय, नय, और प्रमाणका लक्षण कहते हुए "प्रमाणनयैरधिगमः" सूत्रसे जीव अजीव आदि तत्त्वोंको जाननेमें कारण प्रमाण और नयका प्रतिपादन करनेवाले और स्याद्वादके विरोधी दुर्नयोंका निराकरण करनेवाले भगवान्के वचनोंकी असाधारणता बताते हैं—

श्लोकार्थ—दुर्नयसे 'पदार्थ सर्वथा सत् है,' नयसे 'पदार्थ सत् है,' और प्रमाणसे 'पदार्थ कथंचित् सत् है'—इस तरह तीन प्रकारोंसे पदार्थोंका ज्ञान होता है। वस्तु के यथार्थ स्वरूप देखनेवाले आपने ही नय और प्रमाण मार्गके द्वारा दुर्नयरूप मार्ग निराकरण किया है।

व्याख्यार्थ—जो जाना जाता है वह अर्थ है—पदार्थ है। पदार्थोंका दुर्नय, नय और प्रमाणसे ज्ञान किया जाता है। जिसके द्वारा पदार्थोंके एक अंश को जाना जाता हो, उसे नय कहते हैं। जो नय दूषित

---

१. सम्यग्ज्ञानसम्यग्दर्शनसम्यक्चारित्रेत्यादयो ये जीवस्य गुणास्ते भावप्राणाः। इदं प्रज्ञापनासूत्रे प्रथमपदे।

२. जीव् प्राणधारणे हैमधातुपारायणे भ्वादिगणे धा. ४६५।

३. पञ्चेन्द्रियाणि श्वासोच्छ्वासआयुष्यमनोबलवचनबलशरीरबलानीति दश द्रव्यप्राणाः।

४. तत्त्वार्थाधिगमसूत्रे २–३।

ष्टोऽर्थ आभिरिति नीतयो नयाः। दुष्टा नीतयो दुर्नीतयो दुर्नया इत्यर्थः। नया नैगमादयः। प्रमीयते परिच्छिद्यतेऽर्थोऽनेकान्तविशिष्टोऽनेन इति प्रमाणम् स्याद्वादात्मकं प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणम्। दुर्नीतयश्च नयाश्च प्रमाणे च दुर्नीतिनयप्रमाणानि तैः॥

केनोल्लेखेन मीयते इत्याह सदेव सत् स्यात्सद् इति। सदिति अव्यक्तत्वाद् नपुंसकत्वम् यथा किं तस्या गर्भे जातमिति। सदेवेति दुर्नयः। सदिति नयः। स्यात्सदिति प्रमाणम्। तथाहि—दुर्नयस्तावत्सदेव इति ब्रवीति। 'अस्त्येव घटः' इति। अयं वस्तुनि एकान्तास्तित्वमेव अभ्युपगच्छन् इतरधर्माणां तिरस्कारेण स्वाभिप्रेतमेव धर्मं व्यवस्थापयति। दुर्नयत्वं चास्य मिथ्यारूपत्वात्। मिथ्यारूपत्वं तत्र धर्मान्तराणां सतामपि निह्नवात्। तथा सदिति उल्लेखनात् नयः। स हि 'अस्ति घटः' इति घटे स्वाभिमतमस्तित्वधर्मं प्रसाधयन् शेषधर्मेषु गजनिमिलिकामालम्बते। न चास्य दुर्नयत्वं। धर्मान्तरातिरस्कारात्। न च प्रमाणत्वं। स्याच्छब्देन अलाञ्छितत्वात्। स्यात्सदिति 'स्यात्कथञ्चित् सद् वस्तु' इति प्रमाणम्। प्रमाणत्वं चास्य दृष्टेष्टाबाधितत्वाद् विपक्षे बाधकसद्भावाच्च। सर्वं हि वस्तु स्वरूपेण सत् पररूपेण चासद् इति असकृदुक्तम्। सदिति दिङ्मात्रदर्शनार्थम्। अनया दिशा असत्त्वनित्यत्वानित्यत्ववक्तव्यत्वावक्तव्यत्वसामान्यविशेषादि अपि बोद्धव्यम्॥

इत्थं वस्तुस्वरूपमाख्याय स्तुतिमाह यथार्थदर्शी इत्यादि। दुर्नीतिपथं दुर्नयमार्गम्। तुशब्दस्य अवधारणार्थस्य भिन्नक्रमत्वात् त्वमेव आस्थः त्वमेव निराकृतवान्। न तीर्थान्तरदैवतानि। केन कृत्वा। नयप्रमाणपथेन। नयप्रमाणे उक्तस्वरूपे। तयोर्मार्गेण प्रचारेण। यतस्त्वं यथार्थदर्शी। यथार्थोऽस्ति तथैव पश्यतीत्येवंशीलो यथार्थदर्शी। विमलकेवलज्योतिषा यथा-

---

होते हैं, वे दुर्नय हैं। नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ये सात नय हैं। जिसके द्वारा अनंत धर्मात्मक पदार्थ जाना जाता है, उसे प्रमाण कहते हैं। प्रमाण स्याद्वादरूप होता है। इसके प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेद हैं।

यहाँ 'सत्' शब्द अव्यक्त है, इसलिये वह नपुंसक लिंगमें प्रयुक्त हुआ है। जिस प्रकार गर्भस्थ बच्चेके लिंगका ठीक ज्ञान न होनेसे 'किं तस्या गर्भे जातम्' इस वाक्यमें नपुंसक लिंगका प्रयोग हुआ है, उसी तरह 'सत्' शब्द भी नपुंसक लिंगमें प्रयुक्त हुआ है। (१) किसी वस्तुमें अन्य धर्मोंका निषेध करके अपने अभीष्ट एकान्त अस्तित्वको सिद्ध करनेको दुर्नय कहते हैं, जैसे यह घट ही है (अस्त्येव घटः)। वस्तुमें अभीष्ट धर्मकी प्रधानतासे अन्य धर्मोंका निषेध करनेके कारण दुर्नयको मिथ्या कहा गया है। (२) किसी वस्तुमें अपने इष्ट धर्मको सिद्ध करते हुए अन्य धर्मोंमें उदासीन हो कर वस्तुके विवेचन करनेको नय कहते हैं। जैसे यह घट है (अस्ति घटः)। नयमें दुर्नयकी तरह एक धर्मके अतिरिक्त अन्य धर्मोंका निषेध नहीं किया जाता, इसलिये नयको दुर्नय नहीं कहा जा सकता। तथा, नयमें 'स्यात्' शब्दका प्रयोग न होनेसे इसे प्रमाण भी नहीं कह सकते। (३) वस्तुके नाना दृष्टियोंकी अपेक्षा कथंचित् सत् रूप विवेचन करनेको प्रमाण कहते हैं, जैसे घट कथंचित् सत् है (स्यात्कथंचित् घटः)। प्रत्यक्ष और अनुमानसे अबाधित होनेसे और विपक्षका बाधक होनेसे इसे प्रमाण कहते हैं। प्रत्येक वस्तु अपने स्वभावसे सत्, और दूसरे स्वभावसे असत् है, यह पहले कई बार कहा चुका है। यहाँ वस्तुके एक 'सत्' धर्मको कहा गया है। इसी प्रकार असत्, नित्य, अनित्य, वक्तव्य, अवक्तव्य, सामान्य, विशेष आदि अनेक धर्म समझने चाहिये।

श्लोकमें 'तु' शब्द निश्चय अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। 'तु' शब्दका 'त्वं' के साथ सम्बन्ध लगाना चाहिये। इसलिये केवलज्ञानसे समस्त पदार्थोंको यथार्थ रीतिसे जानने वाले आपने ही नय और प्रमाणके द्वारा दुर्नयवादका निराकरण किया है। अन्य तैर्थिक लोग राग, द्वेष आदि दोषोंसे युक्त होनेके कारण यथार्थदर्शी नहीं हैं, इसलिये दुर्नयोंका निराकरण नहीं कर सकते। क्योंकि जो लोग स्वयं अनीतिके मार्गमें

वस्थितवस्तुदर्शी। तीर्थान्तरशास्तारस्तु रागादिदोषकालुष्यकलङ्कितत्वेन तथाविधज्ञानाभावाद् न यथार्थदर्शिनः। ततः कथं नाम दुर्नयपथमथने प्रगल्भन्ते ते तपस्विनः। न हि स्वयमनयप्रवृत्तः परेषामनयं निषेद्धुमुद्धुरतां धत्ते। इदमुक्तं भवति। यथा कश्चित् सन्मार्गवेदी परोपकार-दुर्ललितः पुरुषश्चौरश्वापादकण्टकाद्याकीर्णं मार्गं परित्याज्य पथिकानां गुणदोषोभयविकलं दोषास्पृष्टं गुणयुक्तं च मार्गमुपदर्शयति, एवं जगन्नाथोऽपि दुर्नयतिरस्करणेन भव्येभ्यो नय-प्रमाणमार्गं प्ररूपयतीति। आस्थः इति अस्यतेरद्यतन्यां "शास्त्यसूवक्तिख्यातेरङ्"[1] इत्यङि "श्वयत्यसूवचपतः श्वास्थवोचपप्तम्"[2] इति अस्थादेशे "स्वरादेस्तासु"[3] इति वृद्धौ रूपम्॥

मुख्यवृत्त्या च प्रमाणस्यैव प्रामाण्यम्। अत्र नयानां प्रमाणतुल्यकक्षताख्यापनं तत् तेषामनुयोगद्वारभूततया प्रज्ञापनाङ्गत्वज्ञापनार्थम्। चत्वारि हि प्रवचनानुयोग[4]महानगरस्य द्वाराणि उपक्रमः निक्षेपः अनुगमः नयश्चेति। एतेषां च स्वरूपमावश्यकभाष्या[5]देर्निरूपणीयम्। इह तु नोच्यते ग्रन्थगौरवभयात्। अत्र चैकत्र कृतसमासान्तः पथिन्शब्दः। अन्यत्र चाव्युत्पन्नः पथशब्दोऽदन्त इति पथशब्दस्य द्विःप्रयोगो न दुष्यति॥

अथ दुर्नयनयप्रमाणस्वरूपं किञ्चिन्निरूप्यते। तत्रापि प्रथमं नयस्वरूपं। तदनधिगमे दुर्नयस्वरूपस्य दुष्परिज्ञानत्वात्। अत्र च आचार्येण प्रथमं दुर्नयनिर्देशो यथोत्तरं प्राधान्याव-वोधनार्थः कृतः। तत्र प्रमाणप्रतिपन्नार्थैकदेशपरामर्शी नयः। अनन्तधर्माध्यासितं वस्तु स्वाभि-

---

पड़े हुए हैं, वे दूसरोंको अनीतिसे नहीं निकाल सकते। अतएव जिस प्रकार यथार्थ मार्गका जाननेवाला कोई परोपकारी पुरुष पथिकोंको कुमार्गसे बचानेकी इच्छासे चोर, व्याघ्र, कण्टक आदिसे आकीर्ण मार्गसे छुड़ा कर उन्हें निर्दोष ठीक-ठीक मार्गका प्रदर्शन करता है, इसी प्रकार त्रिलोकके स्वामी अरहंत भगवान् भी भव्योंके लिए नय और प्रमाणका उपदेश देते हैं। श्लोकमें 'आस्थः' पद निराकरण करने के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। अस् धातुसे अद्यतन (लुङ् लकार) में "शास्त्यसूवक्तिख्यातेरङ्" सूत्रसे अङ् प्रत्यय होकर "श्वयत्यसूवचपतः श्वास्थवोचपप्तम्" सूत्रसे अस्के स्थानमें अस्थ आदेश होकर "स्वरादेस्तासु" सूत्रसे 'अ' के स्थानमें वृद्धि होकर 'आस्थः' रूप बनता है।

वास्तवमें केवल प्रमाणको ही सत्य कहा जा सकता है। नयोंसे वस्तुके सम्पूर्ण अंशोंका ज्ञान नहीं होता, इसलिये नयको सत्य नहीं कह सकते। अनुयोगद्वारसे प्रज्ञापना तक पहुँचनेके लिये नय अनु-योगके द्वार हैं, इसलिये नयोंको प्रमाणके समान कहा गया है। उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय ये चार अनुयोग-महानगरमें पहुँचनेके दरवाजे हैं। इनका स्वरूप विशेषावश्यकभाष्य (गाथा ९११-४; १५०५के आगे) आदि ग्रन्थोंसे जानना चाहिये। यहाँ ग्रन्थके बढ़ जानेके भयसे सबका स्वरूप नहीं लिखा जाता। एक जगह श्लोकमें 'पथिन्' शब्द समासान्त है, और दूसरी जगह अव्युत्पन्न अकारांत है, इलिये 'पथ' शब्दका दो वार प्रयोग करनेमें दोष नहीं है।

दुर्नय, नय और प्रमाणमेंसे पहले नयका स्वरूप कहा जाता है। क्योंकि नयको विना जाने दुर्नयका ज्ञान नहीं हो सकता। प्रमाणसे निश्चित किये हुए पदार्थोंके एक अंश ज्ञान करनेको नय कहते हैं। प्रत्येक वस्तुमें अनन्त धर्म पाये जाते हैं, इन अनन्त धर्मोंमें अपने इष्ट धर्मको जाननेको नय कहते हैं। वस्तुका प्रमाण द्वारा

---

१. हैमसूत्रे ३-४-६०।

२. हैमसूत्रे ४-३-१०३।

३. हैमसूत्रे ४-४-३१।

४. अणुओगद्दाराइं महापुरस्सेव तस्स चत्तारि।

५. विशेषावश्यकभाष्ये ९११, ९१२, ९१३, ९१४, १५०५ ततः परम्।

प्रेतैकधर्मविशिष्टं नयति प्रापयति संवेदनकोटिमारोहयति इति नयः। प्रमाणप्रवृत्तेरुत्तरकालभावी परामर्श इत्यर्थः। नयाश्चानन्ताः, अनन्तधर्मत्वात् वस्तुनः तदेकधर्मपर्यवसितानां वक्तुरभिप्रायाणां च नयत्वात्। तथा च वृद्धाः—"जाइआ वयणपहा तावइया चेव हुंति नयवाया"[1] इति। तथापि चिरन्तनाचार्यैः सर्वसंग्राहिसप्ताभिप्रायपरिकल्पनाद्वारेण सप्त नयाः प्रतिपादिताः। तद्यथा—नैगमसंग्रहव्यवहारऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता इति। कथमेषां सर्वसंग्राहकत्वमिति चेत्। उच्यते। अभिप्रायस्तावद् अर्थद्वारेण शब्दद्वारेण वा प्रवर्तते, गत्यन्तराभावात्। तत्र ये केचनार्थनिरूपणप्रवणाः प्रमात्रभिप्रायास्ते सर्वेऽपि आद्ये नयचतुष्टयेऽन्तर्भवन्ति। ये च शब्दविचारचतुरास्ते शब्दादिनयत्रये इति॥

तत्र नैगमः सत्तालक्षणं महासामान्यम्, अवान्तरसामान्यानि च द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादीनि, तथान्त्यान् विशेषान् सकलासाधारणरूपलक्षणान्, अवान्तरविशेषांश्चापेक्षया पररूपव्यावर्त्तनक्षमान् सामान्यान् अत्यन्तविनिर्लुठितस्वरूपानभिप्रैति। इदं च स्वतन्त्रसामान्यविशेषवादे क्षुण्णमिति न पृथक्प्रयत्नः प्रवचनप्रसिद्धनिलयनप्रस्थदृष्टान्तद्वयंगम्यश्चायम्।[2]

निश्चय होनेपर उसका नयसे ज्ञान होता है। वस्तुओंमें अनन्त धर्म होते हैं, अतएव नय भी अनन्त होते हैं। वस्तुके अनन्त धर्मोंमेंसे वक्ताके अभिप्रायके अनुसार एक धर्मके कथन करनेको नय कहते हैं। वृद्धोंने कहा भी है—"जितनेप्रकारसे वचन बोले जा सकते हैं, उतने ही नय होते हैं।" फिर भी पूर्व आचार्योने सबका संग्रह करनेवाले सात वचनोंकी कल्पना करके नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत इन सात नयोंका ही प्रतिपादन किया है। अर्थ अथवा शब्दसे अपने अभिप्राय प्रगट किये जा सकते हैं। नैगम, संग्रह, व्यवहार ऋजुसूत्र ये चार अर्थका निरूपण करते हैं, इसलिये अर्थनय कहे जाते हैं, तथा शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत नय शब्दका प्ररूपण करते हैं, इसलिये शब्दनय कहे जाते हैं, अतएव ये सात नय सर्वसंग्राहक हैं।

(१) नैगम नय सत्तारूप महा सामान्यको; द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व रूप अवान्तर सामान्यको; असाधारण रूप विशेषको; तथा पररूपसे व्यावृत और सामान्यसे भिन्न अवान्तर विशेषोंको जानता है। यह नय सामान्य-विशेषको ग्रहण करता है। नैगम नयका स्वरूप (चौदहवें श्लोकमें) सामान्य-विशेषका निरूपण करते समय बताया गया है, अतएव यहाँ अलग नहीं लिखा जाता। निलयन और प्रस्थ ये नैगम नयके दृष्टांत शास्त्रोंमें प्रसिद्ध हैं। (निलयन शब्दका अर्थ निवास स्थान होता है। जैसे किसीने किसीसे पूछा, 'आप कहाँ रहते हैं।' उसने जवाव दिया, कि 'मैं लोकमें रहता हूँ।' लोकमें भी जम्बूद्वीप—भरतक्षेत्र—मध्यखण्ड—अमुक देश—अमुक नगर—अमुक घरमें रहता हूँ। नैगम नय इन सब विकल्पोंको जानता है। दूसरा दृष्टांत प्रस्थका है। धान्यको मापनेके पांच सेरके परिमाणको प्रस्थ कहते हैं। किसीने किसी आदमीको कुठार ले कर जंगलमें जाते हुए देखकर पूछा, 'आप कहाँ जाते हैं?' उस आदमीने जवाब दिया, कि 'मैं प्रस्थ लेने जाता हूँ।' ये दोनों नैगम नयके उदाहरण हैं।)

---

१. छाया-यावन्तो वचनपथास्तावन्त एव भवन्ति नयवादाः। सन्मतितर्कप्रकरणे ३-४७।

२. तत्र निलयनं वसनमित्यनर्थान्तरम्। तद्दृष्टान्तो यथा—कश्चित् केनचित् पृष्टः क्व वसति भवान्? स प्राह—लोके। तत्रापि जम्बूद्वीपे, तत्रापि भरतक्षेत्रे, तत्रापि मध्यखण्डे, तत्राप्येकस्मिन् जनपदे नगरे गृहे इत्यादीन् सर्वानपि विकल्पान् नैगम इच्छति॥ प्रस्थको धान्यमानविशेषः। तद्दृष्टान्तो यथा—तद्योग्यं काष्ठं वृक्षावस्थायामपि तदनुकीर्तिकं स्कन्धे कृतं गृहमानीतमित्यादिसर्वास्वप्यवस्थासु नैगमः प्रस्थकमिच्छति। हरिभद्रीयावश्यकटिप्पणे नयाधिकारः।

संग्रहस्तु अशेषविशेषतिरोधानद्वारेण सामान्यरूपतया विश्वमुपादत्ते। एकच्च सामान्यैकान्तवादे प्राक् प्रपञ्चितम् ॥

व्यवहारस्त्वेवमाह यथा—लोकग्राह्यमेव वस्तु अस्तु, किमनया अदृष्टाव्यवह्रियमाणवस्तुपरिकल्पनकष्टपिष्टिकया। यदेव च लोकव्यवहारपथमवतरति तस्यैवानुग्राहकं प्रमाणमुपलभ्यते नेतरस्य। न हि सामान्यमनादिनिधनमेकं संग्रहाभिमतं प्रमाणभूमिः, तथानुभवाभावात्। सर्वस्य सर्वदर्शित्वप्रसङ्गाच्च। नापि विशेषाः परमाणुलक्षणाः क्षणक्षयिणः प्रमाणगोचराः, तथा प्रवृत्तेरभावात्। तस्माद् इदमेव निखिललोकाबाधितं प्रमाणप्रसिद्धं कियत्कालभाविस्थूलतामाबिभ्राणमुदकाद्याहरणाद्यर्थक्रियानिर्वर्तनक्षमं घटादिकं वस्तुरूपं पारमार्थिकम्। पूर्वोत्तरकालभावितत्पर्यायपर्यालोचना पुनरज्यायसी, तत्र प्रमाणप्रसराभावात्। प्रमाणमन्तरेण विचारस्य कर्तुमशक्यत्वात्। अवस्तुत्वाच्च तेषां किं तद्गोचरपर्यालोचनेन। तथाहि—पूर्वोत्तरकालभाविनो द्रव्यविवर्ताः क्षणक्षयिपरमाणुलक्षणा वा विशेषा न कथंचन लोकव्यवहारमुपरचयन्ति। तन्न ते वस्तुरूपाः। लोकव्यवहारोपयोगिनामेव वस्तुत्वात्। अत एव पन्था गच्छति, कुण्डिका स्रवति, गिरिर्दह्यते, मञ्चाः क्रोशन्ति इत्यादिव्यवहाराणां प्रामाण्यम्। तथा च वाचमुख्यः—"लौकिकसम उपचारप्रायो विस्तृतार्थो व्यवहारः" [1]इति ॥

ऋजुसूत्रः पुनरिदं मन्यते—वर्तमानक्षणविवर्त्येव वस्तुरूपम्। नातीतमनागतं च। अतीतस्य विनष्टत्वाद् अनागतस्यालब्धात्मलाभत्वात् खरविषाणादिभ्योऽविशिष्यमाणतया

---

(२) विशेषोंकी अपेक्षा न करके वस्तुको सामान्यसे जाननेको संग्रह नय कहते हैं। इसका निरूपण (चौथे, पाँचवें श्लोकमें) सामान्य एकान्तका प्ररूपण करते समय किया जा चुका है।

(३) जितनी वस्तु लोकमें प्रसिद्ध हैं, अथवा लोकव्यवहारमें आती हैं, उन्हींको मानना, और अदृष्ट और अव्यवहार्य वस्तुओंकी कल्पना निष्प्रयोजन है। संग्रह नयसे जाना हुआ अनादि निधन रूप सामान्य व्यवहार नयका विषय नहीं हो सकता, क्योंकि इस सामान्यका सर्व साधारणको अनुभव नहीं होता। यदि इस सामान्यका सब लोगोंको अनुभव होने लगे, तो सब लोग सर्वज्ञ हो जायें। इसी प्रकार क्षण-क्षणमें नष्ट होने वाले परमाणु रूप विशेष भी प्रमाणके विषय नहीं हो सकते, क्योंकि परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थ हमारे प्रत्यक्ष आदि प्रमाणके बाह्य होनेसे हमारी प्रवृत्तिके विषय नहीं हैं। अतएव व्यवहार नयकी अपेक्षा कुछ समयके तक रहनेवाली स्थूल पर्यायको धारण करनेवाला और जलधारण आदि क्रियाओंके करनेमें समर्थ घट आदि वस्तु ही पारमार्थिक और प्रमाणसे सिद्ध हैं, क्योंकि इनके माननेमें कोई लोक विरोध नहीं आता। इसलिये घटका ज्ञान करते समय घटकी पूर्व और उत्तर कालकी पर्यायोंका विचार करना व्यर्थ है, क्योंकि सूक्ष्म पर्याय प्रमाणसे नहीं जानी जाती। तथा, ये पूर्वोत्तर पर्याय अवस्तु हैं। पूर्व और उत्तर कालमें होनेवाली द्रव्यकी पर्याय अथवा क्षण-क्षणमें नाश होनेवाले विशेष रूप परमाणु लोकव्यवहारमें उपयोगी न होनेसे अवस्तु हैं। क्योंकि जो लोकव्यवहारमें उपयोगी होता है, उसे ही वस्तु कहते हैं। अतएव 'रास्ता जाता है, कुंड बहता है, पहाड़ जलता है, मंच रोते हैं' आदि व्यवहार भी लोकोपयोगी होनेसे प्रमाण हैं। वाचकमुख्यने कहा भी है—"लोकव्यवहारके अनुसार उपचरित अर्थको बतानेवाले विस्तृत अर्थको व्यवहार कहते हैं।"

(४) वस्तुकी अतीत और अनागत पर्यायोंको छोड़कर वर्तमान क्षणकी पर्यायोंको जानना ऋजुसूत्र नयका विषय है। वस्तुकी अतीत पर्याय नष्ट हो जाती है, और अनागत पर्याय उत्पन्न नहीं होती, इसलिये अतीत और अनागत पर्याय खरविषाणकी तरह सम्पूर्ण सामर्थ्यसे रहित होकर कोई अर्थक्रिया नहीं कर

---

१. तत्त्वार्थधिगमभाष्ये १-३५।

सकलशक्तिविरहरूपत्वात् नार्थक्रियानिर्वर्तनक्षमत्वम् तदभावाच्च न वस्तुत्वं। "यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत्" इति वचनात्। वर्तमानक्षणालिङ्गितं पुनर्वस्तुरूपं समस्तार्थक्रियासु व्याप्रियत इति तदेव पारमार्थिकम्। तदपि च निरंशमभ्युगन्तव्यम् अंशव्याप्तेर्युक्तिरिक्तत्वात्। एकस्य अनेकस्वभावतामन्तरेण अनेकस्यावयवव्यापनायोगात् अनेकस्वभावता एवास्तु इति चेत्। न। विरोधव्याघ्राघ्रातत्वात्। तथाहि—यदि एकः स्वभावः कथमनेकः अनेकश्चेत्कथमेकः एकानेकयोः परस्परपरिहारेणावस्थानात्। तस्मात् स्वरूपनिमग्नाः परमाणव एव परस्परोपसर्पणद्वारेण कथंचिन्निचयरूपतामापन्ना निखिलकार्येषु व्यापारभाज इति त एव स्वलक्षणं न स्थूलतां धारयत् पारमार्थिकमिति। एवमस्याभिप्रायेण यदेव स्वकीयं तदेव वस्तु न परकीयम्, अनुपयोगित्वादिति ॥

शब्दस्तु रूढितो यावन्तो ध्वनयः कस्मिंश्चिदर्थे प्रवर्तन्ते, यथा इन्द्रशक्रपुरन्दरादयः सुरपतौ तेषां सर्वेषामप्येकमर्थमभिप्रैति किल, प्रतीतिवशाद्। यथा शब्दादव्यतिरेकोऽर्थस्य प्रतिपाद्यते तथैव तस्यैकत्वमनेकत्वं वा प्रतिपादनीयम्। न च इन्द्रशक्रपुरन्दरादयः पर्यायशब्दा विभिन्नार्थवाचितया कदाचन प्रतीयन्ते। तेभ्यः सर्वदा एकाकारपरामर्शोत्पत्तेरस्खलितवृत्तितया तथैव व्यवहारदर्शनात्। तस्माद् एक एव पर्यायशब्दानामर्थ इति शब्द्यते आहूयतेऽनेनाभिप्रायेणार्थः इति निरुक्तात् एकार्थप्रतिपादनाभिप्रायेणैव पर्यायध्वनीनां प्रयोगात्। यथा चायं पर्यायशब्दानामेकमर्थमभिप्रैति तथा तटस्तटी तटम् इति विरुद्धलिङ्गलक्षणधर्माभिसम्बन्धाद् वस्तुनो भेदं चाभिदत्ते। न हि विरुद्धधर्मकृतं भेदमनुभवतो वस्तुनो विरुद्धधर्मायोगो युक्तः। एवं सङ्ख्याकालकारकपुरुषादिभेदाद् अपि भेदोऽभ्युपगन्तव्यः। तत्र सङ्ख्या एकत्वादिः कालोऽतीतादिः कारकं कर्त्रादि पुरुषः प्रथमपुरुषादिः ॥

सकती, इसलिये अवस्तु है। क्योंकि "अर्थक्रिया करनेवाला ही वास्तवमें सत् कहा जाता है।" वर्तमान क्षणमें विद्यमान वस्तुसे ही समस्त अर्थक्रिया हो सकती है, इसलिये यथार्थमें वही सत् है। अतएव वस्तुका स्वरूप निरंश मानना चाहिये, क्योंकि वस्तुको अंश सहित मानना युक्तिसे सिद्ध नहीं होता। शंका—एक वस्तुके अनेक स्वभाव माने विना वह अनेक अवयवोंमें नहीं रह सकती, इसलिये वस्तुमें अनेक स्वभाव मानने चाहिये। समाधान—यह ठीक नहीं। क्योंकि यह माननेमें विरोध आता है। तथाहि—एक और अनेकमें परस्पर विरोध होनेसे एक स्वभाववाली वस्तुमें अनेक स्वभाव, और अनेक स्वभाववाली वस्तुमें एक स्वभाव नहीं बन सकते। अतएव अपने स्वरूपमें स्थित परमाणु ही परस्परके संयोगसे कथंचित् समूह रूप होकर सम्पूर्ण कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं। इसलिये ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षा स्थूल रूपको धारण न करनेवाले स्वरूपमें स्थित परमाणु ही यथार्थमें सत् कहे जा सकते हैं। अतएव ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षा निज स्वरूप ही वस्तु है, पर स्वरूपको अनुपयोगी होनेके कारण वस्तु नहीं कह सकते।

(५) रूढ़िसे सम्पूर्ण शब्दोंके एक अर्थमें प्रयुक्त होनेको शब्द नय कहते हैं। जैसे शक्र, पुरन्दर—इन्द्र, आदि सब शब्द एक अर्थके द्योतक हैं। जैसे, शब्द और अर्थका अभेद होता है, वैसे ही उसके एकत्व और अनेकत्वका भी प्रतिपादन करना चाहिये। इन्द्र, शक्र और पुरन्दर आदि पर्यायवाची शब्द कभी भिन्न अर्थका प्रतिपादन नहीं करते, क्योंकि उनसे एक ही अर्थका ज्ञान होता है। अतएव इन्द्र आदि पर्यायवाची शब्दोंका एक ही अर्थ है। जिस अभिप्रायसे अर्थ कहा जाय, उसे शब्द कहते हैं। अतएव सम्पूर्ण पर्यायवाची शब्दोंसे एक ही अर्थका ज्ञान होता है। जैसे इन्द्र, शक्र और पुरन्दर परस्पर पर्यायवाची शब्द एक अर्थको द्योतित करते हैं, वैसे ही 'तट, तटी, तटम्' परस्पर विरुद्ध लिंगवाले शब्दोंसे पदार्थोंके भेदका ज्ञान होता है। इसी प्रकार संख्या—एकत्व आदि, काल—अतीत आदि, कारक—कर्ता आदि, और पुरुष—प्रथम पुरुष आदिके भेदसे शब्द और अर्थमें भेद समझना चाहिए।

समभिरूढस्तु पर्यायशब्दानां प्रविभक्तमेवार्थमभिमन्यते। तद्यथा इन्दनात् इन्द्रः। पारमैश्वर्यम् इन्द्रशब्दवाच्यं परमार्थतस्तद्वत्यर्थे, अतद्वत्यर्थे पुनरुपचारतो वर्तते। न वा कश्चित् तद्वान्, सर्वशब्दानां परस्परविभक्तार्थप्रतिपादितया आश्रयाश्रयिभावेन प्रवृत्त्यसिद्धेः। एवं शकनात् शक्रः पूर्दारणात् पुरन्दर इत्यादिभिन्नार्थत्वं सर्वशब्दानां दर्शयति। प्रमाणयति च— पर्यायशब्दा अपि भिन्नार्थाः, प्रविभक्तव्युत्पत्तिनिमित्तकत्वात्। इह ये ये प्रविभक्तव्युत्पत्तिनिमित्तकास्ते ते भिन्नार्थकाः, यथा इन्द्रपशुपुरुषशब्दाः। विभिन्नव्युत्पत्तिनिमित्तकाश्च पर्यायशब्दा अपि। अतो भिन्नार्था इति॥

एवभूतः पुनरेवं भाषते—यस्मिन् अर्थे शब्दो व्युत्पाद्यते स व्ययुत्पत्तिनिमित्तम्। अर्थो यदैव प्रवर्तते तदैव तं शब्दं प्रवर्तमानमभिप्रैति, न सामान्येन। यथा उदकाद्याहरणवेलायां योषिदादिमस्तकारूढो विशिष्टचेष्टावान् एव घटोऽभिधीयते न शेषः, घटशब्दव्युत्पत्तिनिमित्तशून्यत्वात, पटादिवद् इति। अतीतां भाविनीं वा चेष्टामङ्गीकृत्य सामान्येनैवोच्यत इति चेत्। न। तयोर्विनष्टानुत्पन्नतया शशविषाणकल्पत्वात् तथापि तद्द्वारेण शब्दप्रवर्तने सर्वत्र प्रवर्तयितव्यः, विशेषाभावात्। किंच यदि अतीतवर्त्स्यच्चेष्टापेक्षया घटशब्दोऽचेष्टावत्यपि प्रयुज्येत

---

(६) समभिरूढ़ नय पर्यायवाची शब्दोंमें भिन्न अर्थको द्योतित करता है। जैसे इन्द्र शक्र और पुरन्दर शब्दोंके पर्यायवाची होनेपर भी इन्द्रसे परम ऐश्वर्यवान (इन्दनात् इन्द्रः), शक्रसे सामर्थ्यवान (शकनात् शक्रः) और पुरन्दरसे नगरोंको विदारण करनेवाले (पूर्दारणात् पुरन्दरः) भिन्न-भिन्न अर्थोंका ज्ञान होता है। वास्तवमें इन्द्र शब्दके कहनेसे इन्द्र शब्दका वाच्य (परम ऐश्वर्यवाले) में ही मिल सकता है। जिसमें परम ऐश्वर्य नहीं है, उसे केवल उपचारसे ही इन्द्र कहा जा सकता है। इसलिये वास्तवमें जो परम ऐश्वर्यसे रहित है, उसे इन्द्र नहीं कह सकते। अतएव परस्पर भिन्न अर्थको प्रतिपादन करनेवाले शब्दोंमें आश्रय और आश्रयी संबंध नहीं बन सकता। इसी तरह शक्र और पुरन्दर शब्द भी भिन्न अर्थको द्योतित करते हैं। अतएव भिन्न व्युत्पत्ति होनेसे पर्यायवाची शब्द भिन्न भिन्न अर्थोंके द्योतक हैं। जिन शब्दोंकी व्युत्पत्ति भिन्न भिन्न होती है, वे शब्द भिन्न भिन्न अर्थोंके द्योतक होते हैं, जैसे इन्द्र, पशु और पुरुष शब्द। पर्यायवाची शब्द भी भिन्न व्युत्पत्ति होनेके कारण भिन्न अर्थको सूचित करते हैं।

(७) एवंभूत नय ऐसा कहता है—जिस अर्थको लेकर शब्दकी व्युत्पत्ति की जाती है, वही अर्थ उस शब्दकी व्युत्पत्ति—प्रवृत्ति—का निमित्त होता है। जिस समय अर्थ प्रवृत्त होता है, उस समय प्रवृत्त होता हुआ उसे अभिप्रेत होता है, सामान्यतः नहीं। जैसे, जल लानेके समय स्त्रियोंके सिरपर रक्खे हुए विशिष्ट क्रिया युक्त घड़ेको ही 'घट' कह सकते हैं, दूसरी अवस्थामें घड़ेको 'घट' नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जिस तरह पटको घट नहीं कहा जा सकता, उसी तरह घड़ा भी जल लाने आदिकी क्रिया रहित अवस्थामें घट शब्दकी व्युत्पत्तिका निमित्त नहीं हो सकता। 'स्त्रियोंके सिर पर न रक्खे हुए और विशिष्ट क्रियासे रहित पदार्थकी अतीत और अनागत विशिष्ट चेष्टा—क्रिया—को स्वीकार कर, वह दूसरा पदार्थ सामान्यतः घट कहा जाता है'—यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि उस दूसरे पदार्थकी अतीतकालीन चेष्टा नाश होने अथवा अनागतकालीन चेष्टाके अनुत्पन्न होनेसे, ये चेष्टाएँ शशविषाणके सदृश होती हैं, अर्थात् उनका अभाव होता है। दूसरे पदार्थकी अतीत चेष्टाका नाश अथवा अनागतकालीन चेष्टाकी अनुत्पत्ति होनेसे, उन चेष्टाओंका अभाव होनेपर भी यदि उन चेष्टाओंके द्वारा उस दूसरे पदार्थको लेकर घट शब्द प्रवृत्त किया गया तो सभी पदार्थोंको लेकर घट शब्दका व्यवहार करना चाहिये—सभी पदार्थोंको घट कहना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार उस दूसरे पदार्थकी अतीत या अनागत चेष्टाओंका (शब्दप्रवर्तन कालमें) अभाव होता है, उसी प्रकार (शब्दप्रवर्तन कालमें) अन्य सभी पदार्थोंकी अतीत या अनागत चेष्टाओंका अभाव होता है। (तात्पर्य यह है कि जब प्रवृत्तिनिमित्तका अभाव होनेपर भी एक पदार्थको लेकर घट शब्दका व्यवहार

तदा कपालमृत्पिण्डादावपि तत्प्रवर्तनं दुर्निवारं स्याद्, विशेषाभावात्। तस्माद् यत्र क्षणे व्युत्पत्तिनिमित्तमविकलमस्ति तस्मिन् एव सोऽर्थस्तच्छब्दवाच्य इति ॥

अत्र संग्रहश्लोकाः—

"अन्यदेव हि सामान्यभिन्नज्ञानकारणम्।
विशेषोऽप्यन्य एवेति मन्यते नैगमो नयः ॥ १ ॥
सद्रूपतानतिक्रान्तं स्वस्वभावमिदं जगत्।
सत्तारूपतया सर्वं संगृह्णन् संग्रहो मतः ॥ २ ॥
व्यवहारस्तु तामेव प्रतिवस्तु व्यवस्थिताम्।
तथैव दृश्यमानत्वाद् व्यापारयति देहिनः ॥ ३ ॥
तत्रर्जुसूत्रनीतिः स्याद् शुद्धपर्यायसंश्रिता।
नश्वरस्यैव भावस्य भावात् स्थितिवियोगतः ॥ ४ ॥
विरोधिलिङ्गसंख्यादिभेदाद् भिन्नस्वभावताम्।
तस्यैव मन्यमानोऽयं प्रत्यवतिष्ठते ॥ ५ ॥
तथाविधस्य तस्यापि वस्तुनः क्षणवर्तिनः।
ब्रूते समभिरूढस्तु संज्ञाभेदेन भिन्नताम् ॥ ६ ॥
एकस्यापि ध्वनेर्वाच्यं सदा तन्नोपपद्यते।
क्रियाभेदेन भिन्नत्वाद् एवंभूतोऽभिमन्यते" ॥ ७ ॥

किया जाता है तो प्रवृत्तिनिमित्त का अभाव होनेपर अन्य सभी पदार्थोंको लेकर घट शब्दका व्यवहार क्यों न किया जाये ?) यदि अतीत या अनागत चेष्टाओंकी अपेक्षासे वर्तमानकालीन चेष्टा रहित, उस दूसरे पदार्थको लेकर घट शब्द प्रयुक्त किया जाता है तो कपाल और मृत्पिडमें भी घट शब्दका प्रयोग करना दुर्निवार हो जायेगा। क्योंकि जिस प्रकार उस दूसरे पदार्थमें वर्तमानकालीन विशिष्ट चेष्टाका अभाव होता है तथा भूत अथवा भविष्य कालमें चेष्टाका सद्भाव होता है, उसी प्रकार कपालमें भूतकालमें तथा मृत्पिडमें भविष्य कालमें चेष्टाका सद्भाव और वर्तमानकालीन चेष्टाका अभाव होता है। अतएव जिस क्षणमें किसी शब्दकी व्युत्पत्तिका निमित्त कारण भूत पदार्थ सम्पूर्ण रूपसे विद्यमान हो, उसी क्षणमें वह पदार्थके द्वारा वाच्य होता है।

यहाँ संग्रह श्लोक हैं—

"नैगम नयके अनुसार विशेष रहित सामान्य ज्ञानका कारणभूत (वस्तुगत) सामान्य भिन्न होता है और विशेष भी भिन्न होता है ॥ १ ॥

अपने-अपने स्वभावमें स्थित सभी पदार्थ हैं अस्तित्व धर्मको नहीं छोड़ते हैं। इन सभी पदार्थोंका सत्तारूपसे जो संग्रह करता है, उसे संग्रह नय कहते हैं ॥ २ ॥

सत्ताके समान दिखाई देनेवाली होनेके कारण प्रत्येक वस्तुमें विद्यमान रहनेवाली उस सत्ताके लिये—अवान्तर सत्तावाले पदार्थोंके लिये—प्राणियोंको व्यवहार नय प्रवृत्त कराता है ॥ ३ ॥

स्थिति—ध्रौव्य—का अभाव (गौणत्व) होनेसे केवल नश्वर पर्यायका सद्भाव होनेके कारण, अर्थ-क्रियाकारी होनेसे पारमार्थिक पर्यायका आश्रयी ऋजुसूत्र नय होता है ॥ ४ ॥

परस्पर विरोधी लिंग, संख्या आदिके भेदसे भिन्न-भिन्न धर्मोंको माननेवाला शब्द नय होता है ॥५॥

क्षणस्थायी वस्तुको भिन्न-भिन्न संज्ञाओंके भेदसे भिन्न मानना समभिरूढ़ नय है ॥ ६ ॥

वस्तु अमुक क्रिया करनेके समय ही अमुक नामसे कही जा सकती है, वह सदा एक शब्दका वाच्य नहीं हो सकती, इसे एवंभूत नय कहते हैं ॥ ७ ॥"

एत एव च परामर्शा अभिप्रेतधर्मावधारणात्मकतया शेषधर्मतिरस्कारेण प्रवर्तमाना दुर्नयसंज्ञामश्नुवते। तद्बलप्रभावितसत्ताका हि खल्वेते परप्रवादाः। तथाहि—नैगमनयदर्शनानुसारिणौ नैयायिकवैशेषिकौ। संग्रहाभिप्रायवृत्ताः सर्वेऽप्यद्वैतवादाः सांख्यदर्शनं च। व्यवहारनयानुपाति प्रायश्चार्वाकदर्शनम्। ऋजुसूत्राकूतप्रवृत्तबुद्धयस्ताथागताः शब्दादिनयावलम्बिनो वैयाकरणादयः॥

उक्तं च सोदाहरणं नयदुर्नयस्वरूपं **श्रीदेवसूरिपादैः**। तथा च तद्ग्रन्थः[1]—"नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्य अर्थस्य अंशस्तदितरांशौदासीन्यतः स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः इति। स्वाभिप्रेताद् अंशाद् इतरांशापलापी पुनर्नयाभासः। स व्यासमासाभ्यां द्विप्रकारः। व्यासतोऽनेकविकल्पः[2]। समासतस्तु द्विभेदो द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च[3]। आद्यो नैगमसंग्रहव्यवहारभेदात् त्रेधा। धर्मयोर्धर्मिणोर्धर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपसर्जनभावेन यद्विवक्षणं स नैकगमो नैगमः। सत् चैतन्यमात्मनीति धर्मयोः। वस्तुपर्यायवद्द्रव्यमिति धर्मिणोः। क्षणमेकं सुखी विषयासक्तजीव इति धर्मधर्मिणोः धर्मद्वयादीनामैकान्तिकपार्थक्याभिसन्धिर्नैगमाभासः। यथा आत्मनि सत्त्वचैतन्ये परस्परमत्यन्तं पृथग्भूते इत्यादिः। सामान्यमात्रग्राही परामर्शः संग्रहः अयमुभयविकल्पः परोऽपरश्च। अशेषविशेषेषु औदासीन्यं भजमानः शुद्धद्रव्यं सन्मात्र-

---

जिस समय ये नय अन्य धर्मोंका निषेध करके केवल अपने एक अभीष्ट धर्मका ही प्रतिपादन करते हैं, उस समय दुर्नय कहे जाते हैं। एकान्तवादी लोग वस्तुके एक धर्मको सत्य मान कर अन्य धर्मोंका निषेध करते है, इसलिये वे लोग दुर्नयवादी कहे जाते हैं। तथाहि—न्याय-वैशेषिक लोक नैगम नयका अनुकरण करते हैं, अद्वैतवादी और सांख्य संग्रह नयको मानते हैं। चार्वाक लोग व्यवहार नयवादी हैं, बौद्ध लोग केवल ऋजुसूत्र नयको मानते हैं, तथा वैयाकरणी लोग शब्द आदि नयका ही अनुकरण करते हैं।

देवसूरि आचार्यने प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकारमें नय और दुर्नयका स्वरूप उदाहरण सहित प्रतिपादित किया है—"श्रुतज्ञान प्रमाणसे जाने हुए पदार्थोंका एक अंश जान कर अन्य अंशोंके प्रति उदासनी रहते हुए वक्ताके अभिप्रायको नय कहते है। अपने अभीष्ट धर्मके अतिरिक्त वस्तुके अन्य धर्मोंके निषेध करनेको नयाभास (दुर्नय) कहते है। संक्षेप और विस्तारके भेदसे नय दो प्रकारका है। विस्तारसे नयके अनेक भेद हैं। संक्षेपमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—ये नयके दो भेद हैं। द्रव्यार्थिक नयके नैगम, संग्रह और व्यवहार तीन भेद हैं। (१) दो धर्म अथवा दो धर्मी अथवा एक धर्म और एक धर्मीमें प्रधान और गौणताकी विवक्षाको नैकगम अथवा नैगम नय कहते हैं। (क) जैसे सत् और चैतन्य दोनों आत्माके धर्म हैं। यहाँ सत् और चैतन्य दोनों धर्मोंमें चैतन्य विशेष्य होनेसे प्रधान धर्म है, और सत् विशेषण होनेसे गौण धर्म है। (ख) पर्यायवान द्रव्यको वस्तु कहते हैं। यहाँ द्रव्य और वस्तु दो धर्मियोंमें द्रव्य मुख्य और वस्तु गौण है। अथवा पर्यायवान वस्तुको द्रव्य कहते हैं। यहाँ वस्तु मुख्य और द्रव्य गौण है। (ग) विषयासक्त जीव क्षणभरके लिये सुखी हो जाता है—यहाँ विषयासक्त जीव रूप धर्मी मुख्य, और क्षणभरके लिये सुखी होना रूप धर्म गौण है। दो धर्म, दो धर्मी अथवा एक धर्म और धर्मोंमें सर्वथा भिन्नता दिखानेको नैगमाभास कहते हैं। जैसे (क) आत्मामें सत् और चैतन्य परस्पर भिन्न हैं (ख) पर्यायवान वस्तु और द्रव्य सर्वथा भिन्न

---

१. प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे सप्तमपरिच्छेदे १–५३।

२. अनन्तांशात्मके वस्तुन्येकैकांशपर्यवसायिनो यावन्तः प्रतिपत्तॄणामभिप्रायास्तावन्तो नयाः। ते च नियतसंख्यया संख्यातुं न शक्यन्त इति व्यासतो नयस्यानेकप्रकारत्वमुक्तम्।

३. द्रवति द्रोष्यति अदुद्रुवत् तांस्तान् पर्यायानिति द्रव्यं तदेवार्थः। सोऽस्ति यस्य विषयत्वेन स द्रव्यार्थिकः। पर्येत्युत्पादविनाशौ प्राप्नोतीति पर्यायः स एवार्थः। सोऽस्ति यस्यासौ पर्यायार्थिकः।

मभिमन्यमानः परसंग्रहः। विश्वमेकं सदविशेषादिति यथा। सत्ताद्वैतं स्वीकुर्वाणः सकलविशेषान् निराचक्षाणस्तदाभासः। यथा सत्तैव तत्त्वम् ततः पृथग्भूतानां विशेषाणामदर्शनात्। द्रव्यत्वादीनि अवान्तरसामान्यानि मन्वानस्तद्भेदेषु गजनिमीलिकामवलम्बमानः पुनरपरसंग्रहः। धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवद्रव्याणामैक्यं द्रव्यत्वाभेदात् इत्यादिर्यथा। तद्द्रव्यत्वादिकं प्रतिजानानस्तद्विशेषान्निह्नुवानस्तदाभासः। यथा द्रव्यत्वमेव तत्त्वम् ततोऽर्थान्तरभूतानां द्रव्याणामनुपलब्धेरित्यादिः। संग्रहेण गोचरीकृतानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं येनाभिसन्धिना क्रियते स व्यवहारः। यथा यत् सत् तद् द्रव्यं पर्यायो वेत्यादिः। यः पुनरपारमार्थिकद्रव्यपर्यायविभागमभिप्रैति स व्यवहाराभासः। यथा चार्वाकदर्शनम्॥

पर्यायार्थिकश्चतुर्धा ऋजुसूत्रः शब्दः समभिरूढः एवंभूतश्च। ऋजु वर्तमानक्षणस्थायि पर्यायमात्रं प्राधान्यतः सूत्रयन्नभिप्रायः ऋजुसूत्रः। यथा सुखविवर्तः सम्प्रति अस्तीत्यादिः। सर्वथा द्रव्यापलापी तदाभासः। यथा तथागतमतम्। कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेदं प्रतिपद्यमानः शब्दः। यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादिः। तद्भेदेन तस्य तमेव समर्थयमानस्तदाभासः। यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादयो भिन्नकालाः शब्दा भिन्नमेव अर्थमभिदधति भिन्नकालशब्दत्वात् तादृक्सिद्धान्यशब्दवद् इत्यादिः। पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन

हैं। (ग) सुख और जीव परस्पर भिन्न हैं। (२) विशेष रहित सामान्य मात्र जाननेवालेको संग्रह नय कहते हैं। पर और अपर सामान्यके भेदसे संग्रहके दो भेद हैं। सम्पूर्ण विशेषोंमें उदासीन भाव रखकर शुद्ध सत् मात्रको जानना पर संग्रह हैं; जैसे सामान्यसे एक विश्व ही सत् है। सत्ताद्वैतको मानकर सम्पूर्ण विशेषोंका निषेध करना परसंग्रहाभास है; जैसे सत्ता ही एक तत्त्व है, क्योंकि सत्तासे भिन्न विशेष पदार्थोंकी उपलब्धि नहीं होती। द्रव्यत्व, पर्यायत्व आदि अवान्तर सामान्योंको मानकर उनके भेदोंमें मध्यस्थ भाव रखना अपर संग्रह नय है; जैसे द्रव्यत्वकी अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव एक हैं। (इसी प्रकार पर्यायत्वकी अपेक्षा चेतन और अचेतन पर्याय एक हैं)। धर्म, अधर्म आदिको केवल द्रव्यत्व रूपसे स्वीकार करके उनके विशेषोंके निषेध करनेको अपर संग्रहाभास कहते हैं; जैसे द्रव्यत्व ही तत्त्व है, क्योंकि द्रव्यत्वसे भिन्न द्रव्योंका ज्ञान नहीं होता। (३) संग्रह नयसे जाने हुए पदार्थोंमें योग्य रीतिसे विभाग करनेको व्यवहार नय कहते हैं। जैसे जो सत् है, वह द्रव्य या पर्याय है। (यद्यपि संग्रह नयकी अपेक्षा द्रव्य और पर्याय सत्से अभिन्न हैं, परन्तु व्यवहार नयकी दृष्टिसे द्रव्य और पर्यायको सत्से भिन्न माना गया है)। अपारमार्थिक द्रव्य और पर्यायके एकान्त भेद प्रतिपादन करनेको व्यवहाराभास कहते हैं; जैसे चार्वाकदर्शन। (चार्वाक लोग जीव द्रव्यके पर्याय आदि न मानकर केवलभूत चतुष्टयको मानते हैं, अतएव उनको व्यवहाराभास कहा गया है)।

ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ये चार पर्यायार्थिक नयके भेद हैं। (१) वर्तमान क्षणकी पर्याय मात्रकी प्रधानतासे वस्तुका कथन करना ऋजुसूत्र है; जैसे इस समय मैं सुखकी पर्याय भोगता हूँ। द्रव्यके सर्वथा निषेध करनेको ऋजुसूत्र नयाभास कहते हैं, जैसे बौद्धमत। (बौद्ध लोग क्षण क्षणमें नाश होनेवाली पर्यायोंको ही वास्तविक मानकर पर्यायोंके आश्रित द्रव्यका निषेध करते हैं, इसलिये उनका मत ऋजुसूत्र नयाभास है)। (२) काल, कारक, लिंग, संख्या, वचन और उपसर्गके भेदसे शब्दके अर्थमें भेद माननेको शब्द नय कहते हैं; जैसे बभूव, भवति, भविष्यति (काल); करोति, क्रियते (कारक); तटः, तटी, तटं (लिंग); दारा, कलत्रम् (संख्या); एहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यसि यातस्ते पिता (पुरुष); सन्तिष्ठते, अवतिष्ठते (उपसर्ग)। काल आदिके भेदसे शब्द और अर्थको सर्वथा अलग माननेको शब्दाभास कहते हैं; जैसे सुमेरु था, सुमेरु है और सुमेरु होगा, आदि भिन्न-भिन्न कालके शब्द भिन्न कालके शब्द होनेसे भिन्न-भिन्न अर्थोंका ही प्रतिपादन करते हैं, जैसे अन्य भिन्न कालके शब्द। (३) पर्याय शब्दोंमें

भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरूढः। इन्दनाद् इन्द्रः शकनाच्छक्रः पूर्दारणात् पुरन्दर इत्यादिषु यथा। पर्यायध्वनीनामभिधेयनानात्वमेव कक्षीकुर्वाणस्तदाभासः। यथेन्द्रः शक्रः पुरन्दर इत्यादयः शब्दा भिन्नाभिधेया एव भिन्नशब्दत्वात् करिकुरङ्गतुरङ्गशब्दवद् इत्यादिः। शब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाविशिष्टमर्थं वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छन् एवंभूतः। यथेन्दनमनुभवन् इन्द्रः शकनक्रियापरिणतः शक्रः पूर्दारणप्रवृत्तः पुरन्दर इत्युच्यते। क्रियानाविष्टं वस्तु न घटशब्दवाच्यम् घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाशून्यत्वात् पटवद् इत्यादिः॥

एतेषु चत्वारः प्रथमेऽर्थनिरूपणप्रवणत्वाद् अर्थनयाः। शेषास्तु त्रयः शब्दवाच्यार्थगोचरतया शब्दनयाः। पूर्वः पूर्वो नयः प्रचुरगोचरः परः परस्तु परिमितविषयः। सन्मात्रगोचरात् संग्रहात् नैगमो भावाभावभूमिकत्वाद् भूमविषयः। सद्विशेषप्रकाशकाद् व्यवहारतः संग्रहः समस्तसत्समूहोपदर्शकत्वाद् बहुविषयः। वर्तमानविषयाद् ऋजुसूत्राद् व्यवहारस्त्रिकालविषयावलम्बित्वाद् अनल्पार्थः। कालादिभेदेन भिन्नार्थोपदर्शिनः शब्दादृजुसूत्रस्तद्विपरीतवेदकत्वाद् महार्थः। प्रतिपर्यायशब्दमर्थभेदमभीप्सतः समभिरूढात् शब्दस्तद्विपर्ययानुयायित्वात् प्रभूतविषयः। प्रतिक्रियं विभिन्नमर्थं प्रतिजानानाद् एवंभूतात् समभिरूढस्तदन्यथार्थस्थापकत्वाद् महागोचरः। नयवाक्यमपि स्वविषये प्रवर्तमानं विधिप्रतिषेधाभ्यां सप्तभङ्गीमनु-

---

निरुक्तिके भेदसे भिन्न अर्थको कहना समभिरूढ़ नय है; जैसे ऐश्वर्यवान् होनेसे इन्द्र, समर्थ होनेसे शक्र और नगरोंका नाश करनेवाला होनेसे पुरन्दर कहना। पर्यायवाची शब्दोंको सर्वथा भिन्न मानना समभिरूढ़ नयाभास है; जैसे करि (हाथी) कुरंग (हरिण) और तुरंग शब्द परस्पर भिन्न हैं, वैसे ही इन्द्र, शक्र और पुरन्दर शब्दोंको सर्वथा भिन्न मानना। (४) जिस समय पदार्थोंमें जो क्रिया होती हो, उस समय उस क्रियाके अनुरूप शब्दोंसे अर्थके प्रतिपादन करनेको एवंभूत नय कहते हैं; जैसे परम ऐश्वर्यका अनुभव करते समय इन्द्र, समर्थ होनेके समय शक्र, और नगरोंका नाश करनेके समय पुरन्दर कहना। पदार्थमें अमुक क्रिया होनेके समयको छोड़कर दूसरे समय उस पदार्थको उसी शब्दसे नहीं कहना, एवंभूत नयाभास है; जैसे, जिस प्रकार जल लाने आदिकी क्रियाका अभाव होनेसे पटको घट नहीं कहा जा सकता, वैसे ही जल लाने आदि क्रियाके अतिरिक्त समय घड़ेको घट नहीं कहना।

सात नयोंमें नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये चार नय अर्थका प्रतिपादन करनेके कारण अर्थनय कहे जाते हैं। बाकीके शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत नय शब्दका प्रतिपादन करनेसे शब्दनय कहे जाते हैं। इन नयोंमें पहले-पहले नय अधिक विषयवाले हैं, और आगे आगेके नय परिमित विषयवाले हैं। संग्रह नय सत् मात्रको जानता है, और नैगम नय सामान्य और विशेष दोनोंको जानता है, इसलिये संग्रह नयकी अपेक्षा नैगम नयका अधिक विषय है। व्यवहार नय संग्रहसे जाने हुए पदार्थोंको विशेष रूपसे जानता है, और संग्रह समस्त सामान्य पदार्थोंको जानता है, इसलिये संग्रह नयका विषय व्यवहार नयसे अधिक है। व्यवहार नय तीनों कालोंके पदार्थोंको जानता है, और ऋजुसूत्रसे केवल वर्तमानकालीन पदार्थोंका ज्ञान होता है, अतएव व्यवहार नयका विषय ऋजुसूत्रसे अधिक है। शब्द नय, काल आदिके भेदसे वर्तमान पर्यायको जानता है, ऋजुसूत्रमें काल आदिका कोई भेद नहीं, इसलिये शब्द नयसे ऋजुसूत्र नयका विषय अधिक है। समभिरूढ़ नय इन्द्र, शक्र आदि पर्यायवाची शब्दोंको भी व्युत्पत्तिकी अपेक्षा भिन्न रूपसे जानता है, परन्तु शब्द नयमें यह सूक्ष्मता नहीं रहती, अतएव समभिरूढ़से शब्द नयका विषय अधिक है। समभिरूढ़से जाने हुए पदार्थोंमें क्रियाके भेदसे वस्तुमें भेद मानना एवंभूत है; जैसे समभिरूढ़की अपेक्षा पुरन्दर और शचीपतिमें भेद होनेपर भी नगरोंका नाश करनेकी क्रिया न करनेके समय भी पुरन्दर शब्द इन्द्रके अर्थमें प्रयुक्त होता है, परन्तु एवंभूतकी अपेक्षा नगरोंका नाश करते समय ही इन्द्रको पुरन्दर नामसे कहा जा सकता है। अतएव एवंभूतसे समभिरूढ़ नयका विषय अधिक है। प्रमाणके सात भंगोंकी तरह अपने विषयमें विधि और

व्रजति।" इति। विशेषार्थिना नयानां नामान्वर्थविशेषलक्षणाक्षेपपरिहारादिचर्चस्तु भाष्यमहोदधिगन्धहस्तिटीका[1]न्यायावतारादिग्रन्थेभ्यो निरीक्षणीयः॥

प्रमाणं तु सम्यगर्थनिर्णयलक्षणं सर्वनयात्मकं। स्याच्छब्दलाञ्छितानां नयानामेव प्रमाणव्यपदेशभाक्त्वात्। तथा च श्रीविमलनाथस्तवे[2] श्रीसमन्तभद्रः—

"नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे रसोपविद्धा इव लोहधातवः।
भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः॥" इति

"तच्च द्विविधम् प्रत्यक्षं परोक्षं च। तत्र प्रत्यक्षं द्विधा सांव्यवहारिकं पारमार्थिकं च। सांव्यवहारिकं द्विविधम् इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तभेदात्। तद् द्वितयम् अवग्रहेहावायधारणाभेदाद् एकैकशश्चतुर्विकल्पम्। अवग्रहादीनां स्वरूपं सुप्रतीतत्वाद् न प्रतन्यते। पारमार्थिकं पुनरुत्पत्तौ आत्ममात्रापेक्षम्"।[3] तद्द्विविधम्। क्षायोपशमिकं[4] क्षायिकं च। आद्यम् अवधिमनःपर्यायभेदाद् द्विधा। क्षायिकं तु केवलज्ञानमिति॥

परोक्षं च स्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानागमभेदात् पञ्चप्रकारम्। "तत्र संस्कारप्रबोधसम्भूतमनुभूतार्थविषयं तदित्याकारं वेदनं स्मृतिः। तत् तीर्थकरबिम्बमिति यथा। अनुभवस्मृतिहेतुकं तिर्यगूर्ध्वतासामान्यादिगोचरं संकलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्। यथा तज्जातीय

प्रतिषेधकी अपेक्षा नयके भी सात भंग होते हैं।" नयोंका विशेष लक्षण और नयोंके ऊपर होनेवाले आक्षेपोंके परिहार आदिकी चर्चा तत्त्वार्थाधिगमभाष्यबृहद्वृत्ति गंधहस्तिटीका, न्यायावतार आदि ग्रन्थोंसे जाननी चाहिये।

सम्यक् प्रकारसे अर्थके निर्णय करने को प्रमाण कहते हैं। प्रमाण सर्वनय रूप होता है। नय वाक्योंमें स्यात् शब्द लगाकर बोलनेको प्रमाण कहते हैं। श्री समन्तभद्रने स्वयंभूस्तोत्रमें विमलनाथका स्तवन करते हुए कहा है—

"जिस प्रकार रसोंके संयोग से लोहा अभीष्ट फलका देनेवाला बन जाता है, इसी तरह नयोंमें 'स्यात्' शब्द लगाने से भगवान्के द्वारा प्रतिपादित नय इष्ट फलको देते हैं, इसीलिये अपना हित चाहने वाले लोग भगवान्के समक्ष प्रणत हैं।"

"यह प्रमाण प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे दो प्रकारका है। सांव्यवहारिक और पारमार्थिक—प्रत्यक्षके दो भेद हैं। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मनसे पैदा होता है। इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होनेवाले सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा चार-चार भेद हैं। अवग्रह आदिका स्वरूप सुप्रतीत होनेसे यहाँ नहीं लिखा जाता। पारमार्थिक प्रत्यक्षकी उत्पत्तिमें केवल आत्माकी सहायता रहती है।" यह क्षायोपशमिक और क्षायिकके भेदसे दो प्रकारका है। अवधिज्ञान और मनपर्ययज्ञान क्षायोपशमिकके भेद हैं। केवलज्ञान क्षायिकका भेद है।

स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, ऊहा, अनुमान और आगम—परोक्षके पाँच भेद हैं। "संस्कारसे उत्पन्न अनुभव किये हुए पदार्थमें 'वह है' इस प्रकारके स्मरण होनेको स्मृति कहते हैं; जैसे वह तीर्थंकरका प्रतिबिम्ब है। वर्तमानमें किसी वस्तुके अनुभव करनेपर और भूतकालमें देखे हुए पदार्थका स्मरण होनेपर तिर्यक् सामान्य

---

१. सिद्धसेनगणिविरचिततत्त्वार्थाधिगमभाष्यवृत्तिः। तदेव गन्धहस्तिटीका।

२. बृहत्स्वयंभूस्तोत्रावल्यां विमलनाथस्तवे ६५।

३. प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकारे २–१, ४, ५, ६, १८।

४. क्षयेणोदयप्राप्तकर्मणो विनाशेन सहोपशमे विष्कम्भितोदयत्वं क्षयोपशमः।

एवायं गोपिण्डः गोसदृशो गवयः स एवायं जिनदत्त इत्यादिः। उपलम्भानुपलम्भसम्भवं त्रिकालीकलितसाध्यसाधनसम्बन्धाद्यालम्बनमिदमस्मिन् सत्येव भवतीत्याद्याकारं संवेदनमूहस्तर्कापरपर्यायः। यथा यावान् कश्चिद् धूमः स सर्वो वह्नौ सत्येव भवतीति तस्मिन्नसति असौ न भवत्येवेति वा। अनुमानं द्विधा स्वार्थं परार्थं च। तत्रान्यथानुपपत्त्येकलक्षणहेतुग्रहणसंबन्धस्मरणकारणकं साध्यविज्ञानं स्वार्थम्। पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारात्"[1]। "आप्तवचनाद् आविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः। उपचाराद् आप्तवचनं च[2]" इति। स्मृत्यादीनां च विशेषस्वरूपं स्याद्वादरत्नाकरात् साक्षेपपरिहारं ज्ञेयमिति। प्रमाणान्तराणां पुनरर्थापत्त्युपमानसंभवप्रातिभैतिह्यादीनामत्रैव अन्तर्भावः। संनिकर्षादीनां[3] तु जडत्वाद् एव न प्रामाण्यमिति। तदेवंविधेन नयप्रमाणोपन्यासेन दुर्नयमार्गस्त्वया खिलीकृतः ॥ इति काव्यार्थः ॥ २८ ॥

(वर्तमान कालवर्ती एक जातिके पदार्थोंमें रहनेवाला सामान्य) और ऊर्ध्वता सामान्य (एक ही पदार्थके क्रमवर्ती सम्पूर्ण पर्यायोंमें रहनेवाला सामान्य) आदिको जाननेवाले संकलनात्मक ज्ञानको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं; जैसे यह गोपिंड उसी जातिका है, यह गवय गौके समान है, यह वही जिनदत्त है, आदि। उपलंभ और अनुपलंभसे उत्पन्न, त्रिकालकलित, साध्य-साधनके संबंध आदिसे होनेवाले, 'इसके होनेपर यह होता है,' इस प्रकारके ज्ञानको ऊह अथवा तर्क कहते हैं; जैसे अग्निके होनेपर ही धूम होता है, अग्निके न होनेपर धूम नहीं होता। अनुमानके स्वार्थ और पदार्थ दो भेद हैं। अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु-ग्रहण करनेके संबंधके स्मरणपूर्वक साध्यके ज्ञानको स्वार्थानुमान कहते हैं। पक्ष और हेतु कह कर दूसरेको साध्यके ज्ञान करानेको परार्थानुमान कहते हैं। परार्थानुमानको उपचारसे अनुमान कहा गया है।" "आप्तके वचनसे पदार्थोंके ज्ञान करनेको आगम कहते हैं॥" उपचारसे आप्त वचनको प्रमाण कहा है। स्मृति आदिका विशेष स्वरूप और किये गये आक्षेपोंका परिहार स्याद्वादरत्नाकर आदि ग्रन्थोंसे जानना चाहिये। अर्थापत्ति, उपमान, संभव, प्रातिभ, आदि प्रमाणोंका अन्तर्भाव प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणोंमें हो जाता है। सन्निकर्ष आदिको जड़ होनेके कारण प्रमाण नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार आपने नय और प्रमाणका उपदेश देकर दुर्नयवादके मार्गका निराकरण किया है॥ यह श्लोक का अर्थ है॥ २८॥

भावार्थ—(१) किसी वस्तुके सापेक्ष निरूपण करनेको नय कहते हैं। प्रत्येक वस्तुमें अनन्त धर्म विद्यमान हैं। इन अनन्त धर्मोंमें किसी एक धर्मको अपेक्षासे अन्य धर्मोंका निषेध न करके पदार्थोंका ज्ञान करना नय है। प्रमाणसे जाने हुए पदार्थोंमें ही नयसे वस्तुके एक अंशका ज्ञान होता है। शंका—नयसे पदार्थोंका निश्चय होता है, इसलिये नयको प्रमाण ही कहना चाहिये, नय और प्रमाणको अलग अलग कहनेको आवश्यकता नहीं। समाधान—नयसे सम्पूर्ण वस्तुका नहीं, किन्तु वस्तुके एक देशका ज्ञान होता है। इसलिये जिस प्रकार समुद्रको एक बूँदको सम्पूर्ण समुद्र नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि यदि समुद्रको एक बूँदको समुद्र कहा जाय, तो शेष समुद्रके पानीको असमुद्र कहना चाहिये, अथवा समुद्रके पानीकी अन्य बूँदोंको भी समुद्र कहकर बहुतसे समुद्र मानने चाहिये। तथा, समुद्रकी एक बूँदको असमुद्र भी नहीं कहा जा सकता। यदि समुद्रकी एक बूँदको असमुद्र कहा जाय, तो शेष अंशको भी समुद्र नहीं कहा जा सकता। उसी प्रकार पदार्थोंके एक अंशके ज्ञान करनेको वस्तु नहीं कह सकते, अन्यथा वस्तुके एक अंशके अतिरिक्त वस्तुके अन्य धर्मोंको अवस्तु मानना चाहिये, अथवा वस्तुके प्रत्येक अंशको अवस्तु मानना चाहिये। तथा, पदार्थोंके एक अंशके ज्ञान करनेको अवस्तु भी नहीं कह सकते, अन्यथा वस्तुके शेष अंशोंको भी अवस्तु मानना पड़ेगा। अतएव जिस प्रकार समुद्रकी एक बूँदको समुद्र अथवा असमुद्र नहीं कहा जा सकता, उसी तरह वस्तुके एक

---

१. प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकारे ३—३-२३।

२. प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकारे ४—१, २।

३. प्रत्यक्षजनकः संबंधः। यथा चाक्षुषप्रत्यक्षे चक्षुर्विषययोः संसर्गः।

अंशके जाननेको प्रमाण अथवा अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। इसलिये नयको प्रमाण और अप्रमाण दोनोंसे अलग मानना चाहिए।[१]

(२) जितने तरहके वचन हैं, उतने ही नय हो सकते हैं। इसलिये नयके उत्कृष्ट भेद असंख्यात हो सकते हैं। इसलिये विस्तारसे नयोंका प्ररूपण नहीं किया जा सकता। एकसे लेकर नयोंके असंख्यात भेद किये गये हैं। (क) सामान्यसे शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षा नयका एक भेद[२] है (ख) सामान्य और विशेष-की अपेक्षा द्रव्यार्थिक (द्रव्यास्तिक) और पर्यायार्थिक (पर्यायास्तिक) ये नयके दो भेद हैं। सामान्य और विशेषको छोड़कर नयका कोई दूसरा विषय नहीं होता, अतएव सम्पूर्ण नैगम आदि नयोंका इन्हीं दो नयोंमें अन्तर्भाव हो जाता है।[३] (ग) संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र इन तीन अर्थनयोंमें शब्द नयको मिलाकर नयके चार भेद होते हैं।[४] (घ) नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द नयके भेदसे नय पाँच प्रकारके होते हैं। यहाँ भाष्यकारने सांप्रत, समभिरूढ़ और एवंभूतको शब्द नयके भेद स्वीकार किये हैं।[५] (च) जिस समय नैगम नय सामान्यको विषय करता है, उस समय वह संग्रह नयमें गर्भित होता है, और जिस समय विशेषको विषय करता है, उस समय व्यवहारमें गर्भित होता है। अतएव नैगम नयका संग्रह और व्यवहार नयमें अन्तर्भाव करके सिद्धसेन दिवाकरने छह नयोंको माना है।[६] (छ) नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूतके भेदसे नयके सात भेद होते हैं। यह मान्यता श्वेताम्बर आगम परंपरामें और दिगम्बर ग्रन्थोंमें पायी जाती है।[७] (ज) नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र तथा सांप्रत,

---

१. नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते बुधैः।
नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथैव हि॥
तन्मात्रस्य समुद्रत्वे शेषांशस्यासमुद्रता।
समुद्रबहुता वा स्यात् तत्त्वे क्वास्तु समुद्रवित्॥ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १–६–५, ६।

२. (अ) सामान्यादेशतस्तावदेक एव नयः स्थितः।
स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यंजनात्मकः॥ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १–३३–२।
(आ) यदि वा शुद्धत्वनयान्नाप्युत्पादो व्ययोऽपि न ध्रौव्यम्।
गुणश्च पर्यय इति वा न स्याच्च केवलं सदिति॥ राजमल्ल-पंचाध्यायी १–२१६।

३. (अ) दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पा सिं।
(द्रव्यास्तिकश्च पर्यायनयश्च शेषा विकल्पास्तयोः) सन्मतितर्क १–३।
परस्परविविक्तसामान्यविशेषविषयत्वात् द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकावेव नयौ, न च तृतीयं प्रकारान्तर-मस्ति यद्विषयोऽन्यस्ताभ्यां व्यतिरिक्तो नयः स्यात्। अभयदेव टीका।
(आ) संक्षेपाद् द्वौ विशेषेण द्रव्यपर्यायगोचरौ। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १-३३-३।

४. नैगमनयो द्विविधः सामान्यग्राही विशेषग्राही च। तत्र यः सामान्यग्राही स संग्रहेऽन्तर्भूतः, विशेषग्राही तु व्यवहारे। तदेवं संग्रहव्यवहारऋजुसूत्रशब्दादित्रयं चैक इति चत्वारो नयाः। समवायांग टीका।

५. नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दा नयाः। तत्त्वार्थाधिगम भाष्य १-३४।

६. जो सामन्नगाही स नेगमो संगहं गओ अहवा।
इयरो ववहारमिओ जो तेण समाणनिद्देसो॥ विशेषावश्यक भाष्य ३९।
सिद्धसेनीयाः पुनः षडेव नयानभ्युपगतवन्तः। नैगमस्य संग्रहव्यवहारयोरन्तर्भावविवक्षणात्। विशेषावश्यक भाष्य ४५।

७. से किं तं णए ? सत्तमूलणया पण्णत्ता। तं जहा—णेगमे संगहे ववहारे उज्जुसुए सद्दे समभिरूढे एवंभूए। अनुयोगद्वारसूत्र। तथा स्थानांग सू० ५५२; भगवती सू० ४६९।

समभिरूढ और एवंभूत ये शब्दके तीन विभाग करनेसे नयोंके आठ भेद होते हैं।[१] (झ) नैगम, संग्रह आदि सात प्रसिद्ध नयोंमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय मिला देनेसे नयोंकी संख्या नौ हो जाती है। इन नयोंके माननेवाले आचार्योंका खंडन द्रव्यानुयोगतर्कणामें मिलता है।[२] (ट) नैगमके नौ भेद करके संग्रह आदि छह नयोंको मिलानेसे नयोंके १५ भेद होते हैं।[३] (ठ) निश्चय नयके २८ और व्यवहार नयके ८ भेद मिलाकर नयोंके ३६ भेद होते हैं।[४] (ड) प्रत्येक नयके सौ सौ भेद करनेपर नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द इन पाँच नयोंके माननेसे नयोंके पाँच सौ, और सात नय माननेसे नयोंके सात सौ भेद होते हैं।[५] (ढ) जितने प्रकारके वचन होते हैं, उतने ही नय हो सकते हैं, इसलिये नयके असंख्यात भेद हैं।

(३)—(१) (क) सामान्य और विशेष पदार्थोंको ग्रहण करना नैगम नय है। यह लक्षण मल्लिषेण, सिद्धर्षि, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, अभयदेव आदि श्वेताम्बर आचार्योंके ग्रन्थोंमें मिलता है।[६] (ख) दो धर्म, अथवा दो धर्मी अथवा एक धर्म और एक धर्मीमें प्रधान और गौणताकी विवक्षा करनेको नैगम कहते हैं। नैगम नयका यह लक्षण देवसूरि, विद्यानन्दि, यशोविजय आदिके ग्रन्थोंमें पाया जाता है।[७] (ग) जिसके द्वारा लौकिक अर्थका ज्ञान हो, उसे नैगम कहते हैं। यह लक्षण जिन-भद्रगणि, सिद्धसेनगणि आदि आचार्योंके ग्रन्थोंमें मिलता है।[८] (घ) संकल्प मात्रके ग्रहण करनेको नैगम कहते हैं।[९] जैसे किसी पुरुषको प्रस्थ (पाँच सेरका परिमाण) वनानेके लिये जंगलमें लकड़ी लेने जाते हुए देखकर किसीने पूछा, तुम कहाँ जा रहे हो? उस आदमीने उत्तर दिया कि वह प्रस्थ लेने जा रहा है। पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानंदि आदि दिगम्बर आचार्योंको यही लक्षण मान्य है। (प्रस्थका उदाहरण नैगम नयके वर्णनमें हरिभद्रके आवश्यकटिप्पणमें भी दिया गया है)। नैगमके नौ भेद हैं। आरंभमें पर्याय नैगम, द्रव्य नैगम, द्रव्य-पर्याय नैगम—ये नैगमके तीन भेद हैं। इनमें अर्थ-पर्याय नैगम, व्यंजन-पर्याय नैगम और अर्थ व्यंजन-पर्याय नैगम—ये पर्याय नैगमके तीन भेद हैं। शुद्ध द्रव्य नैगम और अशुद्ध द्रव्य नैगम—ये द्रव्य नैगमके दो भेद हैं। तथा शुद्ध द्रव्यार्थ-पर्याय नैगम, शुद्ध द्रव्य व्यंजन-पर्याय नैगम, अशुद्ध द्रव्यार्थ द्रव्य व्यंजन-पर्याय नैगम—ये चार द्रव्य-पर्याय नैगमके भेद हैं। इन सबको मिलानेसे नैगमके नौ भेद होते हैं। न्याय-वैशेषिकोंका नैगमाभासमें अन्तर्भाव होता है। (२) विशेषोंकी अपेक्षा न करके वस्तुको सामान्य रूपसे जाननेको संग्रह नय कहते हैं; जैसे जीव कहनेसे त्रस, स्थावर आदि सब प्रकारके जीवोंका ज्ञान होता है। संग्रह नय पर संग्रह और अपर संग्रहके भेदसे दो प्रकारका है। सत्ताद्वैतको मानकर सम्पूर्ण

---

१. तत्त्वार्थाधिगम भाष्य १–३४, ३५।

२. यदि पर्यायद्रव्यार्थनयौ भिन्नौ विलोकितौ।
अर्पितानर्पिताभ्यां तु स्युर्नैकादश तत्कथम्॥ द्रव्यानुयोगतर्कणा ८–११।

३. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १-३३-४८।

४. देवसेनसूरि, नयचक्रसंग्रह १८६, १८७, १८८।

५. इक्किक्को य सयविहो सत्तनयसया हवंति एमेव।
अन्नो विय आएसो पंचेव सया नयाणं तु॥ विशेषावश्यक भाष्य २२६४।

६. ये परस्परविशकलितौ सामान्यविशेषाविच्छन्ति तत् समुदायरूपो नैगमः। सिद्धर्षि, न्यायावतार टीका।

७. यद्वा नैकं गमो योऽत्र सततां नैगमो मतः।
धर्मयोर्धर्मिणो वापि विवक्षा धर्मधर्मिणोः॥ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १–३३–२१।

८. निगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते इति लौकिका अर्थाः तेषु निगमेषु भवो योऽध्यवसायः ज्ञानाख्यः स नैगमः। सिद्धसेनगणि, तत्त्वार्थ टीका।

९. अर्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः। पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि पृ० ७८।

विशेषोंके निषेध करनेको संग्रहाभास कहते हैं। अद्वैत वेदान्तियों और सांख्योंका संग्रहाभासमें अन्तर्भाव होता है। (३) संग्रह नयसे जाने हुए पदार्थोंके योग्य रीतिसे विभाग करनेको व्यवहार नय कहते हैं; जैसे जो सत् है वह द्रव्य या पर्याय है। इसके सामान्य भेदक और विशेष भेदकके भेदसे दो भेद हैं। द्रव्य और पर्यायके एकान्तभेदको मानना व्यवहारभास है। इसमें चार्वाक दर्शन गर्भित होता है। (४) वस्तुकी अतीत और अनागत पर्यायको छोड़कर वर्तमान क्षणकी पर्यायको जानना ऋजुसूत्र नय है; जैसे इस समय मैं सुखकी पर्याय भोग रहा हूँ। सूक्ष्म ऋजुसूत्र और स्थूल ऋजुसूत्रके भेदसे ऋजुसूत्रके दो भेद हैं। केवल क्षण-क्षणमें नाश होनेवाली पर्यायोंको मानकर पर्यायके आश्रित द्रव्यका सर्वथा निषेध करना ऋजुसूत्र नयाभास है। बौद्ध दर्शन इसमें गर्भित होता है। (५) पर्यायवाची शब्दोंमें भी काल, कारक, लिंग, संख्या, पुरुष और उपसर्गके भेदसे अर्थभेद मानना शब्द नय हैं; जैसे 'आप्' जलका पर्यायवाची होनेपर भी जलकी एक बूँदके लिये 'आप्' का प्रयोग नहीं करना; 'विरमते' और 'विरमति' पर्यायवाची होनेपर भी दूसरेके लिये 'विरमति' परस्मैपदका प्रयोग, और अपने लिये 'विरमते' आत्मनेपदका प्रयोग करना काल आदिके भेदसे शब्द और अर्थको सर्वथा भिन्न मानना शब्दाभास है (६) पर्यायवाची शब्दोंमें व्युत्पत्तिके भेदसे अर्थभेद मानना समभिरूढ नय है; जैसे इन्द्र, शक्र और पुरन्दर इन शब्दोंके पर्यायवाची होनेपर भी ऐश्वर्यवानको इन्द्र, सामर्थ्यवानको शक्र, और नगरोंके नाश करनेवालेको पुरन्दर कहना। पर्यायवाची शब्दोंको सर्वथा भिन्न मानना समभिरूढ़ाभास है (७) जिस समय पदार्थोंमें जो क्रिया होती हो, उस समय क्रियाके अनुकूल शब्दोंसे अर्थके प्रतिपादन करनेको एवंभूत नय कहते हैं; जैसे पूजा करते समय पुजारी, और पढ़ते समय विद्यार्थी कहना। जिस समय पदार्थमें जो क्रिया होती है, उस समयको छोड़कर दूसरे समय उस पदार्थको उस नामसे नहीं कहना एवंभूत नयाभस है; जैसे जल लानेके समय ही घड़ेको घट कहना, दूसरे समय नहीं।

(४) (क) सात नयोंको द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो विभागोंमें विभक्त किया जा सकता है।[1] नैगम, संग्रह और व्यवहार नय ये तीन नय द्रव्यार्थिक हैं, क्योंकि ये द्रव्यकी अपेक्षा वस्तुका प्रतिपादन करते हैं। तथा ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ये चार नय पर्यायार्थिक हैं, क्योंकि ये वस्तुमें पर्यायकी प्रधानताका ज्ञान करते हैं। (ख) नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र—ये चार अर्थनय हैं। इनमें शब्दके लिंग आदि बदल जानेपर भी अर्थमें अन्तर नहीं पड़ता, इसलिए अर्थकी प्रधानता होनेसे ये अर्थनय कहे जाते हैं। शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत नयोंमें शब्दोंके लिंग आदि बदलनेपर अर्थमें भी परिवर्तन हो जाता है, इसलिये शब्दकी प्रधानतासे ये शब्दनय कहे जाते हैं। (ग) नय व्यवहार और निश्चय नयमें भी विभक्त हो सकते हैं। एवंभूतका विषय सब नयोंकी अपेक्षा सूक्ष्म है, इसलिये एवंभूतको निश्चय, और बाकीके छह नयोंको व्यवहार नय कहते हैं। (घ) सात नयोंके ज्ञाननय और क्रियानय विभाग भी हो सकते हैं। ये नय सत्यका विचार करते हैं, इसलिये ज्ञानदृष्टिकी प्रधानता होनेके कारण ज्ञाननय, और क्रियादृष्टिकी प्रधानता होनेसे क्रियानय कहे जाते हैं। नैगम आदि नय उत्तरोत्तर सूक्ष्म-सूक्ष्म विषयको जानते हैं।

---

१. तार्किकाणां त्रयो भेदा आद्या द्रव्यार्थिनो मताः।
सैद्धान्तिकानां चत्वारः पर्यायार्थगताः परे॥ यशोविजय, नयोपदेश १८।

यहाँ जैन शास्त्रोंमें दो परम्परायें दृष्टिगोचर होती हैं। पहली परम्पराके अनुसार द्रव्यास्तिकके नैगम आदि चार और पर्यायास्तिकके शब्द आदि तीन भेद हैं। इस सैद्धांतिक परम्पराके अनुयायी **जिनभद्रगणि, विनयविजय, देवसेन** आदि आचार्य हैं। दूसरी परम्परा तार्किक विद्वानोंकी है। इसके अनुसार द्रव्यास्तिकके नैगम आदि तीन, और पर्यायास्तिकके ऋजुसूत्र आदि चार भेद हैं। इसके अनुयायी **सिद्धसेन दिवाकर, माणिक्यनन्दि, वादिदेवसूरि, विद्यानन्दि, प्रभाचन्द्र, यशोविजय** आदि विद्वान् हैं।

इदानीं सप्तद्वीपसमुद्रमात्रो[1] लोक इति वावदूकानां तन्मात्रलोके परिमितानामेव सत्त्वानां सम्भवात् परिमितात्मवादिनां दोषदर्शनमुखेन भगवत्प्रणीतं जीवानन्त्यवादं निर्दोषतयाभिष्टुवन्नाह—

मुक्तोऽपि वाभ्येतु भवम् भवो वा भवस्थशून्योऽस्तु मितात्मवादे ।
षड्जीवकायं त्वमनन्तसंख्यमाख्यस्तथा नाथ यथा न दोषः ॥ २९ ॥

मितात्मवादे संख्यातानामात्मनामभ्युपगमे दूषणद्वयमुपतिष्ठते । तत्क्रमेण दर्शयति । मुक्तोऽपि वाभ्येतु भवमिति । मुक्तो निर्वृतिमाप्तः । सोऽपि वा । अपिर्विस्मये । वाशब्द उत्तरदोषापेक्षया समुच्चयार्थः यथा देवो वा दानवो वेति । भवमभ्येतु संसारमभ्यागच्छतु । इत्येको दोषप्रसङ्गः । भवो वा भवस्थशून्योऽस्तु । भवः संसारः स वा भवस्थशून्यः संसारिजीवैर्विरहितोऽस्तु भवतु । इति द्वितीयो दोषप्रसङ्गः ॥

इदमत्र आकूतम् । यदि परिमिता एव आत्मानो मन्यन्ते तदा तत्त्वज्ञानाभ्यासप्रकर्षादिक्रमेणापवर्गं गच्छत्सु तेषु संभाव्यते खलु स कश्चित्कालो यत्र तेषां सर्वेषां निर्वृतिः । कालस्यानादिनिधनत्वाद् आत्मनां च परिमितत्वात् संसारस्य रिक्तता भवन्ती केन वार्यताम् । समुन्नीयते हि प्रतिनियतसलिलपटलपरिपूरिते सरसि पवनतपनातपजनोदञ्चनादिना कालान्तरे रिक्तता । न चायमर्थः प्रामाणिकस्य कस्यचिद् प्रसिद्धः । संसारस्य स्वरूपहानिप्रसङ्गात् । तत्स्वरूपं हि एतद् यत्र कर्मवशवर्तिनः प्राणिनः संसरन्ति संसासार्षुः संसरिष्यन्ति चेति । सर्वेषां च निर्वृतत्वे संसारस्य वा रिक्तत्वं हठादभ्युपगन्तव्यम् । मुक्तैर्वा पुनर्भवे आगन्तव्यम् ॥

सात द्वीप और सात समुद्र मात्रको लोक माननेवाले वादियोंके मतमें जीवोंकी संख्या भी परिमित ही हो सकती है । अतएव जीवों की परिमित संख्या माननेवाले वादियोंके मतको सदोष सिद्ध करके जिन भगवान् द्वारा प्रतिपादित जीवोंकी अनन्ताको निर्दोष सिद्ध करते हैं—

श्लोकार्थ—जो लोग जीवोंको अनन्त नहीं मान कर जीवोंकी संख्या परिमित मानते हैं, उनके मतमें मुक्त जीवोंको फिरसे संसारमें जन्म लेना चाहिये, अथवा यह संसार किसी दिन जीवोंसे खाली हो जाना चाहिये । हे भगवन्, आपने छहकायके जीवोंको अनन्त माना है, इसलिए आपके मतमें उक्त दोष नहीं आते ।

व्याख्यार्थ—जीवोंको संख्यात माननेमें दूषण द्वयका प्रसंग उपस्थित होता है—मुक्त जीवोंको संसारमें फिरसे लौट कर आना चाहिये, अथवा यह संसार किसी दिन संसारी जीवोंसे शून्य हो जाना चाहिये । श्लोकमें 'अपि' शब्द विस्मय अर्थमें है, और 'वा' शब्द उत्तर दोषोंका समुच्चय करता है ।

यदि जीवोंको परिमित माना जाय, तो तत्त्वज्ञानके अभ्यासकी प्रकृष्टता होनेपर किसी समय सम्पूर्ण जीवोंको मोक्ष मिल जाना चाहिये; क्योंकि काल अनादिनिधन है और जीवोंकी संख्या परिमित है । अतएव जिस प्रकार जलसे परिपूर्ण तालाव वायु और सूर्यकी गरमीसे जलसे शुष्क हो जाता है, उसी तरह कालके अनादिनिधन होनेसे और जीवोंके संख्यात होनेसे किसी समय यह संसार जीवोंसे शून्य हो जाना चाहिये । संसारका जीवोंसे शून्य होना किसी भी प्रामाणिक पुरुषने नहीं माना है, क्योंकि इससे संसार नष्ट हो जाता है । जहाँ जीव कर्मोंके वश होकर परिभ्रमण करते हैं, अथवा परिभ्रमण करेंगे, उसे संसार कहते हैं । अतएव सम्पूर्ण संसारी जीवोंका मोक्ष माननेसे संसारको प्राणियोंसे शून्य मानना ही चाहिये; अथवा मुक्त जीवोंको फिरसे संसारमें जन्म लेना चाहिये ।

---

१. वैदिकमते जम्बुप्लक्षशाल्मलिकुशक्रौञ्चशाकपुष्करा इति सप्तद्वीपाः, लवणेक्षुसुरासर्पिदधिदुग्धजलार्णवाः इति सप्तसमुद्राश्च; बौद्धमते जम्बुपूर्वविदेहावरगोदानीयोत्तरकुरव इति चतुर्द्वीपाः सप्त सीताश्च; जैनमते असंख्याताः द्वीपसमुद्राः इति ।

न च क्षीणकर्मणां भवाधिकारः ।

"दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः ।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः ॥"[1]

इति वचनात् । आह च पतञ्जलिः—"सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः"[2] इति । तट्टीका[3] च—"सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकारम्भी भवति नोच्छिन्नक्लेशमूलः । यथा तुषावनद्धा शालितण्डुला अदग्धबीजभावाः प्ररोहसमर्था भवन्ति नापनीततुषा दग्धबीजभावा । तथा क्लेशावनद्धः कर्माशयो विपाकप्ररोही भवति । नापनीतक्लेशो न प्रसंख्यानदग्धक्लेशबीजभावो वेति । स च विपाकस्त्रिविधो जातिरायुर्भोगः" इति । अक्षपादोऽप्याह—"न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य"[4] इति ॥

एवं विभङ्गज्ञानिशिवराजर्षिमतानुसारिणो दूषयित्वा उत्तरार्द्धेन भगवदुपज्ञमपरिमितात्मवादं निर्दोषतया स्तौति । षड्जीवेत्यादि । त्वं तु हे नाथ तथा तेन प्रकारेण अनन्तसंख्यमनन्ताख्यसंख्याविशेषयुक्तं षड्जीवकायम् । अजीवन् जीवन्ति जीविष्यन्ति चेति जीवा इन्द्रियादिज्ञानादिद्रव्यभावप्राणधारणयुक्ताः तेषां "सङ्घे वानूर्ध्वे ।"[5] इति चिनोतेर्घञि आदेश्च कत्वे कायः समूहः जीवकायः पृथिव्यादिः षण्णां जीवकायानां समाहारः षड्जीवकायम् । पात्रादिदर्शनाद् नपुंसकत्वम् । अथवा षण्णां जीवानां कायः प्रत्येकं सङ्घातः षड्जीवकायस्तं षड्जीवकायम् । पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसलक्षणषड्जीवनिकायम् । तथा तेन प्रकारेण ।

जिन जीवोंके कर्म नष्ट हो गये हैं, वे फिरसे संसारमें नहीं आते । कहा भी है—

"जिस प्रकार बीजके जल जानेपर बीजसे अंकुर नहीं पैदा हो सकता, उसी तरह कर्मबीजके जल जानेपर संसार रूपी अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता ।"

पतंजलिने कहा है—"मूलके रहनेपर ही जाति, आयु और भोग होते हैं ।" टीकाकार व्यासने कहा है—"क्लेशोंके होनेपर ही कर्मोंकी शक्ति फल दे सकती है, क्लेशके उच्छेद होनेपर कर्म फल नहीं देते । जिस प्रकार छिलकेसे युक्त चावलोंसे अंकुर पैदा हो सकते हैं, छिलका उतार देनेसे चावलोंमें पैदा होनेकी शक्ति नहीं रहती, उसी प्रकार क्लेशोंसे युक्त कर्मशक्ति फल देती है, क्लेशोंमें नष्ट हो जानेपर कर्मशक्तिमें विपाक नहीं होता । यह विपाक जाति, आयु और भोगके भेदसे तीन प्रकारका है ।" अक्षपाद ऋषिने भी कहा है—"जिसके क्लेशोंका क्षय हो गया है, उसको प्रवृत्ति बन्धका कारण नहीं होती ।"

इस प्रकार विभंगज्ञानी शिवराज महर्षिके अनुयायियोंकी मान्यता सदोष सिद्ध करके जिन भगवान्के कहे हुए अनन्त जीववादको निर्दोष सिद्ध करते हैं । जो भूतकालमें जीते थे, वर्तमानमें जीते हैं, और भविष्यमें जीयेंगे, उन्हे जीव कहते हैं । ये जीव इन्द्रिय आदि दस द्रव्य प्राणोंको और ज्ञान आदि भाव प्राणोंको धारण करते हैं । जीवोंके समूहको जीवकाय कहते हैं । यहाँ "संघे वानूर्ध्वे" सूत्रसे 'चि' धातुसे 'घञ्' प्रत्यय होनेपर 'च' के स्थानमें 'क' हो जानेसे 'काय' शब्द बनता है । पृथिवी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस इन छह प्रकारके जीवोंको 'षट्काय जीव' कहा है । यहाँ 'पात्र' आदि शब्दोंमें षड्-

---

१. तत्त्वार्थाधिगमभाष्ये १०-७ ।
२. पातञ्जलसूत्रे २-१३ ।
३. व्यासभाष्ये । २-१३ ।
४. गौतमसूत्रे ४-१-६४ ।
५. हैमसूत्रे ५-३-८० ।

आख्यः मर्यादा प्ररूपितवान्। यथा येन प्रकारेण न दोषो दूषणमिति। जात्यपेक्षमेकवचनम्। प्रागुक्तदोषद्वयजातीया अन्येऽपि दोषा यथा न प्रादुःष्यन्ति तथा त्वं जीवानन्त्यमुपदिष्टवानित्यर्थः। आख्यः इति आङ्पूर्वस्य ख्यातेरङि सिद्धिः। त्वमित्येकवचनं चेदं ज्ञापयति यद् जगद्गुरोरेव एकस्येदृक्प्ररूपणसामर्थ्यं, न तीर्थान्तरशास्तृणामिति॥

पृथिव्यादीनां पुनर्जीवत्वमित्थं साधनीयम्[1]। यथा सात्मिका विद्रुमशिलादिरूपा पृथिवी, छेदे समानधातूत्थानाद्, अर्शोऽङ्कुरवत्। भौममम्भोऽपि सात्मकम्, क्षतभूसजातीयस्य स्वभावस्य सम्भवात्, शालूरवत्। आन्तरिक्षमपि सात्मकम्, अभ्रादिविकारे स्वतः सम्भूय पातात्, मत्स्यादिवत्। तेजोऽपि सात्मकम्, आहारोपादानेन वृद्ध्यादिविकारोपलम्भात्, पुरुषाङ्गवत्। वायुरपि सात्मकः, अपरप्रेरितत्वे तिर्यग्गतिमत्वाद् गोवत्। वनस्पतिरपि सात्मकः, अपरप्रेरितत्वे तिर्यग्गतिमत्वाद् गोवत्। वनस्पतिरपि सात्मकः, छेदादिभिर्म्लान्यादिदर्शनात्, पुरुषाङ्गवत्। केषाञ्चित् स्वापाङ्गनोपश्लेषादिविकाराच्च[2]। अपकर्षतश्चैतन्याद् वा सर्वेषां सात्मकत्वसिद्धिः। आप्तवचनाच्च। त्रसेषु च कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादिषु न केषाञ्चित् सात्मकत्वे विगानमिति।

यथा च भगवदुपक्रमे जीवानन्त्ये न दोषस्तथा दिङ्मात्रं भाव्यते। भगवन्मते हि

जीवकाय शब्दको मान कर समासमें 'षड्जीवकायं' नपुंसक लिंग बनाया है। अथवा समूह अर्थमें समास न करके 'छह प्रकारके जीवोंका संघात' अर्थ करके 'षड्कायजीवः' पुल्लिगान्त समास बनाना चाहिये। अतएव जिन भगवान्ने ही निर्दोष रीतिसे जीवोंको अनन्त स्वीकार किया है, दूसरे वादियोंने नहीं। आङ् पूर्वक 'ख्या' धातुसे अङ् प्रत्यय लगानेपर 'आख्यः' क्रियापद बनता है।

(१) मूंगा पाषाण आदिरूप पृथिवी सजीव है, क्योंकि अर्शके अंकुरकी तरह पृथिवीके काटनेपर वह फिरसे उग आती है। (२) पृथिवीका जल सजीव है, क्योंकि मेंढककी तरह जलका स्वभाव खोदी हुई पृथिवीके समान है। आकाशका जल भी सजीव है, क्योंकि मछलीकी तरह बादलके विकार होनेपर वह स्वतः ही उत्पन्न होता है। (३) अग्नि भी सजीव है, क्योंकि पुरुष के अंगोंकी तरह आहार आदिके ग्रहण करनेसे उसमें वृद्धि होती है। (४) वायुमें भी जीव है, क्योंकि गौकी तरह वह दूसरेसे प्रेरित होकर गमन करती है। (५) वनस्पतिमें भी जीव है, क्योंकि पुरुषके अंगोंकी तरह छेदनेसे उसमें मलिनता देखी जाती है। कुछ वनस्पतियोंमें स्त्रियों के पादाघात आदिसे विकार होता है, इसलिये भी वनस्पतिमें जीव है। अथवा जिन जीवोंमें चेतना घटती हुई देखी जाती है, वे सब सजीव हैं। सर्वज्ञ भगवान्ने पृथिवी आदिको जीव कहा है। (६) कृमि, पिपीलिका, भ्रमर, मनुष्य आदि त्रस जीवोंमें सभी लोगोंने जीव माना है।

जिनमतमें छहनिकायके जीवोंमें सबसे कम त्रस जीव हैं। त्रस जीवों में संख्यात गुणे अग्निकायिक,

---

१. ननु चेतनत्वमपि क्वचिदचेतनत्वाभिमतानां भूतेन्द्रियाणां श्रूयते। यथा 'मृदब्रवीत्' 'आपोऽब्रुवन्' (श० प० ब्रा० ६-१-३-२-४) इति, 'तत्तेज ऐक्षत' 'ता आप ऐक्षन्त' (छा० ६-२-३, ४) इति चैवमाद्या भूतविषया चेतनत्वश्रुतिः। ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्ये २-१-४। वनस्पत्यादीनां चेतनत्वं महाभारते (शांति० मो० अ० १८२ श्लोक ६-१८) मनुस्मृतौ (अ० १ श्लो० ४६-४९) च समर्थितम्।

२. तथा मत्तकामिनीसनूपुरसुकुमारचरणताडनादशोकतरोः पल्लवकुसुमोद्भवः। तथा युवत्यलिंगनात् पनसस्य। तथा सुरभिसुरागण्डूषसेकाद्बकुलस्य। तथा सुरभिनिर्मलजलसेकाच्चम्पकस्य। तथा कटाक्षवीक्षणात्तिलकस्य। तथा पंचमस्वरोद्गाराच्छिरीषस्य विरहकस्य पुष्पविकिरणम्।

षड्दर्शनसमुच्चय गुणरत्न टीका पृ० ६३।

षण्णां जीवनिकायानामेतद् अल्पबहुत्वम्। सर्वस्तोकास्त्रसकायिकाः। तेभ्यः संख्यातगुणाः तेजस्कायिकाः। तेभ्यो विशेषाधिकाः पृथिवीकायिकाः। तेभ्यो विशेषाधिका अप्कायिकाः। तेभ्योऽपि विशेषाधिका वायुकायिकाः। तेभ्योऽनन्तगुणा वनस्पतिकायिकाः। ते च व्यवहारिका अव्यवहारिकाश्च।'[1]

"गोला य असंखिज्जा असंखणिग्गोअ गोलओ भणिओ।
इक्किक्म्मि णिगोए अणन्तजीवा मुणेअव्वा ॥ १ ॥
सिज्झन्ति जत्तिया खलु इह संववहारजीवरासीओ।
एंति अणाइवणस्सइ रासीओ तत्तिआ तम्मि ॥ २ ॥"[2]

इति वचनाद् यावन्तश्च यतो मुक्तिं गच्छन्ति जीवास्तावन्तोऽनादिनिगोदवनस्पतिराशेस्तत्रागच्छन्ति। न च तावता तस्य काचित् परिहाणिर्निगोदजीवानन्त्यस्याक्षयत्वात्। निगोदस्वरूपं च समयसागराद् अवगन्तव्यम्। अनाद्यनन्तेऽपि काले ये केचिन्निर्वृताः निर्वान्ति निर्वा-

---

अग्निकायसे विशेष अधिक पृथिवीकायिक, पृथिवीकायसे जलकायिक जलकायसे वायुकायिक और वायुकायसे अनंतगुणे वनस्पतिकायिक जीव हैं। व्यवहारिक और अव्यवहारिकके भेदसे वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकारके होते हैं—

"गोल असंख्यात होते हैं, एक गोलमें असंख्यात निगोद रहते हैं और एक निगोदमें अनन्त जीव रहते हैं। जितने जीव व्यवहारराशिसे निकल कर मोक्ष जाते हैं, उतने ही जीव अनादि वनस्पति राशिसे निकल कर व्यवहारराशि में आ जाते हैं।"

इसलिये जितने जीव मोक्ष जाते हैं, उतने प्राणी अनादि निगोद [देखिये परिशिष्ट (क)] वनस्पति राशिमेंसे आ जाते हैं। अतएव निगोद राशिमेंसे जीवोंके निकलते रहनेके कारण संसारी जीवोंका कभी सर्वथा क्षय नहीं हो सकता। निगोदका स्वरूप समयसागर से जानना चाहिये। जितने जीव अब तक मोक्ष गये हैं, और आगे जानेवाले हैं, वे निगोद जीवोंके अनन्तवें भाग भी न हैं, न हुए हैं और न होंगे। अतएव हमारे मतमें न तो मुक्त जीव संसारमें लौटकर आते हैं, और न यह संसार जीवोंसे शून्य होता है। इसे दूसरे वादियोंने भी माना है। वार्तिककारने भी कहा है—

"इस ब्रह्माण्डमें अनन्त जीव हैं, इसलिये संसारसे ज्ञानी जीवोंकी मुक्ति होते हुए यह संसार जीवोंसे खाली नहीं होता। जिस वस्तुका परिमाण होता है, उसीका अंत होता है, वही घटती और समाप्त होती

---

१. द्विविधा जीवा सांव्यवहारिका असांव्यवहारिकाश्चेति। तत्र ये निगोदावस्थात उद्वृत्य पृथिवीकायिकादिभेदेषु वर्तन्ते ते लोकेषु दृष्टिपथमागताः सन्तः पृथिवीकायिकादिव्यवहारमनुपतन्तीति व्यवहारिका उच्यन्ते। ते च यद्यपि भूयोऽपि निगोदावस्थामुपयान्ति तथापि ते सांव्यवहारिका एव, संव्यवहारे पतितत्वात्। ये पुनरनादिकालादारभ्य निगोदावस्थामुपगता एवावतिष्ठन्ते ते व्यवहारपथातीतत्वादसांव्यवहारिकाः। प्रज्ञापनाटीकायां सू० २३४।

२. छाया—गोलाश्च असंख्येयाः असंख्यनिगोदो गोलको भणितः।
एकैकस्मिन् निगोदे अनन्तजीवा ज्ञातव्याः ॥ १ ॥
सिध्यन्ति यावन्तः खलु इह संव्यवहारजीवराशितः।
आयान्ति अनादिवनस्पतिराशितस्तावन्तस्तस्मिन् ॥ २ ॥

स्यन्ति च ते निगोदानामनन्तभागेऽपि[1] न वर्तन्ते नावर्तिषत न वर्त्स्यन्ति । ततश्च कथं मुक्तानां भवागमनप्रसङ्गः, कथं च संसारस्य रिक्तताप्रसक्तिरिति । अभिप्रेतं चैतद् अन्ययूथ्यानामपि । यथा चोक्तं वार्तिककारेण—

"अत एव च विद्वत्सु मुच्यमानेषु सन्ततम् ।
ब्रह्माण्डलोकजीवानामनन्तत्वाद् अशून्यता ॥ १ ॥
अत्यन्यूनातिरिक्तत्वैर्युज्यते परिमाणवत् ।
वस्तुन्यपरिमेये तु नूनं तेषामसम्भवः ॥ २ ॥"

इति काव्यार्थः ॥ २९ ॥

है । अपरिमित वस्तुका न कभी अंत होता है, न वह घटती और न समाप्त होती है ।"

यह श्लोकका अर्थ है ॥२९॥

भावार्थ—(१) यदि संसारी जीवोंको बराबर मोक्ष मिलता रहे (जैन शास्त्रोंके अनुसार छह महीने और आठ समयमें ६०८ जीव मोक्ष जाते हैं) तो कभी यह संसार जीवों से खाली हो जाना चाहिये ! आजीविक मतानुयायी मस्करी[2] (गोशाल) आदिका मत था कि मुक्त जीव फिरसे संसारमें जन्म लेते हैं । अश्वमित्रनेभी इस प्रश्नको लेकर जैन संघमें वाद खड़ा किया था । स्वामी दयानन्दके अनुसार जीव महाकल्प कालपर्यंत मुक्तिके सुखको भोग कर फिरसे संसारमें उत्पन्न होते हैं । इस कथनकी पुष्टिके लिये दयानन्द स्वामीने ऋग्वेद[3] तथा मुण्डक उपनिषद्के[4] प्रमाण उद्धृत किये हैं ।[5]

जैन विद्वानोंकी मान्यता है कि जिस प्रकार बीजके जल जानेपर अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता, उसी प्रकार कर्मोंका सर्वथा क्षय होनेपर जीव फिरसे संसारमें जन्म नहीं लेते । पतंजलि, व्यास, अक्षपाद आदि ऋषियोंकी भी यही मान्यता है । जैन सिद्धांतमें द्वीप और समुद्रोंका असंख्यात परिमाण स्वीकार किया गया है । इन द्वीप-समुद्रोंमें अनन्तानन्त जीव रहते हैं । सबसे कम त्रस जीव हैं, त्रस जीवोंसे संख्यात गुणे अग्निकायिक, अग्निकायिक जीवोंसे अधिक पृथिवीकायिक, पृथ्वीसे जलकायिक, जलसे वायुकायिक और वायुकायिकसे अनन्तगुणे वनस्पतिकायिक जीव हैं । वनस्पतिकायिक जीव व्यावहारिक और अव्यावहारिकके भेदसे दो प्रकारके होते हैं । जो जीव निगोदसे निकल कर पृथिवीकाय आदि अवस्थाको प्राप्त करके फिरसे निगोद अवस्थाको प्राप्त करते हैं, वे जीव व्यवहारिक कहे जाते हैं । तथा जो जीव अनादि कालसे निगोद अवस्थामें ही पड़े हुए हैं, उन्हें अव्यवहारिक कहते हैं । जैन सिद्धांतके अनुसार असंख्यात

---

१. एकणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा ।
सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ॥
छाया—एकनिगोदशरीरे जीवा द्रव्यप्रमाणतो दृष्टा ।
सिद्धैरनन्तगुणाः सर्वेण व्यतीतकालेन ॥
गोम्मटासारे जीव० १९५ ।

२. कर्मांजनसंश्लेषात् संसारसमागमोऽस्तीति मस्करिदर्शनं । गोम्मटसार जीवकांड ६९ टीका । तथा, 'ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य' आदि, देखिये पीछे, स्याद्वादमंजरी पृ० ४ ।

३. १-२४-१-२ ।

४. ते ब्रह्मलोके ह परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे । मुण्डक उ० ३-२-६ ।

५. देखिये सत्यार्थप्रकाश सं० १९८३ पृ० १५५ ।

अधुना परदर्शनानां परस्परविरुद्धार्थसमर्थकतया मत्सरित्वं प्रकाशयन् सर्वज्ञोपज्ञ-सिद्धान्तस्यान्योन्यानुगतसर्वनयमयतया मात्सर्याभावमाविर्भावयति—

गोल होते हैं; प्रत्येक गोलमें असंख्यात निगोद रहते हैं, और एक निगोदमें अनन्त जीव रहते हैं। जितने जीव व्यवहारराशिसे निकल कर मोक्ष जाते हैं, उतने ही वनस्पतिराशिसे व्यवहारराशिमें आ जाते हैं, अतएव यह संसार जीवोंसे कभी खाली नहीं हो सकता। मोक्ष जाते रहते हुए भी संसार खाली नहीं होगा, इसका दूसरी प्रकारसे समर्थन करते हुए जैन विद्वानोंने जीवोंको भव्य और अभव्य[1] दो विभागोंमें विभक्त किया है। जो मोक्षगामी जीव हैं, वे भव्य हैं, तथा जो अनंत काल बीतनेपर भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते, वे अभव्य[2] हैं। अतएव भव्य जीवोंके मोक्ष जाते रहते हुए भी यह संसार जीवोंसे शून्य नहीं हो सकता। सिद्धसेन दिवाकरने आगमके हेतुवाद और अहेतुवाद दो विभाग करते हुए भव्य-अभव्यके विभागको अहेतुवादमें गर्भित किया है।[3]

(२) पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रसके भेदसे जीव छह प्रकारके होते हैं। महीदास[4] आदि वैदिक ऋषियोंने, महाभारत और मनुस्मृतिकार तथा गोशाल[5] प्रभृतिने भी पृथिवी, जल आदिमें जीव स्वीकार किया है। आधुनिक साइंसके अनुसार वनस्पतिके सचेतन होनेमें कोई विवाद नहीं है। भारतीय वैज्ञानिक सर जे० सी० बोसने टिन, शीशा[6], प्लैटिनम आदि धातुओंमें भी प्रतिक्रिया (Response) सिद्ध की है।[7]

परस्पर विरुद्ध अर्थको प्रतिपादन करनेवाले अन्य दर्शन एक दूसरेसे ईर्ष्या करते हैं, अतएव सम्पूर्ण नय स्वरूप होनेसे भगवानका सिद्धान्त ही मात्सर्य रहित हो सकता है—

---

१. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामेन भविष्यतीति भव्यः। तद्विपरीतोऽभव्यः। तत्त्वार्थराजवार्तिक २-७, ७, ८; देखिये भव्याभव्यविभाग०—याख्याप्रज्ञप्ति। बौद्धोंके महायान सम्प्रदायमें भव्याभव्यका विभाग नहीं माना गया है।

२. योऽनंतेनापि कालेन न सेत्स्यति असौ अभव्यः। त० राजवार्तिक २-७-९।

३. सन्मतितर्क ३-४३।

४. देखिये ऐतरेय ब्राह्मण और ऐतरेय आरण्यक।

५. महीदास, गोशाल और महावीरकी प्राणिशास्त्र संबंधी मिलती जुलती मान्यताओं के लिये देखिये प्रो० बरुआकी Pre-Buddhist Indian Philosophy, नामक पुस्तकका २१ वां अध्याय।

६. मिलाइये—तत्र पृथिवीकायिकजातिनामानेकविधम्। तद्यथा। शुद्धपृथिवीशर्करावालुकोपलशिलाल-वणायस्त्रपुताम्रसीसकरूप्यसुवर्णवज्रहरतालहिङ्गुलकमनःशिलासस्यकांचनप्रवालकाभ्रपटलाभ्रवालिकाजा-तिनामादि।

तत्त्वार्थाधिगम भाष्य पृ० १५८।

७. It Will thus be seen that as in the case of animal tissues and of plants, so also in metals, the electrical responses are exalted by the action of stimulants, lowered by depressants, and completely abolished by certain other reagents. देखिये जे० सी० बोसकी 'Response in the Living and Non-living' पृ० १४१ तथा पृ० ८०-१९१।

अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद् यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः ।
नयानशेषानविशेषमिच्छन् न पक्षपाती समयस्तथा ते ॥३०॥

प्रकर्षेण उद्यते प्रतिपाद्यते स्वाभ्युपगतोऽर्थो यैरिति प्रवादाः। यथा येन प्रकारेण। परे भवच्छासनाद् अन्ये। प्रवादा दर्शनानि। मत्सरिणः अतिशायने मत्वर्थीयविधानात्[1] सातिशयासहनताशालिनः क्रोधकषायकलुषितान्तःकरणाः सन्तः पक्षपातिनः, इतरपक्षतिरस्कारेण स्वकक्षीकृतपक्षव्यवस्थापनप्रवणा वर्तन्ते। कस्माद् हेतोर्मत्सरिणः इत्याह। अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावात्। पच्यते व्यक्तीक्रियते साध्यधर्मवैशिष्ट्येन हेत्वादिभिरिति पक्षः। कक्षीकृतधर्मप्रतिष्ठापनाय साधनोपन्यासः। तस्य प्रतिकूलः प्रतिपक्षः। पक्षस्य प्रतिपक्षो विरोधी पक्षः प्रतिपक्षः। तस्य भावः पक्षप्रतिपक्षभावः। अन्योऽन्यं परस्परं यः पक्षप्रतिपक्षभावः पक्षप्रतिपक्षत्वमन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावस्तस्मात् ॥

तथाहि। य एव मीमांसकानां नित्यः शब्द इति पक्षः स एव सौगातानां प्रतिपक्षः। तन्मते शब्दस्यानित्यत्वात्। य एव सौगतानामनित्यः शब्द इति पक्षः स एव मीमांसकानां प्रतिपक्षः। एवं सर्वप्रयोगेषु योज्यम्। तथा तेन प्रकारेण ते तव। सम्यक् एति गच्छति शब्दोऽर्थमनेन इति "पुन्नाम्नि घः।[2]" समयः संकेतः। यद्वा सम्यग् अवैपरीत्येन ईयन्ते ज्ञायन्ते जीवाजीवादयोऽर्था अनेन इति समयः सिद्धान्तः। अथवा सम्यग् अयन्ते गच्छन्ति जीवादयः पदार्थाः स्वस्मिन् स्वरूपे प्रतिष्ठां प्राप्नुवन्ति अस्मिन् इति समय आगमः। न पक्षपाती नैकपक्षानुरागी। पक्षपातित्वस्य हि कारणं मत्सरित्वं परप्रवादेषु उक्तम्। त्वत्समयस्य च मत्सरित्वाभावाद् न पक्षपातित्वम्। पक्षपातित्वं हि मत्सरित्वेन व्याप्तम्, व्यापकं च निवर्तमानं

श्लोकार्थ—अन्यवादी लोग परस्पर पक्ष और प्रतिपक्ष भाव रखनेके कारण एक दूसरेसे ईर्ष्या करते हैं, परन्तु सम्पूर्ण नयोंको एक समान देखनेवाले आपके शास्त्रोंमें पक्षपात नहीं है।

व्याख्यार्थ—जिसके द्वारा इष्ट अर्थको उत्तमतासे प्रतिपादन किया जाय, उसे प्रवाद कहते हैं। आपके शासनके अतिरिक्त अन्य दर्शन परस्पर पक्ष और प्रतिपक्षका दुराग्रह रखनेके कारण एक दूसरेके पक्षका तिरस्कार करके अपने सिद्धान्तको स्थापित करते हैं, अतएव वे लोग अत्यन्त असहनशील होनेके कारण क्रोध कषायसे युक्त होकर अपने दर्शनोंमें पक्षपात करते हैं। 'मत्सरी' शब्दमें मत्वर्थमें इन् प्रत्यय सातिशय अर्थको द्योतन करनेके लिए किया गया है। जो साध्यसे युक्त होकर हेतु आदिके द्वारा व्यक्त किया जाय, उसे पक्ष कहते हैं। जो पक्षके विरुद्ध हो, उसे प्रतिपक्ष कहते हैं।

तथाहि—जैसे मीमांसकोंके मतमें 'शब्द नित्य है,' यह पक्ष बौद्धोंकाप्रतिपक्ष है, क्योंकि बौद्धोंके मतमें शब्द अनित्य है, इसी तरह 'शब्द अनित्य है' यह बौद्धोंका पक्ष मीमांसकोंका प्रतिपक्ष है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये। परन्तु आपके समयमें किसी एक पक्षके प्रति अनुराग नहीं देखा जाता। अन्य वादोंमें ईर्ष्या करना ही पक्षपातका कारण है। आपके समयमें ईर्ष्याका अभाव होनेसे पक्षपात नहीं है। व्यापकके न होनेपर व्याप्य भी नहीं होता, अतएव आपके समयमें ईर्ष्या न होनेसे पक्षपातका भी अभाव है। यहाँ समय शब्दका चार प्रकारसे अर्थ किया गया है। (१) जिससे शब्दका अर्थ ठीक-ठीक मालूम हो—संकेत। यहाँ सम्-इ धातुसे "पुंन्नाम्नि घः" सूत्रसे समय शब्द बनता है; (२) जिससे जीव, अजीव आदि पदार्थोंका भले प्रकारसे ज्ञान हो—सिद्धान्त; (३) जिसमें जीव आदि पदार्थोंका ठीक प्रकारसे वर्णन हो—आगम;

---

१. भूमिनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने। संबन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः।

२. हैमसूत्रे ५–३–१३०।

व्याप्यमपि निवर्तयति इति मत्सरित्वे निवर्तमाने पक्षपातित्वमपि निवर्तत इति भावः। तव समय इति वाच्यवाचकभावलक्षणे सम्बन्धे षष्ठी। सूत्रापेक्षया गणधरकर्तृकत्वेऽपि समयस्य अर्थापेक्षया भगवत्कर्तृकत्वाद् वाच्यवाचकभावो न विरुध्यते। "अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा णिउणं"[1] इति वचनात्। अथवा उत्पादव्ययध्रौव्यप्रपञ्चः समयः। तेषां च भगवता साक्षान्मातृकापदरूपतयाभिधानात्। तथा चार्षम्—"उप्पन्ने वा विगमे वा धुवेति वा" इत्यदोषः॥

मत्सरित्वाभावमेव विशेषणद्वारेण समर्थयति। नयानशेषानविशेषमिच्छन् इति। अशेषान् समस्तान् नयान् नैगमादीन्, अविशेषं निर्विशेषं यथा भवति एवम् इच्छन् आकाङ्क्षन् सर्वनयात्मकत्वादनेकान्तवादस्य। यथा विशकलितानां मुक्तामणीनामेकसूत्रानुस्यूतानां हारव्यपदेशः एवं पृथगभिसन्धीनां नयानां स्याद्वादलक्षणैकसूत्रप्रोतानां श्रुताख्यप्रमाणव्यपदेश इति। ननु प्रत्येकं नयानां विरुद्धत्वे कथं समुदितानां निर्विरोधिता उच्यते। यथा हि समीचीनं मध्यस्थं न्यायनिर्णेतारमासाद्य परस्परं विवदमाना अपि वादिनो विवादाद् विरमन्ति एवं नया अन्योऽन्यं वैरायमाणा अपि सर्वज्ञशासनमुपेत्य स्याच्छब्दप्रयोगोपशमितविप्रतिपित्तयः सन्तः परस्परमत्यन्तं सुहृद्भूयावतिष्ठन्ते। एवं च सर्वनयात्मकत्वे भगवत्समयस्य सर्वदर्शनमयत्वमविरुद्धमेव, नयरूपत्वाद् दर्शनानाम्॥

न च वाच्यं तर्हि भगवत्समयस्तेषु कथं नोपलभ्यते इति। समुद्रस्य सर्वसरिन्मयत्वेऽपि विभक्तासु तासु अनुपलम्भात्। तथा च वक्तृवचनयोरैक्यमध्यवस्य श्रीसिद्धसेनदिवाकरपादाः—

---

(४) तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यके सिद्धान्तको समय कहते हैं। उत्पाद आदिको जिन भगवान्ने 'अष्ट प्रवचनमाता' कहा है। आर्षवाक्य भी है—"उत्पन्न भी होता है, नष्ट भी होता है, और स्थिर भी रहता है। यद्यपि आगमोंके सूत्र गणधरोंके बनाये हुए होते हैं, परन्तु "अर्हंत अर्थका व्याख्यान करते हैं, और गणधर उसे सूत्रमें उपनिबद्ध करते हैं"—इस वचनसे अर्थकी अपेक्षासे भगवान् ही समयके रचयिता हैं। अतएव आपके साथ आगमका वाच्य-वाचक भाव बन सकता है।

आपका सिद्धान्त ईर्ष्यासे रहित हैं, क्योंकि आप नैगम आदि सम्पूर्ण नयोंको एक समान देखते हैं। अनेकांत वादमें सर्वनयोंका समावेश होता है। जिस प्रकार बिखरे हुए मोतियोंको एक सूतमें पिरो देनेसे मोतियों का सुन्दर हार बन कर तैय्यार हो जाता है, उसी तरह भिन्न-भिन्न नयोंको स्याद्वाद रूपी सूतमें पिरो देनेसे सम्पूर्ण नय 'श्रुत प्रमाण' कहे जाते हैं। शङ्का—यदि प्रत्येक नय परस्पर विरुद्ध है, तो उन नयोंके एकत्र मिलानेसे उनका विरोध किस प्रकार नष्ट होता है। समाधान—जैसे परस्पर विवाद करते हुए वादी लोग किसी मध्यस्थ न्यायीके द्वारा न्याय किये जानेपर विवाद करना बन्द करके आपसमें मिल जाते हैं, वैसे ही परस्पर विरुद्ध नय सर्वज्ञ भगवान्के शासनकी शरण लेकर 'स्यात्' शब्दसे विरोधके शान्त हो जानेपर परस्पर अत्यन्त सुहृद् भावसे एकत्र रहने लगते हैं। अतएव भगवान्के शासनके सर्व नय स्वरूप होनेसे भगवान्का शासन सम्पूर्ण दर्शनोंसे अविरुद्ध है, क्योंकि प्रत्येक दर्शन नय स्वरूप है।

शङ्का—यदि भगवान्का शासन सर्व दर्शन स्वरूप है, तो यह शासन सब दर्शनोंमें क्यों नहीं पाया जाता? समाधान—जिस प्रकार समुद्रके अनेक नदी रूप होनेपर भी भिन्न-भिन्न नदियोंमें समुद्र नहीं पाया जाता, उसी तरह भिन्न-भिन्न दर्शनोंमें जैन दर्शन नहीं पाया जाता। वक्ता और उसके वचनोंमें अभेद मान कर सिद्धसेन दिवाकरने कहा है—

---

१. छाया–अर्थं भाषतेऽर्हन् सूत्रं ग्रथ्नन्ति गणधरा निपुणम्। विशेषावश्यकभाष्ये १११९।

"उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः ।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः" ॥[1]

अन्ये त्वेवं व्याचक्षते । तथा अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभावात् परे प्रवादा मत्सरिणस्तथा तव समयः सर्वनयान् मध्यस्थतयाङ्गीकुर्वाणो न मत्सरी । यतः कथंभूतः । पक्षपाती पक्षमेकपक्षाभिनिवेशम् पातयति तिरस्करोतीति पक्षपाती । रागस्य जीवनाशं नष्टत्वात् । अत्र च व्याख्याने मत्सरीति विधेयपदम् पूर्वस्मिंश्च पक्षपातीति विशेषः । अत्र च क्लिष्टाक्लिष्टव्याख्यानविवेको विवेकिभिः स्वयं कार्यः ॥ इति काव्यार्थः ॥ ३० ॥

"हे नाथ, जिस प्रकार नदियाँ समुद्रमें जा कर मिलती हैं, वैसे ही सम्पूर्ण दृष्टियों (दर्शन) का आपमें समावेश होता है। जिस प्रकार भिन्न नदियोंमें समुद्र नहीं रहता, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न दर्शनोंमें आप नहीं रहते।"

कुछ लोग इस श्लोकका दूसरा अर्थ करते हैं। अन्य दर्शन परस्पर पक्ष और प्रतिपक्ष भाव रखनेके कारण ईर्ष्यालु हैं, परन्तु आप सम्पूर्ण नय रूप दर्शनोंको मध्यस्थ भावसे देखते हैं, अतएव ईर्ष्यालु नहीं है। क्योंकि आप एक पक्षका आग्रह करके दूसरे पक्षका तिरस्कार नहीं करते हैं। पहली व्याख्यामें 'पक्षपाती' विधेय पद था, और दूसरी व्याख्यामें 'मत्सरी' विधेय पद है। इन दोनों व्याख्याओंमें सरल और कठिन व्याख्याका विवेक बुद्धिमानोंको कर लेना चाहिये ॥ यह श्लोक का अर्थ है ॥३०॥

भावार्थ—जैन दर्शन सब दर्शनोंका समन्वय करनेवाला है। जितने वचनोंके प्रकार हो सकते हैं, उतने ही नयवाद होते हैं। अतएव सम्पूर्ण दर्शन नयवादमें गर्भित हो जाते हैं। जिस समय ये नयवाद एक दूसरेसे निरपेक्ष होकर वस्तुका प्रतिपादन करते हैं, उस समय ये नयवाद परसमय अर्थात् जैनेतर दर्शन कहे जाते हैं। इसलिये अन्य धर्मोंका निषेध करनेवाले वक्तव्यको प्रतिपादन करनेवालेको अजैन दर्शन, और सम्पूर्ण दर्शनोंका समन्वय करनेवालेको जैन दर्शन कहते हैं। उदाहरणके लिये, नित्यत्ववादी सांख्य और अनित्यत्व वादी बौद्ध परसमय हैं, क्योंकि ये दोनों दर्शन एक दूसरेसे निरपेक्ष होकर वस्तुतत्त्वका प्रतिपादन करते हैं। जैन दर्शन इन दोनोंका समन्वय करता है, इसलिये जैन दर्शन स्वसमय है। जिस समय परस्पर निरपेक्ष वचनोंके प्रकार नयवादोंमें 'स्यात्' शब्दका प्रयोग किया जाता है, उस समय ये नय सम्यक्त्व रूप होते हैं। जिस प्रकार धन, धान्य आदिके कारण परस्पर विवाद करनेवाले लोग किसी निष्पक्ष आदमीसे समझाये जानेपर शांत होकर परस्पर मिल जाते हैं, अथवा जिस प्रकार कोई मंत्रवादी विषके टुकड़ोंको विष रहित कर कोढ़के रोगीको अच्छा कर देता है, अथवा जिस प्रकार भिन्न-भिन्न मणियोंसे एक सुन्दर रत्नोंकी माला तैयार हो जाती है, उसी प्रकार परस्पर निरपेक्ष परसमयोंका जैन दर्शनमें समन्वय होता है।[2] इसी-

---

१. द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकास्तोत्रे ४–१५ । यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ इति मुण्डक उ. २–८ । तथा—बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः । त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥ रघुवंशे १०–११ ।

२. परस्परविरुद्धा अपि सर्वे नयाः समुदिताः सम्यक्त्वं भजन्ति । एकस्य जिनसाधोर्वशवर्तित्वात् यथा नानाभिप्राय भृत्यवर्गवत् । यथा धनधान्यभूम्याद्यर्थं परस्परं विवदमाना बहवोऽपि सम्यग्न्यायवता केनाप्युदासीनेन युक्तिभिर्विवादकारणान्यपनीय मील्यन्ते । तथेह परस्परविरोधिनोऽपि नयान् जैनसाधुर्विरोधं भक्त्वा एकत्र मीलयति । तथा प्रचुरविषलवा अपि प्रौढमंत्रवादिना निर्विषीकृत्य कुष्टादिरोगिणे दत्ता अमृतरूपत्वं प्रतिपद्यन्त एव । यशोविजयकृत नयप्रदीपे । तथा विशेषावश्यकभाष्य २२६५–७२ ।

इत्थङ्कारं कतिपयपदार्थविवेचनद्वारेण स्वामिनो यथार्थवादाख्यं गुणमभिष्टुत्य समग्रवचनातिशयव्यावर्णने स्वस्यासामर्थ्यं दृष्टान्तपूर्वकमुपदर्शयन् औद्धत्यपरिहाराय भङ्ग्यन्तरतिरोहितं स्वाभिधानं च प्रकाशयन् निगमनमाह—

वाग्वैभवं ते निखिलं विवेक्तुमाशास्महे चेद् महनीयमुख्य ।
लङ्घेम जङ्घालतया समुद्रं वहेम चन्द्रद्युतिपानतृष्णाम् ॥ ३१ ॥

विभव एव वैभवं । प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण् । विभोर्भावः कर्म चेति वा वैभवम् । वाचां वैभवं वाग्वैभवं वचनसंपत्प्रकर्षम् ।। विभोर्भाव इति पक्षे तु सर्वनयव्यापकत्वम् । विभुशब्दस्य व्यापकपर्यायतया रूढत्वात् । ते तव संबन्धिनं निखिलं कृत्स्नं विवेक्तुं विचारयितुं चेद् यदि वयमाशास्महे इच्छामः । हे महनीयमुख्य महनीयाः पूज्याः पञ्च परमेष्ठिनस्तेषु मुख्यः प्रधानभूतः, आद्यत्वात् तस्य संबोधनम् ॥

ननु सिद्धेभ्यो हीनगुणत्वाद् अर्हतां कथं वागतिशयशालिनामपि तेषां मुख्यत्वम् । न च हीनगुणत्वमसिद्धम् । प्रव्रज्यावसरे सिद्धेभ्यस्तेषां नमस्कारकरणश्रवणात् । "काऊण नमुक्कारं सिद्धाणमभिग्गहं तु सो गिण्हे"[1] इति श्रुतकेवलिवचनात् । मैवम् । अर्हदुपदेशेनैव सिद्धाना-

---

लिये जैन विद्वानोंने कहा है कि अनेकांतवादका मुख्य ध्येय सम्पूर्ण दर्शनोंको समान भावसे देखकर माध्यस्थ भाव प्राप्त करनेका है । यही धर्मवाद है, और यही शास्त्रोंका मर्म है । अतएव जिस प्रकार पिता अपने सम्पूर्ण पुत्रोंके ऊपर समभाव रखता है, उसी तरह अनेकान्तवाद सम्पूर्ण नयोंको समान भावसे देखता है ।[2] इसलिये जिस प्रकार सम्पूर्ण नदियाँ एक समुद्रमें जाकर मिलती हैं, उसी तरह सम्पूर्ण दर्शनोंका अनेकांत दर्शनमें समावेश होता है । अतएव जैन दर्शन सब दर्शनोंका समन्वय करता है ।

इस प्रकार कुछ पदार्थोंके विवेचनसे भगवानके यथार्थवाद गुणकी स्तुति करनेके पश्चात् भगवानके सम्पूर्ण वचनातिशयोंका वर्णन करनेमें अपनी असमर्थता बतलाकर प्रकारान्तरसे औद्धत्यको दूर करनेके लिये अपने वक्तव्यका उपसंहार करते हैं—

श्लोकार्थ—हे पूज्य शिरोमणि ! आपके सम्पूर्ण गुणोंकी विवेचना करना वेगसे समुद्रको लांघने, अथवा चन्द्रमाकी चाँदनीका पान करनेकी तृष्णाके समान है ।

व्याख्यार्थ—प्रज्ञा आदिसे स्वार्थमें अण् प्रत्यय होकर विभवसे वैभव शब्द बनता है । अथवा विभुके भाव और कर्मको वैभव कहते हैं । वचनके वैभवको 'वाग्वैभव' अर्थात् वचनोंकी उत्कृष्टता कहते हैं । विभु शब्दका व्यापक अर्थ करनेपर 'वाग्वैभव' शब्दका 'सम्पूर्ण नयोंमें व्यापक' अर्थ करना चाहिये । पाँचों परमेष्ठियोंमें अर्हंत भगवान् मुख्य हैं, अतएव भगवान्‌को पूज्य शिरोमणि कहकर संबोधन किया है ।

शङ्का—अर्हंत भगवान्‌में सिद्धोंकी अपेक्षा कम गुण हैं, अर्हंत दीक्षाके समय सिद्धोंको नमस्कार करते हैं । श्रुतकेवलियोंने कहा भी है—"अर्हंत सिद्धोंको नमस्कार करके दीक्षा ग्रहण करते हैं ।" अतएव अर्हंतोंको मुख्य नहीं कहना चाहिये । समाधान—अर्हंत भगवान्‌के उपदेशसे ही सिद्धोंकी पहचान होती

---

१. छाया–कृत्वा नमस्कारं सिद्धेभ्योऽभिग्रहं तु सोऽग्रहीत् ।

२. यस्य सर्वत्र समता नयेषु तनयेष्विव ।
तस्यानेकांतवादस्य क्व न्यूनाधिकशेमुषी ॥
तेन स्याद्वादमालंब्य सर्वदर्शनतुल्यतां ।
मोक्षोद्देशाविशेषेण यः पश्यति स शास्त्रवित् ॥
यशोविजय—अध्यात्मोपनिषद् ६१, ७० ।

मपि परिज्ञानात्। तथा चार्षम्—"अरहन्तुवएसेणं सिद्धा णज्जंति तेण अरहाई"[1] इति। ततः सिद्धं भगवत एव मुख्यत्वम्। यदि तव वाग्वैभवं निखिलं विवेक्तुमाशास्महे ततः किमित्याह लङ्घेम इत्यादि। तदा इत्यध्याहार्यम्। तदा जङ्घालतया जाङ्घिकतया वेगवत्तया समुद्रं लङ्घेम किल समुद्रमिव अतिक्रमामः। तथा वहेम धारयेम। चन्द्रद्युतीनां चन्द्रमरीचीनां पानं चन्द्रद्युतिपानम्। तत्र तृष्णा तर्षोऽभिलाष इत यावत् चन्द्रद्युतिपानतृष्णा ताम्। उभयत्रापि सम्भावने सप्तमी। यथा कश्चिच्चरणचङ्क्रमणवेगवत्तया यानपात्रादि अन्तरेणापि समुद्रं लङ्घितुमीहते यथा च कश्चिच्चन्द्रमरीचीरमृतमयीः श्रुत्वा चुलुकादिना पातुमिच्छति, न चैतद् द्वयमपि शक्यसाधनम्। तथा न्यक्षेण भवदीयवाग्वैभववर्णनाकाङ्क्षापि अशक्यारम्भप्रवृत्तितुल्या। आस्तां तावत् तावकीनवचनविभवानां सामस्त्येन विवेचनविधानम्, तद्विषयाकाङ्क्षापि महत् साहसमिति भावार्थः॥

अथवा 'लघु शोषणे'[2] इति धातोर्लङ्घेम शोषयेम समुद्रं जङ्घालतया अतिरंहसा। अतिक्रमणार्थलङ्घेस्तु प्रयोगे दुर्लभं परस्मैपदमनित्यं वा आत्मनेपदमिति। अत्र च औद्धत्यपरिहारेऽधिकृतेऽपि यद् आशास्महे इत्यात्मनि बहुवचनमाचार्यः प्रयुक्तवांस्तदिति सूचयति यद् विद्यन्ते जगति मादृशा मन्दमेधसो भूयांसः स्तोतारः, इति बहुवचनमात्रेण न खलु अहङ्कारः स्तोतरि प्रभौ शङ्कनीयः। प्रत्युत निरभिमानताप्रासादोपरि पताकारोप एवावधारणीयः॥ इति काव्यार्थः॥ ३१॥ एषु एकत्रिंशतिवृत्तेषु उपजातिच्छन्दः॥

एवं विप्रतारकैः परतीर्थिकैर्व्यामोहमये तमसि निमज्जितस्य जगतोऽभ्युद्धरणेऽव्यभि-

---

है, अतएव अर्हंत ही मुख्य हैं। आगममें कहा भी है—"अर्हंतके उपदेशसे सिद्धोंकी पहचान होती है, अतएव अर्हंत मुख्य हैं।" जिस प्रकार जहाजके बिना ही पैदल चलकर समुद्रको लांघना असम्भव है, अथवा जिस प्रकार चन्द्रमाकी अमृतमय किरणोंको केवल चुल्लूसे पान करना असंभव है, उसी तरह आपके वचनोंके वैभवके वर्णनकी इच्छा करना भी असंभव है। अतएव आपके समस्त वचन-वैभवका वर्णन तो दूर रहा, उस वर्णन करनेकी इच्छा करना भी महान् साहस है। श्लोकमें 'तदा' शब्दका अध्याहार करना चाहिये।

अथवा 'लघु' धातुका अर्थ शोषण करके 'समुद्रं जंघालतया लंघेम' का अर्थ करना चाहिये—जो शीघ्रतासे समुद्रका शोषण करना चाहते हैं। अतिक्रमण अर्थमें 'लङ्घि' धातु परस्मैपदी नहीं होती, अतएव यहाँ शोषण अर्थमें 'लघु' धातुसे परस्मैपदमें 'लंघेम' रूप बनाना चाहिये। अथवा यदि आत्मनेपदको अनित्य माना जाय, तो अतिक्रमण अर्थमें प्रयुक्त 'लंघि' धातुसे भी यह रूप बन सकता है। श्लोकमें 'आशास्महे' बहुवचनके प्रयोगसे स्तुतिकारका अहंकार प्रगट नहीं होता। इस प्रयोगसे स्तुतिकारका यही अभिप्राय है कि संसारमें मेरे समान और भी मन्द बुद्धिवाले स्तुति करनेवाले हैं। अतएव इससे आचार्यका निरभिमान ही सिद्ध होता है॥ यह श्लोकका अर्थ है॥३१॥ इन इकतीस श्लोकोंमें उपजाति छन्दका प्रयोग किया गया है।

भावार्थ—हेमचन्द्र आचार्य अपनी लघुता बताते हुए कहते हैं, कि जिस प्रकार पैदल चल कर समुद्रको लांघना अथवा चुल्लूसे चन्द्रमाकी चाँदनीका पान करना असम्भव है, उसी तरह आपके समस्त गुणोंका वर्णन करना असम्भव है।

वंचक अन्य तैर्थिक लोगोंके उपदेशसे व्यामोह रूप अन्धकारमें डूबे हुए जगत्का उद्धार करनेके लिये

---

२. छाया–अर्हदुपदेशेन सिद्धा ज्ञायन्ते तेनार्हदादिः। विशेषावश्यकभाष्ये ३२१३।

१. हैमधातुपारायणे भ्वादिगणे धा. ९८।

चारिवचनतासाध्येनान्ययोगव्यवच्छेदेन भगवत एव सामर्थ्यं दर्शयन् तदुपास्तिविन्यस्तमानसानां पुरुषाणामौचितीचतुरतां प्रतिपादयति—

इदं तत्त्वातत्त्वव्यतिकरकरालेऽन्धतमसे
जगन्मायाकारैरिव हतपरैर्हा विनिहितम्।
तदुद्धर्तुं शक्तो नियतमविसंवादिवचन-
स्त्वमेवातस्त्रातस्त्वयि कृतसपर्याः कृतधियः ॥३२॥

इदं प्रत्यक्षोपलभ्यमानं जगद् विश्वम् उपचाराद् जगद्वर्ती जनः। हतपरैः हता अधमा ये परे तीर्थान्तरीया हतपरे तैः। मायाकारैरिव ऐन्द्रजालिकैरिव शाम्बरीय[1]प्रयोगनिपुणैरिव इति यावत्। अन्धतमसे निबिडान्धकारे। हा इति खेदे। विनिहितं विशेषेण निहितं स्थापितं पातितमित्यर्थः। अन्धं करोतीत्यन्धयति, अन्धयतीत्यन्धं तच्च तत्तमश्चेत्यन्धतमसम्। "समवान्धात् तमसः[2]" इत्यत्प्रत्ययः, तस्मिन् अन्धतमसे। कथंभूतेऽन्धतमसे इति द्रव्यान्धकारव्यवच्छेदार्थमाह तत्त्वातत्त्वव्यतिकरकराले। तत्त्वं चातत्त्वं च तत्त्वातत्त्वे तयोर्व्यतिकरो व्यतिकीर्णता व्यामिश्रता स्वभावविनिमयस्तत्त्वातत्त्वव्यतिकरस्तेन कराले भयङ्करे। यत्रान्धतमसे तत्त्वेऽतत्त्वाभिनिवेशः अतत्त्वे च तत्त्वाभिनिवेश इत्येवंरूपो व्यतिकरः संजायत इत्यर्थः। अनेन च विशेषणेन परमार्थतो मिथ्यात्वमोहनीयमेव अन्धतमसम्, तस्यैव ईदृक्षलक्षणत्वात्। तथा च ग्रन्थान्तरे प्रस्तुतस्तुतिकारपादाः—

"अदेवे देवबुद्धिर्या गुरुधीरगुरौ च या।
अधर्मे धर्मबुद्धिश्च मिथ्यात्वं तद्विपर्ययात्"[3] ॥

ततोऽयमर्थः। यथा किल ऐन्द्रजालिकास्तथाविधसुशिक्षितपरव्यामोहनकलाप्रपञ्चाः तथाविधमौषधीमन्त्रहस्तलाघवादिप्रायं किञ्चित्प्रयुज्य परिषज्जनं मायामये तमसि मज्जयन्ति तथा

दूसरे मतोंका व्यवच्छेद करनेवाले निर्दोष वचनोंकी आपमें ही सामर्थ्य है, अतएव आपकी उपासनामें लगे हुए मनुष्य ही चतुर हैं—

श्लोकार्थ—इन्द्रजालियोंकी तरह अधम अन्य दर्शनवालोंने इस जगत्को तत्त्व और अतत्त्वके अज्ञानसे भयानक गाढ़ अन्धकारमें डाल रक्खा है। अतएव आप हो इस जगत्का उद्धार कर सकते हैं, क्योंकि आपके वचन विसंवादसे रहित हैं। अतएव हे जगत्के रक्षक! बुद्धिमान लोग आपकी सेवा करते हैं।

व्याख्यार्थ—खेद है कि इन्द्रजालियोंके समान अधम अन्य तीर्थिकोंने प्रत्यक्षसे दृष्टिगोचर होनेवाले इस जगत्को तत्त्व और अतत्त्वके अभेदसे भयानक गाढ़ अंधकारमें डाल रक्खा है। 'अन्धतमसे' में "समवान्धात् तमसः" सूत्रसे अत् प्रत्यय होता है। यहाँ मिथ्यात्व मोहनीयको अन्धतमस कहा गया है। प्रस्तुत स्तुतिकारपाद हेमचन्द्र आचार्यने योगशास्त्रमें कहा है—

"अदेवको देव, अगुरुको गुरु, और अधर्मको धर्म माना मिथ्यात्व है।"

अतएव जिस प्रकार दूसरोंको व्यामोहित करनेकी कलामें निपुण इन्द्रजाली लोग औषधि, मन्त्र, हाथकी सफाई आदिसे दर्शक लोगोंको मायामय अन्धकारमें डाल देते हैं, वैसे ही अन्य वादी अपनी

---

१. माया तु शाम्बरी। शम्बराख्यस्यासुरस्य इयं शाम्बरी। अभिधानचिन्तामणौ।

२. हैमसूत्रे ७-३-८०।

३. हेमचन्द्रकृतयोगशास्त्रे २-३।

परतीर्थिकैरपि तादृक्प्रकारदुरधीतकुतर्कयुक्तीरुपदर्श्य जगदिदं व्यामोहमहान्धकारे निक्षिप्तमिति। तज्जगदुद्धर्तुं मोहमहान्धकारोपप्लवात् क्रष्टुम् नियतं निश्चितम् त्वमेव नान्यः शक्तः समर्थः। किमर्थमित्थमेकस्यैव भगवतः सामर्थ्यमुपवर्ण्यते इति विशेषणद्वारेण कारणमाह। अविसंवादिवचनः। कषच्छेदतापलक्षणवरीक्षात्रयविशुद्धत्वेन फलप्राप्तौ न विसंवदतीत्येवंशीलमविसंवादि। तथाभूतं वचनमुपदेशो यस्यासावविसंवादिवचनः। अव्यभिचारिवागित्यर्थः। यथा च पारमेश्वरी वाग् न विसंवादमासादयति तथा तत्र तत्र स्याद्वादसाधने दर्शितम्॥

कषादिस्वरूपं चेत्थमाचक्षते प्रावचनिकाः—

"पाणवहाईआणं पावट्ठाणाण जो उ पडिसेहो।
झाणज्झयणाईणं जो य विही एस धम्मकसो॥ १॥
बज्झाणुट्ठाणेणं जेण ण बाहिज्जए तयं णियमा।
संभवइ य परिसुद्धं सो पुण धम्मम्मि छेउत्ति॥ २॥
जीवाइभाववाओ बंधाइपसाहगो इहं तावो।
एएहिं परिसुद्धो धम्मो धम्मत्तणमुवेइ॥ ३॥"[1]

तीर्थान्तरीयाप्ता हि न प्रकृतपरीक्षात्रयविशुद्धवादिन इति ते महामोहान्धतमस एव जगत् पातयितुं समर्थाः, न पुनस्तदुद्धर्तुम्। अतः कारणात्। कुतः कारणात्? कुमतध्वान्तार्णवान्तःपतितभुवनाभ्युद्धारणासाधारणसामर्थ्यलक्षणात्। हे त्रातस्त्रिभुवनपरित्राणप्रवीण। त्वयि काक्वाव-

---

कुतर्क पूर्ण पुर्ण युक्तियोंसे इस संसारको भ्रममें डाल देते हैं। इसलिये मोह महा अन्धकारसे जगत्को बचानेके लिये आप ही समर्थ हैं, दूसरा कोई नहीं। क्योंकि आपके वचनोंमें कोई विसंवाद नहीं है। कारण कि आपके वचन कष, छेद और ताप रूप परीक्षाओंसे विशुद्ध हैं, अतएव फलकी प्राप्तिमें आपके वचनोंमें कोई विरोध न होनेसे आपके वचन निर्दोष हैं। आपके वचनोंमें विरोधका अभाव स्याद्वादकी सिद्धि करते समय प्रदर्शित किया जा चुका है।

धर्मशास्त्रके पंडितोंने कष आदिका स्वरूप निम्न प्रकारसे कहा है—

"प्राणवध आदि पाप स्थानोंके त्याग, और ध्यान, अध्ययन आदिकी विधिको कष कहते हैं। जिन बाह्य क्रियाओंसे धर्ममें बाधा न आती हो, और जिससे निर्मलताकी वृद्धि हो, उसे छेद कहते हैं। जीवसे सम्बद्ध दुःख और बन्धको सहन करना ताप है। कष आदिसे शुद्ध धर्म धर्म कहा जाता है।"

अन्य तैर्थिक लोग कष, छेद और ताप रूप परीक्षाओंसे शुद्ध वचनोंको नहीं बोलते, अतएव वे लोग संसारको महा मोहांधकारमें गिरानेवाले होते हैं, इसलिये उनके द्वारा संसारका उद्धार नहीं हो सकता। अतएव हे भगवन्! आपमें कुमतरूप समुद्रमें पड़े हुए लोगोंका उद्धार करनेकी असाधारण सामर्थ्य है, इसलिये

---

१. छाया—प्राणवधादीनां पापस्थानां यस्तु प्रतिषेधः।
ध्यानाध्ययनादीनां यश्च विधिरेष धर्मकषः॥ १॥
बाह्यानुष्ठानेन येन न बाध्यते तन्नियमात्।
संभवति च परिशुद्धं स पुनर्धर्मे छेद इति॥ २॥
जीवादिभाववादो बन्धादिप्रसाधक इह तापः।
एभिः परिशुद्धो धर्मो धर्मत्वमुपैति॥ ३॥
हरिभद्रसूरिकृतपञ्चवस्तुकचतुर्थद्वारे।

धारणस्य गम्यमानत्वात् त्वय्येव विषये न देवान्तरे। कृतधियः। करोतिरत्र परिकर्मणि वर्तते यथा हस्तौ कुरु पादौ कुरु इति। कृता परिकर्मिता तत्त्वोपदेशपेलतत्तच्छास्त्राभ्यासप्रकर्षेण संस्कृता धीर्बुद्धिर्येषां। ते कृतधियश्चिद्रूपाः पुरुषाः। कृतसपर्याः। प्रादिकं विनाप्यादिकर्मणो गम्यमानत्वात्। कृता कर्तुमारब्धा सपर्या सेवाविधिर्यैस्ते कृतसपर्याः। आराध्यान्तरपरित्यागेन त्वय्येव सेवाहेवाकितां परिशीलयन्ति ॥ इति शिखरिणीच्छन्दोऽलंकृतकाव्यार्थः ॥ ३२ ॥

॥ समाप्ता चेयमन्ययोगव्यच्छेदद्वात्रिंशिकास्तवनटीका ॥

टीकाकारस्य प्रशस्तिः।

येषामुज्ज्वलहेतुहेतिरुचिरः प्रामाणिकाध्वस्पृशां
हेमाचार्यसमुद्भवस्तवनभूरर्थः समर्थः सखा।
तेषां दुर्नयदस्युसम्भवभयास्पृष्टात्मनां सम्भव-
त्यायासेन विना जिनागमपुरप्राप्तिः शिवश्रीप्रदा ॥ १ ॥

चातुर्विद्यमहोदधेर्भगवतः श्रीहेमसूरेर्गिरां
गम्भीरार्थविलोकने यदभवद् दृष्टिः प्रकृष्टा मम।
द्राघीयः समयादराग्रहपराभूतप्रभूतावमं
तन्नूनं गुरुपादरेणुकणिकासिद्धाञ्जनस्योर्जितम् ॥ २ ॥

आप तीनों लोकोंकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं। अतएव तत्त्वोपदेश और शास्त्राभ्याससे प्रकृष्ट बुद्धिवाले विद्वान् लोग आपकी ही सेवा करते हैं, अन्य देवोंकी नहीं। जैसे 'हाथोंको कर' (हस्तौ कुरु), 'पैरोंको कर' (पादौ कुरु) यहाँ 'कृ' धातु परिकर्म अर्थमें प्रयुक्त हुई है, वैसे ही 'कृतधियः' पदमें 'कृ' धातुका परिकर्म अर्थ है। 'प्र' आदि उपसर्गके बिना भी 'कृ' धातुका अर्थ प्रारम्भ करना होता है, इसलिये 'कृतसपर्याः'में कृतका अर्थ प्रारम्भ करना है ॥ यह शिखरिणी छन्द श्लोकका अर्थ है ॥ ३२ ॥

भावार्थ—वस्तुका सर्वथा एकान्त रूपसे प्रतिपादन करनेवाले एकान्तवादियोंने इस जगत्को अज्ञान-अन्धकारमें डाल रक्खा है। अतएव सम्पूर्ण एकान्तवादोंका समन्वय करनेवाले अनेकान्तवादसे ही इस जगत्का उद्धार हो सकता है। इसलिये अनेकान्तवादका प्रतिपादन करनेवाले जिन भगवान्में ही जगतके उद्धार करनेकी असाधारण सामर्थ्य है।

इति अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका टीका

टीकाकारकी प्रशस्ति

प्रामाणिक मार्गको अनुकरण करनेवाले जिन लोगोंके उज्वल हेतुरूपी शस्त्रोंसे सुन्दर हेमचन्द्राचार्यकी स्तुतिसे उत्पन्न होनेवाले अर्थरूपी समर्थ मित्र विद्यमान हैं, वे लोग दुर्नयरूपी लुटेरोंसे नहीं डरते, और वे बिना प्रयत्नके ही मोक्ष सुखके देनेवाले जिनागमरूपी नगरको प्राप्त करते हैं ॥ १ ॥

चारों विद्याओंके समुद्र भगवान् श्री हेमचन्द्राचार्यकी वाणीके गम्भीर अर्थको अवलोकन करनेमें जो मेरी प्रकृष्ट बुद्धि हुई है, और सतत बहुत समयके आदरसे जो विघ्नोंका नाश हुआ है, वह सब गुरु महाराजके चरणोंकी धूलिरूप सिद्धांजनका फल है ॥ २ ॥

अन्यान्यशास्त्रतरुसंगतचित्तहारिपुष्पोपमेयकतिचिन्निचितप्रमेयैः ।
दृब्धां मयान्तिमजिनस्तुतिवृत्तिमेनां मालामिवामलहृदो हृदये वहन्तु ॥ ३ ॥
प्रमाणसिद्धान्तविरुद्धमत्र यत्किंचिदुक्तं मतिमान्द्यदोषात् ।
मात्सर्यमुत्सार्य तदार्यचित्ताः प्रसादमाधाय विशोधयन्तु ॥ ४ ॥

उर्व्यामेष सुधाभुजां गुरुरिति त्रैलोक्यविस्तारिणी
यत्रेयं प्रतिभाभरादनुमिति निर्दम्भमुज्जृम्भते ।
किं चामी विबुधाः सुधेति वचनोद्गारं यदीयं मुदा
शंसन्तः प्रथयन्ति तामतितमां संवादमेदस्विनीम् ॥ ५ ॥
नागेन्द्रगच्छगोविन्दवक्षोऽलंकारकौस्तुभाः ।
ते विश्ववन्द्या नन्द्यासुरुदयप्रभसूरयः ॥ ६ ॥ युग्मम् ॥
श्रीमल्लिषेणसूरिभिरकारि तत्पदगगनदिनमणिभिः ।
वृत्तिरियं मनुरविमितशाकाब्दे[1] दीपमहसि[2] शनौ ॥ ७ ॥
श्रीजिनप्रभसूरीणां साहाय्योद्भिन्नसौरभा ।
श्रुतावुत्तंसतु सतां वृत्तिः स्याद्वादमञ्जरी ॥ ८ ॥
बिभ्राणे कलिनिर्जयाज्जिनतुलां श्रीहेमचन्द्रप्रभौ
तद्दृब्धस्तुतिवृत्तिनिर्मितिमिषाद् भक्तिर्मया विस्तृता ।
निर्णेतुं गुणदूषणे निजगिरां तन्नार्थये सज्जनान्
तस्यास्तत्त्वमकृत्रिमं बहुमतिः सास्त्यत्र सम्यग् यतः ॥ ९ ॥

इति टीकाकारस्य प्रशस्तिः समाप्ता ॥

समाप्तम्

बहुतसे शास्त्ररूपी वृक्षोंके मनोहर पुष्पोंके समान कुछ प्रमेयोंको लेकर मैंने मालाकी तरह यह अन्तिम भगवान्‌की स्तुतिकी टीकाको रचा है । निर्मल हृदयवाले पुरुष इसे अपने मनमें धारण करें ॥ ३ ॥

यहाँ यदि मैंने बुद्धिके प्रमादसे कुछ सिद्धान्तके विरुद्ध कहा हो, तो सज्जन लोग मात्सर्य भावको छोड़ कर प्रसन्नतापूर्वक संशोधन कर लें ॥ ४ ॥

तीनों लोकोंमें व्याप्त होनेवाली जिसकी प्रतिभाको देख कर लोगोंका अनुमान है कि यह पृथ्वीपर देवताओंका गुरु जन्मा है, जिसके वचनोंको अमृत समझ कर प्रशंसा करते हुए पण्डित लोग जिसकी अविरुद्ध वाणीका विस्तार करते हैं, तथा विष्णुके वक्षस्थलमें कौस्तुभ मणिके समान नागेन्द्र गच्छको शोभित करनेवाले, ऐसे विश्वमें वन्दनीम उदयप्रभसूरि महाराज समृद्धिको प्राप्त हों ॥ ५-६ ॥

उदयप्रभसूरिके पदरूपी आकाशमें सूर्यके समान श्री मल्लिषेणसूरिने दीपमालिकाके दिन शनिवारको १२१४ शक संवत्‌में यह टीका समाप्त की ॥ ७ ॥

श्री जिनप्रभसूरिकी सहायतासे सुगन्धित यह स्याद्वादमञ्जरी सज्जन पुरुषोंके कानोंके आभूषण रूप हो ॥ ८ ॥

कलिकालके ऊपर विजय प्राप्त करनेसे जिन भगवान्‌के समान श्री हेमचन्द्रप्रभुकी बनायी हुई स्तुतिकी टीका बनानेके बहाने मैंने हेमचन्द्र आचार्यके प्रति अपनी भक्ति प्रकट की है । अतएव अपनी वाणीके गुण और दोषोंका निर्णय करनेके लिये मैं सज्जनोंसे प्रार्थना नहीं करता, क्योंकि इस वाणीमें बहुतसे अकृत्रिम स्वतः उत्पन्न विचार विद्यमान हैं ॥ ९ ॥

॥ टीकाकारकी प्रशस्ति समाप्त ॥

समाप्त

---

१. अङ्कानां वामतो गतिः १२१४ मिते शाके । चतुर्दश मनवः द्वादश आदित्याः ।
२. दीपावल्याम् ।

हेमचन्द्राचार्यविरचिता

अयोगव्यवच्छेदिका

महावीर भगवानकी स्तुति—

अगम्यमध्यात्मविदामवाच्यं वचस्विनामक्षवतां परोक्षम् ।
श्रीवर्धमानाभिधमात्मरूपमहं स्तुतेर्गोचरमानयामि ॥[1] १ ॥

अर्थ—मैं (हेमचन्द्र) अध्यात्मवेत्ताओंके अगम्य, पंडितोंके अनिर्वचनीय, इन्द्रिय-ज्ञानवालोंके परोक्ष, और परमात्मस्वरूप ऐसे श्रीवर्धमान भगवानको अपनी स्तुतिका विषय बनाता हूँ ।

भगवानके गुणोंके स्तवन करनेकी असमर्थता—

स्तुतावशक्तिस्तव योगिनां न किं गुणानुरागस्तु ममापि निश्चलः ।
इदं विनिश्चित्य तव स्तवं वदन्न बालिशोऽप्येष जनोऽपराध्यति ॥[2] २ ॥

अर्थ—हे भगवन् ! आपकी स्तुति करनेमें योगी लोग भी समर्थ नहीं हैं । परन्तु असमर्थ होते हुए भी योगी लोगोंने आपके गुणोंमें अनुराग होनेके कारण आपकी स्तुति की है । इसी प्रकार मेरे मनमें भी आपके गुणोंमें दृढ़ अनुराग है, इसीलिये मेरे जैसा मूर्ख मनुष्य आपकी स्तुति करता हुआ अपराधका भागी नहीं कहा जा सकता ।

स्तुतिकार अपनी लघुता बताते हैं—

क्व सिद्धसेनस्तुतयो महार्था अशिक्षितालापकला क्व चैषा ।
तथापि यूथाधिपतेः पथस्थः स्खलद्गतिस्तस्य शिशुर्न शोच्यः ॥ ३ ॥

अर्थ—कहाँ गम्भीर अर्थवाली सिद्धसेन दिवाकरकी स्तुतियाँ, और कहाँ अशिक्षित संभाषणकी मेरी यह कला ! फिर भी जिस प्रकार बड़े-बड़े हाथियोंके मार्गपरसे जानेवाला हाथीका बच्चा मार्गभ्रष्ट होनेके कारण शोचनीय नहीं होता, उसी प्रकार यदि मैं भी सिद्धसेन जैसे महान् आचार्योंका अनुकरण करते हुए कहीं स्खलित हो जाऊँ, तो शोचनीय नहीं हूँ ।

आपने जिन दोषोंको नाश कर दिया है, उन्हीं दोषोंको परवादियोंके देवोंने आश्रय दिया है—

जिनेन्द्र यानेव विबाधसे स्म दुरंतदोषान् विविधैरुपायैः ।
त एव चित्रं त्वदसूययेव कृताः कृतार्थाः परतीर्थनाथैः ॥[3] ४ ॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! जिन कठिन दोषोंको आपने नाना उपायोंके द्वारा नाश कर दिया है, आश्चर्य है कि उन्हीं दोषोंको दूसरे मतावलम्बियोंके गुरुओंने आपकी ईर्ष्यासे ही कृतार्थ कर लिया है ।

---

१. कीर्त्या महत्या भुवि वर्धमानं त्वां वर्धमानं स्तुतिगोचरत्वं ।
निनीषवः स्मो वयमद्य वीरं विशीर्णदोषाशयपाशबन्धम् ॥ युक्त्यनुशासन १ ।

२. गुणाम्बुधेर्विप्रुषमप्यजस्रं नाखण्डलः स्तोतुमलं तवर्षेः ।
प्रागेव मादृक्किमुतातिभक्तिर्मां बालमालापयतीदमित्थम् ॥ स्वयंभूस्तोत्र ३०; १५ ।
तथा भक्तामर ३–६; कल्याणमन्दिर ३–६; द्वा. द्वात्रिंशिका ५–३१ ।

३. को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषैस्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश ।
दोषैरुपात्तविविधाश्रयजातगर्वैः स्वप्नांतरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ॥ भक्तामर २७ ।

भगवान्की यथार्थवादिता—

यथास्थितं वस्तु दिशन्नधीश न तादृशं कौशलमाश्रितोऽसि ।
तुरंगश‍ृंगाण्युपपादयद्भ्यो नमः परेभ्यो नवपण्डितेभ्यः ॥ ५ ॥

अर्थ—हे स्वामिन् ! आपने पदार्थोंका जैसेका तैसा वर्णन किया है, इसलिये आपने परवादियोंके समान कोई कौशल नहीं दिखाया । अतएव घोड़ेके सींगके समान असंभव पदार्थोंको जन्म देनेवाले परवादियोंके नवीन पंडितोंको हम नमस्कार करते हैं !

भगवानमें व्यर्थकी दयालुताका अभाव—

जगत्यनुध्यानबलेन शश्वत् कृतार्थयत्सु प्रसभं भवत्सु ।
किमाश्रितोऽन्यैः शरणं त्वदन्यः स्वमांसदानेन वृथा कृपालुः ॥[1] ६ ॥

अर्थ—हे पुरुषोत्तम ! अपने उपकारके द्वारा जगतको सदा कृतार्थ करनेवाले ऐसे आपको छोड़कर अन्य वादियोंने अपने मांसका दान करके व्यर्थ ही कृपालु कहे जानेवालेकी क्यों शरण ली है ? यह समझमें नहीं आता ! (यह कटाक्ष बुद्धके ऊपर है)।[2]

असत्वादियोंका लक्षण—

स्वयं कुमार्गं लपतां नु नाम प्रलम्भमन्यानपि लम्भयन्ति ।
सुमार्गगं तद्विदमादिशन्तमसूययान्धा अवमन्वते च ॥ ७ ॥

अर्थ—ईर्ष्यासे अन्धे पुरुष स्वयं कुमार्गका उपदेश करते हुए दूसरोंको कुमार्गमें ले जाते हैं, तथा सुमार्गमें लगे हुओंका, सुमार्गके जानकारोंका और सुमार्गके उपदेष्टाओंका अपमान करते हैं, यह महान खेद है !

भगवानके शासनका अजेयपना—

प्रादेशिकेभ्यः परशासनेभ्यः पराजयो यत्तव शासनस्य ।
खद्योतपोतद्युतिडम्बरेभ्यो विडम्बनेयं हरिमण्डलस्य ॥[3] ८ ॥

अर्थ—हे प्रभु ! वस्तुके अंशमात्रको ग्रहण करनेवाले अन्य दर्शनोंके द्वारा आपके मतकी पराजय करना एक छोटेसे जुगनूके प्रकाशसे सूर्यमण्डलका पराभव करनेके समान है !

भगवानके पवित्र शासनमें सन्देह अथवा विवाद करना योग्य नहीं—

शरण्य पुण्ये तव शासनेऽपि संदेग्धि यो विप्रतिपद्यते वा ।
स्वादौ स तथ्ये स्वहिते च पथ्ये संदेग्धि वा विप्रतिपद्यते वा ॥ ९ ॥

अर्थ—हे शरणागतको आश्रय देनेवाले ! जो लोग आपके पवित्र शासनमें संदेह अथवा विवाद करते हैं, वे स्वादु, अनुकूल और पथ्य भोजनमें ही संदेह और विवाद करते हैं ।

---

१. कृपां वहन्तः कृपणेषु जन्तुषु स्वमांसदानेष्वपि मुक्तचेतसः ।
त्वदीयमप्राप्य कृतार्थकौशलं स्वतः कृपां संजनयन्त्यमेधसः ॥ द्वा० द्वात्रिंशिका १–७ ।

२. मिलाइये—निपत्य ददतो व्याघ्रयाः स्वकायं कृमिसंकुलम् ।
देयादेयविमूढस्य दया बुद्धस्य कीदृशी ॥ हेमचन्द्र—योगशास्त्र २–१ वृत्ति ।

३. तावद्वितर्करचनापटुभिर्वचोभिर्मेधाविनः कृतमिति स्मयमुद्वहन्ति ।
यावन्न ते जिनवचः स्वभिचापलास्ते सिंहानने हरिणबालकवत् पतन्ति ॥
द्वा० द्वात्रिंशिका २–११ ।

अन्य आगमोंकी अप्रामाणिकता—

हिंसाद्यसत्कर्मपथोपदेशादसर्वविन्मूलतया प्रवृत्तेः ।
नृशंसदुर्बुद्धिपरिग्रहाच्च ब्रूमस्त्वदन्यागममप्रमाणम् ॥१०॥[1]

अर्थ—हे भगवन् ! आपके आगमके अतिरिक्त अन्य आगमोंमें हिंसा आदि असत् कर्मोंका उपदेश किया गया है। वे आगम असर्वज्ञके कहे हुए हैं, तथा निर्दय और दुर्बुद्धि लोगोंके द्वारा धारण किये जाते हैं, इसलिये हम उन आगमोंको प्रमाण नहीं मानते।

भगवान्‌के आगमकी प्रमाणिकता—

हितोपदेशात्सकलज्ञक्लृप्तेर्मुमुक्षुसत्साधुपरिग्रहाच्च ।
पूर्वापरार्थेष्वविरोधसिद्धेस्त्वदागमा एव सतां प्रमाणम्[1] ॥११॥

अर्थ—हे भगवन् ! आपका कहा हुआ आगम हितका उपदेश करता है, सर्वज्ञ भगवान् द्वारा प्रतिपादित किया हुआ है, मुमुक्षु और साधु पुरुषोंके द्वारा सेवन किया जाता है, और पूर्वापर विरोधसे रहित है, अतएव आपका आगम ही सत्पुरुषोंके द्वारा माननीय हो सकता है।

भगवान्‌के यथार्थवाद गुणकी महत्ता—

क्षिप्येत वान्यैः सदृशीक्रियेत वा तवाङ्घ्रिपीठे लुठनं सुरेशितुः ।
इदं यथावस्थितवस्तुदेशनं परैः कथंकारमपाकरिष्यते[2] ॥१२॥

अर्थ—हे जिनेश्वर ! भले ही अन्यवादी आपके चरणकमलोंमें इन्द्रके लोटनेकी बात न मानें, अथवा अपने इष्ट देवताओंमें भी इन्द्रके लोटनेकी कल्पना करके आपकी बराबरी करें, परंतु वे लोग आप द्वारा वस्तुके यथार्थ रूपसे प्रतिपादन करनेके गुणका लोप नहीं कर सकते।

भगवान्‌के शासनकी उपेक्षाका कारण—

तद्दुःषमाकालखलायितं वा पचेलिमं कर्मभवानुकूलम् ।
उपेक्षते यत्तव शासनार्थमयं जनो विप्रतिपद्यते वा[3] ॥१३॥

अर्थ—हे भगवन् ! जो लोग आपके शासनकी उपेक्षा करते हैं, अथवा उसमें विवाद करते हैं, वे लोग पंचम कालके कारण ही ऐसा करते हैं, अथवा इसमें उनके अशुभ कर्मोंका उदय समझना चाहिये।

केवल तपसे मोक्ष नहीं मिलता—

परःसहस्राः शरदस्तपांसि युगांतरं योगमुपासतां वा ।
तथापि ते मार्गमनापतन्तो न मोक्ष्यमाणा अपि यान्ति मोक्षम्[4] ॥१४॥

---

१. युक्त्यनुशासन ६। आप्तमीमांसा ६।

२. आप्तमीमांसा १ से ६ कारिका।

३. कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा श्रोतुर्प्रवक्तुर्वचनाशयो वा।
त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मीप्रभुत्वशक्तेरपवादहेतुः॥ युक्त्यनुशासन ५।

४. तपोभिरेकान्तशरीरपीडनैर्व्रतानुबन्धैः श्रुतसंपदापि वा।
त्वदीयवाक्यप्रतिबोधपेलवैरवाप्यते नैव शिवं चिरादपि॥ द्वा. द्वात्रिंशिका १. २३।
स्वच्छन्दवृत्तेर्जगतः स्वाभावादुच्चैरनाचारपथेष्वदोषम्।
निर्घुष्य दीक्षासममुक्तिमानास्त्वद्दृष्टिबाह्या बत विभ्रमंति॥ युक्त्यनुशासन ३७॥

अर्थ—हे भगवन् ! चाहे अन्यवादी हजारों वर्ष तक तप तपें, अथवा युगांतरों तक योगका अभ्यास करें, फिर भी आपके मार्गका विना अवलम्ब लिये उन लोगोंको मोक्ष नहीं मिल सकता।

परवादियोंके उपदेश भगवान्के मार्गमें बाधा नहीं पहुँचा सकते—

अनाप्तजाड्यादिविनिर्मितित्वसंभावनासंभविविप्रलम्भाः ।
परोपदेशाः परमाप्तक्लृप्तपथोपदेशे किमु संरभन्ते ॥१५॥

अर्थ—हे देवाधिदेव ! अनाप्तोंकी मंद बुद्धि द्वारा रचे हुए विसंवादरूप दूसरोंके उपदेश परम आप्तके द्वारा प्रतिपादित उपदेशोंमें क्या कुछ बाधा पहुँचा सकते हैं ? अर्थात् नहीं।

भगवान्के शासनकी निरुपद्रवता—

यदार्जवादुक्तमयुक्तमन्यैस्तदन्यथाकारमकारि शिष्यैः ।
न विप्लवोऽयं तव शासनेऽभूदहो अधृष्या तव[1] शासनश्री[2] ॥१६॥

अर्थ—अन्य मतावलम्बियोंके गुरुओंने जो कुछ सरल भावसे अयुक्त कथन किया था, उसे उनके शिष्योंने अन्यथा प्रतिपादन किया। हे भगवन् ! आश्चर्य है कि आपके शासनमें इस प्रकारका विप्लव नहीं हो सका, अतएव आपका शासन अजेय है।

परवादियोंके देवोंकी मान्यतामें परस्पर विरोध—

देहाद्ययोगेन सदाशिवत्वं शरीरयोगादुपदेशकर्म ।
परस्परस्पर्धि कथं घटेत परोपक्लृप्तेष्वधिदैवतेषु ॥१७॥

अर्थ—हे वीतराग ! एक ही ईश्वर देहके अभावसे सदा आनन्दरूप है, और देहके सद्भावसे उपदेशका देनेवाला है—इस प्रकार परवादियोंके देवताओंमें परस्पर विरोधी गुण कैसे रह सकते हैं ?

मोहका अभाव होनेसे भगवान् अवतार नहीं लेते—

प्रागेव देवांतरसंश्रितानि रागादिरूपाण्यवमांतराणि ।
न मोहजन्यां करुणामपीश समाधिमास्थाय युगाश्रितोऽसि (?) ॥१८॥

अर्थ—नीच वृत्तिवाले राग आदि दोषोंने पहले ही अन्य देवोंका आश्रय लिया है। इसलिये हे ईश ! आप समाधिको प्राप्त करके मोहजन्य करुणाके वश होकर भी युग-युगमें अवतार धारण नहीं करते।[3]

अपने ही संसारके क्षय करनेका यथार्थ उपदेश दिया है—

जगन्ति भिन्दन्तु सृजन्तु वा पुनर्यथा तथा वा पतयः प्रवादिनाम् ।
त्वदेकनिष्ठे भगवन् भवक्षयक्षमोपदेशे तु परं तपस्विनः ॥१९॥

---

१. सच्छासनं ते त्वमिवाप्रधृष्यम् । द्वा. द्वात्रिंशिका ५.२६ ।

२. स्वपक्ष एव प्रतिबद्धमत्सरा यथान्यशिष्या स्वरुचिप्रलापिनः ।
निरुक्तसूत्रस्य यथार्थवादिनो न तत्तथा यत्तव कोऽत्र विस्मयः ॥
द्वा. द्वात्रिंशिका १.१७; ५.२७ ।

३. यहाँ 'युगाश्रितोऽसि' का अर्थ ठीक नहीं बैठता। श्लोकका यह अर्थ श्रीमद्विजयानंद (आत्मारामजी) विरचित तत्त्वनिर्णयप्रासादके आधारसे लिखा गया है। मुनि चरणविजयजी द्वारा सम्पादित और आत्मानन्द जैन सभाद्वारा प्रकाशित (१९३४) अयोगव्यवच्छेदिकामें 'समाधिमास्थाय'के स्थानपर 'समाधिमाध्यस्थ्य' पाठ है।

अर्थ—हे भगवन् ! अन्य मतावलम्बियोंके इष्ट देवता चाहे जगतकी प्रलय करें, अथवा जगतका सर्जन, परन्तु वे संसारके नाश करनेका उपदेश देनेमें अलौकिक ऐसे आपकी बराबरीमें कुछ भी नहीं हैं ।

जिनमुद्राकी सर्वोत्कृष्टता—

वपुश्च पर्यंकशयं[1] श्लथं च दृशौ च नासानियते स्थिरे च ।
न शिक्षितेयं परतीर्थनाथैर्जिनेन्द्र मुद्रापि तवान्यदास्ताम्[2] ॥२०॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आपके अन्य गुणोंका धारण करना तो दूर रहा, अन्यवादियोंके देवोंने पर्यंक-आसनसे युक्त शिथिल शरीर और नासिकाके अग्रभाग पर दृष्टिवाली आपकी मुद्रा भी नहीं सीखी !

भगवान्के शासनकी महत्ता—

यदीयसम्यक्त्वबलात् प्रतीमो भवादृशानां परमस्वभावम् ।
कुवासनापाशविनाशनाय नमोऽस्तु तस्मै तव शासनाय ॥२१॥

अर्थ—हे वीतराग ! जिसके सम्यग्ज्ञानके द्वारा हमलोग आप जैसोंके शुद्ध स्वरूपका दर्शन कर सके हैं, ऐसे कुवासनारूपी बन्धनके नाश करनेवाले आपके शासनके लिये नमस्कार हो !

प्रकारान्तरसे भगवान्के यथार्थवाद गुणकी प्रशंसा—

अपक्षपातेन परीक्षमाणा द्वयं द्वयस्याप्रतिमं प्रतीमः ।
यथास्थितार्थप्रथनं तवैतदस्थाननिर्बंधरसं[3] परेषाम् ॥२२॥

अर्थ—हे भगवन् ! हम जब निष्पक्ष होकर परीक्षा करते हैं, तो हमें एक तो आपका यथार्थरूपसे वस्तुका प्रतिपादन करना, और दूसरे अन्यवादियोंकी पदार्थोंके अन्यथा रूपसे कथन करनेमें आसक्तिका होना—ये दो बातें निरुपम प्रतीत होती हैं ।

अज्ञानियोंके प्रतिबोध करनेकी असामर्थ्य—

अनाद्यविद्योपनिषन्निषण्णैर्विशृंखलैश्चापलमाचरद्भिः ।
अमूढलक्ष्योऽपि[4] पराक्रिये यत्त्वत्किंकरः किं करवाणि देव ॥२३॥

अर्थ—हे देव ! अनादि विद्यामें तत्पर, स्वच्छंदाचारी और चपल अज्ञानी पुरुषोंको लक्ष्यबद्ध करनेसे भी यदि वे नहीं समझते हैं, तो आपका यह तुच्छ सेवक क्या करे ?[5]

---

१. स्याज्जंघयोरधोभागे पादोपरि कृते सति ।
पर्यंको नाभिगोत्तानदक्षिणोत्तरपाणिकः ॥
"जानुप्रसारितबाहोः शयनं पर्यंकः" इति पातंजलाः ।
योगशास्त्रं ४. १२५ ।

२. तिष्ठन्तु तावदतिसूक्ष्मगभीरबाधाः संसारसंस्थितिभिदः श्रुतवाक्यमुद्रा ।
पर्याप्तमेकमुपपत्तिसचेतनस्य रागार्चिषः शमयितुं तव रूपमेव ॥
द्वा. द्वात्रिंशिका २. १५ ।

३. निर्बन्धोऽभिनिवेशः स्यात् । अभिधानचिन्तामणि ६.१३६ ।

४. 'अगूढलक्ष्योऽपि' पाठान्तरं ।

५. इस अर्थमें खींचातानी करनी पड़ती है ।

देशनाभूमिकी स्तुति—

विमुक्तवैरव्यसनानुबंधाः श्रयंति यां शाश्वतवैरिणोऽपि ।
परैरगम्यां तव योगिनाथ तां देशनाभूमिमुपाश्रयेऽहं ॥२४॥

अर्थ—हे योगियोंके नाथ ! स्वभावके वैरी प्राणि भी वैर भाव छोड़कर दूसरोंसे अगम्य आपके जिस समवशरणका आश्रय लेते हैं, उस देशनाभूमिका मैं भी आश्रय लेता हूँ।

अन्य देवोंके साम्राज्यकी व्यर्थता—

मदेन मानेन मनोभवेन क्रोधेन लोभेन च संमदेन ।
पराजितानां प्रसभं सुराणां वृथैव साम्राज्यरुजा परेषाम् ॥२५॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! मद, मान, काम, क्रोध, लोभ और रागसे पराजित अन्य देवोंका साम्राज्य-रोग बिलकुल वृथा है ।

बुद्धिमान लोग राग मात्रसे भगवान्‌के प्रति आकर्षित नहीं होते—

स्वकण्ठपीठे कठिनं कुठारं परे किरन्तः प्रलपन्तु किंचित् ।
मनीषिणां तु त्वयि वीतराग न रागमात्रेण मनोऽनुरक्तम्[1] ॥२६॥

अर्थ—वादी लोग अपने गलेमें तीक्ष्ण कुठारका प्रहार करते हुए कुछ भी कहें, परन्तु हे वीतराग ! बुद्धिमानोंका मन आपके प्रति केवल रागके कारण ही अनुरक्त नहीं है ।

अपनेको मध्यस्थ समझनेवाले लोगोंमें मात्सर्यका सद्भाव—

सुनिश्चितं मत्सरिणो जनस्य न नाथ मुद्रामतिशेरते ते ।
माध्यस्थ्यमास्थाय परीक्षका ये मणौ च काचे च समानुबंधाः ॥२७॥

अर्थ—हे नाथ ! जो परीक्षक माध्यस्थ वृत्ति धारण करके काच और मणिमें समान भाव रखते हैं, वे भी मत्सरी लोगोंकी मुद्राका अतिक्रमण नहीं करते—यह सुनिश्चित है ।

स्तुतिकारकी घोषणा—

इमां समक्षं प्रतिपक्षसाक्षिणामुदारघोषामवघोषणां ब्रुवे ।
न वीतरागात्परमस्ति दैवतं न चाप्यनेकान्तमृते नयस्थितिः ॥२८॥

अर्थ—मैं (हेमचन्द्र) प्रतिपक्षी लोगोंके सामने यह उदार घोषणा करता हूँ कि वीतराग भगवान्‌को छोड़कर दूसरा कोई देव, और अनेकांतवादको छोड़कर वस्तुओंके प्ररूपण करनेका दूसरा कोई मार्ग नहीं है ।

जिन भगवान्‌के प्रति स्तुतिकारके आकर्षणका कारण—

न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो न द्वेषमात्रादरुचिः परषु ।
यथावदाप्तत्वपरीक्षया तु त्वामेव वीर प्रभुमाश्रिताः स्मः[2] ॥२९॥

---

१. अन्ये जगत्संकथिका विदग्धा सर्वज्ञवादान् प्रवदन्ति तीर्थ्याः ।
यथार्थनामा तु तवैव वीर सर्वज्ञता सत्यमिदं न रागः ॥ द्वा. द्वात्रिंशिका ५. २३ ।

२. न काव्यशक्तेर्न परस्परेर्ष्यया न वीरकीर्तिप्रतिबोधनेच्छया ।
न केवलं श्राद्धतयैव नूयसे गुणज्ञपूज्योऽसि यतोऽयमादरः ॥ द्वा. द्वात्रिंशिका १. ४ ।

न रागान्नः स्तोत्रं भवति भवपाशच्छिदि मुनौ ।
न चान्येषु द्वेषादपगुणकथाभ्यासखलता ॥

किमु न्यायान्यायाप्रकृतगुणदोषज्ञमनसां ।
हितान्वेषोपायस्तव गुणकथासंगगदितः ॥ युक्त्यनुशासन ६४ ।

वृहत्स्वयंभू स्तो. ५१; हरिभद्र—लोकतत्त्वनिर्णय ३२, ३३ ।

अर्थ—हे वीर ! केवल श्रद्धाके कारण न आपके प्रति हमारा कोई पक्षपात है, और न द्वेषके कारण अन्य देवताओंमें अविश्वास, किन्तु यथार्थ रीतिसे आप्तकी परीक्षा करके ही हमने आपका आश्रय ग्रहण किया है ।

भगवान्की वाणीकी महत्ता—

तमःस्पृशामप्रतिभासभाजं भवन्तमप्याशु विविन्दते याः ।
महेम चन्द्रांशुदृशावदातास्तास्तर्कपुण्या जगदीश वाचः[1] ॥३०॥

अर्थ—हे जगदीश ! जो वाणी अज्ञान-अंधकारमें फिरनेवाले पुरुषोंके अगोचर ऐसे आपको प्रगट करती हैं, उस चन्द्रमाकी किरणोंके समान स्वच्छ और तर्कसे पवित्र आपकी वाणीकी हम पूजा करते हैं ।

भगवान्के वीतराग गुणकी सर्वोत्कृष्टता—

यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया ।
वीतदोषकलुषः स चेद्भवानेक एव भगवन्नमोस्तु ते ॥३१॥

अर्थ—भगवन् ! जिस किसी शास्त्रमें, जिस किसी रूपमें, और जिस किसी नामसे जिस वीतराग-देवका वर्णन किया गया है, वह आप एक ही हैं, अतएव आपको नमस्कार है !

उपसंहार—

इदं श्रद्धामात्रं तदथ परनिन्दां मृदुधियो
विगाहन्तां हन्त प्रकृतिपरवादव्यसनिनः ।
अरक्तद्विष्टानां जिनवर परीक्षाक्षमधिया-
मयं तत्त्वालोकः स्तुतिमयमुपाधिं[2] विधृतवान् ॥३२॥

अर्थ—कोमल बुद्धिवाले पुरुष इस स्तोत्रको श्रद्धासे बनाया हुआ समझें, वादशील पुरुष इसे परनिन्दा करनेके लिये रचा हुआ मानें, परन्तु हे जिनवर ! परीक्षा करनेमें समर्थ राग-द्वेषसे रहित पुरुषोंको तत्त्वोंके प्रकाश करनेवाला यह स्तोत्र स्तुतिरूप धर्मके चिंतनमें कारण है ।

॥ समाप्त ॥

---

१. सत्त्वोपघातनिरनुग्रहराक्षसानि वक्तृप्रमाणरचितान्यहितानि पीत्वा ।
अद्वारकं जिन समस्तमसो विशन्ति येषां न भान्ति तव वाग्द्युतयो मनस्सु ॥
द्वा. द्वात्रिंशिका २. १७ ।

२. उपाधिर्धर्मचिन्तनम् । अभिधानचिन्तामणि ६. १७ ।

परिशिष्ट

जैन परिशिष्ट (क)

बौद्ध परिशिष्ट—श्लोक १६ से १९ (ख)

न्याय-वैशेषिक परिशिष्ट—श्लोक ४ से १० (ग)

सांख्य-योग परिशिष्ट—श्लोक २५ (घ)

मीमांसक परिशिष्ट—श्लोक ११-१२ (ङ)

वेदान्त परिशिष्ट—श्लोक १३ (च)

चार्वाक परिशिष्ट—श्लोक २० (छ)

विविध परिशिष्ट (ज)

जैन परिशिष्ट (क)

अवतरणिका पृष्ठ २, पंक्ति ६ : दुःषमार—

पंचमकाल । जैन धर्मके अनुसार कालचक्र उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी नामक दो विभागोंमें विभक्त हैं । उत्सर्पिणी कालमें जीवोंके शरीरकी ऊँचाई, आयु और शरीरके बलकी वृद्धि होती है । अवसर्पिणी कालमें जीवोंके शरीरकी ऊँचाई, आयु और शरीरके बलकी हानि होती है । उत्सर्पिणीके छह भेद—१ दुःषमदुःषमा, २ दुःषमा, ३ दुःषमसुषमा, ४ सुषमदुःषमा, ५ सुषमा, ६ सुषमसुषमा । अवसर्पिणीके छह भेद—१ सुषमसुषमा, २ सुषमा, ३ सुषमदुःषमा, ४ दुःषमसुषमा, ५ दुःषमा, ६ दुःषमदुःषमा ।

उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी-कालचक्र

अवसर्पिणी कालके छह आरे	स्थिति	जीवोंकी आयु	शरीरकी ऊँचाई	वर्ण	आहारका अंतर
१ सुषमसुषमा	४ कोडाकोडी सागर	३ पल्यसे २ पल्य	३ कोशसे २ कोश	सूर्यके समान	आठ वेला (३ दिन)
२ सुषमा	३ कोडाकोडी सागर	२ पल्यसे १ पल्य	२ कोशसे १ कोश	चन्द्रमाके समान	छह वेला
३ सुषमदुःषमा	२ कोडाकोडि सागर	१ पल्यसे कोटी पूर्व वर्ष	१ कोशसे ५०० धनुष	प्रियंगु	चार वेला
४ दुःषमसुषमा	४२००० वर्ष कम १ कोडा-कोडि सागर	कोटी पूर्व वर्षसे १२० वर्ष	५०० धनुषसे ७ हाथ	पांचों वर्ण	प्रतिदिन एक बार
५ दुःषमा	२१००० वर्ष	१२० वर्षसे २० वर्ष	७ हाथसे २ हाथ	रूक्ष	अनेक बार
६ दुःषमदुःषमा	२१००० वर्ष	२० वर्षसे १५ वर्ष	२ हाथसे १ हाथ	श्याम	बार बार

सुषमसुषमा आदि प्रथमके तीन कालोंमें भोगभूमि रहती है। भोगभूमिकी भूमि दर्पणके समान मणिमय, और चार अंगुल ऊँचे स्वादु और सुगंधित कोमल तृणोंसे युक्त होती है। यहाँ दूध, इक्षु, जल, मधु और घृतसे परिपूर्ण बावड़ी और तालाव बने हुए हैं। भोगभूमिमें स्त्री और पुरुषके युगल पैदा होते हैं। ये युगलिये ४९ दिनमें पूर्ण यौवनको प्राप्त होकर परस्पर विवाह करते हैं। मरनेके पहले पुरुषको छींक और स्त्रीको जंभाई आती है। सुषमदुःषमा नामके तीसरे कालमें पल्यका आठवां भाग समय बाकी रहनेपर क्षत्रिय कुलमें चौदह कुलकर उत्पन्न होते हैं। चौथे कालमें चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण, और नौ बलभद्र—ये तरेसठ शलाकापुरुष जन्म लेते हैं। दुःषमा नामका पाँचवाँ काल महावीरका तीर्थकाल कहा जाता है। इस कालमें कल्की नामका राजा उत्पन्न होता है। कल्की उन्मार्गगामी होकर जैनधर्मका नाश करता है। पंचम कालके इक्कीस हजार वर्षके समयमें एक-एक हजार वर्ष बाद इक्कीस कल्की पैदा होते हैं। अंतिम जलमंथन नामक कल्की जैनधर्मका समूल नाश करनेवाला होगा। धर्मका नाश होनेपर सब लोग धर्मसे विमुख हो जायँगे। दुःषमदुःषमा नामके छठे कालमें संवर्तक नामकी वायु पर्वत, वृक्ष, पृथ्वी आदिको चूर्ण करेगी। इस वायुसे समस्त जीव मूर्छित होकर मरेंगे। इस समय पवन, अत्यंत शीत, क्षाररस, विष, कठोर अग्नि, धूल और धूँएकी ४९ दिन तक वर्षा होगी, तथा विष और अग्निकी वर्षासे पृथ्वी भस्म हो जायेगी। इस समय दयावान विद्याधर अथवा देव, मनुष्य आदि जीवोंके युगलोंको निर्बाध स्थानमें ले जाकर रख देंगे। उत्सर्पिणी कालके आनेपर फिरसे इन जीवोंसे सृष्टिकी परम्परा चलेगी।[1]

ब्राह्मण ग्रंथोंमें सत्य (कृत), त्रेता, द्वापर, और कलि ये चार युग बताये गये हैं। इन युगोंका प्रमाण क्रमसे १७२८००० वर्ष, १२९६००० वर्ष, ८६४००० वर्ष और ४३२००० वर्ष है। कृतयुगमें ध्यान, त्रेतामें ज्ञान, द्वापरमें यज्ञ और कलियुगमें दानकी श्रेष्ठता होती है। इन युगोंमें क्रमसे ब्रह्मा, रवि, विष्णु, और रुद्रका आधिपत्य रहता है। सत्ययुगमें धर्मके चार पैर होते हैं। इनमें मत्स्य, कूर्म, वराह, और नृसिंह ये चार अवतार होते हैं। इस युगमें मनुष्य अपने धर्ममें तत्पर रहते हुए शोक, व्याधि, हिंसा, और दंभसे रहित होते हैं। यहाँ इक्कीस हाथ-परिमाण मनुष्यकी देह और एक लाख वर्षकी उत्कृष्ट आयु होती है। इस युगके निवासियोंकी इच्छा-मृत्यु होती है। इस युगमें लोग सोनेके पात्र काममें लाते हैं। त्रेतामें धर्म तीन पैरोंसे चलता है। इस समय वामन, परशुराम और रामचन्द्र ये तीन अवतार होते हैं। यहाँ चौदह हाथ-परिणाम मनुष्यकी देह और दस हजार वर्षकी उत्कृष्ट आयु होती है। इस युगमें चाँदीके पात्रोंसे काम चलता है। इस समय लोगोंका कुछ क्लेश बढ़ जाता है। ब्राह्मण लोग वेद वेदांगके परगामी होते हैं। स्त्री पतिव्रता और पुत्र पिताकी सेवा करनेवाले होते हैं। द्वापरयुगमें धर्मके केवल दो पैर रह जाते हैं। इस युगमें कुछ लोग पुण्यात्मा और कुछ लोग पापात्मा होते हैं। कोई बहुत दुखी होते हैं और कोई बहुत धनी होते हैं। इस युगमें कृष्ण और बुद्ध अवतार लेते हैं। मनुष्योंका देह सात हाथका और एक हजार वर्षकी उत्कृष्ट आयु होती है। लोग ताँबेके पात्रोंमें भोजन करते हैं। कलियुगके आनेपर धर्म केवल एक पैरसे चलने लगता है। इस युगमें सब लोग पापी हो जाते हैं। ब्राह्मण अत्यन्त कामी और क्रूर हो जाते हैं। तथा क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने कर्तव्यसे च्युत होकर पाप करने लगते हैं। कलियुगमें कल्किका अवतार होता है। मनुष्यका शरीर साढ़े तीन हाथका और उत्कृष्ट आयु एकसौ पाँच वर्षकी होती है।[2]

बौद्ध लोगोंने अन्तरकल्प, संवर्तकल्प, विवर्तकल्प, महाकल्प आदि कल्पोंके अनेक भेद माने हैं। आदिके कल्पमें मनुष्य देवोंके समान थे। धीरे-धीरे मनुष्योंमें लोभ और आलस्यकी वृद्धि होती है, लोग वनकी औषध और धान्य आदिका संग्रह करने लगते हैं। बादमें मनुष्योंमें हिंसा, चोरी आदि पापोंकी

१. त्रिलोकसार ७७९-८६७; तथा लोकप्रकाश २८ वाँ सर्ग इत्यादि।

२. कूर्मपु. अ. २८; मत्स्यपु. अ. ११८; गरुडपु. अ. २२७।

वृद्धि होती है, और मनुष्योंकी आयु घटकर केवल दस वर्षकी रह जाती है। कल्पके अन्तमें सात दिन तक युद्ध, सात महीने तक रोग, तथा सात वर्ष तक दुर्भिक्ष पड़नेके बाद कल्पकी समाप्ति हो जाती हैं। इस समय अग्नि, जल और महावायुसे प्रलय (संवर्तनी) होती है। प्रलयके समय देवता लोग पुण्यात्मा प्राणियोंको निर्बाध स्थानमें ले जाकर रख देते हैं[1]।

ग्रीक और रोमन लोगोंके यहाँ भी सुवर्ण, रजत, पीतल और लोह इस प्रकारसे चार युगोंकी कल्पना पायी जाती है।

श्लो. १ पृ. ५ पं. ६ : **केवली**

चार घातिया कर्मोंके अत्यंत क्षय होनेपर जो केवलज्ञानके द्वारा इन्द्रिय, क्रम, और व्यवधान रहित तीनों लोकोंके सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायोंको साक्षात् जानते हैं, उन्हें केवली कहते हैं। जैन शास्त्रोंमें अनेक तरहके केवलियोंका उल्लेख पाया जाता है—

१ **तीर्थंकर**—जो चतुर्विध संघ अथवा प्रथम गणधरकी स्थापनापूर्वक जीवोंको संसार-समुद्रसे पार उतारते हैं, उन्हें तीर्थंकर कहते हैं। तीर्थंकर संसारी जीवोंको उपदेश देकर उनका उपकार करते हैं। तीर्थंकर स्वयंबुद्ध होते हैं। तीर्थंकर चौबीस हैं।

२ **गणधर**—तीर्थंकरके साक्षात् शिष्य और संघके मूल नायक होते हैं। गणधर श्रुतकेवली होते हैं। ये अन्य केवलियोंके भूतपूर्व गुरु होते हैं, और अन्तमें स्वयं भी केवली हो जाते हैं। महावीर भगवान्के ग्यारह गणधर थे। इन ग्यारह गणधरोंमें अकम्पित और अचल, तथा मेतार्य और प्रभास नामक गणधरोंकी भिन्न-भिन्न वाचना न होनेसे भगवान्के नौ गणधर कहे जाते हैं।

३ **सामान्य केवली**—तीर्थंकर और गणधरोंको छोड़कर बाकी केवली सामान्यकेवली कहे जाते हैं।

४ **स्वयंबुद्ध**—जो बाह्य कारणोंके बिना स्वयं ज्ञानी होते हैं, वे स्वयंबुद्ध हैं। तीर्थंकर भी स्वयंबुद्धोंमें गर्भित हैं। इनके अतिरिक्त भी स्वयंबुद्ध होते हैं। ये संघमें रहते हैं और नहीं भी रहते। ये पूर्वमें श्रुतकेवली होते हैं और नहीं भी होते। जिनको श्रुत नहीं होता, वे नियमसे संघसे बाह्य रहते हैं।

५ **प्रत्येकबुद्ध**—प्रत्येकबुद्ध परोपदेशके बिना अपनी शक्तिसे बाह्य निमित्तोंके मिलनेपर ज्ञान प्राप्त करते हैं, और एकल विहार करते हैं। प्रत्येकबुद्धको कमसे कम ग्यारह अंग और अधिकसे अधिक कुछ कम दस पूर्वोंका ज्ञान होता है।

६ **बोधितबुद्ध**—गुरुके उपदेशसे ज्ञान प्राप्त करते हैं। ये अनेक तरहके होते हैं।

७ **मुण्डकेवली**—ये मूक और अन्तकृत् केवलीके भेदसे दो प्रकारके हैं। मूक केवली अपना ही उद्धार कर सकते हैं, परन्तु किसी शारीरिक दोषके कारण उपदेश नहीं दे सकते, इसलिये मौन रहते हैं। ये केवली बाह्य अतिशयोंसे रहित होते हैं, और किसी सिद्धांतकी रचना नहीं कर सकते। अन्तकृत्केवलीको मुक्त होनेके कुछ समय पहले ही केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है, इसलिये ये भी सिद्धांतकी रचना करनेमें असमर्थ होते हैं।

८ **श्रुतकेवली**—श्रुतकेवली शास्त्रोंके पूर्ण ज्ञाता होते हैं। श्रुतकेवली और केवली (केवलज्ञानी) ज्ञानकी दृष्टिसे दोनों समान हैं। अन्तर इतना ही है कि श्रुतज्ञान परोक्ष और केवलज्ञान प्रत्यक्ष होता है। केवली (केवलज्ञानी) जितना जानते हैं, उसका अनंतवाँ भाग वे कह सकते हैं, और जितना वे कहते हैं, उसका अनन्तवाँ भाग शास्त्रोंमें लिखा जाता है। इसलिये केवलज्ञानकी अपेक्षा श्रुतज्ञान अनन्तवें भागका भी अनन्तवाँ भाग है। सामान्यतः श्रुतकेवली छठे, सातवें गुणस्थानवर्ती और केवली तेरहवें गुणस्थानवर्ती

---

१. अभिधर्मकोश ३.९७ के आगे; विसुद्धिमग्ग अ. १३; हार्डी का Mannual of Buddhism अ. १।

होते हैं। श्रुतकेवलीको केवली पद पानेके लिये आठवें गुणस्थानसे बारहवें गुणस्थान तक एक श्रेणी चढ़ना पड़ती है। श्रुतकेवली चौदह पूर्वके पाठी होते हैं।[1]

योग सहित केवलियोंको **सयोगकेवली**, और योगरहित केवलियोंको **अयोगकेवली** कहते हैं। सयोगकेवली तेरहवें और अयोगकेवली चौदहवें गुणस्थानवर्ती होते हैं। सिद्धोंको भी केवली कहा जाता है।[2]

जैनेतर शास्त्रोंमें भी केवलीकी कल्पना पायी जाती है। जिन्होंने बन्धनसे मुक्त होकर कैवल्यको प्राप्त किया है, उन्हें योगसूत्रोंके भाष्यकार व्यासने केवली कहा है।[3] ऐसे केवली अनेक हुए हैं। बुद्धि आदि गुणोंसे रहित ये निर्मल ज्योतिवाले केवली आत्मस्वरूपमें स्थित रहते हैं। महाभारत, गीता आदि वैदिक ग्रंथोंमें भी जीवन्मुक्त पुरुषोंका उल्लेख आता है। ये शुक, जनक प्रभृति जीवन्मुक्त संसारमें जलमें कमलकी नाईं रहते हुए मुक्त जीवोंकी तरह निर्लेप जीवन यापन करते हैं इसीलिये इन्हें जीवन्मुक्त कहा जाता है।

बौद्ध ग्रंथोंमें बुद्धके बत्तीस महापुरुषके[4] लक्षण, अस्सी अनुव्यंजन और दोसौ सोलह मांगल्य लक्षण बताये गये हैं। बुद्ध भगवान् अपने दिव्य नेत्रोंसे प्रति दिन संसारको छह बार देखते हैं। वे दश बल, ग्यारह बुद्धधर्म, और चार वैशारद्य सहित होते हैं। वर्तमान बुद्ध चौबीस[5] होते हैं। इन बुद्धोंके अलग-अलग बोधिवृक्ष रहते हैं। बुद्ध दो प्रकारके होते हैं—प्रत्येकबुद्ध और सम्यक्संबुद्ध। **सम्यक्संबुद्ध** अपने पुरुषार्थ द्वारा बोधि प्राप्त करके उसका संसारको उपदेश देते हैं। गौतम सम्यक्संबुद्ध थे। **प्रत्येकबुद्ध** भी अपने पुरुषार्थसे बोधि प्राप्त करते हैं, परन्तु वे संसारमें बोधिका उपदेश नहीं करते, वन आदि किसी एकांत स्थानमें रहकर मुक्तिसुखका अनुभव करते हैं। प्रत्येकबुद्ध बुद्धसे हरेक बातमें छोटे होते हैं, और वे बुद्धके समय नहीं रहते। जो पटिसंभिदा, अभिज्ञा, प्रज्ञा आदिसे विभूषित होते हैं, उन्हें **अर्हत्** कहते हैं। अर्हत्को खीनासव (क्षीणाश्रव) कहा है। अर्हत् फिरसे संसारमें जन्म नहीं लेते। गौतम स्वयं अर्हत् थे। बुद्ध स्वयं अपने पुरुषार्थसे निर्वाण प्राप्त करते हैं, और अर्हत् बुद्धके पास शिक्षण ग्रहण करके निर्वाण जाते हैं, यहीं दोनोंमें अन्तर है। जो अनेक जन्मोंके पुण्य-प्रतापसे आगे चलकर बुद्ध होनेवाले हैं, उन्हें **बोधिसत्व** कहते हैं। अर्हत् वीतराग होते हैं, और बोधिसत्वका हृदय करुणासे परिपूर्ण रहता है। बोधिसत्व प्रत्येक प्राणीके निर्वाणके लिये प्रयत्नशील रहते हैं, और जब तक सम्पूर्ण जीवोंको निर्वाण नहीं मिल जाता, तब तक उनकी प्रवृत्ति जारी रहती है। बोधिसत्व जीवोंके प्रति करुणाका प्रदर्शन करनेके लिए पाप करनेमें भी नहीं हिचकते, और नरकमें जाकर नारकी जीवोंका उद्धार करते हैं।[6]

---

१. महावीर भगवान्के निर्वाणके बाद गौतम, सुधर्मा और जम्बूस्वामी ये तीन केवली हुए। जम्बूस्वामीके बाद दिगम्बर परम्पराके अनुसार विष्णु, नन्दि, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाँच, तथा श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार प्रभव, शय्यंभव, यशोभद्र, सम्भूतविजय, भद्रबाहु और स्थूलभद्र ये छह श्रुतकेवली माने जाते हैं स्थूलभद्रको श्रुतकेवलियोंमें नहीं गिननेसे श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार भी पाँच श्रुतकेवली माने गये हैं। देखिये जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्यमें भारतीय समाज, पृ० १७-२०।

२. गोम्मटसार जीव. १० टीका।

३. पातंजल योगसूत्र १–२४,५१ भाष्य।

४. मज्झिमनिकाय ब्रह्मायुसुत्त।

५. दीपंकर, कोण्ड, मंगल, सुमनस, रेवत, सोभित, अनोमदस्सिन्, पदुम, नारद, पदुमुत्तर, सुमेध, सुजात, पियदस्सिन्, अत्थदस्सिन्, धम्मदस्सिन्, सिद्धत्थ, तिस्स, पुस्स, विपस्सिन्, सिखिन्, वेस्सभू, ककुसंध, कोणागमन और कस्सप।

६. देखिये कर्न (Kern) की Mannual of Buddhism अ. ३ पृ. ६०; तथा सद्धर्मपुण्डरीक अ. २४; बोधिचर्यावतार, बोधिचित्तपरिग्रह नामक तृतीय परिच्छेद।

श्लो. १ पृ. ६ पं. ६ : अतिशय—

सहज अतिशय, कर्मक्षयज अतिशय और देवकृत अतिशय—ये भगवान्के तीन मूल अतिशय माने गये हैं। इन तीन अतिशयोंके उत्तरभेद मिलाकर अतिशयोंके कुल चौंतीस[1] भेद होते हैं। श्वेताम्बर मान्यताके अनुसार सहज अतिशयके चार, कर्मक्षयज अतिशयके ग्यारह, और देवकृत अतिशयके उन्नीस भेद स्वीकार किये गये हैं—

सहज अतिशय	कर्मक्षयज अतिशय	देवकृत अतिशय
१ सुन्दर रूपवाला, सुगन्धित, नीरोग, पसीना और मल रहित शरीर।	१ योजन मात्र समवशरणमें कोडाकोडि मनुष्य, देव और तिर्यंचोंका समा जाना।	१ आकाशमें धर्मचक्रका होना।
२ कमलके समान सुगन्धित श्वासोछ्वास।	२ एक योजन तक फैलनेवाली भगवान्की अर्धमागधी वाणीका मनुष्य, तिर्यञ्च और देवताओं-द्वारा अपनी-अपनी भाषामें समझ लेना।	२ आकाशमें चमरोंका होना।
३ गौके दूधके समान स्वच्छ और दुर्गन्ध रहित मांस और रुधिर।	३ सूर्यप्रभासे भी तेज सिरके पीछे भामंडलका होना।	३ आकाशमें पादपीठ सहित उज्ज्वल सिंहासन।
४ चर्मचक्षुओंसे आहार और नीहारका न दिखना।	४ सौ योजन तक रोगका न रहना।	४ आकाशमें तीन छत्र।
	५ वैरका न रहना।	५ आकाशमें रत्नमय धर्मध्वज।
	६ ईति अर्थात् धान्य आदिको नाश करनेवाले चूहों आदिका अभाव।	६ सुवर्ण-कमलोंपर चलना।
	७ महामारी आदिका न होना।	७ समवशरणमें रत्न, सुवर्ण और चाँदीके तीन परकोट।
	८ अतिवृष्टि न होना।	८ चतुर्मुख उपदेश।
	९ अनावृष्टि न होना।	९ चैत्य अशोक वृक्ष।
	१० दुर्भिक्ष न पड़ना।	१० कण्टकोंका अधोमुख होना।
	११ स्वचक्र और परचक्रका भय न होना।	११ वृक्षोंका झुकना।
		१२ दुन्दुभि बजना।
		१३ अनुकूल वायु।
		१४ पक्षियोंका प्रदक्षिणा देना।
		१५ गंधोदककी वृष्टि।
		१६ पांच वर्णोंके पुष्पोंकी वृष्टि।
		१७ नख और केशोंका नहीं बढ़ना।
		१८ कमसे कम एक कोटि देवोंका पासमें रहना।
		१९ ऋतुओंका अनुकूल होना।

दिगम्बर मान्यताके अनुसार दस सहज अतिशय, दस कर्मक्षयज अतिशय और चौदह देवकृत अतिशय माने गये हैं। अतिशयोंकी मान्यतामें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओंके अनुसार पाठभेद पाया जाता है।

जैनेतर ग्रन्थोंमें भी इस प्रकारके विचार मिलते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद्में[2] लघुता, आरोग्य, स्थिरता, वर्णप्रसाद, स्वरकी सुन्दरता, शुभ गन्ध तथा मूत्र और मलका अल्प मात्रामें होना, यह

---

१. समवायांग सूत्र और कुन्दकुन्दके नियमसारमें चौंतीस अतिशयोंके नाम आते हैं। तथा देखिये जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्यमें भारतीय समाज, पृ० ३४३ आदि।

२. श्वेताश्वतर उ० २-१३।

योगकी प्रथम अवस्था कही गई है। पतंजलिके योगसूत्र और व्यासभाष्यमें भूत-भविष्यत् पदार्थोंको जानना, अदृश्य हो जाना, योगी पुरुषकी निकटतामें क्रूर प्राणियोंका वैर भाव छोड़ देना, हाथीके समान बल, सम्पूर्ण भुवनका ज्ञान, भूख और प्यासका अभाव, एक शरीरका दूसरे शरीरमें प्रवेश, आकाशमें विहार, वज्रसंहनन, अजरामरता आदि अनेक प्रकारकी विभूतियाँ बताई गई हैं।[1]

बौद्ध ग्रन्थोंमें आकाशमें पक्षीकी तरह उड़ना, संकल्पमात्रसे दूरकी वस्तुओंको पासमें ले आना, मनके वेगके समान गति होना, दिव्य नेत्र और दिव्य चक्षुओंसे सूक्ष्म और दूरवर्ती पदार्थोंको जानना आदि ऋद्धियोंका वर्णन मिलता है।[2] जिस समय बोधिसत्व तुषित लोकसे च्युत होकर माताके गर्भमें आते हैं, उस समय लोकमें महान प्रकाश होता है, और दससाहस्री लोकधातु कंपित होती है। बोधिसत्वके माताके गर्भमें रहनेके समय चार देवपुत्र उपस्थित होकर चारों दिशाओंमें बोधिसत्व और बोधिसत्वकी माताकी रक्षा करते हैं। बोधिसत्वकी माताको गर्भावस्थामें कोई रोग नहीं रहता। माता बोधिसत्वको अंग-प्रत्यंग सहित देखती है, और बोधिसत्वको खड़े-खड़े जन्म देती है। जिस समय श्लेष्म, रुधिर आदिसे अलिप्त बोधिसत्व गर्भसे बाहर निकलते हैं, उस समय उन्हें पहले देव लोग ग्रहण करते हैं। बोधिसत्वके उत्पन्न होनेके समय आकाशसे गर्म और शीतल जलकी धाराएँ गिरती हैं, जिनसे बोधिसत्व और उनकी माताका प्रक्षालन किया जाता है। उस समय आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा होती है और मन्द, सुगन्ध वायु बहती है।[3]

ईसामसीहके जन्मके समय भी सम्पूर्ण प्रकृतिका स्तब्ध होना, देवोंका आगमन आदि वर्णन बाइबिलमें आता है।

श्लोक ५ पृ. १८ पं. ६ : एवं व्योमापि उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकः

जैनदर्शनके अनुसार जो वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त हो, उसे सत् अथवा द्रव्य कहते हैं। इसीलिए जैनदर्शनकारोंने 'अप्रच्युत, अनुत्पन्न और स्थिर रूप' नित्यका लक्षण स्वीकार न कर 'पदार्थके स्वरूपका नाश नहीं होना' (तद्भावाव्ययं नित्यं) नित्यका लक्षण माना है। इस लक्षणके अनुसार जैन आचार्योंके मतसे प्रत्येक द्रव्यमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाये जाते हैं। आत्मा पूर्व भवको छोड़कर उत्तर भव धारण करती है, और दोनों अवस्थाओंमें वह समान रूपसे रहती है, इसलिए आत्मामें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सिद्ध हो जाते हैं। पुद्गल और काल द्रव्यमें भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका होना स्पष्ट है। जीव, पुद्गल और कालकी तरह जैन सिद्धान्तके अनुसार धर्म, अधर्म और आकाश जैसे अमूर्त द्रव्योंमें भी स्वप्रत्यय और परप्रत्ययसे उत्पाद और व्यय माना गया है। स्वप्रत्यय उत्पादको समझनेके पहले कुछ जैन पारिभाषिक शब्दोंका ज्ञान आवश्यक है।

१ प्रत्येक पदार्थमें अनंत गुण हैं। इन अनन्त गुणोंमें प्रत्येक गुणमें अनन्त अनन्त अविभागी गुणांश हैं। यदि द्रव्यमें गुणांश नहीं माने जाँय, तो द्रव्यमें छोटापन, बड़ापन आदि विभाग नहीं किया जा सकता। इन अविभागी गुणांशोंको अविभागी प्रतिच्छेद कहते हैं। २ द्रव्यमें जो अनन्त गुण पाये जाते हैं, इन अनंत गुणोंमें अस्तित्व, द्रव्यत्व, वस्तुत्व, अगुरुलघुत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व–ये छह सामान्य गुण मुख्य हैं। जिस शक्तिके निमित्तसे एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूपमें अथवा एक शक्ति दूसरी शक्तिरूपमें नहीं बदलती, उसे अगुरुलघु गुण कहते हैं। ३ अविभागी प्रतिच्छेदोंके छह प्रकारसे कम होने और बढ़नेको छहगुणी हानिवृद्धि कहते हैं। अनंत

---

१. पतंजलि—योगसूत्र विभूतिपाद; तथा देखिये यशोविजय-योगमाहात्म्यद्वात्रिंशिका।

२. अभिधर्मकोश ७-४० से आगे।

३. मज्झिमनिकाय–अच्छरियधम्मसुत्त, पृ० ५१० राहुल सांकृत्यायन; अश्वघोष–बुद्धचरित सर्ग १; तथा देखिये निदानकथा; ललितविस्तर आदि।

भागवृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि, संख्यात भागवृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि, असंख्यात गुणवृद्धि, और अनंत गुणवृद्धि; तथा अनंत भागहानि, असंख्यात भागहानि, संख्यात भागहानि, संख्यात गुणहानि, असंख्यात गुणहानि और अनंत गुणहानि-यह षट्स्थानपतित हानिवृद्धि[1] कही जाती है।

जिस समय धर्म, अधर्म और आकाशमें अपने-अपने अगुरुलघु गुणके अविभागी प्रतिच्छेदोंमें उक्त छह प्रकारकी हानि-वृद्धिके द्वारा परिणमन होता है, उस समय धर्म, अधर्म और आकाशमें उत्पाद और व्यय होता है। जिस समय धर्म, अधर्म और आकाशमें अगुरुलघु गुणकी पूर्व अवस्थाका त्याग होता है, उस समय व्यय, और जिस समय उत्तर अवस्थाकी उत्पत्ति होती है, उस समय उत्पाद होता है।[2] तथा द्रव्यकी अपेक्षा धर्म, अधर्म और आकाश सदा निष्क्रिय और नित्य हैं, इसलिये इनमें ध्रौव्य रहता है। धर्म आदि द्रव्योंमें उत्पाद और व्यय अपने-अपने अगुरुलघु गुणके परिणमनसे होता है, इसलिये इसे स्वप्रत्यय उत्पाद कहते हैं। जिस समय स्वयं अथवा किसी दूसरेके निमित्तसे जीव और पुद्गल धर्म, अधर्म और आकाशके एक प्रदेशको छोड़कर दूसरे प्रदेशके साथ संबद्ध होते हैं, उस समय धर्म आदि द्रव्योंमें परप्रत्यय उत्पाद और व्यय कहा जाता है।

सिद्धसेन दिवाकरने सन्मतितर्कमें उत्पाद और व्ययके प्रायोगिक (प्रयत्नजन्य) और वैस्रसिक (स्वाभाविक) दो भेद किये हैं। प्रयत्नजन्य उत्पादमें भिन्न-भिन्न अवयवोंके मिलनेसे पदार्थोंका समुदाय रूप उत्पाद होता है, इसलिये इसे समुदायवाद कहते हैं। यह उत्पाद किसी एक द्रव्यके आश्रयसे नहीं होता, इसलिये यह अपरिशुद्ध नामसे भी कहा जाता है। सामुदायिक उत्पादकी तरह व्यय भी सामुदायिक होता है। सामुदायिक उत्पाद और व्यय मूर्त द्रव्योंमें ही होते हैं। वैस्रसिक उत्पाद और व्ययके दो भेद हैं—सामुदायिक और ऐकत्विक। बादल आदिमें जो बिना प्रयत्नके उत्पत्ति और नाश होता है, उसे वैस्रसिक समुदयकृत उत्पाद-व्यय कहते हैं। तथा धर्म, अधर्म और आकाश अमूर्त द्रव्योंमें दूसरे द्रव्योंके साथ मिलकर स्कंध रूप धारण किये बिना जो उत्पाद और व्यय होता है, उसे वैस्रसिक ऐकत्विक उत्पाद-व्यय कहते हैं। धर्म, अधर्म और आकाशमें यह उत्पाद-व्यय अनेकांतसे परनिमित्तक होता है।[3]

श्लोक ६ पृ. ३१ पं. १२ : अपुनर्बन्ध—

"जो जीव मिथ्यात्वको छोड़नेके लिये तत्पर और सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिये अभिमुख होता है," उसे अपुनर्बंधक कहते हैं। अपुनर्बंधकके कृपणता, लोभ, याञ्चा, दीनता, मात्सर्य, भय, माया और मूर्खता—इन भवानन्दी दोषोंके नष्ट होनेपर शुक्ल पक्षके चन्द्रमाके समान औदार्य, दाक्षिण्य आदि गुणोंमें वृद्धि होती जाती है। अपुनर्बंधकके गुरु, देव आदिका पूजन, सदाचार, तप और मुक्तिसे अद्वेष रूप 'पूर्वसेवा' मुख्य रूपसे होती है। अपुनर्बंधक जीव, शान्तचित्त और क्रोध आदिसे रहित होते हैं, तथा जिस तरह भोगी पुरुष सदा अपनी स्त्रीका चिन्तन करता रहता है, उसी तरह वे सतत संसारके स्वभावका विचार करते रहते हैं। उसके कुटुम्ब आदिमें प्रवृत्ति करते रहनेपर भी उसकी प्रवृत्तियाँ बंधका कारण नहीं होतीं।

---

१. षट्स्थानपतित हानिवृद्धिके स्पष्टीकरणके लिये गोम्मटसार जीवकांड; प्रवचनसारोद्धार गा. ४३२ द्वा. २६०; पं. गोपालदासजी कृत जैनसिद्धांतदर्पण आदि ग्रन्थ देखने चाहिये।

२. क्रियानिमित्तोत्पादाभावेऽपि एषां धर्मादीनामन्यथोत्पादः कल्प्यते। तद्यथा द्विविधः उत्पादः स्वनिमित्तः परप्रत्ययश्च। स्वनिमित्तस्तावत् अनंतानामगुरुलघुगुणानामागमप्रामाण्यादभ्युपगम्यमानानां षट्स्थानपतितया वृद्धया हान्या च वर्तमानानां स्वभावादेषामुत्पादो व्ययश्च। सर्वार्थसिद्धि पृ० १५१।

३. देखिये सन्मतितर्क ३–३२,३३; द्रव्यानुयोगतर्कणा ९–२४,२५; शास्त्रवार्त्तासमुच्चय ७–१ यशोविजय-टीका; तत्त्वार्थभाष्य ५-२९ टीका पृ. ३८३-५।

अपुनर्बंधक वितर्कप्रधान होता है, और इसके क्रमसे कर्म और आत्माका वियोग होकर इसे मोक्ष मिलता है।[1]

श्लो० ९ पृ० ७१ पं० १० : प्रदेश—

पुद्गलके सबसे छोटे अविभागी हिस्सेको परमाणु कहते हैं। यह परमाणु कारणरूप[2] अंत्यद्रव्य कहा जाता है। परमाणु नित्य, सूक्ष्म और किसी एक रस, गंध, वर्ण और दो स्पर्शोंसे सहित होता है। परमाणु आकाशके जितने प्रदेशको घेरता है, उसे जैन शास्त्रोंमें प्रदेश कहा गया है। प्रदेशके दूसरे अंशोंकी कल्पना नहीं हो सकती। जैन सिद्धांतमें धर्म, अधर्म और जीव द्रव्योंमें असंख्यात, कालमें अनन्त, पुद्गलमें संख्यात, असंख्यात, अनंत और कालमें एक प्रदेश माने गये हैं। पुद्गल द्रव्यके प्रदेश पुद्गल-स्कंधसे अलग हो सकते हैं, इसलिये पुद्गलके सूक्ष्म अंशोंको अवयव कहा जाता है। पुद्गल द्रव्यके अतिरिक्त अन्य द्रव्योंके सूक्ष्म अंश अपने-अपने स्कंधोंसे पृथक् नहीं हो सकते, इसलिये अन्य द्रव्योंके सूक्ष्म अंशोंको प्रदेश नामसे कहा गया है।[3] धर्म, अधर्म, आकाश, काल और मुक्त जीव सदा एक समान अवस्थित रहते हैं, इसलिये इनके प्रदेशोंमें अस्थिरता नहीं होतो। पुद्गल द्रव्यके परमाणु और स्कंध अस्थिर, तथा अंतिम महास्कंध स्थिर और अस्थिर दोनों होते हैं।

यद्यपि जीव द्रव्य अखंड है, फिर भी वह असंख्यात प्रदेशी है। जैन दर्शनकी मान्यता है कि जिस प्रकार गुड़के ऊपर बहुत-सी धूल आकर इकट्ठी हो जाती है, उसी प्रकार एक-एक आत्माके प्रदेशके साथ अनंतानंत ज्ञानावरण आदि कर्मोंके प्रदेशोंका संबंध होता है। संसारी जीवोंके प्रदेश चलायमान रहते हैं। ये प्रदेश तीन प्रकारके होते है। विग्रह गतिवाले जीवोंके प्रदेश सदा चल होते हैं, अयोगकेवलीके प्रदेश सदा अचल होते हैं, और शेष जोवोंके आठ प्रदेश अचल और बाकी प्रदेश चल होते हैं। यदि जीवमें प्रदेशोंकी कल्पना न की जाय, तो जिस तरह निरंश परमाणुका किसी मूर्तमान द्रव्यके साथ संबंध नहीं हो सकता, उसी तरह आत्माका भी मूर्तिमान शरीरसे संबंध नहीं हो सकता। अतएव जिस समय अमूर्त आत्मा लोकाकाशके प्रदेशोंके बराबर होकर भी मूर्त कर्मोंके संबंधसे कार्माण शरीरके निमित्तसे सूक्ष्म शरीरको धारण करता है, उस समय सूखे चमड़ेकी[4] तरह आत्माके प्रदेशोंमें संकोच होता है, और जिस समय यह आत्मा सूक्ष्म शरीरसे स्थूल शरीरको प्राप्त करता है, उस समय जलमें तेलकी तरह आत्माके प्रदेशोंमें विस्तार होता है। अतएव आत्मा अमूर्त होकर भी संकोच और विस्तार होनेकी अपेक्षा शरीरके परिमाण[5] माना जाता है। यदि आत्माको अचेतन द्रव्योंके विकारसे रहित सर्वथा अमूर्त माना जाय, तो आत्मामें ध्यान, ध्येय आदिका व्यवहार नहीं हो सकता, तथा आत्माको मोक्ष भी नहीं मिल सकता। अतएव शक्तिकी अपेक्षा आत्माको

---

१. देखिये हरिभद्रकृत योगबिन्दु ११५ से आगे; तथा यशोविजय—अपुनर्बन्धद्वात्रिंशिका।

२. अकलंक आदि दिगम्बर विद्वानोंने परमाणुको कथंचित् कार्यरूप भी माना है। देखिये तत्त्वार्थराजवर्तिक ५-२५-५।

३. अतएव च भेदः प्रदेशानामवयवानां च, ये न जातुचिद् वस्तुव्यतिरेकेणोपलभ्यन्ते ते प्रदेशाः। ये तु विशकलिताः परिकलितमूर्तयः प्रज्ञापथमवतरन्ति तेऽवयवा इति। तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति ५-६, पृ० ३२८।

४. शुष्कचर्मवत् प्रदेशानां संहारः। तस्यैव बादरशरीरमधितिष्ठतो जले तैलवद्विसर्पणम् विसर्पः। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ५-१६।

५. तुलनीय —यथा क्षुरः क्षुरधाने हितः स्याद्विश्वंभरो वा विश्वंभरकुलाये।
एवमेवैष प्राज्ञ आत्मेदं शरीरमनुप्रविष्ट आलोमेभ्यः आनखेभ्यः—
अर्थात् जिस प्रकार छुरा अपने घर (क्षुराधान) और अग्नि चूल्हा, अंगीठी आदि अपने स्थानमें व्याप्त होकर रहते हैं, उसी तरह नखोंसे लगाकर बालों तक यह आत्मा शरीरमें व्याप्त है ! कौषीतकी उ० ४-१९।

अमूर्त मानकर भी व्यक्तिको अपेक्षा आत्माको मूर्त ही मानना चाहिये।[1] इसलिये निश्चयनयसे आत्मा लोकके बराबर असंख्यात प्रदेशोंका धारक है, और व्यवहार नयकी अपेक्षा संकोच और विस्तारवाला है।

इस विषयका स्पष्टीकरण करते हुए अन्य स्थलोंपर जैनशास्त्रोंमें आत्माको नैयायिक, मीमांसक आदि दर्शनोंकी तरह प्रदेशोंकी अपेक्षा व्यापक न मान ज्ञानकी अपेक्षा व्यवहार नयसे व्यापक[2] माना गया है। इस सिद्धांतकी रामानुजके सिद्धांतसे तुलना की जा सकती है। रामानुज आचार्यके सिद्धान्तमें भी आत्माको ज्ञानकी अपेक्षा संकोच और विकासशील माना गया है। इस मतमें वास्तवमें अणु-परिमाण[3] आत्मामें संकोच-विकास नहीं होता, किन्तु आत्माके कर्मबंधकी अवस्थामें संकोच और विकास होता है। विकासकी उत्कृष्ट सीमा कर्मबंधसे रहित मोक्ष अवस्थामें ही हो सकती है। न्यायकन्दलीकार श्रीधर आचार्यने भी आत्माको सर्वव्यापक मानकर आत्माके बुद्धि आदि गुणोंका शरीरमें ही अस्तित्व माना है।[4]

श्लो. ९ पृ. ७५ पं. १ : केवलीसमुद्घात—

वेदनीय, नाम और गोत्र कर्मकी स्थितिसे आयु कर्मकी स्थिति कम रह जानेपर वेदनीय आदि और आयु कर्मोंकी स्थिति बराबर करनेके लिए समुद्घात क्रिया की जाती है। समुद्घात करनेसे अन्तर्मुहूर्त पहले शुभोपयोग रूप 'आवर्जीकरण' नामकी एक दूसरी क्रिया होती है। इस क्रियाको श्वेताम्बर साहित्यमें 'आयोजिकाकरण' और 'आवश्यककरण' नामसे भी कहा गया है।[5] केवलीसमुद्घातके प्रथम समयमें आत्माके प्रदेश अपनी देहके बराबर स्थूल दण्डके आकार होते हैं। आत्मप्रदेशोंका यह आकार लोकके ऊपरसे नीचे तक चौदह रज्जूपरिमाण होता है। ये आत्मप्रदेश दूसरे समयमें पूर्व और पश्चिममें कपाट (किवाड़) के आकारके हो जाते हैं। तीसरे समयमें इन प्रदेशोंका आकार फैलकर मन्थान (मथनी) के समान हो जाता है। चौथे समयमें ये समस्त लोकमें व्याप्त हो जाते हैं। इसके बाद पाँचवें, छठे, सातवें और आठवें समयमें आत्माके प्रदेश क्रमसे मन्थान, कपाट, दण्डके आकार होकर पूर्ववत् अपने शरीरके बराबर हो जाते हैं। जिस समय मोक्ष प्राप्त करनेमें एक अन्तर्मुहूर्तका समय बाकी रह जाता है, उस समय केवली समुद्घात करते हैं। रत्नशेखरसूरि आदि विद्वानोंके मतमें जिस जीवकी आयु छह महीनेसे अधिक है, यदि उसे केवलज्ञान हो जाय, तो वह जीव निश्चयसे समुद्घात करता है। तथा अन्य केवलियोंके समुद्घात करनेके संबंधमें कोई नियम नहीं है।[6] जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने इस मतका विरोध किया है।[7] समुद्घात करनेके पश्चात् केवली

---

१. शक्त्या विभुः स इह लोकमितप्रदेशो, व्यक्त्या तु कर्मकृतसौवशरीरमानः।
यत्रैव यो भवति दृष्टगुणः स तत्र कुम्भादिवद्विशदमित्यनुमानमत्र॥
यशोविजय—न्यायखंडखाद्य।

२. निश्चयनयतो लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशप्रमाणः। वा शब्देन तु स्वसंवित्तिसमुत्पन्नकेवलज्ञानोत्पत्तिप्रस्तावे ज्ञानापेक्षया व्यवहारनयेन लोकालोकव्यापकः। न च प्रदेशापेक्षया नैयायिकमीमांसकसांख्यमतवत्। ब्रह्मदेव—द्रव्यसंग्रहवृत्ति गा० १०।

३. स्वयमपरिच्छिन्नमेव ज्ञानं संकोचविकासार्हमित्युपपादयिष्यामः। अतः क्षेत्रज्ञावस्थायां कर्मणा संकुचित-स्वरूपं तत्तत्कर्मानुगुणतरतमभावेन वर्तते। श्रीभाष्य १-१-१। प्रो० ध्रुव—स्याद्वादमंजरी पृ० ११६ नोट्स।

४. पीछे देखिये, पृ० ६८।

५. पं० सुखलालजी—चौथा कर्मग्रन्थ, पृ० १५५।

६. यः षण्मासाधिकायुष्को लभते केवलोद्गमम्।
करोत्यसौ समुद्घातमन्ये कुर्वन्ति वा न वा॥ गुणस्थानक्रमारोहण ९४।

७. कम्मलहुयाए समओ भिन्नमुहुत्तावसेसओ कालो॥
अन्ने जहन्नमेयं छम्मासुक्कोसमिच्छंति॥
तं नाणंतरसेलेसिवयणओ जं च पाडिहेराणं।
पच्चप्पणमेव सुए इहरा गहणंपि होज्जाहि॥ विशेषावश्यक भा. ३०४८, ३०४९।

मन, वचन, कायका निरोध करके शैलेशीकरण करता हुआ अयोगी होकर पाँच ह्रस्व अक्षरोंके उच्चारण करनेके समय मात्रमें मोक्ष प्राप्त करता है।

हेमचन्द्र[1], यशोविजय आदि विद्वानोंने उपनिषद, गीता आदि वैदिक ग्रन्थोंमें आत्मव्यापकताका अपने सिद्धांतसे समन्वय करके इसे आत्मगौरवका सूचक कहकर सम्मानित किया है।[2]

कर्मोंकी स्थितिको शीघ्र भोगनेके लिये जैनसिद्धांतमें समुद्घात क्रियासे मिलती जुलती पातंजल योग-दर्शनमें[3] सोपक्रम आयुके विपाकमें बहुकायनिर्माण क्रिया मानी गई है। यद्यपि सामान्य नियमके अनुसार, विना भोगे हुए कर्म करोड़ों कल्पोंमें भी क्षय नहीं हो सकते[4], परन्तु जिस प्रकार गीले वस्त्रको फैलाकर सुखानेमें वस्त्र बहुत जल्दी सूख जाता है, अथवा जिस प्रकार सूखे हुए घासमें अग्नि डालनेसे हवाके अनुकूल होनेपर घास बहुत जल्दी जलकर भस्म हो जाती है, उसी प्रकार जिस समय योगी एक शरीरसे कर्मके फलको भोगनेमें असमर्थ होता है, उस समय वह संकल्प मात्रसे बहुतसे शरीरोंका निर्माण कर ज्ञान-अग्निसे कर्मोंका नाश करता है। इसीको योगशास्त्रमें बहुकायनिर्माणद्वारा सोपक्रम आयुका विपाक कहा है। इन बहुतसे शरीरोंमें कभी योगी लोग एक ही अन्तःकरणसे प्रवृत्ति करते हैं। वायुपुराणमें भी जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणोंको वापिस खींच लेता है, उसी प्रकार एक शरीरसे एक, दो, तीन आदि अनेक शरीरोंको उत्पन्न करके इन शरीरोंको पीछे खींचनेका उल्लेख है।[5]

श्लो. ९ पृ. ७५ पं. २ : लोक—

जैनधर्मके अनुसार ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोक ये लोकके तीन विभाग किये गये हैं। यह लोक चौदह राजू ऊंचा है। मूलसे सात राजूकी ऊंचाई तक अधोलोक, और एक लाख चालीस योजन सुमेरु पर्वतकी ऊंचाईके समान ऊंचा मध्यलोक है। मेरुकी जड़के नीचेसे अधोलोक आरंभ होता है। अधोलोकमें रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमोप्रभा, महातमप्रभा नामके सात नरक हैं। इन नरकोंमें नारकी जीव रहते हैं। इनमें ४९ पटल हैं। नरकोंमें छेदन, भेदन आदि महान् भयंकर कष्ट सहने पड़ते हैं। नरकमें अकाल मृत्यु नहीं होती। अधोलोकसे ऊपर एक राजू लम्बा, एक राजू चौड़ा और एक लाख चालीस योजन ऊंचा मध्यलोक है। मध्यलोकके बीचमें एक लाख योजनके विस्तारवाला जम्बूद्वीप है। जम्बूद्वीपको चारों ओरसे

---

१. देखिये योगशास्त्र। तथा, लोकपूरणश्रवणादेव हि परेषामात्मविभुत्ववादः समुद्भूतः। तथा चार्थवादः—"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतः पात्" इत्यादि। तथा चासौ भवति समीकृतभवोपग्राहिकर्मा विरलीकृतार्द्रशाटिकादिज्ञातेन क्षिप्रं तच्छोपोपपत्तेः। शास्त्रवार्त्तासमुच्चय ९-२१ टीका।

२. देखिए पं. सुखलालजी—चौथा कर्मग्रन्थ पृ. १५६।

३. पाद ४ सू. २२, तथा पाद ४ सू. ४, ५ का भाष्य और टीका; पं. सुखलालजी—चौथा कर्मग्रन्थ पृ. १५६। तथा तुलनीय—तत्त्वार्थभाष्य २–१५।

४. तुलनीय यशोविजय—क्लेशहानोपाय-द्वात्रिंशिका; तथा—समाधिसमृद्धिमाह।त्स्यात्प्रारब्धकर्मव्यतिरिच्यमानानां कृत्स्नामेव कर्मणां विभिन्नविपाकसमयानामपि कायव्यूहेष्वेकदा भोगेन जीवात्ममहत्त्वं साधयता क्षयाभ्युपगमेनैव व्याकुप्येत यतो निरुक्ता भगवती श्रुतिः "अचिन्त्यो हि समाधिप्रभावः"। पं. बालकृष्ण मिश्र प्रणीत न्यायसूत्रवृत्ति पर विषमस्थल तात्पर्यविवृति पृ. २१-२२।

५. एकस्तु प्रभुशक्त्या वै बहुधा भवतीश्वरः।
भूत्वा यस्मात्तु बहुधा भवत्येकः पुनस्तु सः॥
तस्माच्च मनसो भेदा जायन्ते चैत एव हि। वायुपु. ६६–१४३।
एकधा स द्विधा चैव त्रिधा च बहुधा पुनः॥
योगीश्वरः शरीराणि करोति विकरोति च।
प्राप्नुयाद्विषयान्कैश्चित् कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत्॥
संहरेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव। वायुपु. ६६–१५२।

बेड़े हुए लवणसमुद्र, लवणसमुद्रको धातकीखंड, धातकीखंडको कालोदधिसमुद्र, और कालोदधिको बेड़े हुए पुष्करद्वीप है। इसी प्रकार आगे आगे एक दूसरेको बेड़े हुए दूने-दूने विस्तारवाले असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। अंतमें स्वयंभूरमण समुद्र है। जम्बूद्वीपमें भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं। इन क्षेत्रोंमें गंगा, सिन्धू आदि चौदह नदियां बहती हैं। मनुष्यलोकमें पन्द्रह कर्मभूमि और तीस भोगभूमि हैं। ज्योतिष्क देव भी मध्य लोकमें ही निवास करते हैं। सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, और तारे ये ज्योतिष्क देवों के पांच भेद हैं। मेरुसे ऊर्ध्वलोकके अन्त तक के क्षेत्रको ऊर्ध्वलोक कहते हैं। ऊर्ध्वलोकमें बारह स्वर्ग (दिगम्बरों की प्रचलित मान्यताके अनुसार सोलह स्वर्ग) होते हैं। इन स्वर्गोंके ऊपर नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश[1] और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि ये पांच अनुत्तर विमान हैं। सर्वार्थसिद्धिके ऊपर लोकके अंतमें एक राजू चौड़ी, सात राजू लम्बी, आठ योजन मोटी ईषत्प्राग्भार नामक पृथिवी है। इस पृथिवीके वीचमें पैंतालीस लाख योजन चौड़ी, मध्यमें आठ योजन मोटी सिद्धशिला है। इस सिद्धशिलाके ऊपर तनुवातवलयमें मुक्त जीव निवास करते हैं।

ब्राह्मण पुराणोंमें भूलोक, अन्तरीक्षलोक और स्वर्गलोक ये तीन मुख्य लोक माने गये हैं। इनमें स्वर्गलोकके महर्लोक, जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक ये चार भेद मिलानेसे सात लोक होते हैं। अवीचि नामके नरकसे लगाकर मेरुके पृष्ठभाग तक भूलोक कहा जाता है। अवीचि नरकके ऊपर महाकाल, अम्बरीष, रौरव, महारौरव, कालसूत्र, अंधतामिस्र ये छह नरक हैं।[2] इन नरकोंके ऊपर महातल, रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल, और पाताल ये सात पाताल हैं।[3] इस आठवीं भूमिपर जम्बू, प्लक्ष, शाल्मल, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर ये सात द्वीप हैं। ये सात द्वीप लवण, सुरा, सर्पि, दधि, दुग्ध, और स्वच्छ जल नामक सात समुद्रोंसे परिवेष्टित हैं। मेरुके पृष्ठसे लेकर ध्रुव तक ग्रह, नक्षत्र और तारोंसे युक्त अन्तरीक्षलोक है। इसके ऊपर पांच स्वर्गलोक हैं। पहला माहेन्द्र स्वर्ग है। इस स्वर्गमें त्रिदश, अग्निष्वात्त, याम्य, तुषित, अपरिनिर्मित, वशवर्ती ये छह प्रकारके देव रहते हैं, जो औपपातिक देहको धारण करते हैं। इसके ऊपर महर्लोक नामके दूसरे स्वर्गमें पांच प्रकारके देव रहते हैं, जो ध्यान मात्रसे तृप्त हो जाते हैं और जिनकी हजार कल्पकी आयु होती है। तीसरा स्वर्ग ब्राह्म स्वर्ग कहा जाता है। इस स्वर्गके जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक तीन विभाग हैं। जनलोकमें चार प्रकारके, तपोलोकमें तीन प्रकारके, और सत्यलोकमें चार प्रकारके देव रहते हैं।[5]

बौद्धोंके शास्त्रोंमें नरकलोक, प्रेतलोक, तिर्यक्लोक, मानुषलोक, असुरलोक और देवलोक ये छह लोक माने गये हैं। ये लोक कामधातु, रूपधातु और अरूपधातु इन तीन विभागोंमें विभक्त हैं। सबसे नीचे नरकलोक है। संजीव, कालसूत्र, संघात, रौरव, महारौरव, तपन, प्रतापन और अवीचि ये आठ मुख्य नरक हैं। इन नरकोंकी लंबाई, चौड़ाई और उँचाई दस हजार योजन है। अवीचि नामका नरक सबसे भयंकर है। इस नरकमें अन्तकल्पकी आयु होती है। नरकोंमें गाढ़ अन्धकार रहता है, और वहांके जीवोंको नाना प्रकारके दारुण दुख सहने पड़ते हैं। मानुषलोकमें जम्बू, पूर्वविदेह, अवरगोदानीय और उत्तरकुरु ये चार महाद्वीप हैं। ये महाद्वीप मेरु, युगन्धर आदि आठ पर्वतोंको परिक्षेपण करते हैं, और इन पर्वतोंके बीचमें सात

---

१. तत्त्वार्थभाष्य आदि ग्रंथोंमें अनुदिशोंका उल्लेख नहीं।

२. नरकोंके विस्तृत वर्णनके लिए देखिये मार्कण्डेयपु. १२–३–३९। मार्कण्डेयपुराणमें सात नरकोंके नाम निम्न प्रकारसे हैं–रौरव, महारौरव, तम, निकृन्तन, अप्रतिष्ठ, असिपत्रवन और तप्तकुंभ।

३. पातालोंके वर्णनके लिये देखिये पद्मपु. पातालखण्ड १, २, ३; विष्णुपुराण अ. २, ५।

४. द्वीप-समुद्रोंके विशेष वर्णनके लिये देखिये भागवत ५–६, १७, १८; तथा पद्मपु. भूमिखण्ड, भूगोलवर्णन अ. १२८।

५. स्वर्गके वर्णनके लिये देखिये नृसिंहपु. अ. ३०; पद्मपु. स्वर्गखण्ड। कौषीतकी उपनिषद्में बताया गया है कि जीव अग्निलोक, वायुलोक, वरुणलोक आदित्यलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोकमें से होकर ब्रह्मलोकमें जाता है। ब्रह्मलोकके वर्णन के लिये देखिये १–२ से आगे।

नदियां बहती हैं। कामधातुमें चातुर्महाराजिक, त्रयस्त्रिंश, याम, तुषित, निर्माणरति, परिनिर्मित और वशवर्ती ये छह प्रकारके देव रहते हैं। इन देवोंमें पहले और दूसरे प्रकारके देव परस्परके संयोगसे और बाकीके देव क्रमसे आलिंगन, हाथका संयोग, हास्य और अवलोकन करनेसे कामका भोग करते हैं। रूपधातुके देवोंमें अहोरात्रिका व्यवहार नहीं होता। अरूपधातुके देव चार प्रकारके होते[1] हैं।

श्लो. ११ पृ. ९० पं. ५ : भवतामपि जिनायतनादिविधाने—

राग-द्वेष युक्त असावधान प्रवृत्तिके द्वारा प्राणोंके नाश करनेको जैन शास्त्रोंमें हिंसा कहा है। संक्षेपमें हिंसाके द्रव्यहिंसा और भावहिंसा ये दो भेद हैं। किसी जीवके अत्यन्त यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करनेपर भी यदि उससे सूक्ष्म प्राणियोंका घात हो जाता है, तो वह जीव द्रव्यहिंसा करके भी हिंसक नहीं कहा जा सकता। तथा यदि कोई जीव कषाय आदिके वशीभूत होकर जीवोंको मारनेका संकल्प करता है, परन्तु वह 'जीवोंको द्रव्य रूपसे नहीं मारता तो भी उसे हिंसक कहा गया है। इसीलिये कहा है कि "यह जीव दूसरे जीवोंके प्राणोंको नाश करके भी पापसे युक्त नहीं होता," "तथा जीवोंका नाश हो, अथवा नहीं, लेकिन अयत्नाचारसे प्रवृत्ति करता हुआ यह जीव अवश्य ही हिंसक कहा जाता है।"[2] अतएव जैन शास्त्रोंमें गृहस्थको केवल संकल्पसे होनेवाली हिंसाको छोड़नेका उपदेश दिया है। इसलिये पाक्षिक श्रावकको अपनी श्रद्धाके अनुसार जिनमंदिर, जिनविहार आदि बनानेका विधान है। यद्यपि जिनमंदिर आदिके बनानेमें आरंभजन्य हिंसा होती है, परन्तु इससे महान पुण्यका ही बंध होता है[3]। जिस प्रकार कोई वैद्य रोगीकी चिकित्सा करते समय रोगीको होनेवाले दुखके कारण पापका उपार्जन न करता हुआ पुण्यका ही भागी होता है, इसीतरह जैन मंदिर, जैन मठ, जैन धर्मशाला, जैन वाटिकागृह आदि बनानेसे जीवोंका महान कल्याण होता है, इसलिये जैन मंदिर आदिके निर्माण करानेमें शास्त्रीय दृष्टिसे दोष नहीं है।

श्लो. ११ पृ. ९९ पं. १२ : आधाकर्म—

जैन शास्त्रोंमें मुनियोंके लिये निर्दोष आहार ग्रहण करनेका विधान किया गया है। साधारणतः यह आहार छियालीस प्रकारके दोषोंसे और आधाकर्म (अधःकर्म) से रहित होना चाहिए। आहार ग्रहण करनेके समय आधाकर्मको महान दोष कहा गया है। आधाकर्ममें प्राणियोंकी विराधना होती है, इसलिये अधोगतिका कारण होनेसे इसे आधाकर्म कहा जाता है। अथवा मुनिके निमित्तसे बनाये हुए भोजनमें पांच सूनाओंसे

---

१. विस्तृत विवरणके लिये देखिये अभिधर्मकोश 'लोकधातुनिर्देश' नामक तृतीय कोशस्थान; अभिधम्मत्थ संगहो, परि. ५।

२. (अ) वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते
शिवं च न परोपमर्दपुरुषस्मृतेर्विद्यते।
वधाय न यमभ्युपैति च परान्न निघ्नन्नपि।
त्वयायमतिदुर्गमः प्रथमहेतुरुद्योतितः॥ सिद्धसेन—द्वा. द्वात्रिंशिका ३–१६।
(आ) मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बन्धो हिंसामित्तेण समिदस्स॥ सर्वार्थसिद्धि पृ २०५।
(इ) यत्नतो जीवरक्षार्थं तत्पीडापि न दोषकृत्।
अपीडनेऽपि पीडैव भवेदयतनावतः॥ यशोविजय—धर्मव्यवस्था द्वात्रिंशिका २९।

३. यद्यप्यारम्भतो हिंसा हिंसाया पापसंभवः।
तथाप्यत्र कृतारंभो महत्पुण्यं समश्नुते॥
निरालम्बनधर्मस्य स्थितिर्यस्मात्ततः सताम्।
मुक्तिप्रासादसोपानमाप्तैरुक्तो जिनालयः॥ आशाधर—सागारधर्मामृत २–३५ टिप्पणी।

प्राणियोंकी हिंसा होती है, इसलिये इसे आधाकर्म कहते हैं।[1] यह सामान्य नियम है। परन्तु यदि कोई मुनि रोग आदिके कारण अपने संयमका निर्वाह करनेमें असमर्थ हो गया है तो आपत्कालमें उस मुनिको शास्त्रमें उद्दिष्ट भोजन ग्रहण करनेकी भी आज्ञा दी गई है। यदि आधाकर्मको सर्वथा अधोगतिका कारण मानकर उससे एकान्त रूपसे कर्मबंध[2] माना जाय, तो मुनिको भोजन न मिलनेके कारण मुनिका आर्तध्यानके द्वारा प्राणान्त होना संभव है। उदाहरणके लिये, जिस मुनिकी आंख दुख रही है, वह मुनि पृथ्वीको देखकर न चल सकनेके कारण त्रस जीवोंकी हिंसा नहीं बचा सकता। वैसे ही यदि रोगादिके कारण साधु उद्दिष्ट भोजनका त्याग नहीं कर सकता तो वह दोषका भागी नहीं है। यदि आपत्कालमें भी इस प्रकारका अपवाद नियम न बनाया जाय तो क्लेशित परिणामोंसे आर्तध्यानसे मरकर साधुको दुर्गतिमें जाना पड़े, इससे और भी अधिक पापका बंध हो। अतएव रोगादिके कारण असामान्य परिस्थितिके उत्पन्न होने पर साधुको आधा-कर्म—उद्दिष्ट भोजन ग्रहण—करनेकी आज्ञा शास्त्रोंमें दी गई है।[3] इसी प्रकार सामान्यतः शास्त्रोंमें मुनिके लिये नवकोटिसे विशुद्ध आहार ग्रहण करनेकी आज्ञा है, लेकिन यदि मुनि किसी आपदासे ग्रस्त हो जाय तो वह केवल पांच कोटिसे शुद्ध आहार ग्रहण करके अपना जीवन यापन कर सकता है।

श्लो. २३ पृ. २०४ पं० ४ : द्रव्यषट्कं

जैन दर्शनकारोंने जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छहं द्रव्य[4] स्वीकार किये हैं। इन छह द्रव्योंमें काल द्रव्यको छोड़कर बाकीके पांच द्रव्योंको पंच अस्तिकायके नामसे कहा जाता है। कुछ श्वेताम्बर विद्वान् काल द्रव्यको द्रव्योंमें नहीं गिनते। इसलिये उनके मतमें पांच अस्तिकाय ही पांच द्रव्य माने गये हैं।[5]

काल शब्द बहुत प्राचीन है। वैदिक विद्वान् अघमर्षण ऋग्वेदमें[6] काल शब्दको 'संवत्सर' के अर्थमें प्रयुक्त करते हैं। यहाँ कालको सृष्टिका संहार करनेवाला कहा गया है। अथर्ववेदमें कालको नित्य पदार्थ माना है, और इस नित्य पदार्थसे प्रत्येक वस्तुकी उत्पत्ति स्वीकार की गई है।[7] बृहदारण्यक[8], मैत्रायण[9] आदि उपनिषदोंमें भी काल शब्दको विविध अर्थोंमें प्रयुक्त किया है। महाभारतमें कालका विस्तृत वर्णन पाया जाता है।[10] यहां काल शब्दको दिष्ट, दैव, हठ, भव्य भवितव्य, विहित, भागधेय आदि अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त किया गया है।

वैदिक और बौद्ध दर्शनोंमें काल संबंधी दो प्रकारकी मान्यतायें दृष्टिगोचर होती हैं : (१) न्याय वैशेषिकोंका मत है कि काल एक सर्वव्यापी अखंड द्रव्य है। यह केवल उपाधिसे भिन्न-भिन्न क्षण, मुहूर्त आदिके रूप में प्रतीत होता है। पूर्वमीमांसकोंने भी कालको व्यापक और नित्य स्वीकार किया है। इनके मतमें जिस

---

१ अतएवाधोगतिनिमित्तं कर्माधःकर्मेत्यन्वर्थोऽपि घटते। तदेतदधःकर्म गृहस्थाश्रितो निकृष्टव्यापारः। अथवा सूनाभिरङ्गिहिंसनं यत्रोत्पाद्यमाने भक्तादौ तदधःकर्मेत्युच्यते। आशाधर—अनगारधर्मामृत ५-३ वृत्ति।

२ आहाकम्माणि भुंजंति अण्णमण्णे सकम्मुणा।
उवलित्तेत्ति जाणिज्जा णुवलित्तेत्ति वा पुणो॥ अभिधानराजेन्द्रकोष, भाग २ पृ. २४२।

३ विशेषके लिये देखिए अभिधानराजेन्द्रकोष, भाग २ पृ. २१९–२४२।

४ वैशेषिकों द्वारा मान्य छह पदार्थ हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय।

५ भगवती २५-४; उत्तराध्ययन २८-७,८; प्रज्ञापना आदि श्वेताम्बर आगम ग्रंथोंमें काल द्रव्य संबंधी दोनों पक्ष मिलते हैं।

६ १०-१९०।

७ १९-५३, ५४।

८ ४-४-१६।

९ ६-१५।१० देखिये।

१० डा० सिद्धेश्वर शास्त्री का कालचक्र पृ. ३९-४८। काल संबंधी वैदिक मान्यताओंके विस्तृत विवेचनके लिए देखिये प्रोफेसर बरुआकी Pre-Buddhist Philosophy भाग ३ अ. १३। कालवादियोंके मतके खण्डनके लिए माध्यमिककारिका, सन्मतिटीका आदि ग्रंथ देखने चाहिये।

प्रकार वर्ण नित्य और व्यापक होकर भी दीर्घ, ह्रस्व आदिके रूपसे भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, उसी तरह काल भी उपाधिके भेदसे भिन्न मालूम देता है। सर्वास्तिवादी बौद्ध भी भूत, भविष्य और वर्तमान कालका अस्तित्व मानते हैं (२) काल संबंधी दूसरी मान्यताको माननेवाले सांख्य, योग, वेदान्त, विज्ञानवाद और शून्यवाद मतके अनुयायी हैं। इन लोगोंके अनुसार काल कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं है। सांख्य विद्वान् विज्ञानभिक्षुका कथन है कि नित्यकाल प्रकृतिका गुण है, और खण्डकाल आकाशकी उपाधियोंसे उत्पन्न होता है। योगशास्त्रमें कहा है कि काल कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है, केवल लौकिक व्यवहारके लिये दिन, रात आदिका विभाग किया जाता है। यहां केवल क्षणको काल नामसे कहा गया है। यह क्षण उत्पन्न होते ही नाश हो जाता है, और फिर दूसरा क्षण उत्पन्न होता है। क्षणोंका समुदाय एक कालमें नहीं हो सकता, इस लिये क्षणों के क्रमरूप जो काल माना जाता है, वह केवल कल्पित है। शांकर वेदान्ती केवल ब्रह्मको ही सत्य मानते हैं इसलिये इनके मतमें काल भी काल्पनिक वस्तु है। शंकरकी तरह रामानुज, निम्बार्क, मध्व और वल्लभ सम्प्रदायवालोंने भी कालको वास्तविक पदार्थ स्वीकार नहीं किया। शांतरक्षित[1] आदि बौद्ध आचार्य भी काल द्रव्यका पृथक् अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। पाश्चात्य विद्वान् भी उक्त काल संबंधी दोनों सिद्धांतोंको मानते हैं।

जैन ग्रन्थोंमें काल संबंधी उक्त दोनों प्रकारकी मान्यतायें उपलब्ध होती हैं : (१) एक पक्षका कहना है कि काल कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं है। जीव और अजीव द्रव्योंकी पर्यायके परिणमनको ही उपचारसे काल कहा जाता है, इसलिये जीव, अजीव द्रव्योंमें ही काल द्रव्य गर्भित हो जाता है।[2] (२) जैन विद्वानोंका दूसरा मत है कि जीव और अजीवकी तरह काल भी एक स्वतंत्र द्रव्य है। इस पक्षका कहना है कि जिस प्रकार जीव और अजीवमें गति और स्थितिका स्वभाव होनेपर भी धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायको पृथक् द्रव्य माना जाता है, उसी प्रकार कालको भी स्वतंत्र द्रव्य मानना चाहिये। यह मान्यता श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों ग्रंथोंमें मिलती है[3]।

जैन शास्त्रोंमें काल संबंधी मान्यता

सामान्य रूपसे जैन शास्त्रोंमें कालके दो भेद माने हैं—निश्चयकाल (द्रव्य रूप) और व्यवहारकाल (पर्यायरूप)। जिसके कारण द्रव्योंमें वर्तना होती है, उसे निश्चयकाल कहते हैं। जिस प्रकार धर्म और अधर्म पदार्थोंकी गति और स्थितिमें सहकारी कारण हैं, उसी प्रकार काल भी स्वयं प्रवर्तमान द्रव्योंकी वर्तनामें सहकारी कारण है। जिसके कारण जीव और पुद्गलमें परिणाम, क्रिया, छोटापन, बड़ापन आदि व्यवहार हों, उसे व्यवहारकाल कहते हैं। समय, आवली, घड़ी, घंटा आदि सब व्यवहारकालका ही रूप है। व्यवहारकाल निश्चयकालकी पर्याय है, और यह जीव और पुद्गलके परिणामसे ही उत्पन्न होता है, इसलिये व्यवहारकालको जीव और पुद्गलके आश्रित माना गया है।

---

१. तत्त्वसंग्रह पृ. २०९।

२. अत्राहुः केऽपि जीवादिपर्याया वर्तनादयः।
काल इत्युच्यते तज्ज्ञैः पृथग् द्रव्यं तु नास्त्यसौ ॥ लोकप्रकाश २८–५।
दिगम्बर ग्रंथोंमें काल द्रव्यको स्वीकार न करनेका पक्ष कहीं उपलब्ध नहीं होता। परन्तु ध्यान देने योग्य है कि यहां व्यवहार कालको निश्चय कालकी पर्याय स्वीकार करके व्यवहार कालको जीव और पुद्गलका परिणाम माननेका उल्लेख मिलता है—यस्तु निश्चयकालपर्यायरूपो व्यवहारकालः स जीवपुद्गलपरिणामेनाभिव्यज्यमानत्वात्तदायत्त एवाभिगम्यत इति। अमृतचन्द्र-पंचास्तिकाय टीका गा. २३।

३. इस पक्षकी चार मान्यताओंका उल्लेख पं० सुखलालजीने 'पुरातत्व' के किसी अंकमें किया है— (क) काल एक और अणुमात्र है; (ख) काल एक है, लेकिन वह अणुमात्र न होकर मनुष्य क्षेत्र लोकवर्ती है; (ग) काल एक और लोकव्यापी है; (घ) काल असंख्य हैं, और सब परमाणुमात्र हैं।

व्यवहारकाल मनुष्य क्षेत्रमें ही होता है। निश्चयकाल द्रव्य रूप होनेसे नित्य है, और व्यवहारकाल क्षण-क्षणमें नष्ट होनेके कारण पर्यायरूप होनेसे अनित्य कहा जाता है। कालद्रव्य अणुरूप है। पुद्गल द्रव्यकी तरह कालद्रव्यके स्कंध नहीं होते। जितने लोकाकाशके प्रदेश होते हैं, उतने ही कालाणु होते हैं। ये एक-एक कालाणु गति रहित होनेसे लोकाकाशके एक-एक प्रदेशके ऊपर रत्नोंकी राशिकी तरह अवस्थित हैं। कालद्रव्यके अणु होनेसे कालमें एक ही प्रदेश रहता है, इसलिये काल द्रव्यमें तिर्यक्-प्रचय न होनेसे कालको पांच अस्तिकायोंमें नहीं गिना[1]। आकाशके एक स्थानमें मन्द गतिसे चलनेवाला परमाणु लोकाकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेश तक जितने कालमें पहुँचता है, उसे समय कहते हैं। यह समय बहुत सूक्ष्म होता है, और प्रतिक्षण उत्पन्न और नष्ट होनेके कारण इसे पर्याय कहते हैं। एक-एक कालाणुमें अनंत समय होते हैं। ये कालाणुके अनंत समय व्यवहार नयकी अपेक्षा समझने चाहिये, वास्तवमें कालद्रव्य (निश्चयकाल) लोकाकाशके बराबर असंख्य प्रदेशोंका धारक[2] है, उसे आकाश आदिकी तरह एक और पुद्गलकी तरह अनंत नहीं मान सकते। यह मत दिगम्बर ग्रन्थोंमें और हेमचन्द्रके योगशास्त्रमें[3] मिलता है।

---

१. प्रो. ए. चक्रवर्तीने काल द्रव्यकी इस मान्यताकी आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तसे तुलना की है—

The author differentiates between relative time and absolute time. The distinction is quite identical with Newtonian distinction between relative and absolute time........The author not only admits the reality of time but also recognises its potency. In this respect one is reminded of the great French philosopher Bergson. Bergson has revealed to the world that time is a potent factor in the evolution of Cosmos...........It is also worth noticing that modern realist led by the mathematical Philosophers admits the doctrine that time is real and is made up of instants or moments. Panchastikayasara पृ० १०५, १०९, २२।

२. श्वेताम्बर सम्प्रदायमें कालाणुके असंख्य प्रदेश नहीं माने गये हैं। कालाणुओंके असंख्यात प्रदेशोंका खंडन युक्तिप्रबोध आदिमें किया गया है—

यत्तु कालाणूनामसंख्यातत्वं मतान्तरीयैः प्रपन्नं तदनुपपन्नं। द्रव्यत्वव्याहतेः। यद् यद् द्रव्यं तदेकमनन्तं वा। यदुक्तमुत्तराध्ययनसूत्रे—

'धम्मो अहम्मो आगासं दव्वं एक्केक्कमाहियं।
अणंताणि य दव्वाणि कालो पोग्गलजंतुणो ॥'

प्रत्याकाशप्रदेशं तन्मते कालाणुस्वीकारे शेषद्रव्याणामिवैतदीयस्तिर्यक्प्रचयोऽपि स्यात्। स चानिष्टः। यतो गोम्मटसारवृत्तौ सूत्रे च—

दव्वच्छक्कमकालं पंचत्थिकायसण्णियं होई।
काले पदेसए चउ जम्मा णत्थित्ति णिद्दिट्ठं ॥ ६०६ ॥

कालद्रव्ये प्रदेशप्रचयो नास्तीत्यर्थः। न च अप्रदेशत्वान्न तिर्यक्प्रचय इति वाच्यं। पुद्गलस्यापि तदभावप्रसंगात्। प्रदेशमात्रत्वं अप्रदेशमिति तल्लक्षणस्य तत्रापि विद्यमानत्वात्। अथ पुद्गलस्यास्ति अप्रदेशत्वं द्रव्येण परं पर्यायेण तु अनेकप्रदेशत्वमप्यस्ति। कालस्य तु नैतदिति चेत्। न। अनेनापि प्रसंगापराकरणात्। न हि निर्धूमत्वेन पर्वतेऽग्निमत्त्वे प्रसज्यमाने यत्किंचिद्धर्माभावे तदभावः प्रतीयते इति स्थितं तिर्यक्प्रचयप्रसंगेन। न चैतत् समयद्रव्याणामानन्त्येऽपि तुल्यं। तदानन्त्यस्य अतीतानागतापेक्षया स्वीकारात्। यदुक्तमुत्तराध्ययने—'एमेव संतइं पप्प' इति। तद्वृत्तौ वादिवेतालापरनामधेयाः श्रीशांतिसूरयोऽप्याहुः—'कालस्यानन्त्यमतीतानागतापेक्षया' इति। श्रीभगवतीवृत्तौ श्रीअभयदेवसूरयोऽपि—एको धर्मास्तिकायप्रदेशोऽद्धासमयैः स्पृष्टश्चेन्नियमादनन्तैः अनादित्वादाद्धसमयानाम्' इति। मेघविजयगणि–युक्तिप्रबोध गा. २३ पृ. १८९।

३. मेघविजयगणि योगशास्त्रमें वर्णन किये हुए काल द्रव्यके सिद्धांतसे श्वेताम्बर मान्यताका समन्वय करते हैं—

एतेन योगशास्त्रावान्तरश्लोकेषु—"लोकाकाशप्रदेशस्था भिन्नाः कालाणवस्तु ये ।

शंका—समय रूप ही निश्चयकाल है, इसको छोड़कर कालाणु द्रव्यरूप कोई निश्चय काल नहीं देखा जाता। समाधान—समय कालकी ही पर्याय है, क्योंकि वह उत्पन्न और नाश होनेवाला है। जो पर्याय होता है, वह द्रव्यके विना नहीं होता। जिस प्रकार घट रूप पर्यायका कारण मिट्टी है, उसी तरह समय, मिनिट, घंटा आदि पर्यायोंके कारण कालाणु रूप निश्चय कालको मानना चाहिये।[1]

शंका—समय, मिनिट आदि पर्यायोंका कारण द्रव्य नहीं है, किन्तु समयकी उत्पत्तिमें मन्दगतिसे जाने वाले पुद्गल-परमाणु ही समय आदिका कारण हैं। जिस प्रकार निमेषरूप काल पर्यायकी उत्पत्तिमें आंखोंके पलकोंका खुलना और बन्द होना कारण है, इसी तरह दिनरूप पर्यायकी उत्पत्तिमें सूर्य कारण है। समाधान—हमेशा कारणके समान ही कार्य हुआ करता है। यदि आंखोंका खुलना और बन्द होना तथा सूर्य आदि निमेष तथा दिन आदिके उपादान कारण होते, तो जिस प्रकार मिट्टीके बने हुए घड़ेमें मिट्टीके रूप, रस आदि गुण आ जाते हैं, उसी तरह आंखोंका खुलना, बन्द होना आदि पुद्गल परमाणुओंके गुण निमेष आदिमें आ जाने चाहिये। परन्तु निमेष आदिमें पुद्गलके गुण नहीं पाये जाते। इसलिये समय आदिका कारण निश्चयकालको मानना चाहिये।

शंका—यदि आप कालाणु द्रव्योंको लोकाकाशव्यापी मानकर उन्हें लोकाकाशके बाहर अलोकाकाशमें व्याप्त नहीं मानते, तो आकाश द्रव्यमें किस प्रकार परिवर्तन होता है? समाधान—लोकाकाश और अलोकाकाश दो अलग अलग द्रव्य नहीं हैं। वास्तवमें आकाश एक अखंड द्रव्य है, केवल उपचारसे लोकाकाश और अलोकाकाशका व्यवहार होता है। अतएव जिस प्रकार एक स्पर्शन इंद्रियको विषयसुखका अनुभव होनेसे वह अनुभव सम्पूर्ण शरीरमें होता है, उसी तरह कालाणु द्रव्यके लोकाकाशमें एक स्थानपर रहकर सम्पूर्ण आकाशमें परिणमन होता है, इसलिये काल द्रव्यसे आलोकाकाशमें भी परिणमन सिद्ध होता है।[2]

शंका—कालद्रव्य धर्म, अधर्म आदि द्रव्योंकी तरह निरवयव अखंड क्यों नहीं? कालद्रव्यको अणु रूप क्यों माना है? समाधान—काल दो प्रकारका है—व्यवहार और मुख्य। मुख्यकाल अनेक हैं, कारण कि आकाशके प्रत्येक प्रदेशोंमें व्यवहारकाल भिन्न भिन्न रूपसे होता है। यदि व्यवहारकालको आकाशके प्रत्येक

भावानां परिवर्ताय मुख्यः कालः स उच्यते ॥
ज्योतिःशास्त्रे यस्य मानमुच्यते समयादिकम् ।
स व्यावहारिकः कालः कालवेदिभिरामतः ॥
नवजीर्णादिभेदेन यदमी भुवनोदरे ।
पदार्थाः परिवर्त्तन्ते तत्कालस्यैव चेष्टितम् ॥
वर्तमाना अतीतत्वं भाविनो वर्तमानतां ।
पदार्थाः प्रतिपद्यन्ते कालक्रीडाविडम्बिताः ॥"

इत्यादिना कालाणवः परस्परं विविक्ताः प्रतिपादितास्ते पर्यायरूपा इत्युक्तं। न तु तेषां द्रव्यरूपत्वं। अनंतसमयस्वरूपत्वेन तद्विशेषणस्य सूत्रणात्। आगमेऽपि अनंतद्रव्यत्वेन कथनाच्च। यद्यनंतसमयाः द्रव्यसमया इत्यर्थः तदा व्याहतिः स्पष्टैव, कालाणूनां द्रव्यत्वे तेषामसंख्यातत्वात्। युक्तिप्रबोध गा. २३ पृ. १९५; द्रव्यानुयोगतर्कणा ११-१५।

---

१. द्रव्यतस्तु लोकाकाशप्रदेशपरिमाणकोऽसंख्येय एव कालो मुनिभिः प्रोक्तो न पुनरेक एवाकाशादिवत्। नाप्यनंतः पुद्गलात्मद्रव्यवत् प्रतिलोकाकाशप्रदेशं वर्तमानानां पदार्थानाम् वृत्तिहेतुत्वसिद्धेः। त. श्लोकवार्तिक ५-४०। तुलनीय-न च कालद्रव्यस्य समय इति परिभाषा न युक्ता, समयस्य पर्यायत्वादिति वाच्यं। श्वेताशाम्बरद्वयनयेऽपि सांमत्यात्। यदुक्तं तत्त्वदीपिकायां प्रवचनसारवृत्तौ श्रीअमृतचन्द्रैः—'अनुत्पन्नविध्वस्तो द्रव्यसमयः, उत्पन्नप्रध्वंसी पर्यायसमयः'। युक्तिप्रबोध गा. २३ पृ. १८९।

२. विशेष के लिये देखिये द्रव्यसंग्रह २१, २२, २५ गाथाकी वृत्ति; द्रव्यानुयोगतर्कणा ११-१४ से आगे; युक्तिप्रबोध, कालद्रव्यप्रकरण।

प्रदेशमें भिन्न-भिन्न न माना जाय, तो कुरुक्षेत्र, लंका आदिके आकाश-प्रदेशोंमें दिन आदिका व्यवहार नहीं हो सकता। इसलिये व्यवहारकालके आकाशके प्रदेशोंमें भिन्न-भिन्न होनेसे निश्चयकाल भी कालाणु रूपसे भिन्न-भिन्न सिद्ध होता है। क्योंकि निश्चयकालके बिना व्यवहारकाल नहीं होता।[1]

श्लोक. २३ पृ. २०६, पं. ७ द्वादशांग—

श्रुतके दो भेद हैं—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। सर्वज्ञ भगवान्‌के कहे हुए प्रवचनके गणधरों द्वारा शास्त्र रूपमें लिखे जानेको अंगप्रविष्ट कहते हैं। इसके बारह भेद हैं। इसे ही द्वादशांग[2] कहते हैं। द्वादशांगको गणिपिटक भी कहा जाता है। जैन द्वादशांगके मूल उपदेष्टा ऋषभदेव माने जाते हैं। द्वादशांग—आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति), ज्ञातृधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरोपपादिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद। दिगम्बरोंकी मान्यताके अनुसार आगम-साहित्य लुप्त हो गया है। श्वेताम्बर आम्नायमें दृष्टिवादको छोड़कर ग्यारह अंग आजकल भी उपलब्ध हैं।

आचारांग—इसे सामयिक नामसे भी कहा गया है। इसमें निर्ग्रंथ एवं निर्ग्रंथिनियोंके आचारका वर्णन है। इसमें दो श्रुतस्कंध हैं। प्रथम श्रुतस्कंधमें आठ और द्वितीय श्रुतस्कंधमें सोलह अध्ययन हैं। द्वितीय श्रुतस्कंधमें महावीरका जीवनचरित्र है। आचारांग सूत्र सब सूत्रोंसे प्राचीन है। इस अंगको प्रवचनका सार भी कहा जाता है। इसके ऊपर भद्रबाहुकी निर्युक्ति, जिनदासगणि महत्तरकी चूर्णी, और शीलांककी टीका है।

सूत्रकृतांग—सूत्रकृतांगमें साधुओंकी चर्या और अहिंसा आदिका वर्णन है। इसमें क्रियावादी, अक्रियावादी, वैनयिक, अज्ञानवादी आदि अनेक मतोंकी समीक्षाके साथ ब्राह्मणोंके यज्ञ-याग आदिकी निन्दा की गई है; यह अंग ऐतिहासिक महत्त्वका है। इसमें दो श्रुतस्कंध हैं। प्रथम श्रुतस्कंध श्लोकोंमें है; इसमें सोलह अध्ययन हैं। द्वितीय श्रुतस्कंध गद्यमें है; इसमें सात अध्ययन हैं। इसपर भद्रबाहुकी निर्युक्ति, जिनदासगणि महत्तरकी चूर्णी और शीलांककी टीका है। दिगम्बरोंके अनुसार इसमें ज्ञान, विनय, प्रज्ञापना आदि व्यवहारधर्मकी क्रियाओंका वर्णन है।

स्थानांग—इसमें बौद्धोंके अंगुत्तरनिकायकी तरह एकसे लेकर दस तक जीव आदिके स्थान बताये गये हैं। इसमें द्रव्योंके स्वरूप आदिका विस्तृत वर्णन है। स्थानांगमें दस अध्याय हैं। इसपर नवांगवृत्तिकार अभयदेवसूरिकी टीका है। दिगम्बरोंके अनुसार इस अंगमें दसकी मर्यादा नहीं है।

समवायांग—इसमें एकसे लगाकर कोड़ाकोड़ि स्थान तककी वस्तुओंका वर्णन है। यहाँ बारह अंग और चौदह पूर्वोंका वर्णन मिलता है। इस अंगमें अठारह प्रकारकी लिपि, उनतीस पापश्रुत, उत्तराध्ययनके

---

१. प्रमेयकमलमार्त्तंड परि. ४ पृ. १६९।

२. द्वादशांगमें बारह उपांग, दस प्रकीर्णक, छह छेदसूत्र, दो चूलिकासूत्र और चार मूलसूत्रको मिलानेसे श्वेताम्बरोंके कुल ४६ आगम होते हैं। बारह उपांग—१ औपपातिक, २ राजप्रश्नीय, ३ जीवाजीवाभिगम, ४ प्रज्ञापना, ५ सूर्यप्रज्ञप्ति, ६ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ७ चन्द्रप्रज्ञप्ति, ८ निरयावलिया, ९ कल्पावतंसिका, १० पुष्पिका, ११ पुष्पचूलिका, १२ वृष्णिदशा। दस प्रकीर्णक—१ चतुःशरण, २ आतुरप्रत्याख्यान, ३ भक्तपरिज्ञा, ४ संस्तार, ५ तंदुलवैचालिक, ६ चंदाविज्झय, ७ देवेन्द्रस्तव, ८ गणिविद्या, ९ महाप्रत्याख्यान, १० वीरस्तव। छह छेदसूत्र—१ निशीथ, २ महानिशीथ, ३ व्यवहार, ४ आचारदशा, (दशाश्रुतस्कंध अथवा दशा), ५ बृहत्कल्प, ६ पंचकल्प (जीतकल्प)। चूलिकासूत्र—१ अनुयोगद्वार, २ नन्दिसूत्र। चार मूलसूत्र—१ उत्तराध्ययन, २ आवश्यक, ३ दशवैकालिक, ४ पिंडनिर्युक्ति (ओघनिर्युक्ति)। श्वेताम्बर स्थानकवासी ३२ आगम मानते हैं।

छत्तीस अध्ययन तथा नन्दिसूत्रका उल्लेख जान पड़ता है। कि यह सूत्र द्वादशांगके सूत्रबद्ध होनेके बाद लिखा गया है। इसपर अभयदेवसूरिकी टीका है। दिगम्बरोंके अनुसार इसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके अनुसार पदार्थोंके सादृश्यका (समवाय) कथन है।

भगवती—इसे व्याख्याप्रज्ञप्ति भी कहते हैं। इस सूत्रमें ४१ शतक हैं। इसमें श्रमण भगवान् महावीर और गौतम इन्द्रभूतिके बीच होनेवाले प्रश्नोत्तरोंका वर्णन है। इस अंगमें महावीरका जीवन, उनकी प्रवृत्ति, उनके शिष्य, उनके अतिशय आदि विषयोंका विशद वर्णन है। भगवतीमें पार्श्वनाथ, जामालि और गोशाल मक्खलिपुत्तके शिष्योंका वर्णन है। षोडश जनपदोंका यहाँ उल्लेख है। इसपर अभयदेवसूरिकी टीका है। दिगम्बरोंके अनुसार इसमें जीव है या नहीं, वह अवक्तव्य है अथवा वक्तव्य, आदि साठ हजार प्रश्नोंके उत्तर हैं।

ज्ञातृधर्मकथा—इसे संस्कृतमें ज्ञातृधर्मकथा, नाथधर्मकथा, तथा प्राकृतमें णायाधम्मकहा, णाणधम्मकहा और णाहधम्मकहा भी कहते हैं। इसमें उन्नीस अध्ययन और दो श्रुतस्कंध हैं। इसमें ज्ञातृपुत्र महावीरकी कथाओंका उदाहरण सहित वर्णन है। प्रथम श्रुतस्कंधके सातवें अध्यायमें पन्द्रहवें तीर्थंकर मल्लि-कुमारीकी और सोलहवेंअध्यायमें द्रोपदीकी कथा है। इसपर अभयदेवसूरिने टीका लिखी है। दिगम्बरोंके अनुसार इसमें तीर्थंकरोंकी कथायें अथवा आख्यान-उपाख्यानोंका वर्णन है।

उपासकदशा—इसके दस अध्ययनोंमें महावीरके दस उपासकों (श्रावकोंके)के आचारका वर्णन है। ये कथायें सुधर्मा जम्बूस्वामीसे कहते हैं। सातवें अध्यायमें गोशाल मक्खलिपुत्तके अनुयायी सद्दालपुत्तकी कथा आती है। सद्दालपुत्त आगे चलकर महावीरका अनुयायी हो गया था। उपासकदशामें अजातशत्रु राजाका उल्लेख आता है। इसपर अभयदेवकी टीका है। दिगम्बर ग्रन्थोंमें इसे उपासकाध्ययन कहा गया है।

अन्तकृद्दशा—इसमें दस अध्यायोंमें मोक्षगामी साधु और साध्विओंका वर्णन है। इसपर अभयदेवने टीका लिखी है। दिगम्बर ग्रन्थोंमें इस अंगमें प्रत्येक तीर्थंकरके तीर्थमें दारुण उपसर्ग सहकर मोक्ष प्राप्त करनेवाले दस मुनियोंका वर्णन है।

अनुत्तरोपपादिकदशा—इसमें अनुत्तर विमानोंको प्राप्त करनेवाले मुनियोंका वर्णन है। यहाँ कृष्णकी कथा मिलती है। इसपर भी अभयदेवकी टीका है।

प्रश्नव्यकरण—इसे प्रश्नव्याकरणदशा भी कहते हैं। इसमें दस अध्ययाय हैं। यहाँ पाँच आश्रवद्वार और पाँच संवरद्वारका वर्णन है। टीकाकार अभयदेवसूरि हैं। स्थानांग और नंदिसूत्रमें जो इस आगमका विषयवर्णन दिया गया है, उससे प्रस्तुत विषयवर्णन बिलकुल भिन्न है। दिगम्बरोंके अनुसार इसमें आक्षेप और विक्षेपसे हेतु-नयाश्रित प्रश्नोंका स्पष्टीकरण है।

विपाकसूत्र—इसे कम्मविवायदसाओ भी कहा गया है। इसमें बीस अध्ययन है। बहुतसे दुखी मनुष्योंको देखकर इन्द्रभूति महावीरसे उन मनुष्योंके पूर्वभवोंको पूछते हैं। महावीर मनुष्योंके सुख-दुखके विपाकका वर्णन करते है। इसमें दस कथा पुण्यफलकी, और दस कथायें पापफलकी पायी जाती हैं। इसपर अभयदेवसूरिकी टीका हैं।

दृष्टिवाद—इसमें अन्य दर्शनोंके ३६३ मतोंका वर्णन था। यह सूत्र लुप्त हो गया है। इसके संबंधमें अनेक परम्परायें जैन आगमोंमें उपलब्ध होती हैं। दिगम्बर परम्पराके अनुसार, इस अंगके कुछ अंशोंका उद्धार षट्खंडागम और कषायप्राभृतमें उपलब्ध है। चौदह पूर्व इसीमें गर्भित हैं। इसके पांच भेद हैं—परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका। श्वेताम्बरोंके अनुसार **परिकर्म**के सात भेद हैं—सिद्ध-सेणिआ, मणुस्ससेणिआ, पुट्ठसेणिआ, ओगाढ़सेणिआ, उपसंपज्जणसेणिआ, विप्पजहणसेणिआ, चुआचुअसेणिआ।

इसमें पहले दोके चौदह-चौदह, और बादके पांचके ग्यारह-ग्यारह अवान्तर भेद होनेसे परिकर्मके ८३ भेद होते हैं। दिगम्बर सम्प्रदायमें परिकर्मके पांच भेद किये गये हैं—चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसमुद्रप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति। **सूत्र** बाईस हैं। बाईस सूत्रोंके चार-चार भेद होनेसे सब सूत्र अठासी होते हैं। **पूर्वगत**के चौदह भेद हैं—उत्पाद, अग्रायणी, वीर्यप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यान, विद्यानुवाद, कल्याणवाद, प्राणवाद, क्रियाविशाल और लोकबिन्दुसार। **अनुयोग**के दो भेद हैं—मूल प्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोग। अनुयोगको दिगंबर ग्रंथोंमें प्रथमानुयोगके नामसे कहा है। **चूलिका**—श्वेतांबरोंके अनुसार चौदह पूर्वोमें ही चूलिका है। पहले पूर्वकी चार, दूसरे पूर्वकी बारह, तीसरेकी आठ और चौथे पूर्वकी दस चूलिकायें हैं। दिगम्बर ग्रंथोंमें चूलिकाके पाँच भेद मिलते हैं—जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता। स्त्रियोंको दृष्टिवाद पढ़नेका निषेध है।

अंगबाह्य—गणधरोंके बादमें होनेवाले आचार्य अल्प शक्तिवाले शिष्योंके लिये अंगबाह्यकी[1] रचना करते हैं। अंगबाह्य अनेक प्रकारका है। श्वेताम्बर ग्रंथोंमें अंगबाह्यके दो भेद हैं—आवश्यक और आवश्यकव्यतिरिक्त। आवश्यकके छह भेद हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। आवश्यकव्यतिरिक्तके दो भेद हैं—कालिक और उत्कालिक। उत्तराध्ययन आदि छत्तीस ग्रंथ कालिक, और दशवैकालिक आदि अट्ठाइस ग्रंथ उत्कालिक हैं। दिगम्बर ग्रंथोंमें अंगबाह्यके चौदह भेद हैं—सामायिक चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुंडरीक, महापुंडरीक और निषिद्धिका।

श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार सर्वप्रथम इन आगम-ग्रंथों का संग्रह महावीर-निर्वाण (ई० पू० ५२७) के लगभग १६० वर्ष पश्चात् (ईसवी सन् के पूर्व ३६७), स्थूलभद्रके अधिपतित्वमें पाटलिपुत्रमें होनेवाली परिषद्में किया गया था। उसके बाद लगभग ईसाकी छठी शताब्दिके आरंभमें देवर्धिगणिने वलभीमें इन्हें व्यवस्थित कर लिपिवद्ध किया। आगम-ग्रंथ एक समयमें नहीं लिखे गये हैं; भिन्न-भिन्न आगमोंका भिन्न-भिन्न समय है। इसलिये आगमका प्राचीनतम भाग महावीर-निर्वाण के लगभग डेढ़-सौ वरस बाद—ईसाके पूर्व चौथी शताब्दिके आरम्भमें, तथा आगमका सबसे अर्वाचीन भाग ईसाकी छठी शताब्दीके आरंभमें देवर्धिगणि क्षमाश्रमणके कालमें व्यवस्थित किया गया है।[2]

श्लोक २७ पृ० २४०, पं० ५ : प्राण—

प्राण शब्द वैदिक शास्त्रोंमें विविध अर्थोंमें प्रयुक्त किया गया है—कहीं प्राण शब्द का प्रयोग आत्माके अर्थमें, कहीं इन्द्रके अर्थमें, कहीं सूर्यके अर्थमें, और कहीं सामके अर्थमें। एक जगह उपनिषदोंमें प्राणको आत्माका कार्य कहा है, दूसरी जगह आत्मासे प्राणकी उत्पत्ति बताई गई है। कहीं प्राणको प्रज्ञा कहा गया है, और कहीं प्राण शब्दको मृत्युके पश्चात् जानेवाले सूक्ष्म शरीरका पर्यायवाची बताया है। वेदान्ती लोगोंने प्राणको ब्रह्मका पर्यायवाची माना है।

जैन सिद्धान्तमें 'प्राण' पारिभाषिक शब्द है। गोम्मटसार जीवकाण्डमें 'प्राण' अधिकार अलग है। जिसके द्वारा जीव जीता है, उसे प्राण कहा जाता है। प्राणके दो भेद हैं—द्रव्यप्राण और भावप्राण। आँखोंका खोलना, बंद करना, श्वासोच्छ्वास लेना, काय-व्यापार आदि बाह्य द्रव्यइन्द्रियोंके व्यापारको द्रव्यप्राण कहते हैं। तथा इन्द्रियावरणके क्षयोपशमसे होनेवाली चैतन्य रूप आत्माकी प्रवृत्तिको भावप्राण कहते हैं। प्राण दस होते हैं—पाँच इंद्रिय, मन, वचन और कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयु।

---

१. तत्त्वार्थभाष्यमें ऋषियोंके कहे हुए कपिल आदि प्रणीत ग्रंथोंको भी अंगबाह्य कहा गया है।

१. देखिये जगदीशचन्द्र जैन, प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३३–१०४।

एकेन्द्रिय जीवके चार, और संज्ञी पंचेंद्रियके बारहवें गुणस्थान तक दसों प्राण होते हैं। तेरहवें गुणस्थानमें वचन, श्वासोछ्वास, आयु और कायबल ये चार प्राण होते हैं। आगे चलकर इसी गुणस्थानमें वचनबलका अभाव होनेसे तीन, और श्वासोछ्वासका अभाव होनेसे दो प्राण रह जाते हैं। चौदहवें गुणस्थानमें कायबलका भी अभाव होनेसे केवल एक आयु प्राण अवशेष रह जाता है। सिद्ध जीवोंके मोक्षावस्थामें शरीर नहीं रहता, अतएव सिद्धोंके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आदि भावप्राण माने गये हैं। अतएव संसारी जीव द्रव्यप्राणोंकी अपेक्षा, और सिद्ध जीव भावप्राणोंकी अपेक्षासे जीव कहे जाते हैं।

श्लोक २८ पृ० २५१, पं० ८ : ज्ञानके भेद—

ज्ञानके दो भेद हैं—सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान। सम्यग्ज्ञानके दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। इन्द्रिय आदि सहायता के बिना केवल आत्माके अवलम्बनसे पदार्थोंके स्पष्ट जाननेको प्रत्यक्ष और इन्द्रिय आदिकी सहायता से पदार्थोंके अस्पष्ट ज्ञान करनेको परोक्ष ज्ञान कहते हैं[1]। प्रत्यक्ष ज्ञानके दो भेद हैं[2]—सांव्यवहारिक और पारमार्थिक। बाह्य इन्द्रिय आदिकी सहायता से उत्पन्न होनेवाले ज्ञानको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष[3] कहते हैं। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष दो प्रकारका है—इन्द्रियोंसे होनेवाला और मनसे होनेवाला। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष[4] और अनिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष दोनोंके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार-चार भेद हैं।[5] इन्द्रिय और मनके निमित्तसे दर्शनके बाद होनेवाले ज्ञानको अवग्रह कहते हैं। अवग्रह के जाने हुए पदार्थमें विशेष इच्छा रूप ज्ञानको ईहा कहते हैं; जैसे बगुलोंकी पंक्ति और पताकाको देखकर यह ज्ञान होना कि यह पताका होनी चाहिये। ईहाके बाद विशेष चिह्नोंसे पताकाका ठीक-ठीक निश्चितरूप ज्ञान होना अवाय (अपाय) है। तथा जाने हुए पदार्थको कालान्तरमें नहीं भूलना, धारणा है। अवग्रहके दो

---

१. जैनेतर दर्शनकारोंने इन्द्रियजनित ज्ञानको प्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय ज्ञानको परोक्ष कहा है।

२. नन्दिसूत्रमें प्रत्यक्षके इन्द्रिय प्रत्यक्ष और नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष ये दो भेद किये गये हैं। यहाँ पहले तो मतिज्ञानको इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अवधि आदि तीनको नोइंद्रिय प्रत्यक्षमें शामिल किया गया है, लेकिन आगे चलकर मतिज्ञानको श्रुतज्ञानकी तरह परोक्ष कहा गया है। अनुयोगद्वारसूत्रमें प्रत्यक्षके दो भेद करकेएक भागमें मतिज्ञानको और दूसरेमें अवधि आदि तीनको गर्भित किया गया है। देखिये पं० सुखलालजी—न्यायावतार-भूमिका (गुजराती)। तथा तुलनीय—अत्राह शिष्यः—"आद्ये परोक्षम्" इति तत्त्वार्थसूत्रे मतिश्रुतद्वयं परोक्षं भणितं तिष्ठति कथं प्रत्यक्षं भवति। परिहारमाह—तदुत्सर्गव्याख्यानम्। इदं पुनरपवादव्याख्यानम्। यदि तदुत्सर्गव्याख्यानम् न भवति तर्हि मतिज्ञानं कथं तत्त्वार्थे परोक्षं भणितं तिष्ठति। तर्कशास्त्रे सांव्यावहारिकं प्रत्यक्षं कथं जातं। यथा अपवादव्याख्यानेन मतिज्ञानं परोक्षमपि प्रत्यक्षज्ञानं तथा स्वात्माभिमुखं भावश्रुतज्ञानमपि परोक्षं सत्प्रत्यक्षं भण्यते। ब्रह्मदेव-द्रव्यसंग्रहवृत्ति ५।

३. सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष वास्तवमें परोक्ष ही है—तद्धीन्द्रियानिन्द्रियव्यवहितात्मव्यापारसंपाद्यत्वात्परमार्थतः परोक्षमेव धूमादग्निज्ञानवद् व्यवधानाविशेषात्। किं चासिद्धचनैकान्तिकविरुद्धानुमानाभासवत्संशयविपर्ययानध्यवसायसंभवात्सदनुमानवत्संकेतस्मरणादिपूर्वकनिश्चयसंभवाच्च परमार्थः परोक्षमेवैतत्। यशोविजय—जैनतर्कपरिभाषा पृ० ११४, भावनगर।

४. यहाँ यशोविजयजीने इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्षके मति और श्रुत दो भेद करके मतिज्ञानके अवग्रह आदि चार और श्रुतज्ञानके चौदह भेद किये हैं—तदेवं सप्रभेदं सांव्यवहारिकं मतिश्रुतलक्षणं प्रत्यक्षं निरूपितम्। जैनतर्कपरिभाषा।

५. उमास्वाति, पूज्यपाद, अकलंक आदि आचार्योंने मतिज्ञानके इन्द्रियजन्य और अनिन्द्रियजन्य ज्ञानके दो भेद करके मतिज्ञानके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद किये हैं।

भेद हैं—व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह। दर्शनके बाद अव्यक्त ग्रहणको व्यंजनावग्रह और व्यक्त ग्रहणको अर्थावग्रह कहते हैं। व्यंजनावग्रह चक्षु और मनसे नहीं होता, इसलिये वह शेष चार इन्द्रियोंसे ही होता है। अर्थावग्रह पाँच इन्द्रिय और मनसे होता है, इसलिये अर्थावग्रहके छह भेद, और व्यंजनावग्रहके चक्षु और मनको निकाल देनेसे चार भेद होते हैं। छह प्रकारके अर्थावग्रहकी तरह ईहा, अवाय और धारणाके भी छह-छह भेद हैं। इस प्रकार इन चौबीस भेदोंमें चार प्रकारका व्यंजनावग्रह मिला देनेसे मतिज्ञानके अठाईस भेद होते हैं। यह अठाईस प्रकारका मतिज्ञान बहु, एक, बहुविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, अनिस्सृत, निस्सृत, अनुक्त, उक्त, ध्रुव और अध्रुवके भेदसे बारह बारह प्रकारका है। अतएव अठाईसको बारहसे गुणा करनेसे इन्द्रिय और अनिन्द्रिय प्रत्यक्षके कुल ३३६ भेद होते हैं।

जो ज्ञान केवल आत्माकी सहायतासे हो, उसे पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं। पारमार्थिक प्रत्यक्ष क्षायोपशमिक (विकल) और क्षायिक (सकल) के भेदसे दो प्रकारका है। जो ज्ञान कर्मोंके क्षय और उपशमसे उत्पन्न होकर सम्पूर्ण पदार्थोंको जाननेमें असमर्थ हो, उसे क्षायोपशमिक कहते हैं। यह ज्ञान अवधि और मनपर्ययके भेदसे दो प्रकारका है। अवधिज्ञानावरणके क्षयोपशम होनेपर इन्द्रिय और मनकी सहायताके बिना सम्पूर्ण रूपी पदार्थोंको जाननेको अवधिज्ञान कहते हैं। अवधिज्ञानका विषय तीन लोक है। इसके दो भेद हैं—भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थितके भेदसे अवधिज्ञानके छह भेद भी होते हैं। मनपर्ययज्ञानावरणके क्षयोपशम होनेपर इन्द्रिय और मनके बिना मानुष क्षेत्रवर्ती जीवोंके मनकी बात जाननेको मनपर्याय ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान मुनियोंके ही होता है। इसके दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति। क्षायिक अथवा सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष सम्पूर्ण कर्मोंके सर्वथा क्षयसे उत्पन्न होता है। इसे केवलज्ञान कहते हैं। केवलज्ञानके दो भेद हैं—भवस्थ केवलज्ञान और सिद्धस्थ केवलज्ञान। भवस्थ केवलज्ञानके दो भेद हैं—सयोग और अयोग। सिद्धस्थ केवलज्ञानके दो भेद हैं—अनंतरसिद्ध और परंपरासिद्ध।

इन्द्रिय और मनको सहायतासे होनेवाले अस्पष्ट ज्ञानको परोक्ष कहते हैं। परोक्ष ज्ञानके पाँच भेद हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, और आगम[1]।

श्लोक २९ पृ० २५९, पं० ७ : निगोद—

जिन जीवोंके एक ही शरीरके आश्रय अनन्तानन्त जीव रहते हों, उसे निगोद कहते हैं[2]। निगोद जीवोंका आहार और श्वासोछ्वास एक साथ ही होता है, तथा एक निगोद जीवके मरनेपर अनन्त निगोद जीवोंका मरण और एक निगोद जीवके उत्पन्न होनेपर अनन्त निगोद जीवोंकी उत्पत्ति होती है। निगोद जीव एक श्वासमें अठारह बार जन्म और मरण करते हैं, और अति कठोर यातनाको भोगते हैं। ये निगोद जीव पृथिवी, अप्, तेज, वायु, देव, नारकी, आहारक और केवलियोंके शरीरको छोड़कर समस्त लोकमें भरे हुए हैं। असंख्य निगोद जीवोंका एक गोलक होता है। इस प्रकारके असंख्य निगोद जीवों के असंख्य गोलकोंसे तीनों लोक व्याप्त हैं। ये सूक्ष्म निगोदिया जीव व्यावहारिक और अव्यावहारिक भेदोंसे[3] दो प्रकारके हैं। जिन जीवोंने अनादि निगोदसे एक बार भी निकलकर उस पर्यायको प्राप्त किया है, उन्हें व्यावहारिक निगोद जीव कहा गया है। तथा जो जीव कभी भी सूक्ष्म निगोदसे बाहर निकल कर नहीं आये, उन्हें अव्यावहारिक निगोद कहते हैं। जितने जीव अब तक मोक्ष गये हैं, अथवा भविष्यमें जायेंगे, वे सम्पूर्ण जीव निगोद जीवोंके अनन्तवें भाग भी नहीं हैं। अतएव जितने जीव व्यवहारराशिसे निकलकर

---

१. स्मृति आदिके लक्षणके लिये देखिये, प्रस्तुत पुस्तकका पृ० २५१-२।

२. नि नियतां गां भूमिं क्षेत्रं निवासं अनंतानंतजीवानां ददाति इति निगोदं। गोम्मटसार जीव० १९१ टीका।

३. गोम्मटसार जीव० आदि दिगम्बर ग्रन्थोंमें इन भेदोंको इतर और नित्य निगोदके नामसे कहा गया है।

मोक्ष जाते हैं, उतने जीव अनादि निगोदसे निकलकर व्यवहारराशिमें आ जाते हैं। इसलिये यह संसार कभी भव्य जीवोंसे खाली नहीं होता। जिस प्रकार निगोद राशि अक्षयानंत है, उसी प्रकार भव्य जीव राशि भी अक्षयानंत है[1]।

'सब जीवोंके एक एक करके मोक्ष जानेसे एक दिन संसारका उच्छेद हो जाना चाहिये'—यह प्रश्न भाष्यकर व्यासके सामने भी था। भाष्यकार इस प्रश्नको अवचनीय कोटिमें रक्खा है[2]।

---

१. विशेष जाननेके लिये देखिये लोकप्रकाश ४–१–१०१; प्रज्ञापना १८ पद मलयागिरि वृत्ति तथा प्रस्तुत पुस्तकके २९ श्लोकका व्याख्यार्थ और भावार्थ।

२. अथास्य संसारस्य स्थित्या गत्या च गुणेषु वर्तमानस्यास्ति क्रमसमाप्तिर्न वेति। अवचनीयमेतत्। कथम्। अस्ति प्रश्न एकान्तवचनीयः सर्वो जातो मरिष्यति मृत्वा जनिष्यत इति। ओं भो इति।
अथ सर्वो जातो मरिष्यतीति मृत्वा जनिष्यत इति। विभज्य वचनीयमेतत्। प्रत्युदितख्यातिः क्षीणतृष्णः कुशलो न जनिष्यत इतरस्तु जनिष्यते। तथा मनुष्यजातिः श्रेयसी न वा श्रेयसीत्येवं परिपृष्टे विभज्य वचनीयः प्रश्नः पशूनधिकृत्य श्रेयसी देवानृषींश्चाधिकृत्य नेति। अयं तु अवचनीयः प्रश्नः संसारोऽयमन्तवानथानन्त इति। पातंजल योगसूत्र भाष्य ४–३३।

तुलनीय—ननु अष्टसमयाधिकषण्मासाभ्यंतरे अष्टोत्तरशतजीवेषु कर्मक्षयं कृत्वा सिद्धेषु सत्सु सिद्धराशेर्वृद्धिदर्शनात् संसारिजीवराशेश्च हानिदर्शनात् कथं सर्वदा सिद्धेभ्योऽनंतगुणत्वं एकशरीरनिगोदजीवानां सर्वजीवराश्यनंतगुणकालसमयसमूहस्य तद्योग्यानंतभागे गते सति संसारिजीवराशिक्षयस्य सिद्धराशिबहुत्वस्य च सुघटत्वात् इति चेत्। तन्न। केवलज्ञानदृष्टया केवलिभिः श्रुतज्ञानदृष्ट्या श्रुतकेवलिभिश्च सदा दृष्टस्य भव्यसंसारिजीवराश्यक्षयस्यातिसूक्ष्मत्वात्तर्कविषयत्वाभावात्। गोम्मटसार जीव० गा० १९६ केशववर्णी टीका।

बौद्ध परिशिष्ट (ख)

(श्लोक १६ से १९ तक)

बौद्ध दर्शन

"बौद्ध दर्शनको सुगत दर्शन भी कहते हैं। बौद्ध लोगोंने विपश्यी, शिखी, विश्वभू, क्रकुच्छन्द, काञ्चन, काश्यप और शाक्यसिंह ये सात सुगत माने हैं।[1] सुगतको तीर्थंकर, बुद्ध अथवा धर्मधातु नामसे भी कहा जाता है। बुद्धोंके कण्ठ तीन रेखाओंसे चिह्नित होते हैं। अन्तिम बुद्धने मगध देशमें कपिलवस्तु नामक ग्राममें जन्म लिया था। इनकी माताका नाम मायादेवी और पिताका नाम शुद्धोदन था। बौद्ध लोग बुद्ध भगवान्को सर्वज्ञ कहते हैं। बुद्धने दुःख, समुदय (दुःखका कारण), मार्ग और निरोध (मोक्ष) इन चार आर्यसत्योंका उपदेश दिया है। बौद्ध मतमें पांच इन्द्रियां और शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये पांच विषय, मन और धर्मायतन (शरीर) ये सब मिलाकर बारह आयतन माने गये हैं। बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाणोंको मानते हैं। बौद्ध लोग आत्माको न मानकर ज्ञानको ही स्वीकार करते हैं। इनके मतमें क्षण-क्षणमें नाश होनेवाली संतानको ही एक भवसे दूसरे भवमें जानेवाली मान गया है। बौद्ध साधु चमर रखते हैं, मुण्डन कराते हैं, चमड़ेका आसन और कमण्डलु रखते हैं, तथा घुंटी तक गेरुआ रंगका वस्त्र पहिनते हैं। ये लोग स्नान आदि शौच क्रिया विशेष करते हैं। बौद्ध साधु भिक्षा पात्रमें आये हुए मांसको भी शुद्ध समझकर भक्षण कर लेते हैं। ये लोग जीवोंकी दया पालनेके लिये भूमिको बुहारकर चलते हैं, और ब्रह्मचर्य आदि क्रियामें खूब दृढ़ होते हैं। बौद्ध मतमें धर्म, बुद्ध और संघ ये तीन रत्न, और सम्पूर्ण विघ्नोंको नाश करनेवाली ताराको देवी स्वीकार किया गया है। वैभाषिक, सौत्रांतिक, योगाचार और माध्यमिक ये बौद्धोंके चार भेद हैं।[2]"

बौद्धोंके मुख्य सम्प्रदाय

बुद्धके निर्वाण जानेके बाद संघमें कलहका आरम्भ हुआ, और बुद्ध-निर्वाणके सौ वर्ष पश्चात् ईसवी सन् पूर्व ४०० में वैशालीमें एक परिषद्की आयोजना की गई। इस परिषद्में महासंघिक मूल महासंघिक, एकव्यवहारिक, लोकोत्तरवादी, कुकुल्लिक, बहुश्रुतीय, प्रज्ञप्तिवादी, चैत्तिक, अपरशैल और उत्तरशैल इन नौ शाखाओंमें विभक्त हो गये। इधर थेरवादी भी निम्न ग्यारह मुख्य शाखाओंमें बंट गये—हैमवत, सर्वास्तिवाद, धर्मगुप्तिक, महीशासक, काश्यपीय, सौत्रांतिक, वात्सीपुत्रीय, धर्मोत्तरीय, भद्रयानीय, सम्मितीय, और छन्नागरिक[3]। थेरवादियों और महासंघिकोंके उक्त सम्प्रदायोंके सिद्धांतोंके विषयमें बहुत कम ज्ञातव्य

---

१. पाली ग्रन्थोंमें कहीं आठ, कहीं सोलह, और कहीं पच्चीस बुद्धोंके नाम आते हैं। देखिये राजवाड़े—दीघनिकाय भाग २, मराठी भाषांतर, पृ० ४६।

२. देखिये गुणरत्नकी षड्दर्शनसमुच्चय-टीका और राजशेखरका षड्दर्शनसमुच्चय।

३. वसुमित्रने इन बीस भेदोंको हीनयान सम्प्रदायकी शाखा कहकर उल्लेख किया है। परन्तु आगे चलकर ये महासंघिक और थेरवाद सम्प्रदाय क्रमसे हीनयान और महायान कहे जाने लगे। हीनयानी केवल अपने ही निर्वाणके लिये प्रयत्न करते हैं और यहां अन्य मनुष्योंकी तरह बुद्धको भी मनुष्य ही माना गया है। यहां 'सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिक हैं, पंच स्कंधोंका क्षय हो जाना निर्वाण है,' इसके आगे सिद्धान्तोंका दार्शनिक विकास दृष्टिगोचर नहीं होता। महायान सम्प्रदायके अनुयायी अनन्त काल तक प्राणियोंके मोक्षके लिये प्रयत्नशील रहते हैं। निर्वाणके बाद भी बुद्धकी प्रवृत्ति संसारके निर्वाणके लिये बराबर जारी रहती है। यहां गृहस्थमें रहकर भी बिना किसी वर्णभेदके प्राणीमात्रके लिये निर्वाणका द्वार सदा

बातें मिलती हैं। वैदिक और जैन शास्त्रोंमें भी उक्त सम्प्रदायोंमें सर्वास्तिवादी, सौत्रांतिक और आर्यसमितीय (वैभाषिक) नामके बौद्ध सम्प्रदायोंको छोड़कर अन्य सम्प्रदायोंका उल्लेख नहीं मिलता।

सौत्रान्तिक

ये लोग टीकाओंकी अपेक्षा बुद्धके सूत्रोंको अधिक महत्व देनेके कारण सौत्रांतिक कहे जाते हैं। सौत्रांतिक लोग सर्वास्तिवादियों (वैभाषिकों) की तरह बाह्य जगतके अस्तित्वको मानते हैं और समस्त पदार्थोंको बाह्य और अन्तरके भेदसे दो विभागोंमें विभक्त करते हैं। बाह्य पदार्थ भौतिक रूप, और आन्तर पदार्थ चित्त-चैत्त रूप होते हैं। "सौत्रांतिकोंके मतमें पांच स्कन्धोंको छोड़कर आत्मा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। पाँच स्कंध ही परलोक जाते हैं। अतीत, अनागत, सहेतुक विनाश, आकाश और पुद्गल (नित्य और व्यापक आत्मा) ये पाँच संज्ञामात्र, प्रतिज्ञामात्र, संवृतिमात्र, और व्यवहारमात्र हैं। सौत्रान्तिकोंके मतमें पदार्थोंका ज्ञान प्रत्यक्षसे न होकर ज्ञानके आकारकी अन्यथानुपत्ति रूप अनुमानसे होता है। साकार ज्ञान प्रमाण होता है। सम्पूर्ण संस्कार क्षणिक होते हैं। रूप, रस, गंध और स्पर्शके परमाणु तथा ज्ञान प्रत्येक क्षण नष्ट होते हैं। अन्यापोह (अन्य व्यावृत्ति) ही शब्दका अर्थ हैं। तदुत्पत्ति और तदाकारतासे पदार्थोंका ज्ञान होता है। नैरात्म्य भावनासे जिस समय ज्ञान-सन्तानका उच्छेद हो जाता है, उस समय निर्वाण होता है।"[1] वसुबंधुके अभिधर्मकोशके[2] अनुसार सौत्रांतिक लोग वर्तमान, और जिनसे अभी फल उत्पन्न नहीं हुआ, ऐसी भूत वस्तुको अस्ति रूप, तथा भविष्य और जिनसे फल उत्पन्न हो चुका है, ऐसी भूत वस्तुको नास्ति रूप मानते हैं। सौत्रांतिक लोगोंके इस सिद्धांतको माननेवाले धर्मत्राता, घोष, वसुमित्र और बुद्धदेव ये चार विद्वान मुख्य समझे जाते हैं। ये लोग क्रमसे भावपरिणाम, लक्षणपरिणाम, अवस्थापरिणाम और अपेक्षापरिणामको मानते हैं।

धर्मत्राता (१०० ई.)—भाव-परिणामवादी धर्मत्राताका मत है कि जिस प्रकार सुवर्णके कटक, कुण्डल आदि गुणोंमें ही परिवर्तन होता है, स्वयं सुवर्ण द्रव्यमें कोई परिवर्तन नहीं होता, इसी तरह वस्तुका धर्म भविष्य पर्यायको छोड़कर वर्तमान रूप होता है, और वर्तमान भावको छोड़कर अतीत रूप होता है, परन्तु वास्तवमें स्वयं द्रव्यमें कोई परिवर्तन नहीं होता[3]। धर्मत्राताको कनिष्ककी परिषद्के मुख्य सदस्य वसुमित्रका मामा कहा जाता है। धर्मत्राताने बुद्ध भगवानके मुखसे कहे हुए एक हज़ार श्लोकोंका

खुला रहता है। इस सम्प्रदायके अनुयायी बुद्धको देवाधिदेव मानकर बुद्धकी भक्ति करते हैं। महायान सम्प्रदायमें प्रत्येक पदार्थको निःस्वभाव और अनिर्वाच्य कहकर तत्त्वोंका दार्शनिक रीतिसे तलस्पर्शी विचार किया गया है। सौत्रांतिक और वैभाषिक हीनयान, और विज्ञानवाद और शून्यवाद महायान सम्प्रदायकी शाखायें हैं।

जापानी विद्वान् यामाकामी सोगेन (Yamakami Sogen) के मतानुसार बुद्धके निर्वाणके तीन सौ वरस बाद वैभापिक, चार सौ बरस बाद सौत्रान्तिक, तथा पाँच सौ बरस बाद माध्यमिक और ईसाकी तीसरी शताब्दिमें विज्ञानवाद सिद्धान्तोंकी स्थापना हुई। प्रो. ध्रुवका मत है, कि असंग और वसुबंधुके पूर्व भी विज्ञानवादका सिद्धान्त मौजूद था, इसलिये मध्यमवादके पहले विज्ञानवादको मानकर बादमें माध्यमिकवादकी उत्पत्ति मानना चाहिये। देखिये प्रोफेसर ध्रुव—स्याद्वादमञ्जरी पृ० ७०-२५।

१. गुणरत्नकी षड्दर्शनसमुच्चय-टीका।

२. इसका रशियन विद्वान प्रो. शर्बाट्स्की (Stchertatsky) ने अंग्रेजीमें अनुवाद किया है।

३. धर्मस्याध्वसु वर्तमानस्य भावान्यथात्वमेव केवलं न तु द्रव्यस्येति। यथा सुवर्णद्रव्यस्य कटककेयूर-कुण्डलाद्यभिधाननिमित्तस्य गुणस्यान्यथात्वं न सुवर्णस्य, तथा धर्मस्यानागतादिभावादन्यथात्वम्। तत्त्वसंग्रहपंजिका पृ० ५०४।

धम्मपदमें तैंतीस अध्ययनोंमें संग्रह किया था। धम्मपदका चीनी अनुवाद मिलता है। धर्मत्राताको पंचवस्तुविभाषाशास्त्र संयुक्ताभिधर्महृदयशास्त्र, अवदानसूत्र और धर्मत्रातध्यानसूत्र इन ग्रंथोंका प्रणेता कहा जाता है[1]।

घोष (१५० ई.)—लक्षण-परिणामवादी घोषका सिद्धांत है कि जिस प्रकार किसी एक स्त्रीमें आसक्ति करनेवाला पुरुष दूसरी स्त्रियोंमें आसक्तिको नहीं छोड़ देता, उसी तरह भूत धर्म भूत धर्मसे संबद्ध होता हुआ वर्तमान और भविष्य धर्मोंसे संबंध नहीं छोड़ता, तथा वर्तमान धर्म वर्तमान धर्मसे संबद्ध होता हुआ भूत और भविष्य धर्मसे संबंध नहीं छोड़ता[2]। घोषने अभिधर्मामृतशास्त्रकी रचना की है। इस ग्रंथका चीनी अनुवाद उपलब्ध है।

बुद्धदेव (२०० ई)—अपेक्षा-परिणामवादी बुद्धदेवका कहना है कि जैसे एक ही स्त्री पुत्री, माता आदि कही जाती है, उसी तरह एक ही धर्ममें नाना अपेक्षाओंसे भूत, भविष्य और वर्तमानका व्यवहार होता है। जिसके केवल पूर्व पर्याय है, उसे भविष्य, जिसके केवल उत्तर पर्याय है, उसे भूत, और जिसने पूर्व पर्यायको प्राप्त कर लिया है और जो उत्तर पर्यायको धारण करनेवाला है, उसे वर्तमान कहते हैं।[3]

वसुमित्र (१०० ई०)—अवस्था-परिणामवादी वसुमित्रका कहना है कि धर्म भिन्न-भिन्न अवस्थाओंकी अपेक्षा ही भूत, भविष्य और वर्तमान कहा जाता है। वास्तवमें द्रव्यमें परिवर्तन नहीं होता। इसलिये जिस समय किसी धर्ममें कार्य करनेकी शक्ति बन्द हो जाती है, उस समय उसे भूत, जिस समय धर्ममें क्रिया होती रहती है, उस समय वर्तमान, और जिस समय धर्ममें क्रिया होनेवाली हो, उस समय उसे भविष्य कहते हैं।[4] वसुमित्र कनिष्ककी परिषद्में उपस्थित होनेवाले पाँचसौ अर्हतोंमेंसे थे। वसुमित्रने अभिधर्मप्रकरणपाद, अभिधर्मधातुकायपाद, अष्टादशनिकायशास्त्र, तथा आर्यवसुमित्रबोधिसत्त्वसंगीतशास्त्र ग्रंथोंकी रचना की है।

धर्मत्राता, घोष, बुद्धदेव और वसुमित्रके सिद्धांतोंका प्रतिपादन और खण्डन तत्त्वसंग्रहमें त्रैकाल्यपरीक्षा नामक प्रकरणमें किया गया है। वसुबंधुने अभिधर्मकोश (५-२४-६)[5] में आदिके तीन विद्वानोंके मतोंका खण्डन करके वसुमित्रके अवस्था-परिणामको स्वीकार किया है।

वैभाषिक

वैभाषिक लोग अभिधर्मकी टीका विभाषाको सबसे अधिक महत्त्व देनेके कारण वैभाषिक कहे जाते हैं। ये लोग भूत, भविष्य और वर्तमानको अस्तिरूपसे मानते हैं। इनके मतमें ज्ञान और ज्ञेय दोनों वास्तविक हैं। वैभाषिक लोग प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाह्य पदार्थोंका अस्तित्व मानते हैं। "इनके मतमें प्रत्येक

---

१. तत्त्वसंग्रह, अंग्रेजी भूमिका, पृ० ५६।

२. धर्मोऽध्वसु वर्तमानोऽतीतोऽतीतलक्षणयुक्तोऽनागतप्रत्युत्पन्नाभ्यां लक्षणाभ्यां अवियुक्तः। यथा पुरुष एकास्यां स्त्रियां रक्तः शेषास्वविरक्त एवमनागतप्रत्युत्पन्नावपि वाच्ये। तत्त्वसंग्रहपंजिका।

३. धर्मोऽध्वसु वर्तमानः पूर्वापरमपेक्ष्यान्योन्य उच्यते इति। यथैका स्त्री माता चोच्यते दुहिता चेति। त० संग्रहपंजिका।

४. धर्मोऽध्वसु वर्तमानोऽवस्थामवस्थां प्राप्यान्योऽन्यो निर्दिश्यतेऽवस्थान्तरतो, न द्रव्यतः, द्रव्यस्य त्रिष्वपि कालेष्वभिन्नत्वात्। तत्त्वसंग्रहपंजिका।

५. देखिये प्रोफेसर शेर्बाट्स्कीका The Central Conception of Buddhism, परिशिष्ट १, पृ. ७६-९१।

पदार्थ उत्पत्ति, स्थिति, जरा और मरण इन चार क्षणों तक अवस्थित रहता है। पुद्गल (आत्मा) में भी ये गुण रहते हैं। ज्ञान निराकार होता है, और यह पदार्थके साथ एक ही सामग्रीसे उत्पन्न होता है। वैभाषिक आर्यसमितीय नामसे भी कहे जाते हैं।[1]"

वैभाषिक (सर्वास्तिवादी) लोगोंका साहित्य आजकल चीनी भाषामें उपलब्ध है। मुख्य साहित्य निम्न प्रकारसे है—१. कात्यायनीपुत्रका ज्ञानप्रस्थानशास्त्र। इसे महाविभाषा भी कहते हैं। २. सारीपुत्रका धर्मस्कंध। ३. पूर्णका धातुकाय। ४. मौद्गलायनका प्रज्ञप्तिशास्त्र। ५. देवक्षेमका विज्ञानकाय। ६. सारीपुत्रका संगीतिपर्याय और वसुमित्रका प्रकरणपाद। इसके अतिरिक्त, ईसवी सन् ४२०–५०० में वसुबंधुने अभिधर्मकोश (वैभाषिककारिका) ग्रंथ लिखा और इस ग्रंथपर स्वयं ही अभिधर्मकोशभाष्य रचा। इसमें सौत्रांतिकोंके सिद्धांतोंका खण्डन किया गया है। आगे चलकर सौत्रांतिक विद्वान यशोमित्रने इस ग्रंथपर अभिधर्मकोशव्याख्या नामकी टीका लिखी। इसके अलावा, वैभाषिक विद्वान संघभद्रने समयप्रदीप और न्यायानुसार (इनका चीनीमें भाषांतर है) नामक ग्रन्थ लिखे। धर्मत्राता, घोष, वसुमित्र, आदिने भी वैभाषिक सम्प्रदायके अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। प्रसिद्ध तार्किक दिङ्नाग ने भी प्रमाणसमुच्चय, न्यायप्रवेश, हेतुचक्रडमरु, प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, आलम्बनपरीक्षा, त्रिकालपरीक्षा आदि न्याय ग्रंथोंकी रचना की है।

सौत्रांतिक और वैभाषिक दोनों सम्प्रदायोंका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इसीलिये वैदिक ग्रन्थकार इन दोनों सम्प्रदायोंके भिन्न-भिन्न सिद्धान्तोंमें[2] में कोई भेद न समझकर सौत्रांतिक और वैभाषिकोंका सर्वास्तिवादीके नामसे उल्लेख करते हैं। परन्तु सौत्रांतिकोंने कभी अपने आपको सर्वास्तिवादी नहीं कहा कारण कि सर्वास्तिवादी और सौत्रांतिक दोनोंके ग्रंथ अलग-अलग थे[3]। सौत्रान्तिक और वैभाषिक (सर्वास्तिवादी) दोनों बाह्य पदार्थोंके अस्तित्वको मानते हैं। ये लोग अठारह धातुओंको स्वीकार करते हैं। इन सम्प्रदायोंकी रुचि विशेष रूपसे क्षणिकवाद, प्रत्यक्ष और अनुमानकी परिभाषा, पदार्थोंका अर्थक्रियाकारित्व, अपोहवाद, अवयववाद, विशेषवाद आदि विषयोंको प्रतिपादन करनेकी ओर अधिक रही है। ये न्यायवैशेषिक, सांख्य आदि वैदिक दर्शनकारोंके सिद्धांतोंका खण्डन करते थे। वसुबन्धु, यशोमित्र, धर्मकीर्ति (लगभग ६३५ ई.), विनीतदेव, शान्तभद्र, धर्मोत्तर (८४१ ई.), रत्नकीर्ति, पण्डित अशोक, रत्नाकर शान्ति आदि विद्वान इन सम्प्रदायोंके उल्लेखनीय विद्वान हैं।

सौत्रान्तिक-वैभाषिकोंके सिद्धांत

१. प्रमाण और प्रमाणका फल भिन्न नहीं है—जिस समय किसी प्रमाणके द्वारा पदार्थका ज्ञान होनेपर उस पदार्थ सम्बन्धी अज्ञानकी निवृत्ति होती है, उस समय उस पदार्थके प्रति हेय अथवा उपादेयकी बुद्धि होती है। इसी बुद्धिका होना प्रमाणका फल (प्रमिति) कहा जाता है। नैयायिक, मीमांसक और सांख्य लोगोंकी मान्यता है कि जिस प्रकार काटनेकी क्रियाके विना कुठारको करण नहीं कहा जा सकता, उसी तरह प्रमिति क्रियाके विना प्रमाणको करण नहीं कह सकते। अतएव जिस प्रकार कुठारसे वृक्षको काटनेपर वृक्षके दो टुकड़े हो जाना रूप फल कुठारसे भिन्न है, उसी तरह इन्द्रिय और पदार्थोंका ज्ञान होनेसे जो पदार्थोंका ज्ञान होना रूप फल होता है, उसे भी प्रमाणसे सर्वथा भिन्न मानना चाहिये। प्रत्यक्ष,

---

१. देखिये गुणरत्नकी षड्दर्शनसमुच्चय-टीका, पृ. ४६, ४७। सर्वास्तिवादके सिद्धान्तोंके विशेष जाननेके लिये यामाकामी सोगेनका Systems of Buddhistic Thought देखना चाहिये।

२. सर्वदर्शनसंग्रहकार आदि विद्वानोंके अनुसार वैभाषिक पदार्थोंका ज्ञान प्रत्यक्षसे और सौत्रांतिक पदार्थोंका ज्ञान अनुमानसे मानते हैं।

३. देखिये यामाकामी सोगेन का Systems of Buddhistic Thought, अध्याय ३।

अनुमान आदि प्रमाण साधकतम होनेसे करण हैं, और पदार्थोंका हेय-उपादेय रूप ज्ञान होना साध्य होनेसे क्रियारूप है, अतएव प्रमाणका फल प्रमाणसे सर्वथा भिन्न है। बौद्ध इस सिद्धान्तका खण्डन करते हैं। उनका कथन है कि प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणका स्वरूप पदार्थोंका जानना है, अतएव पदार्थोंको जाननेके सिवाय प्रमाणका कोई दूसरा फल नहीं कहा जा सकता, इसलिये प्रमाण और प्रमाणके फलको सर्वथा अभिन्न मानना चाहिये। जिस समय ज्ञान पदार्थोंको जानता है, उस समय ज्ञान पदार्थोंके आकारका होता है; यही ज्ञानकी प्रमाणता है! तथा ज्ञान पदार्थोंके आकारका होकर पदार्थोंको जानता है, यह ज्ञानका फल है। अतएव एक ही ज्ञानको प्रमाण और प्रमाणका फल स्वीकार करना चाहिये। व्यवहारमें भी देखा जाता है कि जो आत्मा प्रमाणसे पदार्थोंका ज्ञान करती है, उसे ही फल मिलता है। इसलिये प्रमाण और प्रमाणका फल सर्वथा अभिन्न हैं।

२. **क्षणिकवाद**—बौद्ध लोग प्रत्येक पदार्थको क्षणिक स्वीकार करते हैं। उनका मत है कि संसारमें कोई भी वस्तु नित्य नहीं है। प्रत्येक वस्तु अपने उत्पन्न होनेके दूसरे क्षणमें ही नष्ट हो जाती है, क्योंकि नष्ट होना पदार्थोंका स्वभाव है। यदि पदार्थोंका स्वभाव नष्ट होना न माना जाय, तो घड़े और लाठीका संघर्ष होनेपर भी घड़ेका नाश नहीं होना चाहिये। हमें पदार्थ नित्य दिखाई पड़ते हैं, परन्तु यह हमारा भ्रम मात्र है। वास्तवमें प्रत्येक वस्तु प्रत्येक क्षणमें नाश हो रही है। जिस प्रकार दीपककी ज्योतिके प्रतिक्षण बदलते रहनेपर भी समान आकारकी ज्ञान-परम्परासे 'यह वही दीपक है' इस प्रकारका ज्ञान होता है, उसी प्रकार प्रत्येक वस्तुके क्षण-क्षणमें नष्ट होनेपर भी पूर्व और उत्तर क्षणोंमें सदृशता होनेके कारण वस्तुका प्रत्यभिज्ञान होता है।[1] यदि वस्तुको नित्य माना जाय तो कूटस्थ नित्य वस्तुमें अर्थक्रिया नहीं हो सकती[2], और वस्तुमें अर्थक्रिया न होनेसे उसे सत् भी नहीं कहा जा सकता। दसवीं शताब्दिके बौद्ध विद्वान रत्नकीर्तिने क्षणिकवादकी सिद्धिके लिये 'क्षणभंगसिद्धि' नामक स्वतन्त्र ग्रंथ लिखा है।[3] इस ग्रंथमें रत्नकीर्तिने शंकर, त्रिलोचन, न्यायभूषण, वाचस्पति आदि विद्वानोंके मतका खण्डन करते हुए अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्तिसे क्षणभंगवादकी सिद्धि की है। शान्तरक्षित आचार्यने तत्त्वसंग्रहमें स्थिरभावपरीक्षा नामक प्रकरणमें भी नित्यवादकी मीमांसा करते हुए क्षणिकवादको सिद्ध किया है। इसके अतिरिक्त, जैन[4] और वैदिक[5] ग्रंथोंमें भी क्षणिकवादका प्रतिपादन मिलता है[6]।

३. **अवयववाद**—नैयायिक लोग अवयवीको अवयवोंसे भिन्न मानकर उन दोनोंका सम्बन्ध समवायसे स्वीकार करते हैं। परन्तु बौद्धोंका कहना है कि अवयवोंको छोड़कर अवयवी कोई भिन्न वस्तु नहीं है। भ्रमके कारण अवयव ही अवयवी रूप प्रतीत होते हैं। अवयव रूप परमाणु उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाते हैं, इसलिये अवयवोंको छोड़कर अवयवी पृथक् वस्तु नहीं है। जिस समय परस्पर मिश्रित परमाणु ज्ञानसे जाने जाते हैं, उस समय ये परमाणु विस्तृत प्रदेशमें रहनेके कारण स्थूल कहे जाते हैं।[7]

---

१. जैन लोग भी पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा क्षणिकवाद स्वीकार करते हैं—स्याद्वादिनामपि हि प्रतिक्षणं नवनवपर्यायपरंपरोत्पत्तिरभिमतैव। तथा च क्षणिकत्वम्। देखिये पीछे, पृ. १८८

२. देखिये पीछे पृ. २३४

३. पंडित हरप्रसाद शास्त्री द्वारा विब्लिओथिका इन्डिका कलकत्तामें सम्पादित।

४. देखिये षड्दर्शनसमुच्चय, गुणरत्नकी टीका, पृ. २९,३०,४०; चन्द्रप्रभसूरि, प्रमेयरत्नकोष पृ०. ३०।

५. न्यायमंजरी; न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका आदि।

६. बौद्धोंके क्षणिकवादकी तुलना फ्रांसके दार्शनिक वर्गसाँ (Bergson) के क्षणिकवादके साथ की जा सकती है।

७. परमाणव एव पररूपदेशपरिहारेणोत्पन्नाः परस्परसहिता अवभासमाना देशवितानवन्तो भासन्ते, विततदेशत्वञ्च स्थूलत्वम्। पंडित अशोक, अवयविनिराकरण, पृ. ७९।

इसलिये परमाणुओंका छोड़कर अवयवीको भिन्न नहीं मानना चाहिये। पंडित अशोकने अवयववादकी पुष्टिके लिये 'अवयविनिराकरण' नामक ग्रंथ लिखा है।

४. विशेषवाद—नैयायिक सामान्यको एक, नित्य और व्यापी मानते हैं। बौद्धोंका मत है कि विशेषको छोड़कर सामान्य कोई भिन्न वस्तु नहीं है। सम्पूर्ण क्षणिक पदार्थोंका ज्ञान उनके असाधारण रूपसे ही होता है, इसलिये सम्पूर्ण पदार्थ स्वलक्षण हैं, अर्थात् पदार्थोंका सामान्य रूपसे ज्ञान नही होता। जिस समय हम पांच उंगलियोंका ज्ञान करते हैं, उस समय पांच उंगलियोंरूप विशेषको छोड़कर अंगुलित्व कोई भिन्न जाति नहीं मालूम होती।[1] इसी प्रकार गौको जानते समय गौके वर्ण, आकार आदि विशेष ज्ञानको छोड़कर गोत्व सामान्यका भिन्न ज्ञान नहीं होता, अतएव विशेषको छोड़कर सामान्यको भिन्न वस्तु नहीं मानना चाहिये। क्योंकि विशेषमें ही वस्तुका अर्थक्रियाकारित्व लक्षण ठीक-ठीक घटता है।[2] वेदान्तियोंके मतमें भी जातिका प्रत्यक्ष अथवा अनुमानसे ज्ञान नहीं माना गया, अतएव सामान्य भिन्न पदार्थ नहीं है।

५. अपोहवाद—जिससे दूसरेकी व्यावृत्ति की जाय, उसे अपोह कहते हैं (अन्योऽपोह्यते व्यावर्त्यते अनेन)। बौद्ध लोग अत्यन्त व्यावृत्त परस्पर विलक्षण स्वलक्षणोंमें अनुवृत्ति प्रत्यय करनेवाले सामान्यको नहीं मानते, यह कहा जा चुका है। बौद्धोंकी मान्यता है कि जिस समय हमें किसी शब्दका ज्ञान होता है, उस समय उस शब्दसे पदार्थोंका अस्ति और नास्ति दोनों रूपसे ज्ञान होता है। उदाहरणके लिये, जिस समय हमें गौ शब्दका ज्ञान होता है, उस समय एक साथ ही गौके अस्तित्व और गौके अतिरिक्त अन्य पदार्थोंके नास्तित्व रूपका ज्ञान होता है। इसलिये बौद्धोंके मतमें अतद्व्यावृत्ति (अपोह) ही शब्दार्थ माना जाता है। पंडित अशोकने अपोहवादपर 'अपोहसिद्धि' नामक स्वतंत्र ग्रंथ लिखा है। मीमांसाश्लोकवार्त्तिकमें भी अपोहवादपर एक अध्याय है।

शून्यवाद

शून्यवादको माध्यमिकवाद अथवा नैरात्म्यवाद भी कहते हैं। माध्यमिक लोगोंका कथन है कि पदार्थोंका न निरोध होता है, न उत्पाद होता है, न पदार्थोंका उच्छेद होता है, न पदार्थ नित्य हैं, न पदार्थोंमें अनेकता है, न एकता है, और न पदार्थोंमें गमन होता है, और न आगमन होता है[3]। अतएव सम्पूर्ण धर्म मायाके समान होनेसे निस्स्वभाव हैं। जो जिसका स्वभाव होता है, वह उससे कभी पृथक् नहीं होता, और वह किसी दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखता। परन्तु हम जितने पदार्थ देखते हैं, वे सब अपनी-अपनी हेतुप्रत्यय-सामग्रीसे[4] उत्पन्न होते हैं, और अपनी योग्य सामग्रीके अभावमें नहीं होते। इसलिये जो लोग स्वभावसे पदार्थोंको भावरूप मानते हैं, वे लोग अहेतु-प्रत्ययसे पदार्थोंकी उत्पत्ति स्वीकार करना चाहते हैं। अतएव सम्पूर्ण पदार्थ परस्पर सापेक्ष हैं, कोई भी पदार्थ सर्वथा निरपेक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता। अतएव हम

---

१. प्रत्यक्षभासि धर्म्मसु न पंचस्वंगुलीपु स्थितं
सामान्यं प्रतिभासते न च विकल्पाकारबुद्धौ तथा।
ता एव स्फुटमूर्तयोऽत्र हि विभासन्ते न जातिस्ततः
सादृश्यभ्रमकारणो पुनरिमावेकोपलब्धध्वनी॥

पंडित अशोक, सामान्यदूषणदिक्प्रसारिता, पृ. १०२।

२. देखिये पीछे, पृ. १२३-१२४।

३. अनिरुद्धमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतं।
अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम्॥ माध्यमिकवृत्ति प्रत्ययपरीक्षा।

४. हेतुप्रत्ययं अपेक्ष्य वस्तुनः स्वभावता न इतरथा।

पदार्थोंका स्वभावकी अपेक्षा उत्पन्न होना नहीं मान सकते[1]। पदार्थ स्वभावसे भाव रूप नहीं हैं, इसलिये वे परभावकी अपेक्षा भी उत्पन्न नहीं होते, अन्यथा सूर्यसे भी अन्धकारकी उत्पत्ति माननी चाहिये। पदार्थ स्वभाव और परभावकी अपेक्षा उत्पन्न नहीं होते, इसलिये स्वभाव और परभाव दोनों (उभय रूप) से भी उनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। तथा भाव, अभाव और भावाभावसे पदार्थोंकी उत्पत्ति न होनेसे अनुभय रूपसे भी पदार्थ उत्पन्न नहीं हो सकते।[2] अतएव जिस प्रकार असत् मायागज सत् रूपसे प्रतीत होता है, जिस प्रकार अपारमार्थिक माया परमार्थ रूपसे ज्ञात होती है, उसी तरह सम्पूर्ण अतात्त्विक धर्म अविद्याके कारण तत्त्व रूपसे दृष्टिगोचर होते हैं। वास्तवमें न पदार्थ उत्पन्न होते हैं, न नष्ट होते हैं, न कहीं लाभ है, न हानि है, न सत्कार है, न पराभव है, न सुख है, न दुख है, न प्रिय है, न अप्रिय है, न कहीं तृष्णा है, न कोई जीवलोक है, न कोई मरनेवाला है, न कोई उत्पन्न होगा, न हुआ है, न कोई किसीका बन्धु है और न कोई मित्र है।[3] जो पदार्थ हमें भाव अथवा अभाव रूप प्रतीत होते हैं, वे केवल संवृति अथवा लोकसत्यकी दृष्टिसे ही प्रतीत होते हैं। परमार्थ सत्यकी अपेक्षासे एक निर्वाण ही सत्य है, और बाकी सम्पूर्ण संस्कार असत्य हैं। यह परमार्थ सत्य बुद्धिके अगोचर है, पूर्ण विकल्पोंसे रहित है, अनभिलाप्य है, अनक्षर है, और अभिधेय-अभिधानसे रहित है। यद्यपि इस परमार्थ धर्मका उपदेश नहीं हो सकता, परन्तु जिस प्रकार किसी म्लेच्छको कोई बात समझानेके लिए म्लेच्छकी ही भाषाका उपयोग करना पड़ता है, उसी प्रकार संसारके प्राणियोंको निर्वाणका मार्ग प्रदर्शन करनेके लिये संवृति सत्यका उपयोग करना पड़ता है, क्योंकि

---

१. यः प्रत्ययैर्जायति स ह्यजातो
न तस्य उत्पादु सभावतोऽस्ति।
यः प्रत्ययाधीनु स शून्य उक्तो।
यः शून्यतां जानति सोऽप्रमत्तः॥ बोधिचर्यावतार पंजिका पृ. ३५५।

जैन दर्शनमें वस्तुको स्वभावसे अशून्य और परभावसे शून्य माना गया है—सर्वस्य वस्तुनः स्वरूपादिना अशून्यत्वात्पररूपादिना शून्यत्वात्। अमृतचन्द्र–पंचास्तिकाय १४ टीका। परन्तु पंचाध्यायीकारने वस्तुको सर्वविकल्पातीत कहकर द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे स्वभावसे भी अस्तिरूप और परभावसे भी नास्तिरूप नहीं माना है—

द्रव्यार्थिकनयपक्षादस्ति न तत्त्वं स्वरूपतोऽपि ततः।
न च नास्ति परस्वरूपात् सर्वविकल्पातिगं यतो वस्तु॥ पंचाध्यायी १–७५८।

सिद्धसेन दिवाकर भगवानको शून्यवादी कहकर स्तुति करते हैं—
त्वमेव परमास्तिकः परमशून्यवादी भवान्।
त्वमुज्वलविनिर्णयोऽप्यवचनीयवादः पुनः॥
परस्परविरुद्धतत्त्वसमयश्च सुश्लिष्टवाक्।
त्वमेव भगवन्नकंप्यसु (मु) नयो यथा कस्तथा॥ द्वा. द्वात्रिंशिका ३–२१।

२. न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकं। बोधिचर्यावतार पंजिका, पृ. २५९।

३. एवं शून्येषु धर्मेषु किं लब्धं किं हृतं भवेत्।
सत्कृतः परिभूतो वा केन कः संभविष्यति।
कुतः सुखं वा दुःखं वा किं प्रियम् वा किमप्रियम्।
का तृष्णा कुत्र सा तृष्णा मृग्यमाणा स्वभावतः॥
विचारे जीवलोकः कः को नामात्र मरिष्यति।
को भविष्यति को भूतः को बन्धुः कस्य कः सुहृत्॥ बोधिचर्यावतार ९–१५२,३,४।

संवृति सत्यका बिना अवलम्बन लिये परमार्थका उपदेश नहीं किया जा सकता।[1] इसलिए सम्पूर्ण धर्मोंको निस्स्वभाव—शून्य—ही मानना चाहिये। क्योंकि शून्यतासे ही पदार्थोंका होना संभव है।[2]

शंका—यदि सम्पूर्ण पदार्थ शून्य हैं, और न किसी पदार्थका उत्पाद होता है और न निरोध होता है,तो फिर चार आर्यसत्योंको, अच्छे और बुरे कर्मोंके फलको, बोधिसत्वकी प्रवृत्तिको और स्वयं बुद्धको भी शून्य और मायाके समान मिथ्या मानना चाहिये। समाधान—बुद्धका उपदेश परमार्थ और संवृति इन दो सत्योंके आधारसे ही होता है। जो इन दोनों सत्योंके भेदको नहीं समझता, वह बुद्धके उपदेशोंके ग्रहण करनेका अधिकारी नहीं है। बौद्ध दर्शनमें बाह्य और आध्यात्मिक भावोंका प्रतिपादन, इन्हीं दो सत्योंके आधारसे किया गया है।[3] साधारण लोग विपर्यासके कारण संवृति सत्यसे स्कंध, धातु, आयतन आदिको तत्त्व रूपसे देखते हैं। परन्तु सम्यग्दर्शनके होनेपर तत्त्वज्ञ आर्य लोगोंको स्कंध आदि निस्स्वभाव प्रतीत होने लगते हैं। इसलिये 'क्या अनन्त है, क्या अन्त-अनन्त (उभय) है, क्या अनुभय (न अन्त और न अनन्त) है, क्या अभिन्न है, क्या भिन्न है, क्या शाश्वत है, क्या अनित्य है, क्या नित्य-अनित्य है, और क्या अनुभय (न नित्य और न अनित्य) है[4]' ये प्रश्न बुद्धिमानोंके मनमें नहीं उठते। स्वयं निर्वाण भी भाव रूप है, या अभाव रूप, यह हम नहीं जान सकते। क्योंकि निर्वाण न उत्पन्न होता है, न निरुद्ध होता है, न वह नित्य है, और न अनित्य है। निर्वाणमें न कुछ नष्ट होता है, और न कुछ उत्पन्न होता है[5]। जो निर्वाण है, वही संसार है और जो संसार है, वही निर्वाण है।[6] इसलिये भाव, अभाव, उभय, अनुभय इन चार कोटि-योंसे रहित प्रपंचोशमरूप निर्वाणको ही माध्यमिकोंने परमार्थ तत्त्व माना। है यद्यपि सर्व धर्मोंके निस्स्वभाव होनेसे परमार्थ सत्य अनक्षर है, इसलिये तूष्णींभावको ही आर्योंने परमार्थ सत्य कहा[7] है, परन्तु फिर भी व्यवहार सत्य परमार्थ सत्यका उपायभूत है[8]। जिस तरह संस्कृत धर्मोंसे असंस्कृत निर्वाणकी प्राप्ति होती है, उसी तरह संवृति सत्यसे परमार्थ सत्यकी उपलब्धि होती है। वास्तवमें न प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंको प्रमाण कहा जा सकता है, और न वास्तवमें पदार्थोंको क्षणिक ही कह सकते हैं। किन्तु जिस तरह कोई पुरुष अपवित्र स्त्रीके शरीरमें पवित्र भावना रखता है, उसी तरह मूर्ख पुरुष मायारूप भावोंमें क्षणिक, अक्षणिक

---

१. तस्मात् सकलविकल्पाभिलापविकलत्वादनारोपितमसांवृतमनभिलाप्यं परमार्थतत्त्वं कथमिव प्रतिपादयितुं शक्यते। तथापि भाजनश्रोतृजनानुग्रहार्थं (परिकल्पमुपादाय) संवृत्या निदर्शनोपदर्शनेन किंचिद-भिधीयते। बोधिचर्योवतार पंजिका, पृ. ३६३।

२. सर्वं च युज्यते तस्य शून्यता यस्य युज्यते।
सर्वं न युज्यते तस्य शून्यता यस्य न युज्यते ॥ माध्यमिककारिका २४–१४।

३. द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः ॥ माध्यमिककारिका २४–८।

४. माध्यमिककारिका, निर्वाणपरीक्षा।

५. अप्रहीणामसांप्राप्तमनुच्छिन्नमशाश्वतं।
अनिरुद्धमनुत्पन्नमेतन्निर्वाणमिष्यते ॥ माध्यमिककारिका निर्वाणपरीक्षा।

६. निर्वाणस्य च या कोटिः कोटिः संसरणस्य च
न तयोरन्तरं किंचित् सुसूक्ष्ममपि विद्यते ॥ माध्यमिककारिका, निर्वाणपरीक्षा।

७. परमार्थो हि आर्याणां तूष्णींभावः। चन्द्रकीर्ति, माध्यमिकवृत्ति।

८. उपायभूतं व्यवहारसत्यं उपेयभूतं परमार्थसत्यं।
तयोर्विभागोऽवगतो न येन मिथ्याविकल्पः स कुमार्गजातः ॥
चन्द्रकीर्ति, मध्यमकावतार ७–८०।

आदि धर्मोंका प्रतिपादन करते हैं[1]। और तो क्या परमार्थ सत्यसे बुद्ध और उसकी देशना भी मृगतृष्णाके समान है। इसलिये धर्मोंके निस्स्वभाव होनेपर भी प्राणियोंकी प्रज्ञप्तिके लिये ही बुद्धने इनका उपदेश किया है।[2]

शंका—शून्यवादियोंके मतमें सम्पूर्ण भाव शून्य हैं, इसलिये शून्यताको भी शून्य मानना चाहिये। समाधान—वास्तवमें सम्पूर्ण पदार्थोंके निस्स्वभावत्वके साक्षात्कार करनेके लिये ही बुद्धने शून्यताका उपदेश किया है। शून्यता भाव, अभाव, आदि चार कोटियोंसे रहित है, इसलिये शून्यताको अभाव (शून्य) रूप[3], नहीं कह सकते। हमारे मतमें भववासनाका नाश करनेके लिये ही शून्यताका उपदेश है, इसलिये शून्यतामें भी शून्यता बुद्धि रखनेसे नैरात्म्यवादका साक्षात् अनुभव नहीं हो सकता। अतएव हमें भाव-अभिनिवेशकी तरह शून्यतामें भी अभिनिवेश नहीं रखना चाहिये, अन्यथा भाव-अभिनिवेश और शून्यता-अभिनिवेश दोनोंमें कोई अन्तर न रहेगा।[4] जिस समय भाव, अभाव, शुद्धि, अशुद्धि रूप प्रपंचवृत्ति नहीं रहती उस समय इंधन रहित अग्निकी तरह सत् और असत्के आलम्बनसे रहित बुद्धि सम्पूर्ण विकल्पोंके उपशम होनेसे शांत हो जाती है।

माध्यमिकवादके प्रधान आचार्य नागार्जुन (१०० ई०) माने जाते हैं। नागार्जुनने शून्यवादके स्थापन करनेके लिये चार सौ कारिकाओंमें माध्यमिककारिका नामक ग्रंथ लिखा है। इस ग्रंथके ऊपर नागार्जुनने अकुतोभया नामकी टीका लिखी है। इसका अनुवाद तिब्बती भाषा में मिलता है। माध्यमिककारिकापर बुद्धपालित और भावविवेकने भी टीकायें लिखी हैं, जो तिब्बती भाषामें हैं। बुद्धपालित शून्यवादके अन्तर्गत प्रासंगिक सम्प्रदायके जन्मदाता कहे जाते हैं। बुद्धपालित शून्यवादके सिद्धांतोंको स्थापित करके अन्य मतवालोंका खण्डनकर नागार्जुनके सिद्धांतोंकी रक्षा करना चाहते थे। भावविवेक शून्यवादके दूसरे सम्प्रदाय स्वातंत्रिक मतके प्रतिष्ठाता हैं। ये आचार्य स्वतंत्र तर्कोंसे शून्यवादकी सिद्धि करते थे। माध्यमिककारिकाके ऊपर चन्द्रकीर्तिने (५५० ई.) प्रसन्नपदा नामकी संस्कृत टीका लिखी है। यह टीका उपलब्ध है। नागार्जुनने सुहृल्लेख, युक्तिषष्ठिका आदि अनेक ग्रंथ लिखे हैं। शून्यवादके दूसरे महान् आचार्य आर्यदेव हैं। ये नागार्जुनके शिष्य थे। इन्होंने चतुःशतक, चित्तविशुद्धिप्रकरण आदि अनेक ग्रंथ लिखे हैं।

---

१. अशुच्यादिषु शुच्यादिप्रसिद्धिरिव सा मृषा ॥
लोकावतारणार्थं च भावा नाथेन देशिताः।
तत्त्वतः क्षणिका नैते संवृत्या चेद् विरुध्यते ॥ बोधिचर्यावतार ९–६, ७।

२. शून्यं इति न वक्तव्यं अशून्यं इति वा भवेत्।
उभयं नोभयं चेति प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते ॥
माध्यमिककारिका. २२–११।

३. शून्यवादियोंके ग्रन्थोंमें शून्यताका अन्तद्वयरहितत्व, मध्यमप्रतिपदा, परस्परअपेक्षिता, धर्मधातु आदि शब्दोंसे उल्लेख किया गया है। रशियन विद्वान प्रोफेसर शेर्वाट्सकी 'शून्यता' का अनुवाद 'Relativity'—अपेक्षिता शब्दसे करते हैं। उक्त विद्वान् लेखकने यूरोपके हेगैल (Hegel), ब्रैडले (Bradley) आदि महान् विचारकोंके सिद्धान्तोंके साथ 'शून्यवाद' की तुलना की है, और सिद्ध किया है कि इस सिद्धान्तको Nihilism (सर्वथा अभाव रूप) नहीं कहा जा सकता। देखिये लेखककी Conception of Buddhist Nirvana, पृ. ४९ से आगे।

४. सर्वसंकल्पहानाय शून्यतामृतदेशना।
यस्य तस्यामपि ग्राह्यस्त्वयासाववसादितः ॥ बोधिचर्यावतारपंजिका, पृ. ३५९।

विज्ञानवाद

इसे योगाचार[1] भी कहते हैं। विज्ञानवादी भी शून्यवादियोंकी तरह सब धर्मोंको निस्सभाव[2] मानते हैं। विज्ञानवादियोंके मतमें विज्ञानको छोड़कर बाह्य पदार्थ कोई वस्तु नहीं हैं। जिस प्रकार जलता हुआ काष्ठ (अलातचक्र) चक्र रूपसे घूमता हुआ मालूम होता है, अथवा जिस प्रकार तैमिरिक पुरुषको केशमें मच्छरका ज्ञान होता है, उसी तरह कुदृष्टिसे युक्त लोगोंको अनादि वासनाके कारण पदार्थोंका एकत्व, अन्यत्व, उभयत्व और अनुभयत्व रूप ज्ञान होता है, वास्तवमें समस्त भाव स्वप्न-ज्ञान, माया और गन्धर्व नगरकी तरह असत् रूप[3] हैं। इसलिये परमार्थ सत्यसे स्वयंप्रकाशक विज्ञान ही सत्य है। यह सब दृश्यमान जगत विज्ञानका ही परिणाम है, और यह संवृति सत्यसे ही दृष्टिगोचर होता है।[4] विज्ञानवादियोंके मतमें चित्त ही हमारी वासनाका मूल कारण है। इस चित्तमें सम्पूर्ण धर्म कार्यरूपसे उपनिबद्ध होते हैं, अथवा यह चित्त सम्पूर्ण धर्मोंमें कारणरूपसे उपनिबद्ध होता है, इसलिये इसे आलयविज्ञान कहते हैं। यह आलयविज्ञान सम्पूर्ण क्लेशोंका बीज है[5]। जिस प्रकार जलका प्रवाह तृण, लकड़ी आदिको बहाकर ले जाता है, उसी तरह यह आलयविज्ञान स्पर्श, मनस्कार आदि धर्मोंको आकर्षित करके अपने प्रवाहसे संसारको उत्पन्न करता है[6]। जिस प्रकार समुद्रमें कल्लोलें उठा करती हैं, वैसे ही दृश्य पदार्थोंको स्वचित्तसे भिन्न समझनेसे,

---

१. विज्ञानवादियोंके मतमें जो योगकी साधना करके बोधिसत्वकी दशभूमिको प्राप्त करते हैं, उन्हींको बोधिकी प्राप्ति होती है, इसलिये इस सम्प्रदायको योगाचार नामसे कहा जाता है। विद्वानोंका कहना है कि असंगके योगाचारभूमिशास्त्र नामक ग्रंथके ऊपरसे ब्राह्मणोंने विज्ञानवादको योगाचार संज्ञा दी है।

२. त्रिविधस्य स्वभावस्य त्रिविधां निस्स्वभावतां।
संधाय सर्वधर्माणां देशिता निस्स्वभावता॥ वसुबंधु–त्रिंशिका २६।
तात्त्विक दृष्टिसे विचार किया जाय तो विज्ञानवाद और शून्यवादमें कोई अन्तर नहीं है। दोनों सम्पूर्ण पदार्थोंको निस्स्वभाव कहते हैं। अनन्तर इतना ही है कि विज्ञानवादी बाह्य पदार्थोंको मानकर उन्हें केवल विज्ञानका परिणाम कहते हैं, जब कि शून्यवादी बाह्य पदार्थोंको मायारूप मानकर निस्स्वभाव सिद्ध करनेमें सम्पूर्ण शक्ति लगा देते हैं। परन्तु जब उनसे पूछा जाता है कि यदि आप लोगोंके मतमें बाह्य पदार्थोंकी तरह माया स्वभावको ग्रहण करनेवाली कोई बुद्धि नहीं मानी गई, तो मायाकी उपलब्धि किस प्रकार होती है? तो विज्ञानवादी उत्तर देता है कि ये सम्पूर्ण पदार्थ चित्तके विकार हैं, जो अनादि वासनाके कारण उत्पन्न होते हैं। देखिये दासगुप्त, A History of Indian philosophy, पृ. १६६,७, तथा बोधिचर्यावतारपंजिका ९-१५ से आगे।

३. चित्तं केशोण्डुकं माया स्वप्नगंधर्वमेव च।
अलातं मृगतृष्णा च असन्तः ख्याति वै नृणाम्॥
नित्यानित्यं तथैकत्वमुभयं नोभयं तथा।
अनादिदोषसंबंधाः बालाः कल्पंति मोहिताः॥ लंकावतार २-१५७,८।

४. द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
बाह्योऽर्थः सांवृतं सत्यं चित्तमेकमसांवृतम्॥

५. सर्वसांक्लेशिकधर्मबीजस्थानत्वात् आलयः। आलयः स्थानमिति पर्यायौ। अथवा लीयन्ते उपनिबध्यंतेऽस्मिन् सर्वधर्माः कार्यभावेन। तद्वा लीयते उपनिबध्यते कारणभावेन सर्वधर्मेषु इत्यालयः। विजानाति विज्ञानं। त्रिंशिका २, स्थिरमतिभाष्य पृ० १८।

६. यथा हि ओघः तृणकाष्ठगोमयादीनाकर्षयन् गच्छति एवं आलयविज्ञानमपि पुण्यापुण्यानेज्यकर्मवासना-

अनादि कालकी वासनासे, पदार्थोंका दृष्टा और दृश्य रूप समझनेवाली विज्ञानप्रकृतिके स्वभावसे, तथा पदार्थोंका विचित्र अनुभव करनेसे[1] आलयविज्ञानमें प्रवृत्तिविज्ञानकी लहरें उठा करती हैं। यह आलयविज्ञान उत्पाद, स्थिति और लयसे रहित है[2], परन्तु यह क्षणिक धारा है, कोई नित्य पदार्थ नहीं। जिस समय अविद्याके नष्ट होनेसे वासनाका अंकुर नष्ट हो जाता है, उस समय क्षोभोत्पादक ग्राह्य-गाहक भाव भी नहीं रहता। इस दशामें अहंकारसे रहित आलयविज्ञान भी व्यावृत्त हो जाता है और केवल एक निर्मल चित्त अविशिष्ट रहता है। इसी अवस्थाको अर्हद्अवस्थाके नामसे कहा गया है;[3] और यहाँ योगी लोगोंका चित्त अद्वयलक्षण विज्ञप्तिमात्रमें ही स्थित हो जाता है। इस दशाको विज्ञानवादियोंके शास्त्रोंमें तथता, शून्यता, तथागतगर्भ आदि नामोंसे कह कर उसका नित्य, ध्रुव, शिव और शाश्वत रूपसे वर्णन किया गया है।[4]

शंका—यदि सम्पूर्ण धर्म केवल विज्ञप्तिमात्र हैं, तो चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रिय रूप आदिको वे कैसे जानते हैं। समाधान—जब तक योगी लोग अद्वयलक्षण विज्ञप्तिमात्रताका साक्षात्कार नहीं करते, उस समय तक पदार्थोंमें ग्राह्य-ग्राहक रूप प्रवृत्तिका नाश नहीं होता[5]। इस कारण वासनाके कारण ही इन्द्रियोंसे पदार्थोंका ग्राह्य-ग्राहक रूप ज्ञान होता है, वास्तवमें समस्त धर्म विज्ञानरूप ही हैं।

शंका—विज्ञानवादी लोग तथागतगर्भका नित्य, ध्रुव आदि विशेषणोंसे वर्णन करते हैं। इसी प्रकार तैर्थिक लोग भी आत्माको नित्य, कर्ता, निर्गुण और विभु कहते हैं। फिर बुद्ध भगवानके नैरात्म्यवाद और तैर्थिकोंके आत्मवादमें क्या अन्तर है?[6] समाधान—तथागतगर्भका उपदेश तैर्थिकोंके आत्मवादके तुल्य नहीं है। मूर्ख तैर्थिक लोगोंको नैरात्म्यवादके सुननेसे भय उत्पन्न होता है, इसलिये तथागतने सम्पूर्ण

नुगतं स्पर्शमनास्कारादीनामाकर्षयत् स्रोतसा संसारमव्युपरतं प्रवर्तत इति। विंशिका ४, स्थिरमति-भाष्य, पृ. २२।

१. स्वचित्तदृश्यग्रहणानवबोध, अनादिकालप्रपंचदौष्ठुल्यरूपवासनाभिनिवेश, विज्ञानप्रकृतिस्वभाव और विचित्ररूपलक्षणकौतूहल।

२. उत्पादस्थितिभंगवर्जम्।

३. तस्यां हि अवस्थायां आलयविज्ञानाश्रितदौष्ठुल्यनिरवशेषप्रहाणादालयविज्ञानं व्यावृत्तं भवति। सैव चार्हदवस्था। त्रिंशिका ४ भाष्य।

४. असंगने इसका वर्णन निम्न प्रकारसे किया है—
न सन्न चासन्न तथा न चान्यथा
न जायते व्येति न चावहीयते।
न वर्धते नापि विशुद्धचते पुनः
विशुद्धचते तत्परमार्थलक्षणम्॥ महायानसूत्रालंकार।

५. यावद् विज्ञप्तिमात्रत्वे विज्ञानं नावतिष्ठति।
ग्राह्यद्वयस्यानुशयस्तावन्न विनिवर्तते॥
यावद् अद्वयलक्षणे विज्ञप्तिमात्रे योगिनश्चित्तं न प्रतिष्ठितं भवति।
तावद् ग्राह्यग्राहकानुशयो न विनिवर्तते न प्रहीयत। त्रिंशिका २६ भाष्य।

६. प्रो. शेर्बाट्स्की (Stcherbatsky) ने विज्ञानवादियोंके आलयविज्ञानके सिद्धांतको, विचारसंततिको छोड़ प्रच्छन्न रूपसे नित्य आत्मा माननेके सिद्धांतकी ओर आना बताया है—This represents a

धर्मोंको तथागतगर्भ कहकर तीर्थिकोंको आकर्षण करनेके लिये उपदेश दिया है। इसीलिये इसमें बोधिसत्वोंको आत्मदृष्टि नहीं करनी चाहिये।[1]

असंग, वसुबंधु, नन्द, दिङ्नाग, धर्मपाल, शीलभद्र ये विज्ञानवादके प्रधान आचार्य माने जाते हैं। असंग (४८० ई.), जिन्हें आर्यसंग भी कहा जाता है, और वसुबंधु दोनों सगे भाई थे। ये पेशावर (पुरुषपुर) के रहने वाले ब्राह्मण थे। जीवनके प्रारंभमें वसुबंधु सर्वास्तिवादका प्रतिपादन करते थे और अपने जीवनके अंतिम वर्षोंमें अपने बड़े भाई असंगके प्रभावसे विज्ञानवादका प्रतिपादन करने लगे थे। पहले असंगको विज्ञानवादका प्रतिष्ठाता समझा जाता था, परन्तु अब मैत्रेय (मैत्रेयनाथ) ऐतिहासिक व्यक्ति समझने जाने लगे हैं। मैत्रेय असंगके गुरु थे, और इन्होंने ही योगाचारकी नींव रक्खी। मैत्रेयनाथने सूत्रालंकार, मध्यान्तविभंग, धर्मधर्मताविभंग, महायानउत्तरतन्त्रशास्त्र, अभिसमयालंकारकारिका आदि ग्रंथोंका निर्माण किया है। असंगने महायानसूत्रालंकार, योगाचारभूमिशास्त्र, महायानसूत्र, पंचभूमि, अभिधर्मसमुच्चय, महायानसंग्रह आदि शास्त्र लिखे हैं। वसुबंधुने अभिधर्मकोप, परमार्थसप्तति, विंशतिकाविज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, त्रिंशिकाविज्ञप्तिमात्रता तथा सद्धर्मपुण्डरीक, प्रज्ञापारमिता आदि महायानसूत्रोंके ऊपर टीकायें लिखी

---

disguised return from the theory of a stream of the thought to the doctrine of substantial soul.

The conception of Buddhist Nirvana, पृ. ३२.

यामाकामी सोगेन (Yamakami sogen) ने आलयविज्ञान और आत्माकी तुलना करते हुए लिखा है—

The Alayavijnana of the Buddhists has its counterpart in the Atman of the orthodox Hindu system of philosophy, with this difference that the Atman is immutable while the Alayavijnana is continuously changing........It might be said to be mutable while the Soul is immutable, but it may be said to resemble soul in its continuity. Our consciousnesses are dependent upon the Alayavijnana. They act or stop, but the Alayavijnana is continuously a consciosness. It is universal only in .the sense that it can go everywhere, while the Atman is said to be present everywhere. The Alayavijnana is said to attain its liberation and amalagamate with the ocean of the 'Great Atman' while the Alayavijnana is the name given to consciousness in the stage of the common people and of one who has just attained the seventh Bhumi or realm of Bodhisattva.

Systems of Buddhistic Thought

अध्याय. ६, पृ. २११,२३७।

१. भगवानाह। न हि महामते तीर्थकरात्मवादतुल्यो मम तथागतगर्भोपदेशः। किंतु महामते तथागताः शून्यताभूतकोटिनिर्वाणानुत्पादानिमित्ताप्रणिहिताद्यानां महामते पदार्थानां तथागतगर्भोपदेशं कृत्वा तथागता अर्हन्तः सम्यक्संबुद्धाः बालानां नैरात्म्यसंत्रासपदविवर्जितार्थं निर्विकल्पनिराभासगोचरं तथागतगर्भमुखोपदेशेन देशयन्ति। न चात्र महामते अनागतप्रत्युत्पन्नैः बोधिसत्वैर्महासत्वैरात्माभिनिवेशकर्तव्यः। ....एवं हि महामते तथागतगर्भोपदेशमात्मवादाभिनिविष्टानां तीर्थकराणामाकर्षणार्थं तथागतगर्भोपदेशेन निर्दिशन्ति। लंकावतार पृ. ७७।

हैं। महायान सम्प्रदायके प्ररूपण करनेवाले आचार्योंका नाम लेते समय अश्वघोषका स्थान बहुत महत्त्वका है। अश्वघोष (८० ई०) तथतावाद नामके एक नूतन सिद्धांतके जन्मदाता थे। अश्वघोषने लंकावतारसूत्रके आधारसे अपने महायान मार्गके तत्त्वदर्शनकी रचना की है। अश्वघोष अपने जीवनके प्रारंभमें बड़े भारी विद्वान् थे। अश्वघोषका सिद्धांत केवल शून्यविज्ञानवादका सिद्धांत नहीं है, बल्कि उसमें उपनिषदोंके शाश्वतवादकी छाया स्पष्ट मालूम देती है। अश्वघोषने श्रद्धोत्पादशास्त्र, बुद्धचरित, सौंदरानन्द, सूत्रालंकार, वज्रसूचि आदि अनेक बौद्ध शास्त्रोंकी रचना की है।

बौद्धोंका अनात्मवाद

(१) उपनिषद्कारोंका मत है कि आत्मा नित्य, सुख और आनन्द रूप है, और यह दृश्यमान जगत इस आत्माका ही रूप है। पति पत्नीको और पत्नी पतिको एक दूसरेके सुखके लिये प्यार नहीं करते, परन्तु प्राणीमात्रकी प्रवृत्ति अपनी-अपनी आत्माके सुखके लिये होती है, अतएव आत्मा सर्वप्रिय है। इसलिये आत्माका दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिये; क्योंकि आत्माके दर्शन, श्रवण, आदिसे समस्त ब्रह्माण्डका ज्ञान होता है।[1] (२) नैयायिक-वैशेषिकोंकी मान्यता है कि आत्मा नित्य और सर्वव्यापी है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुख, और ज्ञान ये आत्माके जाननेके लिंग हैं। आत्मा शरीरसे भिन्न होकर कर्मोंका कर्ता और भोक्ता है। आत्माको चेतनाके संबंधसे चेतन कहा जाता है। (३) मीमांसकोंके मतमें आत्मा चैतन्यरूप है। आत्माके सुख, दुखके सम्बन्धसे आत्मामें परिवर्तन होना कहा जाता है, वास्तवमें नित्य आत्मामें परिवर्तन नहीं होता। (४) सांख्य लोगोंका मत है कि आत्मा नित्य, व्यापक निर्गुण और स्वयं चैतन्यरूप है। बुद्धि और चैतन्य परस्पर भिन्न हैं। अतएव बुद्धिके सम्बन्धसे आत्माको चेतन नहीं कह सकते। आत्मा निष्क्रिय है, इसलिये इसे कर्ता और भोक्ता भी नहीं कह सकते। प्रकृति ही करने और भोगनेवाली है। प्रकृति और आत्माका सम्बन्ध होनेसे संसारका आरम्भ होता है। (५) जैन लोगोंका कथन है कि यदि आत्माको सर्वव्यापी और सर्वथा अमूर्त मानकर निरवयव माना जाय तो निरंश परमाणुकी तरह आत्माका मूर्त शरीरसे सम्बन्ध तथा आत्मामें ध्यान, ध्येय आदिका व्यवहार और आत्माको मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिये आत्मा व्यवहार नयकी अपेक्षा संकोच और विस्तारवाला होकर सावयव है, तथा निश्चय नयसे अमूर्त होनेके कारण लोकव्यापी है।

बौद्ध लोग आत्मवादियोंकी उक्त सम्पूर्ण मान्यताओंका विरोध करते हैं।[2] उन लोगोंका कथन है कि आत्माको नित्य स्वतन्त्र द्रव्य माननेमें दर्शनशास्त्र (Metaphysical) और नीतिशास्त्र (Ethical) सम्बन्धी दोनों तरहकी कठिनाइयां आती हैं। यदि आत्माको सर्वथा नित्य स्वीकार किया जाय तो उसमें बन्ध और मोक्षकी व्यवस्था नहीं बन सकती है। "यदि आत्माको कूटस्थ नित्य मानें तो वह अनन्त काल तक एक-रस रहनेवाला होगा। फिर सदाके लिये रहनेवाले आत्मापर अनुभवोंका ठप्पा कैसे पड़ सकता है? यदि पड़ सके तो ठप्पा पड़ते ही उसका रूप परिवर्तन हो जायगा। आत्मा कोई जड़ पदार्थ नहीं है जिससे सिर्फ बाह्य अवयवपर ही लांछन हो। वह तो चेतनमय है, इसलिये ऐसी अवस्थामें इन्द्रियजनित ज्ञान उसमें सर्वत्र प्रविष्ट हो जायगा। वह राग, द्वेष, मोह--इन नाना प्रकारोंमेंसे किसी एक रूपवाला हो जायगा।

---

१. स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पति प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति।.........न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्। बृहदारण्यक उ. २-४-५

२. आत्मवादियोंके पूर्वपक्ष और उसके खंडनके लिये देखिये बोधिचर्यावतार परिच्छेद ९, पृ. ४५२ से आगे; तत्त्वसंग्रह, पृ. ७९-१३० आत्मपरीक्षा नामका प्रकरण।

तब फिर वह वही आत्मा नहीं हो सकता, जो ठप्पा लगनेसे पहले था। अतएव वह एक-रस भी नहीं हो सकता। फिर आत्मा नित्य कैसे हो सकता है? यदि थोड़ी देरके लिये मान भी लें कि आत्मा में ठप्पा लगता है तो वह अभौतिक संस्कार भी नित्य आत्मामें लगकर अविचल हो जायगा। तब फिर शुद्धि या मुक्तिकी आशा कैसे की जा सकती है?.........जो लोग पुनर्जन्म भी मानते हैं और साथ-साथ आत्माको नित्य भी, उनकी ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं। जब वह नित्य है तो कूटस्थ भी है, अर्थात् सदा एक-रस रहेगा, फिर ऐसी एक-रस वस्तुको यदि परिशुद्ध मानते हैं तो वह जन्म-मरणके फेरमें कैसे पड़ सकता है? यदि अशुद्ध है तो स्वभावतः अशुद्ध होनेसे उसकी मुक्ति कैसे हो सकती है? नित्य कूटस्थ होनेपर संस्कारकी छाप उसपर नहीं पड़ सकती, यह हम पहले कह चुके हैं। यदि छापके लिए मनको मानते हैं, तो आत्मा माननेकी जरूरत ही क्या रह जाती है?"[1] नित्य आत्माको माननेमें यह दर्शनशास्त्र सम्बन्धी कठिनाई है। आत्माके माननेमें दूसरी कठिनाई यह आती है कि प्रिय वस्तुको लेकर ही सम्पूर्ण दुख उत्पन्न होते हैं, इसलिये जिस समय मनुष्यको अपनी आत्मा सर्वप्रिय हो जाती है, उस समय मनुष्य अपनी आत्माकी सुखसाधन सामग्रियां जुटानेके लिये अहंकारका अधिकाधिक पोषण करने लगता है, फलतः मनुष्यके दुखकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती है[2]। अतएव बौद्धोंने आत्माको कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं मानकर रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार इन पांच स्कन्धोंके[3] समूहसे उत्पन्न होनेवाली शक्तिको आत्मा अथवा विज्ञान नामसे कहा है। यह विज्ञान प्रतिक्षण नदीके प्रवाहकी तरह (नदीसोतोविय)[4] बदलता रहता है। जिस प्रकार दीपककी ज्योति क्षण-क्षणमें बदलते रहने पर भी सदृश परिवर्तनके कारण एक अखण्ड रूपसे मालूम होती है, अथवा जिस

---

१. राहुल सांकृत्यायन—मज्झिमनिकाय भूमिका पृ. त।

२. दुःखेहतुरहंकार आत्ममोहात्तु वर्धते।
ततोऽपि न निवर्त्यश्चेत् वरं नैरात्म्यभावना॥ बोधिचर्यावतार ९-७८।

साहंकारे मनसि न शमं याति जन्मप्रबंधो। नाहंकारश्चलति हृदयादात्मदृष्टौ च सत्याम्।
अन्यः शास्ता जगति भवतो नास्ति नैरात्म्यवादी। नान्यस्तस्मादुपशमविधेस्त्वन्मतादस्तिमार्गः॥
तत्त्वसंग्रहपंजिका, पृ. ९०५।

तुलनीय—जन्मयोनिर्यतस्तृष्णा ध्रुवा सा चात्मदर्शने। तदभावे च नेयं स्याद्बीजाभावे इवांकुरः।
न ह्यपश्यन्नहमिति स्निह्यत्यात्मनि कश्चन। न चात्मनि विना प्रेम्णा सुखहेतुपु धावति॥
यशोविजय, द्वा. द्वात्रिंशिका २५-४,५।

३. नात्मास्ति स्कंधमात्रं तु कर्मक्लेशाभिसंस्कृतम्।
अन्तराभवसन्तत्या कुक्षिमेति प्रदीपवत्॥

आत्मेति नित्यो ध्रुवः स्वरूपतोऽविपरिणामधर्मा कश्चित् पदार्थो नास्ति। कर्मभिः अविद्यादिक्लेशैश्च संस्कारमापन्नं पंचस्कंधमात्रमेव, अन्तराभवसन्तानक्रमेण गर्भं प्रविशति। क्षणे क्षणे उत्पद्यमानं विनश्यमानमपि तत् स्कंधपंचकं स्वसन्तानद्वारा प्रदीपकलिकावत् एकत्वं बोधयति। अभिधर्मकोश ३-१८ टीका।

४. अमेरिकाके मानसशास्त्रवेत्ता प्रो. विलियम जेम्स (William James) ने भी विज्ञान (Consciousness) को विचारोंका प्रवाह मानते हुए नित्य आत्माके स्थानपर चित्तसन्तति (Stream of Thought) को स्वीकार किया है—The unity, the identity, the individuality, and the immateriality that appear in the psychic life are thus accounted for as phenomenal and temporal facts exclusively, and with no need of reference to any more simple or substantial agent than the present Thought or

प्रकार नदीमें प्रत्येक क्षण नये नये जलके आते रहनेपर भी नदीके जल-प्रवाहका अविकल रूपसे ज्ञान होता है, उसी तरह बाल, युवा और वृद्ध अवस्थामें विज्ञानमें प्रतिक्षण परिवर्तन होनेपर भी समान परिवर्तन होनेके कारण विज्ञान (आत्मा) का एक रूप ज्ञान होता है। बौद्धोंका कहना है कि इस विज्ञानप्रवाह (चित्तसंतति) के माननेसे काम चल जाता है, अतएव आत्माको अलग स्वतंत्र पदार्थ माननेकी आवश्यकता नहीं।

भवसन्तति

बौद्ध आत्माको न मानकर भी भवकी परम्परा किस प्रकार स्वीकार करते हैं, यह मिलिन्दपण्हके निम्न संवादसे भली भांति स्पष्ट होता है[1]—

मिलिन्द—भन्ते नागसेन ! दूसरे भवमें क्या उत्पन्न होता है ?

नागसेन—महाराज ! दूसरे भवमें नाम और रूप उत्पन्न होता है।

मिलिन्द—क्या दूसरे भवमें यही नाम और रूप उत्पन्न होता है ?

नागसेन—दूसरे भवमें यही नाम और रूप उत्पन्न नहीं होता। परन्तु लोग इस नाम और रूपसे अच्छे, बुरे कर्म करते हैं, और इस कर्मसे दूसरे भवमें दूसरा नाम और रूप उत्पन्न होता है।

मिलिन्द—यदि यही नाम-रूप दूसरे भवमें उत्पन्न नहीं होता, तो हमें अपने बुरे कर्मोका फल नहीं भोगना चाहिये ?

नागसेन—यदि हमें दूसरे भवमें उत्पन्न न होना हो, तो हमें अपने बुरे कर्मोंका फल न भोगना पड़े, परन्तु हमें दूसरे भवमें उत्पन्न होना है, अतएव हम बुरे कर्मों से निवृत्त नहीं हो सकते।

मिलिन्द—कोई दृष्टांत देकर समझाइये।

नागसेन—कल्पना करो कि कोई आदमी किसीके आम चुरा लेता है। आमों का मालिक चोरको पकड़कर राजाके पास लाता है और राजासे उस चोरको दण्ड देनेकी प्रार्थना करता है। अब, यदि चोर कहने लगे कि मैंने इस आदमीके आम नहीं चुराये, क्योंकि जो आम इन आमोंके मालिकने बागमें लगाये थे, वे आम दूसरे थे, और जो आम मैंने चुराये हैं, वे दूसरे हैं, इसलिये मैं दण्डका पात्र नहीं हूं, तो क्या वह चोर दण्डका भागी नहीं होगा ?

मिलिन्द—अवश्य ही आमों का चोर दंडका पात्र है।

नागसेन—किस कारणसे ?

मिलिन्द—क्योंकि पिछले आम पूर्वके आमोंसे ही प्राप्त हुए हैं।

नागसेन—ठीक इसी प्रकार इस नाम-रूपसे हम अच्छे, बुरे कर्मोंको करते हैं और इस कर्मसे दूसरे भवमें दूसरा नाम और रूप उत्पन्न होता है। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि 'यदि यही नाम दूसरे भवमें उत्पन्न नहीं होता तो हमें अपने बुरे कर्मोंका फल नहीं भोगना चाहिए।'

'section' of the stream........But the Thought is a perishing and not an immortal or incorruptible thing. Its successors may continuously succeed to it, resemble it, and appropriate it, but they are not it, whereas the soul substance is supposed to be a fixed unchanging thing. The Principles of Psychology, अध्याय. १०, पृ. ३४४, ३४५।

१. मिलिन्दपण्ह, अध्याय २, पृ. ४६।

बौद्धोंका कथन है कि जिस प्रकार एक दीपक से दूसरे दीपकके जलाये जानेपर पहला दीपक दूसरे दीपकके रूपमें नहीं बदल जाता, अथवा जिस प्रकार गुरुके शिष्यको विद्या दान करनेपर गुरुका सिखाया हुआ श्लोक शिष्यके सीखे हुए श्लोकमें नहीं परिणत होता, उसी प्रकार विना किसी नित्य पदार्थके माने विज्ञान-सन्ततिके द्वारा भवपरम्परा चलती है। जिस समय जीवकी मृत्यु होती है, उस समय मरनेके समयमें रहनेवाला विज्ञान संस्कारोंकी दृढ़तासे गर्भमें प्रविष्ट होकर फिरसे दूसरे नाम-रूपसे संवद्ध हो जाता है। अतएव एक विज्ञानका मरण और दूसरे विज्ञान का जन्म होता है। जिस प्रकार ध्वनि और प्रतिध्वनिमें, मुहर और उसकी छापमें, पदार्थ और पदार्थ के प्रतिबिम्बमें कार्य-कारण संवंध है, उसी तरह एक विज्ञान और दूसरे विज्ञानमें कार्य-कारण संबंध है। विज्ञान कोई नित्य वस्तु नहीं है। इस विज्ञानकी परम्परासे दूसरे भवमें जो मनुष्य उत्पन्न होता है, उस मनुष्यको न पहला ही मनुष्य कह सकते हैं, और न उसे पहले मनुष्यसे भिन्न ही कहा जा सकता है।[1] अतएव जिस प्रकार कपासके बीजको लाल रंगसे रंग देनेसे उस बीजका फल भी लाल रंगका उत्पन्न होता है, उसी तरह तीव्र संस्कारोंकी छापके कारण अविच्छिन्न संतानसे यह मनुष्य दूसरे भवमें भी अपने किये हुए कर्मोंके फलको भोगता है। इसलिये जिस प्रकार डाकुओंसे हत्या किये जाते हुए मनुष्यके टेलीफोन द्वारा पुलिसके थानेमें खबर देनेसे मनुष्यके अंतिम वाक्योंसे मरनेके पश्चात् भी मनुष्यकी क्रियायें जारी रहती हैं,[2] उसी तरह संस्कारकी दृढ़ताके बलसे मरनेके अंतिम चित्त-क्षणका जन्म लेनेके पूर्व-क्षणके साथ संबंध होता है। वास्तवमें आतमाका पुनर्जन्म नहीं होता, किन्तु जिस समय कर्म (संस्कार) अविद्या से संवद्ध होता है, उस समय कर्मका पुनर्जन्म कहा जाता[3] है। इसीलिये बौद्ध दर्शनमें कर्मको छोड़कर चेतना अलग वस्तु नहीं है।[4]

बौद्ध साहित्यमें आत्मासंबंधी मान्यतायें

बौद्ध साहित्यमें आत्माके संबंधमें भिन्न-भिन्न मान्यतायें उपलब्ध होती हैं। संक्षेपमें इन मान्यताओंको हम चार विभागोंमें विभक्त कर सकते हैं। (१) मिलिन्दपण्ह आदि ग्रंथोंके अनुसार पांच स्कंधोंको छोड़कर आत्मा कोई पृथक् पदार्थ नहीं है। इसलिये पंच स्कंधोंके समूहको ही आत्मा कहना चाहिये। (२) पांच स्कंधोंके अतिरिक्त नैयायिक आदि मतोंकी तरह आत्मा पृथक् पदार्थ है। (३) आत्माका अस्तित्व

---

१. मिलिन्दपण्ह अध्याय २, पृ. ४०-५०। स्पष्टीकरणके लिये देखिये बोधिचर्यावतार ९-७३ की पंजिका; तत्त्वसंग्रह, कर्मफलसंबंधपरीक्षा तथा लोकायतपरीक्षा नामक प्रकरण।

२. मिसेज़् राइस डेविड्स, Buddhist Psychology, पृ. २५।

३. देखिये वारैन (Warren) की Buddhism in Translation पुस्तकका Rebirth and not Transmigration नामक अध्याय, पृ. २३४-२४१।

४. (क) चेतनाहं भिक्खवे कम्मंति वदामि। अंगुत्तरनिकाय ३-४५।

(ख) सत्वलोकमथ भाजनलोकं चित्तमेव रचयत्यतिचित्रं।

कर्मजं हि जगदुक्तमशेषं कर्मचित्तमवधूय न चास्ति॥ बोधिचर्यावतारपंजिका, पृ. ४७२।

(ग) कम्मा विपाका वत्तन्ति विपाको कम्मसंभवो।
कम्मा पुनब्भवा होंति एवं लोको पवत्तति॥
कम्मस्स कारको नत्थि विपाकस्स च वेदको।
सुद्धधम्मा पवत्तन्ति एवेतं सम्मदस्सनं॥

विसुद्धिमग्ग, अध्याय १९।

तो है परन्तु इसे 'अस्ति' और 'नास्ति' दोनों नहीं कह सकते । यह मत वात्सीपुत्रीय बौद्धों का है ।[1] (४) आत्मा है । या नहीं, यह कहना असंभव है । इन चारों मान्यताओंका स्पष्टीकरण :

(१) आत्मा पाच स्कंधोंसे भिन्न नहीं है :

मिलिन्द—भन्ते ! आपका क्या नाम है ?

नागसेन—महाराज ! नागसेन । परन्तु यह व्यवहारमात्र है, कारण कि पुद्गल[2] (आत्मा) की उपलब्धि नहीं होती ।

मिलिन्द—यदि आत्मा कोई वस्तु नहीं है तो आपको कौन पिंडपात (भिक्षा) देता है, कौन उस भिक्षाका सेवन करता है, कौन शीलकी रक्षा करता है, और कौन भावनाओंका चिन्तन करनेवाला है ? तथा फिर तो अच्छे, बुरे कर्मोंका कोई कर्ता और भोक्ता भी न मानना चाहिये, आदि ।

नागसेन—मैं यह नहीं कहता ।

मिलिन्द—क्या रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञानसे मिलकर नागसेन बने हैं ?

नागसेन—नहीं ।

मिलिन्द—क्यां पांच स्कंधोंके अतिरिक्त कोई नागसेन है ?

नागसेन—नहीं ।

मिलिन्द—तो फिर सामने दिखाई देनेवाले नागसेन क्या हैं ?

नागसेन—महाराज ! आप यहां रथसे आये हैं, या पैदल चलकर ?

मिलिन्द—रथ से ।

नागसेन—आप यहां रथसे आये हैं, तो मैं पूछता हूं कि रथ किसे कहते हैं ? क्या पहियोंको रथ कहते हैं ? क्या धुरेको रथ कहते हैं ? क्या रथमें लगे हुए डण्डोंको रथ कहते हैं ?

(मिलिन्दने इनका उत्तर नकारमें दिया)

नागसेन—तो क्या पहिये, धुरे, डण्डे आदिके अलावा रथ अलग वस्तु है ?

(मिलिन्दने फिर नकार कहा)

नागसेन—तो फिर जिस रथ से आप आये हैं, वह क्या है ?

मिलिन्द—पहिये, धुरा, डण्डे आदि सबको मिलाकर व्यवहारसे रथ कहा जाता है । पहिये आदि-को छोड़कर रथ कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं ।

नागसेन—जिस प्रकार पहिये, धुरे आदिके अतिरिक्त रथका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, उसी तरह रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार इन पाँच स्कंधोंको छोड़कर नागसेन कोई अलग वस्तु नहीं है ।[3]

---

१. आत्मवादकी इन तीन मान्यताओंका उल्लेख धर्मपालाचार्यने अपनी विज्ञानमात्रशास्त्रकी संस्कृत टीकामें किया है । यह टीका उपलब्ध नहीं है । जापानी विद्वान यामाकामी सोगेनने ने यह उल्लेख अपनी Systems of Buddhist thought नामक पुस्तकके १७ वें पृष्ठपर उक्त ग्रंथके हुएनत्सांग के चीनी अनुवादके आधारसे किया है ।

२. पुग्गलो नुपलब्भति । मिलिन्दपण्हमें अत्ता (आत्मा) शब्दके स्थानपर जीव, पुग्गल और वेदगू शब्दोंका व्यवहार किया है । देखिये मिसेज् राइस डैविड्स Question of Milinda ।

३. नागसेनोति संखा समञ्ञा पञ्ञत्ति वोहारो नाममत्तं पवत्तति । परमत्थतो पन एत्थ पुग्गलो नुपलब्भति । भासितं पन एतं महाराज वजिराय भिक्खुनीया भगवतो सम्मुखा—

यथाहि अंग संभारा होति सद्दो रथो इति ।

एवं खन्धेसु सन्तेसु होंति सत्तोति सम्मुति ॥ मिलिन्दपण्ह, अध्याय २, पृ. २५-२८ ।

(२) आत्मा पांच स्कंधोंसे भिन्न पदार्थ है :

बौद्धोंको दूसरो मान्यता है कि आत्मा पंचस्कंधोंसे पृथक् पदार्थ है। यह मान्यता नैयायिक आदि दार्शनिकों जैसी ही है। यहां पर आत्मा (पुद्गल) को पांच स्कंध रूप बोझेको ढोनेवाला कहा है।[1]

(३) आत्मा पांच स्कंधोंसे न भिन्न है, न अभिन्न :

बौद्धोंके आत्मा संबंधी तीसरे सिद्धान्तको माननेवाले पुद्गलवादी वात्सीपुत्रीय बौद्ध हैं। ये लोग आत्माके अस्तित्वको मानते हैं, परन्तु इनके अनुसार जिस तरह अग्निको न जलती हुई लकड़ीसे भिन्न कह सकते हैं, और न अभिन्न, परन्तु फिर भी अग्नि भिन्न वस्तु है; उसी तरह यद्यपि पुद्गल भिन्न पदार्थ है, परन्तु यह पुद्गल न पांच स्कंधोंसे सर्वथा भिन्न कहा जा सकता है और न अभिन्न। यह न नित्य है, और न अनित्य। यह पुद्गल अपने अच्छे, बुरे कर्मोंका कर्ता और भोक्ता है, इसलिये इसके अस्तित्वका निषेध नहीं कर सकते।

(४) आत्मा अव्याकृत है :

इस मान्यताके अनुसार आत्मा क्या है, यह नहीं कहा जा सकता। (क) जिस समय अनुराधने बुद्धसे प्रश्न किया कि क्या जीव रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञानसे बाह्य है तो बुद्धने उत्तर दिया कि तुम इसी लोकमें जीव दिखानेमें समर्थ नहीं, फिर परलोककी बात तो दूर रही; इसलिये मैं 'दुःख, और दुखका निरोध' इन दो तत्त्वोंका ही उपदेश करता हूँ। जिस प्रकार किसी तीरसे आहत मनुष्यका 'यह तीर किसने मारा है'? कौनसे समयमें मारा है? कौनसी दिशासे आया है?' आदि प्रश्न करना वृथा है, क्योंकि उस समय मनुष्यको इन सब प्रश्नोत्तरोंमें न पड़कर घावकी रक्षा की ही बात सोचनी चाहिये; उसी प्रकार आत्मा क्या है? परलोक क्या है? मरनेके बाद तथागत पैदा होता है या नहीं? आदि प्रश्न अव्याकृत है[2]। (ख) बहुतसी जगह आत्माके विषयमें प्रश्न पूछे जानेपर बुद्ध मौन धारण करते हैं[3]। इस मौनका कारण हैं कि यदि वे कहें कि आत्मा है तो लोग शाश्वतवादी हो जाते हैं और यदि कहा जाये कि आत्मा नहीं है, तो लोग उच्छेदवादी हो जाते हैं। अतएव एक ओर शाश्वतवाद और दूसरी ओर उच्छेदवादका निराकरण करनेके लिये मौन रहना ही ठीक समझा गया[4]। (ग) अनेक बौद्ध

तथा—दुखमेव हि न कोचि दुक्खितो।
कारको न किरियाव विज्जति।
अत्थि निवुत्ति न निव्वुत्तो पुमा।
मग्गमत्थि गमको न विज्जति ॥ विसुद्धिमग्ग, अध्याय १६।

तथा देखिये कथावत्थु १–२; अभिधर्मकोश ३–१८ टीका; दीघनिकाय, पायासिसुत्त; संयुत्तनिकाय ५–१०-६।

१. "भारं वो भिक्षवो देशयिष्यामि भारादानं भारनिक्षेपं भारहारं च। तत्र भारः पंचोपादानस्कंधाः, भारादानं तृष्णिः, भारनिक्षेपो मोक्षः, भारहारः पुद्गलः....." तत्त्वसंग्रहपंजिका, आत्मवादपरीक्षा ३४९; तथा धम्मपद, अत्तवग्गो।

२. संयुत्तनिकाय, अनुराधसुत्त; तथा—'स्कंधाः सत्त्वा एव ततो भिन्ना वा' इति प्रश्नः सत्त्वस्य विषये, सत्त्वश्च नास्त्येव किमपि वस्तु। तेनायं प्रश्नः 'वन्ध्यापुत्रः शुक्ल कृष्णो वा' इतिवत् स्थापनीय (अनुत्तरितं) एव। अभिधर्मकोश ५–२२ टिप्पणी; बुद्धचर्या पृ. १८६ से आगे।

३. किनु खो गोतम अत्थत्ताति।
एवं वुत्ते भगवा तुण्ही अहोसि ॥
किं पन भो गोतम नत्थत्ताति ॥
दुतियंपि खो भगवा तुण्ही अहोसि। संयुत्तनिकाय ४–१००।

४. अस्तीति शाश्वतग्राही नास्तीत्युच्छेददर्शनं। तस्मादस्तित्वनास्तित्वे नाश्रीयेत विचक्षणः ॥
माध्यमिककारिका १८–१०।

सूत्रोंमें आत्माके विषयमें प्रश्न किये जानेपर आत्माका स्पष्ट विवेचन न करके बार बार यही कहा गया है कि रूप आत्मा नहीं, वेदना आत्मा नहीं, संज्ञा आत्मा नहीं, संस्कार आत्मा नहीं, विज्ञान आत्मा नहीं[१] तथा जो लोग रूप, वेदना आदिको आत्मा समझते हैं, उनके सत्कायदृष्टि कही जाती है[२]। महायान सम्प्रदायने इसी अनत्तावाद (नैरात्म्यवाद) पर अपने विज्ञानवाद और शून्यवादकी स्थापना कर क्लेशावरण और ज्ञेयावरण के नाश करनेके लिये नैरात्म्यवादके प्रतिपादनपूर्वक आत्मदृष्टिसे क्लेशोंकी उत्पत्ति बतायी है[३]। नागार्जुनने कहा है, "बुद्धने यह भी कहा है कि आत्मा है, और यह भी कहा है कि आत्मा नहीं है। तथा बुद्धने आत्मा और अनात्मा किसीका भी उपदेश नहीं दिया[४]।"

---

१. मज्झिमनिकाय, महापुण्णमसुत्त १०९।

२. सत् कायः पंच उपादानस्कंधाः एव। तत्राहं मम दृष्टिः। अभिधर्मकोश ५-७।

३. सत्कायदृष्टिप्रभवानशेषान् क्लेशांश्च दोषांश्च धिया विपश्यन्।
आत्मानमस्याविषयं च बुद्ध्वा योगी करोत्यात्मनिषेधमेव ॥ माध्यमिककारिका १८-१८।

४. आत्मेत्यपि प्रज्ञपितमनात्मेत्यपि देशितः। बुद्धैर्नात्मा न चानात्मा कश्चिदित्यपि देशितं ॥
माध्यमिककारिका १९-६।

न्याय-वैशेषिक परिशिष्ट (ग)

(श्लोक ४ से १० तक)

न्याय-वैशेषिकदर्शन

(१) न्याय दर्शनके मूल प्रवर्तक अक्षपाद गौतम कहे जाते हैं। अक्षपादको महायोगी, अहल्यापति आदि नामोंसे भी कहा गया है[1]। पुराणोंके अनुसार स्वमतदूषक व्यास ऋषिका मुख देखनेके लिए गौतमके पैरोंमें नेत्र थे, इसलिए इनका नाम अक्षपाद पड़ा[2]। प्राचीन मान्यताके अनुसार, गौतम ऋषिके आश्रममें वृष्टिके न होनेपर भी वरुणके वरसे वृक्ष आदि वनस्पतियाँ सदा हरी भरी रहा करती थीं। नैयायिक योग; और शैव नामसे भी कहे जाते हैं। नैयायिक दर्शनमें शिव भगवान जगतकी सृष्टि और संहार करते हैं; वे व्यापक, नित्य, एक और सर्वज्ञ हैं, और इनकी बुद्धि शाश्वती रहती है। नैयायिक लोग प्रमाण, प्रमेय संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान इन सोलह तत्त्वोंके ज्ञानसे दुखका नाश होनेपर मुक्ति स्वीकार करते हैं। ये लोग प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और आगम इन चार प्रमाणोंको मानते हैं।[3] (२) वैशेषिक दर्शनके आद्यप्रणेता कणाद कहे जाते हैं। कणादको कणभक्ष अथवा औलूक्य नामसे भी कहा गया है। पौराणिक मान्यताके अनुसार, कणाद ऋषि रास्तेमें पड़े हुए चावलोंके कणोंका आहार करके कपोती वृत्तिसे अपना निर्वाह करते थे, अतएव इनका नाम कणाद अथवा कणभक्ष पड़ा[4]। कणादने काश्यपगोत्री उलूक ऋषिके घर जन्म

---

१. अक्षपादो महायोगी गौतमाख्योऽभवन्मुनिः।
गोदावरीसमानेता अहल्यायाः पतिः प्रभुः॥
स्कन्दपुराण, कुमारिकाखण्ड।

२. पुराणोंमें सांख्य-योगकी तरह अक्षपाद और कणादप्रणीत शास्त्रोंको श्रुतिविरुद्ध कहा है—
अक्षपादप्रणीते च काणादे योगसांख्ययोः।
त्याज्यः श्रुतिविरुद्धोऽर्थः। पद्मपुराण; न्यायकोश पृ. २।

३. न्याय ग्रन्थोंमें प्रमाणके लक्षण निम्न प्रकारसे मिलते हैं—
(क) जिस प्रत्यक्ष आदिके द्वारा प्रमाता पदार्थोंको यथार्थ रूपसे जानता है, उसे प्रमाण कहते हैं—
प्रमाता येनार्थं प्रमिणोति तत् प्रमाणम्। वात्स्यायनभाष्य १-१-१।

(ख) जो ज्ञानमें कारण हो, उसे प्रमाण कहते हैं—उपलब्धिहेतुः प्रमाणम्। उद्योतकर, न्यायवार्तिक।

(ग) अव्यभिचारी और असंदिग्ध रूपसे पदार्थोंके ज्ञान करनेवाली बोधाबोध स्वभाववाली सामग्रीको प्रमाण कहते हैं—अव्यभिचारिणीमसंदिग्धार्थोपलब्धिम् विदधति बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्। जयन्त, न्यायमंजरी पृ. १२।

(घ) पदार्थोंके यथार्थ रूपसे जाननेको प्रमा और प्रमाके साधनको प्रमाण कहते हैं—यथार्थानुभवः प्रमा। तत्साधनं च प्रमाणम्। उदयन, तात्पर्यपरिशुद्धि।

(ङ) प्रमासे नित्य संबंध रखनेवाले परमेश्वरको प्रमाण कहते हैं—साधनाश्रयव्यतिरिक्तत्वे सति प्रमाव्याप्तं प्रमाणम्। सर्वदर्शनसंग्रह, अक्षपाददर्शन।

४. मुनिविशेषस्य कापोतीं वृत्तिमनुष्ठितवतो रथ्यानिपतितांस्तण्डुलकणानादाय कृताहारस्याहारनिमित्तात् कणाद इति संज्ञाऽजनि। षड्दर्शनसमुच्चय, गुणरत्नटीका, पृ. १०७।

धारण किया था, अतएव इनका नाम औलूक्य पड़ा। वायुपुराणके अनुसार, औलूक्य द्वारकाके पास प्रभासके रहनेवाले सोमशर्माके शिष्य थे। वैदिक परम्पराका अनुकरण करते हुए हेमचन्द्र, राजशेखर, गुणरत्न आदि जैन विद्वानोंका कथन है कि स्वयं ईश्वरने उल्लू (उलूक) का रूप धारण करके कणाद ऋषिको द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य, विशेष और समवाय इन छह पदार्थोंका उपदेश किया था। इस उपदेशके ऊपरसे कणाद ऋषिने जीवोंके उपकारके लिये वैशेषिक सूत्रोंकी रचना की, इसीलिए कणाद ऋषि औलूक्य नामसे कहे जाने लगे।[1] "ईसाकी छठी शताब्दिके चित्साङ् (Ci-tsan) नामक एक चीनी बौद्ध वैशेषिक दर्शनके जन्मदाता उलूकका समय बुद्धसे आठ सौ वर्ष पहले बताते हैं। चित्साङ्का कथन है कि उलूक रातको सूत्रोंकी रचना करते थे और दिनमें भिक्षावृत्ति करते थे, इसलिये इनका नाम उलूक पड़ा। चित्साङ्ने दूसरी जगह लिखा है कि उलूकके रचे हुए सूत्र सांख्य दर्शनके सूत्रोंसे बढ़े-चढ़े (विशेष) थे, इसलिये उलूकका दर्शन वैशेषिक दर्शनके नामसे प्रसिद्ध हुआ। सूत्रालंकारके कर्त्ता अश्वघोषका कहना है कि जैसे रातमें उल्लू शक्तिशाली होता है, वैसे ही संसारमें बुद्धके आनेके पहले यह दर्शन शक्तिशाली था। बुद्धके प्रादुर्भाव होनेपर इस दर्शनका प्रभाव हीन हो गया, इसलिये इस दर्शनको औलूक्य दर्शन कहते हैं[2]।" वैशेषिकोंका दूसरा नाम पाशुपत है। वैशेषिक लोग द्रव्य,[3] गुण, कर्म, सामान्य विशेष और समवाय इन छह तत्त्वोंको[4], और प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाणोंको स्वीकार करते हैं।

न्याय-वैशेषिकोंके समानतंत्र

नैयायिक और वैशेषिक लोग बहुतसी मान्यताओंसे एकमत हैं, इसलिये इन्हें 'समानतंत्र' कहा गया है। न्यायभाष्यकार वात्स्यायनने वैशेषिक सिद्धांतको न्यायका 'प्रतितंत्र' सिद्धांत कहा है। बौद्ध विद्वान आर्यदेव और हरिवर्मन् भी न्याय और वैशेषिक सिद्धांतोंका भिन्न-भिन्न रूपमें उल्लेख नहीं करते। उद्योतकर अपने न्यायवार्तिकमें वैशेषिक सिद्धांतोंका ही उपयोग करते हैं। आगे चलकर वरदराज तार्किकरक्षामें, केशवमिश्र तर्कभाषामें, शिवादित्य सप्तपदार्थीमें, लौगाक्षिभास्कर तर्ककौमुदीमें, विश्वनाथ भाषापरिच्छेद और सिद्धांतमुक्तावलिमें, अन्नंभट्ट तर्कसंग्रहमें और जगदीश तर्कामृतमें न्याय-वैशेषिक सिद्धांतोंका समान रूपसे उपयोग करते हैं। विद्वानोंका मत है कि प्रशस्तपादभाष्यकारके समयके वैशेषिक सिद्धांत और उद्योतकरके समयके न्याय सिद्धांतोंमें बहुत कम अन्तर था, परन्तु उत्तरकालीन वैशेषिकोंने आत्मा और अनात्माके

---

१. वैशेषिकः स्यादौलूक्यः। नित्यद्रव्यवृत्तयोऽत्र विशेषाः, ते प्रयोजनमस्य वैशेषिकं शास्त्रं तद् वेत्त्यधीते वा वैशेषिकाः। उलूकस्यापत्यमिव। तज्जन्यत्वादौलूक्यं शास्त्रं, उलूकवेषधारिणा महेश्वरेण प्रणीतमिति प्रसिद्धिः। अभिधानचिन्तामणि ३-५२६ वृत्ति।

२. प्रोफेसर ध्रुव, स्याद्वादमंजरी, नोट्स, पृ. २३-२५।

३. वैशेषिकोंके द्रव्य, गुण, काल, आत्मा, परमाणु आदिकी मान्यताओंके साथ जैनदर्शनके सिद्धांतोंकी तुलना करनेके लिये देखिये वैशेषिकसूत्र और तत्त्वार्थाधिगमसूत्र; तथा प्रोफेसर याकोबी का Jain Sutras भाग २, भूमिका, पृ. ३३ से ३८।

४. वैशेषिकसूत्र और प्रशस्तपादभाष्यमें द्रव्य, गुण आदि छह पदार्थोंका ही उल्लेख पाया जाता है। हरिभद्र, शंकराचार्य आदि विद्वानोंने छह पदार्थोंका उल्लेख किया है। आगे जाकर श्रीधर, उदयन, शिवादित्य आदि विद्वान छह पदार्थोंमें अभाव नामका सातवाँ पदार्थ मिलाकर सात पदार्थोंको स्वीकार करते हैं। इन विद्वानोंकी मान्यता है कि अभाव तुच्छ रूप नहीं है। अन्य पदार्थोंकी तरह अभाव भी अलग पदार्थ है। यह अभाव भावके आश्रयसे रहता है, इसीलिये भाष्यकारने अभावको अलग पदार्थ नहीं कहा (अभावस्य पृथगनुपदेशः भावपारतन्त्र्यात् न त्वभावात्—न्यायकंदली पृ. ६)। शिवादित्यने सात पदार्थोंके विवेचन करनेके लिये सप्तपदार्थी नामक स्वतंत्र ग्रंथकी रचना की है।

'विशेष' की ओर अधिक ध्यान दिया, और परमाणुवादका विशेष रूपसे अध्ययन किया, तथा उत्तरकालीन नैयायिकोंने न्याय और तर्कको वृद्धिगत करनेमें अपनी शक्ति लगाई इसलिये आगे चलकर न्याय और वैशेषिक सिद्धांतोंमें परस्पर बहुत अन्तर पड़ता गया। यह अन्तर इतना बढ़ा कि वैशेषिकोंके पदार्थोंका खण्डन करनेके लिये नव्य-नैयायिक रघुनाथ आदिको 'पदार्थखण्डन' जैसे ग्रंथोंकी रचना करनी पड़ी। गुणरत्नसूरिने नैयायिक और वैशेषिकोंके मतको अभिन्न[1] बताते हुए उनके साधुओंके समान वेष और आचारका वर्णन करते हुए लिखा है—"ये लोग निरन्तर दण्ड धारण करते हैं, मोटी लंगोटी पहिनते हैं, अपने शरीरको कंबलसे ढके रहते हैं, जटा बढ़ाते हैं, भस्म लपेटते हैं, यज्ञोपवीत रखते हैं, हाथमें जलपात्र रखते हैं, नीरस भोजन करते हैं, प्रायः वृक्षके नीचे वनमें रहते हैं, तूंबी रखते हैं, कन्दमूल और फलके ऊपर रहते हैं, आतिथ्यकर्ममें रत रहते हैं, कोई सस्त्रीक होते हैं और कोई स्त्री रहित होते हैं, दोनोंमें स्त्री रहित अच्छे समझे जाते हैं। ये पंचाग्नि तप तपते हैं, संयमकी उत्कृष्ट स्थितिमें नग्न रहते हैं और प्रातःकाल दांत, पेट आदिको साफ करके अंगमें भस्म लगाकर शिवका ध्यान करते हैं। जब इनको यजमान लोग नमस्कार करते हैं, ये 'ओं नमः शिवाय' बोलते हैं, और संन्यासी लोग केवल 'नमः शिवाय' कहते हैं। ये तपस्वी शैव, पाशुपत, महाव्रतधर और कालमुखके भेदसे चार प्रकारके होते हैं। नैयायिक और वैशेषिकोंका देवताके विषयमें मतभेद नहीं है।"

न्याय-वैशेषिकोंमें मतभेद

१ वैशेषिक लोग शब्दको भिन्न प्रमाण नहीं मानते, परन्तु नैयायिक वेदोंके प्रामाण्यको स्वीकार करते हैं। नैयायिक शब्दको भिन्न प्रमाण मानकर वेदोंके प्रमाणके अतिरिक्त ऋषि, आर्य और म्लेच्छ आप्तोंको प्रमाण मानते हैं।

२ नैयायिक उपमानको भिन्न प्रमाण मानते हैं, तथा अर्थापत्ति, संभव और ऐतिह्यको प्रमाण मान कर उनका प्रत्यक्ष, अनुमान आदि चार प्रमाणोंमें अंतर्भाव करते हैं। वैशेषिक सूत्रोंमें उक्त प्रमाणोंका कोई उल्लेख नहीं। वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान केवल दो ही प्रमाण मानते हैं।

३ नैयायिक लोग सोलह पदार्थ मानते हैं। न्यायसूत्रोंमें द्रव्य, गुण, कर्म, विशेष और समवायके विषयमें कोई चर्चा नहीं आती। वैशेषिकसूत्रोंकी चर्चा प्रधानतया द्रव्य, गुण आदि पदार्थोंके संबंधमें ही होती है।

४ वैशेषिकसूत्रोंमें ईश्वरका नाम नहीं। न्यायसूत्र ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध करते हैं।

५ वैशेषिक मोक्षको निश्रेय अथवा मोक्ष नामसे कहते हैं, और शरीरसे सदाके लिये संबंध छूट जानेको मोक्ष मानते हैं। नैयायिक मोक्षको अपवर्ग नामसे कहते हैं, और दुखके क्षयको अपवर्ग मानते हैं।

६ वैशेषिक पीलुपाकके सिद्धांतको और नैयायिक पिठरपाकके सिद्धांतको मानते हैं[2]।

वैदिक साहित्यमें ईश्वरके विविध रूप

(१) वैदिक युगके लोग सूर्य, चन्द्र, उषा, अग्नि, विद्युत्, आकाश आदिको अपना आराध्य देव समझ कर सूर्य आदिकी पूजा और आराधना करते थे। धीरे-धीरे सूर्य आदिका स्थान इन्द्र, वरुण

---

१. अन्ये केचनाचार्याः नैयायिकमताद्वैशेषिकैः सह भेदं पार्थक्यं न मन्यन्ते। एकदेवतत्वेन तत्त्वानां मिथोऽन्तर्भावेनाल्पीयस एव भेदस्य भावाच्च नैयायिकवैशेषिकाणां मिथो मतैक्यमेवेच्छन्तीत्यर्थः। षड्दर्शनसमुच्चयटीका पृ. १२१।

२. देखिये दासगुप्तकी A History of Indian Philosophy, Vol. I, पृ. ३०४–५।

आदि देवताओंका मिला। ये इन्द्र, वरुण आदि देवतागण, जिस तरह कोई बढ़ई अथवा सुनार किसी नूतन पदार्थकी सृष्टि करता है, उसी तरह एक साथ अथवा एक-एक करके जगतकी सृष्टि करते हैं। तत्पश्चात् वेदोंमें जन, सृज, अण्ड, गर्भ, रेतस आदि शब्दोंका प्रयोग मिलता है, और यहाँ देवताओंको सृष्टिसर्जक और शासक कहकर पिता रूपसे उल्लेख किया गया है। आगे चलकर सृष्टिको देवताओंकी माया कह कर सृष्टिको मनुष्यबुद्धिके बाह्य बताया है। इन्द्र मायाके द्वारा सृष्टिकी रचना करता है, और अपने शरीरसे ही अपने माता-पिताका निर्माण करता है। तत्पश्चात् वैदिक ऋषि ईश्वरको निश्चित रूप देनेके लिये सत्, असत् तथा जीवन, मृत्यु आदि परस्पर विरोधी शब्दोंसे ईश्वरका वर्णन करते[1] हैं। (२) ब्राह्मणोंमें भी ईश्वर संबंधी अनेक मनोरंजक कल्पनायें पायी जाती हैं। (अ) प्रजापतिने एकसे अनेक होनेकी इच्छा की, इसके लिये प्रजापतिने तप किया और तीन लोकोंकी सृष्टि की[2]। (ब) सृष्टिके पहले पृथिवी, आकाश आदि किसी पदार्थका भी अस्तित्व नहीं था। प्रजापतिने एकसे अनेक होनेके लिये तपश्चरण किया। तपश्चरणके बलसे धूम, अग्नि, प्रकाश, ज्वाला, किरणें और बाष्पकी उत्पत्ति हुई, और बादमें ये सब पदार्थ बादलकी तरह जमकर घनीभूत हो गये। इससे प्रजापतिका लिंग फट गया, और उसमेंसे समुद्र फूट निकला। प्रजापति रुदन करने लगे, क्योंकि अब उनके ठहरनेकी कोई जगह नहीं रह गई थी। प्रजापतिकी आँखोंके अश्रुबिन्दु समुद्रके जलमें गिरे और ये पृथिवीके रूपमें परिणत हो गये। तत्पश्चात् प्रजापतिने पृथिवीको साफ किया और उसमें वायुमंडल और आकाशकी उत्पत्ति हुई।[3] (स) प्रजापतिने एकसे अनेक होनेके लिये कठोर तपश्चरण किया। उससे ब्राह्मन् (वेद) और जलकी उत्पत्ति हुई। प्रजापतिने त्रयोविद्याको लेकर जलमें प्रवेश किया, इससे अंडा उत्पन्न हुआ। प्रजापतिने अंडेका स्पर्श किया और फिर अग्नि, बाष्प, मृत्तिका आदिकी उत्पत्ति हुई।[4]

(३) उपनिषद्-साहित्यमें भी सृष्टि और सृष्टिकर्ताके विषयमें विविध सिद्धांतोंका प्रतिपादन किया गया है। (अ) केवल बृहदारण्यक उपनिषद्में कई कल्पनायें मिलती हैं। यहाँ असत्, मृत्यु और क्षुधाको एक मानकर मृत्युसे जीवनकी, तथा मृत्युसे जल, पृथिवी, अग्नि, वायु, लोक आदिकी सृष्टि स्वीकार की गई है। दूसरे स्थलपर आत्मा अथवा पुरुषसे सृष्टि की उत्पत्ति मानकर कहा गया है कि जिस समय आत्मामें संवेदन शक्तिका आविर्भाव हुआ, उस समय आत्मा अपनेको अकेले पाकर भयभीत हो उठा। आत्मा पुरुष और स्त्री दो भागोंमें विभक्त हुआ। स्त्रीने देखा कि पुरुष उसका सर्जक है और साथ ही उसका प्रेमी भी है। स्त्रीने गौका रूप धारण कर लिया। पुरुषने बैलका रूप धारण किया। इसी प्रकार बकरी, बकरा आदि युगलोंकी उत्तरोत्तर सृष्टि होती गई। अन्यत्र ब्रह्मसे सृष्टिकी रचना मानी गई हैं। यहां कहा गया है कि सृष्टिके पहले एक ब्रह्म ही था। ब्रह्मने अपनेको पर्याप्त शक्तिशाली न देखकर क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र जातियोंकी और सत्यकी सृष्टि[5] की। (ब) छान्दोग्य उपनिषद्में असत्को अंडा बताकर अंडेके फूटनेसे पृथिवी, आकाश, पर्वत आदिकी रचना मानी गई है।[6] (स) प्रश्न उपनिषद्में सृष्टिकर्ताको अनादि मानकर कहा गया है कि जिस समय ईश्वरको सृष्टिके रचनेकी इच्छा हुई, उस समय ईश्वरने रयि और प्राणके युगलको पैदा किया[7]। (ड) मुण्डक उपनिषद्में अक्षरसे सृष्टि मानी गई

---

१. देखिये बेल्वेल्कर और रानड़ेकी History of Indian Philosophy Vol. II अध्याय १।

२. ऐतरेयब्राह्मण ५–२३। देखिये वही, अध्याय २।

३. तैत्तिरीयब्राह्मण ११–२–९। वही।

४. शतपथब्राह्मण ६–१–१–८ और आगे। वही।

५. बृहदारण्यक उ. अध्याय १।

६. छान्दोग्य उ. ३–१९–१।

७. प्रश्न उ. १–४।

है[1]। इसी प्रकार अन्य उपनिषदोंमें तम, प्राण, आकाश, हिरण्यगर्भ, जल, वायु, अग्नि आदिसे सृष्टिका आरंभ स्वीकार किया गया है।[2]

भारतीय दर्शनमें चार्वाक, बौद्ध, जैन, मीमांसा, सांख्य[3] और योग[4] दर्शनकार ईश्वरको सृष्टिकर्ता स्वीकार नहीं करते। वेदान्त[5], न्याय[6] और वैशेषिक[7] दर्शनोंमें ईश्वरको सृष्टिका रचयिता माना गया है।

ईश्वरके अस्तित्वमें प्रमाण

ईश्वरवादियोंका मत है कि इस अचेतन सृष्टिका कोई सचेतन नियन्ता होना चाहिये। परमाणु और कर्मशक्तिसे सृष्टिकी रचना नहीं हो सकती क्योंकि परमाणु और कर्मशक्ति दोनों अचेतन हैं। इसलिये इस सृष्टिका सचेतन नियन्ता सर्वव्यापी, करुणाशील और जीवोंके कर्मोंके अनुसार सुख-दुःखका फल देनेवाला एक ईश्वर ही हो सकता है। ईश्वरके अस्तित्वमें दिये जानेवाले प्रमाणोंको तीन विभागोंमें विभक्त किया जा

---

१. मुण्डक उ. १–७।

२. देखिये रानड़े और बेल्वलकरकी Constructive Survey of the Upanisadic Philosophy, अ. २।

३. सांख्यदर्शनके इतिहासको तीन प्रधान युगोंमें विभक्त किया जाता है—(१) मौलिक अर्थात् उपनिषद्, भगवद्गीता, महाभारत और पुराणोंका सांख्य ईश्वरवादी था। (२) दूसरे युगका अर्थात् महाभारतके अर्वाचीन भागमें, तथा सांख्यकारिका और बादरायणके सूत्रोंमें वर्णित सांख्य 'प्रकृतिवाद' के सिद्धांतसे प्रभावित होकर अनीश्वरवादी हो गया। (३) तीसरे युगका अर्थात् ईसाकी सोलहवीं शताब्दिका सांख्यदर्शन विज्ञानभिक्षुके अधिपतित्वमें फिरसे ईश्वरवादकी ओर झुक गया।

४. योगको सेश्वर सांख्य भी कहा जाता है। इस मतमें ईश्वरको सृष्टिका कर्ता नहीं मानकर एक पुरुषविशेषको ईश्वर माना गया है। यह पुरुषविशेष सदा क्लेश, कर्म, कर्मोंका फल और वासनासे अस्पृष्ट रहता है।

५. वेदान्तके अनुसार, ईश्वर जगतका निमित्त और उपादान कारण है, इसलिये वेदान्तियोंका मत है कि ईश्वरने स्वयं अपनेमेंसे ही जगतको बनाया है, जब कि न्याय-वैशेषिकोंके अनुसार सृष्टिमें ईश्वर केवल निमित्त कारण है। इसके अतिरिक्त, वेदान्त मतमें अनुमानसे ईश्वरकी सिद्धि न मानकर जन्म, स्थिति और प्रलय तथा शास्त्रोंका कारण होनेसे ईश्वरको सिद्धि मानी गई है।

६. गार्बे (Garbe) आदि विद्वानोंके मतके अनुसार, न्यायसूत्र और न्यायभाष्यमें ईश्वरवादका प्रतिपादन नहीं किया गया है। यहाँ ईश्वरको केवल द्रष्टा, ज्ञाता सर्वज्ञ और सर्वशक्तिशाली कहा गया है, सृष्टिका कर्ता नहीं; परन्तु यह ठीक नहीं। क्योंकि न्यायभाष्यमें ईश्वरके पितृतुल्य होनेका स्पष्ट उल्लेख मिलता है—यथा पिताऽपत्यानां तथा पितृभूत ईश्वरो भूतानाम् ४–१–२१।

७. कुछ विद्वानोंका मत है कि वैशेषिकसूत्रोंमें ईश्वरके विषयका कोई उल्लेख नहीं पाया जाता। यहां परमाणु और आत्माकी क्रिया अदृष्टके द्वारा प्रतिपादित की जाती है। इसलिये मौलिक वैशेषिक दर्शन अनीश्वरवादी था। अथैली (Athalye) आदि विद्वान इस मतका विरोध करते हैं। उनका कहना है कि वैशेषिक दर्शन कभी भी अनीश्वरवादी नहीं रहा। वैशेषिकसूत्रोंका ईश्वरके विषयमें मौन रहनेका यही कारण है कि वैशेषिक दर्शनका मुख्य ध्येय आत्मा और अनात्माकी विशेषताओंको प्ररूपण करना रहा है। Tarka-Samgraha, पृ. १३६, ७—देखिये प्रोफेसर राधाक्रिश्ननकी Indian Philosophy, Vol. II, पृ. २२५।

सकता है—कार्यकारणभावमूलक (Cosmological), सत्तामूलक (Ontological), प्रयोजनमूलक (Teleological) ।

(१) **कार्यकारणभावमूलक :** न्याय-वैशेषिकोंका ईश्वरकी सिद्धिमें यह सुप्रसिद्ध प्रमाण है। नैयायिकोंका कहना है : 'जितने भी कार्य होते हैं, वे सब किसी बुद्धिमान कर्ताके बनाये हुए देखे जाते हैं। इसलिये पृथिवी, पर्वत आदि किसी कर्ताके बनाये हुए हैं, क्योंकि ये कार्य हैं। जो जो कार्य होते हैं, वे किसी कर्ताकी अपेक्षा रखते हैं, जैसे घट। पृथिवी, पर्वत आदि भी कार्य हैं, इसलिये ये भी किसी कर्ताके बनाये हुए हैं। यह कर्ता ईश्वर ही है।'[1] **शंका**—हम जो घट आदि साधारण कार्योंको देखते हैं, उनका कोई कर्ता अवश्य है परन्तु पृथिवी, पर्वत आदि असाधारण कार्योंके कर्ताका अनुमान नहीं किया जा सकता। अतएव 'जो कार्य होते हैं, वे किसी कारणकी अपेक्षा रखते हैं' यह अनुमान ठीक नहीं है। **समाधान**—हमने उक्त अनुमानमें सामान्य रूपसे व्याप्तिका ग्रहण किया है। जिस प्रकार रसोईघरमें धूम और अग्निकी व्याप्तिका ग्रहण होनेपर उस व्याप्तिसे पर्वत आदिमें भी धूम और अग्निकी व्याप्तिका ग्रहण किया जा सकता है, उसी तरह घट आदि कार्य और कुम्हार आदि कर्ताका संबंध देखकर पृथिवी, पर्वत आदि सम्पूर्ण कार्योंके कर्ताका अनुमान किया जाता है। उक्त अनुमानमें घट केवल दृष्टांतमात्र है। दृष्टांतके सम्पूर्ण धर्म दार्ष्टान्तिक में नहीं आ सकते। इसलिये जैसे छोटेसे छोटे कार्यका कोई कर्ता है, उसी तरह बड़ेसे बड़े पृथिवी आदि कार्योंका कर्ता ईश्वर है। **शंका**—अंकुर आदिके कार्य होनेपर भी उनका कोई कर्ता नहीं देखा जाता, इसलिये उक्त अनुमान बाधित है। **समाधान**—अंकुर आदि कार्य हैं, इसलिये उनका कर्ता भी ईश्वर ही है। ईश्वर अदृश्य है, अतएव हम उसे अंकुर आदिको उत्पन्न करता हुआ नहीं देख सकते। (२) **सत्तामूलक :** पश्चिमके एन्सेलम (Anselm) और दकार्त (Descarte) आदि विद्वान ईश्वरके अस्तित्वमें दूसरा प्रमाण यह देते हैं कि यदि ईश्वरकी सत्ता न होती तो हमारे हृदयमें ईश्वरके अस्तित्वकी भावना नहीं उपजती। जिस प्रकार त्रिभुजकी कल्पनाके लिये यह मानना आवश्यक है कि त्रिभुजके तीन कोण मिलकर दो समकोणके बराबर होते हैं, उसी प्रकार ईश्वरकी कल्पनाके लिये ईश्वरका अस्तित्व मानना अनिवार्य है।[2] (३) **प्रयोजनमूलक :** ईश्वरके सद्भावमें तीसरा प्रमाण है कि हमें सृष्टिमें एक अद्भुत व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है। यह सृष्टिकी व्यवस्था और उसका सामंजस्य केवल परमाणु आदिके संयोगके फल नहीं हो सकते। इसलिये अनुमान होता है कि कोई ऐसी शक्तिशाली महान् चेतनाशक्ति अवश्य है जिसने इस सृष्टिकी रचना की है।[3]

---

१. ह्यूम (Hume) आदि पश्चिमके विद्वानोंने इस तर्कका खण्डन किया है। इन लोगोंका कहना है कि जिस प्रकार हम सम्पूर्ण कार्योंके कारणका पता लगाते-लगाते आदिकारण ईश्वर तक पहुँचते हैं, उसी प्रकार ईश्वरके कारणका भी पता क्यों न लगाया जाय ? यदि हम ईश्वर रूप आदिकारणका पता लगाकर रुक जाते हैं, तो इससे मालूम होता है कि हम ईश्वरको केवल श्रद्धाके आधारपर मान लेना चाहते हैं। जैन, बौद्ध आदि अनीश्वरवादियों ने भी यह तर्क दिया है।

२. काण्ट (Kant) आदि पाश्चिमात्य दार्शनिकोंने इस युक्तिका खण्डन किया है। इन लोगोंका कथन है कि यदि हम मनुष्य-हृदयमें ईश्वरकी कल्पनाके आधारसे ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार करें तो "संसारमें जितने भिक्षुक हैं, वे मनमें अशर्फियोंकी कल्पना करके करोड़पति हो जायें।"

३. काण्ट (Kant), स्पेंसर, (Spencer), प्रोफेसर टिण्डल (Tyndall), प्रोफेसर नाइट (Knight) आदि विद्वानोंका कहना है कि हम ससीम ब्रह्माण्डको देखकर उससे असीम उपादान कारणका अनुमान नहीं कर सकते। इसलिये जब तक हम अन्य प्रमाणोंके द्वारा ईश्वरका निश्चय न कर लें, अथवा जब तक स्वयं ईश्वरके समान शक्तिशाली न बन जांय, तब तक ईश्वरके विषयमें हम अपना निर्णय नहीं दे

आचार्य उदयनने ईश्वर की सिद्धिमें निम्न प्रमाणोंका उल्लेख किया है—

(क) सृष्टि कार्य है, इसलिये इसका कोई कारण होना चाहिये। (ख) सृष्टिके आदिमें दो परमाणुओंमें संबंध होनेसे द्व्यणुककी उत्पत्ति होती है, इस आयोजन-क्रियाका कोई कर्त्ता होना चाहिये। (ग) सृष्टिका कोई आधार चाहिये। (घ) बुनने आदि कार्योंको सृष्टिके पहले किसीने सिखाया होगा, इसलिये कोई आदिशिक्षक होना चाहिये। (ङ) वेदोंमें कोई शक्तिका प्रदाता होना चाहिये। (च) कोई श्रुतिका बनानेवाला होना चाहिये। (छ) वेदवाक्योंका कोई कर्ता होना चाहिये। (ज) दो परमाणुओंके संबंधसे द्व्यणुक बनता है, इसका कोई ज्ञाता होना चाहिये[1]।

ईश्वरविषयक शंकायें

शंका—जगतके निर्माण करनेमें ईश्वरकी प्रवृत्ति अपने लिये होती है, अथवा दूसरेके लिये? ईश्वर कृतकृत्य है, उसकी सम्पूर्ण इच्छाओंकी पूर्ति हो चुकी है, अतएव वह अपनी इच्छाओंको पूर्ण करनेके लिये जगतका निर्माण नहीं कर सकता। यदि ईश्वर दूसरोंके लिये सृष्टिकी रचना करता है तो उसे बुद्धिमान नहीं कहा जा सकता। करुणासे बाध्य होकर भी ईश्वरने सृष्टिका निर्माण नहीं किया, अन्यथा जगतके सम्पूर्ण प्राणियोंको सुखी होना चाहिये था।[2] ईश्वरवादी—वास्तवमें करुणाके वशीभूत होकर ही ईश्वरकी सृष्टिके निर्माण करनेमें प्रवृत्ति होती है[3]। ईश्वर भिन्न-भिन्न प्राणियोंके पुण्य और पाप कर्मोंके अनुसार सृष्टिका सर्जन करता है, इसलिये सर्वथा सुखमय सृष्टिको रचना नहीं हो सकती। जीवोंके अच्छे और बुरे कर्मोंके अनुसार जगतको रचना करनेसे ईश्वरको स्वतंत्रतामें कोई बाधा नहीं पड़ सकती। क्योंकि जिस तरह अपने हाथ, पैर आदि अवयव अपने कार्यमें बाधक नहीं होते, इसी तरह जीवोंके कर्मोंकी अपेक्षा रखकर सृष्टिके निर्माण करने से ईश्वरको परावलम्बी नहीं कहा जा सकता। शंका—सृष्टिका बनानेवाला ईश्वर शरीर सहित होकर सृष्टि रचता है, अथवा शरीर रहित होकर? यदि ईश्वरको सशरीर माना जाय तो ईश्वरको अदृष्टका विषय कहना चाहिये, क्योंकि सम्पूर्ण शरीर अदृष्टसे ही निश्चित होते हैं। इसी प्रकार ईश्वरको अशरीरी भी नहीं मान सकते, क्योंकि अशरीर ईश्वर सृष्टिको उत्पन्न नहीं कर सकता। ईश्वरवादी—जिस प्रकार शरीर रहित आत्मा शरीरमें परिवर्तन उत्पन्न करती है, उसी तरह अशरीरी ईश्वर अपनी इच्छासे संसारका सर्जन करता है। ईश्वरमें इच्छा और प्रयत्नकी उत्पत्ति होनेके लिये भी ईश्वरको सशरीरी मानना ठीक नहीं। क्योंकि ईश्वरकी इच्छा और प्रयत्न स्वाभाविक हैं, कारण कि हम लोग ईश्वरकी बुद्धि, इच्छा और प्रयत्नको नित्य स्वीकार करते हैं।[4] अथवा परमाणुओंको ही

सकते। इसलिये प्रयोजनमूलक अनुमानसे हम विश्वके नियामक अथवा संयोजक ईश्वरका ही अनुमान कर सकते हैं, इससे विश्वके रचयिता अथवा उत्पादक ईश्वरका अनुमान नहीं हो सकता।

१. कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः॥ न्यायकुसुमाञ्जलि ५–१।

२. जे. एस. मिल (J. S. Mill) आदि पश्चिमके विद्वानोंने भी ईश्वरके विरुद्ध यह शंका उपस्थित की है।

३. अनुपभुक्तफलानां कर्मणां न प्रक्षयः सर्गमन्तरेण च तत्फलभोगाय नरकादिसृष्टिमारभते दयालुरेव भगवान्। उपभोगप्रबन्धेन परिश्रांतानामंतरांतरा विश्रांतये जंतूनां भुवनोपसंहारमपि करोतीति सर्वमेतत्कृपानिबंधमेव। न्यायमंजरी पृ. २०२।

४. यत्पुनर्विकल्पितं सशरीर ईश्वरः सृजति जगद् अशरीरो वेति तत्राशरीरस्यैव सृष्टत्वमस्याभ्युपगच्छामः। ननु क्रियावेशनिबन्धकम् कर्तृत्वं न पारिभाषिकं तदशरीरस्य क्रियाविरहात् कथं भवेत्। कस्य च कुत्राशरीरस्य कर्तृत्वं दृष्टमिति। उच्यते। प्रयत्नज्ञानचिकिर्षायोगित्वं कर्तृत्वमाचक्षते। तच्चेश्वरे

ईश्वरका शरीर माना जा सकता है। जिस प्रकार हमारी आत्मामें इच्छा होनेके कारण हमारे शरीरमें क्रिया होती है, उसी तरह ईश्वरकी नित्य इच्छासे परमाणुओंमें क्रिया होती है। **शंका**—ईश्वर प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं होता। किसी पदार्थको प्रत्यक्ष प्रमाणसे जाननेके लिये इन्द्रिय और पदार्थोंका संबंध होना आवश्यक है; परन्तु ईश्वरका इन्द्रियोंसे संबंध नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वरवादी ईश्वरको इन्द्रियोंके विषयके बाह्य मानते हैं, इसलिये प्रत्यक्षसे ईश्वरको नहीं जान सकते। अनुमान प्रत्यक्ष-पूर्वक ही होता है, अतएव ईश्वरका प्रत्यक्ष न होनेसे ईश्वरको अनुमानसे भी नहीं जान सकते। आप्तके उपदेशमें और उपमान प्रमाणमें भी प्रत्यक्षकी आवश्यकता पड़ती है, इसलिये उपमान और शब्दसे भी ईश्वरकी सिद्धि नहीं होती[1]। **ईश्वरवादी**—ईश्वर हमारे इन्द्रियप्रत्यक्षका विषय नहीं है, यह ठीक है। परन्तु इससे हम ईश्वरका अभाव सिद्ध नहीं कर सकते। अधिकसे अधिक हम यह कह सकते हैं कि ईश्वर प्रत्यक्षसे सिद्ध नहीं किया जा सकता। परन्तु किसी हालतमें प्रत्यक्षसे ईश्वरका अभाव सिद्ध नही होता। अनुमानसे ईश्वरकी सिद्धि और असिद्धि दोनों नहीं हो सकती। उपमान प्रमाणका ईश्वरसिद्धिसे कोई संबंध नहीं है। तथा शब्द प्रमाणसे ईश्वरकी सिद्धि होती ही है[2]।

ईश्वरके विषयमें आधुनिक पाश्चात्य विद्वानोंका मत

पश्चिमके आधुनिक दार्शनिक विद्वान प्रायः ईश्वरको सृष्टिका कर्ता नहीं मानते हैं। इन लोगोंका कहना है कि यदि ईश्वर सृष्टिका कर्ता होता और वह प्राणियोंका शुभचिन्तक होता तो गत योरूपीय महायुद्धमें असंख्य नर-नारियोंका रक्त पानीकी तरह कभी नहीं बहाया जाता। अतएव यदि सृष्टिकर्ता ईश्वर कृपालु है, तो उसे नाना प्रकारके दुःख और व्याधियोंसे परिपूर्ण सृष्टिकी कभी रचना नहीं करनी चाहिये थी। इस बात-को पाश्चात्य विद्वानोंने विभिन्न रूपोंमें प्रगट किया है। एच. जी. वेल्स (H. G. Wells) का कथन है कि ईश्वरको सर्व शक्तिमान सृष्टिका सर्जक नहीं कह सकते। यदि ईश्वर सृष्टिके प्राणियोंको युद्ध, मृत्यु आदिसे बचानेमें समर्थ होकर भी केवल अपनी क्रीड़ाके लिये ही सृष्टिका निर्माण करता है तो मैं उसे घृणाकी दृष्टिसे देखता हूँ। विलियम जेम्स (William James) के कथनानुसार हमें ऐसे ईश्वरकी आवश्यकता है जो हमारे जैसा ही हो, और हम उसे अपना मित्र, साथी, नायक, सेनापति और राजा मानकर अपनी असहाय और हीन दशामें उससे सहानुभूति प्राप्त कर सकें। इस विश्वमें ईश्वरीय क्रम दिखाई नहीं देता, इसलिये हम अनादि, अनन्त ईश्वरकी कल्पना नहीं कर सकते। प्रो. हेल्महोल्ट्ज (Prof. Helmholtz) का कहना है कि आंखमें वे सब दोष हैं जो किसीके देखनेके यंत्रमें पाये जा सकते हैं, और कुछ अधिक भी। इसमें कुछ अत्युक्ति नहीं है कि यदि कोई चश्मा बेचनेवाला इन दोषोंवाला चश्मा मुझे देता तो मैं उसकी मूर्खता या असावधानीको बड़े बलपूर्वक दिखाता और उसके चश्मेको लौटा देता। कॉमटे (Comte) आदिका कहना है कि सौर्यमण्डल ऐसा नहीं बना जिससे अधिकसे अधिक लाभ हो सकता। आवश्यकता थी कि चांद पृथिवी-के चारों ओर उतने ही समयमें घूमता जितनेमें पृथिवी सूर्यके चारों ओर घूमती है। यदि ऐसा होता तो चांद हर रातको पूरा-पूरा चमका करता। लैंग (Lange) और हक्सले (Huxley) आदि विद्वानोंका कथन है, सृष्टिमें उतना ही अपव्यय है जितना खेतमें एक खरगोशको मारनेके लिये करोडों तोपें छोड़नेमें होता है।

---

१. ईश्वरविषयक अन्य शंकाओंके लिये देखिये न्यायमंजरी पृ. १९०–४।

२. कुसुमांजलि स्तबक ३। तथा देखिये श्रीधरकी न्यायकंदली, पृ. ५४–५७; जयन्तकी न्यायमंजरी, पृ. १९४ से आगे। जयन्तने ईश्वरकी सिद्धिमें सामान्यतोदृष्ट अनुमान दिया है—सामान्यतोदृष्टं तु लिंगमीश्वर-सत्तायामिदं ब्रूमहे। पृथिव्यादिकार्यं धर्मि तदुत्पत्तिप्रकारप्रयोजनाद्यभिज्ञकर्तृपूर्वकमिति साध्यो धर्मः कार्य-त्वात् घटादिवत्।

प्लोटिनस (Plotinus) कहा करता था कि मुझे तो अपनी उत्पत्तिकी रीतिका ध्यान करके लज्जा आती है। इससे प्रतीत होता है या तो ईश्वर सृष्टिको न बनाता, या वह बुद्धिमान नहीं है। ईश्वरको चाहिये था कि कान, नाक, या अंगूठा आदिसे सन्तोत्पत्ति करता[1]। इसी प्रकार मैक्टैगर्ट (McTaggart), कैनन राशडल (Canon Rashdall) आदि विद्वानोंने ईश्वरको अकर्ता और असर्वव्यापक माना है[2]।

न्याय-वैशेषिक साहित्य

कणादके वैशेषिक सूत्रोंकी रचना अक्षपादके न्यायसूत्रोंसे पहले मानी जाती है। यूई (Ui) वैशेषिक दर्शनकी उत्पत्ति बुद्धके समय, और कमसे कम ईसाकी प्रथम शताब्दीके अन्तमें वैशेषिकसूत्रोंकी रचनाका समय मानते हैं। प्रशस्तपाद वैशेषिकसूत्रोंके समर्थ भाष्यकार हो गये हैं। इनका समय ईसाकी पाँचवी-छठी शताब्दी बताया जाता है। वैशेषिकसूत्रोंके ऊपर रावणभाष्य और भारद्वाजवृत्ति नामके भाष्योंका भी उल्लेख मिलता है। ये भाष्य आजकल लुप्त हो गये हैं। प्रशस्तपादभाष्य पर व्योमशेखरने व्योमवती, श्रीधरने न्यायकन्दली, उदयनने किरणावलि और श्रीवत्सने लीलावती, तथा नवद्वीपके जगदीश भट्टाचार्यने भाष्यसूक्ति और शंकरमिश्रने कणादरहस्य टीकायें लिखी हैं। इसके अतिरिक्त शिवादित्यकी सप्तपदार्थी, लौगाक्षिभास्करकी तर्ककौमुदी, विश्वनाथका भाषापरिच्छेद, तर्कसंग्रह, तर्कामृत आदि ग्रंथ वैशेषिकदर्शनका ज्ञान करनेके लिये महत्त्वपूर्ण हैं।

न्यायसूत्रोंकी रचनाके विषयमें विद्वानोंका मतभेद है। प्रो. याकोबीका मत है कि न्यायसूत्र २००-४५० ईसवी सन्‌में रचे गये हैं। यूई (Ui) ने इस समयको १५०-२५० ईसवी सन् स्वीकार किया है। प्रो. ध्रुवने उक्त मतोंकी विस्तृत समालोचना करते हुए न्यायसूत्रोंके रचनाके समयको ईसवी सन्‌के पूर्व दूसरी शताब्दी माना है[3]। वात्स्यायन न्यायसूत्रोंके प्रथम भाष्यकार गिने जाते हैं। इनका समय ईसाकी चौथी शताब्दी माना जाता है। वात्स्यायन पर बौद्ध तार्किक दिङ्नागके आक्षेपोंका परिहार करनेके लिये उद्योतकर (६३५ ई. स.) ने वात्स्यायनभाष्य पर न्यायवार्तिककी रचना की। न्यायवार्तिक पर वाचस्पतिमिश्रने (८४० ई. स.) न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका लिखी। वाचस्पतिको न्यायसूचिनिबंध और न्यायसूत्रोद्धारका भी कर्ता कहा जाता है। वाचस्पतिमिश्रने वेदांत, सांख्य, योग और पूर्वमीमांसा दर्शनों पर भी ग्रंथोंकी रचनाकी है। वाचस्पतिके बाद जयंतभट्टका (८८० ई० स०) नाम बहुत महत्त्वका है। इन्होंने कुछ चुने हुए न्यायसूत्रों पर स्वतंत्र टीका लिखी है। जयन्तने न्यायमंजरी, न्यायकलिका आदि ग्रन्थोंकी रचना की है। मल्लिषेणने स्याद्वादमंजरीमें जयन्तका उल्लेख किया है। उदयन आचार्य दसवीं शताब्दीके विद्वान है। इन्होंने वाचस्पतिकी तात्पर्यटीकापर तात्पर्यटीका-परिशुद्धि नामकी टीका, तथा न्यायकुसुमांजलि, आतमतत्त्वविवेक, लक्षणावलि, किरणावलि, न्यायपरिशिष्ट नामक ग्रंथोंकी रचना की है। उदयनकी रचनाओं पर गंगेश नैयायिकके पुत्र वर्धमान आदिने

---

१. ये उद्धरण पं. गंगाप्रसाद उपाध्यायकी आस्तिकवाद नामक पुस्तकके १० वें अध्यायमें फिलन्ट (Flint) की Theism के आधारसे दिये गये हैं।

२. कहा जाता है कि जिस समय कुसुमांजलिके कर्ता उदयनके नाना युक्तियोंसे ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध करनेपर भी ईश्वरने दयालुताका भाव प्रदर्शन नहीं किया, उस समय उदयनने ईश्वरको ऐश्वर्यके मदसे मत्त हुआ कहकर ईश्वरके अस्तित्वकी स्थितिको अपने अधीन बताकर निम्न श्लोककी रचना की—

ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मां अवज्ञाय वर्तसे।
पराक्रान्तेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः ॥

३. देखिये प्रो. ध्रुवकी स्याद्वादमंजरी भूमिका, पृ. ४१–५४।

टीकायें लिखी हैं। इसके अतिरिक्त भासर्वज्ञका न्यायसार, तथा मुक्तावली, दिनकरी, रामरुद्री नामकी भाषापरिच्छेदकी टीकायें, तर्कसंग्रह, तर्कभाषा, तार्किकरक्षा आदि न्यायदर्शनके उल्लेखनीय ग्रन्थोंमेंसे हैं। न्यायदर्शनमें नव्यन्यायका जन्म मिथिलाके गंगेश उपाध्यायसे आरंभ होता है। गंगेशका जन्म ई० स० १२०० में हुआ था। गंगेशने तत्त्वचिन्तामणि नामक स्वतंत्र ग्रन्थकी रचना की। इस ग्रंथमें नैयायिकोंके चार प्रमाणोंपर चर्चाकी गई है। तेरहवीं शताब्दीमें गंगेशके तत्त्वचिंतामणिपर जयदेवने प्रत्यक्षालोक नामकी टीका लिखी। इसके पश्चात् वासुदेव सार्वभौम (ई० स० १५००) ने तत्त्वचिंतामणिव्याख्या लिखी। वासुदेवके चैतन्य, कृष्णानंद, रघुनंदन और रघुनाथ नामके चार उत्तम शिष्य थे। इनमें रघुनाथने तत्त्वचिंतामणि पर दीधिति, और वैशेषिक मतका खंडन करनेके लिये पदार्थखंडन, तथा ईश्वरकी सिद्धिके लिये ईश्वरानुमान नामक ग्रंथ लिखे। इसके अतिरिक्त मथुरानाथ (१५८० ई. स.), जगदीश (१५९० ई. स.) और गदाधर (१६५० ई० स०) ने तत्वचिंतामणि पर टीकायें लिखकर नव्यन्यायको पल्लवित किया।

सांख्य-योग परिशिष्ट (घ)

(श्लोक २५)

सांख्य, योग, जैन और बौद्ध दर्शनोंकी तुलना और उनकी प्राचीनता

सांख्य जैन और बौद्धोंकी तरह वेदोंको नहीं मानते, मीमांसकोंके यज्ञ-याग आदिकी निन्दा करते हैं, तत्त्वज्ञान और अहिंसापर अधिक भार देते हैं, सांसारिक जीवनके दुख रूप साक्षात्कार करनेका उपदेश करते हैं, जातिभेद स्वीकार नहीं करते, ईश्वरको नहीं मानते, संन्यासको प्रधानता देते हैं, जैनोंकी तरह आत्मबहुत्ववाद और बौद्धोंके क्षणिकवादकी तरह परिणामवादको मानते हैं, तथा जैन और बौद्धोंके तीर्थंकरोंकी तरह कपिलका जन्म क्षत्रिय कुलमें होना स्वीकार करते है। इस परसे अनुमान किया जा सकता है कि सांख्य, योग, जैन और बौद्ध इन चारों संस्कृतियोंको जन्म देनेवाली कोई एक प्राचीन संस्कृति होनी चाहिये। ऋग्वेदमें एक जटाधारी मुनिका वर्णन आता है; इस युग में एक सम्प्रदाय वैदिक देवता और इन्द्र आदिमें विश्वास नहीं करता। यह सम्प्रदाय वेदकी ऋचाओंपर भी कटाक्ष किया करता था। यजुर्वेदमें भी वैदिक धर्मके विरुद्ध प्रचार करनेवाले यतियोंका उल्लेख आता है। एतरेय ब्राह्मण आदि ब्राह्मणोंमें भी वेदको न माननेवाले सम्प्रदायोंकी चर्चा और कर्मकाण्डकी अपेक्षा तपश्चरण, ब्रह्मचर्य, त्याग, इन्द्रियजय आदि भावनाओंकी उत्कृष्टताका उल्लेख किया गया है। उपनिषद् साहित्यमें तो ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं जहां ब्राह्मण क्षत्रिय गुरुसे अध्ययन करते हैं, ऋषि ब्रह्मचर्यको ही वास्तविक यज्ञ मानते हैं, वेदको अपराविद्या कहकर यज्ञ, याग आदिका तिरस्कार करते हैं, और भिक्षाचर्याकी प्रधानताका प्रतिपादन कर ब्रह्मविद्याके महत्त्वका प्रसार करते हैं। महाभारतमें भी जातिसे वर्णव्यवस्था न मानकर कर्मसे वर्णव्यवस्था माननेके, अपनी आंख और शरीरका मांस आदि काटकर दान करनेके, तथा अनेक प्रकारकी कठोर तपश्चर्यायें करनेके अनेक उदाहरण पाये जाते हैं। इस पर से ऋग्वेदमें भी एक ऐसी संस्कृतिके मौजूद रहनेका अनुमान होता है, जो संस्कृति कर्मकाण्डकी अपेक्षा ज्ञानकाण्डको, और गृहस्थधर्मकी अपेक्षा संन्यासधर्मका अधिक महत्व देती थी।[१] इस संस्कृतिको श्रमण अथवा क्षत्रिय संस्कृति कह सकते हैं।[२] उपनिषदोंका साहित्य अधिकतर इसी सांस्कृतिके मास्तिष्ककी उपज[३] कहा जाता है।

---

१. सिन्धमें मोहेन्जोदरो और हरप्पाकी खुदाईमें पायी जानेवाली ध्यानस्थ मूर्तियोंसे भी इस संस्कृतिकी प्राचीनताका अनुमान किया जा सकता है।

२. ब्राह्मण और श्रमण इन दोनों वर्गोंके इतिहासका मूल बहुत प्राचीन है। जिस तरह ब्राह्मणोंके धर्मशास्त्र, पुराण आदि ग्रन्थोंमें श्रमणोंका नास्तिक और असुरके रूपमें उल्लेखकर उनका स्पर्श करके सचेल स्नान आदिका विधान किया गया है, उसी तरह जैन, बौद्ध आदिके ग्रन्थोंमें ब्राह्मणोंका मिथ्यादृष्टि, कुमार्गगामी, अभिमानी आदि शब्दोंसे तिरस्कार किया गया है। जितेन्द्रबुद्धि आदि वैयाकरणोंने ब्राह्मण और श्रमणोंके विरोधको सर्प और नकुलकी तरह जाति-विरोध कहकर उल्लेख किया है। विशेषके लिये देखिये पं० सुखलालजीकी 'पुरातत्त्व' में प्रकाशित 'साम्प्रदायिकता अने तेना पुरावाओनुं दिग्दर्शन' नामक लेखमाला। इस लेखमालाका इस पुस्तकके लेखकद्वारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद 'जैनजगत' में भी प्रकाशित हुआ है।

३. विशेषके लिये देखिये, सन् १९३४ में बम्बईमें होनेवाली २१ वीं इन्डियन साइंस कांग्रेसके अवसरपर रायबहादुर आर. पी. चन्दा (R. P. Chanda) का श्रमणसंस्कृति (Shramanism) पर पढ़ा

सांख्य-योगदर्शन

सांख्य और योगदर्शन बुद्धके समयके पहिले दर्शन माने जाते हैं।[१] पतंजलिके योगसूत्र सांख्यप्रवचनके नामसे कहे जाते हैं, वाचस्पतिमिश्र भी सांख्य-योगके उपदेष्टा वार्षगण्यको 'योगशास्त्रव्युत्पादयिता' कहकर उल्लेख करते हैं, तथा स्वयं महर्षि पतंजलि सांख्य तत्त्वज्ञान पर ही योग सिद्धांतोंका निर्माण करते हैं। इससे मालूम होता है कि किसी समय सांख्य और योग दर्शनोंमें परस्पर विशेष अन्तर नहीं था। वास्तवमें सांख्य और योग दोनों दर्शनोंको एक दर्शनकी ही दो धारायें कहना चाहिये। इन दोनोंमें इतना ही अन्तर कहा जा सकता है कि सांख्यदर्शन तत्त्वज्ञानपर अधिक भार देता हुआ तत्त्वोंकी खोज करता है और तत्त्वोंके ज्ञानसे ही मोक्षकी प्राप्ति स्वीकार करता है, जब कि योगदर्शन यम, नियम आदि योगकी अष्टांगी प्रक्रियाका विस्तृत वर्णन करके योगकी सक्रियात्मक प्रक्रियाओंके द्वारा चित्तवृत्तिका निरोध होनेसे मोक्षकी सिद्धि मानता है।[२] सांख्यदर्शनको कापिलसांख्य और योगदर्शनको पातंजलसांख्य कह सकते हैं।

सांख्यदर्शन

शुद्ध आत्माके तत्त्वज्ञानको सांख्य कहते हैं[३]। अन्यत्र सम्यग्दर्शनके प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रको सांख्य कहा है।[४] अन्यत्र पच्चीस तत्त्वोंका वर्णन करनेके कारण सांख्यदर्शनको साख्य कहा जाता हैं।[५] गुणरत्नने

गया लेख; प्रो. विन्टरनीज़की Some Pıoblems in Indian Literature नामक पुस्तकमें Ascetic Literature ih Ancient lndia नामक अध्याय; इलियट (Eliot) की Hinduism and Buddhism, भाग २, अध्याय ६ और ७.।

१. वेबर (Weber) आदि विद्वानोंके मतमें सांख्यदर्शन सम्पूर्ण वर्तमान भारतीय दर्शनोंमें प्राचीनतम है। महाभारतमें सांख्य और योगदर्शनका 'सनातन' कहकर उल्लेख किया है।

२. सांख्य और योगदर्शनमें भेद प्रदर्शन करनेके लिये सांख्यको निरीश्वर सांख्य और योगको सेश्वर सांख्य भी कहा जाता है। न्यायसूत्रोंके भाष्यकार वात्स्यायनने सांख्य और योग दर्शनोंमें निम्न प्रकारसे भेदका प्रदर्शन किया है—सांख्य लोग असत्की उत्पत्ति और सत्का नाश नहीं मानते। उनके मतमें चेतनत्व आदिकी अपेक्षा सम्पूर्ण आत्मायें समान हैं, तथा देह, इन्द्रिय, मन और शब्दमें; स्पर्श आदिके विषयोंमें और देह आदिके कारणोंमें विशेषता होती है। योग मतके अनुयायी सम्पूर्ण सृष्टिको पुरुषके कर्म आदि द्वारा मानते हैं, दोष और प्रवृत्तिको कर्मोंका कारण बताते हैं, आत्मामें ज्ञान आदि गुणोंको, असत्की उत्पत्तिको, और सत्के नाशको स्वीकार करते हैं—नासतः आत्मलाभः न सत आत्महानम्। निरतिशयाश्चेतनाः। देहेन्द्रियमनस्सु विषयेषु तत्कारणेषु च विशेष इति सांख्यानाम्। पुरुषकर्मादिनिमित्तो भूतसर्गः। कर्महेतवो दोषाः प्रवृत्तिश्च। स्वगुणविशिष्टाश्चेतनाः। असदुत्पद्यते उत्पन्नं निरुध्यते। न्यायभाष्य १–१–२९।

३. शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयते। न्यायकोश पृ० ९०४ टिप्पणी

४. न्यायकोश पृ० ९०४।

५. पंचविंशतेस्तत्त्वानां संख्यानं संख्या। तदधिकृत्य कृतं शास्त्रं सांख्यम्। हेमचन्द्र–अभिधानचिन्तामणि-टीका ३–५२६। यूनानी विद्वान पाइथैगोरस (Pythagoras) संख्या (Number)के सिद्धांतको मानते थे। प्रो० विन्टरनीज़ (Winternitz) आदि विद्वानोंके अनुसार पाइथैगोरसपर भारतीय सांख्य सिद्धान्तोंका प्रभाव पड़ा है। ग्रीक और सांख्यदर्शनकी तुलनाके लिये देखिये प्रो० कीथ (Keith का Samkhya System अ० ६, पृ० ६५ से आगे।

षड्दर्शनसमुच्चयकी टीकामें सांख्यमतके साधुओंके आचारका निम्न प्रकारसे वर्णन किया है—"सांख्य मतके अनुयायी साधु त्रिदंडी अथवा एकदंडी होते हैं, ये कौपीन धारण करते हैं, गेरुए रंगके वस्त्र पहिनते हैं, बहुतसे चोटी रखते हैं, बहुतसे जटा बढ़ाते हैं, और बहुतसे छुरेसे मुंडन कराते हैं। ये मृगचर्मका आसन रखते हैं, ब्राह्मणोंके घर आहार लेते हैं, पांच ग्रास मात्र भोजन करते हैं, और बारह अक्षरोंकी जाप करते हैं। इनके भक्त नमस्कार करते समय 'ओं नमो नारायणाय' कहते हैं, और साधु केवल 'नारायणाय नमः' बोलते हैं। सांख्य परिव्राजक जीवोंकी रक्षाके लिए लकड़ीको मुखवस्त्रिका (बीटा) रखते है। ये जीवोंकी दया पालनेके लिये स्वयं जल छाननेका वस्त्र रखते हैं और अपने भक्तोंको पानी छाननेके लिये छत्तीस अंगुल लंबा और बीस अंगुल चौड़ा मजबूत बस्त्र रखनेका उपदेश देते हैं। ये मीठे पानीमें खारा पानी मिलानेसे जीवोंकी हिंसा मानते हैं, और जलकी एक बूँदमें अनंत जीवोंका अस्तित्व स्वीकार करते हैं। इनके आचार्योंके साथ 'चैतन्य' शब्द लगाया जाता है।" सांख्य कर्मकाण्डको, यज्ञ-यागको और वेदको नहीं मानते। ये अध्यात्मवादी होते हैं, हिंसाका विरोध करते हैं और वेद, पुराण, महाभारत, मनुस्मृति आदिकी अपेक्षा सांख्य तत्त्वज्ञानको श्रेष्ठ समझते हैं[1]। इन लोगोंका मत है कि यथेष्ट भोगोंका सेवन करनेपर तथा किसी भी आश्रममें रहनेपर भी यदि कपिलके पच्चीस तत्त्वोंका ज्ञान हो गया है, यदि सांख्य मतमें भक्ति हो गई है तो शिखाधारी, मुण्डी अथवा जटाधारीको भी मुक्ति हो सकती है[2]। सांख्योंके मतमें पच्चीस तत्त्व, तथा

---

१. य एष आनुश्रविकः श्रौतोऽग्निहोत्रादिकः स्वर्गसाधनतया तापत्रयप्रतीकारहेतुरुक्तः सोऽपि दृष्टवत् अनैकांतिकः प्रतीकारः। तथाहि 'मध्यमपिंडं पुत्रकामा पत्नी प्राश्नीयात् आधत्त पितरो गर्भम्' इति मंत्रेण। तदेवं वेदवचसा बहून् पिण्डान् परःशतानश्नाति यावदेकोऽपि पुत्रो न जायते। तथा 'पश्येम शरदः शतम् जीवेम शरदः शतम्' इति श्रुतावास्ते। परं गर्भस्थो जातमात्रो बालो युवापि कुमारो म्रियते। किंचान्यत्—स श्रौतो हेतुः अविशुद्धः पशुहिंसात्मकत्वात्। क्षययुक्तः पुनः पातात्। अतिशययुक्तः तत्रापि स्वामिभृत्यभावश्रवणात्। उक्तं च—

षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि।
अश्वमेधस्य वचनान्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः॥

पशुवधोऽग्निष्टोमे मानुषवधः गोसवव्यवस्था सौत्रामण्यां सुरापानं रण्डया सह स्वेच्छालापश्च ऋत्विजम्। कल्पसूत्रेऽन्यदपि आकृत्यं भूरि कर्तव्यतयोपदिश्यते। 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे तस्करं नारकाय वीरहम्' इत्यादिश्रवणात्। किञ्च—

यथा पंकेन पंकांभः सुरया वा सुराकृतम्।
भूतहत्यां तथैवेमां न यज्ञैर्मार्ष्टुमर्हति॥
न हि हस्तावसृग्दग्धौ रुधिरेणैव शुद्धचतः।

'तद्यथाऽस्मिन् लोके मनुष्याः पशूनश्नंति तथाभिभुञ्जत एवममुष्मिन् लोके पशव मनुष्यानश्नंति' इतिश्रुतिशतश्रवणात्। अन्यच्च—

वृक्षान् छित्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम्।
यद्येवं गम्यते स्वर्गं नरके केन गम्यते॥

इत्यविशुद्धि सर्वथा श्रौतो दुःखत्रयप्रतीकारहेतुः। सांख्यकारिका २ माठरभाष्य।

२. पंचविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रतः।
शिखी मुण्डी जटी वापि मुच्यते नात्र संशयः॥ पंचशिख। भावागणेश–तत्त्वयाथार्थ्यदीपन।

प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण माने गये हैं। वैदिक ग्रन्थोंमें कपिलको नास्तिक और श्रुतिविरुद्ध[1] तंत्रका प्रवर्तक कहकर कपिलप्रणीत सांख्य और पतंजलिके योगशास्त्रको अनुपादेय कहा है।

सांख्यदर्शनके प्ररूपक

कपिल—सांख्यदर्शनके आद्य प्रणेता, आदि विद्वान कपिल परमर्षि कहे जाते हैं[2]। कपिल क्षत्रिय थे। कुछ लोग कपिलको ब्रह्माका पुत्र बताते हैं। भागवतमें कपिलको विष्णुका अवतार कहकर उन्हें अपनी माता देवहूतिको सांख्य तत्त्वज्ञानका उपदेष्टा कहा गया है[3]। विज्ञानभिक्षुने कपिलको अग्निका अवतार बताया है। श्वेताश्वतर उपनिषद्में कपिलका हिरण्यगर्भके अवतार रूपमें उल्लेख आता है। रामायणमें कपिल योगीको वासुदेवका अवतार और सगरके साठ हजार पुत्रोंका दाहक बताया गया है। अश्वघोष बुद्धके जन्मस्थान कपिलवस्तुको कपिल ऋषिकी बसाई हुई नगरी कहकर उल्लेख करते हैं। कपिलने अपने पवित्र और प्रधान दर्शनको सर्व प्रथम आसुरिको सिखाया था। आसुरिने पंचशिखको सिखाया और पंचशिखने इस दर्शनको विस्तृत किया। पंचशिखके पश्चात् यह दर्शन भार्गव, वाल्मीकि, हारीत और देवल प्रभृतिने और ईश्वरकृष्णने सीखा। कपिलको सांख्यप्रवचनसूत्र और तत्त्वसमास नामके ग्रंथोंका प्रणेता कहा जाता है, परन्तु इस कथनका कोई आधार नहीं जान पड़ता[4]।

आसुरि—आसुरि कपिलके साक्षात् शिष्य और पंचशिखके गुरु कहे जाते हैं। आसुरिका मत था कि सुख और दुख बुद्धिके विकार हैं और ये जिस प्रकार चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब जलमें है, उसी तरह पुरुषमें प्रतिबिम्बित होते हैं[5] आसुरिके सिद्धांतोंके विषयमें विशेष पता नहीं लगता। आसुरिका समय ईसाके पूर्व ६०० वर्ष कहा जाता है।

पंचशिख—वाचस्पतिमिश्र, भावागणेश आदि टीकाकार पंचशिखका उल्लेख करते हैं। भावागणेशकी योगसूत्रवृत्तिसे मालूम होता है कि तत्त्वसमासपर पंचशिखने विवरण अथवा व्याख्या लिखी थी। पंचशिखका वर्णन महाभारतमें आता है। कहा जाता है कि पंचशिख अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय आत्माके शिखास्थानमें रहनेवाले ब्रह्मको जानते थे, इसलिये उनका नाम पंचशिख पड़ा। कपिल मतका अनुसरण करनेके कारण पंचशिख कापिलेय नामसे भी कहे जाते थे। चीनके बौद्ध सम्प्रदायके अनुसार पंच-

---

१. अतश्च सिद्धमात्मभेदकल्पनयापि कपिलस्य तन्त्रं वेदविरुद्धं वेदानुसारि मनुवचनविरुद्धं च। ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य २-१-१। तथा—नास्तिककपिलप्रणीतसांख्यस्य पतञ्जलिप्रणीतयोगशास्त्रस्य चानुपादेयत्वमुक्तं भारते मोक्षधर्मेषु—

साख्यं योगः पाशुपतं वेदारण्यकमेव च।
ज्ञानान्येतानि भिन्नानि नात्र कार्या विचारणा॥

गीता. मध्वभाष्य, अ. २ श्लो. ३९। न्यायकोश पृ. ९०४ टिप्पणी।

२. सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः पुरातनः।
हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः। महाभारत, मोक्षधर्म।
प्रो. राधाक्रिश्नन् आदि विद्वान् साख्य सिद्धांतके अव्यक्त बीजका ऋग्वेदमें पाये जानेका उल्लेख करते हैं।

३. कपिलस्तत्त्वसंख्याता भगवानात्ममायया।
जातः स्वयमजः साक्षादात्मप्रज्ञसये नृणाम्। भागवत ३–२५–१।

४. सांख्यसूत्र सर्वप्रथम अनिरुद्ध (१५०० ई. स.) की वृत्ति सहित और कुछ समय बाद विज्ञानभिक्षुके भाष्य (१६५० ई. स.) सहित देखनेमे आते हैं। अनिरुद्ध और विज्ञानभिक्षुके पूर्ववर्ती ईश्वरकृष्ण, शंकर, वाचस्पतिमिश्र, माधव आदि विद्वान सांख्यसूत्रोंका उल्लेख नहीं करते, इस परसे विद्वान सांख्यसूत्रोंको चौदहवीं शताब्दीके बाद बना हुआ अनुमान करते हैं।

५. देखिये पृ. १३८।

शिखको षष्टितंत्रका[1] प्रणेता कहा जाता है, परन्तु यह ठीक नहीं है। पंचशिख चौवीस तत्त्वोंको स्वीकार करते हैं और भूतोंके समूहसे आत्माकी उत्पत्ति मानते हैं। प्रो. दासगुप्तका मत है कि ईश्वरकृष्णकी सांख्यकारिका-का और महाभारतमें वर्णन किये हुए सांख्यसिद्धान्तोंका चरक (७८ ई. स.) में कोई उल्लेख नहीं मिलता, इसलिए महाभारतमें आया हुआ पंचशिखका सांख्य मौलिक सांख्यदर्शन है, तथा सांख्यकारिकाका ईश्वरकृष्ण-का सांख्य सांख्यदर्शनका अर्वाचीनका रूप है। गार्बे (Garbe) पंचशिखको ईसाकी प्रथम शताब्दीका विद्वान कहते हैं।

वार्षगण्य—वार्षगण्य विन्ध्यवासीके गुरु थे। महाभारतमें वार्षगण्यको सांख्य-योगके प्रणेताओंमें माना गया है। वाचस्पतिने इनका योगशास्त्र-व्युत्पादयिता कहकर उल्लेख किया है। अहिर्बुध्न्यसंहितामें और वाचस्पति आदिने वार्षगण्यको षष्टितंत्रका रचयिता कहा है। इनका समय ईसवी सन् २३०-३०० कहा जाता है।

विन्ध्यवासी—विन्ध्यवासीका उल्लेख मीमांसाश्लोकवार्तिक और तत्त्वसंग्रहपंजिका में आता है। इनका असली नाम रुद्रिल था। वसुबंधुके जीवनचरितके लेखक परमार्थके अनुसार, विन्ध्यवासीने वसुबंधुके गुरु बुद्धमित्रको शास्त्रार्थमें पराजित करके अयोध्याके विक्रमादित्य राजासे पारितोषिक प्राप्त किया था। विन्ध्य-वासी जय प्राप्त करके विन्ध्याचलको लौट गये और वहीं पर इन्होंने शरीर छोड़ा। इनका समय ई. स. २५०-३२० कहा जाता है।[2]

ईश्वरकृष्ण—ईश्वरकृष्ण सांख्यकारिकाके कर्ता हैं। सांख्यकारिको सांख्यसप्तति भी कहते हैं। यह ग्रंथ षष्टितंत्रके आधारसे रचा गया है। सांख्यकारिकाके ऊपर माठर और गौड़पादने टीकायें लिखी हैं। बौद्ध साधु परमार्थ छठी शताब्दीमें सांख्यकारिकाको चीनमें ले गये थे, और वहाँ उन्होंने इसका चीनी अनुवाद करके इसके ऊपर टीका लिखी थी। पहले ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवासीको एक ही व्यक्ति समझा जाता था, परन्तु कमलशील तत्त्वसंग्रहपंजिकामें ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवासीका अलग-अलग उल्लेख करते हुए विन्ध्यवा-सीका रुद्रिल नामसे उल्लेख करते हैं। गुणरत्न भी विन्ध्यवासी और ईश्वरकृष्णको अलग-अलग नामसे कहते हैं, इसलिये ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवासीको एक व्यक्ति नहीं कहा जा सकता। कुछ लोग ईश्वरकृष्णका समय वार्षगण्यके पूर्व मानकर ईश्वरकृष्णका समय दूसरी शताब्दी मानते हैं। कुछका कहना है कि महाभारतके वार्षगण्य ईश्वरकृष्णसे बिलकुल अनभिज्ञ हैं, इसलिये वार्षगण्यको ईश्वरकृष्णके उत्तरकालीन नहीं कहा जा सकता। इन विद्वानोंके मतमें ईश्वरकृष्णका समय ईसवी सन् ३४०-३८० माना जाता है।

वाचस्पतिमिश्र—नवमी शताब्दीमें वाचस्पतिने न्याय-वैशेषिक दर्शनोंकी तरह सांख्यकारिकापर सांख्य-तत्त्वकौमुदी और व्यासभाष्यपर तत्त्ववैशारदी नामक टीकाकी रचनाकी है।

विज्ञानभिक्षु—वाचस्पतिमिश्रके बाद विज्ञानभिक्षु अथवा विज्ञानयति एक प्रतिभाशाली सांख्य विचा-रक हो गये हैं। इन्होंने सांख्यसूत्रोंपर सांख्यप्रवचनभाष्य तथा सांख्यसार, पातंजलभाष्यवार्तिक, ब्रह्मसूत्रके ऊपर विज्ञानामृतभाष्य आदि ग्रन्थोंकी रचनाकी है। बहुतसे सिद्धांतोंमें विज्ञानभिक्षुका वाचस्पतिमिश्रसे भिन्न अभिप्राय था। विज्ञानभिक्षुने पंचशिख और ईश्वरकृष्णके समयमें लुप्त हुए ईश्वरवादका सांख्यदर्शनमें फिरसे प्रतिपादन किया है। भावागणेशदीक्षित, प्रसादमाधवयोगी और दिव्यसिंहमिश्र नामके इनके तीन प्रधान शिष्य थे।

---

१. वाचस्पतिमिश्र आदि विचारकोंके अनुसार षष्टितंत्र वार्षगण्यका बनाया हुआ है। षष्टितन्त्रका भगवती ज्ञातृधर्मकथा, नन्दि आदि जैन आगमोंमें उल्लेख आता है। जैन कथाके अनुसार षष्टितंत्र आसुरिका बनाया हुआ कहा जाता है। जैन टीकाकारोंने षष्टितंत्रका अर्थ कापिलीय शास्त्र किया है।

२. तत्त्वसंग्रह, अंग्रेजी भूमिका।

इनके अतिरिक्त सनक, नन्द, सनातन, सनत्कुमार, अंगिरा वोढु आदि अनेक सांख्य विचारक हो गये हैं, जिनका अव केवल नाम शेप रह गया है ।

योगदर्शन

योगशब्द ऋग्वेदमें अनेक स्थलोंपर आता है, परन्तु यहाँ यह शब्द प्रायः जोड़नेके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है । श्वेताश्वतर, तैत्तिरीय, कठ, मैत्रायणी आदि प्राचीन उपनिषदोंमें योग समाधिके अर्थमें पाया जाता है । यहाँ योगके अंगोंका वर्णन किया गया है । आगे जाकर शांडिल्य, योगतत्त्व, ध्यानविन्दु, हंस, अमृतनाद, वराह, नादविन्दु, योगकुण्डली आदि उत्तरकालको उपनिषदोंमें यौगिक प्रक्रियाओंका सांगोपांग वर्णन मिलता है । सांख्यदर्शनके कपिल मुनिकी तरह हिरण्यगर्भ योगदर्शनके आदि वक्ता माने जाते हैं । हिरण्यगर्भको स्वयंभू भी कहते हैं । महाभारत और श्वेताश्वतर उपनिषद्में हिरण्यगर्भका नाम आता है । पतंजलि आधुनिक योगसूत्रोंके व्यवस्थापक समझे जाते हैं ।[1] व्यासभाष्यके टीकाकार वाचस्पति और विज्ञानभिक्षु भी पतंजलिका योगसूत्रोंके कर्ता रूपमें उल्लेख नहीं करते । प्रो० दासगुप्त आदि विद्वानोके मतानुसार व्याकरण महाभाष्यकार और योगसूत्रकार पतंजलि दोनों एक ही व्यक्ति थे । पतंजलिका समय ईसाके पूर्व दूसरी शताब्दी माना जाता है । पतंजलिके योगसूत्रोंके ऊपर व्यासने भाष्य लिखा है । व्यासका समय ईसाकी चौथी शताब्दी कहा जाता है । ये व्यास महाभारत और पुराणकार व्याससे भिन्न व्यक्ति माने जाते हैं । व्यासके भाष्यके ऊपर वाचस्पति मिश्रने तत्त्ववैशारदी नामकी टीका लिखी है । व्यासभाष्यपर भोज (दसवीं शताब्दी) ने भोजवृत्ति, विज्ञानभिक्षुने योगवार्तिक और नागोजी भट्ट (सतरहवीं शताब्दी) ने छायाव्याख्या नामकी टीकायें लिखी हैं । योगकी अनेक शाखायें हैं । सामान्यसे योगके दो भेद हैं—राजयोग और हठयोग । पतंजलि ऋषिके योगको राजयोग कहते हैं । प्राणायाम आदिसे परमात्माके साक्षात्कार करनेको हठयोग कहते हैं । हठयोगके ऊपर हठयोगप्रदीपिका, शिवसंहिता, घेरण्डसंहिता आदि शास्त्र मुख्य हैं । ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोगके भेद-से योगके तीन भेद भी होते हैं । योगतत्त्व उपनिषद्में मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग इस तरह योगके चार भेद किये हैं ।

जैन और बौद्ध दर्शनमें योग

महाभारत, पुराण, भगवद्गीता आदि वैदिक ग्रंथोंके अतिरिक्त जैन और बौद्ध साहित्यमें भी योगका विशद वर्णन मिलता है । जैन आगम ग्रन्थ और प्राचीन जैन संस्कृत साहित्यमें योग शब्द प्रायः ध्यानके अर्थमें प्रयुक्त किया गया है । यहाँ ध्यानका लक्षण, भेद प्रभेद आदिका विस्तृत वर्णन मिलता है । योगविषयक साहित्यको पल्लवित करनेमें सर्वप्रथम हरिभद्रसूरिका नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय है । हरिभद्रने योगके ऊपर योगबिन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय, योगविंशिका, षोड़शक आदि ग्रन्थोंके लिखनेके साथ पतं-जलिके योगशास्त्रका पांडित्य प्राप्त करके पतंजलिके योगसूत्रोंके साथ जैनयोगको प्रक्रियाओंकी तुलना की है । हरिभद्रके योगदृष्टिसमुच्चयमें मित्रा; तारा आदि आठ दृष्टियोंका स्वरूप जैन साहित्यमें बिलकुल अभूतपूर्व है । जैन योगशास्त्रके दूसरे विद्वान् हेमचन्द्रसूरि हैं । इन्होंने योगपर योगशास्त्र नामक स्वतंत्र ग्रंथ लिखकर अनेक जैन यौगिक प्रक्रियाओंका पतंजलिकी प्रक्रियाओंसे समन्वय किया है । हेमचन्द्रके योगशास्त्रमें शुभचन्द्र आचार्य के ज्ञानार्णवमें आये हुए ध्यान आदिके वर्णनके साथ ध्यान, आसन आदिका विस्तृत वर्णन मिलता है । जैन-योग-साहित्यको वृद्धिगत करनेवाले सतरहवीं सदीके अंतिम विद्वान् यशोविजय उपाध्याय माने जाते हैं ।

---

१. तुलना करो—ननु

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः ।

इति याज्ञवल्क्यस्मृतेः पतंजलिः कथं योगस्य शासितेति चेत्-अद्धा । अतएव तत्र तत्र पुराणादौ विशिष्य योगस्य विप्रकीर्णतया दुर्ग्राह्यार्थत्वं मन्यमानेन भगवता कृपासिंधुना फणिपतिना सारं संजिघृक्षुणानुशासन-मारब्धं न तु साक्षाच्छासनम् । सर्वदर्शनसंग्रह १५ ।

यशोविजयजीने योगके ऊपर अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद्, तथा योगलक्षण, पातंजलयोगलक्षणविचार, योगभेद, योगविवेक, योगावतार, मित्रा, तारादित्रय, योगमाहात्म्य आदि द्वात्रिंशिकायें लिखनेके साथ हरिभद्रकी योगविंशिका और षोड़शकपर टीका लिखकर, पतंजलिके योगसूत्रोंपर जैन प्रक्रियाके अनुसार वृत्ति रची है। यशोविजयजीने उक्त ग्रंथोंमें भगवद्गीता, योगवाशिष्ठ, तैत्तिरीय उपनिषद्, पातंजल योगसूत्र आदि वैदिक ग्रंथोंका उपयोग किया है और साथ ही जैन और पतंजलिके योगको प्रक्रियाओंकी तुलना करते हुए अनेक स्थलोंपर पतंजलिकी प्रक्रियाका प्रतिवाद किया है।[1] बौद्ध ग्रंथोंमें भी योगका वर्णन मिलता है। स्वयं बुद्धने बोधि प्राप्त करनेके पूर्व योगका अभ्यास किया था। पातंजल योगदर्शनकी तरह बौद्ध शास्त्रोंमें भी अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा आदिको धर्मके प्रधान अङ्ग मान इनके विशद वर्णनके साथ हेय, हेयहेतु, हान और हानोपायको तरह दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग इन चार आर्यसत्योंका उपदेश दिया है। महायान सम्प्रदायकी विज्ञानवाद शाखा योगाभ्यासपर विशेष ध्यान देनेके कारण ही योगाचार नामसे कही जाती थी। योगाचार सम्प्रदायमें ध्यान, पारमिता, समाधि आदि प्रक्रियाओंका विस्तृत वर्णन पाया जाता है। बौद्धतन्त्रकी क्रियातन्त्रका नाम बहुत महत्त्वका है। अनुत्तरयोगतन्त्रके पंचक्रममें भी योगकी पांच दशाओंका वर्णन आता है। हीनयान सम्प्रदायमें भी योगाभ्यासको महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।[2]

---

१. जैन योगके विषयमें विशेष जाननेके लिए देखिये पं० सुखलालजीकी योगदर्शन और योगविंशिकाकी भूमिका।

२. हीनयानके योगसंबंधी सिद्धांतोंके लिये देखिये मिसेज राइस डैविड्सका Yogavchara's Mannual, पाली टैक्स्ट सोसायटी, १९१६।

मीमांसक परिशिष्ट (ङ)

(श्लोक ११ और १२)

मीमांसकोंके आचार विचार

मीमांसक दर्शनको जैमिनीय दर्शन भी कहते हैं। मीमांसक लोग उपनिषदोंसे पूर्ववर्ती वेदोंको ही प्रमाण मानते हैं, इसलिये ये पूर्वमीमांसक कहे जाते हैं। मीमांसक धूममार्गके अनुयायी होते हैं। ये यज्ञ-यागके द्वारा देवताओंको प्रसन्न करके स्वर्गकी प्राप्ति ही अपना मुख्य धर्म समझते हैं।[1] मीमांसक वैदिक हिंसाको हिंसा नहीं मानते, पितरोंको तृप्त करनेके लिये श्राद्ध करते हैं, देवताओंको प्रसन्न करनेके लिये मांसकी आहुति देते हैं, तथा अतिथियोंका मधुपर्क आदिसे सत्कार करते हैं। पूर्वमीमांसावादियोंको कर्ममीमांसक भी कहते हैं। "मीमांसक साधु कुकर्मसे रहित होते हैं, यजन आदि छह कर्मोंमें रत रहते हैं, ब्रह्मसूत्र रखते हैं, और गृहस्थाश्रममें रहते हैं। ये लोग सांख्य साधुओंकी तरह एकदण्डी अथवा त्रिदंडी होते हैं। ये गेरुआ रंगके वस्त्र पहिनते हैं, मृगचर्मके ऊपर बैठते हैं; कमण्डलु रखते हैं और सिर मुंडाते हैं। इन लोगोंका वेदके सिवाय और कोई गुरु नहीं है, इसलिये ये स्वयं ही संन्यास धारण करते हैं। मीमांसक साधु यज्ञोपवीतको धोकर पानीको तीन बार पीते हैं। ये ब्राह्मण ही होते हैं, और शूद्रके घर भोजन नहीं करते।" अर्वाचीन पूर्वमीमांसक तीन प्रकारके हैं—प्रभाकर (गुरु), कुमारिलभट्ट (तुतात) और मण्डन मिश्र। भट्ट छह और प्रभाकर पांच प्रमाणोंको अंगीकार करते हैं।

मीमांसकोंके सिद्धांत

१. वेद—वेदको श्रुति, आम्नाय, छन्द, ब्रह्म, निगम, प्रवचन आदि नामोंसे भी कहते हैं। वेदान्ती लोगोंकी जिज्ञासा ब्रह्मके लिये होती है; जब कि मीमांसक लोगोंका अंतिम ध्येय धर्म ही होता है। मीमांसकोंका मत है, कर्तव्य रूप धर्म अतीन्द्रिय है, वह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे नहीं जाना जा सकता। इसलिये धर्मका ज्ञान वेदवाक्योंकी प्रेरणा (चोदना) से ही होता है। उपनिषदोंका प्रयोजन भी वेदवाक्योंके समर्थन करनेके लिये ही है।[2] अतएव वेदोंको ही प्रमाण मानना चाहिये। वेदोंका कोई कर्ता प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं होता है। जिन शास्त्रोंका कोई कर्ता देखा जाता है, उन शास्त्रोंको प्रमाण नहीं कहा जा सकता, इसलिये अपौरुषेय होनेके कारण वेदको ही प्रमाण कहा जा सकता है।[3] वेद नित्य हैं, अबाधित हैं, धर्मके

---

१. देवतां उद्दिश्य द्रव्यत्यागो यागः। यागादिरेव श्रेयसाधनरूपेण धर्मः।

२. एतेन क्रत्वर्थकर्तृप्रतिपादकप्रतिपादनद्वारेणोपनिषदां नैराकांक्ष्यं व्याख्यातम्। तन्त्रवार्तिक पृ० १३।

३. नैयायिक लोग वेदको ईश्वरप्रणीत मान कर वेदके अपौरुषेयत्वका खंडन करते हैं—

वेदस्य कथमपौरुषेयत्वमभिधीयते। तत्प्रतिपादकप्रमाणाभावात्। अथ मन्येथा अपौरुषेया वेदाः संप्रदायाविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वादात्मवदिति। तदेतन्मंदम्। विशेषणासिद्धेः। पौरुषेयवेदवादिभिः प्रलये संप्रदायविच्छेदस्य कक्षीकरणात्। किंच किमिदमस्मर्यमाणकर्तृकत्वं नामाप्रमीयमाणकर्तृकत्वमस्मरण-गोचरकर्तृकत्वं वा। न प्रथमः कल्पः। परमेश्वरस्य कर्तुः प्रमितेरभ्युपगमात्। न द्वितीयः। विकल्पा-सहत्वात्। तथाहि। किमेकेनास्मरणमभिप्रेयते सर्वैर्वा। नाद्यः। यो धर्मशीलो जितमानरोष इत्यादिषु मुक्तिकोक्तिषु व्यभिचारात्। न द्वितीयः। सर्वास्मरणस्यासर्वज्ञदुर्ज्ञानत्वात्। पौरुषेयत्वे प्रमाणसंभवाच्च। वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि वाक्यत्वात्कालिदासादिवाक्यवत्। वेदवाक्यान्याप्तप्रणीतानि प्रमाणत्वे सति वाक्य-त्वान्मन्वादिवाक्यवदिति। ननु—

प्रतिपादक होनेसे ज्ञानके साधन हैं, तथा अपौरुषेय होनेके कारण स्वतः प्रमाण हैं।[1] वेदवाक्योंका अनुमान प्रमाणसे खण्डन नहीं हो सकता, क्योंकि अनुमान प्रमाण वेद प्रमाणसे बहुत निम्न कोटिका है। वेदके अपौरुषेय होनेपर भी अव्यच्छिन्न अनादि सम्प्रदायसे वेद वाक्योंके अर्थका ज्ञान होता है। वेदवाक्य लौकिक वाक्योंसे भिन्न होते हैं जैसे 'अग्निमीळे पुरोहितम्', 'ईषे त्वोर्जे त्वा', 'अग्न आयाहि वीतये' आदि। वेद दो प्रकारका होता है—मंत्र रूप और ब्राह्मण रूप। यह मंत्र और ब्राह्मण रूप वेद विधि, मंत्र, नामधेय, निषेध और अर्थवादके भेदसे पाँच प्रकारका है।[2] विधिसे धर्म संबंधी नियमोंका ज्ञान होता है जैसे—'स्वर्गके इच्छुकको यज्ञ करना चाहिये' यह विधि है। अपूर्व, नियम, परिसंख्या, उत्पत्ति, विनियोग, प्रयोग, अधिकरण आदिके भेदसे विधिके अनेक भेद होते हैं। मंत्रसे याज्ञिकको यज्ञ सम्बन्धी देवताओं आदिका ज्ञान होता है। नामधेयसे यज्ञसे मिलनेवाले फलका ज्ञान होता है। निषेध विधिका ही दूसरा प्रकार है। निन्दा, प्रशंसा, परकृति और पुराकल्पके भेदसे अर्थवाद चार प्रकारका होता है।

२. शब्दकी नित्यता—मीमांसक वेदको नित्य और अपौरुषेय मानते हैं, इसलिये इनके मतमें शब्दको भी नित्य और सर्वव्यापक स्वीकार किया गया है[3]। मीमांसकोंका कहना है कि हमें एक स्थानपर प्रयुक्त गकार आदि वर्णोंका, सूर्यकी तरह, प्रत्यभिज्ञानके द्वारा सब जगह ज्ञान होता है, इसलिये शब्दको नित्य मानना चाहिये। तथा, एक शब्दका एक बार संकेत ग्रहण कर लेनेपर कालान्तरमें भी उस संकेतसे

वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनसामान्यादधुनाध्ययनं यथा॥

इत्यनुमानं प्रतिसाधनं प्रगल्भत इति चेत्। तदपि न प्रमाणकोटिं प्रवेष्टुमीष्टे।

भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकं।
भारताध्ययनत्वेन सांप्रताध्ययनं यथा॥

इत्याभाससमानयोगक्षेमत्वात्। ननु तत्र व्यासः कर्तेति स्मर्यते।

को ह्यन्यः पुण्डरीकाक्षान्महाभारतकृद्भवेत्।

इत्यादाविति चेत्। तदप्यसारम्। ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत (तै० आ० ३-१२) इति पुरुषसूक्ते वेदस्य सकर्तृकता प्रतिपादनात्। किं चानित्यः शब्दः सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वाद्घटवत्। नन्विदमनुमानं स एवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञाप्रमाणप्रतिहतमिति चेत्। तदतिफल्गु। लूनपुनर्जातकेशदलितकुन्दादाविव प्रत्यभिज्ञायाः सामान्यविषयत्वेन बाधकत्वाभावात्। नन्वशरीरस्य परमेश्वरस्य ताल्वादिस्थानाभावेन वर्णोच्चारणासंभवात्कथं तत्प्रणीतत्वं वेदस्य स्यादिति चेत्। न तद्भद्रम्। स्वभावतोऽशरीरस्यापि तस्य भक्तानुग्रहार्थं लीलाविग्रहग्रहणसंभवात्। तस्माद्वेदस्यापौरुषेयत्ववाचोयुक्तिः न युक्ता। सर्वदर्शनसंग्रह–जैमिनिदर्शन।

१. वेदान्ती लोग वेदको अपौरुषेय और आदिमान्, तथा सांख्य लोग वेदको पौरुषेय और आदिमान् मानते हैं।

२. मन्त्र और ब्राह्मण रूप वेदके चार भेद हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। ऋग्वेदकी दस, यजुर्वेदकी छियास्सी, सामवेदकी एक हजार (ये अनध्यायके दिनोंमें पढ़ी जानेके कारण इन्द्रके वज्रसे नष्ट हो गई मानी जाती हैं) और अथर्ववेदकी नौ शाखायें हैं। ऋग्वेदका आयुर्वेद, यजुर्वेदका धनुर्वेद, सामवेदका गान्धर्ववेद और अथर्ववेदका अर्थशास्त्र (स्थापत्य) ये चारों वेदोंके चार उपवेद होते हैं। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छह वेदके अंग, तथा पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र ये चार उपांग हैं। ऋग्वेदका एतरेयब्राह्मण, यजुर्वेदका तैत्तिरीय और शतपथ ब्राह्मण, सामवेदका गोपथब्राह्मण तथा अथर्ववेदका ताण्ड्यब्राह्मण ये वेदोंके ब्राह्मण हैं।

३. शब्दो नित्यः व्योममात्रगुणत्वात् व्योमपरिमाणवत्–प्रभाकर।
शब्दो नित्यः निस्स्पर्शद्रव्यत्वात् आत्मवत्-भट्ट।

शब्दके अर्थका ज्ञान होता है। यदि शब्द नित्य न होता तो हमारे पितामह आदिसे निश्चित किये हुए शब्दोंके संकेतसे हमें उसी अर्थका ज्ञान न होता, इसलिये शब्दको नित्य ही मानना चाहिये। यदि कहो कि शब्दको नित्य स्वीकार करनेपर सब लोगोंको हमेशा शब्द सुनाई देने चाहिये, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि जिस समय प्रत्येक वर्ण संबंधी तालु, ओष्ठ आदिका वायुसे संबंध होता है, उसी समय शब्दकी अभिव्यक्ति होती है। जिस समय मनुष्य यत्नसे किसी शब्दका उच्चारण करता है, उस समय वायु नाभिसे उठकर, उरमें विस्तीर्ण हो, कण्ठमें फैल, मस्तकमें लग वापिस आती हुई नाना प्रकारके शब्दोंकी अभिव्यक्ति करती है, इसलिये शब्दकी व्यंजक वायुमें ही उत्पत्ति और विनाश होता है। अतएव शब्दको नित्य मानना चाहिये।[1]

३. ईश्वर और सर्वज्ञ—मीमांसक ईश्वरको सृष्टिकर्ता और संहारकर्ता नहीं मानते। उनके मतमें अपूर्व ही यज्ञ आदिका फल देनेवाला है, इसलिये ईश्वरको जगत्का कर्ता माननेकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। वेदोंको बनानेके लिये भी ईश्वरकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि वेद अपौरुषेय होनेसे स्वतः प्रमाण हैं। मीमांसकोंका कथन है कि यदि ईश्वर शरीर रहित होकर सृष्टिका सर्जन करता है तो अशरीरी ईश्वरके जगत्के सर्जन करनेकी इच्छाका प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। यदि ईश्वर शरीर सहित होकर जगत्को बनाता है तो ईश्वरके शरीरका भी कोई दूसरा कर्ता मानना चाहिये। परमाणुओंको ईश्वरका शरीर मानना भी ठीक नहीं। क्योंकि बिना प्रयत्नके परमाणुओंमें क्रिया नहीं हो सकती। तथा, ईश्वरके प्रयत्नको नित्य माननेसे परमाणुओंमें सदा ही क्रिया होती रहनी चाहिये। ईश्वरको धर्म-अधर्मका अधिष्ठाता भी नहीं मान सकते। क्योंकि संयोग अथवा समवाय किसी भी संबंधसे धर्म और अधर्मका ईश्वरके साथ संबंध नहीं हो सकता। तथा, यदि ईश्वर सृष्टिका कर्ता है, तो वह दुखी जगत्की क्यों रचना करता है? जीवोंके भूत कर्मोंके कारण ईश्वर द्वारा दुखी जीवोंकी सृष्टि मानना भी ठीक नहीं। क्योंकि जिस समय ईश्वरने सृष्टि की, उस समय कोई भी जीव मौजूद नहीं था। दयासे प्रेरित होकर भी ईश्वरकी सृष्टि रचनाको नहीं मान सकते, क्योंकि सृष्टिको बनानेके समय प्राणियोंका अभाव था। फिर भी यदि अनुकंपाके कारण जगत्का सर्जन माना जाय, तो ईश्वरको सुखी प्राणियोंको ही जन्म देना चाहिये था। क्रीड़ाके कारण भी सृष्टिका निर्माण नहीं मान सकते। क्योंकि ईश्वर सर्वथा सुखी है, उसे क्रीड़ा करनेकी आवश्यकता नहीं है। ईश्वर सृष्टिकी रचना करके फिर उसका संहार क्यों करता है? इसका कारण भी समझमें नहीं आता। इसलिये बीजवृक्षकी तरह अनादि कालसे सृष्टिकी परंपरा माननी चाहिये। वास्तवमें नित्य और अपौरुषेय वेदोंके वाक्य ही प्रमाण हैं। कोई अनादि ईश्वर न सृष्टिका निर्माण और न सृष्टिका संहार करता है।[2]

---

१. नैयायिक 'सकारणक होनेसे, 'ऐन्द्रियक होनेसे' और 'विनाशी होनेसे' शब्दको अनित्य मानते हैं। देखिये न्यायसूत्र २–२–१३। न्यायदर्शनमें 'वीचीतरंग' न्यायसे और 'कदम्बकोरक' न्यायसे शब्दकी उत्पत्ति मानी गई है। वैयाकरण अकार आदि वर्णको नित्य मानते हैं–वर्णो नित्यः ध्वन्यन्यशब्दत्वात् स्फोटवत्।

२. सर्वज्ञवन्निषेध्या च स्रष्टुः सद्भावकल्पना।
न च धर्मादृते तस्य भवेल्लोकाद्विशिष्टता ॥
न चाऽननुष्ठितो धर्मो नाऽनुष्ठानमृतेः मतेः।
न च वेदादृते सा स्याद्वेदो न च पदादिभिः॥
तस्मात् प्रागपि सर्वेऽमी स्रष्टुरासन् पदादयः।

न हि स्रष्टुरस्मदादिभ्योऽतिशयः सहजः संभवति पुरुषत्वादस्मदादिवदेव। अतो धर्मनिमित्तो वक्तव्यः। न चाऽननुष्ठितो धर्मः कार्यं करोति। न चाऽसतिज्ञानेऽनुष्ठानं संभवति। न च वेदादृते ज्ञानं। न च वेदः पदपदार्थसंबंधैर्विना शक्नोति अर्थमवबोधयितुं। अतः प्रागपि सृष्टेः सन्त्येव पदादयः। यथाह मनुः—

सर्वेषां च स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥

श्लोकवार्तिक संबंधाक्षेपपरिहार श्लोक ११४–११६ न्यायरत्नाकर टीका।

मीमांसक सर्वज्ञको भी नहीं मानते। मीमांसकोंका कहना है कि सर्वज्ञकी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे उपलब्धि नहीं होती, इसलिये उसका अभाव ही मानना चाहिये। तथा मनुष्यकी प्रज्ञा, मेधा आदिमें थोड़ा बहुत ही अतिशय पाया जा सकता है। जिस प्रकार व्याकरणशास्त्रका प्रकृष्ट पंडित ज्योतिषशास्त्रका ज्ञाता नहीं कहा जा सकता, जिस प्रकार वेद, इतिहास आदिका विद्वान् स्वर्गोंके देवताओंको प्रत्यक्षसे जाननेमें पंडित नहीं कहा जा सकता, जिस प्रकार आकाशमें दश योजन कूदनेवाला मनुष्य सैकड़ों प्रयत्न करनेपर भी एक हज़ार योजन नहीं कूद सकता, और जिस प्रकार कर्ण इन्द्रियमें अतिशय होनेपर भी उससे रूपका ज्ञान नहीं हो सकता, उसी तरह प्रकृष्टसे प्रकृष्ट ज्ञानी भी अपने विषयका अतिक्रमण न करके ही इन्द्रियजन्य पदार्थोंका ही ज्ञान कर सकता हैं। कोई भी प्राणी संपूर्ण लोकोंके संपूर्ण समयोंके संपूर्ण पदार्थोंका ज्ञाता नहीं हो सकता। अतएव कोई अतींद्रिय पदार्थोंके साक्षात्कार करनेवाला सर्वज्ञ नहीं है।[1]

४. प्रमाणवाद—मीमांसक पहले नहीं जाने हुए पदार्थोंको जाननेको प्रमाण मानते हैं। प्रभाकर मतके अनुयायी प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति ये पांच, और कुमारिल भट्ट इन पांच प्रमाणोंमें अभावको मिलाकर छह प्रमाण स्वीकार करते हैं। मीमांसक स्मृतिज्ञानके अतिरिक्त सम्पूर्ण ज्ञानोंको स्वतः प्रमाण मानते हैं। मीमासकोंका कहना है कि ज्ञानकी उत्पत्तिके समय ही हमें पदार्थोंका ज्ञान (ज्ञप्ति) होता है। अतएव ज्ञान अपनी उत्पत्तिमें और पदार्थोंके प्रकाश करनेमें किसी दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखता। जिस समय हमें कोई ज्ञान होता है, वह ज्ञान स्वतः ही प्रमाण होता है, तथा ज्ञानके स्वतः प्रमाण होनेसे ही हमारी पदार्थोंमें प्रवृत्ति होती है। इसीलिये ज्ञानके उत्पन्न होते ही ज्ञानके प्रामाण्यका पता लग जाता है। यदि ऐसा न हो तो हमारी पदार्थोंमें प्रवृत्ति न होनी चाहिये। परन्तु अप्रामाण्य ज्ञानमें यह बात नहीं होती। कारण कि मिथ्या ज्ञानमें हमारी इन्द्रियों आदिमें दोष होनेके कारण उत्तरकालमें होनेवाले बाधक ज्ञानसे ही हमारे ज्ञानका अप्रामाण्य सिद्ध होता है। अतएव मीमांसकोंके मतमें स्मृति ज्ञानको छोड़कर प्रत्येक ज्ञान, जब तक कि वह उत्तरकालमें किसी बाधक ज्ञानसे अप्रमाण रूप सिद्ध नहीं होता, स्वतः प्रमाण कहा जाता है, और उत्तरकालमें वही ज्ञान अप्रमाण सिद्ध होनेपर परतः कहा जाता है। नैयायिक मीमांसकोंके स्वतः प्रामाण्यवादका विरोध करते हैं, प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनोंको परतः मानते हैं। सांख्य प्रामाण्य और अप्रामाण्य को स्वतः, जैन दोनोंको कथंचित् स्वतः और कथंचित् परतः, तथा बौद्ध अप्रामाण्य ज्ञानको स्वतः और प्रामाण्यको परतः मानते हैं।[2]

आत्मा—मीमांसक लोग आत्माके अस्तित्वको स्वीकार करते हैं। इनके मतमें आत्माको शरीर, इन्द्रिय और बुद्धिसे भिन्न मानकर आत्मबहुत्ववादके सिद्धांतको स्वीकार किया गया है। मीमांसक विद्वान्

---

१. संभवतः मीमांसक लोग ईश्वर और सर्वज्ञका सद्भाव न माननेके कारण 'लोकायत' 'नास्तिक' आदि नामोंसे कहे जाने लगे थे। कुमारिल भट्टने इस आक्षेपको दूर करनेके लिये श्लोकवार्तिककी रचना कर उसमें 'आत्मवाद' नामक भिन्न प्रकरण लिखा है—

प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता।
तामास्तिकपथे कर्तुमयं यत्नः कृतो मया:॥ श्लोकवार्तिक पृ० ४ श्लोक १०।

तथा—इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णु—
रात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या।
दृढत्वमेतद्विषयश्च बोधः
प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन॥ पृ० ७२८ श्लोक १४८।

२. परापेक्षं प्रमाणत्वं नात्मानं लभते क्वचित्।
मूलोच्छेदकरं पक्षं को हि नामाध्यवस्यति॥
यदि हि सर्वमेव ज्ञानं स्वविषयतथात्वावधारणे स्वयमसमर्थं विज्ञानान्तरमपेक्षेत ततः कारणगुणसंवादार्थक्रियाज्ञानान्यपि स्वविषयभूतगुणाद्यवधारणे परमपेक्षेरन्, अपरमपि तथेति न कश्चिदर्थो जन्मसहस्रेणाप्यध्यवसीयेतेति प्रामाण्यमेवोत्सीदेत्। शास्त्रदीपिका पृ० २२।

कुमारिलभट्ट और प्रभाकरके आत्मा संबंधी सिद्धांतोंमें मतभेद पाया जाता है। कुमारिलके मतमें आत्माको कर्ता, भोक्ता, ज्ञानशक्तिवाला, नित्य, विभु और परिणामी मानकर अहंप्रत्ययका विषय माना जाता है[1]। प्रभाकर भी आत्माको कर्ता, भोक्ता और विभु स्वीकार करते हैं, परन्तु वे आत्मामें परिवर्तन नहीं मानते[2]। प्रभाकरके सिद्धांतके अनुसार आत्मा ज्ञाता है और पदार्थ ज्ञेय हैं। ज्ञाता और ज्ञेय एक नहीं हो सकते, इसलिये आत्मा कभी स्वसंवेदनका विषय नहीं हो सकता। यदि आत्माको स्वसंवेदक माना जाय तो गाढ़ निद्रामें भी ज्ञान मानना चाहिये।

मोक्ष—गौतमधर्मसूत्र आदि धर्मशास्त्रोंमें धर्म, अर्थ और काम केवल इन तीन पुरुषार्थोंको मानकर धर्मको ही मुख्य पुरुषार्थ स्वीकार किया गया है। मीमांसा दर्शनके प्राचीन आचार्य धर्मको सम्पूर्ण सुखोंका कारण मानकर उससे स्वर्गकी प्राप्ति करना ही अपना अन्तिम ध्येय समझते थे। इन लोगोंके सामने मोक्षका प्रश्न इतना बलवान नहीं था। परन्तु उत्तरकालीन मीमांसक आचार्य मोक्ष संबंधी प्रश्नसे अछूते न रह सके। प्रभाकरके मतके अनुसार संसारके कारण भूतकालीन धर्म और अधर्मके नाश होने पर शरीरके आत्यन्तिक रूपसे नाश होनेको मोक्ष कहा है।[3] जिस समय जीवके शम, दम, ब्रह्मचर्य आदिके द्वारा आत्मज्ञान होनेसे देहका अभाव हो जाता है, उस समय मोक्षकी प्राप्ति होती है। मोक्ष अवस्थाको आनन्द रूप नहीं कह सकते, क्योंकि निर्गुण आत्मामें आनन्द नहीं रह सकता। इसलिये सुख और दुख दोनोंके क्षय होनेपर स्वात्मस्फुरण रूप अवस्थाको ही मोक्ष कहते हैं। कुमारिल भट्टके अनुसार परमात्माकी प्राप्तिकी अवस्था मात्रको मोक्ष कहा गया है। कुमारिल भी मोक्षको आनंद रूप नहीं मानते।[4] पार्थसारथिमिश्र आदिने भी सुख-दुख आदि समस्त विशेष गुणोंके नाश होनेको मुक्ति माना है।

मीमांसक और जैन

मीमांसक याज्ञिक हिंसाको, जातिसे वर्णव्यवस्थाको और वेदके स्वतः प्रमाणको स्वीकार करते हैं। परन्तु जैन सांख्य, बौद्ध, आजीविक आदि श्रमण सम्प्रदायोंकी तरह उक्त बातोंका विरोध करते हैं। जैन लोग हिंसाके उग्र विरोधी हैं। ये लोग जातिसे वर्ण व्यवस्थाको नहीं मानते। ब्राह्मणोंकी मान्यता है कि सबसे पहले ब्रह्माके मुखसे ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति हुई, उसके बाद ब्रह्माके अन्य अवयवोंसे क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जन्मे, इसलिये ब्राह्मण ही सर्वपूज्य हैं। परन्तु आदिपुराण आदि जैन पुराणोंमें इससे विरुद्ध कल्पना देखनेमें आती है। आदिपुराणके अनुसार पहले पहल जब ऋषभदेव भगवानने असि, मसि आदि छह कर्मोंका उपदेश किया, उस समय उन्होंने पहले क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंकी सृष्टि की, और बादमें व्रतधारी श्रावकोंमेंसे ब्राह्मण

---

१. ज्ञानशक्तिस्वभावोऽतो नित्यः सर्वगतः पुमान्।
देहान्तरक्षमः कल्प्यः सोऽगच्छन्नेव योक्ष्यते ॥ मी० श्लोकवार्तिक आत्मवाद ७३।

२. बुद्धीन्द्रियशरीरेभ्यो भिन्न आत्मा विभुर्ध्रुवः।
नानाभूतः प्रतिक्षेत्रमर्थवित्तिषु भासते ॥ प्रकरणपंचिका पृ० १४१।

३. अतो नाविद्यास्तमयो मोक्षः। अत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदो निःशेषधर्माधर्मपरिक्षयनिबंधनो मोक्ष इति सिद्धम्। प्रकरणपंचिका पृ० १५६।

४. सुखोपभोगरूपश्च यदि मोक्षः प्रकल्प्यते।
स्वर्ग एव भवेदेष पर्यायेण क्षयी च सः ॥
न हि कारणवत्किंचिदक्षयित्वेन गम्यते।
तस्मात्कर्मक्षयादेव हेत्वभावेन मुच्यते ॥
न ह्यभावात्मकं मुक्त्वा मोक्षनित्यत्वकारणम्।
भावरूपं सर्वमुत्पत्तिधर्मकं घटादिक्षयधर्मकमेव। अतो न सुखात्मिका मुक्तिरात्मज्ञानेन क्रियते इति।....
सिद्धयति चाभावात्मकत्वे मोक्षस्य नित्यता न त्वानन्दात्मकत्वे।
श्लोकवार्तिक संबंधाक्षेपपरिहार श्लोक १०५–१०७ न्यायरत्नाकर टीका।

वर्णका जन्म हुआ। वास्तवमें किसीको जातिसे ऊँच अथवा नीच नहीं कहा जा सकता, इसलिये गुण और कर्मके अनुसार ही वर्णव्यवस्था माननी चाहिये। वैदिक वेदको अपौरुषेय और नित्य होनेके कारण प्रमाण मानते हैं, और वेदविहित याज्ञिक हिंसाको पाप रूप नहीं गिनते। जैनोंका मानना है कि पूर्वकालीन आर्यवेद हिंसाके विधानसे रहित, और पूर्वकालीन यज्ञ दयामय होते थे। वर्तमान हिंसाप्रधान वेद बादमें महाकाल असुरने रचे हैं और हिंसामय यज्ञोंका भी प्रचार हुआ है। जैन प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, और द्रव्यानुयोग इन चार वेदोंको मानते हैं। सिद्धसेन दिवाकरने वेदोंके ऊपर द्वात्रिंशिकाकी रचना की है। भगवानके निर्वाणोत्सवके बाद स्वयं इन्द्र और देवोंने श्रावक ब्रह्मचारियोंको गार्हपत्य, परमाहवनीयक और दक्षिणाग्नि नामके तीन कुंड बना उनमें त्रिसंध्य अग्नि स्थापित करके अग्निहोत्रद्वारा जिन भगवानकी पूजा करनेका उपदेश किया था।

जैन और मीमांसकोंके सिद्धान्तोंकी तुलना करते समय यह बात विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है कि कुमारिलभट्ट प्रकारान्तरसे जैनोंके अनेकांतवादके सिद्धांतको स्वीकार करते हैं। कुमारिलका पदार्थोंको उत्पाद, व्यय और स्थिति रूप सिद्ध करना[1] अवयवोंको अवयवीसे भिन्नाभिन्न मानना[2], वस्तुको स्वरूपपररूपसे सत्-असत् स्वीकार करना[3], तथा सामान्य और विशेषको सापेक्ष मानना[4], स्पष्ट रूपसे कुमारिलके अनेकांतवादके समर्थन करनेको सूचित करता है। तत्त्वसंग्रहकारके कथनसे भी यही मालूम होता है कि निर्ग्रंथ जैनोंकी तरह विप्रमीमांसक भी अनेकांतवादके सिद्धांतको मानते थे।[5] गुणरत्न भी मीमांसकोंके प्रकारान्तरसे अनेकांतके

---

१. वर्धमानकभंगे च रुचकः क्रियते यदा।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्। श्लोकवार्तिक वनवाद २१—२२।

२. पूर्वोक्तादेव तु न्यायात्सिध्येदत्रावयव्यपि।
तस्याप्यत्यन्तभिन्नत्वं न स्यादवयवैः सह॥ ७५॥

३. स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके।
वस्तुनि ज्ञायते केश्चिद्रूपं किंचित्कदाचन।

सर्वं हि वस्तु स्वरूपतः सद्रूपं पररूपतश्चासद्रूपं। यथा घटो घटरूपेण सन् पटरूपेणासन्। पटोऽप्यसद्रूपेण भावान्तरे घटादौ समवेतः तस्मिन् स्वीयाऽसद्रूपाकारां बुद्धिं जनयति। योऽयं घटः स पटो न भवतीति। मी० श्लोकवार्तिक अभावपरिच्छेद १२ न्यायरत्नाकर।

४. अन्योन्यापेक्षिता नित्यं स्यात्सामान्यविशेषयोः।
विशेषाणां च सामान्ये ते च तस्य भवन्ति हि॥
निर्विशेषं न सामान्यं भवेच्छशविषाणवत्।
सामान्यरहितत्वाच्च विशेषास्तद्वदेव हि॥
एवं च परिहर्तव्या भिन्नाभिन्नत्वकल्पना॥
केनचिद्व्यात्मनैकत्वं नानात्वं चास्य केनचित्।

गोत्वं हि शावलेयात्मना बाहुलेयाद्भिद्यते। स्वरूपेण च न भिद्यते। तथा व्यक्तिरपि गुणकर्मजात्यन्तरात्मना गोत्वाद्भिद्यते। स्वरूपेण च न भिद्यते। तथा व्यक्त्यन्तरादपि व्यक्तिः जात्यात्मना न भिद्यते। स्वरूपेण च भिद्यते इति। अपेक्षाभेदादविरोधः। समाविशन्ति हि विरुद्धान्यपि एकत्वापेक्षाभेदात्। एकमपि हि किंचिदपेक्ष्य ह्रस्वं किंचिदपेक्ष्य दीर्घं। तथैकोऽपि चैत्रो द्वित्वापेक्षया भिन्नोऽपि स्वात्मापेक्षया न भिद्यते। अनेन एकानेकत्वमपि परिहर्तव्यं। तदेव हि वस्तु स्वरूपेण सर्वत्र सर्वदा चैकमपि शावलेयादिरूपेणानेकं भवतीति न विरोधः। मी० श्लोकवार्तिक आकृतिवाद ९ १० तथा ५६ न्यायरत्नाकर।

देखो पं० हंसराज शर्मा—दर्शन और अनेकांतवाद।

५. कल्पनारचितस्यैव वैचित्र्यस्योपवर्णने।
को नामातिशयः प्रोक्तो विप्रनिर्ग्रन्थकापिलैः॥ तत्त्वसंग्रह पृ० ५०१।

माननेका उल्लेख करते हैं ।[1]

मीमांसादर्शनका साहित्य

मीमांसासूत्रोंके रचयिता जैमिनी माने जाते हैं । वैदिक परम्पराके अनुसार जैमिनी ऋषि वेदव्यासके शिष्य थे । वेदव्यासने मूल वेदकी चार संहिताओंकी रचना की और सामवेदकी संहिताको जैमिनीको पढ़ाया । जैमिनीका समय ईसाके पूर्व २०० वर्ष माना जाता है । जैमिनीसूत्रोंके ऊपर भर्तृमित्र, भवदास, हरि और उपवर्ष नामके विद्वानोंने टीकायें लिखीं हैं, जो आजकल उपलब्ध नहीं हैं । जैमिनीसूत्रोंपर भाष्य लिखनेवाले शबरस्वामीका नाम मुख्य रूपसे उल्लेखनीय है । यह शबरभाष्य उत्तरकालके मीमांसक लेखकोंका खास आधार रहा है । शबरस्वामीके सिद्धांतोंका तत्त्वसंग्रहमें खण्डन है । प्राच्य विद्वान शबरको वात्स्यायनका समकालीन और नागार्जुनका उत्तरकालवर्ती मानते हैं । दूसरे लोग शबरका समय ईसाकी चौथी शताब्दी मानते हैं । शबरभाष्यके बाद मीमांसकदर्शनके मुख्य विचारक प्रभाकर और कुमारिलभट्ट हो गये हैं । प्रभाकरने (ई० स० ६५०) शबरभाष्य पर बृहती नामकी टीका लिखी है । शास्त्रीय परम्पराके अनुसार प्रभाकर कुमारिलके शिष्य कहे जाते हैं । इन दोनोंके विचारोंमें मतभेद होनेके कारण दोनोंके सिद्धांतोंकी अलग-अलग शाखायें हो गईं हैं । प्रभाकरका मत गुरूमत के नामसे प्रसिद्ध है ।[2] बृहती लिखते हुए प्रभाकर कुमारिलके सिद्धांतोंका उल्लेख नहीं करते जब कि कुमारिल बृहतीकारके मतका उल्लेख करते हुए मालूम होते हैं । इससे विद्वानोंका मत है कि प्रभाकर कुमारिलके शिष्य नहीं थे, किन्तु वे कुमारिलके पूर्ववर्ती हैं । प्रभाकरकी बृहतीके ऊपर प्रभाकरके शिष्य कहे जाने वाले शालिकानाथमिश्रने ऋजुविमला नामकी टीका, और प्रभाकरके सिद्धांतोंके विवेचन करनेके लिये प्रकरणपंचिका नामक ग्रंथ लिखे हैं । प्रभाकरकी बृहती और शालिकानाथकी ऋजुविमला अभी सम्पूर्ण रूपसे प्रकाशमें नहीं आये, इसलिये प्रकरणपंचिका ही प्रभाकरके सिद्धांतोंको जाननेका एक आधार है । कुमारिलभट्ट, भट्टपाद और वार्तिककारके नामसे भी कहे जाते हैं । तिब्बती ग्रंथोंमें इनको कुमारलील कहा है । कुमारिल (ई० स० ७००) ने शबरभाष्यके ऊपर स्वतंत्र रूपसे टीका लिखी है । यह टीका श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक और तुप्टीका नामके तीन खंडोंमें विभक्त है । कुमारिल और उद्योतकर बौद्धदर्शन और न्यायके खंडन करनेके लिये अद्वितीय समझे जाते थे । शान्तरक्षितने तत्त्वसंग्रहमें कुमारिलका खंडन किया है । कुमारिल धर्मकीर्ति और भवभूतिके समकालीन कहे जाते हैं । कुमारिलके पश्चात् कुमारिलके अनुयायी मंडनमिश्रका नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय है । मंडनमिश्रने विधिविवेक, भावनाविवेक, मीमांसानुक्रमणी और कुमारिलकी तन्त्रवार्तिककी टीका लिखी है । कहा जाता है कि ये मण्डनमिश्र आगे जाकर वेदान्तमतके अनुयायी हो गये । इसके अतिरिक्त, पार्थसारथिमिश्रने कुमारिलकी श्लोकवार्तिक पर न्यायरत्नाकर, तथा शास्त्रदीपिका, तन्त्ररत्न और न्यायरत्नमाला; सुचरितमिश्रने श्लोकवार्तिककी टीका और काशिका; तथा सोमेश्वरभट्टने तन्त्रवार्तिककी टीका और न्यायसुधा नामके ग्रंथ लिखे । मीमांसादर्शनका ज्ञान करनेके लिये माधवका न्यायमालाविस्तर, आपदेवका मीमांसान्यायप्रकाश, लौगाक्षिभास्करका अर्थसंग्रह और खण्डदेवकी भाट्टदीपिका आदि ग्रंथ उल्लेखनीय हैं ।

---

१. मीमांसकास्तु स्वयमेव प्रकारान्तरेणैकानेकाद्यनेकान्तं प्रतिपद्यमानास्तत्प्रतिपत्तये सर्वथा पर्यनुयोगं नार्हन्ति । षड्दर्शनसमुच्चयटीका ।

२. कहा जाता है कि कुमारिलभट्ट 'अत्र तुनोक्तम् तत्रापि नोक्तम् इति पौनरुक्तम्' इस वाक्यका अर्थ नहीं समझ सके थे । कुमारिलने इसका अर्थ किया, 'यहाँ भी नहीं कहा गया, वहाँ भी नहीं कहा गया, इसलिये फिर कहा गया' । प्रभाकरने कहा कि इस वाक्यका यह अर्थ ठीक नहीं, इसका अर्थ करना चाहिये—'यहाँ यह 'तु' से सूचित किया गया है, और वहाँ 'अपि' से सूचित किया गया है, इसलिये फिर कहा गया है' । कुमारिल इससे बहुत प्रसन्न हुए और अपने शिष्य प्रभाकरको 'गुरु' कहने लगे ।

वेदान्त परिशिष्ट (च)

(श्लोक १३)

वेदान्तदर्शन

वेदान्तदर्शनका निर्माण वेदोंके अंतिम भाग उपनिषदोंके आधारसे हुआ है, इसलिये इसे वेदान्त कहते हैं। वेदान्तको उत्तरमीमांसा अथवा ब्रह्ममीमांसा भी कहते हैं। यद्यपि पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा दोनों दर्शन मौलिक रूपसे भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु बोधायनने इन दर्शनोंको 'संहित' कहकर उल्लेख किया है, तथा उपवर्षने दोनों दर्शनोंपर टीका लिखी है। इससे विद्वानोंका अनुमान है कि किसी समय पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा एक ही समझे जाते थे। "उत्तरमीमांसक साधु अद्वैतवादी होते हैं। ये ब्राह्मण ही होते हैं। इनके नामके पीछे भगवत् शब्द लगाया जाता है। ये साधु कुटीचर, बहूदक, हंस और परमहंसके भेदसे चार प्रकारके होते हैं। कुटीचर लोग मठमें वास करते हैं, त्रिदण्डी होते हैं, शिखा रखते हैं, ब्रह्मसूत्र पहनते हैं, गृह-त्यागी होते हैं और यजमानोंके घर आहार लेते हैं, तथा एकाध बार अपने पुत्रके यहां भी भोजन करते हैं। बहूदक साधुओंका वेष कुटीचरोंके समान होता है। ये लोग ब्राह्मणोंके घर नीरस भोजन लेते हैं, विष्णुकी जाप करते हैं, और नदीके जलमें स्नान करते हैं। हंस साधु ब्रह्मसूत्र और शिखा नहीं रखते, कषाय वस्त्र धारण करते हैं, दण्ड रखते हैं, गांवमें एक रात और नगरमें तीन रात रहते हैं, धूंआ निकलना बंद होनेपर और आगके बुझ जानेपर ब्राह्मणोंके घर भोजन करते हैं और देश-देशमें भ्रमण करते हैं। जिस समय हंस आत्मज्ञानी हो जाते हैं, उस समय वे परमहंस कहे जाते हैं। ये चारों वर्णोंके घर भोजन लेते हैं, इनके दंड रखनेका नियम नहीं है, ये शक्ति हीन हो जानेपर भोजन ग्रहण करते हैं[1]।" वेदान्तके माननेवाले आजकल भी भारतवर्ष और उसके बाहर पाये जाते हैं। जब कि न्याय, वैशेषिक, सांख्य आदि अन्य भारतीय दर्शनोंकी परम्परा नष्ट-प्राय हो गई है। ई० स० १६४० में दाराशिकोहने उपनिषदोंका फारसी भाषामें अनुवाद किया था। जर्मन तत्त्ववेत्ता शोपेनहोर (Schopenhauer) ने औपनिषदिक तत्त्वज्ञानसे प्रभावित होकर भारतीय तत्त्वज्ञानकी मुक्त-कंठसे प्रशंसा की है। शांकर वेदान्तके सिद्धांतोंकी तुलना पश्चिमके आधुनिक विचारक ब्रैडले (Bradley) के सिद्धांतोंके साथ की जा सकती है।

वेदान्तसाहित्य

वेदान्त दर्शनका साहित्य बहुत विशाल है। सर्वप्रथम वेदान्तदर्शन उपनिषदोंमें, और उपनिषदोंके बाद महाभारत और गीतामें देखनेमें आता है। तत्पश्चात् औडुलोमि, आश्मरथ्य, काशकृत्न, कार्ष्णाजिनि, बादरि, आत्रेय और जैमिनी वेदान्तदर्शनके प्रतिपादक कहे जाते हैं। इन विद्वानोंका उल्लेख बादरायणने अपने ब्रह्मसूत्रमें किया है। वेदान्तदर्शनके प्रतिपादकोंमें बादरायणके ब्रह्मसूत्रोंका नाम बहुत महत्त्वका है। ब्रह्मसूत्रोंको वेदान्त-सूत्र अथवा शारीरकसूत्रोंके नामसे भी कहा जाता है। वेदान्तसूत्रोंके समयके विषयमें विद्वानोंमें बहुत मतभेद है। वेदान्तसूत्रोंका समय ईसवी सन् ४०० के लगभग माना जाता है। वेदान्तसूत्रोंके ऊपर अनेक आचार्योंने टीकायें लिखी हैं। बादरायणके पश्चात् ब्रह्मसूत्रोंके वृत्तिकार बोधायनका नाम सबसे पहले आता है। बहुतसे विद्वान बोधायन और उपवर्ष दोनोंको एक ही व्यक्ति मानते हैं। बोधायन ज्ञानकर्मसमुच्चयके सिद्धांतको मानते थे। द्रमिड़ाचार्यने छान्दोग्य उपनिषद्के ऊपर टीका लिखी थी। इस टीकाका उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद्पर शांकरी टीकाके टीकाकार आनन्दगिरिने किया है। द्रमिडाचार्य 'भाष्यकार' के नामसे भी कहे जाते थे।

---

१. गुणरत्नसूरि—षड्दर्शनसमुच्चय टीका।

टंक 'वाक्यकार' के नामसे प्रसिद्ध हो गये हैं । टंकको आत्रेय अथवा ब्रह्मनन्दिन् नामसे भी कहा जाता है । भर्तृप्रपंच भेदाभेद और ब्रह्मपरिणामवादके सिद्धांतको मानते थे । शंकर और आनंदतीर्थने भर्तृप्रपंचका बृहदारण्यककी टीकामें उल्लेख किया है । औपनिषदिक ऋषियोंके पश्चात् अद्वैत वेदान्तका सुनिश्चित रूप सर्वप्रथम गौड़पादकी माण्डूक्यकारिकामें देखनेमें आता है । गौड़पादका समय ईसवी सन् ७८० के लगभग माना जाता है । शंकर गौड़पाद आचार्यके शिष्य गोविन्दके शिष्य थे । शंकर केवलाद्वैतके प्रतिष्ठापक महान् आचार्य माने जाते हैं । शंकराचार्यने अनेक शास्त्रोंकी रचना की है । इन शास्त्रोंमें ईष, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक इन दस उपनिपदोंपर, तथा भगवद्गीता और वेदान्तसूत्रोंके ऊपर टीकाओंका नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय है । शंकरका समय ईसवी सन् ८०० है । मंडन अथवा मंडनमिश्र शंकरके समकालीन माने जाते हैं। मंडनने ब्रह्मसिद्धि आदि अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथोंकी रचना की है। मंडन दृष्टिसृष्टिवादके प्रतिष्ठापक कहे जाते हैं । ब्रह्मसिद्धिके ऊपर वाचस्पति आदि अनेक विद्वानोंने टीकायें लिखी हैं । सुरेश्वर शंकरके साक्षात् शिष्य थे । सुरेश्वरका समय ईसवी सन् ८२० है । इन्होंने नैष्कर्म्यसिद्धि, बृहदारण्यक उपनिषद्-भाष्यवार्तिक आदि ग्रंथ लिखे हैं । नैष्कर्म्यसिद्धिके ऊपर चित्सुख आदिने टीकायें लिखी हैं । पद्मपाद सुरेश्वरके समकालीन माने जाते हैं। पद्मपाद भी शंकराचार्यके साक्षात् शिष्य थे। पद्मपादने पंचपादिका आदि ग्रंथोंकी रचना की है । पंचपादिकाके ऊपर प्रकाशात्मन् आदिने टीकायें लिखी हैं। वेदान्त दर्शनके प्रतिपादकोंमें मैथिल पंडित वाचस्पतिमिश्रका नाम भी बहुत महत्त्वका है । वाचस्पतिमिश्रने शांकरभाष्यके ऊपर अपनी पत्नीके नामपर भामती, और मण्डनकी ब्रह्मसिद्धिके ऊपर तत्त्वसमीक्षा टीका लिखी है । सर्वज्ञात्ममुनि सुरेश्वराचार्यके शिष्य थे । सर्वज्ञात्ममुनिने शांकर वेदान्तके सिद्धांतोंका प्रतिपादन करनेके लिये संक्षेपशारीरक नामका ग्रंथ लिखा है । इनका समय ईसवी सन् ९०० है । इसके अतिरिक्त, आनन्दबोध (११—१२ शताब्दी) का न्यायमकरन्द और न्यायदीपावलि, श्रीहर्ष (ई० स० ११५०) का खण्डनखण्डखाद्य, चित्सुखाचार्य (ई० स० १२५०)की चित्सुखी, विद्यारण्य (ई० स० १३५०) की पंचदशी और जीवन्मुक्तिविवेक, तथा मधुसूदनसरस्वती (१६ वीं शताब्दी) की अद्वैतसिद्धि, अप्पयदीक्षित, (१७ वीं शताब्दी) का सिद्धांतलेश, और सदानन्दका वेदान्तसार आदि ग्रंथ वेदान्त दर्शनके अभ्यासियोंके लिये महत्त्वपूर्ण हैं ।[1]

वेदान्त दर्शनकी शाखायें

भर्तृप्रपंच—शंकरके पूर्व होनेवाले वेदान्त दर्शनके प्रतिपादकोंमें भर्तृप्रपंचका नाम बहुत महत्त्वका है । भर्तृप्रपंचका इस समय कोई मूल ग्रंथ उपलब्ध नहीं है । सुरेश्वरकी वार्तिकके उल्लेखोंसे मालूम होता है कि भर्तृप्रपंच अग्निवैश्वानरके उपासक थे और अग्निवैश्वानरके प्रसादसे इन्हें उच्च कोटिका तत्त्वज्ञान प्राप्त हुआ था । भर्तृप्रपंच अद्वैतमतका प्रतिपादन करते है । ये शंकरकी तरह ब्रह्मके पर और अपर दो भेद करते हैं, परन्तु दोनों प्रकारके ब्रह्मको सत्य मानते हैं । भर्तृप्रपंचका समय ईसाकी सातवीं शताब्दी माना जाता है ।

शंकर—शंकराचार्य केवलाद्वैत अथवा ब्रह्माद्वैतका स्थापन करनेवाले महान प्रतिभाशाली विचारकोंमें गिने जाते हैं । शंकरके मतमें व्यवहारिक और पारमार्थिकके भेदसे दो प्रकारके सत्य माने गये हैं । परमार्थ सत्यसे संसारके सम्पूर्ण व्यवहार अविद्याके कारण ही होते हैं, इसलिये सब मिथ्या हैं । परमार्थसे एक केवल सत्, चित्, और आनन्द रूप ब्रह्म ही सत्य है । जिस प्रकार प्रकाशमान सूर्यके जलमें प्रतिबिम्बित होनेसे सूर्य नाना रूपमें दिखाई देता है, उसी तरह ब्रह्म भी अध्यास अथवा अविद्याके कारण नाना रूपमें प्रतिभासित होता है । केवलाद्वैतके प्रतिपादक शंकरके पूर्ववर्ती अनेक आचार्य हो गये हैं, परन्तु उपलब्ध साहित्यमें शंकरका अद्वैतवाद ही सर्वप्रधान गिना जाता है ।

रामानुज—ये विशिष्टाद्वैतके जन्मदाता माने जाते हैं । रामानुजके मतमें परब्रह्मका स्वरूप उसके विशेषणोंसे ही समझमें आ सकता है, निर्विशेष वस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती । इसलिये जीव, जगत और

---

१. विशेष जाननेके लिये देखिये प्रोफेसर दासगुप्तकी A History of Indian Philosophy vol II अ. ११ ।

ईश्वर इन तीन पदार्थोंको मानना चाहिये। जीव और जगत शरीर रूप है और परब्रह्म शरीरी है। रामानुजका समय ११ वीं शताब्दी माना जाता है।

वल्लभ—ये शुद्धाद्वैतके मुख्य प्रवर्तक गिने जाते हैं। इनके मतमें यह जगत परब्रह्मका ही अविकृत परिणाम है। इसे माया रूप समझकर ब्रह्मकी विवर्त नहीं कह सकते। इसलिये ब्रह्मको माया रहित मानना चाहिये। ब्रह्मन् अंशी है तथा जीव और जड़ ब्रह्मके अंश हैं। जीव भक्तिके द्वारा ही परब्रह्मको प्राप्त करता है। शुद्धाद्वैतको अविकृत ब्रह्मवाद भी कहते हैं। वल्लभका समय ईसाकी १५ वीं शताब्दी है।

विज्ञानभिक्षु—ये अविभागाद्वैतके स्थापक माने जाते हैं। केवलाद्वैत और शुद्धाद्वैतका इन्होंने खंडन किया है। इनके मतमें जिस प्रकार जलमें शक्कर डालनेसे शक्कर जलके साथ अविभक्त हो जाती है, उसी तरह पर जड़-अजड़ जगत परब्रह्ममें अविभक्त रूपसे रहता है। विज्ञानभिक्षुका समय ईसाकी १७ वीं शताब्दी है।

श्रीकंठाचार्य—ये शक्तिविशिष्ट अद्वैतको मानते हैं। यह सिद्धांत अद्वैतवाद केवलाद्वैतके साथ मिलता जुलता है। अन्तर इतना ही है कि यहाँ ब्रह्मको सविशेष भावसे प्रधान, और निर्विशेष भावसे गौण माना गया है। ब्रह्मतत्त्व चित् शक्ति और आनन्द शक्तिसे युक्त है। यहाँपर इस शक्तितत्त्वको माया रूप अथवा अविद्या रूप न मानकर उसे चिन्मय माना गया है। श्रीकंठका समय १५वीं शताब्दी है।

भट्टभास्कर—ये औपाधिक भेदाभेदको मानते हैं। भट्टभास्कर भेद और अभेद दोनोंको सत्य मानते हैं। ब्रह्म और जगतमें कार्य-कारण संबंध है। इसलिये कार्य और कारण दोनों ही सत्य हैं; कारणको सत्य और कार्यको कल्पित नहीं कहा जा सकता। भट्टभास्करका समय ईसाकी १० वीं शताब्दी माना जाता है।

निम्बार्क—स्वाभाविक भेदाभेदको मानते हैं। इनके मतमें जगत ब्रह्मका परिणाम है, इसे काल्पनिक नहीं कह सकते। निम्बार्कके मतमें जीव और जगतको न ईश्वरसे सर्वथा अभिन्न कह सकते हैं, और न सर्वथा भिन्न। अतएव चेतन और अचेतनको ईश्वरसे भिन्नाभिन्न मानना चाहिये। निम्बार्कका समय ११वीं शताब्दी है।

मध्व—मध्व द्वैत वेदान्ती माने जाते हैं। मध्वके अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंसे भेदकी ही सिद्धि होती है। पदार्थ दो तरहके होते हैं—स्वतंत्र और परतंत्र। ईश्वर स्वतंत्र पदार्थ है। परतंत्र पदार्थ भाव और अभावके भेदसे दो प्रकारके हैं। भावके दो भेद हैं—चेतन और अचेतन। चेतन और अचेतन ईश्वरके आधीन हैं। मध्वको पूर्णप्रज्ञ अथवा आनन्दतीर्थ भी कहा जाता है। मध्वका समय ईसाकी १२ वीं शताब्दी है।[1]

शंकरका मायावाद

कुछ लोगोंका कहना कि शंकराचार्यने मायावादके सिद्धांतोंकी रचना बौद्धोंके विज्ञानवाद और शून्यवादके आधारसे की है। बादरायणके ब्रह्मसूत्रोंमें, भगवद्गीतामें और वृहदारण्यक, छान्दोग्य आदि उपनिषदोंमें मायावादके सिद्धांत नहीं पाये जाते, विज्ञानभिक्षु शंकराचार्यको 'प्रच्छन्नबौद्ध' कहकर उल्लेख करते हैं, पद्मपुराणमें 'मायावाद' को असत् शास्त्र कहा गया है, तथा मध्व शून्यवादियोंके शून्य और मायावादियोंके ब्रह्मको एक बताते हैं। इससे मालूम होता है कि शंकर अपने परमगुरु गौड़पादके सिद्धांतोंसे प्रभावित थे। प्रोफेसर दासगुप्तके अनुसार ये गौड़पाद स्वयं बौद्ध विद्वान थे, और उपनिषदों और बुद्धके सिद्धांतोंमें भेद नहीं समझते थे। गौड़पादने माण्डूक्य उपनिषद्के ऊपर माण्डूक्यकारिका टीका लिखकर बौद्ध और औपनिषदिक सिद्धांतोंका समन्वय किया है। आगे चलकर गौड़पादके सिद्धांतोंका उनके शिष्य शंकराचार्यने प्रसार किया[2]। प्रोफेसर ध्रुव इस मतसे सहमत नहीं हैं। ध्रुवका मत है कि हीनयान बौद्धदर्शन ब्राह्मणदर्शनसे प्रभावित होकर ही महायान बौद्धदर्शनके रूपमें विकसित हुआ है।[3]

---

१. विशेषके लिये देखिये नर्मदाशंकरका हिंदतत्त्वज्ञाननो इतिहास उत्तरार्ध पृ० १७४–१८८।

२. गौड़पाद आचार्यकी माण्डूक्यकारिका और नागार्जुनकी माध्यमिककारिकाकी तुलनाके लिये देखिये प्रोफेसर दासगुप्तकी A History of Indian Philosohpy Vol. I पृ. ४२३ से ४२८।

३. देखिए प्रोफेसर ध्रुवकी स्याद्वादमंजरी पृ० ६२ भूमिका।

चार्वाक परिशिष्ट (छ)

(श्लोक २०)

चार्वाक मत

चार्वाक पुण्य-पाप आदि परोक्ष वस्तुओंको स्वीकार नहीं करते, इसलिये इन्हें चार्वाक कहते हैं।[1] सुन्दर वाणी होनेके कारण भी ये लोग चार्वाक कहे जाते हैं।[2] चार्वाक सामान्य लोगोंके समान आचरण करनेके कारण लोकायत अथवा लोकायतिक कहे जाते हैं।[3] पुण्य पापको न स्वीकार करनेके कारण इन्हें नास्तिक कहा गया है।[4] आत्माको न माननेके कारण इन्हें अक्रियावादी कहा गया है। चार्वाक बृहस्पतिके शिष्य थे। बृहस्पतिने देवताओंके शत्रु असुरोंको मोहित करनेके लिये चार्वाक मतकी सृष्टि की थी। धूर्त चार्वाक और सुशिक्षित चार्वाकके भेदसे चार्वाक दो प्रकारके बताये गये हैं। धूर्त चार्वाक पृथिवी, अप्, तेज और वायु इन चार भूतोंको छोड़कर आत्माको अलग पदार्थ नहीं मानते। सुशिक्षित चार्वाक शरीरसे भिन्न आत्माका अस्तित्व मानते हैं, परन्तु उनके मतमें यह आत्मा शरीरके नाश होनेके साथ ही नष्ट हो जाता है। कोई चार्वाक चतुर्भूत रूप जगतको न मानकर आकाशको पांचवां भूत स्वीकार करके संसारको पंचभूत रूप मानते हैं। "चार्वाक मतके साधु कापालिक होते हैं। ये शरीरपर भस्म लगाते हैं, और ब्राह्मणसे लेकर अत्यंज तक किसी भी जातिके हो सकते हैं। ये मद्य और मांसका भक्षण करते हैं, व्यभिचार करते हैं, प्रत्येक वर्ष इकट्ठे होकर स्त्रियोंसे क्रीड़ा करते हैं, तथा कामको छोड़कर और कोई धर्म नहीं मानते।"[5] परयोगी आनंदघनजीने चार्वाक मतकी उपमा जिनेन्द्रकी कोखसे दी है।[6]

---

१. चर्वन्ति, भक्षयन्ति तत्त्वतो न मन्यन्ते पुण्यपापादिकं परोक्षं वस्तुजातमिति चार्वाकाः। गुणरत्नसूरि।

२. चारुः लोकसंमतः वाकः वाक्यम् यस्य सः। वाचस्पत्यकोश।

३. लोकाः निर्विचाराः सामान्यलोकास्तद्वदाचरन्ति स्मेति लोकायता लोकायतिका इत्यपि। गुणरत्न।

४. नास्ति पुण्यं पापमिति मतिरस्य नास्तिकः। हेमचन्द्र।

यह ध्यान देने योग्य है कि वैदिक पुराणोंमें अद्वैत वेदान्तके प्रतिपादक शंकराचार्यको चार्वाक, जैन और बौद्धोंकी तरह नास्तिक बताकर शंकरके मायावादको असत् शास्त्र कहा है—

मायावादी वेदान्ती (शंकर भारती) अपि नास्तिक एव पर्यवसाने संपद्यते इति ज्ञेयम्।

अत्र प्रमाणानि सांख्यप्रवचनभाष्योदाहृतानि पद्मपुराणवचनानि यथा—

मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च।
मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा॥
अपार्थं श्रुतिवाक्यानां दर्शयल्लोकगर्हितम्।
कर्मस्वरूपत्याज्यत्वमत्र च प्रतिपाद्यते॥
सर्वकर्मपरिभ्रंशान्नैष्कर्म्यं तत्र चोच्यते।
परमात्मजीवयोरैक्यं मयात्र प्रतिपाद्यते॥

सांख्यप्रवचन भाष्य १-१ भूमिका। न्यायकोश पृ० ३७२।

५. गुणरत्न षड्दर्शनसमुच्चय टीका।

६. "लोकायतिक कूख जिनवरनी, अंश-विचार जो कीजे;
तत्त्व-विचार सुधारस धारा, गुरुगम विण केम पीजे" श्रीनमिनाथजीनुं स्तवन, गा० ४।

पं० बेचनदास—जैनदर्शन पृ० ८० भूमिका।

चार्वाकों के सिद्धांत

चार्वाक आत्माको नहीं मानते। इनके मतमें चैतन्य विशिष्ट देहको ही आत्मा माना गया है। जिस समय भौतिक शरीरका नाश होता है, उस समय आत्माका भी नाश हो जाता है, अतएव कोई परलोक जानेवाली आत्मा भिन्न वस्तु नहीं है। इसलिये चार्वाकोंका सिद्धांत है कि जब तक जीना है, तब तक खूब आनंदके साथ जीवनको यापन करना चाहिये, क्योंकि मरनेके बाद फिरसे जीवका जन्म नहीं होता। चार्वाक लोग धर्म, अधर्म और पुण्य, पापको नहीं मानते। इनके मतमें एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। इसलिये इनके मतमें संसारसे बाह्य कोई स्वर्ग, नरक, मोक्ष और ईश्वर जैसी वस्तु नहीं है। वास्तवमें कांटा लग जाने आदिसे उत्पन्न होनेवाला दुख ही नरक है, लोकमें प्रसिद्ध राजा ही ईश्वर है, देहका छोड़ना ही मोक्ष है, और स्त्रीका आलिंगन करना ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। चार्वाक वेदको नहीं मानते, तथा याज्ञिक हिंसाका और श्राद्ध आदि कर्मोंका घोर विरोध करते हैं।[1]

चार्वाक साहित्य

चार्वाक साहित्यका कोई भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। इसलिये चार्वाकोंके सिद्धान्तोंके प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त करनेका कोई साधन नहीं है। आजीविक आदि सम्प्रदायोंकी तरह चार्वाक मतका थोड़ा बहुत ज्ञान जैन, बौद्ध और ब्राह्मणोंके ग्रंथोंसे होता है। चार्वाक सिद्धांतोंके आद्य प्रणेता बृहस्पति कहे जाते हैं। गुणरत्न और जयन्तभट्ट दो चार्वाकसूत्रोंका उल्लेख करते हैं, इससे जान पड़ता है कि बृहस्पतिने चार्वाकशास्त्रकी रचना सूत्ररूपमें की थी। शान्तरक्षित तत्त्वसंग्रहमें चार्वाक सम्प्रदायके प्ररूपक कम्बलाश्वतरके एक सूत्रका उल्लेख करते हैं।[२] विद्वानोंका कहना है कि बौद्ध सूत्रोंमें वर्णित अजितकेशकम्बली और कम्बलाश्वतर दोनों एक ही व्यक्ति थे।[3] इनका समय ईसवी सन् पूर्व ५५०-५०० बताया जाता है। चार्वाकके सिद्धांतोंका संक्षिप्त वर्णन जयन्तकी न्यायमंजरी, माधवका सर्वदर्शनसंग्रह, गुणरत्नकी षड्दर्शनसमुच्चय टीका और महाभारत आदि ग्रंथोंमें पाया जाता है।

---

१. लोकायत दर्शनकी देनके लिए देखिये जगदीशचन्द्र जैन, भारतीय तत्त्व चिन्तन, पृ० ५९-६१।

२. कायादेव ततो ज्ञानं प्राणापानाद्यधिष्ठितात्।
युक्तं जायत इत्येतत्कम्बलाश्वतरोदितम्॥
तथा च सूत्रम्—कायादेवेति। तत्त्वसंग्रह श्लोक १८६४ पंजिका।

३. तत्त्वसंग्रह, अंग्रेजी भूमिका।

विविध परिशिष्ट (ज)

श्लो १ पृ० ३ पं० १६ आजीविक

भारतके अनेक सम्प्रदायोंकी तरह आजीविक सम्प्रदायका नाम भी आज निश्शेष हो चुका है। आजीविक मतके माननेवालोंके क्या सिद्धांत थे, इस मतके कौन-कौन मुख्य आचार्य थे, उन्होंने किन-किन ग्रंथोंका निर्माण किया था, आदिके विषयमें प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त करनेके लिये आज कोई भी साधन नहीं हैं। इसलिये आजीविक सम्प्रदायके विषयमें जो कुछ थोड़े बहुत सत्य अथवा अर्धसत्य रूपमें जैन और बौद्ध शास्त्रोंमें उल्लेख मिलते हैं, हमें उन्हींसे सन्तोष करना पड़ता है। ई० स० पूर्व ३९१ में अशोकका आजीविकों-को एक गुफा प्रदान करनेका उल्लेख मिलता है। ईसाकी ६ ठी शताब्दीके विद्वान वराहमिहिर अपने बृहज्जा-तकमें आजीविकोंको एकदण्डी कहकर उल्लेख करते हैं। ई० स० ५७६ में शीलांक, ई० स० ५९० में हला-युध आजीविक और दिगम्बरोंको, और मणिभद्र आजीविक और बौद्धोंको पर्यायवाची मानकर उल्लेख करते हैं, तथा ई० स० १२३५ में राजराज नामके चोल राजाके शिलालेखोंपरसे आजीविकोंके ऊपर कर लगानेका अनुमान किया जाता है।[1] जैन और बौद्ध साहित्यमें नंदवच्छ, किससंकिच्च और मक्खलि गोशाल इन तीन आजीविक मतके नायकोंका कथन आता है। मक्खलिगोशाल बुद्ध और महावीरके समकालीन प्रतिस्पर्धियोंमें से माने जाते हैं। भगवती आदि जैन आगमोंके अनुसार, गोशाल महावीरकी तपस्याके समय महावीरके शिष्य बनकर छह वर्ष तक उनके साथ रहे, और बादमें महावीरके प्रतिस्पर्धि बनकर आजीविक सम्प्रदायके नेता बने। गोशालक भाग्यवादी थे। इनके मतमें सम्पूर्ण जीव अवश, दुर्बल, निर्वीय हैं, और भवितव्यताके वशमें हैं। जीवोंके संक्लेशका कोई हेतु नहीं है, बिना हेतु और बिना प्रत्ययके प्राणी संक्लेशको प्राप्त होते हैं। गोशा-लक आत्माको, पुनर्जन्मको और जीवके मुक्तिसे लौटनेको स्वीकार करते थे। उनके मतमें प्रत्येक पदार्थमें जीव विद्यमान हैं। गोशालकने जीवोंको एकेन्द्रिय आदिके विभागमें विभक्त किया था, वे जीव हिंसा न करने-पर जोर देते थे, मुख्य योनि चौदह लाख मानते थे। भिक्षाके वास्ते पात्र नहीं रखते थे, हाथमें भोजन करते थे, मद्य, मांस, कंदमूल और उद्दिष्ट भोजनके त्यागी होते थे, और नग्न रहा करते थे। आजीविक लोगोंका दूसरा नाम तेरासिय (त्रैराशिक) भी है। ये लोग प्रत्येक वस्तुको सत्, असत् और सदसत् तीन तरहसे कहते थे, इसलिये ये तेरासिय कहे जाने लगे।[2]

श्लोक १५ पृ० पं० संवर-प्रतिसंवर

क्षेमेन्द्रने सांख्यतत्त्वविवेचनमें संवर (संचर) और प्रतिसंवर (प्रतिसंचर) का लक्षण निम्न प्रकार-से कियाहैं —

संचर—

साम्यवस्थागुणानां या प्रकृति सा स्वभावतः।
कालक्षोभेण वैषम्यात् क्षेत्रे परयुते पुरा॥
बुद्धिस्ततश्चाहंकारस्त्रिविधोऽपि व्यजायत।
तन्मात्राणीन्द्रियाणि महाभूतानि च क्रमात्॥
एवं क्रमेणैवोत्पत्तिः संचरः परिकीर्तितः।

---

१. प्रोफेसर होर्नेल ईसाकी छठी शताब्दीतक आजीविकदर्शनके स्वतंत्र आचार्योंके होनेका अनुमान करते हैं।

२. प्रोफेसर याकोबी और प्रोफेसर बरुआ आदि विद्वानोंके अनुसार महावीरके जैनधर्मके सिद्धान्तोंके ऊपर गोशालके सिद्धान्तोंका प्रभाव पड़ा है। विशेषके लिये देखिये प्रोफेसर बरुआकी Pre-Buddhist Indian

प्रतिसंचर—

व्युत्क्रमेणैव लीयन्ते तन्मात्रे भूतपंचकम् ।
तन्मात्राणीन्द्रियाणि अहंकारे विलीयते ।
अहंकारोऽथ बुद्धौ तु बुद्धिरव्यक्तसंज्ञके ।
अव्यक्तं न क्वचिल्लीनं प्रतिसंचर इति स्मृतः ।

श्लोक २० पृ० पं० क्रियावादी-अक्रियावादी ।

क्रियावादी जीवोंके अपने अपने कर्मोंके अनुसार फल मिलनेके सिद्धान्तको मानते हैं। अक्रियावादियोंका सिद्धांत इस सिद्धांतसे बिलकुल उल्टा है । जैन और बौद्ध आगम ग्रंथोंमें पकुधकात्यायन और मक्खलिगोशालको अक्रियावादी कहकर उल्लेख किया गया है । निगंठ नातपुत्त बुद्धको क्रियावाद और अक्रियावाद दोनों सिद्धान्तोंके माननेवाला कहते हैं ।[1] प्रोफेसर बेनीमाधव बरुआ आदि विद्वानोंका मत है कि जैन धर्मका मौलिक नाम किरियावाद (क्रियावाद) था । क्रियावादी महावीर अक्रियावादी और अज्ञानवादियोंका विरोध करते थे, पुण्य-पाप, आस्रव-बंध, निर्जरा-मोक्षको स्वीकार करते थे, और पुरुषार्थको प्रधान [2]मानते थे । जैन ग्रंथोंमें परमतवादियोंके ३६३ मतोंमें क्रियावादी और अक्रियावादियोंके मतोंको गिनाया गया है । क्रियावादी आत्माको मानते हैं । इनके मतमें दुःख स्वयंकृत है, अन्यकृत नहीं । इनके कौत्कल, कांडविद्धि, कौशिक, हरिश्मश्रु, मांछयिक, रोमस, हारित, मुंड और अश्वलायन आदि १८० भेद हैं । अक्रियावादी प्रत्येक पदार्थकी उत्पत्तिके पश्चात् ही पदार्थका नाश मानते हैं । अक्रियावादी आत्माके अस्तित्वको नहीं मानते, और अपने माने हुए तत्त्वोंका निश्चित रूपसे प्ररूपण नहीं कर सकते । राजवार्तिककारने अक्रियावादियोंके मरीच, कुमार, कपिल, उलूक, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाद्धलि, मौद्गलायन, माठर प्रभृति ४० भेद माने हैं ।[3]

---

philosophy भाग ३ अ. २१; प्रो. होर्नेल—Encyclopaedia of Religion and Ethics जि० पृ० २२९। आजीविकोंकी गणना पाँच प्रकारके श्रमणोंमें की गई है। विशेपके लिये देखिये जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्यमें भारतीय समाज, पृ. १२-१७, ४१९-२१

१. तेव्हां नातपुत्त म्हणाला, 'तूं क्रियावादी असून अक्रियावादी अशा श्रमण गौतमाला भेटण्याची कां इच्छा करितोस ?' तरीहि सिंह गेलाच. तेव्हां बुद्धानें त्यास आपणांस क्रियावादी व अक्रियावादी ही दोन्हीं विशेषणें कशी लागूं पडतील हें अनेक प्रकारांनीं सांगितलें (महावग्ग ६-३१ अंगत्तर ८-१२) देखिये राजवाडेका दीघनिकाय भाग १ मराठी भाषांतर पृ० १०० ।

२. देखिये Pre-Buddhist Indian Philosophy.

३. तथा देखिये, जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्यमें भारतीय समाज, पृ० ४२१-२२ ।

अनुक्रमणिका

स्याद्वादमंजरीके अवतरण (१)

श्लोक १

श्लोक २

श्लोक ३

श्लोक ४

श्लोक ५

---

* ये अवतरण सम्पूर्णतया उपलब्ध न होकर कुछ अंशमें ही उपलब्ध होते हैं ।

श्लोक ७

श्लोक ८

	पृष्ठ
न हि वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति । अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः ॥ [छान्दोग्य उपनिषद् ८-१२]	५३
यावदात्मगुणाः सर्वे नोच्छिन्ना वासनादयः । तावदात्यन्तिकी दुःखव्यावृत्तिर्न विकल्प्यते ॥ धर्माधर्मनिमित्तो हि संभवः सुखदुःखयोः । मूलभूतौ च तावेव स्तंभौ संसारसद्मनः ॥ तदुच्छेदे च तत्कार्यशरीराद्यनुपप्लवात् । नात्मनः सुखदुःखे स्तः इत्यसौ मुक्त उच्यते ॥ इच्छाद्वेषप्रयत्नादि भोगायतनवंधनम् । उच्छिन्नभोगायतनो नात्मा तैरपि युज्यते ॥ तदेवं धिषणादीनां नवानामपि मूलतः । गुणानामात्मनो ध्वंसः सोऽपवर्गः प्रतिष्ठितः ॥ ननु तस्यामवस्थायां कीदृगात्मावशिष्यते । स्वरूपैकप्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः ॥ ऊर्मिषट्कातिगं रूपं तदस्याहुर्मनीषिणः । संसारवंधनाधीनदुःखक्लेशाद्यदूषितम् ॥ कामक्रोधलोभगर्वदंभहर्षा—ऊर्मिषट्कमिति । [जयन्त—न्यायमंजरी पृ. ५०८]	५३-५४
सूत्रं तु सूचनाकारि ग्रंथे तन्तुव्यवस्थयोः । [हेमचन्द्र—अनेकार्थसंग्रह २—४५८]	५४
उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता चिरम् [ ]	५४
कारणं द्विविधं ज्ञेयं बाह्यमाभ्यन्तरं बुधैः । यथा लुनाति दात्रेण मेरुं गच्छति चेतसा ॥ [लाक्षणिक]	५८
नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः [ ]	६०
*सुखमात्यन्तिकं यत्र बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् । तं वै मोक्षं विजानीयाद् दुष्प्रापमकृतात्मभिः ॥ [भगवद्गीता]	६२
वरं वृन्दावने रम्ये क्रोष्टृत्वमभिवांछितम् । न तु वैशेषिकीं मुक्तिं गौतमो गन्तुमिच्छति ॥ [ ]	६३
मोक्षे भवे च सर्वत्र निस्पृहो मुनिसत्तमः [ ]	६४
नट्ठंमि य छाउमत्थिए नाणे [आवश्यक पूर्वविभाग ५३९]	६५
पुण्यपापक्षयो मोक्षः [आगमवचन]	६५

श्लोक ९

सर्वगतत्वेऽप्यात्मनो देहप्रदेशो ज्ञातृत्वम् । नान्यत्र शरीरस्योपभोगायतनत्वात् । अन्यथा तस्य वैयर्थ्यात् [श्रीधर—न्यायकन्दली]	६८
*नानात्मनो व्यवस्थातः [वैशेषिकसूत्र ३-२-२०]	६९
आकाशोऽपि सदेशः सकृत्सर्वमूर्ताभिसंबंधार्हत्वात् [द्रव्यालंकार]	७१

श्लोक १०

श्लोक ११

	पृष्ठ
श्वेत वायव्यमजमालभेत भूतिकामः [शतपथ ब्राह्मण]	९१
औषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यंचः पक्षिणस्तथा । यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युच्छ्रितं पुनः ॥ [मनुस्मृति ५–४०]	९२
यूपं छित्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम् । यद्येवं गम्यते स्वर्गे नरके केन गम्यते ॥ [ ]	९२
अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीनां प्रभावः [ ]	९२
आरोग्गबोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दिंतु [आवश्यक २४–६]	९३
देवोपहारव्याजेन यज्ञव्याजेन येऽथवा । घ्नन्ति जन्तून् गतघृणा घोरां ते यान्ति दुर्गतिम् [ ]	९४
अन्धे तमसि मज्जामः पशुभिर्ये यजामहे । हिंसा नाम भवेद्धर्मो न भूतो न भविष्यति ॥ [ ]	९४
अग्निर्मामेतस्माद्धिसाकृतादेनसो मुञ्चतु [ ]	९४
ज्ञानपालिपरिक्षिप्ते ब्रह्मचर्यदयाम्भसि । स्नात्वाऽतिविमले तीर्थे पापपंकापहारिणी ॥ ध्यानाग्नौ जीवकुण्डस्थे दममारुतदीपिते । असत्कर्मसमित्क्षेपैरग्निहोत्रं कुरुत्तमम् ॥ कषायपशुभिर्दुष्टैर्धर्मकामार्थनाशकैः । शममन्त्रहुतैर्यज्ञं विधेहि निहितं बुधैः ॥ प्राणिघातात् तु यो धर्ममीहते मूढमानसः । स वाञ्छति सुधावृष्टिं कृष्णाहिमुखकोटरात् ॥ [महाभारत]	९४
चतुर्थ्यन्तं पदमेव देवता [ ]	९५
शब्देतरत्वे युगपद् भिन्नदेशेषु यष्टृषु । न सा प्रयाति सांनिध्यं मूर्तत्वादस्मदादिवत् ॥ [मृगेन्द्र]	९५
अग्निमुखा वै देवाः [आश्वलायन गृह्यसूत्र ४]	९५
मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत् तृप्तिकारणम् । तन्निर्वाणप्रदीपस्य स्नेहः संवर्धयेच्छिखाम् ॥ [ ]	९७
अतीन्द्रियाणामर्थानां साक्षाद् द्रष्टा न विद्यते नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्यो यथार्थत्वविनिश्चयः ॥ [ ]	९८
ताल्वादिजन्मा ननु वर्णवर्गो वर्णात्मको वेद इति स्फुटं च । पुंसश्च ताल्वादि ततः कथं स्यादपौरुषेयोऽयमितिप्रतीतिः ॥ [ ]	९९
अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः [तैत्तिरीय संहिता]	९९
न हिंस्यात् सर्वभूतानि [छान्दोग्य अ. ८]	९९
सव्वत्थसंजमं संजमाओ अप्पाणमेव रक्खिज्जा । मुच्चइ अइवायाओ पुणो विसोही नयाऽविरई ॥ [ ]	१००
उत्पद्यते हि सावस्था देशकालामयान् प्रति । यस्यामकार्यं कार्यं स्यात् कर्म कार्यं तु वर्जयेत् ॥ [ ]	१००

		पृष्ठ
कालाविरोधि निर्दिष्टं ज्वरादौ लङ्घनं हितं ।		
ऋतेऽनिलश्रमक्रोधशोककामकृतज्वरान् ॥	[ ]	१०१
पूजया विपुलं राज्यमग्निकार्येण संपदः ।		
तपः पापविशुद्धचर्थं ज्ञानं ध्यानं च मुक्तिदम् ॥		
	[व्यास–महाभारत]	१०१

श्लोक १२

* सत्संप्रयोगे इन्द्रियबुद्धिजन्मलक्षणं ज्ञानं, ततोऽर्थप्राकट्यं, तस्मादर्थापत्तिः, तया प्रवर्तकज्ञानस्योपलंभः	[जैमिनीसूत्र १–१–४५]	१०७

श्लोक १३

ते च प्रापुरुदन्वन्तं बुबुधे चादिपूरुषः ।		
	[रघुवंश १०–६]	१११
सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ।		
आरामं तस्य पश्यन्ति न तत्पश्यति कश्चन ॥		
	[छान्दोग्य उपनिषद् ३–१४]	११२
आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्धृ विपश्चितः ।		
नैकत्व आगमस्तेन प्रत्येक्षण प्रबाध्यते ॥	[ ]	११३
अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् ।		
बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम् ॥		
	[मी. श्लोकवार्तिक प्रत्यक्षसूत्र ११२]	११४
यदद्वैतं तद् ब्रह्मणो रूपं	[ ]	११४
प्रत्यक्षाद्यवतारः स्याद् भावांशो गृह्यते यदा ।		
व्यापारस्तदनुत्पत्तेरभावांशे जिघृक्षते ॥		
	[मी. श्लोकवार्तिक अभाव. १७]	११५
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यं ।		
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥		
	[ऋग्वेद पुरुषसूक्त]	११५
यदेजति यन्नैजति यद्दूरे यदन्तिके ।		
यदन्तरस्य सर्वस्य यदुत सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥		
	[ईशावास्य उपनिषद्]	११६
* श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः अनुमन्तव्यो		
	[बृहदारण्यक उपनिषद्]	११६
सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन ।		
आरामं तस्य पश्यन्ति न तत् पश्यति कश्चन ॥		
	[छान्दोग्य ३–१४]	११६
* निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवत् ।		
सामान्यरहितत्वेन विशेषास्तद्वदेव हि ॥		
	[मी. श्लोकवार्तिक आकृति १०]	११७

श्लोक १४

श्लोक १५

	पृष्ठ
मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ [सांख्यकारिका ३]	१३६
अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कापिलदर्शने ॥ [ ]	१३७
शुद्धोपि पुरुषः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति तमनुपश्यन् अतदात्मापि तदात्मक इव प्रतिभासते [व्यासभाष्य]	१३७
सर्वो व्यवहर्ता आलोच्य............बुद्धेरसाधारणो व्यापारः [सांख्यतत्त्वकौमुदी २३]	१३७
बुद्धिदर्पणसंक्रान्तमर्थप्रतिबिम्बकं द्वितीयदर्पणकल्पे पुंस्यध्यारोहति । तदेव भोक्तृत्वमस्य न त्वात्मनो विकारापत्तिः [वादमहार्णव]	१३९
विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते । प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ॥ [आसुरि]	१३८
पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम् । मनः करोति सान्निध्यादुपाधिः स्फटिकं यथा ॥ [विन्ध्यवासी]	१३८
अपरिणामिनी भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्ते च तद्वृत्तिमनुभवति [व्यासभाष्य]	१३९
शब्दगुणमाकाशम् [वैशेषिकसूत्र]	१४०
इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढाः । नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेन भूत्वा इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥ [मुण्डक उपनिषद् १-२-१०]	१४१
रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् । पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥ [सांख्यकारिका ५९]	१४२

श्लोक १६

× उभयत्र तदेव ज्ञानं प्रमाणफलमधिगमरूपत्वात् [न्यायप्रवेश पृ० ७]	१४४
× उभयत्रेति प्रत्यक्षेऽनुमाने च तदेव ज्ञानं प्रत्यक्षानुमानलक्षणं फलम् कार्यम् । कुतः । अधिगमरूपत्वादिति परिच्छेदरूपत्वात् । तथाहि । परिच्छेदरूपमेव ज्ञानमुत्पद्यते । न च परिच्छेदादृतेऽन्यद् ज्ञानफलम्, भिन्नाधिकरणत्वात् । इति सर्वथा न प्रत्यक्षानुमानाभ्यां भिन्नं फलमस्तीति । [हरिभद्रसूरि—न्यायप्रवेशवृत्ति पृ. ३६]	१४४
द्विष्ठसंबंधसंवित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात् । द्वयोः स्वरूपग्रहणे सति संबंधवेदनम् ॥ [ ]	१४६

× इन अवतरणोंके लिये मुनि हिमांशुविजयजीने मेरा ध्यान आकर्षित किया है ।

अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणं । तद्वशादर्थप्रतीतिसिद्धेः पृष्ठ

[न्यायबिन्दु १–१९, २०] १४६

नीलनिर्भासं हि विज्ञानं........नीलसंवेदनरूपम् [न्यायबिन्दु टीका] १४६

नाकारणं विषयः [ ] १५२

ण णिहाणगया भग्गा पुंजो णत्थि अणागए ।

णिव्वुया णेव चिट्ठंति आरग्गे सरिसवोपमा ॥ [ ] १५३

अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपताम् ।

तस्मात् प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता ॥ [ ] १५५

भूतिर्येषां क्रिया सैव कारणं सैव चोच्यते [ ] १५७

प्रत्येकं यो भवेद्दोषो द्वयोर्भावे कथं न सः [ ] १५७

स्वाकारबुद्धिजनका दृश्या नेन्द्रियगोचराः [ ] १५८

यदि संवेद्यते नीलं कथं बाह्यं तदुच्यते ।

न चेत् संवेद्यते नीलं कथं बाह्यं तदुच्यये ॥

[प्रज्ञाकरगुप्त–प्रमाणवार्तिकालंकार] १५९

नान्योऽनुभाव्यो बुद्धयास्ति तस्या नानुभवो परः ।

ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते ॥

बाह्यो न विद्यते ह्यर्थो यथा बालैर्विकल्प्यते ।

वासनालुठितं चित्तमर्थाभासे प्रवर्तते ॥ [ ] १५९

अणुहूयदिट्ठचिंतिय सुयपयइवियारदेवयाणू वा ।

सुमिणस्स निमित्ताइं पुण्णं पावं च णाभावो ॥

[जिनभद्रगणि-विशेषावश्यकभाष्य १७०३ ।] १६०

आशामोदकतृप्ता ये ये चास्वादितमोदकाः ।

रसवीर्यविपाकादि तुल्यं तेषां प्रसज्यते ॥ [ ] १६०

श्लोक १७

सर्व एवायमनुमानानुमेयव्यवहारो बुद्धयारूढेन धर्मधर्मिभावेन

न बहिः सदसत्त्वमपेक्षते [दिङ्नाग] १६८

यथा यथा विचार्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा ।

यदेतद् स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम् ॥ [ ] १७१

सुखादि चेत्यमानं हि स्वतन्त्रं नानुभूयते ।

मतुबर्थानुवेधात्तु सिद्धं ग्रहणमात्मनः ॥

इदं सुखमिति ज्ञानं दृश्यते न घटादिवत् ।

अहं सुखीति तु ज्ञप्तिरात्मनोऽपि प्रकाशिका ॥

[न्यायमंजरी पृ. ४३३] १७२

देशितो नाशिनो भावा दृष्टा निखिलनश्वराः ।

मेघपङ्क्त्यादयो यद्वत् एवं रागादयो मताः ॥ [ ] १७६

रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम् ।

यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं किं स्यात् ॥ [ ] १७६

एगे आया [ठाणांग १–१] १७९

श्लोक २३

पृष्ठ

भागा एव हि भासंते संनिविष्टास्तथा तथा ।
तद्वान्नैव पुनः कश्चिन्निर्भागः संप्रतीयते ॥ [ ] २०५
अर्पितानर्पितसिद्धेः [तत्त्वार्थाधिगमसूत्र ५-३१],, २०५

सदसदविसेसणाउ भवहेउजहिच्छिओवलंभाउ ।
णाणफलाभावाउ मिच्छादिट्ठिस्स अण्णाणं ॥
[विशेषावश्यकभाष्य ११५] २०६

विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति
न प्रेत्य संज्ञास्ति [बृहदारण्यक उपनिषद् २-४-१२] २०६

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषाभूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ [मनुस्मृति ५-५६] २०७

आमासु य पक्कासु य विपच्चमाणासु मंसपेसीसु ।
आयंतिअमुववाओ भणिओ उ निगोअजीवाणं ॥
मज्जे महुम्मि मंसम्मि णवणीयम्मि चउत्थए ।
उप्पज्जंति अणंता तव्वण्णा तत्थ जंतूणो ॥
मेहुणसण्णा रुढो णवलक्ख हणेइ सुहुमजीवाणं ।
केवलिणा पण्णत्ता सद्दहिअव्वा सया कालं ॥
[रत्नशेखर—संबोधसप्ततिका ६६, ६५, ६३] २०८

इत्थीजोणीए संभवंति बेइंदिया उ जे जीवा ।
इक्को व दो व तिण्णि व लक्खपुहुत्तं उ उक्कोसं ॥
पुरिसेण सह गयाए तेसिं जीवाण होइ उद्दवणं ।
वेणुगदिट्ठं तेणं तत्तायसलागणाएणं ॥
पंचिंदिया मणुस्सा एगणरभुत्तणारिगब्भम्मि ।
उक्कोसं णवलक्खा जायंति एगवेलाए ॥
णवलक्खाणं मज्झे जायइ इक्कस्स दोण्ह व समत्ती ।
सेसा पुण एमेव य विलयं वच्चंति तत्थेव ॥ [ ] २०८

तुः स्याद् भेदेऽवधारणे [अमरकोश ३-२३९] २०९

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः ।
मांसानि च न खादेद् यस्तयोस्तुल्यं भवेत् फलम् ॥ [मनुस्मृति ५-५३] २०९

एकरात्रोषितस्यापि या गतिर्ब्रह्मचारिणः ।
न सा क्रतुसहस्रेण प्राप्तुं शक्या युधिष्ठिर ॥ [ ] २०९

वाक्येऽवधारणं तावदनिष्टार्थनिवृत्तये ।
कर्तव्यमन्यथानुक्तसमत्वात् तस्य कुत्रचित् ॥
[त. श्लोकवार्तिक १-६-५३] २१०

सोऽप्रयुक्तोऽपि वा तज्ज्ञैः सर्वत्रार्थात्प्रतीयते ।
तथैवकारोऽयोगादिव्यवच्छेदप्रयोजनः ॥
[त. श्लोकवार्तिक १-६-५६] २११

अर्पितानर्पितसिद्धेः [तत्त्वार्थाधिगमसूत्र ५-३१] २१२

		पृष्ठ
नयास्तव स्यात्पदलांछना इमे रसोपविद्धा इव लोहधातवः । भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः ॥	[समन्तभद्र-स्वयंभूस्तोत्र विमलनाथस्तव ६५]	२५१
तच्च द्विविधं प्रत्यक्षं परोक्षं च.......आत्ममात्रापेक्षम्	[प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार २–१,४,५,६,१८]	२५१
तत्र संस्कारप्रबोधसम्भूत........परार्थानुमानमुपचारात्	[प्रमाणनय. ३–३–२३]	२५१
आप्तवचनाद् च आविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः । उपचाराद् आप्तवचनं च	[प्रमाणनय. ४–१, २]	२५२

श्लोक २९

दग्धे बीजं यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुरः ॥	[ ]	२५७
सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः	[योगसूत्र २–१३]	२५७
सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो...........जातिरायुर्भोगः	[व्यासभाष्य]	२५७
न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य	[अक्षपाद ४–१–६४]	२५७
संघे वानूर्ध्वे	[हैमशब्दानुशासन ५–३–८०]	२५७
गोला य असंखिज्जा असंखणिग्गोअ गोलओ भणिओ । इक्किक्कम्मि णिगोए अणन्तजीवा मुणेअव्वा ॥ सिज्झन्ति जत्तिया खलु इह संववहारजीवरासीओ । एंति अणाइवणस्सइ रासीओ तत्तिआ तम्मि ॥	[ ]	२५९
अतएव च विद्वत्सु मुच्यमानेषु सन्ततम् । ब्रह्माण्डलोकजीवानामनन्तत्वाद् अशून्यता ॥ अत्यन्यूनातिरिक्तत्वैर्युज्यते परिमाणवत् । वस्तुन्यपरिमेये तु नूनं तेषामसंभवः ॥	[वार्तिककार]	२६०

श्लोक ३०

पुन्नाम्नि घः	[हैमशब्दानुशासन ५–३–१३०]	२६२
अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा णिउणं	[विशेषावश्यकभाष्य १११९]	२६३
उप्पन्ने वा विगमे वा धुवेति वा	[ ]	२६३
उदधाविव सर्वसिंधवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः । न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः ॥	[सिद्धसेन द्वा. द्वात्रिंशिका ४-१५]	२६४

श्लोक ३१

काऊण नमुक्कारं सिद्धाणमभिग्गहं तु सो गिण्हे	[ ]	२६५
अरहन्तुवएसेणं सिद्धा णज्जंति तेण अरहाई	[विशेषावश्यकभाष्य ३२१३]	२६६

श्लोक ३२

		पृष्ठ
समवान्वात् तमसः	[हैमशब्दानुशासन ७-३-८०]	२६७

अदेवे देवबुद्धिर्या गुरुधीरगुरौ च या ।
अधर्मे धर्मबुद्धिश्च मिथ्यात्वं तद्विपर्ययात् ॥
[हेमचन्द्र-योगशास्त्र २-३] २६७

पाणवहाईआणं पावट्ठाणाण जो उ पडिसेहो ।
झाणज्झयणाईणं जो य विही एस धम्मकसो ॥
वज्झाणुट्ठाणेणं जेण ण बाहिज्जए तयं णियमा ।
संभवइ य परिसुद्धं सो पुण धम्मम्मि छेउत्ति ॥
जीवाइभाववाओ बंधाइपसाहगो इहं तावो ।
एएहिं परिसुद्धो धम्मो धम्मत्तणमुवेइ ॥
[हरिभद्र—पंचवस्तुक चतुर्थद्वार] २६८

नोट—इन अवतरणोंके अतिरिक्त मल्लिषेणने स्याद्वादमंजरीमें हरिभद्रकी न्यायप्रवेशवृत्ति, हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमांसा, देवसूरिका स्याद्वादरत्नाकर, रत्नप्रभाचार्यकी स्याद्वादरत्नावतारिका आदि ग्रन्थोंके वाक्योंका शब्दशः उपयोग किया है। मल्लिषेणने इन वाक्योंको अवतरण रूपमें उल्लेख नहीं किया ।

स्याद्वादमंजरीमें निर्दिष्ट ग्रन्थ और ग्रन्थकार (२)

१ जैन--

भद्रबाहु—दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंके अनुसार भद्रबाहु श्रुतकेवली माने जाते हैं। भद्रबाहु महावीर-निर्वाणके १७० वर्ष बाद मोक्ष गये। उन्होंने आचारांग, सूत्रकृतांग, सूर्यप्रज्ञप्ति, उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक, दशाश्रुतस्कंध, कल्पसूत्र, व्यवहार और ऋषिभाषित सूत्रोंपर निर्युक्तियोंकी रचना की है। दिगम्बर परम्परामें दो भद्रबाहु हुए हैं; दूसरे भद्रबाहु मौर्य चन्द्रगुप्तके समकालीन थे। प्रथम भद्रबाहुका समय ईसाके पूर्व चौथी शताब्दि माना जाता है।

आचारांग—द्वादशांग सूत्रोंमें सर्व प्राचीन।

स्थानांग—द्वादशांगका तीसरा सूत्र।

उत्तराध्ययन—उत्तराध्ययन चार मूल सूत्रोंमें प्रथम सूत्र। इसमें छत्तीस अध्ययन हैं। इनमें केशी-गौतमका संवाद, राजीमतीका नेमिनाथको उपदेश करना, कपिलका जैन मुनिका शिष्यत्व, कर्मसे जाति आदि महत्त्वपूर्ण विषयोंका वर्णन है।

आवश्यक—मूल सूत्रोंमें दूसरा सूत्र। इसमें सामायिक, स्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान इन छह आवश्यकोंका वर्णन है। आवश्यक सूत्र बहुत प्राचीन है।

निशिथचूर्णि—यह अनेक चूर्णियोंके रचयिता जिनदासगणि महत्तरकी कृति है। समय ई. स. ६७६ के लगभग।

वाचकमुख्य—उमास्वाति ही वाचकमुख्यके नामसे कहे जाते हैं। इन्होंने तत्त्वार्थाधिगमसूत्र और उसके ऊपर भाष्य लिखा है। उमास्वाति प्रशमरति, श्रावकप्रज्ञप्ति आदि ग्रंथोंके भी कर्ता हैं। उमास्वातिको दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदाय पूज्य दृष्टिसे देखते हैं। दिगम्बर इन्हें उमास्वामि कहते हैं, और कुन्दकुन्द आचार्यके शिष्य अथवा वंशज मानते हैं। दिगम्बरोंके अनुसार तत्त्वार्थभाष्य उमास्वामिका बनाया हुआ नहीं माना जाता। तत्त्वार्थाधिगम सूत्रोंमें दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार पाठभेद पाया जाता है। इन सूत्रोंपर दिगम्बर आचार्य पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानन्द आदि तथा श्वेताम्बर आचार्य सिद्धसेनगणि, हरिभद्र, यशोविजय आदिने टीकायें लिखी हैं। समय ईसवी सन्‌की प्रथम शताब्दि।

सिद्धसेन दिवाकर—श्वेताम्बर सम्प्रदायके महान् तार्किक और प्रतिभाशाली विद्वान। सिद्धसेनने प्राकृत भाषामें सन्मतितर्क तथा संस्कृतमें न्यायावतार और द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिकाओंकी रचना की है। सन्मतितर्कपर अभयदेवने, और न्यायावतारपर सिद्धर्षिने टीका लिखी है। सिद्धसेन अपने समयके महान स्वतंत्र विचारक माने जाते थे। इन्होंने श्वेताम्बर आगमकी नयवाद और उपयोगवादकी मूल मान्यताओंका विरोध कर अपने स्वतंत्र मतका स्थापन किया है। सिद्धसेनने वेद, तथा न्याय, वैशेषिक, बौद्ध और सांख्य दर्शनोंपर द्वात्रिंशिकाओंकी रचना की है। पं. सुखलालजी सिद्धसेनका समय ईसवी सन्‌की चौथी शताब्दि मानते हैं।

समंतभद्र—समंतभद्रका नाम दिगम्बर सम्प्रदायमें सुप्रसिद्ध है। सिद्धसेन श्वेताम्बर सम्प्रदायमें और समन्तभद्र दिगम्बर सम्प्रदायमें आदिस्तुतिकार गिने जाते हैं। समन्तभद्रने रत्नकरण्डश्रावकाचार, आप्तमीमांसा, बृहत्स्वयंभूस्तोत्र आदि ग्रन्थोंकी रचना की है। सिद्धसेन और समंतभद्रकी कृतियोंमें कई श्लोक समान रूपसे पाये जाते हैं। प्रायः सिद्धसेन और समंतभद्र दोनों समकालीन हैं। प्रो. के. बी. पाठकके अनुसार समंतभद्र ईसाकी आठवीं शताब्दिके पूर्वार्धमें, तथा पं. जुगलकिशोरजीके मतमें समंतभद्र सिद्धसेनके पूर्ववर्ती हैं, और ईसाकी तीसरी शताब्दिमें हुए हैं।

जिनभद्रगणि—जिनभद्रगणि श्वेताम्बर सम्प्रदायमें क्षमाश्रमण और भाष्यकारके नामसे प्रसिद्ध हैं। ये जैन आगमोंके आचार्य महान सैद्धांतिक विद्वान गिने जाते हैं। जिनभद्रगणिने विशेषावश्यकभाष्य, विशेषणवती, जीतकल्प आदि ग्रन्थोंकी रचना की है। समय ईसवी सन्‌की पांचवीं शताब्दि।

गन्धहस्ति सिद्धसेनगणि—पूर्वकालमें सिद्धसेन दिवाकरको उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रके टीकाकार मानकर सिद्धसेन दिवाकरको ही गन्धहस्ति कहा जाता था। परन्तु अब यह निश्चित हो गया है कि गंधहस्ति तत्त्वार्थभाष्य बृहद्‌वृत्ति रचनेवाले भास्वामिके शिष्य सिद्धसेनगणिका ही विशेषण है। तत्त्वार्थभाष्यकी यह वृत्ति भाष्यमहोदधिके नामसे भी प्रसिद्ध है। सिद्धसेनगणि जैन सिद्धांतशास्त्रके महान विद्वान थे। सिद्धसेनगणि तत्त्वार्थभाष्य वृत्ति लिखते समय उमास्वातिके आगम-विरुद्ध मंतव्योंपर टीका करते हुए उमास्वातिका सूत्रानभिज्ञ, प्रमत्त आदि शब्दोंसे उल्लेख करते हैं। समय विक्रमकी सातवीं और नौवीं शताब्दीका मध्य।

हरिभद्रसूरि—श्वेताम्बर सम्प्रदायके महान प्रतिष्ठित उदार विद्वान गिने जाते हैं। इन्होंने षड्‌दर्शनसमुच्चय, अनेकांतजयपताका, शास्त्रवार्तासमुच्चय, धर्मसंग्रहणी, पंचवस्तुक, अष्टक आदि अनेक ग्रंथोंकी रचना की है। हरिभद्र बुद्ध, कपिल, पतंजलि और व्यास आदि जैनेतर उन्नायकोंके प्रति भगवान, सर्वव्याधिभिषग्वर, महामुनि और महर्षि आदि शब्दोंका प्रयोग कर सम्मान प्रदर्शित करते हैं। हरिभद्र नामके अनेक जैन विद्वान हो गये हैं। प्रस्तुत याकिनीसूनु हरिभद्रका समय ईसाकी आठवीं शताब्दी।

विद्यानन्द—इनको विद्यानन्दि अथवा पात्रकेसरि भी कहा जाता है। विद्यानन्द अपने समयके महान तार्किक दिगम्बर विद्वान् थे। इन्होंने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री, आप्तपरीक्षा, पत्रपरीक्षा आदि ग्रंथोंकी रचना की है। विद्यानन्दने मीमांसकोंके द्वारा जैनदर्शनपर किये जानेवाले आक्षेपोंका बहुत विद्वत्तापूर्ण उत्तर दिया है।

न्यायकुमुदचन्द्रोदय—इस ग्रंथके कर्ता दिगम्बर विद्वान प्रभाचन्द्र आचार्य हैं। यह ग्रंथ माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमालकी ओरसे प्रकाशित हुआ है। प्रभाचन्द्रने माणिक्यनन्दिके परीक्षामुखसूत्रपर प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि ग्रन्थोंकी रचना की है। समय ई. स. १० वीं शताब्दी।

पंचलिंगीकार—कथाकोष प्रकरणके रचयिता जिनेश्वरसूरिने पंचलिंगी प्रकरण ग्रंथकी रचना की है। समय विक्रम ११०८ संवत्।

वादिदेव—वादिदेवसूरि वादशक्तिमें अद्वितीय माने जाते थे। इन्होंने कुमुदचन्द्र नामक दिगम्बर विद्वानसे शास्त्रार्थ किया था। वादिदेवने प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार और उसकी टीका स्याद्वादरत्नाकर आदि ग्रंथोंकी रचना की है। समय ईसवी सन्‌की १२ वीं सदी।

हेमचन्द्र—हेमचन्द्राचार्य १२ वीं सदीके एक महान प्रतिभाशाली श्वेताम्बर आचार्य हो गये हैं। हेमचन्द्र कलिकालसर्वज्ञके नामसे प्रसिद्ध थे। इन्होंने न्याय, व्याकरण, साहित्य, दर्शन, छन्द, योग आदि विविध विषयोंपर अनेक शास्त्रोंकी रचना की है। इनमें योगशास्त्र, हैमशब्दानुशासन, हैमव्याकरण, अनेकार्थसंग्रह, प्रमाणमीमांसा आदि उल्लेखनीय हैं।

द्रव्यालंकार—रामचन्द्र और गुणचन्द्रने स्वपज्ञवृत्ति सहित द्रव्यालंकारकी रचना की है। रामचन्द्र और गुणचन्द्र दोनों हेमचन्द्राचार्यके शिष्य थे।

समयसागर ?—

२ बौद्ध—

दिङ्‌नाग—दिङ्‌नाग विज्ञानवादके प्रतिपादक महान तार्किक बौद्ध विद्वान हो गये हैं। इन्होंने न्यायप्रवेश, प्रमाणसमुच्चय आदि बौद्ध न्यायसम्बन्धी अनेक ग्रंथोंकी रचना की है। समय ईसवी सन्‌की पाँचवीं शताब्दि।

न्यायबिंदु—इसके कर्ता धर्मकीर्ति आचार्य हैं। समय ईसवी सन् ६३५।

न्यायबिन्दुटीका—धर्मोत्तरने न्यायबिन्दुके ऊपर टीका लिखी है समय ईसवी सन् ८४७।

अशोक—पं० अशोकका समय ईसवी सन् ९०० है। उन्होंने अपोहसिद्धि, सामान्यदूषणदिक् प्रसारिता और अवयविनिराकरण ग्रंथ लिखे हैं।

प्रज्ञाकरगुप्त—प्रज्ञाकरगुप्तका समय ईसवी सन् १९४० है। मल्लिषेणने इनका अलंकारकारके रूपमें उल्लेख किया है। प्रज्ञाकरगुप्तने प्रमाणवार्तिकालंकारकी रचना की है।

मोक्षाकरगुप्त— मोक्षाकरगुप्तका मल्लिषेणने दो जगह उल्लेख किया है। समय ई. स. ११०० के लगभग।

तत्त्वोपप्लवसिंह—यह ग्रंथ पाटणके जैन भंडार से मिला है। इसके कर्ता जयराशिभट्ट हैं। ये तत्त्वोपप्लवादी अथवा तत्त्वोपप्लवसिंहके नामसे भी कहे जाते थे।

३ न्याय—

अक्षपाद—न्यायसूत्रके प्रणेता। इन्हें गौतम भी कहा जाता है। न्यायदर्शन योगदर्शनके नामसे भी प्रसिद्ध है। कुछ विद्वान न्यायसूत्रोंकी रचनाको ईसवी सन्‌के पूर्व, और कुछ ईसवी सन्‌के पश्चात् स्वीकार करते हैं।

न्यायवार्तिक—न्यायवार्तिकके कर्ता प्रसिद्ध नैयायिक उद्योतकर हैं। समय ईसवी सन्‌की ७ वीं शताब्दीका पूर्वार्ध।

जयन्त—न्यायमंजरीके कर्ता। समय ईसवी सन् ८८०।

न्यायभूषणसूत्र—अपर नाम न्यायसार, इसके कर्ता भासर्वज्ञ हैं। समय ईसवी सन्‌की दसवीं शताब्दिका आरंभ।

उदयन—उदयन आचार्य दसवीं शताब्दिके उत्तर भागमें हुए हैं। इन्होंने वाचस्पतिमिश्रकी न्यायतात्पर्यटीकापर न्यायतात्पर्यपरिशुद्धि, किरणावलि आदि ग्रंथोंकी रचना की है।

४ वैशेषिक––

कणाद—वैशेषिक सूत्रोंके रचयिता कणादको कणभक्ष अथवा औलूक्य नामसे भी कहा जाता है। वैषेषिकसूत्रोंकी रचनाका समय कमसे कम ईसाकी प्रथम शताब्दि।

प्रशस्तपाद—वैशेषिकसूत्रोंपर प्रशस्तपादभाष्यके कर्ता। समय ईसवी सन्‌की चौथी-पांचवीं शताब्दि।

श्रीधर—प्रशस्तपादभाष्यपर न्यायकन्दलीके रचयिता। समय ई. स. ९९१।

५ सांख्य––

कपिल—सांख्यमतके आद्यप्रणेता। कपिलको परमर्षि कहा गया है। अर्ध-ऐतिहासिक व्यक्ति।

आसुरि—कपिलके साक्षात् शिष्य थे। समय ईसवी सन्‌के पूर्व।

विन्ध्यवासी—वास्तविक नाम रुद्रिल। समय ईसाकी तीसरी-चौथी शताब्दी।

ईश्वरकृष्ण—सांख्यकारिका अथवा सांख्यसप्ततिके कर्ता। इनके समयके विषयमें विद्वानोंमें मत भेद है। कोई ईश्वरकृष्णको ईसवी सन्‌के पूर्व प्रथम शताब्दिका, और कोई ईसाकी चौथी शताब्दीका विद्वान् कहते हैं।

गौड़पादभाष्य—शंकराचार्यके गुरू गोविन्दके गुरू। समय ईसवी सन्‌की ८ वीं शताब्दीका आरंभ।

वाचस्पति––सर्वतन्त्रस्वतंत्र वाचस्पतिने सांख्यदर्शनपर सांख्यकारिकापर सांख्यतत्त्वकौमुदी नामकी लिखी है। वाचस्पतिमिश्रने न्याय, योग, पूर्वमीमांसा और वेदान्त दर्शनोंपर भी ग्रंथ लिखे हैं। समय ईसवी सन् ८५०।

वादमहार्णव ?—

६ योग--

पतंजलि—आधुनिक योगसूत्रोंके रचयिता अनेक विद्वान महाभाष्यकार और योगसूत्रोंके कर्ता पतंजलिको एक ही व्यक्ति मानते हैं। इन विद्वानोंके मतमें पतंजलिका समय ईसवी सन्‌के पूर्व १५० वर्ष माना जाता है।

व्यास—पतंजलिके योगसूत्रोंके टीकाकार। मल्लिषेणने इन्हें पातंजलटीकाकार कहकर उल्लेख किया है। इनके समयके विषयमें भी विद्वानोंमें मतभेद हैं। कुछ व्यासको ईसवी सन्‌के पूर्व प्रथम शताब्दीका और कुछ ईसवी सन्‌की चौथी शताब्दीका विद्वान कहते हैं।

७ पर्वमीमांसा—

जैमिनी—मीमांसासूत्रोंके रचयिता। समय ईसाके पूर्व २०० वर्ष।

भट्ट—भट्टको कुमारिलभट्ट भी कहा जाता है। शबरभाष्यके टीकाकार। यह टीका श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक और तुप्टीका इन तीन भागोंमें विभक्त है। समय ८ वीं शताब्दिका पूर्वभाग।

मृगेन्द्र ?—

वेद—ऋग्वेद, अथर्ववेद, सामवेद और यजुर्वेद इन चारों वेदोंमें ऋग्वेद संसारके उपलब्ध साहित्यमें प्राचीनतम माना जाता है। ऋग्वेदके समयके विषयमें बहुत मतभेद है। ऋग्वेदका समय कमसे कम ईसवी सन्‌के पूर्व ४५०० वर्ष माना जाता है। यजुर्वेदकी शुक्ल यजुर्वेदसंहिता और कृष्ण यजुर्वेदसंहिता नामकी दो संहिता हैं।

ब्राह्मण—चारों वेदोंके अलग-अलग ब्राह्मण हैं। एतरेयब्राह्मण ऋग्वेदका, और तैत्तिरीयब्राह्मण कृष्ण यजुर्वेदका ब्राह्मण है। ब्राह्मण-साहित्यका समय बुद्धके पूर्व है।

सूत्र—सूत्रसाहित्य वेदका अंग है। आश्वलायन ऋषिने आश्वलायनगृह्यसूत्र और वशिष्ठ ऋषिने वसिष्ठधर्मसूत्रकी रचना की है।

८ वेदान्त--

उपनिषद्—वृहदारण्यक, छान्दोग्य, मुण्डक, ईशावास्य उपनिषदें-प्राचीन ग्यारह उपनिषदोंमेंसे मानी जाती हैं। शंकराचार्यने इनपर टीका लिखी हैं। प्राचीन उपनिषदोंका समय गौतम बुद्धके पूर्व माना जाता है।

शंकर—ब्रह्माद्वैत अथवा केवलाद्वैतके प्रतिष्ठापक। उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्रके टीकाकार। समय ८वीं शताब्दी है।

नोट—इसके अतिरिक्त, मल्लिषेणने स्याद्वादमंजरीमें महाभारतकार व्यास, मनुस्मृति, भर्तृहरिका वाक्यपदोय, कालिदासका कुमारसंभव, माघका शिशुपालवध, बाणकी कादम्बरी, वार्तिककार, अमर और त्रिपुरार्णवके उद्धरण दिये हैं, अथवा इनका उल्लेख किया है।

स्याद्वादमंजरी (अन्ययोगव्यवच्छेदिका)के श्लोकोंकी सूची (३)

स्याद्वादमंजरी (अन्ययोगव्यवच्छेदिका)के शब्दोंकी सूची (४)

स्याद्वादमंजरीके न्याय (५)

	न्याय	श्लोक	पृ.
१	अदित्सोर्वणिजः प्रतिदिनं पत्रलिखितश्वस्तनदिनभणनन्यायः ।	१६	१४९
२	अन्धगजन्यायः ।	१४, १९	१२५, १९०
३	अर्धजरतीयन्यायः ।	८	५४
४	इतो व्याघ्र इतस्तटी ।	१७	१७८
५	इत्यादि बहुवचनान्ता गणस्य संसूचका भवन्ति ।	२२	२०३
६	उत्सर्गापवादयोरपवादो विधिर्बलीयान् ।	११	९९
७	उपचारस्तत्त्वचिन्तायामनुपयोगी	१५	१३९
८	गजनिमीलिकान्यायः ।	१८,२८	१७९, २४१
९	घटकुट्यां प्रभातम् ।	६	३९
१०	घण्टालालान्यायः ।	६	४२
११	डमरुकमणिन्यायः ।	११	१००
१२	तटादर्शिशकुन्तपोतन्यायः ।	१९	१९३
१३	तुल्यबलयोर्विरोधः ।	११	१०१
१४	न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम ।	९	६८
१५	स्तेनभीतस्य स्तेनान्तरशरणस्वीकरणान्त ।	१८	१८४
१६	सर्वं हि वाक्यं सावधारणं ।	४	१३
१७	सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः ।	६	३०
१८	साधनं हि सर्वत्र व्याप्तौ प्रमाणेन सिद्धायां साध्यं गमयेत् ।	६	३२
१९	सापेक्षमसमर्थम् ।	५	२२
२०	सुन्दोपसुन्दन्यायः ।	२६	२३५

स्याद्वादमंजरीके विशेष शब्दोंकी सूची (६)

स्याद्वादमंजरीके संस्कृत, तथा हिन्दी-अनुवादकी टिप्पणियोंके ग्रन्थ और ग्रन्थकार (७)

अयोगव्यवच्छेदिकाके श्लोकोंकी सूची (८)

अयोगव्यवच्छेदिकाके शब्दोंकी सूची (ई)

अयोगव्यवच्छेदिकाकी टिप्पणीके ग्रन्थ (१०)

अभिधानचिन्तामणि	हेमचन्द्र	द्वा. द्वात्रिंशिका	सिद्धसेन
अयोगव्यवच्छेदिका	सं. चरणविजयजी	भक्तामरस्तोत्र	मानतुंग
आप्तमीमांसा	समंतभद्र	युक्त्यनुशासन	समंतभद्र
		योगशास्त्र	हेमचन्द्र
कल्याणमन्दिरस्तोत्र	सिद्धसेन	लोकतत्त्वनिर्णय	हरिभद्रसूरि
तत्त्वनिर्णयप्रासाद	आत्मारामजी	स्वयंभूस्तोत्र	समंतभद्र

परिशिष्टोंके विशेष शब्दोंकी सूची (११)

परिशिष्टोंमें उपयुक्त ग्रन्थोंकी सूची (१२)

सम्पादनमें उपयुक्त ग्रन्थोंकी सूची (१३)

अध्यात्मोपनिषद्	(जैनधर्मप्रसारक सभा भावनगर)
अनगारधर्मामृत	(माणिकचन्द्र ग्रंथमाला बम्बई)
अनुयोगद्वारसूत्र	(आगमोदयसमिति सूरत)
अभिधर्मकोश	(सं. राहुलसांस्कृत्यायन काशी विद्यापीठ)
अभिधम्मत्थसंगहो (पाली)	(सं. धर्मानन्द कोसंबी गुजरात पुरातत्त्वमंदिर)
अभिधानचिन्तामणि	(यशोविजय ग्रंथमाला काशी)
अभिधान राजेन्द्रकोप	(रतलाम)
अमरकोष	(निर्णयसागर प्रेस बम्बई)
अयोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका	(भावनगर, भीमसिंह माणेक मुंबई)
अवयविनिराकरण	(सं. हरप्रसादशास्त्री सिक्सबुद्धिस्ट न्यायटैक्स्ट बिब्लि-आथेका इंडिका)
अष्टसहस्री	(गांधी नाथारंग जैन ग्रंथमाला बम्बई)
आप्तमीमांसा	(सनातन जैन ग्रंथमाला काशी)
आदिपुराण	(जैनेन्द्रप्रेस कोल्हापुर)
आस्तिकवाद	(अलाहबाद)
आवश्यक हरिभद्रीय	(आगमोदयसमिति सूरत)
उत्तराध्यनसूत्र	(देवचंद लालाभाई सूरत)
कर्मग्रन्थ द्वितीय	(आत्मानंद जैन प्रकाशक मण्डल आगरा)
कर्मग्रन्थ चौथा	(,,)
कल्याणमन्दिरस्तोत्र	(काव्यमाला सप्तमगुच्छक निर्णयसागर बम्बई)
कालचक्र	(शारदामंदिर देहली)
कौषीतकी उपनिषद्	(निर्णयसागर बम्बई)
गुणस्थानक्रमारोहण	(जैनधर्मप्रसारक सभा भावनगर)
गोम्मटसार जीवकांड	(रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई)
गोम्मटसार जीवकांड केशववर्णीटीका	(जैनसिद्धांतप्रकाशिनी संस्था कलकत्ता)
गोम्मटसार कर्मकाण्ड	(रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई)
गौतमसूत्र (न्यायदर्शन)	(हरिकृष्णदास गुप्त काशी)
छान्दोग्य उपनिषद्	(निर्णयसागर बंबई)
जैनतर्कपरिभाषा	(जैनधर्मप्रसारक सभा भावनगर)
जैनसिद्धांतदर्पण	(अनन्तकीर्ति जैन ग्रंथमाला)
जैनदर्शन (गुजराती)	(पं. बेचरदास)
जैनागम साहित्यमें भारतीय समाज	(चौखंभा संस्कृत सीरीज)
तत्त्वसंग्रहपंजिका	(गायकवाड़ ग्रंथमाला वड़ौदा)
तत्त्वयाथार्थ्यदीपन	(चौखंभा काशी)
तत्त्वार्थभाष्य	(आर्हतमत प्रभाकर पूना)
तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति	(देवचंद लालाभाई-सूरत)
तत्त्वार्थराजवार्तिक	(सनातन जैन ग्रंथमाला काशी)

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	(गांधी नाथारंग जैन ग्रंथमाला)
तन्त्रवार्तिक	(काशी)
त्रिलोकसार	(माणिकचन्द ग्रंथमाला बम्बई)
त्रिंशिका	(सं. सिल्वन् लेवी पेरिस)
त्रिंशिकाभाष्य	(,,)
त्रिपष्टिशलाकापुरुषचरित	(जैनधर्मप्रसारक सभा भावनगर)
दर्शन और अनेकांतवाद	(आत्मानन्द जैन प्रकाशक मण्डल आगरा)
दशवैकालिकसूत्र-नियुंक्ति	(देवचंद लालाभाई सूरत)
दीघनिकाय (मराठी)	(सं. राजवाड़े बड़ौदा)
द्रव्यसंग्रह-वृत्ति	(जैन पब्लिशिंग हाउस आरा)
द्रव्यानुयोगतर्कणा	(रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला बम्बई)
द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका—सिद्धसेन	(जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर)
द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका—यशोविजय	(,,)
धर्मसंग्रहणीवृत्ति	(देवचंद लालाभाई सूरत)
धम्मपद (पाली)	(गुजरात पुरातत्त्वमंदिर)
नन्दिसूत्रटीका	(देवचंद लालाभाई सूरत)
नयचक्रसंग्रह	(माणिकचंद जैन ग्रंथमाला बम्बई)
नयप्रदीप	(जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर)
नयोपदेश	(जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर)
नियमसार	(जैनग्रंथरत्नाकर कार्यालय बम्बई)
न्यायकुसुमांजलि	(कलकत्ता)
न्यायकोश	(संस्कृत सीरीज़ बम्बई १८९३)
न्यायकंदली	(विजयनगर ग्रंथमाला)
न्यायतात्पर्यपरिशुद्धि	(चौखंभा काशी)
न्यायप्रदीप	(हिन्दीग्रंथरत्नाकर कार्यालय बम्बई)
न्यायप्रवेश-वृत्ति-पंजिका	(गायकवाड़ ग्रंथमाला बड़ौदा)
न्यायबिन्दु-टीका	(चौखंभा काशी)
न्यायभाष्य	(विद्याविलास प्रेस काशी)
न्यायमंजरी	(विजयनगर संस्कृत सीरीज़)
न्यायवार्तिक	(विद्याविलास प्रेस, काशी)
न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका	(विजयनगर संस्कृत सीरीज़)
न्यायसूत्रवृत्तितात्पर्यविवृत्ति	(हरिकृष्णदास गुप्त काशी)
न्यायावतार	(हेमचन्द्राचार्य ग्रन्थावलि, जैनसाहित्य संशोधक कार्यालय अहमदाबाद)
पातंजलयोगसूत्र-भाष्य	(संस्कृत और प्राकृत सीरीज़ बम्बई)
पुराण	(श्री वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई)
पंचाध्यायी	(नाथारंगजी गांधी शोलापुर)
पंचास्तिकाय-टीका	(रायचन्द्र जैनशास्त्रमाला बम्बई)
प्रकरणपंचिका	(चौखंभा काशी)
प्रज्ञापनासूत्र मलयगिरिवृत्ति	(देवचंद लालाभाई सूरत)

प्रमेयकमलमार्तण्ड (निर्णयसागर बम्बई)
प्रमेयरत्नकोष (जैनधर्मप्रसारक सभा भावनगर)
प्रवचनसार टीका (रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई)
प्रवचनसारोद्धार (देवचंद लालाभाई सूरत)
प्रश्न उपनिषद् (निर्णयसागर बम्बई)
प्राकृत साहित्यका इतिहास (चौखंबा संस्कृत सीरीज़)
बुद्धचर्या (ज्ञानमण्डल बनारस)
बुद्धचरित (Ed. Cowell Aryan series)
बृहदारण्यक उपनिषद् (आनंदाश्रम संस्कृत सीरीज़ पूना)
बोधिचर्यावतार-पंजिका (बिब्लिओथेका इंडिका)
ब्रह्मसूत्रशांकर भाष्य (निर्णयसागर बम्बई)
भक्तामरस्तोत्र (काव्यमाला सप्तमगुच्छक निर्णयसागर)
भगवतीसूत्र टीका (आगमोदय समिति सूरत)
भारतीय तत्त्व चिन्तन (राजकमल प्रकाशन)
मज्झिमनिकाय (अनु. राहुलसांकृत्यायन महाबोधिसभा बनारस)
मध्यमकावतार (सं. पूसिन्)
मनुस्मृति (निर्णयसागर बम्बई)
महाभारत (,,)
महायान सूत्रालंकार (सं. सिल्वन् लेवी पेरिस)
माध्यमिककारिका-वृत्ति (पीटर्सबर्ग)
मिलिन्दपण्ह (पाली) (V. Trenckner London 1880)
मीमांसाश्लोकवार्तिक टीका (चौखंभा काशी)
मुण्डक उपनिषद् (निर्णयसागर बम्बई)
युक्तिप्रबोध (रतलाम)
युक्त्यनुशासन (माणिकचंद जैन ग्रंथमाला बम्बई)
योगबिन्दु (सं० सुआली भावनगर)
योगशास्त्र (जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर)
रघुवंश (निर्णयसागर बम्बई)
लोकप्रकाश (हीरालाल हंसराज जामनगर)
लोकतत्त्वनिर्णय (आत्मानंद जैन सभा भावनगर)
लंकावतारसूत्र (नंजिओ क्योटो १९२३)
विशेषावश्यकभाष्य (यशोविजय ग्रंथमाला काशी)
विसुद्धिमग्ग (पाली) (पालीटैक्स्ट सोसायटी लंडन)
शब्दकल्पद्रुम (हरिचरणबसु कलकत्ता)
शास्त्रदीपिका (निर्णयसागर बम्बई)
शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका (देवचंद लालाभाई सूरत)
श्वेताश्वतर उपनिषद् (निर्णयसागर बम्बई)
षड्दर्शनसमुच्चय-राजशेखर (यशोविजय ग्रंथमाला काशी)
षड्दर्शनसमुच्चय-मणिरत्नटीका (चौखंभा काशी)

षड्दर्शनसमुच्चय-गुणरत्नटीका (आत्मानंद सभा भावनगर)

सन्मतितर्क (गुजराती) (पूंजाभाई जैन ग्रंथमाला अहमदाबाद)

सन्मतितर्कटीका (गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद)

सत्यार्थप्रकाश (अजमेर सं. १८९३)

सप्तभंगीतरंगिणी (रायचंद्र ग्रन्थमाला बम्बई)

समवायांगसूत्र–टीका (आगमोदय समिति सूरत)

सर्वदर्शनसंग्रह (प्राच्यविद्यासंशोधन मंदिर पूना)

सर्वार्थसिद्धि (जैनेन्द्र मुद्रणालय कोल्हापुर)

सागारधर्मामृत (माणिकचंद ग्रंथमाला बम्बई)

सामान्यदूषणदिक् प्रसारिता (सं. हरप्रसाद सिक्स बुद्धिस्ट टैक्स्ट)

सूत्रकृतांगसूत्र–टीका (आगमोदय समिति सूरत)

स्थानांगसूत्र-टीका (,,)

संयुत्तनिकाय (पाली) (पालिटैक्स्ट सोसायटी १८९८)

सांख्यकारिका माठरभाष्य (चौखंभा काशी)

सांख्यप्रवचनभाष्य (विद्याविलास प्रेस काशी)

स्याद्वादमंजरी-लिखित —रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला

हिंदतत्त्वज्ञाननो इतिहास (गुजराती) (गुजरात वर्नाक्यूलर सोसायटी अहमदाबाद)

A History of Indian Philosophy Vol. I (Cambridge University 1922)

A History of Indian Philosophy Vol. II (,, ,, 1932)

A History of Indian Literature Vol. II (Calcutta University 1933)

A History of Pre-Buddhist Indian Philosophy (Calcutta 1921)

Buddhism In Translation (Harvard Oriental Series 1922)

Buddhist Psychology London 1914)

Construtctive Survery of the Upanisdic Philosophy (Poona 1926)

Encyclopedia of Ethics and Religion

Hinduism and Buddhism (London 1921)

History of Indian Philosophy Vol. II (Poona 1927)

Indian Philosophy Vol. II (Library of Philosophy 1927)

Jain Sutras Vol. II (S. B. E. XLV)

Milinda Questions (London 1930)

Mannual of Indian Buddhism (Strassburg 1896)

Pancastikayasara (Jain Publishing House Arrah 1920)

Response in Living and Non-living (London 1902)

Shramanism (Indian Science Congress 1934)

Syadavada Manjari (Bombay Sanskrit and Prakrit Series 1933)

Systems of Buddhistic Thought (Calcutta University 1912)

Some problems of Inidan Literature (Calcutta University 1925)

Samkhya system (Cal. 1918)

The Principles of Psychology (London 1890)

The Central Conception of Buddhism (London 1923)

The Conception of Buddhist Nirvana (Leningrad 1927)

शुद्धाशुद्धि पत्र

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	३	श्री रायचन्द्र जैनशास्त्रमालायां	श्रीमद्राजचन्द्रजैनशास्त्रमालायां
३	६	दापा:	दोपा:
४	५	वैशेपिकवचनम्	वैनाशिकवचनम्
४	२२	वैशेपिकोंने	वैनाशिकों (बौद्धों) ने
६	९	सञ्चययाया	सञ्चयया
११	६	हत्वाद्	हेत्वाद्
२२	२१–२	अर्थात् परमाणु पृथिवी अर्थात्	अर्थात् परमाणु पृथिवी और अनित्य पृथिवी अर्थात्
४४	१	अन्य. यो. व्य. श्लोक ६	अन्य. यो. व्य. श्लोक ७
४५	१	,, ,,	,, ,,
४६	१	,, ,,	,, ,,
४७	१	,, ,,	,, श्लोक ८
४८	१	,, ,,	,, श्लोक ८
५६	१	तर्वादि	तैर्वादि
६७	६	यत्रव	यत्रैव
८८	५	श्रद्धादिविधानेन	श्राद्धादिविधानेन
१६१	१४	विज्ञानकारो	विज्ञानाकारो
१८०	१०	यथा	तथा
१८०	१०	आजवीभावलक्षण:	आर्जवीभावलक्षण:
१८७	१५	कक्कुट	कुक्कुट
१८९	३६	चित्रैस्तरङ्	चित्रैस्तरङ्ग
१९०	४	अथोत्तर्राद्धव्याख्या	अथोत्तरार्द्धव्याख्या
१९२	६	प्रामाणेन	प्रमाणेन
१९३	३५	प्रमाण्य	प्रामाण्य
२०१	३१	स्थिचाश्चेति	स्थिताश्चेति
२०१	३१	तत्त्वार्थराजवर्तिके	तत्त्वार्थराजवार्तिके
२०९	२९	स	इस
२११	३१	कीजा सकती	की जा सकती
२१४	२५	कमसे	क्रमसे
२१४	२६	अयवा	अथवा
२१५	४०	गुणों जब	गुणोंका जब
२१६	१९	स्वानुरक्त	स्वानुरक्त
२१६	३६	उप्णता	उष्णता
२१६	३९	तादाम्य	तादात्म्य
२२०	२७	ऐस	ऐसा
२२८	२३	स्वरूव	स्वरूप
२३८	२९	ओर	और
२४२	२९	इलिये	इसलिये
२४४	१५	वाचमुख्य:	वाचकमुख्य:

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२४८	९	इतरांशापलावी	इतरांशापलापी
२५०	३८	षरन्तु	परन्तु
२५७	१६,	षणणां	षण्णां
२५९	२	,,	,,
२६१	२०	याख्या प्रज्ञप्ति	व्याख्या प्रज्ञप्ति
२७०	२९	वन्दनीम	वन्दनीय
२७१	२८	वन्धम्	बन्धम्
२७२	१६	दिशल्तमसूय	दिशस्तमसूय
२७२	२१	डम्बरेभ्यो	डम्बरेभ्यो
२७३	अंतिम	बत	वत
२९३	१५	छहं	छह
२९५	अंतिम	मेघघविजयगणि	मेघविजयगणि
२९७	१०	विपाकसूव	विपाकसूत्र
२९८	२६	प्रश्नष्यकरण	प्रश्नव्याकरण
३००	२२	करकेएक	करके एक
३०१	२२	मनको	मनकी
३०३	१२	मान	माना
३०६	१६	सिद्धान्तोंमें मे	सिद्धान्तोंमें
३१०	१७	माना । है	माना है ।
३१२	३१	भुमयं	मुभयं
३१४	६	धे	थे
३१४	२५	Consciosness	Consciousness
३२०	३	षदार्थ	पदार्थ
३२४	१२	करसे	करते
३२९	११	नहो	नहीं
३३०	२४	रचनाकी	रचना की
३३१	६	चर्चाकी	चर्चा की
३३२	२२	सांस्कृतिके मास्तिष्ककी	सांस्कृतिक मस्तिष्कका
३३३	१६	Pɹoblems	Problems
३३३	१९	वेवर	वेवर
३३४	९	वस्त्र	वस्त्र
३३४	१०	स्वीकार	स्वीकार
३३४	३४	सर्वथा	सर्वथा
३३५	१९	वाचस्पतिमिश्र	वाचस्पतिमिश्र
३३६	२१	तत्त्वर्सग्रहपजिका	तत्त्वसंग्रहपंजिका
३३६	२८	रचनाकी	रचना की
३३६	३१	रचनाकी	रचना की
३३६	३१	सिद्धातोंमें	सिद्धान्तोंमें
३३९	१३	अर्वाचीव	अर्वाचीन
३४९	अंतिम	पं० वेचनदास	पं० बेचरदास
३५१	२६	कियाहै	कियां है

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास द्वारा संचालित
परमश्रुतप्रभावक-मण्डल (श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला) के

प्रकाशित ग्रन्थोंकी सूची

(१) **गोम्मटसार--जीवकाण्ड**--श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तिकृत मूल गाथायें, श्रीब्रह्मचारी पं० खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीकृत नयी हिन्दीटीका-युक्त। अबकी बार पंडितजीने धवल, जयधवल, महाधवल और बड़ी संस्कृतटीकाके आधारसे विस्तृतटीका लिखी है। तृतीयावृत्ति। मूल्य-छह रुपये।

(२) **स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा**--स्वामिकार्त्तिकेयकृत मूल गाथायें, श्रीशुभचन्द्रकृत बड़ी संस्कृत-टीका, स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसीके प्रधानाध्यापक, पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीकृत हिन्दीटीका। अंग्रेजी प्रस्तावनायुक्त। सम्पादक-डा० आ० ने० उपाध्ये, कोल्हापुर। मूल्य-चौदह रुपये।

(३) **परमात्मप्रकाश और योगसार**--श्रीयोगीन्दुदेवकृत मूल अपभ्रंश-दोहे, श्रीब्रह्मदेवकृत संस्कृत-टीका व पं० दौलतरामजीकृत हिन्दी-टीका। विस्तृत अंग्रेजी प्रस्तावना और उसके हिन्दीसार सहित। महान अध्यात्म-ग्रन्थ। डा० आ० ने० उपाध्येका अमूल्य सम्पादन। नवीन संस्करण। मूल्य-नौ रुपये।

(४) **ज्ञानार्णव**--श्रीशुभचन्द्राचार्यकृत महान योगशास्त्र। सुजानगढ़निवासी पं० पन्नालालजी बाकलीवालकृत हिन्दी अनुवाद सहित। तृतीय सुन्दर आवृत्ति। मूल्य-आठ रुपये।

(५) **प्रवचनसार**—श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचित ग्रन्थरत्नपर श्रीमदमृतचन्द्राचार्यकृत तत्त्वप्रदीपिका एवं श्रीमज्जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीकायें तथा पांडे हेमराजजी रचित बालावबोधिनी भाषाटीका। डा० आ० ने० उपाध्येकृत अध्ययनपूर्ण अंग्रेजी अनुवाद और विशद प्रस्तावना आदि सहित आकर्षक सम्पादन। तृतीयावृत्ति। मूल्य-पन्द्रह रुपये।

(६) **बृहद्द्रव्यसंग्रह**—आचार्य नेमिचन्द्रसिद्धांतिदेवविरचित मूल गाथा, श्रीब्रह्मदेवविनिर्मित संस्कृतवृत्ति और पं० जवाहरलालशास्त्रिप्रणीत हिन्दी-भाषानुवाद सहित। षड्द्रव्यसप्ततत्त्वस्वरूपवर्णनात्मक उत्तम ग्रन्थ। तृतीयावृत्ति। मूल्य-पांच रुपये, पचास पैसे।

(७) **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय**—श्रीअमृतचन्द्रसूरिकृत मूल श्लोक। पं० टोडरमल्लजी तथा पं० दौलतरामजीकी टीकाके आधारपर स्व० पं० नाथूरामजी प्रेमी द्वारा लिखित नवीन हिन्दीटीका सहित। श्रावक-मुनिधर्मका चित्तस्पर्शी अद्भुत वर्णन। पंचमावृत्ति। मूल्य-तीन रुपये, पच्चीस पैसे।

(८) **अध्यात्म राजचन्द्र**—श्रीमद् राजचन्द्रके अद्भुत जीवन तथा साहित्यका शोध एवं अनुभव-पूर्ण विवेचन डॉ० भगवानदास मनसुखभाई महेताने गुर्जरभाषामें किया है। मूल्य-सात रुपये

(९) **पंचास्तिकाय**—श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचित अनुपम ग्रन्थराज। आ० अमृतचन्द्रसूरिकृत 'समयव्याख्या' एवं आचार्य जयसेनकृत 'तात्पर्यवृत्ति'—नामक संस्कृत टीकाओंसे अलंकृत और पांडे हेमराजजी–रचित बालावबोधिनी भाषा–टीकाके आधारपर पं० मनोहरलालजी शास्त्रीकृत प्रचलित हिन्दी-अनुवादसहित। तृतीयावृत्ति। मूल्य-सात रुपये।

(१०) **अष्टप्राभृत**—श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य विरचित मूल गाथाओंपर श्रीरावजीभाई देसाई द्वारा गुजराती गद्य-पद्यात्मक भाषान्तर। मोक्षमार्गकी अनुपम भेंट। मूल्य-दो रुपये मात्र।

(११) **भावनाबोध-मोक्षमाला**—श्रीमद्राजचन्द्रकृत। वैराग्यभावना सहित जैनधर्मका यथार्थ-स्वरूप दिखाने वाले १०८ सुन्दर पाठ हैं। मू०-एक रुपया, पचास पैसे।

(१२) स्याद्वाद मंजरी--श्रीमल्लिषेणसूरिकृत मूल और श्रीजगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम० ए०, पी-एच० डी० कृत हिन्दी अनुवाद सहित। न्यायका अपूर्व ग्रन्थ है। बड़ी खोजसे लिखे गये १३ परिशिष्ट हैं। मूल्य—दस रुपये

(१३) गोम्मटसार—कर्मकाण्ड--श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तिकृत मूल गाथायें, स्व० पं० मनोहरलालजी शास्त्रीकृत संस्कृतछाया और हिन्दीटीका। जैनसिद्धान्त-ग्रन्थ है। (पुनः छप रहा है)

(१४) समयसार--आचार्य श्रीकुन्दकुन्दस्वामी-विरचित महान अध्यात्मग्रन्थ, तीन टीकाओं सहित। (अप्राप्य)

(१५) लब्धिसार (क्षपणासारगर्भित)--श्रीमन्नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती-रचित करणानुयोग ग्रंथ। पं० मनोहरलालजी शास्त्रीकृत संस्कृतछाया और हिन्दीभाषानुवाद सहित। अप्राप्य।

(१६) द्रव्यानुयोगतर्कणा—श्रीभोजसागरकृत, अप्राप्य है।

(१७) न्यायावतार--महान् तार्किक श्री सिद्धसेनदिवाकरकृत मूल श्लोक, व श्रीसिद्धर्षिगणिकी संस्कृतटीकाका हिन्दी-भाषानुवाद जैनदर्शनाचार्य पं० विजयमूर्ति एम० ए० ने किया है। न्यायका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। मूल्य—पांच रुपये।

(१८) प्रशमरतिप्रकरण--आचार्य श्रीमदुमास्वातिविरचित मूल श्लोक, श्रीहरिभद्रसूरिकृत संस्कृतटीका और पं० राजकुमारजी साहित्याचार्य द्वारा सम्पादित सरल अर्थ सहित। वैराग्यका बहुत सुन्दर ग्रन्थ है। मूल्य—छह रुपये।

(१९) सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र (मोक्षशास्त्र)--श्रीमत् उमास्वातिकृत मूल सूत्र और स्वोपज्ञभाष्य तथा पं० खूबचन्दजी सिद्धान्तशास्त्रीकृत विस्तृत भाषाटीका। तत्त्वोंका हृदयग्राह्य गम्भीर विश्लेषण। मूल्य—छह रुपये।

(२०) सप्तभंगीतरंगिणी—श्रीविमलदासकृत मूल और स्व० पंडित ठाकुरप्रसादजी शर्मा व्याकरणाचार्यकृत भाषाटीका। नव्यन्यायका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ। अप्राप्य।

(२१) इष्टोपदेश—श्रीपूज्यपाद-देवनन्दिआचार्यकृत मूल श्लोक, पंडितप्रवर आशाधरकृत संस्कृत-टीका, पं० धन्यकुमारजी जैनदर्शनाचार्य एम० ए० कृत हिन्दीटीका, स्व० वैरिस्टर चम्पतरायजी कृत अंग्रेजी-टीका तथा विभिन्न विद्वानों द्वारा रचित हिन्दी, मराठी, गुजराती एवं अंग्रेजी पद्यानुवादों सहित भाववाही आध्यात्मिक रचना। मूल्य—एक रुपया, पचास पैसे।

(२२) इष्टोपदेश—मात्र अंग्रेजी टीका व पद्यानुवाद। मू०—पचहत्तर पैसे।

(२३) परमात्मप्रकाश—मात्र अंग्रेजी प्रस्तावना व मूल गाथायें। मू०—दो रुपये।

(२४) योगसार—मूल गाथायें और हिन्दीसार। मू०—पचहत्तर पैसे।

(२५) कार्तिकेयानुप्रेक्षा—मात्रमूल, पाठान्तर और अंग्रेजी प्रस्तावना। मू०—दो रुपये, पचास पैसे।

(२६) उपदेशछाया आत्मसिद्धि—श्रीमद् राजचन्द्रप्रणीत। अप्राप्य।

(२७) श्रीमद्राजचन्द्र—श्रीमद्के पत्रों व रचनाओंका अपूर्व संग्रह। तत्त्वज्ञानपूर्ण महान् ग्रन्थ है। म० गांधीजीकी महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना। (नवीन परिवर्द्धित संस्करण पुनः छपेगा)

अधिक मूल्यके ग्रन्थ मंगाने वालोंको कमीशन दिया जायेगा। इसके लिये वे हमसे पत्रव्यवहार करें।

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रमकी ओरसे

प्रकाशित गुजराती ग्रन्थ

(१) श्रीमद् राजचन्द्र (२) अध्यात्म राजचन्द्र (३) श्रीसमयसार (संक्षिप्त) (४) समाधि सोपान (रत्नकरण्ड श्रावकाचारके विशिष्ट स्थलोंका अनुवाद) (५) भावनाबोध, मोक्षमाला (६) परमात्मप्रकाश (७) तत्त्वज्ञान तरंगिणी (८) धर्मामृत (९) स्वाध्याय सुधा (१०) सहजसुखसाधन (११) तत्त्वज्ञान (१२) श्रीसद्गुरुप्रसाद (१३) श्रीमद् राजचन्द्र जीवनकला (१४) सुबोध संग्रह (१५) नित्यनियमादि पाठ (१६) पूजा संचय (१७) आठदृष्टिनी सज्झाय (१८) आलोचनादिपद संग्रह (१९) पत्रशतक (२०) चैत्यवंदन चौवीशी (२१) नित्यक्रम (२२) श्रीमद् राजचन्द्र—जन्म-शताब्दीमहोत्सव-स्मरणांजलि (२३) श्रीमद् लघुराज स्वामी (प्रभुश्री) उपदेशामृत (२४) आत्मसिद्धि (२५) श्रीमद् राजचन्द्र वचनामृत—सारसंग्रह आदि।

आश्रमके गुजराती—प्रकाशनोंका पृथक सूचीपत्र मँगाइये। सभी ग्रन्थोंपर डाकखर्च अलग रहेगा।

प्राप्तिस्थान :

(१) श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, स्टेशन—अगास
पो० बोरिया : वाया—आणंद (गुजरात)

(२) परमश्रुतप्रभावक-मण्डल (श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला)
चौकसी चेम्बर, खाराकुँवा, जौहरी बाजार, बम्बई—२